महाकवि श्रीकालिदास प्रणीतम्

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

("आशु-बोधिनी' नामक संस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद
व्याख्यात्मक-टिप्पणी, सर्वाङ्गपूर्ण समीक्षात्मक भूमिका
तथा अन्य उपयोगी परिशिष्टों सहित)

•

प्रणेता
डा० सुरेन्द्रदेव शास्त्री
एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच० डी०
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
टाउन डिग्री कालेज, बलिया।

•

प्रकाशक
रामनारायणलाल बेनीप्रसाद
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद-२

महाकवि श्रीकालिदासप्रणीतम्

अभिज्ञान शाकुन्तलम्

("आशु-बोधिनी" नामक संस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद, व्याख्यात्मक-टिप्पणी, सर्वाङ्गपूर्ण समीक्षात्मक भूमिका तथा अन्य उपयोगी परिशिष्टों सहित।)

•

प्रणेता

डा० सुरेन्द्रदेव शास्त्री

एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच० डी०

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

टाउन डिग्री कालेज, बलिया।

•

प्रकाशक

रामनारायणलाल बेनीप्रसाद

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद-२

प्रकाशक
रामनारायणलाल बेनीप्रसाद
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद—२

मूल्य ७ रुपये
प्रथम संस्करण १९६७
५म५६७

मुद्रक
रामबाबू अग्रवाल
ज्ञानोदय प्रेस
२७३ कटरा, इलाहाबाद—२

प्राक्कथन

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नामक नाटक प्रायः सभी विश्वविद्यालयों की किसी न किसी परीक्षा के संस्कृत विषय के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। इस बात को ध्यान में रखते हुये मैं कुछ समय से यह सोच रहा था कि अभिज्ञान शाकुन्तलम् का एक ऐसा संस्करण निकाला जाय जो विद्यार्थियों की दृष्टि से सब भाँति उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

इसी लक्ष्य के अनुसार इस ग्रन्थ को सान्वय संस्कृत टीका के साथ ही साथ सरलतम हिन्दी अनुवाद से सुसज्जित कर स्थान-स्थान पर आवश्यक आलोचनात्मक टिप्पणियों आदि से विभूषित करने का प्रयास किया गया है। प्रायः सभी स्थानों पर आवश्यक व्याकरण, समास तथा अलङ्कारों के निर्देश भी दिये गये हैं। रसों से सम्बन्धित विशिष्ट स्थलों पर रसानुकूल समीक्षा भी की गई है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ को अत्युपादेय बनाने के लिये ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही विस्तृत भूमिका भी दी गई है। इसमें नाटक की रूपरेखा, कालिदास का काल, उनका जीवन-वृत्त, अ० शा० की मूल-कथा में परिवर्त्तन एवं परिवर्द्धन, कालिदास का शास्त्रीय एवं विविध कलाज्ञान, उनका नाट्यकला, उनका काव्य-सौन्दर्य, उनकी शैली तथा उनका रस-निरूपण, कालिदास एवं भवभूति की संक्षिप्त तुलनात्मक आलोचना के साथ ही साथ उनका संस्कृत साहित्य में स्थान इत्यादि विषयों पर विशेषरूप से प्रकाश डाला गया है। साथ ही—

"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि चतुर्थोऽङ्कः तत्र श्लोक चतुष्टयम्॥

की सार्थकता का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में कुछ आवश्यक परिशिष्टों का भी समावेश किया गया है कि जिनका इस ग्रन्थ से विशेष सम्बन्ध है तथा जिनका पृथक् पृथक् वर्णन किया जाना विद्यार्थियों की दृष्टि से परमावश्यक था।

इस संस्करण के निर्माण में अ० शा० तथा कालिदास से सम्बन्धित अंग्रेजी तथा हिन्दी भाषा में उपलब्ध समस्त साहित्य से सहायता ली गई है। अतः मैं उन सभी पूर्ववर्ती विद्वानों का आभारी हूँ कि जिन्होंने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय साहित्य का सृजन किया है।

वर्त्तमान संस्करण यदि पाठकों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सका तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में जो भी विद्वान् उचित संशोधन इत्यादि भेजने का कष्ट करेंगे, मैं उनका विशेष अनुगृहीत होऊँगा।

टाउन कालेज, बलिया
१७–६–१९६७
गंगादशहरा

सुरेन्द्रदेव शास्त्री

विषय-सूची

भूमिका

मूलग्रन्थ और अनुवाद

परिशिष्ट

———

अभिज्ञानशाकुन्तल में प्रयुक्त पात्रों का परिचय

क्रम सं०	नाम	परिचय
	पुरुष पात्र	
१	सूत्रधार	प्रधान नट, रंग-मंच का अध्यक्ष तथा नाटक का प्रारम्भ करने वाला व्यक्ति ।
२	दुष्यन्त	हस्तिनापुर का राजा । नाटक का नायक ।
३	सूत	दुष्यन्त का सारथि ।
४	भद्रसेन (सेनापति)	राजा दुष्यन्त का सेनापति ।
५	माधव्य (विदूषक)	दुष्यन्त का मित्र तथा हास्योत्पादक ।
६	काश्यप (कण्व)	शकुन्तला के पालक तथा धर्म-पिता । कुलपति ।
७	वैखानस	कण्व का शिष्य , एक तपस्वी ।
८	ऋषिकुमारौ	कण्व के आश्रम में रहने वाले दो ऋषिकुमार ।
९–१० ११–१२	शार्ङ्गरव, शारद्वत, गौतम, हारीत, शिष्य	महर्षि कण्व के शिष्य ।
१३	मारीच (कश्यप)	एक महर्षि । देवों तथा दानवों के पिता । एक प्रजापति ।
१४	भरत (सर्वदमन), बाल	राजा दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र ।
१५	सोमरात	दुष्यन्त का पुरोहित ।
१६	मातलि	इन्द्र का सारथि ।
१७	रैवतक (दौलवारिक)	द्वारपाल, राजा का नौकर ।
१८	करभक	हस्तिनापुर से आया हुआ दूत, राजा का भृत्य ।
१९	कुंचुकी (पार्वतायन)	राजा का नौकर ।
२०	वैतालिक	राजा दुष्यन्त के दरबार का भार (स्तुति) (पाठक)
२१	श्याल	प्रधान नगर रक्षक (कोतवाल) तथा (राजा का साला)

२२	धीवर	मछली पकड़ने वाला अँगूठी की चोरी का कथित अपराधी ।
२३	गालव	ऋषि मारीच का शिला
२४	सूचक, जानुक	पुलिस के दो सिपाही

स्त्री पात्र

२५	नटी	सूत्रधार की स्त्री
२६	शकुन्तला	ऋषि कण्व की धर्म पुत्री नाटक की नायिका दुष्यन्त की पत्नी
२७	अनसूया	शकुन्तला की प्रिय सखियाँ ।
२८	प्रियंवदा	
२९	गौतमी	ऋषि कण्व के आश्रम की अध्यक्षा । कण्व की धर्म-भगिनी ।
३०	सानुमती	एक अप्सरा, मेनका की सखी ।
३१	अदिति (दाक्षायणी)	महर्षि मारीच की पत्नी ।
३२	परभृतिका	राजा दुष्यन्त की दासियाँ ।
३३	मधुकरिका	
३४	चतुरिका	
३५	वेत्रवती (प्रतीहारी)	द्वारपालिका ।
३६	यवनी	राजा की सेविका ।
३७	प्रथमा तापसी (सुव्रता)	मारीच के आश्रम में रहने वाली शकुन्तला-पुत्र सर्वदमन की रक्षिकायें (दो तपस्विनियाँ)
३८	द्वितीय तापसी	

अन्य पात्र	(नाटक में जिनका केवल उल्लेख-मात्र ही किया गया है ।)
मघवा (इन्द्र)	देवताओं का राजा । स्वर्गाधिपति ।
जयन्त	इन्द्र का पुत्र
कौशिक (विश्वामित्र)	शकुन्तला के जन्मदाता (पिता) ऋषि विश्वामित्र ।
मेनका	देवलोक की एक अप्सरा शकुन्तला की माता ।
दुर्वासा	एक क्रोधी ऋषि । शकुन्तला को शाप देने वाला ।

भूमिका

काव्य के दो मुख्य रूप——मूलरूप से काव्य के दो मुख्य रूप स्वीकार किये गये हैं——(१) श्रव्य-काव्य, (२) दृश्य-काव्य। इनमें श्रव्य-काव्य में शब्दों द्वारा, चाहे वे स्वयं पढ़े जायें अथवा वे किसी अन्य के मुख द्वारा श्रवण किये जायें, पाठकों अथवा श्रोताओं के हृदय में रस का संचार किया जाता है। दृश्य-काव्य में शब्दों के अतिरिक्त पात्रों की वेश-भूषा, उनकी आकृति और भाव-भंगी तथा क्रियाओं के अनुकरण और भावों के अभिनय द्वारा दर्शकों को भावमग्न किया जाता है। यद्यपि ये काव्य पढ़े तथा सुने भी जा सकते हैं किन्तु इससे उनके पूर्ण आनन्द का अनुभव पाठक अथवा श्रोता को तब तक नहीं हो पाता है जब तक रंगमंच पर उनका अभिनय नहीं कर दिया जाता है। इस प्रकार श्रव्य-काव्य श्रवणों के माध्यम से तथा दृश्य-काव्य नेत्रों के माध्यम से मानव-हृदय में रसानन्द की अनुभूति कराते हैं। माध्यम की इस भिन्नता के कारण ही काव्य के उपर्युक्त दो प्रसिद्ध रूप निष्पन्न होते हैं।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि कानों से सुनी गई वस्तु की अपेक्षा नेत्रों द्वारा देखी गयी वस्तु विशेष रोचक तथा हृदयाकर्षक होती है। अतः श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य का अधिक रोचक, अधिक रम्य और अधिक मनोज्ञ होना स्वतः सिद्ध ही है। इस दृश्य-काव्य का ही सामान्य नाम रूपक है। इस दृश्य काव्य में आये हुए रामादि के स्वरूप का नट आदि में आरोप करने से उसी को रूपक शब्द द्वारा कहा गया है।[1]

संस्कृत रूपकों की श्रेष्ठता——भारतीय लोक-समीक्षा के आधार पर "काव्येषु नाटकं रम्यम्" अर्थात् सब प्रकार के काव्यों में नाटक अथवा रूपक ही रमणीय (सर्वश्रेष्ठ) है, यह स्वीकार किया गया है। इसका मुख्य कारण

१——तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ।। सा० द० ६।१ चतुर्थ चरण।

यही हो सकता है कि अहृदयों को सहृदय बनाने की पूर्ण क्षमता नाटक में ही हुआ करती है। उदाहरण के लिये शाकुन्तल की एक छोटी सी घटना को ले लीजिये :—इस नाटक के प्रारम्भ में प्रस्तावना के साथ जब परदा हटता है और प्रत्यञ्चा चढ़ाए हुए, धनुष को हाथ में लिये हुए, राजकीय वेश-भूषा से अलंकृत राजा दुष्यन्त रथ पर सवार हुए हरिण के पीछे दौड़े जाते दृष्टि-गोचर होते हैं तब बिना किसी व्याख्या आदि के ही दर्शकों को समयोचित रस का आस्वादन होने लगा करता है। इस स्थल पर कल्पना को दौड़ाने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। रस के उद्‌बुद्ध होने की समस्त सामग्री उपस्थित है। रंगमंच के ऊपर वन के सुहावने दृश्यों से चित्रित परदे, वेश-भूषा से सुसज्जित राजा, तीव्र वेगगामी अश्व तथा सामने भागने वाला हरिण। केवल परदे के उठने की देर है। परदा उठते ही रसास्वादन होना प्रारम्भ हो जाता है। इसमें तनिक भी विलम्ब नहीं होता है। अतः जीवन की सत्यता के अनुभव की दृष्टि से, रसाप्लावित होने की दृष्टि से तथा रसास्वादन की क्षमता की दृष्टि से हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि सम्पूर्ण काव्य के भेदों में रूपक अथवा नाटक पूर्णतया सुन्दर हृदयंगम होता है। अतः कविकुल-गुरु कालिदास की यह उक्ति नितान्त सत्य ही है कि : "नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्" (माल० १।४)।

भरत मुनि के अनुसार भी नाट्य में समस्त शास्त्रों तथा कलाओं का समावेश हो जाता है। उनका कथन है कि कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, योग, अथवा कर्म ऐसा नहीं है जिसका दर्शन इस नाट्य में न होता हो।[1] अतः सभी प्रकार के काव्यों में नाटकों अथवा रूपकों को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया जाना उचित ही है।

संस्कृत-रूपकों के प्रकार—भरत मुनि आदि नाट्यशास्त्रकारों ने इस रूपक को दश प्रकार का स्वीकार किया है, (१) नाटक, (२) प्रकरण,

---

१—न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते॥ भरत नाट्यशास्त्र १।११६—११८॥

(३) भाण, (४) प्रहसन, (५) डिम, (६) व्यायोग, (७) समवकार, (८) वीथी, (९) अंक और (१०) ईहामृग। रूपकों के ये दश भेद वस्तु, नेता तथा रस के आधार पर किये गये हैं।[१]

नाटक का लक्षण तथा परिभाषा—जिसमें देवताओं, ऋषियों, राजाओं, अथवा उत्कृष्ट बुद्धि वाले व्यक्तियों के चरित्रों का अनुकरण, सब अङ्गों, उपाङ्गों और गतियों को क्रम से व्यवस्थित कर, अभिनय द्वारा उपस्थित किया जाता है अर्थात् दर्शकों तक पहुँचाया जाता है, वह नाटक कहलाता है।

नाटक का वृत्त (कथा) रामायणादि इतिहास-प्रसिद्ध होता है। जो कथा केवल कविकल्पित है, इतिहास-प्रसिद्ध नहीं, वह नाटक नहीं हो सकती। नाटक में विलास, समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन होना आवश्यक है। सुख एवं दुःख की उत्पत्ति तथा अनेक रसों से युक्त नाटक होता है। इसमें पाँच से लेकर दस तक अङ्क होते हैं। पुराणादि प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजर्षि अथवा दिव्य अथवा दिव्या-दिव्य पुरुष नाटक का नायक होता है। शृंगार अथवा वीर में से कोई एक रस इसमें प्रधान रस के रूप में रहता है। अन्य सभी रस अंगरूप में आते हैं तथा निर्वहण-सन्धि में अद्भुत-रस का आना अति सुन्दर होता है। (संस्कृत-लक्षण के लिये देखिये परिशिष्ट संख्या–१)।

रूपक के दश भेदों में नाटक की श्रेष्ठता—उपर्युक्त रूपक के दश भेदों में से नाटक ही एक ऐसा भेद है जिसमें नाटक के सभी (नेता, वस्तु तथा रस) तत्त्व सम्बन्धी अङ्गों का समावेश होना आवश्यक होता है। अन्य भेदों में उसका अपेक्षाकृत कुछ न कुछ अभाव अवश्य ही दृष्टिगोचर हुआ करता है। ऐसी स्थिति में नाटक को रूपक का सर्वश्रेष्ठ भेद स्वीकार कर लेना उचित ही प्रतीत होता है। (१) वस्तु, (२) नेता तथा (३) रस इन्हीं तीन तत्त्वों पर रूपकों की भिन्नता निर्भर है।

कथावस्तु अथवा इतिवृत्त और उसके प्रकार—कथावस्तु को ही दूसरे शब्दों में कथानक, नाटकीय आख्यान, इतिवृत्त भी कहा जाता है। यह वस्तु

१—वस्तु-नेता-रसस्तेषां भेदकः ॥ दशरूपक– १।११ पूर्वार्द्ध ॥

दो प्रकार की होती है, (१) आधिकारिक, (२) प्रासंगिक। इनमें से मुख्य कथावस्तु को आधिकारिक तथा मुख्य की अङ्गभूत कथावस्तु को प्रासङ्गिक कहते हैं। इनमें आधिकारिक कथावस्तु मूल कथावस्तु तथा प्रासङ्गिक कथावस्तु गौण कहलाती है। फल पर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है तथा उस फल का भोक्ता अधिकारी। फलभोक्ता अथवा अधिकारी से सम्बन्ध रखने वाली कथा आधिकारिक[1] कहलाती है। इस आधिकारिक अथवा मुख्य कथावस्तु के लक्ष्य की पूर्ति में सहायक बनकर अपनापन खो देने वाले तथा उसे गति प्रदान करने वाले इतिवृत्त को प्रासंगिक[2] कथावस्तु कहते हैं। प्रासंगिक कथावस्तु का प्रमुख ध्येय आधिकारिक वृत्त की फल-निर्वहणता में साहाय्य प्रदान करना है, किन्तु प्रसंगतः उसका स्वयं का भी फल होता है।

प्रासंगिक-वस्तु के प्रकार—ये प्रासङ्गिक कथायें दो प्रकार की होती हैं: (१) पताका, (२) प्रकरी। जो प्रासङ्गिक कथा अनुबन्ध सहित होती है तथा रूपक में दूर तक चलती रहती है वह **पताका** कहलाती है। इस पताकारूप प्रासङ्गिक-कथावस्तु का नायक पृथक से होता है जो आधिकारिक वस्तु के नायक का साथी होता है तथा गुणों में उससे कुछ ही न्यून होता है। जो कथा काव्य अथवा रूपक में कुछ ही काल तक चलकर रुक जाती है वह प्रकरी नामक प्रासंगिक कथावस्तु होती है। इस प्रकार कथावस्तु के ३ भेद हुए—एक प्रकार का आधिकारिक तथा दो प्रकार के प्रासङ्गिक।

मूल की दृष्टि से कथावस्तु के पुनः तीन प्रकार—यही कथावस्तु मूल की दृष्टि से पुनः तीन[3] प्रकार की होती है, (१) प्रख्यात, (२) उत्पाद्य, (३) मिश्र। (१) प्रख्यात[4] नामक कथावस्तु रामायण, महाभारत, पुराण या वृहत्कथादि

१—अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ।। दशरूपक—१।१२।।

२—प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसंगतः ।। दशरूपक १।१३ का पूर्वार्ध ।।

३—प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधाऽपि तत्त्रिधा।

४—प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ।। दशरूपक १।१५।।

ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर होती है। इस प्रकार का कथानक प्रसिद्ध कथा से सम्बद्ध रहता है। जैसे "अभिज्ञानशाकुन्तल", "उत्तररामचरित" तथा "वेणी-संहार" इत्यादि की कथावस्तुयें। (२) उत्पाद्य[1]—कथावस्तु कवि का स्वयं का कल्पित होता है। (३) मिश्र[2] —कथावस्तु की पृष्ठभूमि प्रख्यात होती है किन्तु उसमें अधिक अंश कवि-कल्पित होता है। अतः प्रख्यात और उत्पाद्य इन दोनों प्रकार की कथावस्तुओं के मिश्रण से मिश्र नामक कथावस्तु बनती है।

विभिन्न स्थितियों की दृष्टि से इतिवृत्त को पाँच अर्थप्रकृतियों, पंच अर्थाव-स्थाओं तथा पञ्च-सन्धियों में विभक्त कर लिया जाता है।

पाँच अर्थप्रकृतियाँ—कथावस्तु को प्रधान फल की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कारयुक्त अंशों को "अर्थप्रकृति" कहते हैं। इतिवृत्त अथवा कथावस्तु का फल त्रिवर्गसिद्धि है अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति। नाटक के अर्थ में प्रदर्शित इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये जो उपाय किये जायें वे ही अर्थ-प्रकृति हैं। इनके ५ भेद हैं:—(१) बीज, (२) विन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य। ये अर्थप्रकृतियाँ आधिकारिक कथावस्तु के निर्वाह में पूर्णरूपेण सहायक होती हैं।

(१) **बीज**—बीज के द्वारा आधिकारिक कथावस्तु के उद्गम में सहायता मिलती है। प्रारम्भ में इसका सूक्ष्मरूप में कथन किया जाता है परन्तु ज्यों-ज्यों व्यापक शृंखला आगे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे इसका भी विस्तार होता जाता है।

(२) **बिन्दु**—विन्दु से विच्छिन्न कथावस्तु को आगे बढ़ाया जाता है अर्थात् जो बात कारण बनकर बीच की कथा को आगे बढ़ाती है और प्रधान कथा को भी बनाये रखती है उसे विन्दु कहते हैं।

(३) **पताका** तथा (४) **प्रकरी**—इन दोनों अर्थप्रकृतियों के आधार पर प्रासङ्गिक-कथावस्तु के द्वारा मुख्य कथावस्तु का उपकार किया जाता है। इन दोनों प्रकार की प्रासङ्गिक कथाओं के नायकों की समस्त चेष्टाएँ प्रधान नायक की फल की सिद्धि करने के लिये ही होती हैं।

१—प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ।। दशरूपक १।१५।।

२—मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ।। दशरूपक—१।१६ का पूर्वार्धं ।।

(५) **कार्य**—जिस फल की सिद्धि के निमित्त समस्त साधनादि सामग्री एकत्रित की जाती है, उसे कार्य कहते हैं।

कार्यावस्थायें—फल चाहने वालों के द्वारा प्रारम्भ किये हुए कार्य की पाँच अवस्थाएँ हुआ करती हैं:—(१) आरम्भ, (२) यत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति, (५) फलागम।

(१) **आरम्भ**—महान् फल की प्राप्ति के लिये जहाँ केवल उत्कण्ठा ही हुआ करती हैं, प्रयत्न नहीं होता है तो उसे आरम्भ कहते हैं।

(२) **यत्न**—फल-प्राप्ति के निमित्त अत्यन्त शीघ्रता के साथ जो व्यापार किया जाता है उसे यत्न कहते हैं।

(३) **प्राप्त्याशा**—जहाँ प्राप्ति की आशा, उपाय तथा अपाय (विघ्न) की आशंकाओं से घिरी रहती है किन्तु फिर भी प्राप्ति की संभावना रहती है उस अवस्था को प्राप्त्याशा कहते हैं।

(४) **नियताप्ति**—जब विघ्नों के अभाव के कारण फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है तो नियताप्ति नामक अवस्था होती है।

(५) **फलागम**—अभीष्ट फल का पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाना फलयोग अथवा फलागम कहलाता है।

पञ्च-सन्धियाँ—उपर्युक्त पाँच अर्थप्रकृतियों तथा पाँच कार्यावस्थाओं के क्रमिक संयोग से पांच सन्धियों की उत्पत्ति होती है। सन्धि शब्द का अर्थ है "जोड़"। कोई भी वस्तु बिना जोड़ों के नहीं होती है। अनेक जोड़ों को समुचित रीति से मिला देने पर समग्र पदार्थ एक विशिष्ट समन्वित रूप में हमारे नेत्रों के समक्ष आता है। नाटक भी एक ऐसा ही समन्वित पदार्थ है जिसमें पाँच सन्धियाँ होती हैं:—(१) मुखसन्धि, (२) प्रतिमुखसन्धि, (३) गर्भसन्धि, (४) अवमर्श अथवा विमर्श सन्धि, (५) निर्वहण (अथवा उपसंहार) सन्धि।

(१) **मुखसन्धि**—बीज तथा आरम्भ को मिलाने वाली सन्धि को, जिसमें रसों की कल्पना होती है, मुखसन्धि कहते हैं।

(२) **प्रतिमुख-सन्धि**—विन्दु तथा यत्न को मिलाने वाली सन्धि प्रतिमुखसन्धि कहलाती है जिसमें मुखसन्धि में उत्पन्न बीज कभी लक्षित होता है और कभी अलक्षित रहता है।

(३) **गर्भ-सन्धि**—जिस सन्धि में उपाय कहीं दब जाय और उसकी खोज करने के लिये बीज का और भी विकास हो, उसे गर्भसन्धि कहते हैं। इसमें प्राप्त्याशा तथा पताका का योग होता है। इसमें पताका की सर्वत्र आवश्यकता नहीं होती है। कहीं पर वह विद्यमान रहती है और कहीं नहीं। किन्तु प्राप्त्याशा का तो होना निश्चित है। इसमें फल छिपा रहता है। इसी कारण इसको गर्भसन्धि कहते हैं।

(४) **विमर्श-सन्धि**—जहाँ पर फल का उपाय तो पहले की अपेक्षा अधिक विकसित होता है किन्तु विघ्नों के आ जाने से उसमें आघात पहुँचता है वहाँ विमर्श-सन्धि होती है। इस सन्धि में फल-प्राप्ति की पर्यालोचना की जाती है। इसमें नियताप्ति तथा प्रकरी का योग अपेक्षित होता है। परन्तु प्रकरी की स्थिति वैकल्पिक होती है।

(५) **निर्वहण-सन्धि**—जहाँ कार्य तथा फलागम मिलते हैं अर्थात् प्र योजन की पूर्ण सिद्धि हो जाती है वहाँ निर्वहण-सन्धि होती है।

सन्धियों के उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि **मुख** से कार्य प्रारम्भ होता है, प्रतिमुख में वृद्धि को प्राप्त करता है, गर्भ में उत्कर्ष को प्राप्त करता है, विमर्श में यह फल की ओर झुकता है तथा निर्वहण में वह पूर्ण सिद्धि को प्राप्त करता है।

नेता (नायक)

नेता अथवा नायक प्रधान पात्र होता है। 'नेता' शब्द 'नी' धातु से बनता है जिसका अर्थ है "ले चलना"। जो कथा को फल की ओर ले चलता है, वही नेता कहलाता है। यही फल का प्राप्तिकर्त्ता अथवा भोक्ता होता है।

नेता के प्रकार—नाट्यशास्त्र के अनुसार यह चार प्रकार का माना गया है (१) धीरललित, (२) धीरशान्त, (३) धीरोदात्त, (४) धीरोद्धत। भरतमुनि[1] के अनुसार देवता धीरोद्धत होते हैं। राजा धीरललित होते हैं। सेनापति एवं अमात्य धीरोदात्त तथा ब्राह्मण और वैश्य धीरशान्त होते हैं।

१—देवा धीरोद्धता ज्ञेयाः स्युर्धीरललिता नृपाः।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ॥
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा॥ नाटयशास्त्र २४।१८–१९॥

धीरललित नायक का लक्षण—धीरललित[1]-नायक राजपाट की अथवा अन्य प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होता है क्योंकि उसके योगक्षेम की चिन्ता उसके मन्त्री आदि के द्वारा की जाती है। इस चिन्तारहितता के कारण वह संगीत, नृत्य, चित्र आदि कलाओं का प्रेमी तथा भोग-विलासादि में सतत संलग्न अतएव रसिकवृत्ति का होता है। उसमें शृंगार-रस की प्रधानता होने के कारण वह सुकुमार आचरणवाला तथा कोमलस्वभाव वाला होता है। यह नायक अधिकतर राजा होता है। कालिदास का नायक अग्निमित्र इसी श्रेणी का नायक है।

धीरशान्त-नायक का लक्षण—विनय आदि सामान्यगुणसम्पन्न ब्राह्मण, वैश्य अथवा मन्त्रि-पुत्र आदि धीरशान्त[2]-नायक कहलाते हैं। भवभूति के 'मालतीमाधव' नामक नाटक का नायक माधव इसी कोटि में आता है।

धीरोदात्त-नायक का लक्षण[3]—यह नायक महासत्व-सम्पन्न होता है। उसका अन्तःकरण क्रोध, शोक आदि विकारों से अभिभूत नहीं होता है। वह अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन (आत्मप्रशंसक न होना), स्थिरचित्त (अचंचल मन वाला), निगूढाहंकार (स्वाभिमानी होने पर भी विनम्रता द्वारा दबे हुए अभिमान वाला), दृढ़व्रत (अर्थात् जिस बात का प्रण कर लेता है उसे अन्त तक निभाने वाला) होता है। नाटक का नायक इसी प्रकृति का चुना जाता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् का नायक दुष्यन्त धीरोदात्त नायक है।

धीरोद्धत-नायक का लक्षण—यह नायक[4] घमण्ड और ईर्ष्या से भरा हुआ, माया (अर्थात् मन्त्रबल से असत्य वस्तुओं को प्रकट करना) और कपट से युक्त, घमण्डी, चञ्चलचित्त, क्रोधी तथा आत्मश्लाघी होता है। उसे अपने शौर्य आदि का घमण्ड होता है। उसके चित्त में स्थिरता नहीं होती है। इसके अतिरिक्त

१—निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ।। दशरूपक २।३।।

२—सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।। दशरूपक २।४।।

३—महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।। दशरूपक—२।४–५।।

४—दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः ।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः ।। दशरूपक–२।५—६।।

धीरोद्धत-नायक अपनी स्वयं की डींग मारने वाला भी होता है। परशुराम अथवा भीमसेन इसी प्रकार के नायक कहे जा सकते हैं।

संस्कृत नाटककारों ने उपर्युक्त चारों प्रकार के नायकों में धीरोदात्त को ही अपनी रचनाओं में सर्वाधिक स्थान प्रदान किया है। अतः धीरशान्त अथवा धीरललित तो यत्र-तत्र ही दृष्टिगोचर होते हैं। धीरोद्धत-नायक का प्रयोग तो संस्कृत-नाटककारों ने प्रायः प्रतिनायक के रूप में ही किया है।

नायिका

नाटकादि रूपकों में नायिका का भी उतना ही महत्त्व है जितना नायक का, विशेष रूप से शृङ्गार-प्रधान नाटकों में। नायक की प्रेयसी अथवा पत्नी को ही नायिका कहते हैं। नायक के सामान्य गुणों का नायिका में भी होना आवश्यक है। नायिका के (१) स्वकीया, (२) परकीया और (३) सामान्या ये तीन भेद स्वीकार किये गये हैं। स्वकीया अपनी स्त्री, परकीया पराई स्त्री अथवा कन्या तथा सामान्या किसी की स्त्री नहीं होती है।

स्वकीया-नायिका—स्वकीया[1] नायिका शील, लज्जा आदि गुणों से युक्त होती है। वह पतिव्रता, सच्चरित्रा, अकुटिला, लज्जायुक्त तथा पति के प्रति व्यवहार में निपुण और पति-सेवा में रत होती है।

परकीया नायिका—यह दो[2] प्रकार की होती है (१) **ऊढा**—जिसका विवाह हो चुका हो अर्थात् किसी दूसरे की परिणीता स्त्री। (२) **अनूढा**—जिसका विवाह न हुआ हो अर्थात् किसी की अविवाहित पुत्री (कन्या)।

सामान्या नायिका—यह[3] साधारण स्त्री होती है। गणिका की गणना इसके अन्तर्गत आती है। यह केवल धन की दृष्टि से बाह्य प्रेम को ही प्रकट किया करती है।

१—विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया ।। सा० द० ३। ५७ ।।

२—परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा।

यात्रादिनिरताऽन्योढा कुलटा गलितत्रपा ।।

कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना ।। सा० द० ३।६६–६७ ।।

३—साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ।। दशरूपक–२।२१।।

रस

रस की व्यंजना करना, सामाजिकों के हृदय में रसोद्रेक उत्पन्न करना, दृश्य-काव्य का प्रमुख लक्ष्य है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि रस का इतना अधिक परिपोष किया जाय कि जिससे कथावस्तु ही विच्छिन्न हो जाये। नाटक के लिये जितना आवश्यक तत्त्व रस है उतना ही आवश्यक तत्त्व वस्तु भी है। दोनों परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं। वस्तु का सम्यक् एवं आकर्षक प्रति-पादन बिना रस के होना असंभव है। इसी भांति जब मुख्य वस्तु ही नहीं होगी तो रस की अनुभूति किसके आधार पर होगी। अतः नाटक में वस्तु एवं रस दोनों ही तत्त्वों की समान उपयोगिता है।

कथावस्तु के दो पक्ष और रस—कथावस्तु के दो पक्ष होते हैं (१) एक तो व्यवहारपक्ष अर्थात् वास्तव जगत् में यह घटना जैसे घटती है, (२) दूसरा है काव्यपक्ष अर्थात् नाटक के द्वारा उसी घटना का चित्रण नाटककार कैसे करता है। प्रथम है लौकिक पक्ष और द्वितीय है अलौकिक पक्ष। दोनों पक्षों में रस उदय नहीं होता है। पहली दशा तो भौतिक दशा है जिसमें शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के हृदय में वस्तुतः प्रेम नामक एक भाव उदित होता है। रस की दशा दूसरे पक्ष में होती है अर्थात् जब वही घटना कवि की प्रतिभा के बल पर शब्दों के माध्यम द्वारा काव्य या नाटक का चोला पहिन कर आती है तब यह एक अलौकिक वस्तु होती है और तभी वह रस की अनुभूति कराती है। आनन्द तभी उत्पन्न होता है।

संसार में रति आदि रूप स्थायी भाव के जो (आलम्बन या उद्दीपन के) कारण, कार्य और सहकारी होते हैं वे यदि नाटक अथवा काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। इन विभाव आदि से व्यक्त (रति आदि रूप) स्थायी भाव ही रस कहलाता है।

रस विभाग—भरतमुनि आदि संस्कृत के नाट्यशास्त्र-कर्त्ताओं ने नाट्य में केवल आठ ही रसों को माना है और वे हैं (१) शृंगार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) वीभत्स, (८) अद्भुत।

अंगी–(प्रधान) रस—नाटक में एक ही अंगी[1] अथवा प्रधान रस का होना माना गया है। यह प्रधान रस या तो शृंगार होना चाहिये अथवा वीर। अन्य सभी रस इन ही प्रधान रसों के अंगभूत रसों के रूप में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। हाँ, यह अवश्य ध्यान रखने योग्य बात है कि निर्वहण–सन्धि में अद्भुत-रस का उपनिबन्धन किया जाना नाट्य-सौन्दर्य का द्योतक हुआ करता है। अतः उसका वर्णन निर्वहण-सन्धि में किया जाना आवश्यक है।

नाटकों की उत्पत्ति

नाटकों (रूपकों) की उत्पत्ति कब तथा कैसे हुई, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। भारतीय-नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति का विवरण प्रस्तुत करते हुए नाट्य-शास्त्रकार भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में उल्लेख किया है कि सम्पूर्ण देवताओं ने ब्रह्मा के समीप जाकर उनसे प्रार्थना की कि आप हमको एक ऐसी मनोरंजन की वस्तु दीजिये कि जो दृश्य तथा श्रव्य दोनों ही हो, जिसको सभी वर्णों के लोग समान रूप से अपना सकें। उनकी प्रार्थना को ध्यान में रखते हुए ब्रह्मा ने चारों वेदों से तत्त्वभाग लेकर पंचम वेद 'नाट्य-वेद' की रचना की। उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य (कथोपकथन, संवाद आदि), सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस के तत्त्वों को लेकर इसका निर्माण किया।

"एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसंभवम्॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ ना० शा० १।१६-१७॥

नाटक के लिये प्रधान रूप से चार तत्त्वों की आवश्यकता है :—(१) संवाद, (२) संगीत, (३) अभिनय, (४) रस। ये चारों ही तत्त्व वेदों में विद्यमान हैं। इस आधार पर वेदों से नाटकों की उत्पत्ति मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। ऋग्वेद में अनेक संवाद सूक्त हैं :—यम-यमी सूक्त (१०।१०), पुरूरवा-उर्वशी संवाद-सूक्त (१०।९५), सरमा-पणि-संवाद

१—एक एव भवेदंगी शृंगारो वीर एव वा।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः॥ सा० द० ६।१०॥

(१०।१०८), इन्द्र-मरुत-संवाद (१।१६५ तथा १७०), विश्वामित्र-नदी-संवाद (३।३३), इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद (१०।८६)— इत्यादि इत्यादि। इन सूक्तों में नाटकोपयोगी 'संवाद' नामक तत्व स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। उषस्, मरुत्, इन्द्र, अग्नि इत्यादि देवता सम्बन्धी सूक्तों में भी पाठ्य अधिक मात्रा में मिलता है। सामवेद में तो संगीत की प्रधानता स्वीकार की ही जाती है। यजुर्वेद के विभिन्न यज्ञों सम्बन्धी क्रिया-कलाप में अभिनय का अंश विद्यमान है ही। अथर्ववेद में प्रायः सभी रसों का वर्णन उपलब्ध होता ही है। ऐसी स्थिति में चारों वेदों से आवश्यक तत्त्व लेकर नाटकों की उत्पत्ति मानना उचित ही प्रतीत होता है।

किन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने अनुसंधान के आधार पर नाटक की उत्पत्ति के विषय में कई विचारधारायें प्रस्तुत की हैं तथा विभिन्न वादों की स्थापना भी की है। इन वादों में से कुछ का सम्बन्ध धार्मिक-भावनाओं से है और कुछ का लौकिक लीलाओं अथवा रीति-रिवाजों से। इन सम्पूर्ण वादों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :—(१) परम्परागतवाद (२) धार्मिक भावनावाद (३) लौकिकलीलावाद।

(१) परम्परागतवाद

(१) **द्युलोकवाद**—धर्मप्रधान भारतीयों का विश्वास है कि नाट्य-विज्ञान का आविर्भाव देवलोक से हुआ है; इसके आविर्भाव का समय त्रेता युग से माना गया है। सत्ययुग में तो सभी प्राणी सुखी थे। त्रेता के आने पर दुःखों का प्रकटीकरण हुआ। अतएव मनोविनोद की भी आवश्यकता हुई। अतः देव और दानव दोनों ही ब्रह्मा के पास गये और कहा कि दुःखों से कुछ समय के लिये छुटकारा प्राप्त करने के निमित्त कोई मनोविनोद का साधन हमें प्रदान कीजिये कि जिससे हम लोग कुछ समय के लिये कष्टों को भूल जाया करें। उन्होंने ध्यानावस्थित होकर संसार के प्राणियों के हितार्थ नाट्यवेद प्रकट किया। उन्होंने ऋग्वेद से नृत्य, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यकला की रचना की और इसको पंचम वेद का नाम प्रदान किया। इसमें शिवजी ने ताण्डव नृत्य, पार्वतीजी ने लास्य नृत्य और विष्णुजी ने चार वृत्तियों का समावेश करके पूर्ण कलात्मकता उत्पन्न कर दी। इतना ही

नहीं, स्वर्गलोक के निर्माण-कार्य-कुशल विश्वकर्मा ने एक सुन्दर रंग-मंच का निर्माण किया तथा उस पर नाटकों का अभिनय भी किया जाने लगा। सर्वाधिक प्राचीन नाटक त्रिपुर-दाह और समुद्र-मन्थन थे, जिनका अभिनय इन्द्र-ध्वज पर्व के अवसर पर हुआ था तथा जिसमें पुरुषों का अभिनय पुरुषों द्वारा तथा स्त्रियों का अभिनय स्त्रियों द्वारा किया गया था। इस कला को इस पृथ्वी लोक में पहुँचाने का कार्य भरत मुनि के सुपुर्द किया गया। इस भाँति यह कला द्युलोक से पृथ्वी पर आई।

इसमें वास्तविकता कितनी है, यह कहा नहीं जा सकता। किन्तु इतना अवश्य है कि इसके द्वारा नाट्यकला सम्बन्धी निम्नलिखित बातों का ज्ञान प्राप्त हो ही जाता है :—

(१) नाट्य-कला-निर्माण में ऋग्वेदादि चारों वेदों का कुछ न कुछ योग अवश्य है।

(२) पूर्व-काल में पुरुष तथा स्त्री दोनों ही अपना-अपना अभिनय किया करते थे।

(३) उस समय सभी नाटक धार्मिक होते थे जिनका अभिनय धार्मिक पर्वों के अवसरों पर ही हुआ करता था।

(४) वैदिक-काल में किसी भी नाटक का सृजन नहीं हुआ था। इसी कारण देव और दानवों को मिलकर ब्रह्मा से प्रार्थना करनी पड़ी थी।

(२) धार्मिकभावना-वाद

(२) **मृतकपूजा-वाद**—डा० रिजवे (Dr. Ridgeway) के मतानुसार समस्त विश्व में नाटकों का उद्भव मृतात्माओं को प्रसन्न करने और उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करने के निमित्त हुआ। ग्रीस, भारत आदि सभी प्राचीन देशों में प्राचीन काल से ही इस प्रकार की श्रद्धा प्रकट करने की प्रथा चली आती है। यह श्रद्धा ही सभी धर्मों का मूल है। इस प्रकार नाटकों का अभिनय मृतात्माओं को प्रसन्न करने हेतु हुआ करता था। रामलीला एवं कृष्णलीलायें भी इसी भावना की प्रतीक हैं। अतः मृतकपूजा के कारण ही शनैः शनैः नृत्य, गान और अभिनय होने लगे। इस भाँति नाटकों की सृष्टि प्रारम्भ हुई।

किन्तु डा० रिजवे का यह मत विद्वानों में मान्य न हो सका क्योंकि राम एवं कृष्ण आदि की पूजा अथवा लीलाएँ करने का प्रयोजन उपर्युक्त श्रद्धा-प्रकटनार्थ नहीं है अपितु उनके चरित का स्मरण और श्रवण कर अपने जीवन को तदनुकूल निर्माण करना ही उसका लक्ष्य है। साथ ही राम एवं कृष्ण की स्मृति को स्थायी बनाना भी है।

(३) **मेपोल-वाद**—डा० रिजवे के उपर्युक्त मत में पाश्चात्य विद्वानों को विश्वास उत्पन्न न हो सका। अतः उन्होंने नाटक की उत्पत्ति मे-पोल (May-pole) नृत्य से स्वीकार की। पाश्चात्य देशों में मई का महीना अत्यन्त उल्लास एवं आनन्द का माना जाता है। इस मास में लोग हर्ष एवं उल्लास के साथ उत्सव मनाते हैं, नाचते-कूदते हैं तथा पूर्ण आनन्द का अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं, वे लोग एक लम्बा बाँस गाड़कर उसके नीचे एकत्रित होते हैं तथा सभी स्त्री-पुरुष मिलकर नृत्य किया करते हैं। भारत में भी 'इन्द्रध्वज' का पर्व लगभग इसी भाँति मनाया जाया करता था।

यह बात ठीक है कि सभी देशों में वसन्त-ऋतु का उत्सव बड़े आनन्द के साथ मनाया जाया करता है। मे-पोल का उत्सव भी वसन्त में होता है किन्तु इन्द्रध्वज का पर्व तो भारत में वर्षा ऋतु में हुआ करता है। अतः मे-पोल के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ना नितान्त अनुपयुक्त ही प्रतीत होता है।

(४) **कृष्णोपासना-वाद**—इस वाद के अनुसार नाटकों की उत्पत्ति केवल कृष्ण की उपासना से ही हुई है। निस्संदेह कृष्णोपासना के कई अङ्ग नाटकों के अभिनय आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। जैसे—रथयात्रायें, नृत्य, वाद्य, गीत और लीलायें—ये सभी ऐसे साधन हैं कि जो संस्कृत नाटकों के निर्माण में सहायक सिद्ध हुए हैं। अतः इसी आधार पर विद्वानों ने संस्कृत नाटकों का सर्वप्रथम विकास कृष्णोपासना से माना है।

किन्तु इस वाद में महान् दोष यह है कि कृष्ण सम्बन्धी नाटक ही सर्वाधिक प्राचीन हैं, इसका कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त राम, शिव आदि अन्य देवताओं की प्रसिद्ध उपासनाओं के द्वारा भी भारतीय नाटकों के विकास में अवश्य सहयोग प्राप्त हुआ है, किन्तु उपर्युक्त सिद्धान्त में इसकी उपेक्षा की गई है।

(३) लौकिकलीला-वाद

(५) **लोकप्रियस्वाँग-वाद**--प्रो॰ हिलब्रैंट (Hillebrandt) तथा प्रो॰ स्टेन कोनो (Sten Konow) के मतानुसार नाटकों का जन्म लोकप्रिय स्वाँगों से हुआ। भारत में पहले लोक-प्रिय स्वाँगों का प्रचलन अधिक था। इन स्वाँगों में रामायण तथा महाभारत के आख्यानों का सम्मिश्रण कर नाटकों की कथा-वस्तु तैयार की गई होगी। किन्तु डा॰ कीथ ने इस मत का विरोध करते हुए यह कहा कि नाटक के प्रचार से पहले स्वाँगों के प्रचलित होने के सम्बन्ध में कोई सुदृढ़ प्रमाण नहीं मिलता। श्री कोनो ने जिन प्रमाणों का उल्लेख किया है वे प्रायः सभी महाभाष्य के समकालीन तथा उसके बाद के प्रतीत होते हैं। अतः उनसे स्वाँगों के प्राचीन होने की बात सिद्ध नहीं होती है। इसकी अपेक्षा प्रो॰ हिलब्रैण्ट ने जो युक्तियाँ दी हैं, उनमें कुछ बल अवश्य प्रतीत होता है। उन्होंने (१) नाटकों में संस्कृत भाषा के साथ प्राकृत भाषा का प्रयोग, (२) नाटकों में गद्य-पद्य दोनों का होना, (३) रंगशालाओं में आडम्बर-शून्यता तथा सादगी का होना और (४) विदूषक जैसे जन-प्रिय पात्र के आधार पर नाटकों की उत्पत्ति लोकप्रिय स्वाँगों में मानी है। इनमें से प्रथम तीन बातों का समाधान ठीक रूप में हो जाता है तथा नाटकों के उद्भव का सम्बन्ध धार्मिक-संस्कारों के साथ जुड़ जाता है। किंतु विदूषक जैसे पात्र का प्रादुर्भाव महाव्रत संस्कार में शूद्र पात्र की आवश्यकता से हुआ माना जा सकता है। महाव्रत वस्तुतः एक धार्मिक संस्कार है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं होता कि जिसके आधार पर नाटकों में विदूषक जैसे पात्र को रखने का सम्बन्ध किसी लौकिक लीला से रहा हो।

(६) **पुत्तलिकानृत्य-वाद**--जर्मन विद्वान् डा॰ पिशेल (Dr. Pischel) ने यह स्वीकार किया है कि नाटकों की उत्पत्ति कठपुतलियों के नृत्य से हुई है। नाटकों में आने वाले सूत्रधार तथा स्थापक आदि शब्द इस मत के समर्थक हैं। कथासरित्सागर, महाभारत तथा राजशेखरकृत बाल-रामायण में इनका उल्लेख प्रायः पुत्तलिका, दारुमयी पुत्रिका आदि नामों से पाया जाता है। किन्तु यह मत भी निर्भ्रान्त प्रतीत नहीं होता। प्रो॰ हिलब्रैंट के मतानुसार कठपुतलियों के नाच के इतिहास को दृष्टि में रखकर यह स्वीकार करना पड़ता है कि नाटकों

की उत्पत्ति इससे पूर्व ही हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त नाना प्रकार के भावों और रसों से समन्वित नाटक का उद्भव इस साधारण पुत्तलिका-नृत्य से मानना एकदम असंगत एवं निराधार प्रतीत होता है।

(७) **छायानाटक-वाद**—डा० लूडर्स (Dr. Luders) के मतानुसार नाटकों का जन्म छाया द्वारा दिखलाये जाने वाले नाटकों से हुआ। पूर्वकाल में छाया द्वारा अनेक खेल दिखलाने की प्रथा प्रचलित थी। उनका कथन है कि महाभाष्य में वर्णित शौनिक मूक-अभिनेताओं अथवा छाया-मूर्तियों की चेष्टाओं के व्याख्याता थे। किन्तु डा० कीथ के मतानुसार यह विचार महाभाष्य के वाक्य के अशुद्ध अर्थ पर ही आधारित है। इस मत में सबसे बड़ी त्रुटि तो यही है कि इसके आधार पर नाटकों के गद्य-पद्य-मिश्रण तथा संस्कृत-प्राकृत के प्रयोग का कोई कारण नहीं बताया जा सकता। दूसरे, अन्य वादों की ही तरह इस वाद के मानने वाले को भी नाटकों की सत्ता छाया द्वारा दिखलाये जाने वाले खेलों की उत्पत्ति से पूर्व ही मानना पड़ती है।

(८) **संवादसूक्त-वाद**—ऋग्वेद में १५ से भी अधिक संवाद-सूक्त (जिनका उल्लेख प्रारम्भ में भी किया जा चुका है) उपलब्ध होते हैं जिनमें धार्मिक भावनाओं के अतिरिक्त लोकव्यवहार से सम्बन्धित संवादों का भी उल्लेख मिलता है। सन् १८६९ में प्रो० मैक्समूलर का ध्यान इन सूक्तों की ओर गया तथा उन्होंने नाटक की उत्पत्ति का मूलभूत कारण इन्हीं संवाद-सूक्तों को बतलाया। इसके पश्चात् प्रो० सिलवन लेवी (Prof. Sylvain Levi), प्रो० वॉन श्रोडर (Von Schroeder) तथा डा० हर्टल (Dr. Hertel) और कुछ अन्य विद्वानों ने भी इसी मत का दृढ़ता के साथ समर्थन किया। नाटकों के मुख्य साधन हैं:—नृत्य, गीत और संवाद। पहले इन संवादों के साथ नृत्य एवं गीत भी रहे होंगे। किन्तु आज उनका रूप वहाँ उपलब्ध नहीं होता। वैसे ऋग्वेद में विवाह-सूक्त के अन्तर्गत नव-दम्पतियों के समक्ष पुरन्ध्रियों के नृत्य करने का उल्लेख प्राप्त होता है तथा गीत तो ऋग्वेद में अनेकों विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त इन संवाद-सूक्तों में से कुछ सूक्तों में तो सुन्दर वार्त्तालाप भी विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में इन संवाद सूक्तों से ही नाटकों की उत्पत्ति मानना संभव प्रतीत होता है।

(६) **वैदिकानुष्ठान-वाद**—कुछ विद्वानों ने इन संवाद-सूक्तों के अतिरिक्त वैदिक अनुष्ठानों के द्वारा भी नाटकों की उत्पत्ति को स्वीकार किया है। वैसे तो वैदिक-अनुष्ठानों में नाटकों के प्रायः सभी उपादान तत्त्व मिल सकते हैं। ऊपर जिन संवाद-सूक्तों का वर्णन किया जा चुका है वे भी अनुष्ठान के एक अङ्ग ही कहे जा सकते हैं। इसके साथ ही साथ वैदिक-काल में महाव्रत नामक अनुष्ठान का अधिक प्रचलन था। यह अनुष्ठान भी एक प्रकार के नाटक के सदृश ही था। क्योंकि इसमें कुमारियाँ अग्नि के चारों ओर नृत्य किया करती थीं। प्रकाश के निमित्त हुई वैश्य एवं शूद्र की कलह का वर्णन नाटकीय अभिनय का ज्ञापक है। इसके अलावा यज्ञ-सूत्रों में यज्ञ-मण्डप के अन्तर्गत बैठे हुए यजमानों तथा याजकों के मनोविनोद के निमित्त वार्तालाप से युक्त सूक्तों से नाटकों के कथोपकथनों का संकेत प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कथन है कि नाटकों में विद्यमान गद्यमय संवाद, महाव्रत में प्रयुक्त संवाद को देखकर ही रखे गये हैं। इस वाद के आधार पर यह तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि वैदिक-अनुष्ठानों में नाटक के सभी उपादानतत्त्व उपलब्ध हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त प्रो० वेबर (Prof. Weber) तथा प्रो० विंडिश (Windisch) ने भारतीय नाटकों के उद्भव में यूनानी नाट्यकला के प्रभाव को सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु प्रो० सिलवन लेवी आदि विद्वानों ने इस मत का पूर्ण रूप से विरोध किया है।

ऐसी स्थिति में उपर्युक्त विभिन्न वादों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाटकों की उत्पत्ति में प्राचीन नृत्य, गीत और संवादों का विशेष हाथ रहा है। प्रायः सभी जातियों में नृत्य, गीत इत्यादि अतिप्राचीन काल से ही प्रचलित थे। सभ्यता के विकास के साथ ही साथ भारतवर्ष में इन नृत्य-गीतादि का भी विकास होता गया तथा इनका विकसित रूप ही बाद में नाटक-शब्द वाच्य हुआ जिसमें अभिनय ने और भी जीवन डाल दिया। अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि भारत में ही सर्वप्रथम नाटकों का श्रीगणेश हुआ।

संस्कृत-नाटकों का क्रमिक-विकास

नाटक के प्रधान अङ्ग संवाद, संगीत, नृत्य एवं अभिनय हैं। ऋग्वेद में यम-यमी[1], उर्वशी एवं पुरूरवा[2], सरमा और पणि[3] आदि के संवादात्मक सूक्तों

१—ऋग्वेद १०।१०। २—ऋग्वेद १०।९५। ३—ऋग्वेद १०।१०८।

का उल्लेख [illegible] होता है जिनसे नाटकीय संवाद का तत्त्व प्राप्त होता है । सामवेद में संगीत की प्रधानता है ही । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक काल में उपर्युक्त सभी अंगों का किसी न किसी रूप में अस्तित्व अवश्य था । संभव है कि ये वैदिक संवादात्मक सूक्त ही कालान्तर में परिमार्जित एवं परिष्कृत होकर नाटकों के रूप में परिणत हो गये हों ।

ऋग्वेद के सूक्तों से ज्ञात होता है कि "सोम-विक्रय" के समय एक प्रकार का अभिनय हुआ करता था जिसका उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन था । अश्व-मेधादि यज्ञों के अवसरों पर तथा उनके अन्तर्गत होने वाले कर्मानुष्ठानों के मध्य में प्राप्त होने वाले अवकाश के समय शुनःशेप आदि के प्राचीन आख्यान कहे जाया करते थे । इन आधारों पर यह कल्पना भी की जा सकती है कि उपर्युक्त प्रसंगों के समय वैदिक देवताओं के चरित्र सम्बन्धी नाटकों का प्रयोग यथावसर होता रहा होगा । यह हो सकता है कि ये नाटक सर्वांगपूर्ण न रहे हों, फिर भी यह बात तो निस्सन्देह कही ही जा सकती है कि उनमें संस्कृत-नाट्य-कला के बीज तो विद्यमान थे ही ।

मैक्समूलर ने भी वेदों में प्रयुक्त संवादात्मक सूक्तों के आधार पर भारतीय नाट्य-कला की उत्पत्ति वैदिक युग में सिद्ध की है[१] । डा० दासगुप्ता भी इस मत से सहमत हैं कि वेदमन्त्रों में नाटकीय तत्त्व प्रचुर रूप में विद्यमान हैं और तत्कालीन जनजीवन के धार्मिक अवसरों, संगीत समारोहों तथा नृत्योत्सवों से नाटक का घनिष्ठ सम्बन्ध था[२] ।

बाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्ल-यजुर्वेद[३] संहिता में तथा तैत्तिरीय[४]-ब्राह्मण में "शैलूष" शब्द की उपलब्धि होती है जिसका अर्थ "नट" होता है । "कौषी-तकि"-ब्राह्मण में नृत्य, गीति तथा संगीत मुख्य विद्याओं में परिणत किये गये

१—मैक्समूलर–ओरिजिन ऑफ दी ऋग्वेद, वाल्यूम–१–पृष्ठ १७३ ।

२—डा० एस० एन० दासगुप्ता तथा एस० के० डे : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, वाल्यूम १–पृष्ठ ४४ (१९४७)

३—नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय समाहरं—इत्यादि मन्त्र—यजुर्वेद ३०।६ ।

४—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१२

हैं। महाव्रत[2] में वृष्टि के उदय तथा पशुओं की समृद्धि के लिये अग्नि के चारों ओर कुमारियों के नृत्य करने का वर्णन आता है तथा विवाह-समाप्ति से पूर्व अग्निदेव के सामने स्त्रियों के नृत्य का संकेत मिलता है। इन उल्लेखों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि वैदिक तथा ब्राह्मण-काल में नटों तथा नाट्य-कला का अस्तित्व था।

रामायण एवं महाभारत-काल में नाट्य-कला की ओर भारतीयों का ध्यान था, इस विषय में सन्देह का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि इन दोनों[2] ग्रन्थों में "नट", "नर्तक" तथा "गायक" आदि का उल्लेख अनेक स्थानों पर आता है[3]। वाल्मीकि रामायण में एक स्थान पर आता है कि जिस जनपद में राजा नहीं रहा करता है उसमें नट, नर्तक आदि प्रसन्न दृष्टिगोचर नहीं होते[4] हैं। वाल्मीकि रामायण में नट तथा नर्तकों के समाज अर्थात् गोष्ठी और मनोरञ्जन का वर्णन उपलब्ध[5] होता है। "व्यामिश्र" शब्द ऐसे[6] नाटकों के लिये प्रयुक्त किया गया है जिनमें भाषाओं का मिश्रण रहता था।

इस काल में नाटक पर धर्म का प्रभाव था। धार्मिक महोत्सवों के अवसरों पर मनोरंजनार्थ राम तथा कृष्ण की लीलाओं का अभिनय किया जाता था। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में "नाटक" जन-साधारण की श्रद्धा एवं सम्मान का पात्र हो गया था।

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास (बलदेव उपाध्याय) पंचम संस्करण—पृष्ठ ४५२, पंक्ति ९-११।
"हमारी नाट्य-परम्परा"—(श्रीकृष्णदास) पृष्ठ ३६ पंक्ति ५—८।

२—"नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्त्तकाः"। वाल्मीकि रामायण २।६७।१५।
"आनर्त्ताश्च तथा सर्वे नटनर्त्तकगायकाः"।। महाभारत-वनपर्व १५।१३।

३—डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास पृष्ठ २६ (द्वितीय संस्क०)

४—वाल्मीकि रामायण २।६७।१५।

५—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड ६७।१५।

६—वाल्मीकि रामायण, अयोध्या० ...

संस्कृत-व्याकरण के निर्माता पाणिनि का काल ईसा से लगभग ७०० वर्ष पूर्व माना गया है। उनके द्वारा रचित अष्टाध्यायी में नट-सूत्रों[२] का उल्लेख आता है। इन सूत्रों में 'शिलालि' तथा 'कृशाश्व' नामक आचार्यों के बनाये हुए नट-सूत्रों का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि इस समय तक नाटकों का इतना प्रचार हो गया था कि नटों की शिक्षा के निमित्त स्वतन्त्र सूत्र-ग्रन्थों की रचना होने लगी थी।

इसके अनन्तर "पतंजलि" मुनि का महाभाष्य मिलता है। इस महाभाष्य में कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि जिनके आधार पर नाटकों के रंगभूमि पर प्रयुक्त किये जाने के प्रमाण मिलते हैं। इसमें आये हुए वर्णन से सिद्ध होता है कि पतंजलि के समय में "कंसवध" और "बलिबन्ध" नामक नाटक दिखलाये गये थे। महाभाष्य में आता है :—

"ये तावदेते शोभनिका (सौभिका) नामैते, प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्ति इति। ...अतश्च सतः व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते, केचित् कंसभक्ता भवन्ति केचित् वासुदेव-भक्ताः। वर्णान्यत्वं खलु पुष्यन्ति। केचिद्रक्त-मुखा भवन्ति, केचित् कालमुखाः।" महाभाष्य ३।२।१११।

इस उपर्युक्त उद्धरण में "कंसं घातयन्ति" और "बलिं बन्धयन्ति" में प्रयुक्त वर्त्तमानकालिक क्रिया का समाधान करते हुए भाष्यकार ने उन नटों (शोभनिकों) का उल्लेख किया है जो प्रत्यक्ष रूप से सबके सामने कंस को मारते हैं तथा बलि को बाँधते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पतंजलि ने अपने समय में प्रचलित "कंसवध" तथा "बलिबन्ध" नामक नाटकों के अभिनय प्रकार का स्पष्ट उल्लेख किया है। इनके नाम ही नहीं अपितु अभिनय की ओर भी संकेत किया है। उनका कथन है कि कंसवध नामक नाटक में कंस के भक्त लोग तो काला मुख बनाकर अभिनय करते थे और कृष्ण के अनुयायी मुख लाल रंग से रंग कर अभिनय करते थे। पतञ्जलि के इस कथन से यह बात स्पष्ट हो

१—उपाध्याय बलदेव : संस्कृत सा० का इतिहास (पंचम संस्क०) पृष्ठ १४६ पंक्ति ५-८।

२—पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ।। अष्टाध्यायी ४।३।११०

कर्मन्दकृशाश्वादिनिः ।। अष्टा० ४।३।१११।

जाती है कि उनके समय तक नाटकों का अभिनय जनता के मनोरंजन का एक अत्युत्तम तथा सर्वप्रिय साधन बन गया था ।

उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत नाटकों का क्रमिक विकास वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो गया था । इस विकास में इतिहास पुराणों तथा कुछ लोक-गीतों से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई । धार्मिक एवं सामूहिक उत्सवों से भी उसे प्रेरणा प्राप्त हुई । इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि के समय में आकर नाटक ने पूर्ण विकसित स्वरूप को धारण कर लिया था तथा उनका अभिनय भी होने लगा था । यह दूसरी बात है कि उनके महाभाष्य में जिन नाटकों का उल्लेख आया है वे आज हमें उपलब्ध न हों ।

महाकवि कालिदास का काल और जीवन-वृत्त

जीवन-वृत्त जानने के दो मुख्य साधन—किसी कवि का जीवन-वृत्त ज्ञात करने हेतु मुख्य रूप से दो आधार हुआ करते हैं : (१) अन्तःसाक्ष्य; अर्थात् कवि ने अपनी रचनाओं में अपने सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से क्या लिखा है । (२) वहिःसाक्ष्य—अर्थात् कवि के सम-कालीन तथा परवर्त्ती विद्वानों ने उसके सम्बन्ध में क्या-क्या लिखा है । इन दोनों साधनों में अन्तःसाक्ष्य अधिक प्रामाणिक होता है ।

महाकवि कालिदास का जीवन-वृत्त और काल—महाकवि कालिदास स्वभाव से अत्यन्त विनयी तथा नम्र थे । अतः उन्होंने स्वरचित नाटकों में प्राचीन पद्धति का अनुसरण कर केवल अपने नाम[1] का ही निर्देश किया है ।

१—सूत्रधारः—— । अस्यां च कालिदासग्रथितवस्तुनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः । अ० शा० पृष्ठ ६–सूत्रधार की उक्ति ।

१—सूत्रधारः———— । अहमस्यां कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन त्रोटकेन उपस्थास्ये । (कालिदास ग्रंथावली, पं० सीताराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित तथा अखिल भारतीय विक्रमपरिषद् काशी द्वारा प्रकाशित) विक्रमोर्वशीय पृष्ठ १५४ तथा

१—सूत्रधारः—अभिहितोस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तुमालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन्वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति । मालविका० पृष्ठ ५ पर सूत्रधार की उक्तियाँ ।

स्वरचित काव्यों में तो इसका भी अभाव है। उनकी इस निस्पृहता का दर्शन हमें उनकी कृतियों में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है क्योंकि वे जिस रसिक राजा के आश्रय में रहे उसके सम्बन्ध में भी उन्होंने एक प्रशस्तिपंक्ति तक नहीं लिखी है। यहाँ तक कि उन्होंने अपने आश्रय दाता के नाम का भी अपने किसी काव्य में उल्लेख नहीं किया है। ऐसी स्थिति में अन्तः-साक्ष्य के आधार पर हम उनके जीवन-वृत्त तथा काल के विषय में कुछ भी जान सकने में नितान्त असमर्थ हैं।

हाँ, बाह्य-साक्ष्य के आधार पर कालिदास के जीवन-वृत्त एवं काल के सम्बन्ध में कुछ सामग्री अवश्य उपलब्ध होती है किन्तु उसके आधार पर भी पूर्णरूपेण किसी निश्चित निर्णय पर पहुँच सकना कठिन ही प्रतीत होता है।

कालिदास के काल की सीमायें—कालिदास के काल की दो सीमायें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। उन्होंने अपने "मालविकाग्निमित्र" नामक नाटक का कथानक शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र के चरित्र से लिया है। यह अग्निमित्र, मौर्यवंश का उच्छेद कर मगध साम्राज्य को छीनने वाले सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र था। इसका समय ईसा से लगभग १८४ वर्ष[1] पूर्व स्वीकार किया गया है। इस स्थिति के अनुसार कालिदास का काल इससे पूर्व का नहीं हो सकता है।

कालिदास के नाम का सर्व प्रथम उल्लेख हमें कन्नौज के सम्राट् हर्ष के-जिनका समय[2] इतिहासज्ञों ने ६०६ ई० सन् से ६४७ ई० तक स्वीकार किया

१—१८४ ई० पू० में वृहद्रथ को मारकर पुष्यमित्र गद्दी पर बैठा।
(i) A comprehensive History of India Volume II, Page 95, Line 10,
(ii) Ancient India : Dr. R. C. Majumdar, Page 120, Line 10,
(iii) रतिभानुसिंह नाहर : प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास : सम्राट हर्षवर्धन का शासनकाल ६०६-६४७: पृष्ठ ४९४-५०८।

२—डा० रामाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास: हर्ष के राज्यारोहण का काल ६०६ ई० पृष्ठ २२४ : मृत्युकाल ६४७ अथवा ६४८ ई० पृष्ठ २३५, पंक्ति १५।

है, आश्रित रहने वाले महाकवि बाणभट्ट विरचित "हर्षचरित" की प्रस्तावना में उपलब्ध होता है अथवा दक्षिण भारत के "ऐहोल" नामक ग्राम में प्राप्त हुए शिलालेख[1] पर (६३४ ई० सन्) खुदी हुई प्रशस्ति में उपलब्ध होता है। ये दोनों ही प्रकार के उल्लेख ईसा की सप्तम शताब्दी के ही हैं। अतः इसके पश्चात् भी महाकवि कालिदास का काल निर्धारित करना असंभव है।

उपर्युक्त सीमाओं से निर्धारित काल के अन्तर्गत ही इनके विषय में विभिन्न विद्वानों की मान्यताओं से युक्त अनेक विचार प्राप्त होते हैं। इन विचारों में से तीन मत ही मुख्य हैं (१) छठी शताब्दी ई० का मत, (२) गुप्तकालीन मत, (३) प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व का मत। इनमें से तृतीय मत की चर्चा तो प्रस्तुत ही है। केवल प्रथम और द्वितीय मतों के सम्बन्ध में पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय और डा० शान्तिकुमार नानूराम व्यास के द्वारा लिखित "संस्कृत साहित्य की रूपरेखा" से दोनों मतों तथा उनके सम्बन्ध में उठाई गई आपत्तियों का उल्लेख यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

(१) **छठी शताब्दी ई० का मत**—फर्ग्युसन महोदय का कथन है कि उज्जयिनी के राजा हर्ष विक्रमादित्य ने ५४४ ई० में शकों को कहरूर की लड़ाई में हराकर इस विजय के उपलक्ष्य में विक्रम संवत् चलाया। इस संवत् को प्राचीन एवं चिरस्मरणीय बनाने के लिये उसने उसे ६०० वर्ष पूर्व से चलाकर उसका आरम्भ ५७ ई० पू० में माना। अतः इस मत के अनुसार कालिदास का समय छठी शताब्दी प्रकट होता है। इस मत की पुष्टि में यह दिखलाया जाता है कि कालिदास के ग्रन्थों में यवन, शक, पहलव, हूण आदि जातियों के नाम आते हैं। हूणों ने ५०० ई० में भारतवर्ष पर आक्रमण प्रारम्भ किया अतः उसका उल्लेख करने वाले कालिदास का समय उसके पश्चात् होना चाहिये।

इस मत के विरुद्ध ये आपत्तियाँ हैं :—(१) हर्ष विक्रमादित्य द्वारा प्रचलित संवत् का प्रारम्भ ६०० वर्ष पूर्व ही क्यों ढकेल दिया गया, इसका समाधान फर्ग्युसन के पास नहीं है। इसके अतिरिक्त ५४४ ई० से पहले मालव संवत्

१—येनायोजि न वेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स जयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥
ऐहोल शिलालेख (पुलकेशी द्वितीय) शक संवत् ५५६ (६३४ ई०)

५२९ तथा विक्रम संवत् ४३० के प्रयोग मिलते हैं, अतः फर्ग्युसन का यह कल्पित मत पूर्णतया धराशायी हो जाता है। (२) रघुवंश में हूणों अथवा अन्य जातियों का वर्णन विदेशी विजेताओं के रूप में नहीं आता। रघु ने अपने दिग्विजय में उनको भारत की सीमा के बाहर पराजित किया था। चीन तथा एशिया के इतिहास से प्रमाणित हो गया है कि ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी में हूण पामीर के पूर्वोत्तर में आ चुके थे। (३) ४७३ ई० की मन्दसौर वाली वत्सभट्टि रचित प्रशस्ति में ऋतुसंहार और मेघदूत के कितने ही पद्यों की साफ झलक देख पड़ती है। ऐसी दशा में कालिदास को छठी शताब्दी में मानना कहाँ तक न्यायसंगत है। यह सिद्धान्त भारतीय जनश्रुति के भी प्रतिकूल है। अतः आधुनिक समय में इस मत का समर्थक कोई नहीं है।

गुप्तकालीन मत—योरोपीय विद्वानों ने गुप्त नरेशों के समुन्नत साम्राज्य काल में कालिदास का स्थिति-काल माना है। कीथ महोदय इस मत के समर्थक हैं कि शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले तथा अपने से पूर्व के मालव संवत् को विक्रम संवत् के नाम से प्रचारित करने वाले द्वितीय गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त (३७५–४१३ ई०) विक्रमादित्य थे। उनके मतानुसार भारतीय इतिहास के इसी स्वर्णयुग में महाकवि कालिदास ने अपनी कीर्तिकौमुदी का प्रसार किया था। इस मत के समर्थन में यह कहा जाता है कि कालिदास के कुमारसंभव नामक महाकाव्य की रचना संभवतः चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म को लक्ष्य में रखकर की गई है। कालिदास ने गुप् धातु का बार-बार प्रयोग किया है (रघुवंश—१।५५, २।२४, ४।२०, ४।२६ आदि)। चौथी शताब्दी ई० की हरिषेणकृत प्रयागवाली प्रशस्ति में किये गये समुद्रगुप्त के विजय-वर्णन में तथा रघुवंश में वर्णित रघु के दिग्विजय में घटनाओं का बड़ा साम्य देख पड़ता है; कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित सुख-शान्ति का समृद्ध काल गुप्तकाल का ही सूचक है; कालिदासकृत इन्दुमती के स्वयंवर-वर्णन में "ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः", "इन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै" आदि उक्तियों में चन्द्रमा तथा इन्दु शब्द चन्द्रगुप्त के ही द्योतक हैं। कालिदास का मालविकाग्निमित्र नाटक वाकाटक के राजा रुद्रसेन द्वितीय और चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता के विवाहोत्सव पर लिखा या खेला गया होगा।

उसमें जिस अश्वमेध का उल्लेख किया गया है, उससे भी समुद्रगुप्त द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ की ओर ही संकेत जान पड़ता है । अतः कालिदास गुप्तकाल में, विशेषतः चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में हुए होंगे ।

इस मत के विरुद्ध प्रधान आपत्तियाँ ये हैं :—(१) यह संभव नहीं जान पड़ता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय-जैसे पराक्रमी नरेश ने स्वयं अपना संवत् न चलाकर अपने पूर्व प्रचलित मालव-संवत् को अपने नाम से जारी किया हो । साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्वयं गुप्त-संवत् प्रचारित किया था । क्या चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पितामह के संवत् को अस्वीकार करके अपना अलग संवत् चलाने की धृष्टता की होगी ? चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा जारी किया गया तथाकथित विक्रम संवत् उनके बाद की शताब्दियों में कहीं उल्लिखित नहीं है । स्वयं चन्द्रगुप्त के पौत्र स्कन्दगुप्त के गिरिनार वाले शिलालेख में विक्रम-संवत् का उल्लेख न होकर गुप्त संवत् का ही उल्लेख हुआ है ("गुप्तप्रकाले गणनां विधाय") । विक्रम संवत् का उल्लेख नवीं शताब्दी से पूर्व कहीं नहीं पाया जाता । अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा नवीन संवत् चलाये जाने की अथवा किसी पूर्वकालीन संवत् को अपना नाम देने की घटना ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाती । इस कारण कालिदास के स्थिति-काल के गुप्तकालीन मत का मौलिक आधार ही अप्रमाणित हो जाता है । (२) कालिदास ने कुमार शब्द का प्रयोग 'सुत', 'पुत्र', 'आत्मज', की भाँति साधारण अर्थ में ही किया है, किसी विशेष प्रयोजन से नहीं । 'मालविकाग्निमित्र' में जिस अश्वमेध का तथा यवनों की पराजय का उल्लेख हुआ है उसका वस्तुतः सम्बन्ध शुंग वंश के प्रवर्त्तक से है । कालिदास कृत रघु का दिग्विजय-वर्णन ऐतिहासिक होता हुआ भी एक कवित्वपूर्ण वर्णन है । वह बहुत कुछ पुराणों में पाये जाने वाले वर्णनों के ही समान है । उसकी ऐतिहासिकता के विषय में अभी और छान-बीन की आवश्यकता है । कालिदास के ही ग्रन्थों में जिन उक्तियों में चन्द्रगुप्त-द्वितीय की झलक देख पड़ती है तथा समुद्रगुप्त काल की झाँकी दिखाई पड़ती है उनमें भी मतैक्य नहीं है । व्याख्या के विशेष ढंग से उनके नाना प्रकार के अर्थ लगाये जा सकते हैं । (३) किसी गुप्त सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नहीं था । द्वितीय चन्द्रगुप्त की उपाधि विक्रमादित्य थी, नाम नहीं । उपाधि प्रचलित होने के लिये यह आवश्यक है कि उस नाम का

कोई लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति पहले हो चुका हो जिसके अनुकरण पर बाद के महत्त्वाकांक्षी लोग उस नाम की उपाधि धारण करें। रोम में भी सीजर उपाधिधारी राजाओं से पहले सीजर नामक सम्राट् हो चुका था। इसी प्रकार विक्रम उपाधिधारी द्वितीय-चन्द्रगुप्त से पूर्व विक्रमादित्य नामधारी कोई शासक अवश्य हुआ होगा। अतः चन्द्रगुप्त-द्वितीय स्वयं विक्रमादित्य नहीं थे और न उनके समय में कालिदास की स्थिति ही मानी जा सकती है।

इन विभिन्न विचारधाराओं अथवा मतों को दिखलाने तथा उनकी प्रामाणिकता की परीक्षा करने आदि में पृष्ठों को भरने का प्रयास न कर अनेक विद्वानों द्वारा अभिमत एवं प्रमाणित तथा भारतीय किंवदन्तियों के आधार पर आश्रित मत के आधार पर ही कालिदास के काल तथा उनके जीवन के विषय में उल्लेख करना अधिक उपयुक्त एवं समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि उनके काल तथा जीवनवृत्त का विषय तो आज तक विवादास्पद बना हुआ है तथा आज तक कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो सका है।

भारतवर्ष में यह बात परम्परागत प्रचलित चली आ रही है कि महाकवि कालिदास महाराज विक्रमादित्य की राजसभा के कवि थे। "ज्योतिर्विदाभरण" नामक ग्रन्थ से भी इस बात की पुष्टि होती है। उसमें विक्रमादित्य के नवरत्नों[1] का उल्लेख आया है। उन नवरत्नों में एक नाम कालिदास का भी है। इसके अतिरिक्त "अभिज्ञानशाकुन्तल" तथा "विक्रमोर्वशीय" नामक महाकवि कालिदास के नाटकों के कुछ वाक्यों से भी कालिदास तथा विक्रमादित्य का सम्बन्ध स्पष्टरूपेण परिलक्षित होता है। "अभिज्ञानशाकुन्तल" नाटक में नान्दी के पश्चात् सूत्रधार एवं नटी के वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि

१—धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवैतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥
—ज्योतिर्विदाभरण २२-१० (इस श्लोक में विभिन्न कालों के विभिन्न व्यक्तियों के नाम आते हैं अतः इसकी प्रामाणिकता मान्य नहीं है। इस श्लोक को उद्धृत करने में हमारा तात्पर्य केवल यही है कि इसमें हिन्दू परम्परा में प्रचलित विक्रम एवं कालिदास के साहचर्य का उल्लेख है।

उक्त नाटक का अभिनय विक्रमादित्य की परिषद् में ही हुआ था[1]। इसी प्रकार "विक्रमोर्वशीय" नाटक के नामकरण में ही "विक्रम" शब्द का प्रयोग आया है। साथ ही इस नाटक के प्रथम अंक में "चित्ररथ" के कथनों में दो बार "विक्रम"[2] शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है।

यद्यपि उपर्युक्त तीनों स्थानों पर विक्रम शब्द का अर्थ पराक्रम भी किया जाता है किन्तु इस अर्थ से "विक्रमोर्वशीय" नाटक के नाम में कुछ इसकी अधिक सार्थकता सिद्ध नहीं होती है क्योंकि यदि कवि को "पराक्रम द्वारा प्राप्त की गई उर्वशी" अर्थ ही अभीष्ट होता तो वह इस नाटक का नाम "पुरूरवउर्वशीय" ही रख सकता था तथा उस अर्थ की अपेक्षा इससे नाटक सम्बन्धी आख्यान की पूर्ण अभिव्यंजना भी हो सकती थी। इसके अतिरिक्त नाटक के प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही पुरूरवा ने अपने पराक्रम द्वारा उर्वशी के प्राणों की रक्षा की है। किन्तु उसकी रक्षार्थ पराक्रम के कार्य में व्यस्त होने से पूर्व उसके हृदय में इस प्रकार की कोई आकांक्षा नहीं थी कि उर्वशी उसे आजीवन संगिनी के रूप में प्राप्त हो जावे। यह इच्छा तो उर्वशी के अनुपम सौन्दर्य के देखे जाने तथा तदनुसार उसके प्रति उत्पन्न हुए प्रेम के आधार पर ही राजा पुरूरवा के हृदय में उद्भूत हुई थी। अतः उर्वशी की रक्षा का कारण तो राजा पुरूरवा का पराक्रम बन सकता है, उर्वशी के आजीवन प्राप्ति का नहीं। उसका कारण तो दोनों के हृदयों में परस्पर प्रथम-दर्शन से उद्भूत प्रेम ही कहा जा सकता है। अतः "विक्रमोर्वशीय" नाटक के नाम में विक्रम शब्द का अर्थ पराक्रम करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना अधिक उपयुक्त

१—"सूत्रधारः—आर्ये ! इयं हि रसभावदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य अभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्यां च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः।" अ० शा० पृष्ठ ६ सूत्रधार की उक्ति।

२—"चित्ररथः—(राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम्) 'दिष्ट्या महेन्द्रोपकारमर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्'।। विक्रमोर्वशीय पृष्ठ २६—चित्ररथ की उक्ति। "चित्ररथः—युक्तमेतत्। अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः।" विक्रमो० पृष्ठ २९ पंक्ति १।

होगा कि यह "विक्रम" शब्द महाकवि के आश्रयदाता "विक्रमादित्य" का ही प्रतीक है। अथवा "विक्रम" शब्द को श्लिष्ट मानकर दोनों ही कल्पनाओं का औचित्य स्वीकार किया जा सकता है।

इन उपर्युक्त अनेक उद्धरणों के आधार पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कालिदास किसी "विक्रमादित्य" नामधारी राजा के दरबारी कवि थे। अतः जो काल "विक्रमादित्य" का शासनकाल रहा होगा वही काल कालिदास का भी निर्धारित हो सकता है किन्तु उसके लिए पहले महाराज "विक्रमादित्य" का काल ही निर्धारित करना होगा।

विक्रमादित्य के आदर्श, न्याय एवं लोकाराधन के कथानक समस्त भारत में प्रायः सर्वत्र प्रचलित हैं। आबालवृद्ध सभी उनके नाम तथा यश से परिचित हैं। उनके सम्बन्ध में यह जनश्रुति है कि वे उज्जयिनी-नाथ गन्धर्वसेन के पुत्र थे। उन्होंने शकों को परास्त करके अपनी विजय के उपलक्ष्य में इस संवत् का प्रारम्भ किया था। वे काव्यमर्मज्ञ थे तथा कालिदासादि कवियों के आश्रय-दाता थे। भारतीय ज्योतिषगणना से भी इस बात की पुष्टि होती है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य ने विक्रम संवत् का प्रचार किया था।

विक्रमादित्य का प्रथम उल्लेख "गाथासप्तशती" के निम्न श्लोक में उपलब्ध होता है :—

"संवाहण-सुहरस-तोसिएण दन्ते णतुहकरे लक्खम् ।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा" ।। गाथा० ५-६४

इसकी टीका करते हुए श्री गदाधर ने लिखा है "पक्षे संवाहणं संबाधनम् । लक्खवं लक्षम् । विक्रमादित्योपि भृत्यकर्तृकेन शत्रुसंबाधनेन तुष्टः सन् भृत्यस्य करे लक्षं ददातीत्यर्थः" ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि "गाथासप्तशती" के रचनाकाल में यह बात प्रसिद्ध थी कि विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक थे जिन्होंने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके के उपलक्ष्य में भृत्यों को लाखों का उपहार दिया था। गाथासप्तशती का रचयिता सातवाहन राजा हाल प्रथम

शताब्दी ईसवी[1] में हुआ था। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री[2] तथा म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[3] ने भी गाथासप्तशती के रचयिता सातवाहन राजा हाल का समय उपर्युक्त ही स्वीकार किया है। अतः विक्रमादित्य का काल इससे पूर्व ही मानना होगा। इस भाँति विक्रमादित्य का समय ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी ही सिद्ध होता है।

जैन पं० मेरुतुंगाचार्य ने भी स्वरचित "पटावली" में लिखा है[4] कि नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल ने उज्जयिनी में १३ वर्षों तक राज्य किया। उसके अत्याचार से पीड़ित होकर कालकाचार्य ने शकों की सहायता से उसका उन्मूलन किया। इस भाँति शकों ने उज्जयिनी में १४ वर्षों तक राज्य किया। तदनंतर गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य लौटा लिया। यह घटना "महावीरनिर्वाण" के चार सौ सत्तरवें वर्ष में घटी। महावीर का निर्वाणकाल ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व माना गया है। ५२७-४७०=५७ वर्ष। इस प्रकार यह समय भी ईसा से ५७ वर्ष पूर्व ही पड़ता है।

श्री सोमदेव विरचित "कथासरित्सागर" में भी उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य का वर्णन आता है। "कथासरित्सागर" का यह वृत्तान्त ऐतिहासिक तथा प्रामाणिक माना जा सकता है क्योंकि कथासरित्सागर गुणाढ्यकृत "वृहत्कथा" का ही संक्षिप्त रूप है[5]। वृहत्कथा पैशाची प्राकृत भाषा में लिखित अत्यन्त विस्तृत कथा-ग्रन्थ था जो कि इस समय अप्राप्य है। किन्तु उसी का

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास (संस्कृत ट्रान्सलेशन आफ वी० वरदाचार्याज हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर) अनुवादक डा० कपिलदेव द्विवेदी अध्यक्ष संस्कृत विभाग, गवर्नमेन्ट कालेज, नैनीताल : प्रकाशक रामनारायणलाल इलाहाबाद-पृष्ठ १४६-१४७।

२—एपीग्राफिया इंडिका-जिल्द १२, पृष्ठ ३२०।

३—प्राचीन लिपिमाला-पृष्ठ १६८।

४—श्री पटावलीसमुच्चय प्रथम भाग (मुनि दर्शन-विजय द्वारा सम्पादित) पृष्ठ—१७, ४६, १५०, १६६, १९९, २००।

५—वृहत्कथायाः—सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम्॥ कथासरित्सा० १ ल०-१ त०-३। वरदाचार्यः—संस्कृत साहित्य का इतिहास। पृष्ठ १६१ पंक्ति १८-१९।

संक्षिप्त रूप यह "कथासरित्सागर" उपलब्ध होता है। अतः कथासरित्सागर भी उतना ही प्रामाणिक ग्रन्थ हो सकता है कि जितना गुणाढ्यकृत "बृहत्कथा" नामक ग्रन्थ। कथासरित्सागर के अनुसार यह विक्रमादित्य परमारवंशी उज्जयिनी-नरेश महेन्द्रादित्य के पुत्र[1] थे जिन्होंने म्लेच्छों का उन्मूलन, नास्तिक सम्प्रदायों का विनाश एवं वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया था। वे परमशैव तथा उज्जैन के महाकाल मन्दिर के निर्माता थे। इन्हीं विक्रमादित्य ने शकों को उनके प्रथम आक्रमण में पराजित कर इस क्रान्तिकारी घटना के उपलक्ष्य में प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व में "मालवगणस्थिति" नामक संवत् का प्रवर्तन किया था जो आगे चल कर "विक्रम संवत्" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी खोज करने पर वास्तविक विक्रमादित्य का पता लगाया जा सकता है। परन्तु उसके लिए निम्न बातों का पूरा होना आवश्यक है :—

(१) मालव-प्रदेश तथा उसकी राजधानी उज्जयिनी होना।
(२) उस विक्रमादित्य का शकारि होना।
(३) ईसा से ५७ वर्ष पूर्व संवत् का प्रवर्त्तक होना।
(४) महाकवि कालिदास का आश्रयदाता होना।

वाराणसी विश्व-विद्यालय के प्राच्य इतिहास एवं संस्कृति-विभाग के अध्यक्ष डा० राजबलि पाँडे एम० ए०, डी० लिट०, ने ऐतिहासिक दृष्टि से उपर्युक्त चारों बातों पर अनुसंधान कर यह निर्णय किया है[2] कि विक्रमादित्य ईसा से ५७ वर्ष पूर्व ही हुए। इस विषय में इन्होंने जो अनेक प्रमाणों द्वारा उपर्युक्त मत की पुष्टि की है उनको हम यहाँ सारांश रूप में दे रहे हैं :—

(१) ऐतिहासिक अन्वेषणों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि प्रारम्भ में मालव-प्रदेश में प्रचलित संवत् का नाम "मालवगणसंवत्" ही था। सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के समय मालवजाति पंजाब में रहती थी। मालव-क्षुद्रक-गण अकेला लड़कर यूनानियों से हार गया था। तदनन्तर मौर्य राजाओं

१—कथासरित्सागर—१८वाँ लम्बक।

२—देखिये—"विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी" नामक पुस्तक तथा "कालिदासग्रन्थावली" (सीताराम चतुर्वेदी सम्पादित) के तृतीय खण्ड के पृष्ठ १ से १३ पर लिखा गया "विक्रमादित्य" शीर्षक आलोचनात्मक निबन्ध।

के कठोर नियन्त्रण से त्रस्त होकर मालव-जाति प्रभावहीन सी हो गई । मौर्य साम्राज्य के अन्तिम काल में जब भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों पर बाख्त्रियों के आक्रमण प्रारम्भ हुए, उस समय उत्तरापथ की मालवादि कई गणजातियाँ वहाँ से पूर्वी राजपूताना होती हुई मध्यभारत पहुँचीं तथा वहाँ पर उन्होंने अपने नवीन उपनिवेशों को स्थापित किया । समुद्रगुप्त के प्रयागप्रशस्ति के लेख से सिद्ध है कि ईसा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उसके साम्राज्य की दक्षिण-पश्चिम सीमा पर अनेक गण-राज्य विद्यमान थे । मुद्राशास्त्र के आधार पर यह बात सिद्ध हो चुकी है कि ईसा से पूर्व प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी में मालव जाति मालव प्रान्त (अवन्ति) में पहुँच गई थी । वहाँ पर एक प्रकार के सिक्के उपलब्ध हुए हैं जिनपर ब्राह्मी अक्षरों में "मालवानां जयः"[१] खुदा हुआ है ।

(२), (३) पूर्वी भारत में मगध-साम्राज्य का भग्नावशेष काण्ववों की क्षीण शक्ति के रूप में ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य काल में अवशिष्ट रह गया था । बाख्त्रियों के बाद भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश पर शकों के आक्रमण होना प्रारम्भ हो गये । शक जाति के लोग सिन्ध प्रान्त के मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुए । इनकी एक शाखा सौराष्ट्र होते हुए अवन्ति-प्रदेश की ओर भी बढ़ी । परिणाम स्वरूप मध्यभारत के गणराष्ट्रों से शकों का संघर्ष होना आवश्यक हो गया । जब बाहरी आक्रमण होते थे तब गणराष्ट्र संघ बनाकर ही उनका सामना किया करते थे । शकों द्वारा किये गये आक्रमण का सामना करने के निमित्त गणसंघ का नेतृत्व मालवगण ने किया तथा शकों को परास्त कर सिन्ध प्रान्त के अन्त तक पहुँचा दिया । कालकाचार्य-कथा में शकों को निमन्त्रण देना, अवन्ति प्रदेश पर उनका अस्थायी अधिकार होना और अन्त में विक्रमादित्य द्वारा उनका बाहर निकाला जाना आदि घटनाओं का सामंजस्य उपर्युक्त ऐतिहासिक घटनाओं से पूर्णरूपेण हो जाता है ।

यद्यपि इस घटना से शकों का आतंक सदैव के लिए दूर न हो सका किन्तु फिर भी इस क्रान्तिकारी घटना के फलस्वरूप लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक भारतवर्ष शकों के आधिपत्य से सुरक्षित बना रहा । इसी विजय के उपलक्ष्य में संवत्

१—इंडियन म्यूजियम कोइन्स, वोल्यम १, पृष्ठ १६

का प्रवर्त्तन किया गया। मालवगण के दृढ़ होने के कारण इसका नाम मालवगण-स्थिति अथवा मालवगण-काल रखा गया।

(४) अब यह प्रश्न उपस्थित है कि ये मालवगण-मुख्य ही महाकवि कालिदास के आश्रयदाता थे अथवा नहीं ? पृष्ठ ४ पर इस विषय में कालिदास आदि के कुछ उद्धरण उद्धृत कर यह स्पष्ट किया गया है कि कालिदास मालवगण-मुख्य "महाराजविक्रमादित्य" के ही आश्रित कवि थे। इसके अतिरिक्त "अभिज्ञान-शाकुन्तल" नाटक के अन्त में आये हुए भरतवाक्य[1] में गण शब्द का भी उल्लेख स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। इस भरतवाक्य में प्रयुक्त गण शब्द राजनीतिक अर्थ में गणराष्ट्र का ही द्योतक है। "शत" शब्द संख्या के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है तथा अतिरंजित है। अतः "गणशत" का अर्थ कई गणों का संघ ही कहा जा सकता है। अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रारम्भ में आये हुए विक्रमादित्य[2] नाम के साथ कोई राजतांत्रिक उपाधि नहीं जुड़ी है। यदि वे अवतरण छन्दोबद्ध होते तो यह कहा जा सकता था कि छन्द की आवश्यकतावश उपाधियों का उसमें प्रयोग नहीं किया गया है किन्तु गद्य में इनका अभाव कुछ विशेष अर्थ रखता है और वह यह कि विक्रमादित्य सम्राट् या राजा नहीं थे अपितु गण-मुख्य ही थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी कई प्रकार के गण राष्ट्रों[3] का वर्णन आता है।

१—भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु,
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।
गणशतपरिवर्त्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः॥ अ० शा० ७।३४
(कालिदासग्रन्थावली (द्वितीय संस्करण) के द्वितीयखण्ड के पृष्ठ १४९ से उद्धृत)

२—आर्ये ! इयं हि रसभावदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य अभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्यां च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः, तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः। (अभिज्ञानशाकुन्तलम् पृष्ठ ६ पंक्ति १-३)

३—पं० सीताराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित, कालिदासग्रन्थावली (द्वितीय संस्करण) भाग ३ के पृष्ठ १, पंक्ति १-८ से उद्धृत।

(१) कुछ वार्त्ताशास्त्रोपजीवी (२) कुछ आयुधजीवी तथा (३) कुछ राजशब्दोपजीवी। विक्रमादित्य नाम के साथ राजा अथवा अन्य किसी राजनीतिक उपाधि का व्यवहार नहीं हुआ है, इससे प्रतीत होता है कि मालवगण वार्त्ताशास्त्रोपजीवी था।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विक्रमादित्य मालवगणमुख्य थे। उन्होंने शकों के प्रथम बढ़ाव में ही उनको पराजित कर इस क्रान्तिकारी घटना के उपलक्ष्य में ही मालवगणस्थिति[1] नामक संवत् को चलाया था जो आगे चलकर विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हो गया। संवत् का नाम प्रारम्भ में गणपरक होना स्वाभाविक ही था क्योंकि लोकतंत्र-राज्य में गण की प्रधानता हुआ करती है, व्यक्ति की नहीं। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने भारतवर्ष में अन्तिम बार गणराष्ट्रों का संहार किया था, तब गणराष्ट्रों के नाम को भारतीय प्रजा भूलने लगी। यहाँ तक कि आठवीं, नवीं शताब्दी तक, जब कि सम्पूर्ण देश में निरंकुश एकतन्त्र की स्थापना हो चुकी थी, गणराष्ट्र की कल्पना भी नष्ट हो गई। अतः मालवगण शब्द का स्थान उसके प्रमुख व्यक्ति-विशेष विक्रमादित्य ने ले लिया तथा संवत् के साथ भी उनका नाम जोड़ दिया गया। साथ ही मालवगण-मुख्य विक्रमादित्य, राजा विक्रमादित्य हो गये।

विक्रमादित्य और कालिदास—इस प्रकार ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित हो जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास का समय भी ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी ही रहा होगा। ये विक्रमादित्य, बड़े काव्य-मर्मज्ञ तथा कलाकारों के आश्रयदाता थे। अतः इन्हीं के आश्रित नो कवि-रत्न भी रहे होंगे तथा उन नौ में एक कालिदास भी रहे होंगे।

इसके अतिरिक्त कालिदास के ग्रन्थों के अन्तर्गत उपलब्ध हुए प्रमाणों के आधार पर भी इस बात की पुष्टि हो जाती है कि महाकवि कालिदास सम्राट् विक्रमादित्य के समकालीन एवं उनके प्राणप्रिय कविमित्र थे। उन्होंने अपनी

१—मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने ॥ ३४ ॥ वत्सभट्टिः, मन्दसौर शिलालेख।

रचनाओं में विक्रम के उज्ज्वल स्वरूप का निरूपण किया है। रघुवंश में वर्णित इन्दुमती-स्वयंवर के प्रसंग में "अवन्तिनाथ" विक्रमादित्य के वर्णन से उनकी विक्रम-कालीनता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। स्वयंवर के समय सुनन्दा नाम की दासी इन्दुमती के साथ है और वह क्रमशः राजाओं के परिचय दे देकर इन्दुमती के संकेतानुसार आगे बढ़ती जाती है। "अवन्तिनाथ" का क्रम आने पर सुनन्दा उनका वर्णन करते हुए इन्दुमती को दिखलाती हुई कहती है[1] कि ये नवोदित चन्द्र के सदृश दर्शनीय, रूप एवं लावण्य की खान तथा शत्रुओं द्वारा असह्य प्रताप वाले अवन्तिनाथ हैं। इनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं, कटि-प्रदेश पतला तथा गोल है, ये सूर्य सदृश देदीप्यमान हैं। इनका शरीर-सौष्ठव इतना नयनाभिराम है कि अनुमान होता है, विश्वकर्मा ने अपने चक्रभ्रम (शान) पर चढ़ाकर उनके सौन्दर्य को यत्नपूर्वक चमकाया है। जब यह अपनी समस्त समरवाहिनी के साथ प्रयाण करते हैं तो सेना से उठी धूलि से बड़े-बड़े सामन्तों के मौलिमुकुट मलिन हो जाते हैं। ये "भगवान् चन्द्रमौलि महाकाल" के समीप रहते हैं, अतएव कृष्ण-पक्ष में भी अपनी स्त्रियों के साथ नित्य पूर्णिमा का आनन्द लेते हैं। हे इन्दुमती! इस युवा राजा के प्रति यदि तुम्हारी कुछ

१—ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ।
निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै॥
अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति॥
अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि॥
असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान्॥
अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।
शिप्रातरंगानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु॥
तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम्॥

(रघुवंश ६।३१-३६)

प्रीति है तो शिप्रा की तरंगों से उठे हुए पवन से कम्पित उद्यानश्रेणी में विहार करो । किन्तु अपने प्रताप से शत्रुओं को नष्ट कर देने वाला तथा मित्रों को प्रसन्नता प्रदान करने वाला वह राजा "अवन्तिनाथ" उत्तम सुकुमारी "इन्दुमती" को उसी प्रकार रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ कि जैसे कमल को विकसित कर देने वाला तथा कीचड़ को सुखा देने वाला सूर्य कुमुदिनी को नहीं भाता है ।

इसी प्रकार कालिदास ने विक्रमोर्वशीय के नाम द्वारा भी महाराज विक्रमादित्य के नाम को ही प्रसिद्ध किया है । उसके पढ़ने से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवि संभवतः अपने आश्रयदाता के नाम को ही अमर करना चाहता था । इसका विवेचन पृष्ठ ३-४ पर किया जा चुका है । इसके अतिरिक्त विक्रमोर्वशीय में कवि ने इन्द्र के पर्यायवाची शब्दों में से "महेन्द्र" शब्द का प्रयोग बार-बार किया है और इस प्रकार अपनी अनेक उक्तियों[१] में विक्रमादित्य के पिता महेन्द्रादित्य की ओर संकेत किया है । उज्जयिनी की जनता के समक्ष जब इस नाटक का अभिनय हुआ होगा तब उसको इन उक्तियों का संकेत तथा संदर्भ समझने में किसी भी कठिनता का अनुभव न हुआ होगा । एक उक्ति में तो पिता एवं पुत्र का साथ-साथ ही नामोल्लेख किया गया है ।[२] यह भी संभव है कि विक्रमोर्वशीय का अभिनय वृद्ध नरेश महेन्द्रादित्य के अवकाशग्रहण और राजकुमार विक्रमादित्य के राज्यारोहण के पुनीत अवसर पर हुआ हो ।

महेन्द्रादित्य एवं विक्रमादित्य के सूर्यवंशी होने के कारण ही कालिदास ने संभवतः रघुवंश में सूर्यवंशी राजाओं को अपना चरित-नायक बनाया है । रघुवंश में वर्णित दिलीप और रघु के वर्णनों में तथा कथासरित्सागर[३] के महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य के वर्णनों में पर्याप्त साम्य पाया जाता है ।

१—(i) दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् । विक्रमो० पृ० २६ चित्ररथ की उक्ति ।

(ii) प्रथमं पुनः पुत्रदर्शनेन विस्मृतास्मि । महेन्द्रसंकीर्त्तनेन स्मारितः समयो मम हृदयमायासयति ।। विक्रमो० पृष्ठ २२० उर्वशी की उक्ति ।

(iii) रम्भे ! उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकः ।। विक्रमो० पृष्ठ २३०-पंक्ति २-३ ।

२—देखिये—१ (ii)

३—कथासरित्सागर लम्बक १८ ।

उपर्युक्त उद्धरणों तथा युक्तियों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास तथा विक्रमादित्य का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अतएव कालिदास का विक्रमादित्य का दरबारी कवि होना यथार्थ एवं सत्य है।

मालवगणमुख्य विक्रमादित्य से ही कालिदास का सम्बन्ध—अब यहाँ प्रश्न अवश्य उपस्थित होते हैं कि यह ठीक है कि विक्रमादित्य के दरबारी कवि कालिदास रहे हों किन्तु किस विक्रमादित्य के ? विक्रमादित्य नाम के तो और भी राजा हुए हैं, जैसे गुप्तकालीन विक्रमादित्य; तथा मालवगणमुख्य का नाम विक्रमादित्य था अथवा "विक्रमादित्य" उनकी उपाधि थी ?

उपर्युक्त प्रकार से विक्रमादित्य एवं कालिदास के सम्बन्ध में विचार करना नितान्त अनुपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि गुप्तकालीन विक्रमादित्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी तथा मालवगणमुख्य विक्रमादित्य की राजधानी उज्जयिनी थी। यद्यपि उज्जयिनी भी गुप्तों की प्रान्तीय राजधानी रही है किन्तु वे प्रधानतः पाटलिपुत्राधीश्वर अथवा मगधाधिप ही कहलाते थे। ऐसी स्थिति में पाटलिपुत्राधीश्वर विक्रमादित्य से कालिदास का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। यदि उन्हीं से महाकवि का सम्बन्ध रहा होता तो वे अपनी रचनाओं में प्रधान रूप से पाटलिपुत्र का ही वर्णन करते और उज्जयिनी आदि का न करते। इसके विपरीत उज्जयिनी और उज्जयिनीनाथ अथवा अवन्तिनाथ के नाम से तथा विक्रमादित्य के नाम से अनेक वर्णन[1] महाकवि की कृतियों में उपलब्ध होते हैं जिनसे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि महाकवि का उज्जयिनी से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

उज्जयिनी के राजा शैव थे। कालिदास के ग्रन्थों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि वह शिवभक्त थे। शाकुन्तल, रघुवंश, कुमार-संभव आदि ग्रन्थों में शिव की ही स्तुति की गई है। अतः उज्जयिनीनाथ के साथ कालिदास का संबन्ध मानना अधिक उचित प्रतीत होता है, गुप्तकालीन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के साथ नहीं, क्योंकि गुप्त राजा वैष्णव थे।

१—मेघदूत : पूर्वमेघ—२९, ३१-४१, रघुवंश—६।३१-३६ तथा विक्रमोर्वशीय के पृष्ठ ३ पर तथा पृष्ठ ११ पर उद्धृत किये गये उद्धरण, इत्यादि इत्यादि।

इसके अतिरिक्त सोमदेव भट्ट ने अपने कथासरित्सागर में स्पष्ट रूप से दो विक्रमादित्यों का वर्णन भी किया है—एक उज्जयिनी के विक्रमादित्य[२] तथा दूसरे पाटलिपुत्र[३] के। ऐसी स्थिति में कालिदास का सम्बन्ध उज्जयिनी-नरेश विक्रमादित्य से ही होना संभव है।

मालवगण-मुख्य की उपाधि "विक्रमादित्य" मानना भी अनुचित ही प्रतीत होता है। वस्तुत: उनका नाम ही विक्रमादित्य था। कथासरित्सागर में यह स्पष्ट रूप से आता है कि उनके पिता महेन्द्रादित्य ने उनके जन्मदिवस के अवसर पर ही शिवजी के आदेशानुसार उनका नाम विक्रमादित्य[१] रखा था। उनका यह नाम अभिषेक के समय रखा गया हो अथवा ऐश्वर्य के रूप में उन्हें यह उपाधि प्राप्त हुई हो, ऐसी बात नहीं है। इसके विपरीत यह बात अवश्य सिद्ध होती है कि किसी भी गुप्त सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नहीं था। चन्द्रगुप्त द्वितीय को विक्रमादित्य की उपाधि तथा स्कन्दगुप्त को क्रमादित्य अथवा विक्रमादित्य की उपाधियाँ ऐश्वर्य के कारण प्राप्त हुई थीं। उपाधि प्रचलित होने के लिए यह आवश्यक होता है कि उसके नाम का कोई लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति उससे पहले हो चुका हो जिसके अनुकरण पर बाद के महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति उस नाम की उपाधि को धारण कर सकें। अत: इससे भी इन दोनों उपाधिधारियों से पूर्व विक्रमादित्य का होना स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार हमें ईसा से पूर्व प्रथम में शताब्दी हुए मालव-गण-मुख्य विक्रमादित्य के अस्तित्व को स्वीकार करना ही होगा।

इसके अतिरिक्त गुप्त सम्राटों का अपना वंशगत संवत् पृथक् रूप से है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर ३२० ई० में "गुप्तसंवत्" प्रचारित किया था। ऐसी स्थिति में यह नितान्त अशोभन प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय "विक्रमादित्य" ने अपने पितामह के चले आते हुए संवत् को छोड़ कर नया संवत् और वह भी अपने समय से लगभग ४०० वर्ष पूर्व से चलाने का दुस्साहस किया हो। चन्द्रगुप्त द्वितीय के

१—कथासरित्सागर लम्बक १८ में।

२—कथासरित्सागर लम्बक ७ के ४थे तरंग में।

३—कथासरित्सागर १८।१।५१।

पश्चात् भी किसी गुप्त राजा ने विक्रम संवत् को नहीं अपनाया है । स्कन्दगुप्त के गिरनार वाले शिलालेख में गुप्त-संवत् का ही उल्लेख आया है, विक्रम संवत् का नहीं । उनके किसी भी उत्कीर्ण लेख में मालव अथवा विक्रम संवत् का नाम भी उपलब्ध नहीं होता है । अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जब उन्होंने ही विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं किया तो उनके पश्चात् जनता ने उनका सम्बन्ध विक्रम संवत् के साथ जोड़ दिया हो, यह बात बुद्धिगम्य प्रतीत नहीं होती । ऐसी स्थिति में "विक्रमादित्य" नामधारी व्यक्ति मालवगण-मुख्य विक्रमादित्य को ही मानना होगा तथा उन्हीं के द्वारा शकों पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में विक्रम संवत् प्रारम्भ किया गया, यह मानना होगा ।

विक्रमादित्य तथा कालिदास के घनिष्ठ सम्बन्ध का विवेचन पहले किया जा चुका है । अतः कालिदास का काल ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में ही स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है । साथ ही ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में हुए विक्रमादित्य से ही उनका संबंध होना भी सिद्ध होता है ।

महाकवि की कृतियों में उपलब्ध कुछ अन्य प्रकार के उद्धरणों के आधार पर कालिदास का काल—"अभिज्ञानशाकुन्तल" में धीवर को चोरी के अपराध में जिस कठोर दण्ड[1] का विधान किया गया है तथा उत्तराधिकार[2] सम्बन्धी नियम का जो रूप प्राप्त होता है, उससे भी स्पष्ट होता है कि उक्त रचना ईसा से पूर्व की ही है । क्योंकि उस समय मनु, वसिष्ठ एवं आपस्तम्ब ही धर्म के विषय में प्रमाण माने जाते थे तथा उनके द्वारा लिखित स्मृतिग्रन्थों के आधार पर ही न्याय आदि का निर्णय किया जाता था । शाकुन्तल में वर्णित कठोर दण्ड[3] तथा उत्तराधिकार[4] आदि का वर्णन इन मनु आदि द्वारा निर्मित स्मृतियों में ही

१—अभिज्ञानशाकुन्तल—पृष्ठ ३९१-३९२ पर सूचक तथा जालुक की उक्तियाँ ।
२—अभिज्ञान शाकुन्तल—पृष्ठ ४६८ पर राजा की उक्ति से लेकर पृष्ठ ४७१ की द्वितीय पंक्ति तक (राजा की आज्ञा सम्बन्धी उक्ति तक) ।
३—मनुस्मृति, ८।३२१-३२३ ।
४—उत्तराधिकार—गर्भसत्त्वस्य धनाधिकारे व्यवस्थामाह मनुः—
"ये जाता येऽप्यजाता वा ये च गर्भे व्यवस्थिताः ।
वृत्तिं तेऽपि हि कांक्षन्ति वृत्तिलोपो विगर्हितः ।। मनु०

उपलब्ध होता है । बृहस्पति, याज्ञवल्क्य आदि के द्वारा विरचित स्मृतियों में इतने कठोर दण्ड का विधान कहीं भी नहीं मिलता है । इसके अतिरिक्त कालिदास ने रघुवंश में राजा द्वारा जिस वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था किये जाने का वर्णन किया है, वहाँ उन्होंने स्वयं भी मनु को उद्धृत करते हुए लिखा है कि "मनु-द्वारा प्रणीत राजाओं का धर्म वर्णों तथा आश्रमों की रक्षा करना है ।[1]" इससे यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है कि कालिदास के समय में मनु को ही अधिक प्रामाणिक माना जाता था । अतः याज्ञवल्क्य आदि द्वारा निर्मित स्मृतियों के काल से पूर्व तथा मनुस्मृति आदि स्मृतिग्रन्थों के काल के पश्चात् का ही काल कालिदास का होना संभव है । मनुस्मृति आदि का समय[2] ईसा से दो शताब्दी पूर्व स्वीकार किया गया है तथा याज्ञवल्क्यादि स्मृतियों का काल[3] ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी माना गया है । ऐसी स्थिति में कालिदास का ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में ही होना सिद्ध होता है ।

मेघदूत के पूर्वमेघ में वर्णित उज्जयिनी वर्णन में वत्सराज उदयन के विषय में उज्जैन में प्रचलित लोकश्रुति के प्रति जो ऐतिहासिक संकेत[4] किया गया है उससे यह बात स्पष्ट होती है कि उज्जयिनी के विगत इतिहास से भी महाकवि भली भाँति परचित थे तथा इससे उज्जयिनी के साथ महाकवि के घनिष्ठ सम्बन्ध होने की भी पुष्टि होती है । अतः ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में मालव-नरेश विक्रमादित्य के साथ उनका होना भी सिद्ध होता है ।

मालविकाग्निमित्र महाकवि का प्रथम नाटक है । इस नाटक के प्रारम्भ में कवि ने अपने पूर्व के भास, सौमिल्ल एवं कविपुत्र नामक कवियों का

१—नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।। रघुवंश १४।६७ ।

२—P. V. Kane : History of Dharmashastra, volume—I Page 148 Lines 9–11.

३—P. V. Kane : History of Dharmashastra, volume—I Page 187 Lines 36–38.

४—प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्री-विशालां विशालाम् ।। मेघदूत—पूर्वमेघ- ३२ ।

उल्लेख[1] किया है तथा भासादि की नाटक-लेखन-शैली को भी अपनाया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कालिदास उस समय हुए कि जब लोक में भासादि के नाटकों का अत्यधिक सम्मान था तथा उनके नाटकों का अभिनय भी भली भाँति प्रचलित था। भास का समय इतिहासकारों ने ३०० से ५०० ई०[2] पूर्व तक माना है। अतः इस आधार पर भी कालिदास का काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी स्वीकार करना उचित ही है।

महाकवि अश्वघोष के काल पर आधारित कालिदास का काल—बौद्ध कवि अश्वघोष का समय निश्चित है। कुषाणनरेश कनिष्क के समकालीन होने से उसका समय ई० सन् प्रथम[3] शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनके तथा कालिदास के काव्यों में अत्यधिक साम्य है। यहाँ कुछ उद्धरणों द्वारा इसको स्पष्ट करना अधिक उपयुक्त होगा :—

(१) **कालिदास**—"तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः, शैलाधिराजतनया **न ययौ न तस्थौ**॥ (कुमारसंभव–५-८५)

अश्वघोष—"तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सो निश्चयान्नापि **ययौ न तस्थौ** तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः॥ (सौन्दरनन्द० ४-४२)

१—"प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य"—इत्यादि। (मालविकाग्निमित्र—पृष्ठ ६) चौखम्बा, २००८ संवत्।

२—संस्कृत साहित्य का इतिहास (वरदाचार्य) डा० कपिलदेव द्विवेदी द्वारा अनूदित—पृष्ठ २०० पंक्ति १२-१४।
संस्कृत साहित्य का इतिहास (बलदेव उपाध्याय) पंचम संस्करण—पृष्ठ ४९९-५०१
संस्कृत कविदर्शन (भोलाशंकर व्यास) पृष्ठ २३०

३—संस्कृत साहित्य का इतिहास (ए० बी० कीथ) डा० मंगलदेव शास्त्री द्वारा अनूदित—पृष्ठ ६८

(२) कालिदास––"एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ।।
(रघु० २-४७)

अश्वघोष––आदित्यपूर्वं विपुलं कुलं ते नवं वयो दीप्तमिदं वपुश्च ।
कस्मादियं ते मतिरक्रमेण भेक्षाकि एवाभिरता न राज्ये ।।
(बुद्धचरित १०।४)

(३) कालिदास––कस्यैँकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।।
(मेघदूत उत्तर मेघ ५२)

अश्वघोष––द्वन्द्वानि सर्वस्य यतः प्रसक्तान्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके ।
अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्तदुखः पुरुषः पृथिव्याम् ।।
(बुद्धचरित–११।४३)

इसी प्रकार कुछ अन्य उदाहरणों[१] द्वारा भी दोनों ही कवियों के कथानक की सृष्टि, वर्णन की शैली, अलंकारों के प्रयोग तथा छन्दों के चुनाव आदि में साम्य दृष्टिगोचर होता है । इस अद्भुत साम्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि एक कवि के काव्यों को दूसरे कवि ने अवश्य देखा है । अतः इस विषय में दो ही प्रकार की कल्पनायें की जा सकती हैं, या तो कालिदास ने अश्वघोष के काव्यों से प्रेरणा प्राप्त कर उन्हीं विचारों तथा कल्पनाओं को अपने शब्दों द्वारा प्रकट किया अथवा उन्हीं के मिलते-जुलते शब्दों में प्रकट किया; अथवा अश्व-

१––कालिदास––रघुवंश–७।५-१५, अश्वघोष––बुद्धचरित–३।१३-२४
कालिदास––कुमारसंभव–३।६७, अश्वघोष––बुद्धचरित–१३।१६
कालिदास––रघुवंश ३।५०, अश्वघोष––बुद्धचरित–१२।७
कालिदास––रघुवंश १।५, अश्वघोष––बुद्धचरित–११।१२

घोष ने ही कालिदास की प्रसिद्धि देखकर उनका अनुकरण करने का प्रयास कर उनकी कल्पनाओं तथा भावों को अपनी रचनाओं में स्थान प्रदान किया। इसमें प्रथम कल्पना का करना एकमात्र भूल ही है, क्योंकि :—

(१) यदि अश्वघोष कालिदास के पूर्ववर्त्ती प्रतिष्ठित कवि थे और कालिदास ने उनसे भावादि लिये हैं, मान लिया जाय, तो बाद के कवियों को भी अश्वघोष का अनुकरण करना चाहिये था। परन्तु किसी भी कवि ने अश्वघोष का न तो नामोल्लेख ही किया है तथा न उसकी शैली का ही अनुकरण किया है। इससे स्पष्ट है कि अश्वघोष ने ही कालिदास के भावों तथा कल्पनाओं का अनुसरण किया है।

(२) वस्तुतः अश्वघोष मुख्य रूप से एक दार्शनिक और बौद्धधर्म के साहित्य के स्रष्टा के रूप में था तथा गौण रूप से कवि। अतः उसने अपने काव्य के लिए एक प्रसिद्ध कवि को आदर्श रखा होगा। उसके काव्यों को देखने से ज्ञात होता है कि उसका आदर्श कवि कालिदास ही रहा होगा। कालिदास प्रधानतः कवि हैं। वह किसी महाकवि से भाव ले सकते थे, एक दार्शनिक से नहीं।

(३) यदि कालिदास के लिए अश्वघोष अनुकरणीय अथवा आदरणीय होता तो वे अपने प्रथम नाटक मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में "प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य—" इत्यादि के साथ अश्वघोष का भी नाम दे सकते थे। कालिदास द्वारा अश्वघोष के नाम का उल्लेख न किया जाना इस बात का सूचक है कि अश्वघोष कालिदास के पश्चात् ही हुए हैं तथा उन्होंने ही कालिदास के भावों अथवा कल्पनाओं का अनुकरण किया है।

(४) अश्वघोष का नाम संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों में नहीं आता है। उसके काव्यग्रन्थों की गणना न बृहत्त्रयी में ही की गई है और न लघुत्रयी में। उसको एक सामान्य कवि के रूप में ही देखा गया है। अतः एक महाकवि ने एक सामान्य कवि का अनुकरण किया होगा, ऐसी कल्पना करना महाकवि कालिदास की प्रतिष्ठा की हीनता की ही द्योतक है। इससे यह स्पष्ट है कि अश्वघोष ने ही कालिदास का अनुकरण किया होगा।

(५) किसी भी प्राचीन साहित्यशास्त्रकार ने अश्वघोष के ग्रन्थों से कोई भी उद्धरण अथवा उदाहरण नहीं दिए हैं तथा न सुभाषित ग्रन्थों में ही उसके श्लोक उद्धृत हैं । ऐसी स्थिति में कालिदास भी उसका अनुकरण करने वाले नहीं हो सकते ।

(६) कालिदास की अपेक्षा अश्वघोष के काव्यों में कृत्रिमता की मात्रा अधिक है । "संस्कृतकाव्येतिहास में जितनी कृत्रिमता की मात्रा रहती है, कवि भी उतना ही अर्वाचीन समझा जाता है ।" अश्वघोष ने कई स्थानों पर पाण्डित्य-प्रदर्शन किया है । जैसे—सौन्दरनन्द के प्रथम दो सर्गों में तथा बुद्धचरित के द्वितीय सर्ग में लुङ् लकार का प्रयोग और व्याकरण-ज्ञान का प्रदर्शन किया है कि उसको पढ़कर भट्टि के व्याकरण-प्रधान "भट्टिकाव्य" का स्मरण हो आता है । यथा——

(१) शमेऽभिरेमे विरराम पापाद् भेजे दमं संविभाज साधून् ।। बुद्ध० २-३३ ।।

(२) नाध्यैष्ट दुःखाय परस्य विद्यां ज्ञानं शिवं यत्तु तदध्यगीष्ट ।। बुद्ध० २-३५ ।।

(३) यत्र स्म मीयते ब्रह्म कैश्चित् कैश्चिन्न मीयते ।
काले निमीयते सोमो न चाकाले प्रमीयते ।। सौन्दर० १-१५ ।।

अन्तिम श्लोक में "मीयते" का चार विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है । मि—देखना, मी—हिंसा करना, नि+मा—निचोड़ना, प्र+मा—मरना । बुद्ध-चरित में एक स्थान[1] पर "अव्" धातु का विभिन्न ९ अर्थों में प्रयोग कर व्याकरण का पाण्डित्य-प्रदर्शन किया है । ऐसी स्थिति में उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार अश्व-घोष की अर्वाचीनता स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है । अतः अश्वघोष का कालिदास का उत्तरवर्त्ती होना स्पष्ट ही है ।

(७) यदि कालिदास ने अश्वघोष का अनुकरण किया होता तथा उसके भावों को लेकर परिष्कृत किया होता तो कालिदास की कृतियों में अपूर्णता का होना आवश्यक था । क्योंकि अनुकरण प्रायः अपूर्ण ही होता है । मेघदूत के आधार पर अनेक दूतग्रन्थों की रचनायें हुईं किन्तु कोई भी मेघदूत के सौन्दर्य

१—बुद्धचरित–११—७० में ।

को प्राप्त न कर सका। इसी भाँति हिन्दी भाषा में भी बिहारी-सतसई के अनुकरण पर अनेक ग्रन्थों की रचनायें हुईं किन्तु कोई भी उसकी समता को प्राप्त न कर सका। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुकरण करने वाले व्यक्ति की रचनायें अपूर्ण रहती हैं तथा वह अनुकरणीय ग्रन्थ की समता को भी प्राप्त नहीं कर पाता है। कालिदास के विषय में हम इसके विपरीत ही देखते हैं। कालिदास के ग्रन्थ पूर्ण तथा अद्वितीय ग्रन्थ हैं। यदि वह अश्वघोष का अनुकरण करता तो अश्वघोष से पीछे ही रह जाता। अतः यह कहना कि अश्वघोष ने ही कालिदास का अनुकरण किया होगा, अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि अनुकरण करने पर भी अश्वघोष कालिदास से न्यून ही रहा है।

(८) प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य पाली एवं प्राकृत में लिखा गया था। बाद में संस्कृत साहित्य के प्रभाव और उसकी उपयोगिता के कारण अश्वघोष आदि बौद्ध लेखकों ने संस्कृत को अपने साहित्य और दर्शन का माध्यम बनाया। संस्कृत की काव्यशैली के प्रचलित एवं परिष्कृत हो जाने पर ही उन्होंने उसका अनुसरण किया होगा। अतः यही सम्भावना अधिक है कि अश्वघोष द्वारा ही कालिदास की शैली का अनुकरण किया गया हो।

उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि कालिदास का काल अश्वघोष से पूर्व ही है। अश्वघोष का समय ईसा की प्रथम शताब्दी[१] प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो चुका है। अतः कालिदास का समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी स्वीकार कर लेना उचित प्रतीत होता है।

इन अनेक प्रमाणों तथा युक्तियों के आधार पर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि कालिदास का काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी ही था तथा वे विक्रम संवत् के संस्थापक विक्रमादित्य के समकालीन थे।

१—(अ) संस्कृत साहित्य का इतिहास, (लेखक डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना एम० ए०, पी०-एच० डी०), विनोद-पुस्तक-मन्दिर, आगरा : पृष्ठ १४०।

(ब) उपाध्याय बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास : पृष्ठ १९२ पंक्ति १८-१९।

(स) वी० वरदाचार्य, संस्कृत साहित्य का इतिहासः पृष्ठ १०० पंक्ति १२।

महाकवि का जन्मस्थान—महाकवि कालिदास के जन्मस्थान के सम्बन्ध में भी कोई ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर उनके जन्म-स्थान का स्पष्ट रूप से निर्णय किया जा सके। फिर भी इस विषय में सूक्ष्म रूप से विचार करना आवश्यक है ही। इतना तो स्पष्ट है कि उनके जीवन का उत्तरकाल उज्जयिनी में ही बीता। इस बारे में प्राय: सभी विद्वान् एक-मत हैं किन्तु उनके जीवन के आदिकाल के सम्बन्ध में अनेक कल्पनायें की जाती हैं। प्रथम तो यह कि "कालिदास" नाम का अर्थ "काली का दास" लेने से यह प्रमाणित होता है कि उनका जन्मस्थान बंगाल था, क्योंकि काली देवी का पूजन बंगाल में सर्वत्र होता है। द्वितीय कल्पना कश्मीरनिवासी होने के सम्बन्ध में तथा तृतीय मालवनिवासी होने के सम्बन्ध में की जा सकती है क्योंकि मालव एवं कश्मीर दोनों ही स्थानों के लिये कवि के हृदय में स्थान एवं ममत्व है। उनके ग्रन्थों में दोनों ही स्थानों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

प्रथम कल्पना तो पूर्णतया निराधार सी प्रतीत होती है। कालिदास "काली देवी" के दास अर्थात् उपासक रहे हों, ऐसा प्रतीत ही नहीं होता क्योंकि यदि वे काली देवी के भक्त अथवा उपासक रहे होते और "काली" के ही वर-दान से उन्हें ज्ञान की उपलब्धि हुई होती तो वे अपने किसी ग्रन्थ में तो "काली देवी" की स्तुति करते। किन्तु उनके किसी भी ग्रन्थ के प्रारम्भ में काली देवी की स्तुति कहीं भी नहीं पाई जाती। कालिदास-रचित जो "ऋतुसंहार" आदि सर्वमान्य सात ग्रन्थ हैं उनमें काली देवी का वर्णन केवल एक ही श्लोक[1] में उपलब्ध होता है और वह वर्णन भी भगवान् शंकर के अनुचर के रूप में आता है। जब भगवान् शंकर विवाह के निमित्त राजा हिमवान् के घर जा रहे थे उस समय "काली देवी" उनके अनुचर-परिवार में उपस्थित थीं। इससे स्पष्ट है कि वे काली देवी के उपासक न थे तथा न "काली" की भक्ति के कारण ही उनका नाम कालिदास पड़ा था। उनके माता पिता ने ही उनका "कालिदास" नाम रखा होगा।

उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में की जा सकने वाली कश्मीर-विषयक द्वितीय कल्पना का विवेचन विशेष रूप से देहली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर

१—कुमारसंभवम्—७।३९

महामहोपाध्याय पं० लक्ष्मीधर कल्ला[1] ने किया है। उनके कुछ अत्यधिक पुष्ट प्रमाण निम्न है :—

कालिदास ने अपने ग्रन्थों में हिमालय का विस्तृत वर्णन किया है। हिमालय के प्रति उनकी आत्मीयता पक्षपात ही बन गई है। "कुमारसम्भव" का तो प्रारम्भ ही "हिमालय" के वर्णन से होता है। "मेघदूत" में वर्णित यक्ष की निवास-भूमि "अलका" नगरी हिमालय पर ही थी। "विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा तथा उर्वशी का प्रथम मिलन कश्मीर के समीप "गन्धमादन" पर्वत पर ही हुआ था। पुनः उर्वशी के वियोग के अनन्तर राजा पुरूरवा उसी पर्वत पर भटकता भी रहा था। "रघुवंश" के प्रथम सर्ग में राजा दिलीप "वशिष्ठाश्रम" को जाते हैं, वह भी हिमालय पर ही था। "अभिज्ञानशाकुन्तल" के सप्तम अंक में वर्णित मारीच ऋषि का आश्रम भी इसी पर्वत पर स्थित था। इन उद्धरणों में महाकवि कालिदास का हिमालय के प्रति अगाध प्रेम स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। प्रोफेसर कल्ला के कथनानुसार उक्त सभी स्थान कश्मीर में सिन्धु नदी की घाटी में थे।

इसी प्रकार रघुवंश में राजा दिलीप द्वारा "धेनु" की रक्षा करने आदि का वर्णन आता है। धेनु चरती-चरती एक गुफा में चली जाती है। वहाँ उस पर एक सिंह झपटता है; कालिदास ने सिंह को "भूतेश्वरपार्श्ववर्ती"[2] कहा है। कश्मीर में "भूतेश्वर" नामक तीर्थ "गंगाप्रपात" के समीप ही में स्थित है। इसी वर्णन में सिंह ने अपने आपको निकुम्भ[3] का मित्र बतलाया है। यह निकुम्भ कौन था? इस सम्बन्ध की एक कथा कश्मीर के "नीलमतपुराण" में आती है। वह यह है कि कुबेर ने दुष्ट पिशाचों के साथ युद्ध करके उन्हें कश्मीर से निकालने के लिए "निकुम्भ" को नियुक्त किया था।

इसके अतिरिक्त प्रो० कल्ला ने बतलाया है कि सिन्धु तथा मालिनी नदियाँ, शचीतीर्थ, सोमतीर्थ तथा ब्रह्मसर आदि तीर्थ और शक्रघाट आदि स्थान भी कश्मीर में ही है। कथासूत्र की सुविधा के लिए कवि ने वर्णन किया है कि शचीतीर्थ तथा शक्रघाट हस्तिनापुर के समीप थे। अतः पूर्वपरिचित होने के

१—कल्ला, लक्ष्मीधर की अपनी पुस्तक "दी बर्थ-प्लेस आफ कालिदास" (१९२६)

२—रघुवंश—२।४६ । ३—रघुवंश—२।३५

कारण उक्त स्थानों के नाम कालिदास की सूझ होंगे। विविध प्रकार के पुष्पों, नृत्यगीतों और सुरापान आदि का जो वर्णन मेघदूत में आया है वह भी कश्मीर पर ही घटता है क्योंकि कश्मीर का ऐसा ही वर्णन कल्हण की "राजतरंगिणी" और विल्हण के "विक्रमांकदेवचरित" आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

इन उपर्युक्त तथा अन्य अनेक युक्तियों का आधार लेकर प्रो० कल्ला ने यह सिद्ध किया है कि कालिदास का जन्मस्थान कश्मीर ही हो सकता है।

परन्तु परीक्षा करने पर यह कल्पना भी अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होती है। प्रथम बात तो यह है कि "कालिदास" नाम ही कश्मीरी नाम नहीं है। दूसरी बात यह है कि भामह, रुद्रट, कैयट, जैयट, मम्मट, कल्हण आदि कश्मीरी पंडितों तथा आचार्यों के नामों का उल्लेख "राजतरंगिणी" आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है किन्तु कश्मीरी पण्डितों की उस नामावली में कालिदास के नाम का उल्लेख कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। यदि महाकवि कालिदास कश्मीर-निवासी ही होते तो कल्हण जैसा सावधान और जिज्ञासु इतिहास-कार कालिदास के कश्मीरी होने का वर्णन "राजतरंगिणी" में किये बिना न रहता।

कालिदास के ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उनका भौगोलिक ज्ञान अत्यन्त वास्तविक था। उन्होंने अपने ग्रन्थों में जिन अनेक प्रदेशों के वर्णन किये हैं उनमें कोई किसी भी भाँति की त्रुटि दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतः उन्होंने अप्सरस्तीर्थ, शचीतीर्थ, शक्रावतार आदि स्थलों का वर्णन कश्मीर से प्राप्त कर हस्तिनापुर के समीपस्थ स्थलों के वर्णन में रखा हो, इस प्रकार की कल्पना करना असंगत ही प्रतीत होता है।

"नीलमत पुराण" का रचना-काल भी कोई अधिक प्राचीन प्रतीत नहीं होता है। यह हो सकता है कि "पद्मपुराण" की ही भाँति इस पुराण में भी व्यक्ति एवं स्थलों के नामों का उल्लेख "कालिदास" के ग्रन्थों पर ही किया गया हो।

यह सत्य है कि कोई कवि किसी घटना का अनुभव स्वयं किये बिना उसका चित्रण अपनी लेखनी द्वारा भली भाँति चित्रित नहीं कर सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ... कालिदास का घर अलका-

पुरी ही में था, उनके घर की बावली में स्फटिकमणि-निर्मित सीढ़ियाँ थीं तथा उनमें स्वर्णकमल खिलते थे इत्यादि इत्यादि। ऐसा मानना उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि कवि अपनी कल्पना के आधार पर ही सब कुछ लिखा करता है। उत्तरमेघ में कवि ने अपनी कल्पना को स्वच्छन्द बना कर अलकापुरी के सौन्दर्य, ऐश्वर्य और सुखोपभोग का अत्यन्त उत्कृष्ट वर्णन किया है। इसमें वास्तविकता के रूप का दर्शन करना उचित प्रतीत नहीं होता है। अतः कालिदास का कश्मीरी होना भी प्रमाणित नहीं होता है।

कालिदास ने अपने ग्रन्थों में अनेक प्रान्तों[१] का वर्णन किया है। उनके आधार पर उनको विभिन्न प्रान्तों का निवासी सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु केवल किसी प्रान्त का वर्णन कर देने मात्र से कवि को उस स्थान का निवासी मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता है। हाँ, यह सम्भव है कि किसी स्थान-विशेष अथवा प्रदेश विशेष का वर्णन सर्वाधिक प्रिय रहा हो, तथा उस प्रदेश के प्रति कवि का विशेष पक्षपात भी रहा हो। साथ ही उस प्रदेश से उसके जीवन का भी घनिष्ठ सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता हो तो उस स्थान को कवि के जन्म-स्थान के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। उनके ग्रन्थों का अनुशीलन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मालवा कवि को अधिक प्रिय है। उन्होंने अपनी कृतियों में मालवा की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है। मेघदूत में तो, यद्यपि मेघ की राह सीधी उत्तर की ओर है और उज्जयिनी टेढ़े रास्ते पर स्थित है, परन्तु फिर भी मार्ग छोड़ कर टेढ़े जाने के लिए कहकर महाकवि वहां के महाकाल के मन्दिर, शिप्रा नदी, उसकी नर्तकियों और नागरिकाओं के हावभाव, अंग-विलास आदि के वर्णन[२] में विभोर हो जाता है। अतः महाकवि की इस प्रकार की स्थिति केवल स्थान

१—"मालविकाग्निमित्र" में विदर्भराजकन्या मालविका के वर्णन से "विदर्भ" का वर्णन।

"रघुवंश" के षष्ठ एवं अष्टम सर्गों में विदर्भराजकन्या इन्दुमती के स्वयंवर आदि के वर्णन द्वारा विदर्भ देश का वर्णन। विदर्भ के सुखसम्पत्तिशाली एवं सुराज्य होने का ५।४० तथा ५।६० वें श्लोक में वर्णन।

"मेघदूत" में "विदिशा" का वर्णन, इत्यादि इत्यादि।

२—"मेघदूत" पूर्वमेघ– २९ से ४१ वें श्लोक तक।

के सौन्दर्य से ही नहीं बन गई होगी अपितु उज्जयिनी से उनका अवश्य ही घनिष्ठ सम्बंध रहा होगा। इस अध्याय में ही पहले यह सिद्ध किया जा चुका है कि महाकवि कालिदास उज्जयिनी-नरेश विक्रमादित्य के दरबारी कवि थे। अतः महाकवि का मालवा (उज्जयिनी) में दीर्घकाल तक निवास उस आत्मीयता को उत्पन्न कर सकता है जो उनकी कृतियों में हमको उपलब्ध होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भूलोक की किसी दूसरी नगरी पर महाकवि का उतना प्रेम दृष्टिगोचर नहीं होता है जितना कि उज्जयिनी पर। अतः यह स्पष्ट है कि उनके बचपन के दिन उज्जयिनी में ही व्यतीत हुए होंगे।

महाकवि कालिदास का आनुमानिक जीवन चरित्र—"प्रत्येक ग्रन्थकर्त्ता के विचार, विद्वत्ता तथा स्वभाव उसके ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित हुआ करते हैं" इस सिद्धान्त के अनुसार कालिदास के जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका जन्म "ब्राह्मण" कुल में हुआ होगा। उन्होंने अपने ग्रन्थों में ऋषियों के चरित्रों[1] का बड़ी श्रद्धा एवं प्रेम के साथ चित्रण किया है। उनके आश्रमों के वर्णन में भी उनकी अगाध श्रद्धा एवं विश्वास का स्पष्ट रूप से ज्ञान उपलब्ध होता है। उनके "यज्ञ" विषयक प्रेम[2] का भी ज्ञान उनके ग्रन्थों से प्राप्त होता है। उन्होंने "विक्रमोर्वशीय" नाटक का इतिवृत्त "ऋग्वेद" (१०-९५) और "शतपथ-ब्राह्मण" (५, १-२) से लिया है। इससे उनके वैदिक ज्ञान तथा वेदों के प्रति प्रेम का स्पष्ट पता

१—(अ) "अभिज्ञानशाकुन्तल" में "कण्व" तथा "मारीच" ऋषियों का वर्णन। (ब) "रघुवंश" के प्रथम सर्ग में "वशिष्ठ" ऋषि का वर्णन तथा पंचम सर्ग में "वरतन्तु" ऋषि का (स) "विक्रमोर्वशीय" में "च्यवन" ऋषि का वर्णन।

२—(अ) "अभिज्ञानशाकुन्तल" ७।३४ के द्वारा यज्ञ का समर्थन।
(ब) "अभिज्ञानशाकुन्तल" पृष्ठ २५६–"दिष्ट्या धर्मोपरुद्धदष्टेरपि—आहुतिर्निपतिता (स) "मालविकाग्निमित्र" में पृष्ठ २२८ "पुष्यमित्र के द्वारा प्रेषित पत्र से अश्वमेध यज्ञ की सूचना तथा अग्निमित्र के सपरिवार यज्ञ में सम्मिलित होने का वर्णन।
(द) "रघुवंश"—१५।५८–६२ में अश्वमेघ यज्ञ का वर्णन।

लगता है। उपनिषदों के परमतत्त्व ब्रह्म का उल्लेख कुमारसंभव (३-१५) में आया है। इसी प्रकार "अभिज्ञानशाकुन्तल" में उन्होंने वैदिक छन्द में निर्मित स्वरचित[1] श्लोक भी दिया है। कालिदास की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वे ब्राह्मण जाति के थे।

उन्होंने अपने तीनों नाटकों के प्रारम्भ में भगवान् शिव की स्तुति की है। इससे यह सिद्ध होता है कि वे शिव-भक्त थे। मेघदूत तथा रघुवंश के वर्णनों से ज्ञात होता है कि उन्होंने भारतवर्ष की विस्तृत यात्रा की थी। इसी कारण उनके इन वर्णनों में सत्यता एवं स्वाभाविकता तथा सौन्दर्य-सम्पन्नता भी दृष्टि-गोचर होती है। उन्होंने राजद्वारों तथा राजकीय जीवनों का सुन्दर वर्णन किया है। इससे प्रतीत होता है कि उनका राज-परिवारों से विशेष सम्बन्ध रहा था।

अनेक विद्याओं के ज्ञाता तथा महान् ज्ञानी कालिदास—कालिदास अत्यन्त विद्वान् होते हुए भी अत्यन्त नम्र थे। इस कारण उन्होंने किसी भी स्थल पर अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन करने का प्रयास नहीं किया है। फिर भी उनके ग्रन्थ अनेक विषयों के ज्ञान से परिपूर्ण हैं जिनके अनेक उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं तथा जिनसे उनके ज्ञान-गाम्भीर्य का स्पष्ट पता लगता है। वे सम्पूर्ण वैदिक–वाङ्मय के ज्ञाता थे। निम्न श्लोकों में उनके ऋग्वेद सम्बन्धी ज्ञान तथा उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के ज्ञान का उल्लेख मिलता है :—

> "उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
> कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्॥" (कुमार० २–१२)
> "स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
> ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः" ॥ (रघु० १५–७६)

राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा यज्ञ की दक्षिणा[2] के सदृश थीं। इस कल्पना को महाकवि ने "यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणाऽप्सरसः" इत्यादि यजुर्वेद के मंत्र[3]

१—अभिज्ञानशाकुन्तल–४।१०

२—रघुवंश—१।३१

३—यजुर्वेद–१८।४२

से प्राप्त किया होगा। इसी प्रकार के अन्य अनेक उपनिषदों, स्मृतियों आदि के उद्धरण, जिनमें से कुछ का वर्णन हम इस ही परिच्छेद में कर चुके हैं, उपलब्ध होते हैं जिनसे स्पष्ट विदित होता है कि ये महाकवि वैदिक साहित्य के पूर्ण ज्ञाता थे।

भारतीय दर्शनशास्त्र के भी वे ज्ञाता थे। उन्होंने भारतीय दर्शनशास्त्र तथा उसकी भिन्न-भिन्न शाखाओं का भी अध्ययन किया था। सम्पूर्ण विश्व में एक ही तत्त्व विद्यमान है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश उस ही एक तत्त्व के भिन्न-भिन्न रूप हैं। यह वेदान्त दर्शन की कल्पना उनके प्रायः सभी ग्रन्थों में पाई जाती है। पुरुष (आत्मा) उदासीन है, सृष्टि में चारों ओर जो प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है वह प्रकृति की है, इस प्रकार का सांख्य का सिद्धान्त कुमार-सम्भव[1] में उपलब्ध होता है। योगदर्शन का विषय उनके कुमारसंभव[2] के तृतीय सर्ग में उपलब्ध होता है जिसमें शिव जी के ध्यानावस्थित रूप का वर्णन है। इस प्रकार के अनेक स्थल उनके ग्रन्थों में विद्यमान है जिनमें अन्य दर्शनशास्त्रों के तथा उपर्युक्त दर्शनशास्त्रों के भी सिद्धान्तों का पूर्णरूपेण वर्णन किया गया है।

मनुस्मृति में जो नियम हैं उनके अनुसार राजा दिलीप की प्रजा बर्ताव[3] करती थी। अभिज्ञानशाकुन्तल में कन्या के धरोहर होने[4], उसका विवाह कर देने पर उऋण हो जाने तथा गान्धर्व[5] विवाह आदि का वर्णन उनके स्मृति-शास्त्रों सम्बन्धी ज्ञान का ही द्योतक है। "शुश्रूषस्व गुरून्"[6] इत्यादि श्लोक में

१—(अ) त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥ (कुमारसंभव २–१३)
(ब) "बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति" इत्यादि-रघुवंश– १२।६० में।
२—कुमारसंभवम्—३।४९-५१
३—रघुवंश—१।१७।
४—अभिज्ञानशाकुन्तल—४।२२
५—अभिज्ञानशाकुन्तल—३।२०

६—अभिज्ञानशाकुन्तल—४।२०

स्मृति-प्रतिपादित सुगृहिणी के कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। इस उद्धरणों से महाकवि के स्मृति एवं धर्म-शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का अनुभव पाठक को होता है।

इसी प्रकार उनके राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र आदि अनेक शास्त्र सम्बन्धी-ज्ञान का अनुभव पाठक को उनके ग्रन्थों का अध्ययन करने से स्पष्ट रूप से हो जाता है। उनके ग्रन्थों में इन सभी शास्त्रों से सम्बन्धित अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं। अकेले "अभिज्ञानशाकुन्तल" नाटक को ही देखने से उनके नाट्य-शास्त्र के ज्ञान का पूर्णरूपेण पता लग जाता है। इसके अतिरिक्त उनके ग्रन्थों में इस प्रकार के भी अनेक उद्धरण मिलते हैं जिनसे उनके ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीत, चित्रकला, प्रसाधन कला, नृत्य, गीत, वाद्य आदि के सुविदित ज्ञान का भी पता लग जाता है। "मेघदूत" के मार्ग-वर्णन से तथा "मालविकाग्निमित्र" में अग्निमित्र के वर्णन आदि से उनके भौगोलिक एवं ऐतिहासिक ज्ञान का भान पाठक को हो जाता है।

इस प्रकार महाकवि कालिदास के विस्तृत एवं विशद ज्ञान-सम्पन्न होने का स्पष्ट रूप से पता लग जाता है।

कालिदासत्रय प्रचलित है—जिस प्रकार आधुनिक युग में शंकराचार्य का नाम उपाधि के रूप में होने से चारों मठों के अध्यक्षों को शंकराचार्य नाम से ही पुकारा जाता है उसी प्रकार महाकवि कालिदास की असाधारण प्रसिद्धि के कारण बाद में उनका नाम उपाधि के रूप में हो गया। और कालिदास के अनन्तर जो उत्तम कवि हुए उनको या तो राजाओं द्वारा कालिदास की उपाधि प्राप्त हुई अथवा उन्होंने अपना उपनाम ही "कालिदास" रख लिया। परिणाम-स्वरूप अनेक कालिदास हो गये तथा उनके द्वारा की गई रचनायें भी कालिदास-कृत समझी जाने लगीं। राशेखर को इस प्रकार के तीन कालिदासों का ज्ञान था अतएव उन्होंने अपनी "सूक्तिमुक्तावली' में लिखा है :—

"एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥"

कालिदास की कृतियाँ—कालिदास के नाम से ४१[१] रचनायें प्रचलित हैं। इनमें से प्रथम ६ ग्रन्थों को कालिदास कृत ही माना जाता है। इस बारे में आज तक किसी विद्वान् को कोई आपत्ति नहीं हुई है। सप्तम रचना "ऋतुसंहार" के बारे में आलोचकों का एकमत नहीं है। उनकी दृष्टि में न तो इसमें कालिदास की कमनीय शैली अथवा वाग्वैदग्ध्य का परिचय मिलता है तथा न इसके कालिदास कृत होने की पुष्टि में ही कोई दृढ़ प्रमाण[२] उपलब्ध होता है। किन्तु डा० मिराशी[३] एवं डा० कपिलदेव[४] द्विवेदी आदि विद्वानों ने "ऋतुसंहार" को कालिदास कृत माना है। इसके अतिरिक्त "कुन्तलेश्वरदौत्य" भी कालिदास की कृति है, ऐसा "औचित्यविचारचर्चा"[५] में "कुन्तलेश्वरदौत्य" का उद्धरण करते हुए कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र[६] ने लिखा है। अन्य अवशिष्ट ग्रन्थ कालिदास नामधारी अन्य कवियों के हो सकते हैं।

१—(१) रघुवंश (२) कुमारसंभव (३) मेघदूत (४) मालविकाग्निमित्र (५) विक्रमोर्वशीय (६) अभिज्ञानशाकुन्तल (७) ऋतुसंहार (८) कुन्तलेश्वर-दौत्य (९) अम्बास्तव (१०) कालीस्तोत्र (११) कल्याणस्तव (१२) काव्यनाटकालंकार (१३)-(१४) गंगाष्टक (१५) घटकर्पर (१६) चर्चास्तव (१७) चण्डिकादण्डकस्तोत्र (१८) ज्योतिर्विदाभरण (१९) दुर्घटकाव्य (२०) नलोदय (२१) नवरत्नमाला (२२) पुष्पबाणविलास (२३) मकरन्द-स्तव (२४)-(२५) मंगलाष्टक (२६) महपद्यषट्क (२७) रत्नकोश (२८) राक्षसकाव्य (२९) लक्ष्मीस्तव (३०) लघुस्तव (३१) विद्वद्विनोद-काव्य (३२) वृन्दावनकाव्य (३३) वैद्यमनोरमा (३४) शद्धिचन्द्रिका (३५) श्रृंगारतिलक (३६) श्रृंगाररसाष्टक (३७) श्रृंगारसार काव्य (३८) श्यामलादण्डक (३९) श्रुतबोध (४०) सप्तश्लोकी रामायण (४१) सेतुवन्ध। विक्रमोर्वशीय-भूमिका, पृष्ठ ७।

२—उपाध्याय बलदेव संस्कृत साहित्य का इतिहास: पृष्ठ १६७ पंक्ति २०–२३।

३—डा० मिराशी : कालिदास : पृष्ठ ९७

४—अभिज्ञानशाकुन्तल (डा० कपिलदेव द्विवेदी द्वारा अनूदित) की भूमिका, पृष्ठ १४।

५, ६—क्षेमेन्द्र : औचित्यविचारचर्चा : पृष्ठ १३९।

केवल अभिज्ञानशाकुन्तल के आधार पर कालिदास का शास्त्रीय पाण्डित्य

उनके **वेद सम्बन्धी ज्ञान** का पता हमें अ० शा० के निम्न स्थलों से प्राप्त होता है :—(क) "अमीं वेदिं परितः" (४।८) इत्यादि छन्द से उनके द्वारा वैदिक छन्द निर्माण का पता चलता है (२) "तव भवतु विडौजा..." (७।३४) के द्वारा उनके यज्ञ-समर्थक होने का ज्ञान प्राप्त होता है। (ग) "श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति" (७।२९) में यज्ञ की सफलता के निमित्त उपयोगी बातों का संग्रह किया गया है। (घ) "दिष्ट्या धूमाकुलित..." इत्यादि के द्वारा यज्ञविधि का समर्थन किया गया है। (ङ) वेद में "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋग्वेद १।१६।४६) के द्वारा अनेक रूपों में वर्णित ईश्वर के आधार पर "या सृष्टिः स्रष्टुराद्या" (१।१) के द्वारा शिव की अनेकरूपता का वर्णन किया गया है। निम्नलिखित स्थलों पर उनके **दार्शनिक ज्ञान** का पता स्पष्ट रूप से लग जाता है—(च) "अभ्यक्तमिव स्नातः" इत्यादि (५।११) के द्वारा बद्ध तथा मुक्त प्राणी का अन्तर स्पष्ट किया गया है। (छ) "स्मृतिभिन्नमोहतमसो...." (७।२२) के द्वारा स्मृति तथा अज्ञानावरण का स्पष्टीकरण किया गया है। (ज) "रम्याणि वीक्ष्य..." (५।२) इत्यादि के द्वारा संस्कारों का दार्शनिक महत्त्व प्रकट किया गया है। (झ) "सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" (१।२२) के द्वारा अन्तः-करण का स्वरूप अभिव्यक्त किया गया है। **धर्मशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान**—(क) "शुश्रूषस्व गुरून्०...." (४।१८) इत्यादि के द्वारा स्मृति-ग्रन्थों में वर्णित अच्छी गृहिणी के कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। (ख) "अर्थो हि कन्या..." (४।२२) इत्यादि के द्वारा उनके स्मृतियों के ज्ञान का पता चलता है। इसके द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि कन्या वस्तुतः एक धरोहर के सदृश है कि जिसका विवाह कर देने पर मनुष्य उऋण हो जाता है। (ग) "गान्धर्वेण विवाहेन—" (३।२०) के द्वारा स्मृति-ग्रन्थों में वर्णित गान्धर्व-विवाह का वर्णन किया गया है। **नीति-शास्त्रसम्बन्धी ज्ञान**—(च०) "यात्येकतोऽस्तशिखरं···" (४।२) इत्यादि श्लोक के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि संसार में सुख-दुःख का परिवर्त्तन निरन्तर अबाध-गति से चला करता है। (छ) "अतः परीक्ष्य कर्तव्यं—" (५।२४) के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि प्रेम किससे किया जाना चाहिये। **ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान**—(क) "उपरागान्ते शशिनः···" (७।२२) इत्यादि के द्वारा

रोहिणी और चन्द्रमा के संयोग को स्पष्ट किया गया है। (ख) "किमत्र चित्रं यदि विशाखे···" इत्यादि के द्वारा दोनों विशाखा नामक नक्षत्रों द्वारा चन्द्रमा का अनुसरण किये जाने का स्पष्टीकरण किया गया है। **आयुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान**—"विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य" के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि निदान हो जाने के अनन्तर ही चिकित्सा की जानी चाहिये। **धनुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान**—(क) "तव शरैरधुना नतपर्वभिः···" (७।३) इत्यादि में बाण के स्वरूप का वर्णन किया गया है। (ख) "यो हनिष्यति वध्यं····" (६।२८) इत्यादि में लक्ष्यवेधी बाण का वर्णन किया गया है। (ग) "का कथा बाणसन्धाने··"(३।१) तथा "अनवरतधनुर्ज्या····"(२।४) इत्यादि के द्वारा उनके धनुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान का स्पष्टीकरण हो जाता है। **कामशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान**—विरही व्यक्ति के लिये चन्द्रमा और कामदेव दोनों ही दुःखद हुआ करते हैं। इसका स्पष्टीकरण "तव कुसुमशरत्वम्—" (३।३) इत्यादि के द्वारा किया गया है। "इदमशिशिरै····"(३।१०) इत्यादि में विरही का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। "क्षामक्षामकपोल····"इत्यादि (३।७) में विरहिणी की दशा का वर्णन है। कामसूत्र के आधार पर स्त्री के कर्तव्यों का उपदेश "शुश्रूषस्व गुरून्···" इत्यादि (४।१८) के द्वारा प्रकट किया गया है। **व्याकरण-शास्त्र का ज्ञान**—"सउन्दलावण्णं पेक्ख····" में दो प्रकार के अर्थों को प्रकट करते हुए उनके प्राकृत भाषा के व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान का पता लग जाता है। **राजनीतिशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान** – (क) "नैतच्चित्रं यदयम्···" (२।१५) इत्यादि में राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन मिलता है। (ख) "राजरक्षितव्यानि तपोवनानि" तथा "आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्य" के आधार पर "प्रजा की रक्षा करना राजा का धर्म है" इस सिद्धान्त का निरूपण हुआ है। (ग) "प्रजा के हित के लिये कष्ट सहन करना राजा का कर्तव्य है" का स्पष्टीकरण "स्वसुखनिरभिलाषः···"(५।७) के द्वारा किया गया है। (घ) "नियमयसि विमार्ग ··" (५।८) इत्यादि के द्वारा राजा द्वारा दुष्टों को दण्ड दिये जाने तथा प्रजा में शान्ति बनाये रखने के सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। (ङ) "षष्ठांशवृत्तेरपि····" (५।४) "तपःषड्भाग····" (२।१३) इत्यादि में राजा द्वारा प्रजा से षष्ठांश कर के रूप में लेने का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। (च) "गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति" के द्वारा

"गर्भस्थ बालक भी पिता की सम्पत्ति का अधिकारी हुआ करता है" इस सिद्धान्त का निरूपण किया गया है । इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल में आते हैं कि जिनके आधार पर कवि के शास्त्रीय पाण्डित्य का स्पष्टतया ज्ञान पाठक को हो जाता है ।

अ० शा० के आधार पर अन्य कलाओं सम्बन्धी कालिदास का ज्ञान

उनकी रचनाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उनको अन्य कलाओं का भी अच्छा ज्ञान था । उन्होंने नृत्य, संगीत तथा चित्रकला आदि के ज्ञान का यथास्थान प्रयोग किया है । "चलापाङ्गां दृष्टिं" (१।२४) इत्यादि तथा "यतो यतः षट्चरणो....." (१।२३) इत्यादि में नृत्य की क्रियाओं की ओर सूक्ष्म संकेत किया गया है । "तवास्मि गीतरागेणं"··· (१।५) इत्यादि में उन्होंने संगीत के माधुर्य का वर्णन किया है । पंचम अङ्क के प्रारम्भ में रानी हंसपदिका द्वारा संगीत की शिक्षा का अभ्यास किया जा रहा है । "अभिनवमधुलोलुपः···"(५।१) इत्यादि छन्द के द्वारा वह अपना गान चला रही है । उनके चित्रकला सम्बन्धी ज्ञान तथा उसके प्रति प्रेम का दिग्दर्शन षष्ठ अङ्क में स्पष्ट रूप से हो जाता है । दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के चित्र का स्वयं ही निर्माण किया गया है कि जिसमें शकुन्तला साक्षात् रूप से सामने ही खड़ी प्रतीत हो रही है "जाने सख्यग्रतो मे वर्तते"—राजा की इच्छा है कि वह उस चित्र में कुछ आवश्यक संशोधन करे "यद्यत् साधु न चित्रे"···इत्यादि (६।१४) ।

अभिज्ञान-शाकुन्तल की संक्षिप्त कथा

प्रथम अङ्क—नान्दी-पाठ के अनन्तर सूत्रधार ग्रीष्म ऋतु का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करता है । इसके तुरन्त पश्चात् महाकवि ने शिकारी के वेष को धारण किये हुए सारथि सहित रथ पर आरूढ़ राजा को चित्रित किया है । राजा एक हरिण का पीछा कर रहा है । वह उसको मारना ही चाहता है कि इतने में दो अन्य शिष्यों के साथ वैखानस नामक तपस्वी का प्रवेश होता है । वह तपस्वी राजा को बतलाता है कि यह आश्रम का मृग है, इसे न मारिये । राजा उनकी बात को स्वीकार कर अपने बाण को वापिस रख लेता है । तपस्वी राजा को चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होने का आशीर्वाद देता है और साथ ही आश्रम

में आकर अतिथिसत्कार स्वीकार करने के निमित्त उसको आमन्त्रित करता है। ऋषि कण्व सोमतीर्थ गये हुए हैं। शकुन्तला पर ही आश्रम का सम्पूर्ण कार्य-भार सौंप गये हैं। ऋषि के प्रति अपनी श्रद्धा दिखलाने के लिये राजा उस निमन्त्रण को स्वीकार कर लेता है। राजा सारथि को आश्रम के बाहर ही छोड़कर विनीत वेष में आश्रम में प्रवेश करता है। वहाँ वह तीन अति सुन्दर कन्याओं को देखता है कि जो वृक्षों को सींच रही थीं। राजा उसी समय शकुन्तला के अनुपम सौंदर्य को देखकर उस पर मुग्ध हो जाता है और वृक्षों की ओट में स्थित होकर उसके सौन्दर्य को देखता है। एक भ्रमर शकुन्तला को तंग करता है और वह उस भ्रमर से रक्षा किये जाने के निमित्त प्रार्थना करती है। उचित समय देखकर राजा उन तीनों के समीप आ जाता है और वार्त्तालाप करता है। वार्तालाप में वह जान लेता है कि शकुन्तला विश्वामित्र और मेनका की पुत्री है जिनके द्वारा उसका परित्याग कर दिया गया था और बाद में ऋषि कण्व द्वारा उसका पालन-पोषण किया गया था। वह क्षत्रिय-कन्या है अतः राजा उससे विवाह करने सम्बन्धी अपने विचार को निश्चित कर लेता है। शकुन्तला के हृदय में भी राजा के प्रति अनुराग जाग्रत हो जाता है। राजा अपने राजत्व को छिपाता है। इसी बीच नेपथ्य से सूचना मिलती है कि एक विक्षुब्व हाथी आश्रम में प्रविष्ट हो रहा है। तीनों सखियाँ भयाकुल होकर राजा की अनमति लेकर आश्रम की ओर प्रस्थान करती हैं। राजा भी अपने सैनिकों को रोकने के निमित्त चल देता है जिससे तपोवन के कार्यों में कोई विघ्न न पड़े। वस्तुतः उसकी इच्छा अब अपने नगर के प्रति जाने की नहीं है।

द्वितीय अङ्क—प्रारम्भ में विदूषक द्वारा राजा की आखेट सम्बन्धी सूचना प्राप्त होती है। शिकार से तंग आया हुआ विदूषक राजा से शिकार का कार्य रोक देने के निमित्त प्रार्थना करता है। शकुन्तला के प्रणय से विह्वल राजा उसकी प्रार्थना को मान लेता है और वह शिकार खेलने का विचार छोड़ देता है। सेनापति को भी इसके लिये मना कर देता है। राजा अपने मित्र विदूषक से स्वयं शकुन्तला पर आसक्त होने की बात को कहता है। साथ ही कुछ और समय तक वहीं रुके रहने के लिये उससे किसी बहाने को सोचने के लिये कहता है। सौभाग्य से उसी समय दो ऋषिकुमार आते हैं और राजा से आश्रम में ठहरने तथा यज्ञ की रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं। राजा इस अवसर को अपने

अनुकूल समझकर अपनी स्वीकृति प्रदान कर देता है। इसी समय राजधानी हस्तिनापुर से दूत का आगमन होता है और वह राजा को माता द्वारा बुलाये जाने का संदेश देता है। राजा सेना समेत विदूषक को अपनी माता के समीप राज-भवन भेज देता है और इस भय से कि मित्र विदूषक उसके शकुन्तला-विषयक प्रेम की बात को कहीं जाकर अन्तःपुर में न बतला दे, उसे समझाता है कि उसने शकुन्तला विषयक बात केवल हास्य में कही थी, वह उसे सत्य न समझे।

तृतीय अङ्क—इस अङ्क में राजा तथा शकुन्तला दोनों ही को प्रेम-व्याकुल दशा में चित्रित किया गया है। शकुन्तला दुष्यन्त के प्रति आसक्ति के कारण अस्वस्थ है तथा लतामण्डप में पुष्पशय्या पर लेटी हुई है। इधर यज्ञ की रक्षा के कार्य से मुक्ति पाकर राजा भी मनोविनोद करना चाहता है। वह वेतस-लता-मण्डप के समीप वृक्षों की ओट में छिपकर शकुन्तला तथा उसकी दोनों सखियों के परस्पर वार्त्तालाप का श्रवण करता है। शकुन्तला का यह स्वीकार करना कि वह दुष्यन्त पर आसक्त है तथा उनके दर्शनों के बिना वह जीवित न रह सकेगी, यह ज्ञातकर सखियाँ उससे राजा के समीप भेजने के लिये मदन-लेख लिखवाती हैं। इस लेख में अपनी दशा का वर्णन करते हुए शकुन्तला राजा के प्रणय के सम्बन्ध में आशंका करती है। राजा इन सब बातों को श्रवण कर उचित अवसर पाकर उस लतामण्डप में प्रवेश करता है तथा शकुन्तला के प्रति अपने प्रेम का स्पष्टीकरण भी करता है। एकाएक वहाँ उपस्थित हुए हरिण के बच्चे को उसकी मां के समीप पहुँचाने के बहाने से राजा तथा शकुन्तला को एकान्त में छोड़कर दोनों सखियां वहाँ से चली जाती हैं। राजा द्वारा शकुन्तला के समक्ष गान्धर्व-विवाह का प्रस्ताव रखा जाता है। कुछ समय के पश्चात् शान्तिजल लेकर आश्रम की स्वामिनी गौतमी का प्रवेश होता है। राजा पुनः वृक्षों की ओट में छिप जाता है। गौतमी शकुन्तला को लेकर चली जाती हैं। राजा भी यज्ञ की रक्षार्थ गमन करता है।

चतुर्थ अङ्क—इसी बीच दोनों का गान्धर्व-विवाह सम्पन्न हो जाता है। राजा अब अपनी राजधानी की ओर जाना चाहता है। अतः शकुन्तला को लिवा जाने के लिये योग्य व्यक्तियों को शीघ्र ही भेजने का आश्वासन देकर वह चला

जाता है। राजा के जाने के पश्चात् शकुन्तला राजा के ध्यान में निमग्न अपनी कुटी में बैठी हुई है। इसी समय दुर्वासा ऋषि का आगमन होता है। शकुन्तला द्वारा उनका आतिथ्य न किये जाने पर वे उसे शाप दे देते हैं कि "जिसका स्मरण करती हुई तू मुझ आये हुए तपस्वी की ओर ध्यान नहीं दे रही है, वह स्मरण दिलाये जाने पर भी तुझे न पहचान सकेगा।" प्रियंवदा शीघ्रता के साथ जाकर ऋषि की अनुनय-विनय करती है। परिणामस्वरूप दुर्वासा द्वारा आश्वासन प्राप्त होता है कि पहिचान का कोई आभूषण दिखलाने पर शाप का प्रभाव समाप्त हो जायेगा। दोनों सखियाँ शाप के इस वृत्तान्त से न तो शकुन्तला को ही अवगत कराती हैं तथा न अन्य किसी को। वे जानती हैं कि राजा की अँगूठी तो शकुन्तला के पास है ही, अतः राजा शकुन्तला को पहचान ही लेगा। विष्कम्भक समाप्त होता है।

यात्रा से लौटने पर ऋषि कण्व को दिव्यवाणी द्वारा शकुन्तला और दुष्यन्त के पारस्परिक विवाहित हो जाने का तथा शकुन्तला के गर्भिणी होने का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। शाप के प्रभाव के कारण राजा शकुन्तला को भूल गया है। अतः वह उसे लिवाने के निमित्त किसी को भी नहीं भेजता है। परिणामस्वरूप कण्व ही गौतमी एवं अन्य दो शिष्यों के साथ उसे हस्तिनापुर भेज रहे हैं। शकुन्तला की विदाई का कार्यक्रम प्रारम्भ होता है। वन-वृक्षों द्वारा आभूषण और रेशमी वस्त्रादि उपलब्ध होते हैं। शकुन्तला अपनी सखियों, वन के वृक्षों तथा मृगों आदि से विदाई लेती है। इस स्थल पर वियोग का अत्यन्त सुन्दर एवं मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। पिता के हृदय की कोमल भावनाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण है। कण्व द्वारा शकुन्तला को दिया गया उपदेश तथा राजा के लिये भेजा गया सन्देश अत्यन्त स्वाभाविक एवं सजीव है। शकुन्तला को उसके पति के समीप भेजकर ऋषि को हार्दिक शान्ति एवं सन्तोष प्राप्त होता है।

पञ्चम अङ्क—गौतमी एवं शार्ङ्गरव और शारद्वत के साथ शकुन्तला राजदरबार में पहुँचती है। राजा उनका तापसोचित सत्कार करता है। साधारण शिष्टाचार के पश्चात् शार्ङ्गरव अपने गुरु कण्व का सन्देश कहकर शकुन्तला को स्वीकार करने हेतु आगे करता है। राजा शाप के कारण सब

कुछ भूल चुका है। यह सुनकर राजा आश्चर्य में पड़ जाता है और शकुन्तला के साथ हुई विवाह की घटना को असत्य बतलाता है। गौतमी द्वारा शकुन्तला का घूँघट हटा दिये जाने पर राजा उसे नहीं पहचानता है। शकुन्तला भी राजा द्वारा प्रदत्त अँगूठी को दिखलाकर उसे विश्वास दिलाना चाहती है किन्तु मार्ग में ही वह अँगूठी शकुन्तला द्वारा गिर गई थी अतः उसका यह उपाय निरर्थक हो जाता है। शार्ङ्गरंव तथा राजा के मध्य आवेशपूर्ण वार्त्तालाप होता है। किन्तु राजा शकुन्तला को स्वीकार नहीं करता। शकुन्तला को छोड़कर उसके साथी चले जाते हैं। शकुन्तला अपने को कोसती हुई विलाप करती है। राजा के पुरोहित द्वारा पुत्रजन्म-पर्यन्त शकुन्तला को अपने घर रखने का प्रस्ताव किया जाता है। वह उसे लेकर चल देता है। इतने में एक अप्सरा आकर उसे उड़ा ले जाती है। इस आश्चर्यजनक घटना की सूचना पुरोहित राजा को देता है। यह श्रवणकर सभी आश्चर्य-मग्न हो जाते हैं। अन्त में राजा अकेला विमूढ़ और चिन्तामग्न रह जाता है।

षष्ठ अङ्क—शकुन्तला द्वारा शचीतीर्थ में खो दी गई हुई अँगूठी एक धीवर को मछली के पेट से प्राप्त होती है। वह उसे बेचने के लिये बाजार में ले जाता है। पुलिस वाले राजा की अँगूठी को देखकर उसे चोर समझकर राजा के समीप ले जाते हैं। राजा उसे पुरस्कार देकर छोड़ देते हैं। उस अँगूठी को देखते ही राजा पर शाप का प्रभाव समाप्त हो जाता है और उसे शकुन्तला के साथ हुई सम्पूर्ण वैवाहिक घटना स्मरण हो आती है। वह अत्यधिक दुःखी होकर अपना समय बिता रहा है। मेनका की एक सखी अदृश्य रूप से राजा के समीप आकर उसकी अवस्था को देखती हैं। राजा विदूषक के साथ रहकर अपने दुःख को भूलना चाहता है और वह शकुन्तला के अधूरे चित्र को मँगाकर उसे पूरा करने का प्रयास करता है। किन्तु उसका दुःख निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। इसी बीच प्रतिहारी मन्त्री द्वारा प्रेषित एक पत्र लाकर राजा को देती है जिससे ज्ञात होता है कि धनमित्र नामक एक व्यापारी का देहावसान हो गया है। वह सन्तानहीन था। अतः उसका धन राजकोष में जायेगा। राजा इसे पढ़कर अत्यन्त दुःखित होकर सोचता है कि वह भी सन्तानहीन है। अतः उसके पश्चात् उसका क्या होगा ? वह मूच्छित हो जाता है। इतने में इन्द्र का सारथि मातलि आकर राजा का ध्यान बँटा

देता है और अपने स्वामी इन्द्र का सन्देश उससे कहता है कि दैत्यों के विनाशार्थ इन्द्र ने उसे तुरन्त ही बुलाया है। राजा इन्द्र की सहायतार्थ उसके रथ पर चढ़-कर देवलोक के लिये प्रस्थान करता है।

सप्तम अङ्क—दानवों पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद इन्द्र द्वारा राजा का भव्य आदर-सत्कार किया जाता है। पुनः इन्द्र से बिदा लेकर जब वह वापिस लौटता है तो मार्ग में हेमकूट पर्वत पर मारीच ऋषि का आश्रम देखकर राजा उनका अभिवादन करने हेतु वहाँ उतर पड़ता है। मातलि ऋषि की खोज के लिये चला जाता है। इसी बीच राजा की एक अद्‌भुत बालक से भेंट होती है जो शेर के बच्चे के दाँत गिनने का प्रयत्न कर रहा है तथा उसे खेल-खेल में तंग भी कर रहा है। उसकी आकृति राजा से मिलती-जुलती है। राजा उस पर पुत्रवत् प्रेम करता है। एक तपस्विनी द्वारा राजा को यह ज्ञान होता है कि बालक की माता का नाम शकुन्तला है जो कि पति द्वारा परित्यक्ता है। बालक पुरुवंशी है। अपराजिता नामक ओषधि की घटना से उसको यह निश्चय हो जाता है कि वह बालक उसका ही पुत्र है। इस घटना की सूचना शकुन्तला को भी प्राप्त होती है और वह वहाँ आती है। वह अपने स्वामी दुष्यन्त को पहचान लेती है तथा उसे प्रणाम करती है। राजा शकुन्तला के पैरों पर गिरकर अपने अपराध के लिये क्षमा-याचना करता है। पुत्रसहित राजा तथा शकुन्तला मारीच ऋषि के दर्शनार्थ जाते हैं। ऋषि ने बताया कि दुर्वासा के शाप से अभिभूत होकर राजा शकुन्तला को नहीं पहचान सका था। अँगूठी का दर्शन होते ही उसे सब स्मरण हो आया था। उन्होंने राजा को निर्दोष ठहराया। अन्त में आशीर्वाद देकर ऋषि उनको इन्द्र के रथ पर राजधानी भेज देते हैं। भरतवाक्य के पश्चात् नाटक का अन्त होता है।

अ० शा० की मूल-कथा और उसमें परिवर्तन

मूल कथा—दुष्यन्त एवं शकुन्तला की कथा महाभारत तथा पद्‌मपुराण में मिलती है। पद्मपुराण की कथा की अपेक्षा महाभारत की कथा प्राचीन प्रतीत होती है क्योंकि वह सीधी-सादी तथा सरल है। पद्मपुराण के कथानक का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि पद्मपुराण की कथा एवं

शाकुन्तल की कथा में अत्यधिक साम्य है तथा पद्मपुराण की कथा के पात्र भी प्राय: वे ही हैं जो कि शाकुन्तल के हैं। अतः सम्भव है कि पद्मपुराण की रचना अ० शा० के पश्चात् की हो और लेखक ने उस कथानक का आधार महाभारत तथा अ० शा० दोनों को ही माना हो। इस सम्बन्ध में हम मूलकथा लिखने के पश्चात् विचार करेंगे। महाभारत के आदिपर्व में लगभग ३०० श्लोकों में आई हुई यह कथा[1] निम्न प्रकार है :—

एक दिन पुरुकुलोत्पन्न राजा दुष्यन्त अपने साथ बड़ी सेना, अमात्य और पुरोहित इत्यादि को लेकर आखेट खेलने गये। कुछ काल आखेट खेलने के पश्चात् वे महर्षि कण्व के आश्रम के समीप पहुँचे। तपोवन के बाहर ही सेना को छोड़कर तथा शरीर से राजचिह्न उतारकर उन्होंने पुरोहित तथा अमात्य सहित आश्रम में प्रवेश किया। कुछ दूर चलकर उन्होंने अमात्यादिकों को एक स्थान पर छोड़ दिया तथा एकाकी ही कण्व की पर्णकुटी की ओर गये। उस समय महर्षि कण्व फल लाने के निमित्त वन की ओर बाहर गये हुए थे। उनकी धर्म-पुत्री शकुन्तला वहाँ विद्यमान थी। उसने राजा का स्वागत किया। उसको देखकर राजा के मन में विकार उत्पन्न हुआ। उन्होंने शकुन्तला से उसका वृत्तान्त पूछा। शकुन्तला ने अपना सम्पूर्ण जन्म-वृत्तान्त विस्तार से कह सुनाया। जब राजा को यह ज्ञात हो गया कि यह एक क्षत्रिय-कन्या है तो उसने उसके प्रति अपना प्रेम व्यक्त किया तथा अपनी पत्नी होने की विनती की। शकुन्तला ने उत्तर दिया कि "मेरे बाबा फल लाने के लिये बाहर गये हैं। वे एक घड़ी भर में आवेंगे और फिर वे मुझे आपको अर्पण कर देंगे।" परन्तु राजा ने कहा, "गान्धर्व विवाह क्षत्रिय के लिये विहित है। तू अपना दान करने के लिये स्वत: समर्थ है।" राजा ने उसका मन अपनी ओर आकृष्ट किया। शकुन्तला ने इस शर्त पर विवाह करना स्वीकार किया कि राजा के देहावसान के पश्चात् उसका पुत्र ही राजा होगा। राजा ने इसको स्वीकार कर लिया। तदनन्तर गान्धर्व विधि से उसका पाणिग्रहण करके कुछ समय तक उसके साथ निवास किया। शकुन्तला को अपनी राजधानी में ले जाने के लिये बड़ी भारी सेना भेजने का वचन देकर कण्व ऋषि के शाप के भय से राजा वहाँ से चला गया। कुछ काल पश्चात् ऋषि भी लौटकर आ गये [illegible] उनके सामने नहीं

१—महाभारत—आदिपर्व, अध्याय ७०–७४।

आयी । उन्होंने अन्तर्ज्ञान एवं तपोबल के आधार पर सब समाचार जान लिया तथा शकुन्तला को माँगा हुआ वर प्रदान किया । इधर वचन के अनुसार दुष्यन्त ने न तो सेना ही भेजी तथा न उसके विषय में कोई पूछताछ ही की । कालान्तर में शकुन्तला को आश्रम में पुत्र उत्पन्न हुआ । इस बालक के जातकर्मादि संस्कार कण्व ने किये । वह ६ वर्ष का भी न हो पाया था कि वह व्याघ्र, सिंह आदि क्रूर पशुओं को पकड़ कर ले आता और उनके साथ खेला करता था । उसके इस पराक्रम को देखकर आश्रम के लोगों ने उसका नाम "सर्वदमन" रखा । बल एवं पराक्रमशील होने से वह युवराज होने योग्य हो गया है, यह देखकर कण्व ने शकुन्तला एवं सर्वदमन को हस्तिनापुर भेजने के लिये शिष्यों को आज्ञा दी । राजसभा में पहुँचने पर शकुन्तला ने विगत प्रसंग का स्मरण राजा को दिलाया तथा पुत्र को स्वीकार करने हेतु विनती की । राजा ने उत्तर दिया "तुम्हारे साथ विवाह करने का मुझे कोई स्मरण नहीं है । यह पुत्र मेरा नहीं है । तुम्हारा जहाँ जी चाहे, जाओ" । यह सुनकर शकुन्तला को महान् दुःख हुआ और वह बोली—"राजन् ! किसी क्षुद्र पुरुष की भाँति आप असत्य क्यों बोलते हो । मैं जो बात कहती हूँ वह सत्य है अथवा असत्य, यह आपके मन को ज्ञात है । 'पाप करते समय मुझे कोई नहीं देखता है' ऐसा मनुष्य सोचा करता है किन्तु ईश्वर तथा पाप करने वाले की अन्तरात्मा यह सब उसे देखते हैं । भार्या को अर्धांगिनी कहा गया है । उसमें पुत्र रूप से उसके पति का पुनः जन्म होता है । पुत्र की अपेक्षा अधिक आनन्द देने वाली ऐसी कौन सी वस्तु जगत् में है ?" इत्यादि कहकर उसका मन अपनी ओर आकर्षित करने का यत्न उसने किया । किन्तु राजा ने एक न सुनी । "आपने इसको स्वीकार नहीं किया, तो भी यह मेरा पुत्र सम्पूर्ण पृथ्वी को पदाक्रान्त करेगा" ऐसा कहकर वह पुत्र सहित जाने लगी । उसी समय आकाशवाणी हुई । "दुष्यन्त ! यह तेरा ही पुत्र है तथा शकुन्तला तेरी भार्या है । इनको स्वीकार कर" । यह सुनकर राजा पुरोहित एवं अमात्यादि से बोला—"सुनो, यह देवदूत की वाणी है । यदि मैंने इस लड़के को पहिले स्वीकार कर लिया होता तो यह जन्म से शुद्ध है या नहीं, इसका तुमको सशय रहता ।" इसके पश्चात् वह शकुन्तला से बोला—"यदि मैंने ऐसा न किया होता तो लोग कहने लगते कि 'कामुकता के वशीभूत होकर मैंने तुमको स्वीकार किया है' । क्रोध के कारण तुमने जो अपशब्द मुझसे कहे

उसके लिये मैं तुमको क्षमा करता हूँ ।" इसके पश्चात् राजा ने शकुन्तला को अपनी पटरानी बनाया तथा सर्वदमन का "भरत" नाम रखकर उसे युवराज पद प्रदान किया ।

महाभारत में राजा के द्वारा शकुन्तला के पाणिग्रहण तक की कथा जिस प्रकार वर्णित है उसी प्रकार पद्मपुराण[1] में भी वर्णित है । केवल दो अन्तर उपलब्ध होते हैं । प्रथम तो यह कि महाभारत के अनुसार शकुन्तला ने अपनी उत्पत्ति की कथा राजा को स्वयं बतलाई । पद्मपुराण के अनुसार उसने वह कथा अपनी सखी प्रियंवदा के द्वारा कहलवाई । दूसरी बात यह कि महाभारत के अनुसार जाते समय राजा ने शकुन्तला को कोई प्रत्यभिज्ञान नहीं दिया । पद्मपुराण के अनुसार उसने जाते समय शकुन्तला को अपनी अँगूठी दी । इस घटना के आगे की सम्पूर्ण कथा प्रायः अभिज्ञान शाकुन्तल की कथा के समान है । केवल दो बातों में थोड़ा सा अन्तर है । प्रथम तो यह कि पद्मपुराण के अनुसार शकुन्तला सात मास का गर्भ होने तक तपोवन में ही रही, जब कि नाटक के अनुसार कण्व को दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम-सम्बन्ध का पता लगते ही उन्होंने उसे उसी दिन राजा के घर विदा किया । दूसरी बात यह है कि पद्मपुराण के अनुसार शकुन्तला जब राजा दुष्यन्त के समीप हस्तिनापुर जाने लगी तो उसके साथ शार्ङ्गरव, शारद्वत और गौतमी के साथ प्रियंवदा भी गई । मार्ग में सरस्वती के जल में स्नान करते समय शकुन्तला ने मुद्रिका (अँगूठी) प्रियंवदा को पकड़ा दी । वह उसके हाथ से जल में गिर गई । प्रियंवदा ने भय के कारण यह बात शकुन्तला से नहीं कही । शकुन्तला भी उसे पूछना भूल गई । राजदरबार में राजा को विश्वास दिलाने के लिये आवश्यकता पड़ने पर उसने प्रियंवदा से माँगी । उस पर प्रियंवदा ने धीरे से उसके कान में कहा कि वह नदी में गिर गई । यह सुनकर शकुन्तला अचेत हो गई । इन दो बातों के अतिरिक्त पद्मपुराण का सम्पूर्ण घटनाचक्र "अभिज्ञानशाकुन्तल" के समान ही है । दुष्यन्त का मृग को मारना, वैखानस द्वारा उसका निवारण, आश्रम में प्रवेश करने पर शकुन्तला तथा सखियों का वृक्षों को पानी देते हुए देखना, उसके पूछने पर सखी द्वारा शकुन्तला के जन्म-वृत्तान्त का वर्णन, दुष्यन्त के चले जाने के बाद दुर्वासा का आना, हस्तिनापुर के मार्ग में एक तीर्थ में

१—पद्मपुराण—स्वर्गखण्ड, अध्याय १।५ तक ।

में मुद्रिका का पतन और अदृश्य होना, दुष्यन्त का स्मृतिभ्रंश, शकुन्तला का प्रत्याख्यान, धीवर के द्वारा मुद्रिका-प्राप्ति और तदनन्तर राजा का पश्चात्ताप एवं शोक, अन्त में स्वर्ग से लौटते हुए मारीच के आश्रम में शकुन्तला तथा सर्वदमन से भेंट इत्यादि अनेक प्रसंग शाकुन्तल नाटक एवं पद्मपुराण में समान ही हैं तथा इन प्रसंगों का वर्णन भी बहुत अंश तक समान शब्दों में किया गया है। उपर्युक्त तीनों (महाभारत, पद्मपुराण एवं अभिज्ञानशाकुन्तल के) कथानकों में अत्यधिक साम्य को ध्यान में रखते हुए पद्मपुराण के कथानक के सम्बन्ध में वासुदेव विष्णु मिराशी ने अपनी पुस्तक "कालिदास" में अपने विचार निम्न प्रकार से प्रकट किये हैं[1]:—

"इस समानता का विचार करने से व्यास और कालिदास ने पद्मपुराण की कथा और कल्पना लेकर अपने ग्रन्थ रचे अथवा पद्मपुराणकर्त्ता ने "शाकुन्तल" के कुछ प्रसंग और महाभारत से कुछ भाषण लेकर और कुछ अपनी कल्पना मिलाकर अपनी कहानी को सजाया, ये दो पक्ष संभव हैं। इसमें दूसरा पक्ष हमें अधिक सम्भव ज्ञात होता है। "हरिवंश" में और "भागवत" आदि दूसरे पुराणों में महाभारत की कथा के सदृश शकुन्तला की कथा दी गई है। यदि पद्मपुराण की कथा पुरानी होती तो वह भी उन पुराणों में आई होती। अन्य पुराणों की कहानी में बहुधा शारद्वत, शार्ङ्गरव, गौतमी, प्रियंवदा सदृश पात्रों का निर्देश नहीं मिलता है। पद्मपुराण के शकुन्तलोपाख्यान में यह पात्र मिलते हैं। इसका कारण, लेखक ने यह कथानक कालिदास के "अ० शाकुन्तल" नाटक से संक्षेप रूप में लिया है, यही सम्भव मालूम होता है।"

श्रीयुत् मिराशी के उपर्युक्त विचारों के अनुसार पद्मपुराणकार ने "शाकुन्तल" के प्रसंग तथा "महाभारत" के ओजस्वी भाषण लेकर अपने "शाकुन्तलोपाख्यान" की रचना की होगी, ऐसा प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि "पद्मपुराण" की रचना पहिले ही हुई हो तथा "शाकुन्तलोपाख्यान" उसमें कालिदास के "अभिज्ञानशाकुन्तल" नाटक की रचना के पश्चात् जोड़ दिया गया हो।

१—वासुदेव विष्णु मिराशी : कालिदास : पृष्ठ २०३-२०४।

जो कुछ भी हो, इस बात को स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति प्रतीत नहीं होती कि "अभिज्ञानशाकुन्तल" की कथावस्तु का मूल आधार "महाभारत" के आदिपर्व में वर्णित दुष्यन्त और शकुन्तला की कहानी ही है। इस मूलकथा को कालिदास ने अपनी अद्भुत कल्पनाशक्ति के द्वारा अनुपम नाटकीय रूप दे दिया है। ऐसा करने में उनको यत्र-तत्र कुछ परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी करने पड़े हैं।

महाकवि द्वारा मूलकथा में परिवर्तन एवं परिवर्द्धन तथा उसका प्रयोजन

मूलकथा के प्रारम्भ में आया है कि राजा दुष्यन्त शिकार खेलते हुए अपनी सेना के साथ कण्व ऋषि के आश्रम के पास पहुँचा। वह अपनी सेना को बाहर खड़ाकर अकेले सीधे आश्रम में गया। महाकवि ने यहां थोड़ा सा परिवर्त्तन कर इस कथांश को अधिक रोचक बना दिया है। उन्होंने अ० शा० में दिखलाया है कि शिकार खेलते समय राजा की सेना पीछे ही छूट गई। राजा केवल सूत के साथ घूमता हुआ आश्रम पहुँचा। उसने सहसा आश्रम में प्रवेश नहीं किया। उसने ऐसे समय पर प्रवेश किया है कि जब तपस्वि-कन्याओं में उससे सहायता पाने की चर्चा चल रही थी। इस घटना में स्वाभाविकता एवं सरसता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। पीछे छूट गई हुई सेना का भी उन्होंने सुन्दर उपयोग किया है—राजा को न पाकर उसे खोजती हुई सेना आश्रम में आई। वहां उसने कोलाहल एवं उपद्रव प्रारम्भ किया। उस समय राजा शकुन्तला आदि से वार्त्तालाप करने में संलग्न था। सेना द्वारा किये गये उत्पात का समाचार ज्ञातकर वह उठ खड़ा हुआ तथा व्यवस्था करने के लिये विदा लेकर बाहर गया। इस प्रकार कवि ने प्रथम मिलन एवं प्रथम अंक अत्यन्त सौन्दर्य के साथ समाप्त किया है।

मूल कथा के अनुसार जब राजा आश्रम में पहुँचा, उस समय कण्व ऋषि फल लाने के लिये वन की ओर गये थे। अतः उनकी धर्म-कन्या शकुन्तला ने राजा का स्वागत किया। राजा द्वारा पूछे जाने पर उसने विश्वामित्र से अपनी उत्पत्ति का सम्पूर्ण वृत्तान्त उसको स्वयं कह सुनाया। राजा द्वारा विवाह का प्रस्ताव उपस्थित करने पर उसने राजा से कण्व ऋषि के वापिस आने तक रुकने

को कहा । परन्तु राजा के शीघ्रता करने पर उसने इस शर्त्त पर विवाह करना स्वीकार कर लिया कि राजा के बाद उसका पुत्र राजा होगा[1] ।

मुग्धा तपस्विकन्या का एक अपरिचित पुरुष के साथ इस प्रकार स्पष्ट रूप से वार्त्तालाप करना अस्वाभाविक प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त किसी शर्त्त पर किया हुआ विवाह एक नीरस घटना होती है । वह एक पक्ष की दृष्टि से मानव की उच्छृंखल कामवासना की तृप्ति के लिये किया हुआ अविचार-पूर्ण कार्य तथा दूसरे पक्ष की दृष्टि से व्यापार प्रतीत होता है । अतः कालिदास ने इस घटना में आवश्यक परिवर्त्तन कर उसे पूर्ण स्वाभाविक एवं रोचक बना दिया है । उन्होंने अपने जन्म की कथा स्वयं शकुन्तला से न कहलवाकर उसकी दो सखियों—प्रियंवदा और अनसूया—के द्वारा कहलवायी है जिससे शकुन्तला के शील एवं मुग्धात्व की रक्षा की गई है । इसके अतिरिक्त महाभारत में वर्णित उपर्युक्त कथांश से सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यापारों में घंटे अथवा दो घंटे का समय लगा हो, यह भी असम्भव सा प्रतीत होता है क्योंकि कण्व को वन से फल लाने में इससे अधिक समय लगने की सम्भावना भी नहीं की जा सकती है । अतः इस कथानक को सम्भव बनाने तथा औचित्य की दृष्टि से महाकवि ने कण्व को शकुन्तला के प्रतिकूल भाग्य की तथा भावी अनिष्ट की शान्ति के लिये दूर सोमतीर्थ में भेजा है । जाने एवं लौटकर आने में उनको सहज ही चार छः मास लगे होंगे । इस अवधि में यज्ञ की रक्षा के निमित्त आश्रमवासियों की प्रार्थना के कारण दुष्यन्त आश्रम में रहे । इस काल में दोनों का प्रेम निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहा, साथ ही उसका एवं शकुन्तला का मदन-सन्ताप क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता गया और वह अत्यन्त असह्य हो गया । उस समय उसने गान्धर्व विवाह किया । इस परिवर्त्तन में कोई किसी भी भाँति की अस्वाभाविकता की प्रतीति नहीं होती है । इसकी अपेक्षा महाकवि की दो प्रेमियों की अन्तःप्रकृति सम्बन्धी भाव की अनुभूति तथा दो प्रेमियों के प्रति प्रेम की

१—मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरम् ।
युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। महाभारत—आदिपर्व : ७३।१६ का उत्तरार्ध तथा १७ का पूर्वार्ध ।

हार्दिक सहानुभूति का भी स्पष्ट संकेत मिलता है[1]। कण्व को दीर्घ काल तक आश्रम से बाहर रखकर कवि ने अनेक घटनाओं की स्वाभाविक पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। तपस्वियों का राजा दुष्यन्त से आश्रम के रक्षार्थ ठहरने की प्रार्थना करना, फलत: नायक-नायिका के प्रणय की उद्भूति, विकास और परिणति तथा दुर्वासा का शाप——ये घटनायें कण्व की दीर्घकालीन अनुपस्थिति में ही सम्भव थीं। दुर्वासा के शाप के शमन में भी कण्व द्वारा सोमतीर्थ में किये गये उपचार भी कारणभूत थे। इस प्रकार कण्व के सोमतीर्थ-गमन की नूतन कल्पना पर कालिदास ने अनेक नाटकीय घटनाओं को आश्रित कर दिया है।

"महाभारत" में शकुन्तला के गर्भ से आश्रम में ही पुत्र उत्पन्न होता है। जब वह बालक ६ वर्ष का हो जाता है तब शकुन्तला पति-गृह को जाती है। इतने वर्षों के पश्चात् कण्व का यह सोचना, कि "विवाहित लड़की को बहुत समय तक पिता के घर न रहना चाहिये" एकदम अस्वाभाविक एवं हास्यास्पद प्रतीत होता है। अत: कालिदास ने प्रसव के पूर्व ही शकुन्तला को पति-गृह भेजकर भारतीय मर्यादा का पालन किया है तथा इस परिवर्त्तन से कथा में स्वाभाविकता भी आ गयी है।

मूल कथा के अनुसार शकुन्तला पुत्र सहित राजमहल को गई। राजा ने सम्पूर्ण वृत्तान्त स्मरण रहते हुए भी लोकापवाद के भय से उसे स्वीकार करने से मना कर दिया। फिर जब वह निराश होकर जाने लगी तब आकाशवाणी हुई। देववाणी द्वारा शकुन्तला की बात का समर्थन किया गया। तदनन्तर राजा ने पुरोहित एवं अमात्य आदि की सम्मति से शकुन्तला एवं उसके पुत्र को स्वीकार किया। इस घटना से राजा अत्यन्त कुटिल, क्रूर, भीरु तथा निर्बल हृदय का प्रतीत होता है। यदि आकाश-वाणी न हुई होती तो अपनी निरपराध पत्नी तथा पुत्र का त्याग करने में उसे तनिक भी संकोच न होता। ऐसे निकृष्ट कोटि के नायक को पराक्रमी, प्रेमी, पापभीरु और कर्तव्यपरायण पुरुष के रूप में परिवर्तित करने के कार्य में महाकवि को दुर्वासा के शाप की कल्पना करनी पड़ी। इस शाप के ही कारण राजा गर्भिणी शकुन्तला को पहिचानने में असमर्थ रहा। इस प्रकार राजा द्वारा शकुन्तला को स्वीकार न किये जाने

१—Ruben : Kalidas, the human meaning of his works (1957) Page 54, Lines 35-46

पर एक अदृश्य मूर्ति आकर अचानक शकुन्तला को उठाकर ले गई। मारीच के आश्रम में हेमकूट पर्वत पर उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। इधर धीवर द्वारा अँगूठी प्राप्त होने पर राजा को सम्पूर्ण वृत्तान्त स्मरण हो आया। वह अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करने लगा। उसका चित्त पुनः शकुन्तला की ओर आकृष्ट हुआ। राजा दानवों को मार कर लौटते समय मारीच के आश्रम गया। वहाँ उसने पहिले अपने पुत्र को देखा और तदनन्तर उसका शकुन्तला से मिलन हुआ।

"शाकुन्तल" की कथावस्तु में दो बातें एकदम कवि-कल्पना-प्रसूत ही दृष्टिगोचर होती हैं: (१) दुर्वासा ऋषि का शाप तथा (२) उसकी निवृत्ति होने के लिए आवश्यक मुद्रिका (अँगूठी) की कल्पना। इनमें से दुर्वासा ऋषि के शाप का दो प्रकार से उपयोग किया गया है–(१) महाभारत का नायक दुष्यन्त विषयासक्त, भीरु एवं स्वार्थी दृष्टिगोचर होता है। ऐसे निम्न कोटि के नायक को अत्यन्त परिष्कृत रुचि-सम्पन्न तथा कर्तव्य-परायण "धीरोदात्त" नायक के रूप में चित्रित करने में दुर्वासा का शाप ही मुख्य साधन बना है। यद्यपि इस शाप से कुछ काल तक नायक एवं नायिका को कष्ट तो अवश्य सहन करना पड़ा है किन्तु अन्त में उनके स्वभाव की उदारता प्रकट करके उसने उनका उपकार ही किया है। साथ ही इस शाप के वर्णन से कथानक को वैचित्र्यपूर्ण तथा रम्य प्रसंगों से चित्ताकर्षक भी बनाया है।

इसके अतिरिक्त इस शाप के प्रसंग की रचना में महाकवि का एक दूसरा भी उद्देश्य था। केवल बाह्य रूप से उत्पन्न हुआ प्रेम विलासपूर्ण तथा सामान्य कोटि का होता है। संघर्षों एवं कष्टों की भट्ठी में तपकर जब यह प्रेम निःसृत होता है तब उसकी स्वार्थता नष्ट हो जाती है और वह स्वयं कर्त्तव्य के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार के निरपेक्ष एवं उदात्त प्रेम के आदर्श से समाज का भी अभ्युदय हुआ करता है। अतः लोक-कल्याण की भावना को ध्यान में रखते हुए कालिदास ने "अभिज्ञानशाकुन्तल" में इस प्रकार के उदात्त प्रेम का चित्रण किया है।

शाप के पश्चात् शाप-विमोचन होना भी आवश्यक होता है। शाप के ही कारण दुष्यन्त को शकुन्तला की विस्मृति हो गई थी, अतः शापविमोचनार्थ किसी ऐसे साधन की आवश्यकता थी कि जिसके द्वारा दुष्यन्त को शकुन्तला

का स्मरण हो आये। एतदर्थ कवि ने "मुद्रिका" जैसे साधन की कल्पना की। शाप के निवारणार्थ शकुन्तला की सखियों द्वारा अनेक बार अनुनय-विनय किये जाने पर दुर्वासा ऋषि ने कहा--"जो अभिज्ञान राजा ने शकुन्तला को प्रदान किया है उसे देखते ही दुष्यन्त शकुन्तला को पहिचान लेगा (आभरणाभिज्ञानदर्शनेन अस्या शापो निर्वतिष्यति[1])। इस प्रकार शाप की निवृत्ति हो जायगी"। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि महाकवि ने शाप के साथ ही उसके निवारणार्थ मुद्रिका जैसे साधन की भी कल्पना की। "मालविकाग्निमित्र" में भी कवि ने मुद्रिका का उपयोग साधन के रूप में ही किया है। अतः इस प्रकार का साधन उनके मस्तिष्क में पहिले से ही रहा होगा।

इस प्रकार "महाभारत" में वर्णित "दुष्यन्त" एवं "शकुन्तला" की मूल कथा को कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं नवीन कल्पनाओं से संयुक्त कर नाटकीय कथावस्तु के योग्य बनाया गया है।

मूलकथा का प्रकार—मूल-कथा के तीन विभागों में से, परीक्षा करने पर अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा को "प्रख्यात" ही कहा जायगा क्योंकि इसका कथानक प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ "महाभारत" से लिया गया है। अतः इतिहास-प्रसिद्ध होने के कारण यह "प्रख्यात" ही है।

अर्थ-प्रकृतियाँ—(१) अ० शा० के प्रथम अंक में वैखानस द्वारा राजा को आश्रम में जाने के निमित्त प्रेरणा प्राप्त होना और तदनुसार[2] राजा का वहाँ जाने के लिये अपनी स्वीकृति प्रदान करना--ये दोनों बातें मिलकर "बीज" नामक अर्थप्रकृति है। यदि वैखानस आश्रम में जाने के लिये राजा को उत्साहित न करता तो सम्भव था कि राजा आश्रम में न जाकर अपने शिविर की ओर ही लौट जाता। ऐसी दशा में कथा आगे बढ़ ही न सकती थी। यह भी संभव था कि वैखानस द्वारा कहे जाने पर भी महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में वह वहाँ जाना स्वीकार न करता। अतः उसकी वहाँ जाने की स्वीकृति

१—अभिज्ञानशाकुन्तल—चतुर्थ अंक का प्रारम्भ, पृष्ठ २४३।

२—अभिज्ञानशाकुन्तल—प्रथम अंक, पृष्ठ २२-२४— "एष चास्मद्गुरोः कण्वस्य" इत्यादि वैखानस की उक्ति से लेकर "सा खलु विदितभक्तिर्मां महर्षये निवेदयिष्यति" तक।

पर्यन्त ही वीज मानना आवश्यक है। इसी वीज ने अनेक प्रकार से कथानक को विकसित किया है।

(२) द्वितीय अंक के प्रारम्भ में आखेट सम्बन्धी वृत्तान्त से कथा विच्छिन्न हो जाती है तथा "सखे माधव्य ! अनाप्तचक्षुफलोऽसि" से लेकर "सर्वः खलु कान्तमात्मानं पश्यति। अहन्तु तामेवाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि[1]" तक के राजा के कथन से मुख्य कथानक पुनः प्रारम्भ होता है। अतः राजा का उपर्युक्त कथन ही कथावस्तु का "विन्दु" है।

(३) चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में दुर्वासा ऋषि का आगमन होता है। शकुन्तला द्वारा उचित आतिथ्य प्राप्त न होने पर वे उसे शाप दे देते हैं। शकुन्तला की सखियों द्वारा अनुनय-विनय करने पर वे उस शाप के निवारण का उपाय भी सखियों को बतला देते हैं कि "दुष्यन्त द्वारा प्रदत्त मुद्रिका को देखने पर राजा उसे पहिचान लेगा। इस प्रकार शाप की निवृत्ति हो जायगी"। अतः यह मुद्रिका वाला वृत्तान्त ही "पताका" कहा जा सकता है। चतुर्थ अंक के अन्त में प्रियंवदा ने शकुन्तला से कहा है कि "यदि संयोगवश महाराज तुम्हें न पहिचान सकें तो तुम यह मुद्रिका उन्हें दिखला देना"। तदनन्तर मुद्रिका शचीतीर्थ में गिर जाती है। राजा के समक्ष पहुँचने पर उसका स्मरण शकुन्तला को आता है किन्तु वह उसकी उँगली में नहीं मिलती है। षष्ठ अंक में धीवर द्वारा वह मुद्रिका प्राप्त होती है। तदनन्तर राजा को अपना विगत आश्रमवाला वृत्तान्त स्मरण हो जाता है। मुद्रिका का उपर्युक्त कथानक ही कथावस्तु में विशेष रूप से सहायक है। अतः यह "पताका" नामक अर्थप्रकृति है।

(४) छठे अंक के अन्त में देवराज इन्द्र के सारथि मातलि का आगमन होता है। वह राजा को दानवों से युद्ध करने के निमित्त अपने साथ ले जाता है। तदनन्तर सप्तम अंक में दानवों का दमन करने के पश्चात् राजा लौटता है। मार्ग में महर्षि मारीच का आश्रम मिलता है। मातलि विमान रोक देता है। आश्रम में विचरण करते समय राजा की अपने पुत्र एवं शकुन्तला से भेंट हो जाती है। महर्षि मारीच के आशीर्वाद से नायक एवं नायिका का स्थायी मिलन हो जाता है। इस प्रकार यह लघु वृत्तान्त मुख्य कार्य की सिद्धि में सहायक हुआ

१—अभिज्ञानशाकुन्तल, पृष्ठ १७४-१७५।

है। नायक के फलप्राप्ति कार्य में सहायक मातलि का यह छोटा सा वृत्तान्त "प्रकरी" की श्रेणी में आता है।

(५) **पाँच अवस्थायें**—अ० शा० नाटक के अन्त में राजा दुष्यन्त एवं शकुन्तला का स्थायी मिलन हो जाता है। यही नाटक का "कार्य" है।

कथावस्तु में फलार्थियों द्वारा प्रारम्भ किये हुए कार्य की पाँच अवस्थायें हुआ करती हैं। अतः शाकुन्तल की कथावस्तु में इन अवस्थाओं का विवेचन करना भी आवश्यक है :—

(१) अ० शा० के प्रथम अंक में "असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः"[१] इत्यादि के द्वारा राजा के अन्दर शकुन्तला की प्राप्ति की अभिलाषा अभिव्यक्त की गई है। इसी प्रकार इस अंक में आगे चलकर "कथमिमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता[२]" शकुन्तला की इस उक्ति से राजा के प्रति उसका औत्सुक्य प्रकट कराया गया है। यह दोनों का परस्पर एक दूसरे के प्रति अंकुरित होने वाला प्रेम इस अंक के अन्त तक क्रमशः अधिकाधिक प्रकट होता चला गया है। अतः उपर्युक्त स्थल से अंक के अन्त तक के भाग को "आरम्भ" अवस्था कह सकते हैं।

(२) द्वितीय एवं तृतीय अंकों में दोनों पक्षों में एक दूसरे की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया गया है। अतः यह अंश "प्रयत्न" नामक अवस्था है।

(३) तदनन्तर चतुर्थ अंक में दुर्वासा का क्रोध विघ्नरूप में उपस्थित होता है किन्तु वहीं पर यह भी पता लग जाता है कि उनका क्रोध शान्त हो गया है। अतः सामाजिक को यह अनुभव होने लगता है कि अब नायक को नायिका प्राप्त हो जायगी। यहाँ "प्राप्त्याशा" नामक अवस्था है।

(४) षष्ठ अंक में मुद्रिका के मिल जाने पर शकुन्तला-प्राप्ति निश्चित हो जाती है। यह प्राप्ति आगामी अंक में होती है। अतः यहाँ "नियताप्ति" नामक अवस्था है।

(५) सप्तम अंक में नायक एवं नायिका का स्थायी मिलन हो जाता है। इस प्रकार नायक को फल की प्राप्ति हो जाती है। यही "फलागम" नामक अवस्था है।

१—अ० शा० १।२३ २—अ० शा० पृष्ठ ५३।

पंच सन्धियाँ--प्रकृतियों एवं अवस्थाओं के मिश्रण से सन्धियाँ उत्पन्न होती हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में इनका विवरण निम्न प्रकार है :—

(१) "शाकुन्तल" में प्रथम अंक से लेकर द्वितीय अंक के उस स्थल तक कि जब सेनापति चला जाता है तथा दुष्यन्त कहता है :—

"विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः" तक मुखसन्धि है।

(२) तदनन्तर तृतीय अंक के अन्त तक प्रतिमुखसन्धि है।

(३) चतुर्थ अंक के आरम्भ से लेकर पंचम अंक के उस स्थल तक जहाँ पर गौतमी शकुन्तला का अवगुण्ठन दूर करती है तथा दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला के प्रत्याख्यान तक गर्भसन्धि है।

(४) पंचम अंक के अवशिष्ट अंश तथा सम्पूर्ण षष्ठ अंक में विमर्शसंधि है।

(५) सप्तम अंक में प्रारम्भ से अन्त तक निर्वहण-सन्धि है।

कथा का स्थान

अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा को मूल रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) अस्थायी मिलन (२) वियोग और (३) स्थायी मिलन। प्रथम ४ अङ्कों की कथा में अस्थायी मिलन तथा हस्तिनापुर जाने के निमित्त की गयी तैयारी का वर्णन प्राप्त होता है। पंचम एवं षष्ठ अङ्कों में वियोग सम्बन्धी घटनाओं का विस्तृत वर्णन है। सप्तम अङ्क में स्थायी मिलन होता है। उपर्युक्त विभाजन के आधार पर अस्थायी मिलन अथवा प्रथम चार अङ्कों की घटनाओं का स्थान ऋषि कण्व का तपोवन ही है। वियोग सम्बन्धी घटनाओं का स्थान हस्तिनापुर में विद्यमान राज-महल है। स्थायी गिलन हेमकूट पर्वत पर स्थित मारीच-ऋषि के आश्रम में हुआ है अतः उसका स्थान मारीच ऋषि का आश्रम है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि महाकवि ने तपोवनों अथवा ऋषि-आश्रमों को सब प्रकार के सुख और शान्ति का स्थान माना है और नगरों को सब प्रकार के कष्टों तथा सन्तापों का स्थान स्वीकार किया है। वस्तुतः नागरिक-जीवन अनेक [illegible] साधनों से सम्पन्न हुआ करता है अतः इस जीवन में नाना प्रकार की असुविधाओं एवं कष्टों आदि की

अनुभूति का होना स्वाभाविक है। ऋषि-आश्रम वास्तविकता एवं शान्त वातावरण से युक्त होने के कारण शान्तिप्रदाता होते ही हैं।

कथा का समय और अवधि

विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि अभिज्ञान-शाकुन्तल की सम्पूर्ण कथा में लगभग ६ वर्ष का समय लगा होगा।

प्रथम अङ्क की घटनाओं का प्रारम्भ ग्रीष्म ऋतु से होता है। ग्रीष्म ऋतु का प्रारम्भ शीघ्र ही हुआ था (अचिरप्रवृत्तं.....ग्रीष्मसमयमधिकृत्य... इत्यादि)। दोनों तपस्वी समिधायें लेने जा रहे हैं (समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्....पृ० २६) और शकुन्तला तथा उसकी सखियाँ वृक्षों में जल दे रही हैं (बालपादपेभ्यः पयो दातुम्...पृ० ३८)। अतः राजा दुष्यन्त के आश्रम में पहुँचने का समय प्रातः ९ बजे के लगभग ही रहा होगा। जब उसकी भेंट शकुन्तला आदि से हुई है, उस समय धूप तेज हो गई थी। अतः लगभग १० बजे का समय हो गया होगा (अस्यां प्रच्छायशीतलायाम्...पृ० ६०)। राजा तथा तापसकन्याओं के वार्त्तालाप में भी कम से कम आधा घंटा लगा ही होगा। इसी बीच हाथी का विघ्न भी उपस्थित होता है, अतः यह घटना १०½ तथा ११ बजे के बीच घटित हुई होगी। उस समय तक वस्त्र पूर्ण रूप से सूख नहीं पाये थे (जलार्द्रवल्कलेषु...१।३२)। इस प्रकार राजा का वहां से चले जाने का समय ११ बजे के लगभग निश्चित होता है। उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह समय ज्येष्ठ मास अर्थात् मई-जून का मास रहा होगा।

द्वितीय अङ्क की घटना का प्रारम्भ दूसरे दिन प्रातःकाल से होता है (ह्यः किलास्मासु...पृ० ८८)। ग्रीष्म ऋतु का पुनः वर्णन है (ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु....पृ० ८५)। विदूषक द्वारा प्रथम दिन की मृगया की निन्दा किया जाना और 'प्रातःकाल ही दुष्ट व्याधों ने अपने कोलाहल से मुझे जगा दिया' यह कहा जाना इस बात का समर्थन करता है कि उस समय प्रातःकाल के ६ या ७ बजे होंगे। राजा तथा विदूषक के वार्त्तालाप के समय धूप में कुछ तेजी आ गई थी (साम्प्रतम्...पृ० १०६) अतः यह समय ७ और ८ के मध्य रहा होगा। इसी समय दो तपस्वी राक्षसों से यज्ञ की रक्षा

करने के निमित्त राजा से प्रार्थना करने आते हैं और राजा के प्रवेश करते ही विघ्न नष्ट हो जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि राजा ने उस दिन यज्ञ के समय से पूर्व ही तपोवन में प्रवेश किया होगा। इस भाँति द्वितीय अङ्क की घटनाओं में अधिक से अधिक एक दिन का ही समय लग सकता है।

तृतीय अङ्क की घटनाओं का प्रारम्भ द्वितीय अङ्क की घटनाओं की समाप्ति के पश्चात् लगभग १५ दिन बाद हुआ होगा क्योंकि इस बीच वियोग के दुःख के कारण राजा तथा शकुन्तला दोनों ही अति कृश हो गये हैं (अनुदिवसं परिहीयसे अङ्गैः...पृ० १४५; निशि निशि भुज...पृ० १५३; प्रजागरकृशो लक्ष्यते पृ० १५३)। अतः अङ्क २ तथा ३ के बीच १५ दिन का समय लगना उचित ही है। ग्रीष्म ऋतु ही है। (आतपलङ्घनाद्......पृ० १३२; आतपदोषः स्यात्.... पृ० १४२; न तु ग्रीष्मस्यै...इत्यादि ३।६॥)। इस अङ्क की घटना का आरम्भ तृतीय प्रहर से होता है (आतपलङ्घनाद्....पृ० १३२; अनिर्वाणो दिवसः पृ० १७२; कथमातपे गमिष्यसि....३।१९॥)। गौतमी सायंकाल के समय पहुँचती है, रात्रि आरम्भ होने वाली है (परिणतो दिवसः पृ० १७७; उपस्थिता रजनी पृ० १७६; सायन्तने सवनकर्मणि....३।२४॥)। अतः इस अङ्क की घटनायें तृतीय प्रहर से प्रारम्भ होकर उसी दिन सायंकाल तक की हैं।

चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक की घटना का प्रारम्भ तृतीय अङ्क की घटनाओं की समाप्ति के लगभग १५ दिन बाद ही समझना चाहिये। राजा इष्टि (यज्ञ) समाप्त करके जाता है। इस इष्टि को ज्येष्ठ मास की दर्शपूर्णमासेष्टि समझना चाहिये। (अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्य....पृ० १८५)। इस आधार पर विष्कम्भक का प्रारम्भ आषाढ़ मास की प्रतिपदा को ही हुआ होगा। बीच के इस काल में राजा और शकुन्तला का गान्धर्व विवाह होता है और शकुन्तला गर्भिणी होती है। अङ्क का प्रारम्भ प्रातःकाल से हुआ है। शिष्य प्रातःकाल का वर्णन करता है (यात्येकतोऽस्तशिखरं....४।२॥)। सूर्योदय और चन्द्रास्त एक ही समय बदी १ को ही संभव है। इस अङ्क में तो एक ही दिन की घटना है। प्रातःकाल से ही शकुन्तला की विदाई की तैयारी होती है। मध्याह्न से पूर्व विदाई हो जाती है (युगान्तरमारूढः सविता पृ० २४९)। शकुन्तला के गर्भ-चिह्न प्रकट है (आपन्नसत्वा....पृ० १९२)। पतझड़ का

समय है (अपसृतपाण्डुपत्राः ४।१२।।)। ज्ञात होता है कि वर्षा बीत चुकी है। पतझड़ चल रहा है। अतः शिशिर का समय प्रतीत होता है। गान्धर्व-विवाह को हुए लगभग ६ मास व्यतीत हो चुके होंगे।

पंचम अङ्क की घटना डेढ़ दो दिन बाद की समझनी चाहिये। कण्व के आश्रम से हस्तिनापुर जाने में १½–२ दिन का समय लगा होगा। षष्ठ अङ्क में राजा ने विदूषक से कहा है कि उसने आते समय शकुन्तला से कहा था कि अँगूठी पर खुदे हुए मेरे नाम के अक्षरों को गिनो (नामाक्षरं गणय––६।१२।।)। जब तक तुम अन्तिम अक्षर पर पहुँचोगी तब तक मेरे व्यक्ति तुमको लेने के लिये आ जावेंगे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आश्रम से हस्तिनापुर जाकर वहां से पुनः लौटकर आश्रम आने में अधिक से अधिक तीन दिन का समय लगता होगा। इस अङ्क की घटना तृतीय प्रहर से प्रारम्भ होती है और लगभग दो घंटे के अन्दर समाप्त हो जाती है। राजा धर्मासन से उठकर भोजनोपरान्त विश्राम कर रहा था। अङ्क की समाप्ति पर वह विश्राम के लिये चला जाता है (शयनभूमिमार्गमादेशय––पृ० ३२८)।

षष्ठ अङ्क का प्रारम्भ प्रातःकाल से होता है। इसमें एक दिन की घटना है। सानुमती प्रातःकाल घाट पर ऋषियों के स्नान के समय ड्यूटी देने आई थी। शिशिर ऋतु बीत चुकी है। बसन्त का समय है। अँगूठी मिलने के लगभग १५ दिन पश्चात् की घटना है। अङ्क ५ तथा ६ में लगभग ५ अथवा ६ साल का अन्तर है। शकुन्तला के पुत्र हो चुका था (सति खलु दीपे...)। "अचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताऽभिनन्दिष्यति" सूचित करता है कि छठे और सातवें अङ्कों की घटनाओं में अधिक समय का अन्तर नहीं था। दोनों का मिलन शीघ्र ही होता है। मिलन के समय पुत्र लगभग ६ वर्ष का हो चुका होगा क्योंकि वह शेर के बच्चों के साथ खेलने योग्य हो गया था।

सप्तम अङ्क की घटना मध्याह्नोत्तर काल की है। अङ्क ६ तथा ७ में लगभग ७–८ दिन का अन्तर हो सकता है। इन्द्रलोक की यात्रा, राक्षसों के साथ युद्ध, इन्द्र द्वारा राजा का स्वागत तथा विदाई में ७–८ दिन का समय लगना उचित ही प्रतीत होता है। इस अङ्क की घटना का प्रारम्भ लगभग

१ बजे मध्याह्न में हुआ होगा। क्योंकि जिस समय राजा मारीच-ऋषि के आश्रम में पहुँचता है उस समय मारीच ऋषि स्त्रियों को पातिव्रत्य धर्म का उपदेश दे रहे थे। ऐसे प्रवचन प्रायः भोजन के पश्चात् मध्याह्नोत्तर दो बजे के लगभग ही हुआ करते हैं। इस अङ्क की घटनाओं की समाप्ति लगभग ५ बजे सायं होती है।

इस भाँति अ० शा० में लगभग ६ वर्ष की अवधि में घटित सम्पूर्ण घटनाओं का समावेश हुआ है।

अभिज्ञान शाकुन्तल के मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण

महाकवि कालिदास चरित्र-चित्रण में अत्यन्त कुशल हैं। उनका चरित्र-चित्रण आदर्शोन्मुख होते हुए भी पूर्णतया सजीव तथा स्वाभाविक है। उसमें कृत्रिमता का तो दर्शनमात्र भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। उनके प्रत्येक पात्र में अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व है, अपनी कुछ प्रमुख विशेषतायें हैं। उनका विकास एक व्यवस्थित क्रम के साथ हुआ है। नाटक के नायक और नायिका महाकवि की अमर लेखनी का स्पर्श प्राप्त कर वस्तुतः अमर हो गये हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल के पात्र समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि है। इसलिये उनके द्वारा उनका सांस्कृतिक, सामाजिक तथा नैतिक चित्रण अति उत्तम रूप में हुआ है। इससे महाकवि का मानव-प्रकृति-सम्बन्धी सूक्ष्म निरीक्षण का ज्ञान प्राप्त होता है।

दुष्यन्त—

राजा दुष्यन्त अ० शा० नाटक का प्रधान नायक है। वह धीरोदात्त नायक है। भूमिका के प्रथम भाग में वर्णित धीरोदात्त नायक के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। वह पुरुवंशी क्षत्रिय राजा है। वह सुन्दर तथा गम्भीर आकृति वाला है। वह प्रभावशाली तथा मधुरभाषी है "चतुरगम्भीराकृतिमधुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते"। वह बलिष्ठ तथा पराक्रमी है (२।४ तथा ३।१)। ऐसा होते हुए भी वह विनय से सम्पन्न है। उसकी पराक्रमशीलता एवं शूरवीरता से इन्द्र भी प्रभावित हैं और अपनी सहायता के लिये उसे बुलाते हैं। दानवों के वधार्थ राजा को स्वर्ग में जाना पड़ता है। वह मृगया-प्रेमी भी है (१।६)।

वह मधुरभाषी है । प्रियंवदा द्वारा उसके मधुर भाषण की प्रशंसा की गई है । जिस प्रकार का मनोहर उसका बाह्य रूप है, उसी प्रकार का वह हृदय से भी है । उसका स्वभाव अत्यन्त स्निग्ध, ललित एवं सुसंस्कृत है । शकुन्तला के साथ हुआ प्रणय-संभाषण इस बात का द्योतक है । 'आश्रमललामभूता' शकुन्तला के अपूर्व रूप-लावण्य का अवलोकन कर उसकी ओर आकर्षित हो जाना स्वाभाविक ही था; किन्तु एक भद्र पुरुष की तरह उसने यह पता लगा लेना अत्यन्त आवश्यक समझा कि उसका विवाह हो चुका है या नहीं, उसके साथ प्रेम करना धर्मानुकूल है अथवा नहीं (१ । २२ तथा १।२७) । यह ज्ञात हो जाने पर ही वह शकुन्तला के प्रति अनुरक्त होता है (१।२८) । वह बहुपत्नीक भी है । किन्तु ऐसा होने पर भी शकुन्तला के प्रति उसका स्नेह वास्तविक तथा छल आदि से रहित है (३।१६–१८) ।

वह ललित-कलाओं का अच्छा ज्ञाता है । रानी हंसपदिका के संगीत का श्रवणकर उसके द्वारा "अहो रागपरिवाहिनी गीतिः" यह कहा जाना उसके संगीत-कलाभिज्ञ होने का परिचायक है । प्रकृति-निरीक्षण की शक्ति भी उसके अन्दर विद्यमान है (७।८) । वह एक कुशल चित्रकार भी है (६।१७-१८) ।

इतना सब कुछ होने पर भी उसमें मानवोचित दुर्बलतायें भी हैं । मृगया के लिये भ्रमण करते हुए आश्रम में प्रविष्ट होने के पश्चात् शकुन्तला को देखकर यथासंभव उसका पतन ही हुआ है । लुक-छिपकर युवती कन्याओं की विनोदसम्पन्न क्रीडाओं का देखना, भेंट होने पर अपना मिथ्या परिचय देना, शकुन्तला को देखते ही उसे उपभोग-योग्य स्त्री समझ लेना, माता द्वारा बुलाये जाने के सन्देश को प्राप्त कर केवल शकुन्तला के प्रेम में लीन होने के कारण अपने स्थान पर विदूषक को राजधानी भेज देना और उससे असत्य बोलना (२।१८), विवाह के पश्चात् ऋषि कण्व के आगमन के पूर्व ही हस्तिनापुर लौट जाना आदि अनेक ऐसे कार्य हैं जिनसे उसकी मानवोचित दुर्बलताओं का स्पष्ट पता चल जाता है । हस्तिनापुर आ जाने के पश्चात् शकुन्तला को एकदम भूल जाना और उसके द्वारा स्वयं ही वहाँ आ उपस्थित होने पर भी उसे न पहिचान पाना इत्यादि उसके पतन की अन्तिम सीमा है । किन्तु इसके पश्चात् महाकवि ने उसके चरित्र को बड़ी चतुरता

और योग्यता से ऊपर उठाया है। किसी भी मनोहर युवती को देखकर मोहित हो जाने की मधुकर-वृत्ति उसमें नहीं है ("अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्" तथा "अनार्यः परदारव्यवहारः"।) पंचम अङ्क में उसके अत्यन्त धार्मिक तथा सांस्कृतिक होने का स्पष्ट पता लगता है। एक असाधारण रूपसम्पन्न युवती उसके समक्ष खड़ी है और वह अपने को उसकी पत्नी बतला रही है। एक ओर अलौकिक रूप है, महर्षि कण्व का क्रोध है और है स्त्री द्वारा की जाती हुई अनुनय-विनय। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी राजा दूसरी ओर विद्यमान धर्म के भय से भयभीत है। राजा द्वारा उसे स्वीकार न किये जाने के दृश्य को देखकर प्रतीहारी अपने मन में कहने ही लगती है "अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति"।

षष्ठ अंक में अँगूठी के दर्शन के बाद दुष्यन्त को शकुन्तला के साथ हुए परिणय का स्मरण हो आता है। उसको महान् पश्चात्ताप है। इसी कारण वह राज्यभर में होने वाले वसन्तोत्सव को बन्द करा देता है। सुन्दर वस्तुयें भी उसे प्रिय नहीं प्रतीत होती हैं (६।५)। शोक की चरम सीमा में विद्यमान होने पर भी वह अपने कर्तव्य को भूला नहीं है। धर्म एवं न्याय के आधार पर वह राज्य-कार्य में संलग्न है ही। धनमित्र नामक वणिक से संबन्धित घटना उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है (अङ्क ६ श्लोक २३ से पूर्व हुआ प्रतीहारी और राजा का वार्त्तालाप)। उपर्युक्त स्थिति में विद्यमान होने पर भी राक्षसों से युद्ध करने के निमित्त इन्द्र का सन्देश मिलने पर वह तुरन्त ही बड़े उत्साह के साथ राक्षसों का हनन करने हेतु जाता ही है। उसके कर्तव्य-परायण होने का एक यह भी स्पष्ट प्रमाण है।

सप्तम अङ्क में राजा का चरित्र और भी उन्नत हुआ है। यहाँ पर राजा की शिशुवत्सलता का स्पष्ट परिचय मिलता है (७।१७)। शकुन्तला जब राजा दुष्यन्त को देखती है तो उसकी आँखों में अश्रुधारा आ जाती है और उसका गला रुँध आता है। यह देखकर राजा उसके चरणों पर गिरकर उससे क्षमा-याचना करता है (७।२४–२५)।

इस प्रकार महाकवि ने दुष्यन्त के चरित्र में क्रमिक विकास दिखलाया है। जो राजा प्रारम्भ में एक साधारण कामुक पुरुष प्रतीत होता था वही

बाद में एक सच्चे प्रेमी, कर्तव्यपरायण और पुत्रवत्सल आदि अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि महाकवि ने दुष्यन्त के चरित्र को महान् एवं श्रेष्ठ बनाने का पूर्ण प्रयास किया है किन्तु फिर भी वे दुष्यन्त को समाज के लिये एक पूर्ण आदर्श पुरुष के रूप में उपस्थित न कर सके। चन्द्र का कलङ्क ज्यों का त्यों बना ही रहा। परिणामतः दुष्यन्त के चरित्र को दोष एवं गुण दोनों से ही मिश्रित एक अद्भुत् मिश्र चित्र कहना ही उपयुक्त होगा।

शकुन्तला—

अ० शा० की नायिका शकुन्तला है। महाकवि ने शकुन्तला को एक आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया है। वह लगभग १८ वर्ष की कन्या है। वह अत्यधिक सौन्दर्य से युक्त है। उसके सौन्दर्य को देखकर राजा मन्त्रमुग्ध हो जाता है (१–२६)। उसके सौन्दर्य में नैसर्गिकता है (१।१८)। उसके अङ्गों में असाधारण लावण्य भी है (१।२१)। यौवन के चिह्न उसके शरीर में स्पष्ट रूप से झलक रहे हैं। (अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवन-मुपालभस्व।)। वह गौरवर्णा है। तपोवन में लालन-पालन होने के कारण उसमें स्वाभाविक सुशीलता, सरसता तथा मुग्धता भी है। वह सुशील और सलज्जा है। राजा का प्रथम दर्शन करने के पश्चात् यद्यपि उसके हृदय में काम-भाव उत्पन्न होता है किन्तु फिर भी वह उसे स्पष्ट नहीं होने देती है (किं नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता)। राजा द्वारा जब उसकी प्रशंसा की जाती है तब उसका सिर लज्जावनत हो जाता है। स्वाभाविक लज्जा के ही कारण उसने अपनी सखियों के समक्ष राजा के प्रति उत्पन्न हुए अपने प्रेम-विकार को प्रकट नहीं किया है। बहुत अधिक आग्रह करने पर ही उसने अपनी मदनव्यथा को अपनी सखियों से कहा है।

उसका प्रकृति के प्रति घनिष्ठ प्रेम है क्योंकि उसका लालन-पालन प्रकृति के मध्य में रहते हुये आश्रम में ही हुआ था। उसका वृक्षों, वनस्पतियों, पशुओं एवं पक्षियों आदि के प्रति सहोदर जैसा स्नेह है (अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु)। वह आश्रम के वृक्षों को जल पिलाकर (उनका सिंचनकर) स्वयं जल पिया करती है। प्रियमण्डना होने पर भी वृक्षों के नवीन पत्तों आदि

को तोड़ती नहीं है (४।९)। विदाई के समय तपोवन के वृक्षों तथा मृगादि से विदाई भी लेती है।

वह पूर्ण पतिव्रता नायिका है। उसके हृदय में अपने पति के लिये अनन्य तथा अगाध प्रेम है। जब से वह राजा से प्रेम करने लगी है तब से उसके लिये समस्त विश्व में राजा से बढ़कर अन्य कोई पदार्थ नहीं रह गया है। गान्धर्व-विधि द्वारा विवाह हो जाने के पश्चात् राजा के प्रति उसका प्रेम और भी अधिक वढ़ गया है। राजा के हस्तिनापुर की ओर चले जाने पर उसका मन निरन्तर राजा की ही ओर लगा रहता है। जब दुर्वासा तपोवन में प्रवेश करते हैं, उस समय भी उसका मन अपने प्रियतम के चिन्तन में ही मग्न रहता है। दुर्वासा के आगमन और शाप देकर चले जाने का उसे तनिक भी ज्ञान नहीं होता है। राजा के समीप जाने में उसके मन में एक प्रकार का उत्साह दिखलाई देता है। किन्तु वहाँ पहुँचने पर जब राजा शापवश उसको नहीं पहचान पाता है तथा उसका त्याग कर देता है तो वह दो एक क्षण के लिये क्रुद्ध अवश्य हो जाती है। किन्तु बाद में वह अपने भाग्य को ही दोषी ठहराती है (नूनं मे सुखप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामाभिमुखमासीत्)। वह राजा को भूलती नहीं है तथा उसके हृदय में राजा के लिये निरन्तर प्रेम-भावना रहती है। वह विरहिणी के वेश में अपने चरित्र की रक्षा करते हुए जीवन-यापन करती है (७।२१)। अतः वह अत्यन्त सच्चरित्र, शीलसम्पन्न, पतिव्रता तथा सलज्जा आदि गुणविशिष्ट नायिका है।

कण्व—

ऋषि कण्व अपने आश्रम के कुलपति हैं। इनका दूसरा नाम काश्यप है। ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं (शाश्वते ब्रह्मणि स्थितः)। चतुर्थ अङ्क में प्रियंवदा द्वारा कही गई उक्ति (अग्निशरणं प्रविष्टस्य...इत्यादि) के द्वारा तथा शकुन्तला को विदा करते समय ऋषि कण्व द्वारा कही गई उक्ति (४।८) से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे श्रौतविधि के अनुसार अग्निहोत्र करने वाले ब्राह्मण हैं। उनके आश्रम में यज्ञशाला भी है। वे एक महान् तपस्वी व्यक्ति हैं। वे भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान के ज्ञाता हैं (“[illegible] प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः—” सप्तम अङ्क में विद्यमान मारीच ऋषि की उक्ति।)। उनके तप के प्रभाव के

ही कारण राक्षसगण उनकी उपस्थिति में यज्ञ में विघ्न नहीं डालते हैं। उनकी अनुपस्थिति में विघ्न उत्पन्न करते हैं। उनके तप का इतना प्रभाव है कि वृक्ष भी शकुन्तला की विदा के समय वस्त्र तथा आभूषण प्रदान करते हैं (४।५)। वे शकुन्तला पर आने वाली भावी-विपत्ति से परिचित थे तभी तो वे उसके निवारणार्थ सोमतीर्थ गये हुए थे।

शकुन्तला उनके द्वारा पाली गई हुई धर्मपुत्री है। वे परित्याग की गई शकुन्तला का अपनी निजी पुत्री के सदृश पालन-पोषण करते हैं। शकुन्तला के प्रति उनका स्नेह निःस्वार्थ है। उन्होंने शकुन्तला को अपने जीवन का सर्वस्व-सा सदैव समझा है। शकुन्तला की विदाई के समय उनका हृदय सगे माता-पिता के सदृश अत्यन्त व्याकुल हो जाता है। आज शकुन्तला जायगी, यह विचार मन में आते ही उनका हृदय घबराने लगता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और उनकी दृष्टि जड़ के सदृश हो जाती है (४।६)। तपस्वी होने पर भी वे अपने शोक के आवेग को रोक नहीं पाते हैं (शममेष्यति मम शोकः—४।२१)। शकुन्तला के जाने पर वे खिन्नमना हैं (गतवती वां सहचारिणी—उनकी उक्ति)। ये उक्तियां उनके वात्सल्य-प्रेम की द्योतक हैं।

तपस्वी होने पर भी वे लोकव्यवहार से भली भाँति परिचित हैं (वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम्)। शकुन्तला की विदाई के समय उन्होंने जो सन्देश राजा को भेजा है उससे भी उनके लोक-व्यवहार में कुशल होने का ज्ञान प्राप्त होता है (४।१७)। शकुन्तला को उन्होंने जो उपदेश दिया है वह भी समाज के लिये एक महान् आदर्श है (४।१८)। यह भारतीय संस्कृति की पुनीततम भावनाओं से ओत-प्रोत है। वे कुमारी युवतियों को विवाहिता के साथ उसकी ससुराल भेजना उचित नहीं समझते हैं। इसीलिये उन्होंने अनसूया और प्रियंवदा को शकुन्तला के साथ नहीं भेजा है और कहा है कि इनका भी शीघ्र ही विवाह करना है (इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्)।

वे मानव-प्रकृति से भी भली भाँति परिचित हैं। वे जानते हैं कि समय के बीतने पर दुःख स्वयं ही कम हो जाया करता है। पतिगृह जाते समय शकुन्तला द्वारा यह कहे जाने पर कि पिता की गोद से छूटी हुई मैं दूसरे देश में कैसे जीवित रह सकूंगी? (कथमिदानीं......देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि ?)

वे कहते हैं :—घबराओ मत । कुलीन एवं वैभव-सम्पन्न पति के गृह पहुँचकर जब तुम वहाँ के कार्यों में संलग्न हो जाओगी और जब तुम्हारे पुत्र भी उत्पन्न हो जायगा तो उस समय शनैः शनैः तुम मेरे विरहजन्य दुःख को भूल जाओगी (४।१९) ।

उन्होंने कन्या को धरोहर के रूप में रक्खा गया हुआ दूसरे का द्रव्य माना है । वे उसे पति के गृह भेजकर अपनी अन्तरात्मा में सुख का अनुभव कर रहे हैं (अर्थो हि कन्या परकीय एव....इत्यादि ४।२२।।) ।

विदूषक (माधव्य)—

यह एक हास्यरस का पात्र है । इसका नाम माधव्य है । इसका उपयोग नाटकों में प्रायः हास्य के निमित्त ही हुआ करता है किन्तु अ० शा० में तो इसका उपयोग कथावस्तु के विकास के निमित्त भी हुआ है । यह जाति से ब्राह्मण है । आयु में राजा से छोटा है क्योंकि उसने अपने को युवराज कहा है (तेन हि युवराजोऽस्मीदानीं संवृत्तः) । यह पेटू है, खाने-पीने की बात अधिक करता है (किं मोदकखादिकायाम्—इत्यादि २) । वह स्वभाव से डरपोक है । राक्षसों की बात सुनकर भयभीत हो जाता है और शकुन्तला को देखने के लिये जाने से मना कर देता है । (इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः) । वह राजा का मित्र है । राजा के साथ खुलकर हास्य करता है । प्रेम के सभी कार्यों में वह राजा का सहायक है । द्वितीय एवं षष्ठ अंक में राजा अपनी शकुन्तला विषयक सभी बातों को इससे कह देता है । पंचम अंक में भी रानी हंसपदिका को समझाने के लिये राजा इसको ही भेजता है ।

वह स्वभाव से सरल-हृदय का व्यक्ति है । दूसरे अङ्क में शकुन्तला-सम्बन्धी गुप्त प्रेम की सभी बातें बतलाने के पश्चात् अन्त में राजा उससे कहता है कि मैंने यह सब हास्य में कहा था, तुम इसे सच न समझ लेना (२।१८) । इस पर वह पूर्ण विश्वास कर लेता है । शकुन्तला के परित्याग के समय वह वहाँ उपस्थित न था, उसे तो राजा द्वारा पहले ही हंसपदिका को समझाने के लिये भेज दिया गया था; अन्यथा संभव था कि वह राजा को

शकुन्तलाविषयक कुछ स्मरण दिलाता । षष्ठ अङ्क के अन्त में इन्द्र का सारथि

मातलि आकर उसे ही पीटने लगता है। इस पर राजा के अन्दर क्रोध एवं उत्साह के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में ही मातलि को इन्द्र का सन्देश कहना था, इसी कारण उसने ऐसी स्थिति उत्पन्न की थी। परिणाम-स्वरूप राजा राक्षसों के वधार्थ जाने को तुरन्त ही उद्यत हो जाता है। राजा के समीप रानी वसुमती जब आने को होती है तब वह शकुन्तला का चित्र लेकर वहाँ से चला जाता है और इस भाँति वह राजा को रानी के क्रोध का पात्र नहीं बनने देता है।

उपर्यक्त आधार पर यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि महाकवि ने कथानक के विकास में विदूषक का समुचित उपयोग किया है।

प्रियंवदा और अनसूया—

ये दोनों शकुन्तला की अभिन्न सखियाँ हैं। तीनों सौन्दर्य-सम्पन्न तथा आयु की दृष्टि से लगभग समान हैं ("अहो मधुरमासां दर्शनम्" तथा "अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्"—प्रथम अङ्क में राजा के कथन।)। फिर भी सुन्दरता में शकुन्तला का अधिक सुन्दर होना कहा ही जायगा क्योंकि वह एक दैवी अप्सरा की पुत्री थी। आयु में भी अनसूया सबसे बड़ी ज्ञात होती है। प्रथम अङ्क में राजा द्वारा तपोवन में प्रवेश किये जाने पर वही आगे बढ़ कर सर्वप्रथम उससे बातचीत करती है। वही शकुन्तला की उत्पत्ति का वृत्तान्त भी राजा को बतलाती है। चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला की विदाई के पश्चात् जब दोनों सखियाँ रोने लगती हैं तो महर्षि कण्व पहले अनसूया को ही सम्बोधित कर समझाते हैं। इन बातों से अनसूया का बड़ा होना सिद्ध हो जाता है।

कुछ दृष्टियों से अनसूया और प्रियंवदा के चरित्र में साम्य दृष्टिगोचर होता है और कुछ दृष्टियों से वैषम्य। पहले **साम्य** को दिखला देना उचित होगा। (क) शकुन्तला के प्रति दोनों ही सखियों का स्नेह सच्चा तथा निःस्वार्थ है। ये दोनों उसको अपनी सगी बहिन के सदृश मानती हैं। वृक्षों के सिंचन आदि कार्यों में वे दोनों उसकी सहायता करती हैं। शकुन्तला को सब प्रकार से प्रसन्न और सुखी रखना ही उनके जीवन का लक्ष्य है। काम-पीड़ा के कारण शकुन्तला की अस्वस्थता को देखकर दोनों ही अत्यधिक चिन्तित

हो जाती हैं तथा उसे पुनः स्वस्थता प्राप्त हो जाय, इसके निमित्त प्रत्येक संभव उपाय करती हैं। यहाँ तक कि वे उसका राजा से मिलन कराने के निमित्त भी उत्सुक हैं। राजा एवं शकुन्तला का मिलन होने पर दोनों दूर खड़ी होकर देखती हैं कि कोई वहाँ आ न जाये। जब गौतमी उस ओर आती दिखाई पड़ती हैं तब चक्रवाकवधू के सम्बोधन द्वारा उसकी सूचना उन लोगों को दे देती हैं। दुर्वासा द्वारा दिये गये शाप को श्रवणकर दोनों ही अत्यन्त व्याकुल हो जाती हैं तथा शाप-निवृत्ति के निमित्त ऋषि की अनुनय-विनय कर शाप-निवृत्ति का उपाय प्राप्त कर ही लेती हैं। शकुन्तला के बिना दोनों को आश्रम शून्य प्रतीत होता है। (ख) दोनों ही शिष्टाचार-सम्पन्न, विनयी, प्रियवादिनी हैं। राजा से प्रथम बार मिलने पर उन दोनों के द्वारा किये गये व्यवहार से प्रत्येक बात स्पष्ट हो जाती है। (ग) दोनों ही अपने अपने कार्य में चतुर और बुद्धि-मती हैं। विदाई की सूचना पाकर दोनों ही शकुन्तला का सुन्दर शृङ्गार करती हैं। तृतीय अङ्क में वेतस-लता-मण्डप में राजा के आ उपस्थित होने पर ये दोनों बुद्धिमत्ता से राजा से वचन लेती हैं कि वह उनकी प्रिय सखी शकुन्तला को सदैव सुखी रखेगा (३।१७)।

वैषम्य—(च) अनसूया अधिक चिन्तनशील तथा गम्भीर प्रकृति की है। प्रियंवदा अपने नाम के अनुसार मधुरभाषिणी तथा हास्यप्रिय है। अनसूया अधिक शर्माती नहीं है। राजा द्वारा तपोवन में प्रवेश किये जाने पर वह राजा से बातचीत करती है। राजा द्वारा पूछे जाने पर शकुन्तला की उत्पत्ति की कथा से भी उनको परिचित कराती है। प्रियंवदा शकुन्तला से छिपे हुए शब्दों में विवाहविषयक हास्य करती है और जब शकुन्तला क्रोधित होकर वहां से चली जाना चाहती है तब उसे यह कहकर रोक लेती है कि तुमको अभी मेरे हिस्से के दो घड़े जल डालना शेष है। प्रियवादिनी होने के कारण उसकी बात का कोई बुरा नहीं मानता है। (छ) अनसूया वर्त्तमान की अपेक्षा भविष्य को अधिक महत्त्व प्रदान करती है। प्रियंवदा वर्त्तमान को ही अधिक महत्त्व देती है। अनसूया को शकुन्तला के भावी सुख की चिन्ता है, इसी कारण उसने राजा से शकुन्तला के भावी सुखी जीवन के निमित्त आश्वासन चाहा है। प्रियंवदा शकुन्तला और राजा के मिलन से ही प्रसन्न है। अनसूया किसी बात का निर्णय करने में गम्भीरता की अपेक्षा रखती है जब कि प्रियंवदा

किसी बात का निर्णय करने में शीघ्रता का ही आश्रय लेती है। अनसूया शकुन्तला और दुष्यन्त दोनों के मिलन से भविष्य में आ उपस्थित होने वाली घटनाओं का अधिक विचार करती है और अपने चातुर्यपूर्ण वार्त्तालाप में राजा से शकुन्तला विषयक आश्वासन भी प्राप्त कर लेती है जब कि दोनों के पारस्परिक आकर्षण के प्रति प्रियंवदा अधिक उत्साहसंपन्न है और चाहती है कि दोनों का मिलन शीघ्र ही हो जाये। (ज) अनसूया धीर तथा परिपक्व बुद्धि वाली है। प्रियंवदा भावुक हृदय होने के कारण शीघ्र ही घबरा जाने वाली है। दुर्वासा के शाप को श्रवण कर अनसूया अधिक व्यग्र व चिन्तित नहीं होती है तथा प्रियंवदा को दुर्वासा को मनाने के निमित्त प्रेषित करती है। किन्तु प्रियंवदा तो शाप श्रवणकर किंकर्तव्यविमूढ़ के सदृश हो गई थी। (झ) अनसूया किसी विषय पर भली भाँति विचार करने वाली तथा अल्प-भाषिणी है जब कि प्रियंवदा वाक्चतुर तथा बहुभाषिणी है। तृतीय अङ्क में राजा से उसी ने अधिक बातचीत की है। (ञ) अनसूया सशङ्कवृत्ति की है जब कि प्रियंवदा किसी बात पर शीघ्र ही विश्वास कर लेने वाली है। चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में अनसूया को सन्देह है कि राजा शकुन्तला को स्मरण करेगा अथवा नहीं। किन्तु प्रियंवदा कहती है कि उस प्रकार की आकृतियाँ गुण-सम्पन्न ही हुआ करती हैं (न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति।)। अतः राजा उसे अवश्य स्मरण करेगा। किन्तु परिणाम इसके विपरीत ही हुआ है।

शार्ङ्गरव और शारद्वत—

ये दोनों कण्व ऋषि के मुख्य शिष्य हैं। कण्व ने इनके साथ आदरसूचक "मिश्र" शब्द का प्रयोग किया है (क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः ?)। इससे ज्ञात होता है कि ये २५ वर्ष से ऊपर की आयु के (लगभग ३० वर्ष के) युवक हैं। इन दोनों में शार्ङ्गरव बड़ा और परिपक्व बुद्धि वाला प्रतीत होता है, क्योंकि हस्तिनापुर जाने वाले दल का वह अग्रगण्य नेता है और ऋषि कण्व ने इसी के द्वारा राजा के लिये अपना सन्देश प्रेषित किया है।

ये दोनों लोकव्यवहार से भी भली भाँति परिचित हैं। शकुन्तला को हस्तिना-पुर पहुँचाने जाते समय आश्रम से कुछ दूर जाकर इन्होंने ऋषि कण्व से कहा

है "ग्रोदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते" । दोनों को राजदरबार के शिष्टाचार का भी ज्ञान है । वे राजदरबार में पहुँचकर तदनुकूल ही ग्राचरण करते हैं । दोनों के हृदयों में एक दूसरे के प्रति स्नेह है । वे परस्पर एक दूसरे का ग्रादर भी करते हैं । शार्ङ्गरव को जब शारद्वत द्वारा रोका जाता है (शार्ङ्गरव ! किमुत्तरेण ?) तब वह चुप हो जाता है । दोनों को तपोवन के जीवन से स्नेह है ग्रौर शहरी जीवन से घृणा ।

दोनों ही शिष्य ग्रपनी स्थिति एवं स्वभाव की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न है । (क) शार्ङ्गरव बहुभाषी, क्रोधी, गर्वीला, हठी, शीघ्र ही उत्तेजित हो जाने वाला, ग्रसहिष्णु तथा ग्रशान्त प्रकृति ग्रौर ग्रधीर स्वभाव वाला है । जब दुष्यन्त शकुन्तला को नहीं पहचान पाता है तथा उसे ग्रस्वीकार कर देता है, उस समय वह ग्रपने स्वभाव के ग्रनुसार राजा की कठोर शब्दों में भर्त्सना करता है तथा शकुन्तला को भी ग्रपने बिना विचार किये कार्य के निमित्त बुरा-भला कहता है । वह राजा को धर्मविमुख तथा प्रमत्त ग्रादि कहता है (किं कृतकार्यद्वेषो —५।१८, मूर्च्छन्त्यमी विकाराः ५।१८) । जब दुष्यन्त ग्रपने को शकुन्तला का पति नहीं स्वीकार करता, तो वह उसको 'चोर तक कह देता है (पात्री-कृतो दस्युरिवासि येन— ५।२०) । शारद्वत मितभाषी, ग्रक्रोधी, विचार-शील, विनम्र, सहिष्णु तथा शान्त प्रकृति ग्रौर ग्रात्मसंयमी है । वह निरर्थक बात नहीं करता । वह संक्षिप्त तथा उचित उत्तर देता है । वह क्रोधावेश में नहीं ग्राता । जब शार्ङ्गरव एवं राजा का वार्त्तालाप उग्र रूप धारण कर लेता है तब शारद्वत ही उसे शान्त करता है (शार्ङ्गरव ! विरम त्वमिदानीम् ।) वह शान्तस्वभाव के साथ राजा से कहता है कि शकुन्तला तुम्हारी पत्नी है । तुम इसे स्वीकार करो चाहे इसका त्याग करो (तदेषा भवतः कान्ता, त्यज वैनां गृहाण वा—५।२६) । हम लोग तो ग्रब लौटते हैं (प्रतिनिवर्तामहे वयम्) । (ख) शार्ङ्गरव व्यवहार-कुशल नहीं है । वह विवाद को बढ़ाता है । इसके विपरीत शारद्वत व्यवहारकुशल है ग्रौर वह शान्ति के साथ विवाद को समाप्त करने का इच्छुक है । उसी ने विवाद को शान्त किया है । (ग) शार्ङ्गरव पूर्ण रूप से तपस्वी जीवन व्यतीत करने वाला प्राणी है । उसे जीवन की ग्रन्य

दशाओं और प्रकारों के प्रति घृणा है। वह राज-महल को आग की लपटों के बीच जलता हुआ घर ही समझता है (५।१०)। शारद्वत दार्शनिक विचार वाला प्राणी है। वह दूसरों के प्रति घृणा नहीं करता है। उसके हृदय में दूसरों के प्रति सहानुभूति है (५।११)।

महाकवि ने शारद्वत की अपेक्षा शार्ङ्गरव के चरित्र को अधिक विकसित रूप में दर्शकों के समक्ष उपस्थित किया है। उन्होंने उसके चरित्र की दो-तीन अन्य विशेषताओं का भी चित्रण किया है। (१) वह अपने गुरु (ऋषि कण्व) को सर्वज्ञ तथा सब प्रकार की सिद्धियों से युक्त मानता है। चतुर्थ अङ्क में उसने गुरु को ही लक्ष्य कर कहा है "न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम।" इसी प्रकार वह पंचम अङ्क में राजा से किये वार्त्तालाप के प्रारम्भ में कहता है—"स्वाधीन-कुशलाः सिद्धिमन्तः"। (२) वह तपोवन में निवास करने वाले लोगों को सर्वोच्च प्राणी मानता है। उसे विश्वास है कि ये लोग असत्यवादी नहीं होते। राजनैतिक पुरुषों को वह असत्य एवं धोखेबाजी के वातावरण में पला हुआ समझता है (५।२५)। (३) वह स्त्री-स्वातन्त्र्य का पक्षपाती नहीं है। जब वह शकुन्तला को राजा के समक्ष छोड़कर अपने लोगों के साथ चलने लगता है तो असहाय शकुन्तला भी उसके पीछे पीछे चलने लगती है। यह देखकर गौतमी उसका ध्यान उस ओर आकृष्ट करती है। उस समय वह क्रोधपूर्ण वाणी में शकुन्तला को डाँटता हुआ कहता है—"किं पुरोभागे! स्वातन्त्र्यमवलम्बसे?"

महाकवि कालिदास की शैली

महाकवि कालिदास की लोकप्रियता का प्रधान कारण उनकी प्रसादगुण-विशिष्ट एवं लालित्यपूर्ण और परिष्कृत शैली ही है। ये सभी गुण वैदर्भी रीति में विद्यमान हैं। वे वैदर्भी रीति के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं :—

"वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते।"

आचार्यों ने वैदर्भी रीति का लक्षण निम्न प्रकार से किया है :—

"माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥" सा० द० २—३॥

मधुर शब्द, ललित रचना, समासों का सर्वथा अभाव अथवा अल्प समास-युक्त पदों का होना—वैदर्भी रीति की मुख्य विशेषतायें हैं।

कोमल तथा सुकुमार भावों का चित्रण करने में कालिदास अद्वितीय हैं। इसी कारण प्रसन्नराघवकार जयदेव ने इनको "कविताकामिनी का विलास" कहा है। उनकी शैली की सर्वोत्कृष्ट विशेषता यह है कि वे किसी भाव का चित्रण करते समय उसका स्पष्ट शब्दों में विशद वर्णन करने की अपेक्षा व्यंजनावृत्ति का आश्रय लेकर उसकी ओर सूक्ष्म संकेत कर देना मात्र ही आवश्यक समझते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि उनकी शैली संक्षिप्त तथा ध्वन्यात्मक है। इसी कारण उनकी प्रायः सभी कृतियों में, स्थान-स्थान पर, ध्वन्यात्मकता का दर्शन होता है। किसी भाव को मार्मिक ढंग से जिस रूप में जितना रखना अत्यावश्यक है, उतना ही प्रस्तुत करना उनका कार्य है। उसकी व्यंजना को पूर्णतया हृदयंगम करना सहृदय व्यक्ति की सहृदयता पर निर्भर है। राजा दुष्यन्त शकुन्तला का प्रथम दर्शन पाकर हर्षातिरेक से मुग्ध हो जाते हैं और उनका सम्पूर्ण हर्ष एवं आनन्द एक छोटे से ही वाक्य में प्रस्फुटित हो जाता है :—"अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्" अर्थात् मेरे नेत्रों को मोक्ष (परमानन्द) की प्राप्ति हो गई। शकुन्तला ने दुष्यन्त के प्रति अपने प्रणय को एक ही छोटे से श्लोक द्वारा अभिव्यक्त किया है (३।१३)। उन्होंने दुष्यन्त एवं शकुन्तला के मिलन तथा एकान्त प्रेम का वर्णन अत्यधिक संक्षिप्त रूप में किया है। केवल दो एक बातों की ओर संकेत मात्र ही किया है—३।१८ तथा २१। दुर्वासा के शाप का वर्णन केवल एक ही श्लोक में हो गया है (४।१)। ऋषि कण्व द्वारा राजा को भेजा गया सन्देश (४।१७) तथा शकुन्तला को दिया गया उपदेश (४।१८) केवल १–१ श्लोक में ही समाप्त हो गया है। शकुन्तला के वियोग का वर्णन उसकी सखियों द्वारा कुछ वाक्यों में ही अभिव्यक्त कर दिया गया है। राजा द्वारा की गई इन्द्रलोक की यात्रा अति संक्षेप में ही वर्णित है। सर्वदमन की बालक्रीड़ा का भी वर्णन अति संक्षिप्त है।

उनकी शैली में प्रसाद, माधुर्य तथा ओज–इन तीनों गुणों की विद्यमानता है। इनमें ओजगुण की मात्रा कुछ कम अवश्य है किन्तु शेष दोनों प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। यहां प्रत्येक गुण से सम्बन्धित कुछ उद्धरणों का उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा। (१) निम्नाङ्कित श्लोकों में प्रसाद गुण मुख्य रूप से है। श्लोक का पाठ करने मात्र से ही भाव का स्पष्टीकरण हो जाता है :—भव

हृदय साभिलाषम्......इत्यादि १।२८।।, क्व वयं क्व परोक्षमन्मथः २।१८।।, अयं स ते तिष्ठति....इत्यादि ३।११।।, इदमनन्यपरायण......इत्यादि ३।१६।।, ययातेरिव शर्मिष्ठा....इत्यादि ४।७।।, अर्थो हि कन्या इत्यादि ४।२२ ।।, भवन्ति नम्रास्तरवः.......इत्यादि ५।१२ ।। इत्यादि ।। (२) निम्नाङ्कित श्लोकों में माधुर्य का प्राचुर्य है । इनका पठन करते ही हृदय आनन्दानुभूति करता है :—इदं किलाव्याजमनोहरं......इत्यादि १।१८।।, सरसिजमनुविद्धं..... इत्यादि १।२०।। तव कुसुमशरत्वम्......इत्यादि ३।३।।, अभिनवमधुलोलुपस्त्वं....इत्यादि ५।१ ।। स्वप्नो नु माया नु...इत्यादि ६।१०।। (३) निम्नलिखित श्लोक ओजगुणविशिष्ट हैं । इनको पढ़ने से हृदय में उत्साह-भाव उद्भूत होकर वीरत्व की अनुभूति होती है :—तीव्राघातप्रतिहत......इत्यादि १।३३।।, अनवरतधनुर्ज्या......इत्यादि २।४।।, गाहन्तां महिषा......इत्यादि २।६।।, नैतच्चित्रं यदयं.....इत्यादि २।१५।।, का कथा बाणसन्धाने.....इत्यादि ३।१।। किं कृतकार्यद्वेषो......इत्यादि ५।१८ ।।

महाकवि की भाषा सरल, सरस, प्रांजल, परिमार्जित, परिष्कृत तथा प्रसादगुणपूर्ण है । उसमें क्लिष्टता अथवा दूरान्वय दोष कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है । प्रत्येक पात्र के मुख से जिस भाषा का जिस रूप में प्रयोग कराया गया है वह तदनुरूप ही है । पाण्डित्य का प्रदर्शन कहीं भी नहीं किया गया है । स्थान-स्थान पर इस प्रकार के मुहावरेदार एवं चुस्त प्रयोगों का ऐसा मनोहर सन्निवेश किया गया है कि जिससे भाषा में एक अपूर्व सजीवता आ गई है । उदाहरण के लिये—जब अनसूया प्रियंवदा से कहती है कि दुर्वासा के शाप का चित्तविदारक समाचार कोमल-हृदया शकुन्तला तक न पहुँचने पाये, तब प्रियंवदा उत्तर देती हुई कहती है :—"क इदानीमुष्णोदकेन नवमालिकां सिंचति" भला ऐसा कौन होगा कि जो जुही की कोमल लता को उबलते हुए जल से सींचेगा ? शकुन्तला की दोनों सखियाँ शकुन्तला से कह रही हैं :—

"अयि आत्मगुणावमानिनि ! को नाम सन्तापनिर्वाणहेतुकां शारदीं ज्योत्स्नां आतपत्रेण निवारयति ?" हे अपने गुणों का अपमान करने वाली

शकुन्तले ! संसार में ऐसा कौन होगा जो सन्ताप दूर करने वाली चन्द्रमा की चाँदनी को छतरी लगाकर अपने ऊपर पड़ने से रोके।

पात्रानुरूप भाषा के प्रयोग में भी महाकवि ने पर्याप्त कौशल का परिचय दिया है। महर्षि कण्व यज्ञ-यागादि एवं अध्यापन कार्य में सदा संलग्न रहा करते थे। अतः उनके मुख से सदा इस प्रकार की उक्तियाँ निकलती हैं जो उनके पद के सर्वथा योग्य हैं। दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह का अनुमोदन करते हुए उनकी उक्ति देखिये :—

"दिष्ट्या धूमोपरुद्धदृष्टेरपि यजमानस्य पावकस्यैव मुखे आहुतिर्निपतिता।" यह हर्ष की बात है कि धुयें से आकुलित दृष्टिवाले यजमान की आहुति अग्नि में ही गिरी। शकुन्तला की विदा के समय कण्व ऋषि कहते हैं :— "वत्से ! सुशिष्यपरिदत्तेव विद्याऽशोचनीयासि संवृत्ता" अर्थात् हे पुत्री ! सुपात्र को दी गई विद्या के सदृश तू भी सर्वथा अशोच्य है।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण अभिज्ञानशाकुन्तल महाकवि की भाषासम्बन्धी विशेषताओं का उदाहरण है। हमने प्रसाद एवं माधुर्य गुणों के वर्णन में जिन उदाहरणों को उद्धृत किया है वे सब भी उनकी भाषा सम्बन्धी सरलता एवं बोधगम्यता के ही परिचायक हैं।

कालिदास का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उन्होंने जिस प्रकार के भाव का चित्रण किया है, तदनुकूल भाषा का प्रयोग भी उन-उन स्थलों पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। शब्दों में सारल्य के साथ ही साथ भाव में गम्भीरता का दर्शन स्थान-स्थान पर होता है। अतएव, उनकी भाषा परिष्कृत तथा सुसंस्कृत है। उनका शब्द-भंडार अगाध है। भाषा एवं शब्द-भंडार पर पूर्ण अधिकार होने के कारण उनकी भाषा में एक अपूर्व मनोरमता तथा प्रवाह का दर्शन होता है।

कथोपकथन छोटे-छोटे तथा चटकीले होने के कारण उनको पढ़ते हुए, सुनते हुए पाठक तथा दर्शक दोनों का ही चित्त प्रसन्न हो जाता है। उपर्युक्त तथा इसी भाँति के अन्य अनेक प्रसंगों को देखते हुए दर्शकों को प्रतीत होता है

कि हम नाटक न देखकर बीते हुए प्रसंग का साक्षात्कार कर रहे हैं। इसी में कालिदास की भाषा का उत्कर्ष है।

उनके संवाद संक्षिप्त, सरल तथा रोचक और आकर्षक हैं। उन्होंने संवादों में सर्वत्र अनावश्यक विस्तार का परित्याग किया है। संवादों की भाषा इतनी सजीव, चुस्त और मुहावरेदार है कि वह प्रस्तुत विषय को अत्यन्त रोचक बना देती है। प्रथम अङ्क में राजा का अनसूया आदि के साथ किया गया वार्तालाप, द्वितीय अंक में राजा एवं विदूषक का, तृतीय अङ्क में शकुन्तला का अपनी सखियों एवं राजा के साथ हुआ वार्त्तालाप, चतुर्थ अङ्क में ऋषि कण्व तथा शकुन्तला का वार्त्तालाप, पंचम अङ्क में शार्ङ्गरव एवं राजा दुष्यन्त का विवाद, षष्ठ अङ्क में राजा एवं विदूषक का तथा सप्तम अङ्क में राजा एवं सर्वदमन के बीच हुआ वार्त्तालाप उनकी संवाद सम्बन्धी विशेषताओं के द्योतक हैं।

उनके शिष्ट पुरुष-पात्रों की भाषा संस्कृत ही है। शेष पात्रों द्वारा प्राकृत भाषा का प्रयोग किया गया है। केवल मछुआ (धीवर) ही मागधी प्राकृत का प्रयोग करता है। शेष पात्र शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करते हैं। संभवतः कालिदास के समय में शिक्षित एवं सभ्य वर्ग के व्यक्तियों की भाषा संस्कृत तथा जन-साधारण की भाषा प्राकृत ही रही होगी अथवा इस प्रकार की परम्परा उनसे पूर्व से चली आ रही होगी। इसी कारण उन्होंने अपने शिष्ट पात्रों से शुद्ध संस्कृत भाषा का प्रयोग कराया तथा शेष पात्रों से प्राकृत का।

वे वर्णन करने में भी अत्यन्त कुशल हैं। उनकी रचनाओं में प्रत्येक वस्तु का वर्णन सजीव-सा प्रतीत होता है। वे जिस वस्तु अथवा घटना का वर्णन करते हैं वह वस्तु अथवा घटना आँखों के समक्ष चित्रित सी जान पड़ती है। इतना होने पर भी उसमें अस्वाभाविकता का लेशमात्र भी स्थान नहीं है। अ० शा० में आये हुए कुछ विशिष्ट वर्णनों का उल्लेख कर देना यहाँ उचित ही होगा।

भयभीत मृग का अति तीव्र गति से भागने का वर्णन—१।७।।, तीव्र गति से दौड़ते हुए घोड़ों का वर्णन १।८।। वेग के साथ रथ के गमन करने का वर्णन —१।९।।, ऋषि कण्व के तपोवन की सीमा का वर्णन—१।१४।। कामपीड़ित

शकुन्तला का वर्णन ३।६।। तथा ३।७।।, शकुन्तला के वियोग से दुःखी एवं कृश दुष्यन्त का वर्णन—३।१०।।, शकुन्तला-विहीन लतामण्डप का वर्णन—३।२३।।, शकुन्तला के पतिगृह जाते समय कण्व के हृदयजनित दुःख का वर्णन—४।६।।, मारीच के आश्रम में समाधि में स्थित ऋषि का वर्णन—७।११—, १२।।, वियोगिनी शकुन्तला का वर्णन—७।२१।।

प्राकृतिक वर्णनों में भी—ग्रीष्म ऋतु का वर्णन—१।३—४।।, चन्द्रमा के अस्त और सूर्य के उदय होने का वर्णन—४।२।।, कुमुदिनी का वर्णन—४।३।।, वसन्त-ऋतु का वर्णन—६।४।।, राजा दुष्यन्त द्वारा इन्द्रलोक से पृथ्वी की ओर आते समय का पृथ्वी का वर्णन—७।८।।

सालङ्कारता उनकी शैली की प्रमुख विशेषता है। उनके नाटकों में अलंकारों की छटा अपना एक अनुपम स्थान रखती है। उन्होंने विशेष रूप से शब्दालङ्कारों का प्रयोग किया है। अलंकारों के प्रयोगों में सर्वत्र उनकी कला की पूर्णता दृष्टिगोचर होती है। उपमा के तो वे महान् आचार्य हैं। उनके विषय में कही गई "**उपमा कालिदासस्य**" उक्ति नितान्त सत्य है। उपमाओं के प्रयोगों में वे वस्तुतः अद्वितीय हैं। उनकी उपमायें अत्यन्त सुन्दर, सरस एवं स्वाभाविक हैं। उनमें उपमा-सौष्ठव सम्बन्धी सभी गुण विद्यमान हैं। उनकी उपमायें वर्णन में चमत्कार-उत्पादक एवं काव्यसौन्दर्य की श्रीवृद्धि करने वाली हैं। उनमें नवीन न ीन कल्पनाओं की अद्भुतता दृष्टि-गोचर होती है, कहीं भी उच्छिष्टता परिलक्षित नहीं होती। ये उपमायें वाह्य एवं अन्तर्जगत् से तथा ज्ञान एवं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से चुनी गई हैं। इसी कारण उनका चमत्कार और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हुआ है। अभिज्ञान-शाकुन्तल में महाकवि की उपमायें अपने चरमोत्कर्ष पर हैं। कण्व के आश्रम में शकुन्तला के अप्रतिम एवं अनवद्य सौन्दर्य का प्रथम साक्षात्कार कर दुष्यन्त ने अपने हृद्गत उद्गारों को "अनाघ्रातं पुष्पं......इत्यादि २।१०।।" श्लोक में स्पष्ट रूप से प्रकट किया है। इसमें अनेक उपमाओं के साथ शकुन्तला के सौन्दर्य की तुलना की गई है। इसी प्रकार दुष्यन्त के दरबार में कण्व के जटा-धारी तापस-शिष्यों के मध्य स्थित लावण्यमधुरा शकुन्तला ऐसी प्रतीत होती है जैसे पतझड़ के पीत एवं शुष्क पत्रों के बीच कोई सुकोमल किसलय (केयम-

वगुण्ठनवती....इत्यादि ५।१४) । दरबार के समक्ष स्थित ग्रापन्नसत्त्वा शकुन्तला के ग्रलौकिक रूपमाधुर्य को देख दुविधा में पड़े हुए दुष्यन्त की वही दशा हो रही है जो उस भ्रमर की होती है जो प्रातःकाल तुषारविन्दुगर्भित कुन्दकलिका का न तो मकरन्द ही पान कर सकता है ग्रौर न उसे छोड़ ग्रन्यत्र ही गमन कर सकता है "इदमुपनतमेवं" इत्यादि (५।१९) । शकुन्तला की ग्रोर लगा हुग्रा दुष्यन्त का मन वायु के प्रतिकूल गमन करती हुई ध्वजा के सदृश है—गच्छति पुरः शरीरम्.....(१।३४) । राजा, पर्वत के मध्य में ग्रा जाने से रुकी हुई नदीके सदृश द्विविधा में पड़ा हुग्रा है—कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद्......इत्यादि २।१७।। राजा ग्रौर शकुन्तला का मिलन ऐसा ही है, जैसे ग्रहण के पश्चात् चन्द्रमा तथा रोहिणी का मिलन—उपरागान्ते शशिनः—इत्यादि ७।२२।। इत्यादि इस प्रकार के ग्रनेक स्थल ग्रभिज्ञान शाकुन्तल में विद्यमान हैं जिनसे उनके विषय में कही गई 'उपमा कालिदासस्य' उक्ति नितान्त सार्थक ही सिद्ध होती है ।

स्वभावोक्ति ग्रलङ्कार का भी ग्रनुपम सौन्दर्य हमें उनके ग्र० शा० में उपलब्ध होता है । शाकुन्तल की शैली में स्वाभावोक्ति को मुख्य स्थान प्राप्त है । प्रथम ग्रंक में भागते हुए भयभीत हरिण का (१।७), रथ के घोड़ों की द्रुत गति का (१।८) तथा तपोवन का वर्णन (१।१४) उनकी स्वभावोक्ति के प्रसिद्ध उदाहरण हैं ।

कुछ विद्वानों का मत है कि महाकवि कालिदास ने ग्रर्थान्तरन्यास का प्रयोग उपमा की ग्रपेक्षा कहीं ग्रधिक उत्कृष्टता के साथ किया है । किसी कवि की उनके विषय में उक्ति है :—

उपमा कालिदासस्य नोत्कृष्टेति मतं मम ।
ग्रर्थान्तरस्य विन्यासे कालिदासो विशिष्यते ।।

इन्होंने कालिदास को ग्रर्थान्तरन्यास के प्रयोग में सर्वोत्कृष्ट स्वीकार किया है । वस्तुतः कालिदास द्वारा प्रयुक्त ग्रर्थान्तरन्यास सुभाषित के रूप में प्रचलित है । उनके सुभाषितों का संग्रह इस ग्रन्थ के ग्रन्त में दिया गया है । वे लगभग सभी ग्रर्थान्तरन्यास के उदाहरण के रूप में उद्धृत किये जा सकते हैं ।

इसी प्रकार ग्रन्य ग्रनेक ग्रलङ्कारों का ग्रभिज्ञान-शाकुन्तल में यथास्थान सुन्दर एवं ग्रनुपम प्रयोग हुग्रा है जिनका स्पष्टीकरण उन-उन स्थानों पर विशद रूप से कर ही दिया गया है ।

प्रकृति-चित्रण

महाकवि कालिदास प्रकृति को मानव-जीवन से सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं स्वीकार करते हैं। उनके विचार में दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। उन्हें मानव-जीवन में प्रकृति का और प्रकृति में मानव-जीवन का दर्शन प्राप्त होता है। शकुन्तला की समीपता से सहकारवृक्ष लतासनाथ दिखलाई पड़ता है "त्वया समीपस्थितया लतासनाथ इव अयं चूतवृक्षः प्रतिभाति"। वे नवमल्लिका एवं सहकार में वरवधू का सम्बन्ध देखते हैं—"इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका।" इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वाह्य-प्रकृति का अन्तःप्रकृति के साथ मानवीकरण किया है। अतः उनकी दृष्टि में प्रकृति एक मूक, चेतनाहीन अथवा निष्प्राण वस्तु नहीं है। मानव प्राणियों की तरह उसमें सुख-दुःख तथा समवेदना का भाव दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार चेतन जगत् के लोग परस्पर प्रेम के कारण सुख-दुःख में एक दूसरे की सहायता करते हैं उसी प्रकार प्रकृति भी करती है। शकुन्तला की विदाई के समय तपोवन के वृक्ष अनेक प्रकार के वस्त्र और आभूषण देकर ऋषि कण्व की सहायता करते हैं :—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितैः
दत्तान्याभरणानि नः किसलयच्छायापरिस्पर्द्धिभिः ॥४।५॥

इस उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चेतन प्राणियों की ही तरह प्रकृति भी महर्षि कण्व की सहायता करती है। तपोवन में निवास करने वाले ऋषि को शकुन्तला की विदा के समय वस्त्र एवं आभूषणों की परम आवश्यकता थी तथा वे यह सोच रहे थे कि किस भाँति इस समस्या को सुलझाया जा सकता है। किन्तु ऋषि की इस चिन्ता को आश्रम के वृक्षों ने ही दूर कर दिया। ऋषि के प्रति वृक्षों की कितनी सहृदयता एवं उदारता है!

वायु द्वारा हिलते हुए पल्लवों को देखकर महाकवि को ऐसा भान होता है कि मानो आम्रवृक्ष शकुन्तला को बुला रहे हैं —

"शकुन्तला—(अग्रतोऽवलोक्य) एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिः किमपि व्याहरतीव मां चूतवृक्षः" ।

तपोवन के वृक्ष कोकिल के शब्द द्वारा शकुन्तला की विदाई में अपनी अनुमति देते प्रतीत होते हैं ("अनुगतगमना शकुन्तला"....इत्यादि ४।१०) ।

कालिदास का विश्वास है कि प्रकृति भावी मंगल और अमंगल की सूचना देती है । माधवी लता का मुकुलित होना शकुन्तला के पाणिग्रहण के समय का सन्निकट होना सूचित करता है :—"असमये खल्वेषा आमूलात् मुकुलिता माधवीलता ।"........."प्रियंवदा—आसन्नपाणिग्रहणासि त्वम्" ।

इन उद्धरणों द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अ० शा० में महाकवि ने सर्वत्र मनुष्य का प्रकृति के साथ मधुर-सम्बन्ध स्थापित करने का पूर्ण प्रयास किया है । इस प्रकार कालिदास ने मानव तथा प्रकृति दोनों का सुन्दर सम्पर्क तथा उनकी अनुपम एकरसता दिखलाकर प्रकृति के अभ्यन्तर स्फुरित होने वाले हृदय को भली भाँति पहचाना है ।

केवल वाह्य-प्रकृति के निरीक्षण एवं उसके सौन्दर्य-वर्णन में भी उनकी लेखनी पूर्णतया दक्ष है । उनकी निरीक्षण शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म तथा पैनी है । उनका निरीक्षण वैज्ञानिक तथा प्रतिभामण्डित है । उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्यों को बड़ी सावधानी से हृदयंगम किया है । उनके प्राकृतिक वर्णन इतने सजीव हैं कि वर्णित वस्तु हमारे नेत्रों के समक्ष नृत्य करती हुई सी प्रतीत होती है । वाह्य-प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसका मार्मिक अंश प्राप्त कर लेना ही कालिदास की महती विशेषता है । उनके प्रकृति-वर्णन में निरीक्षण की नवीनता, सहृदयता की सरसता तथा कल्पना की कमनीयता पाई जाती है । हाँ, इतना अवश्य है कि उन्होंने प्रधानतः प्रकृति के केवल भव्य, मनोरम, सौन्दर्यसमुज्ज्वल तथा यथार्थ पक्ष का ही वर्णन किया है ।

प्रथम अङ्क में रथ के वेग का वर्णन करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि रथ के वेग के साथ गमन किये जाने पर समीपस्थ प्रकृति के आकार में शीघ्रता के साथ कैसा कैसा परिवर्त्तन हुआ करता है :—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद् विपुलतां
यदर्द्धा विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत् ।

प्रकृत्या यद् वक्रं तदपि समरेखं नयनयोः
न मे दूरे किंचित् क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ।।१।९।।

इस श्लोक में प्रकृति का सुन्दर, सूक्ष्म तथा यथार्थ चित्रण हुआ है। स्वर्गलोक से पृथ्वी की ओर उतरते समय राजा पृथ्वी को देखते हैं :—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात् पादपाः।
सन्तानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ।।७।८।।

इसी भाँति तपोवन का कितना सुन्दर, भव्य एवं यथार्थ तथा हृदयग्राही वर्णन "कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः......" इत्यादि १।१५।। श्लोक में प्रस्तुत किया गया है।

कालिदास का काव्य-सौन्दर्य

कविता का राज्य उसका सौन्दर्य हुआ करता है। यह सौन्दर्य बहिर्जगत् तथा अन्तर्जगत् दोनों ही में है। इसमें सन्देह नहीं कि जो कवि केवल वाह्य-सौन्दर्य का ही वर्णन किया करते हैं, वह भी कवि हैं, किन्तु जो कवि मानव के अंतस्तल (मन) के सौन्दर्य का भी उत्कृष्ट रूप से वर्णन किया करते हैं, उनकी गणना महाकवि की श्रेणी में की जाती है। वाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य में वस्तुतः एक निगूढ सम्बन्ध अवश्य है। वाह्य-प्रकृति के माधुर्य की अनुभूति तो अन्य प्राणी भी किया करते हैं। चकोर पूर्णचन्द्र का दर्शन कर आनन्द-विभोर हो उठता है, मयूर मेघ को देखकर आनन्द-विभोर हो नृत्य करना प्रारम्भ कर देता है, हरिण वंशी-ध्वनि सुनकर स्थिर हो जाता है—इत्यादि-इत्यादि। किन्तु मानव की दृष्टि में यह वाह्य-सौन्दर्य केवल क्षणिक आनन्द-प्रदाता ही नहीं हुआ करता है अपितु वह मानव-हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करता है, हृदय पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसी प्रभाव के कारण मानव में स्नेह, दया, भक्ति, कृतज्ञता आदि अनेक-विध भावों की उत्पत्ति हुआ करती है।

किन्तु फिर भी वाह्य-सौन्दर्य के वर्णन की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य के वर्णन में कवि की प्रतिभा का विकास अधिक सुन्दर रूप में होता है। दोनों प्रकार के सौन्दर्यों की तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि वाह्य-सौन्दर्य स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्त्तनशील है। वन, पर्वत, मैदान, नदियाँ, आकाश आदि में स्थिरता, निष्प्राणता एवं अपरिवर्त्तनशीलता अधिक है; किन्तु मानव-हृदय में विद्यमान घृणा भक्ति के रूप में परिवर्त्तित हो जाती है, अनुकम्पा से स्नेह की उत्पत्ति हो जाती है तथा प्रतिहिंसा की भावना से कृतज्ञता का भाव उद्भूत होना संभव है। जो कवि इस प्रकार के परिवर्त्तन को अपनी कविता में चित्रित करने में समर्थ हो सकता है तथा इस प्रकार जो अन्तर्जगत् के विचित्र रहस्य को खोलकर जन-साधारण के समक्ष रखने में समर्थ हो सकता है उसके समक्ष मानसिक भावनायें तथा समस्यायें आप ही आप सुलझकर उपस्थित हो जाया करती हैं। मानव-हृदय की गूढ़ से गूढ़ जटिल समस्यायें उसके लिये स्वयं ही सरल हो जाया करती हैं और फिर वह अपनी कविता में उनका सुन्दर से सुन्दर चित्रण कर सकता है।

कालिदास ने अपने सभी नाटकों में दोनों ही प्रकार के सौन्दर्य का चित्रण किया है। पहले हमें उनके अन्तर्जगत् सम्बन्धी कवित्व के चित्रण के बारे में विचार करना है और वह भी अ० शा० की दृष्टि से। महाकवि द्वारा चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला की विदा के समय कण्व की मानसिक अवस्था का चित्रण अत्यन्त मर्मस्पर्शी शब्दों में उपस्थित किया गया है :—"यास्यत्यद्य शकुन्त-लेति..." इत्यादि ४।६।। षष्ठ अङ्क में राजा दुष्यन्त शकुन्तला को देखकर मन ही मन सोचते हैं :—

> इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
> प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन् ।
> भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
> न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ।।५।१९।।

इस उद्धरण में राजा की मनोदशा का कैसा गम्भीर एवं विचित्र चित्रण हुआ है। दर्शनीय है।

इसी भाँति अँगूठी-प्राप्ति के पश्चात् राजा को शकुन्तला का स्मरण हो आता है और वे शकुन्तला के तीव्र वियोग का अनुभव करते हैं। इस विरह-

दशा में महाकवि ने राजा के मनोगत भावों के अनेक सुन्दर चित्र अभिज्ञान-शाकुन्तल में उपस्थित किये हैं ।

वाह्य-जगत् सम्बन्धी कवित्व का चित्रण

वाह्य-जगत् के चित्रण के अन्तर्गत प्रकृति का तो सम्पूर्ण सौन्दर्य आ ही जाता है, साथ ही नारी एवं पुरुष का रूप-सौन्दर्य भी आ जाता है । प्रकृति-चित्रण का वर्णन इससे पूर्व ही विस्तार के साथ किया जा चुका है । अतः यहाँ नारी एवं पुरुष के रूप-सौन्दर्य पर सूक्ष्म दृष्टिपात करना है ।

कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तल में अनेक स्थलों पर शकुन्तला के रूप का बड़ा ही सजीव एवं हृदयग्राही वर्णन प्रस्तुत किया है । प्रथम अङ्क में दुष्यन्त वल्कलवस्त्रधारिणी शकुन्तला को देखकर सोचता है—सौन्दर्य वाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं करता है । सुन्दर पदार्थ आदि तो सभी अवस्थाओं में सुन्दर ही प्रतीत हुआ करते हैं । अतएव वल्कल वस्त्र धारण किये हुए होने पर भी शकुन्तला मनोहर ही है—१।२०।। कालिदास की दृष्टि में कृत्रिमतारहित सौन्दर्य ही वास्तविक सौन्दर्य है—"इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः····" इत्यादि १।१८।।

द्वितीय अङ्क में शकुन्तला के रूप का वर्णन करते हुए राजा अपने मित्र विदूषक से कह रहा है :—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ।।२।१०।।

अर्थात् शकुन्तला का रूप एक ऐसे पुष्प के सदृश है कि जिसकी गन्ध किसी ने ली न हो, एक ऐसे पल्लव के समान है कि जिसे किसी के द्वारा नखाग्र-भाग से खोटा न गया हो, एक ऐसे रत्न के सदृश है कि जिसे किसी ने धारण न किया हो और ऐसे नवीन मधु के समान है कि जिसका स्वाद किसी ने न लिया हो । पुण्यों के अखंड फल के सदृश वह अछूता रूप विधाता न जाने किस भोग करने वाले को प्रदान करेंगे ।

इसी प्रकार पंचम अङ्क में राज-सभा में आई हुई शकुन्तला को देखकर तथा षष्ठ अङ्क में चित्रलिखित शकुन्तला को देखकर राजा द्वारा उसके रूप-सौन्दर्य का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया गया है। सप्तम अङ्क में मारीच ऋषि के आश्रम में स्थित वियोगिनी शकुन्तला का रूप-सौन्दर्य पूर्णतया स्वाभाविक तथा दर्शनीय है :—

वसने परिधूसरे वसाना, नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला, मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ।।७।२१।।

ऊपर उद्धृत वर्णन स्थिर-सौन्दर्य के वर्णन हैं। यदि इनको एक प्रकार के शब्द-चित्र ही कह दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। पठनमात्र से ही ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो अपने समक्ष कोई चित्रपट ही दृष्टि-गोचर हो रहा हो।

इसके अतिरिक्त कुछ वर्णन इस प्रकार के भी उपलब्ध होते हैं कि जो सजीव मूर्ति के चलते-फिरते सौन्दर्य के चित्र प्रतीत होते हैं। भ्रमर द्वारा सताई जाती हुई शकुन्तला का चित्र दुष्यन्त के शब्दों में देखिये—"चपलाङ्गां..." इत्यादि १।२४।। इसी प्रकार सिंचन करती हुई शकुन्तला का चित्र राजा के शब्दों में—"स्रस्तांसाव....." इत्यादि १।३०।। षष्ठ अङ्क में प्रत्याख्यान के पश्चात् राजा शकुन्तला के बारे में सोचते हैं तथा उस प्रत्याख्यान की घटना को मानो वे प्रत्यक्ष ही देखते हैं तथा अपने मित्र विदूषक से कहते हैं :—

"इतः प्रत्यादेशात् स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे ।
पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत् सविषमिव शल्यं दहति माम् ।।६।९।।

इनमें तथा इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक इस प्रकार के उद्धरणों में शकुन्तला का वर्णन दुष्यन्त के अन्तस् की विभिन्न दशाओं के साथ मिश्रित रूप से चित्रित हुआ है।

कालिदास का रूप-सौन्दर्य-चित्रण

कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में अनेक स्थानों पर शकुन्तला के रूप का अत्यन्त सजीव एवं हृदयग्राही वर्णन किया है। प्रथम अङ्क में दुष्यन्त

वल्कल-वस्त्रधारिणी शकुन्तला को देखकर अपने मन में सोचते हैं :—"इदमुपहित-सूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे...." इत्यादि १।१९ तथा "सरसिजमनुविद्धं...." इत्यादि १।२० । द्वितीय अङ्क में शकुन्तला के रूप का वर्णन करते हुए राजा अपने मित्र विदूषक से कहते हैं :—"अनाघ्रातं पुष्पं...." इत्यादि २।१०।। इसी प्रकार पंचम अङ्क में राज-सभा में आई हुई शकुन्तला को देखकर तथा छठे अंक में चित्रलिखित शकुन्तला को देखकर राजा द्वारा उसके रूप-सौन्दर्य का बड़ा ही हृदय-ग्राही वर्णन किया गया है । सप्तम अङ्क में आश्रमस्थित वियोगिनी शकुन्तला को देखकर राजा द्वारा उसका चित्र कितने सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत किया गया है:—"वसने परिधूसरे...." इत्यादि ७।२१।।

उपर्युक्त वर्णन स्थिर-सौन्दर्य के वर्णन हैं । यदि इनको एक प्रकार के शब्दचित्र ही कह दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी । पढ़ते ही पढ़ते ऐसी प्रतीति होने लगती है कि मानों अपने समक्ष कोई चित्रपट ही दृष्टिगोचर हो रहा हो । इसके अतिरिक्त कुछ वर्णन इस प्रकार के भी उपलब्ध होते हैं कि जो सजीव मूर्ति के चलते-फिरते सौन्दर्य के चित्र प्रतीत होते हैं । भ्रमर द्वारा सताई जाती हुई शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त कहते हैं...."चपलाङ्गां दृष्टिं...." इत्यादि १।२४।। वृक्षों का सिंचन करते हुए शकुन्तला का दर्शन कर राजा की उक्ति :—"स्रंस्तासाव.....इत्यादि १।३०।।" षष्ठ अङ्क में प्रत्याख्यान के पश्चात् राजा शकुन्तला के बारे में विचार करते हैं तथा प्रत्याख्यान की घटना को मानो वे प्रत्यक्ष ही देख रहे हों, इस रूप में विदूषक से कहते हैं—(इतः प्रत्यादेशात्.....इत्यादि" ६।९।।

इनमें तथा इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक इस प्रकार के उद्धरण हैं कि जिनमें शकुन्तला का वर्णन दुष्यन्त के अन्तस् की विभिन्न दशाओं के साथ मिश्रित रूप से चित्रित किया गया है ।

अ० शा० में पुरुष-रूप-सौन्दर्य का चित्रण स्वल्प मात्रा में ही हुआ है । द्वितीय अङ्क में सेनापति द्वारा राजा के रूप का वर्णन जिस रूप में किया गया है, दर्शनीय है—"अनवरतधनुर्ज्या...." इत्यादि २।४।।

इसी भाँति दुष्यन्त-पुत्र सर्वदमन के रूप का वर्णन ७।१७ में किया गया है ।

कालिदास का प्रेम-चित्रण

प्रेम का चित्रण करते हुए कालिदास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सांसारिक विषय-वासना-सम्पन्न प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं है। तपस्या द्वारा निखरा हुआ प्रेम ही वस्तुतः सच्चा प्रेम है। अ० शा० में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देखने को प्राप्त होता है। शकुन्तला तथा दुष्यन्त का प्रारम्भिक प्रेम बाह्य-सौन्दर्य पर ही आधारित था। उसमें सांसारिक विषय-वासना का प्राधान्य था। इसी कारण यह प्रेम सफलता को प्राप्त न कर सका। परिणामस्वरूप वियोग सहन करना पड़ा। वियोग के पश्चात् जब दोनों का प्रेम तपस्या की अग्नि में संतप्त हो वास्तविकता को प्राप्त हुआ तभी वह सफल हुआ। इसीलिये दुष्यन्त ने पातिव्रत धर्म का नियमित रूप से पालन करने वाली मलिन वस्त्रधारिणी शकुन्तला को जब देखा तो उसे प्रेम की वास्तविक मूर्ति स्वीकार किया और इसी भावना के साथ वह शकुन्तला के चरणों पर गिरा भी है :—"वसने परिधूसरे..." इत्यादि ७।२१।। उनका विश्वास है कि परस्पर हुए प्रेम का कारण पूर्वजन्मार्जित संस्कार हैं "भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि" —५।२।। कालिदास ने अनियन्त्रित प्रेम को प्रेम नहीं माना है। उन्होंने दाम्पत्य-प्रेम को महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने दुष्यन्त के माध्यम से अपने इस सिद्धान्त का निरूपण किया है कि दाम्पत्य-प्रेम ही उचित प्रेम है तथा परस्त्री-सम्पर्क त्याज्य है :—"कुमुदान्येव.....इत्यादि" ५।२८।।

अभिज्ञान शाकुन्तल में रसात्मक सौन्दर्य

'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में शृंगार-रस की प्रधानता है। अतएव इसमें शृङ्गार-रस अङ्गी रस के रूप में तथा अन्य करुण, वीर, अद्‌भुत, हास्य, भयानक, वात्सल्य और शान्त रस अंग रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसमें शृङ्गार रस के दोनों ही पक्षों का कलात्मक दृष्टिकोण से अत्यन्त सुन्दर परिपोष हुआ है। संयोग (अथवा संभोग) शृङ्गार सम्बन्धी अनेक उदाहरण प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा सप्तम अङ्कों में उपलब्ध होते हैं। प्रथम अङ्क में शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के हृदय में रतिभाव जाग्रत होता है। वह कहता है :—"अहो मधुरमासां दर्शनम्"। शकुन्तला की ओर आकृष्ट होकर वह कहता है :—"इदं किलाव्याज-

मनोहरं...." इत्यादि १।१८।। वह वल्कल-वस्त्रधारिणी भी शकुन्तला को अति सुन्दरी के रूप में देखता है तथा उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करता हुआ कहता है :—"सरसिजमनुविद्धं..." इत्यादि १।२०।। वह शकुन्तला के सौन्दर्य से अत्यधिक प्रभावित है और उसे पुष्पित लता के रूप में देखता है:—"अधरः किसलयरागः....." इत्यादि १।२१।। उसकी हार्दिक अभिलाषा है कि वह शकुन्तला को पत्नी के रूप में स्वीकार करे। अतएव वह यह सहन करने में असमर्थ है कि भ्रमर द्वारा शकुन्तला के अधरों का रस-पान किया जाये—"चलापाङ्गां दृष्टिं...." इत्यादि १।२४।। कुछ समय के पश्चात वह शकुन्तला एवं उसकी सखियों के समीप पहुँच जाता है तथा शकुन्तला के प्रति अपने प्रेम को अभिव्यक्त करता है। शकुन्तला भी उसे देखकर उसके प्रति आकर्षित होती है तथा अपने भावों के द्वारा उसके प्रति अपने प्रेम को प्रकट करती है। वह कहती है :—"किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोधनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता"। दुष्यन्त को विश्वास है कि शकुन्तला के हृदय में उसके प्रति स्नेह उत्पन्न हो चुका है। अतएव वह कहता है :—"वाचं न मिश्र-यति...." इत्यादि १।३१।। शकुन्तला का आकर्षण प्रति क्षण वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। राजा के जाते समय वह कुश के चुभने का बहाना कर राजा को प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखती है :—अनसूये! अभिनवकुशसूच्या परिक्षतं मे चरणं.... मोचयामि (शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती......निष्क्रान्ता।)। इस दृश्य को नायक राजा भी देखता है तथा उसे विश्वास हो जाता है कि शकुन्तला की अनुरक्ति उसके प्रति प्रतिक्षण वृद्धि को प्राप्त हो रही है। इस बात का संकेत वह विदूषक से शकुन्तला विषयक अपने प्रेम का वर्णन करते समय करता है :— २।११–१२।। तृतीय अङ्क में शकुन्तला की व्याकुलता को देखकर तथा सखियों के साथ हुई बातचीत के आधार पर अपने प्रति शकुन्तला के अनन्य प्रेम का साक्षात् कर वह लतामंडप में प्रवेश करता है। उचित अवसर पाकर प्रियंवदा राजा से कहती है—"यह हमारी प्रिय सखी शकुन्तला आपके ही उद्देश्य से कामदेव के द्वारा इस अवस्था को पहुँचायी गयी है।" अतः इसकी जीवनरक्षा करें। यह सुनकर राजा उत्तर देता है—"यह प्रार्थना तो दोनों ही ओर एक सी ही है।" इस पर शकुन्तला द्वारा "हे सखि! अन्तःपुर के वियोग से उत्कंठित राजर्षि से इस प्रकार अनुरोध करना उचित नहीं है" यह कहे जाने

पर राजा उसे विश्वास दिलाता है कि वह उससे ही हार्दिक तथा सर्वाधिक प्रेम करता है :—"इदमनन्यपरायणम्....." इत्यादि ३।१६।। वह गन्धर्व-विवाह के निमित्त अपनी स्वीकृति देता है। पृथ्वी तथा शकुन्तला इन दो को ही अपने वंश की प्रतिष्ठा मानता है "द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे—" ३।१७।। शकुन्तला के प्रति अपने अत्यधिक प्रेम को अभिव्यक्त करता हुआ वह उसके पैरों को दबाने के निमित्त भी तैयार हो जाता है :—"किं शीतलैः—"इत्यादि ३।१८।। वह शकुन्तला के अधर-सुधा-रस का पान करने का भी प्रयास करता है :—"अपरिक्षतकोमलस्य....." इत्यादि ३।२१।। इस भांति हम देखते हैं कि इस अङ्क में आकर संयोग-शृंगार अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है। इसके पश्चात् हमें पुनः सप्तम अङ्क में संयोग शृङ्गार का दर्शन शकुन्तला एवं राजा के पुनर्मिलन के अवसर पर होता है। वियोगिनी शकुन्तला को देखकर राजा खेद प्रकट करता हुआ कहता है :—"वसने परिधूसरे वसाना".....इत्यादि ७।२१।। वह अपने द्वारा किये गये परित्याग का पश्चात्ताप करता हुआ शकुन्तला के पैरों पर गिर पड़ता है तथा उससे क्षमा-याचना करता है :—"सुतनु हृदयात् ....." इत्यादि ७।२४।।

इसी प्रकार अ० शा० में शृङ्गार रस के द्वितीय पक्ष विप्रलम्भ अथवा वियोग का भी पूर्णरूपेण परिपाक हुआ है। द्वितीय अङ्क में (राजा के प्रारम्भिक कथनों में), तृतीय अङ्क के आरम्भ तथा अन्त में (जब गौतमी के आगमन से नायक एवं नायिका का पार्थक्य हो गया है) और इसके पश्चात् षष्ठ अङ्क में मुद्रिका-प्राप्ति के अनन्तर विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन उपलब्ध होता है।

द्वितीय अङ्क में राजा शकुन्तला के वियोग के कारण खिन्नमना है। वह शकुन्तला की प्राप्ति को असुलभ समझता हुआ खेद प्रकट करते हुए कहता है :—"कामं प्रिया न सुलभा...." इत्यादि २।१।। शकुन्तला की हाव-भाव-पूर्ण चेष्टाओं का स्मरण करता है तथा कामी व्यक्ति के सदृश उन चेष्टाओं को अपने ही पक्ष में लेता है :—"स्निग्धं वीक्षितम्....." इत्यादि—२।२।। वह उसे विलक्षण और अलौकिक स्त्री मानता है :—"चित्रे निवेश्य परिकल्पित...." इत्यादि २।९।। शकुन्तला की प्राप्ति में वह संदिग्ध है :—"अनाघ्रातं पुष्पं.." इत्यादि २।१०।। फिर भी वह शकुन्तला की काम-चेष्टाओं के आधार पर स्वयं उसका पति बनने

की आशा रखता है—२।११–१२।।, वह शकुन्तला की ओर से अपने मन को हटाने में नितान्त असमर्थ है :—"जाने तपसो वीर्यं...." इत्यादि ३।२।। इस तृतीय अङ्क में वह तथा शकुन्तला दोनों ही काम-पीड़ित अवस्था में विद्यमान हैं। दोनों में परस्पर एक दूसरे से मिलने की उत्कण्ठा है। राजा के लिये कामदेव तथा चन्द्र-चन्द्रिका अत्यन्त उद्दीपक तथा दुःखदायी हो रहे हैं—"तव कुसुम-शरत्वं......" इत्यादि ३।३।। शकुन्तला भी राजा के विरह के कारण अत्यन्त दुःखी है, काम-संतप्ता है। चन्दन आदि का लेप किये हुए पुष्पों की शय्या पर पड़े हुए होने पर भी उसे शान्ति नहीं मिल रही है :—"स्तनन्यस्तोशीरं"...... इत्यादि ३।६।। उसकी दशा अत्यन्त दयनीय हो गई है :—"क्षाम-क्षामकपोलम् ......" इत्यादि ३।७।। राजा के मिलन के विना उसका जीवित रहना ही दूभर हो रहा है :—"तद् यदि वामनुमतं, तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि। अन्यथाऽवश्यं सिञ्चतं मे तिलोदकम्" ।। उधर राजा भी शकुन्तला के वियोग के कारण अत्यधिक दुर्बल हो गया है—"इदमशिशिरैः....." इत्यादि ३।१०।। शकुन्तला से मिलने के लिये वह भी अधीर हो चुका है। वह कहता है :—"अयं स ते तिष्ठति...." इत्यादि ३।११।। सखियों द्वारा बार बार अनुरोध किये जाने पर शकुन्तला भी पत्र द्वारा अपने प्रेम को प्रकट करती है :—"तव न जाने हृदयं....." इत्यादि ३।१३।। उधर राजा भी अपनी विरहावस्था को अभिव्यक्त करता हुआ कह रहा है :—"तपति तनुगात्रि....."इत्यादि ३।१४।। अङ्क के अन्त में शकुन्तला के चले जाने पर अत्यधिक दुःखी होने के कारण उसकी दशा किंकर्तव्यविमूढ़ के सदृश हो जाती है "अहो विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थ-सिद्धयः" "क्व नु खलु संप्रति गच्छामि....." इत्यादि ।। छठे अङ्क में अँगूठी मिलने के पश्चात् राजा को शकुन्तला सम्बन्धी सम्पूर्ण वृत्तान्त स्मरण हो आया है। अतः वह पश्चात्ताप-ग्रस्त है। कञ्चुकी द्वारा उसकी इस दशा का वर्णन किया गया है :—"रम्यं द्वेष्टि...." इत्यादि ६।५।। राजा इतना दुःखी है कि उसे दुःख के कारण निद्रा ही नहीं आती है और वह निरन्तर चिन्तित ही रहता है :—"प्रत्यादिष्टविशेष".....६।६।।, आम्रमंजरी को देखकर उसका दुःख अत्यधिक उद्दीप्त हो जाता है अतः उसने वसन्तोत्सव का मनाया जाना पूर्णतया स्थगित कर दिया है :—"मुनिसुताप्रणय..." इत्यादि ६।८।। वह शकुन्तला के प्रत्याख्यान सम्बन्धी घटना का स्मरण करके अत्यन्त अधीर हो जाया

करता है और वह कहता है :—"इतः प्रत्यादेशात्....." इत्यादि ६।९।। शकुन्तला का पुनः दर्शन होने के बारे में वह हताश है :—"स्वप्नो नु माया नु......" इत्यादि ६।१०।। वह अँगूठी को सम्बोधित कर कह रहा है कि हे अंगुरीयक ! तुम जल में क्यों डूब गई ? अथवा अँगूठी को अचेतन जानकर फिर अपने को ही दोषी ठहराता है—"कथं नु तं कोमलबन्धु...." इत्यादि ६।१३।। वह शकुन्तला के चित्र से ही अपना मन-बहलाव करना चाहता है। चित्र को देखकर वह कहता है कि मैं स्वयं आकर उपस्थित हुई प्रिया का त्यागकर अब उसके चित्र का अतिशय आदर कर रहा हूँ :—"साक्षात् प्रियामुपगताम्..." इत्यादि ।६।१६।।, चित्रगत शकुन्तला का दर्शन करते ही उसकी आँखों में अश्रुधारा आ जाती है। अतः वह उसके चित्र को भी नहीं देख पाता है। इस कारण वह और भी दुःखी है :—"प्रजागरात्...." इत्यादि ६।२२।।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि विप्रलम्भ शृङ्गार के सभी प्रकारों की ओर महाकवि का विशिष्ट ध्यान रहा है। अतएव उनका विप्रलम्भ-शृङ्गार सम्बन्धी वर्णन अत्युत्तम बन गया है।

करुण-विप्रलम्भ-शृङ्गार-रस—

प्रत्याख्यान के पश्चात् (पंचम अङ्क में) रुदन करती हुई शकुन्तला द्वारा गमन किये जाने के दृश्य में करुण-विप्रलम्भ-शृङ्गार-रस है। "वसुधे देहि मे विवरम्" (शकुन्तला का कथन)।

वात्सल्य-विप्रलम्भ शृङ्गार-रस—

चतुर्थ अङ्क में महाकवि ने वात्सल्य-विप्रलम्भ का चित्रण किया है। यह चित्रण अत्यन्त मर्म-स्पर्शी तथा अपूर्व है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास की प्रतिभा का विकास पूर्णतया इसी चित्रण में हो सका है। इसी कारण "तत्रापि चतुर्थोऽङ्कः" की उक्ति नितान्त सत्य और सार्थक प्रतीत होती है।

यद्यपि कुछ विद्वानों ने शकुन्तला की विदाई के इस दृश्य में करुण-रस को माना है; किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता है। वस्तुतः करुण में तो पुन-र्मिलन की आशा ही समाप्त हो जाया करती है किन्तु इस दृश्य में तो शकुन्तला के पुनर्मिलन के वर्णन द्वारा (४।२०) यह स्पष्ट हो जाता है कि इस वर्णन में

पुर्नमिलन की आशा विद्यमान है। दूसरी बात यह है कि वात्सल्य-भाव में साधारणतया पिता-पुत्रादि के ही हृदय का द्रवित होना देखा जाया करता है किन्तु इस दृश्य में तो न केवल पिता तथा शकुन्तला की सखियाँ आदि ही द्रवित होती हैं, अपितु आश्रमस्थ प्रकृति, पशु-पक्षी आदि सभी शकुन्तला के प्रति अत्यधिक अनुराग के कारण वियोगजन्य दुःख का अनुभव कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ करुण रस के स्थायी भाव शोक का अभाव ही कहा जा सकता है। अतः इस चित्रण में करुण-रस का मानना अनुपयुक्त सा ही प्रतीत होता है।

कन्या को प्रथम बार उसके पति के गृह भेजते समय ऋषि कण्व की मानसिक व्यथा और उनका दुःख किसी भी सांसारिक गृहस्थ पुरुष की अपेक्षा न्यून दृष्टिगोचर नहीं होता है। उनका हृदय शकुन्तला के वियोगजन्य दुःख से अत्यधिक दुःखी है, उनकी आँखें अश्रुधारा से युक्त हैं, उनका कण्ठ अवरुद्ध हो रहा है, वे स्वयं कहते हैं :—"यास्यत्यद्य...." इत्यादि ४।६।। महर्षि कण्व वृक्षों को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि हे वृक्षो ! शकुन्तला आज अपने पति-गृह जा रही है। उसे तुम सब विदाई दो। उसका तुम्हारे प्रति स्नेह महान् था। वह कभी भी तुम्हारा सिंचन किये बिना स्वयं जल-पान नहीं किया करती थी, नवीन पत्रों द्वारा श्रृंगार करने की प्रिय होने पर भी वह तुम्हारे नवीन किसलयों को नहीं तोड़ा करती थी। नवीन पुष्पों के उद्गम के समय आनन्द-विभोर हो उत्सव मनाया करती थी— "पातुं न प्रथमं....." इत्यादि ४।९।। शकुन्तला की विदाई के कारण सम्पूर्ण तपोवन ही दुःखी है। हरिणियों ने घास का चरना ही त्याग दिया है, मयूरों ने नृत्य करना छोड़ दिया है, लतायें पीतवर्ण के पत्तों के रूप में अश्रुधारा बहा रही हैं—"उद्गलितदर्भ-कवला..." इत्यादि ४।१२।। (यहाँ यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि वन की प्रत्येक वस्तु, वनस्पति, वृक्ष, लता, पशु-पक्षी तथा तत्रस्थ निवासियों के साथ शकुन्तला की कितनी आत्मीयता थी)। प्रिय लता वनज्योत्स्ना से भी वह विदाई लेती है और उसे कण्ठ से लगाती है :—"वनज्योत्स्ने ! चूतसंगताऽपि मां........भविष्यामि।" शकुन्तला ने जिस मृग का पालन-पोषण बाल्यकाल से ही किया था, वह मृग शकुन्तला के वस्त्र को पकड़ लेता है और उसे छोड़ना नहीं चाहता—"अस्य त्वया व्रणविरोपण...." इत्यादि ४।१४।। वह उसे धैर्य बंधाती है तथा रुदन करती हुई चल देती है :—

"वत्स ! किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि" इत्यादि । पितृ-वियोग से विकल शकुन्तला पिता कण्व से कहती है कि वह उनके बिना कैसे जीवन धारण कर सकेगी—"कथमिदानीं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा....धारयिष्यामि" । कण्व द्वारा उसे सान्त्वना प्रदान की जाती है । विदा होते समय शकुन्तला अपने पिता कण्व से कहती है कि आप तपस्या के कारण अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं । ऐसी दशा में आप मेरे लिये दुःख का अनुभव न करें । ऋषि कण्व उसको उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि तुम्हारे द्वारा पूजा के रूप में फेंके गये हुए और कुटी के द्वार पर उगे हुए नीवार नामक अन्न को देख देख कर मेरा दुःख भला कैसे कम हो सकेगा :—"शममेष्यति मे शोकः....." इत्यादि ४।२१।। शकुन्तला की दोनों सखियाँ उसके वियोग के कारण अत्यन्त व्याकुल हैं । वे उसके बिना तपोवन में वापिस जाने के लिये तैयार नहीं हैं :—"शकुन्तलाविरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः" । Page 261.

हास्य-रस—

अ० शा० में शिष्ट एवं परिष्कृत हास्य का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है । शकुन्तला प्रियंवदा की शिकायत अनसूया से करती हुई कह रही है कि उसने उसकी चोली को अत्यन्त दृढ़ता के साथ बाँध दिया है जिससे उसे कष्ट है । इसके उत्तर में प्रियंवदा कहती है कि तुम मुझे क्यों दोष देती हो ? अपनी युवावस्था को क्यों दोषी नहीं ठहराती कि जिसने तुम्हारे स्तनों को इतना अधिक बढ़ा दिया है—"अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व । मां किमुपालभसे ?" षष्ठ अङ्क के आरम्भ में कोतवाल तथा धीवर की बातचीत में, धीवर द्वारा स्वयं छुट जाने तथा पारितोषिक प्राप्ति के पश्चात्, कितना सुन्दर व्यंग कोतवाल के प्रति किया गया है—"भर्तः, अथ कीदृशो म आजीवः ?" (स्वामी ! कहिये मेरी आजीविका कैसी है ?) इसके अतिरिक्त हास्य-रस की योजना करने वाला मुख्य पात्र विदूषक इस नाटक में विद्यमान है ही । उसके कथोपकथन अत्यन्त सूक्ष्म, किन्तु व्यंग-प्रधान हैं । वह स्थान-स्थान पर व्यंग तथा हास्यप्रधान उक्तियों का प्रयोग करने में पूर्णतया दक्ष है । वह शकुन्तला के प्रति राजा के प्रेम को वैसा ही समझता है कि जैसे पिण्डखजूर से सन्तुष्ट हुए

व्यक्ति की इमली खाने की इच्छा । इसी प्रकार विदूषक की प्रायः सभी उक्तियाँ लोकोक्ति, व्यंग, हास्यपूर्ण अनुपम उपमाओं तथा संवाद की स्वाभाविक शैली से भरी पड़ी हैं ।

अद्भुत-रस--

कथानक के अन्त में अद्भुत-रस का होना कला की दृष्टि से उत्तम माना गया है । उसका निर्वाह तो निर्वहण सन्धि में महाकवि द्वारा किया ही गया है :— राजा दुष्यन्त द्वारा इन्द्रलोक से पृथ्वी की ओर आते समय मार्ग में ही किया गया पृथ्वी का वर्णन "शैलानामवरोहतीव......" इत्यादि ७।८।। मातलि द्वारा ऋषि मारीच के आश्रम में तपस्या में संलग्न ऋषियों का विचित्र वर्णन—"वल्मीकाग्र......" इत्यादि ७।११।।

इसके अतिरिक्त बीच में भी यत्र तत्र कुछ स्थानों पर अद्भुत रस का वर्णन हुआ है । चतुर्थ अङ्क में आकाशवाणी द्वारा ऋषि कण्व को यह ज्ञान कराया गया है कि शकुन्तला दुष्यन्त के द्वारा गर्भिणी है :—"दुष्यन्तेनाहितं ....." इत्यादि ४।४।। शकुन्तला की विदाई के समय वन के वृक्षों द्वारा शकुन्तला के निमित्त दिये जाने वाले वस्त्रालङ्कारों के वर्णन में—"क्षौमं केनचिदिन्दु ....." इत्यादि ४।५।। अद्भुत रस है । पंचम अङ्क के अन्त में भी प्रत्याख्यान के अनन्तर मेनका नामक अप्सरा द्वारा शकुन्तला के उठा ले जाने के वर्णन में— "स्त्रीसंस्थानं...." इत्यादि ५।३०।। भी अद्भुत रस है । 7-8, 7-11, 7-12

वीर-रस—

यद्यपि शाकुन्तल में वीर-रसात्मक वर्णन स्वल्पमात्रा में ही विद्यमान है फिर भी कुछ उदाहरण वीर-रस सम्बन्धी उपलब्ध होते ही हैं । प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में आखेट करते हुए दुष्यन्त के उत्साह नामक भाव का ज्ञान प्राप्त होता है । अतः इसमें वीर रस है । दूसरे अङ्क में दो ऋषिकुमारों द्वारा राजा की युद्धवीरता की प्रशंसा की गई है । उसकी वीरता का यश स्वर्ग तक पहुँच चुका है । वह पराक्रम में इन्द्र के तुल्य है :—"अध्याक्रान्ता वसति...." इत्यादि २।१४।। तथा "नैतच्चित्रं यदयमुदधि...." इत्यादि २।१५।। राजा की वीरता का परिणाम हमें तृतीय अङ्क के आरम्भ में देखने को मिलता है :—"का कथा-

वाण....'' इत्यादि ३।१।। पंचम अङ्क में राजा तथा शार्ङ्गरव के वाग्युद्ध के वर्णन में दोनों ही की धर्मवीरता का परिचय प्राप्त होता है। दोनों ही अपने अपने धर्म तथा कर्तव्य की रक्षा के निमित्त कटिबद्ध हैं। जब शकुन्तला राजा को विश्वास दिलाने हेतु आश्रम की घटना को सुनाती है तब भी राजा अपने आपको एक धर्मवीर के रूप में ही प्रस्तुत करता है और शकुन्तला को आचरणहीन कहता है :—''व्यपदेशमाविलयितुं.....'' इत्यादि ५।२१।। इसके अतिरिक्त वह शकुन्तला पर आरोप लगाता हुआ कहता है कि स्त्रियाँ तो जन्म से ही धूर्त्त हुआ करती हैं :—''स्त्रीणामशिक्षित....'' इत्यादि ५।२२।। षष्ठ अङ्क के अन्त में दुष्यन्त द्वारा अपने मित्र विदूषक की रक्षार्थ मातलि पर क्रोध किये जाने के दृश्य में तथा राक्षसों के वधार्थ इन्द्रलोक जाने की घटना में भी वीर-रस है।

भयानक-रस—

इस रस से सम्बन्धित वर्णन अ० शा० में केवल तीन स्थलों पर ही मिलते हैं। (१) प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में भयभीत मृग के वर्णन में—''ग्रीवाभङ्गाभिरामं.....'' इत्यादि १।७।। (२) इसी अङ्क के अन्त में भयभीत हाथी द्वारा आश्रम में प्रवेश किये जाने के वर्णन में—''तीव्राघातप्रतिहत.....'' इत्यादि १।३३।। तृतीय अङ्क के अन्त में भयानक स्वरूप को धारण कर राक्षसों द्वारा यज्ञशाला के समीप मँडराने के वर्णन में—''सायन्तने सवन....'' इत्यादि ३।२४।।

रौद्र-रस—

अ० शा० में वस्तुतः रौद्र-रस की निष्पत्ति तो कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि क्रोधित दुर्वासा द्वारा शकुन्तला को दिये गये शाप सम्बन्धी घटना में (आः ! अतिथिपरिभाविनि ! विचिन्तयन्ती.....इत्यादि-४।१।।) क्रोध-भाव की व्यंजनामात्र अवश्य हुई है; तथा इसी प्रकार राजा द्वारा किये गये प्रत्याख्यान के कारण अपमानित और दुःखी तथा क्रुद्ध शकुन्तला द्वारा राजा को जो उत्तर दिया गया है (शकु०—(सरोषम्) अनार्य ! आत्मनो ....प्रतिपत्स्यते।) उसमें भी क्षोभ तथा आक्रोश का भाव अवश्य अभिव्यक्त हुआ है।

वात्सल्य-रस--

सप्तम अङ्क में सर्वदमन नामक बालक के वर्णन में वात्सल्य-रस का सुन्दर परिपोष हुआ है। सर्वदमन को देखकर राजा उसे प्यार करने के लिये उत्कण्ठित है। वह बच्चे के अकारण हास्य तथा उसकी गोद में बैठने की इच्छा को देखकर अत्यधिक प्रसन्न होता है। वह बच्चे को गोद में खिलाये जाने तथा उसके मलिन अङ्गों द्वारा अपने वस्त्रों के मलिन हो जाने में अपना सौभाग्य समझता है--"आलक्ष्य दन्तमुकुलान्....." इत्यादि ७।१७।। सर्वदमन के स्पर्श को प्राप्त कर वह आह्लादित होता है--"अनेन कस्यापि..." इत्यादि ७।१९।।

शान्त-रस--

सप्तम अङ्क में मारीच ऋषि के आश्रम के तथा ऋषि के वर्णन में शान्त-रस की अनुभूति होती है। राजा को आश्रम में पहुँचने के पश्चात् स्वर्ग से भी अधिक शान्ति एवं सुख की प्राप्ति होती है। वह कहता है कि "मैं मानों अमृत के तालाब में स्नान कर रहा हूँ"--(स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतह्रद-मिवावगाढोऽस्मि।) आश्रम में निवास करने वाले सभी व्यक्ति तपस्वी तथा संयमी हैं। उनकी तपस्या भी विचित्र तथा अनोखी है :—"प्राणानामनिलेन ...." इत्यादि ७।१२।। ऋषि मारीच का दर्शन कर राजा अत्यन्त प्रभावित है। ऋषि की प्रशंसा में वह स्वयं कहता है :—"प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य..." इत्यादि ७।२७।।

नाट्यकला की दृष्टि से अभिज्ञानशाकुन्तल की समीक्षा

महाकवि कालिदास द्वारा रचित मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, और अभिज्ञानशाकुन्तल नामक तीन नाटकों में से अ० शाकुन्तल ही उनकी नाटकीय-प्रतिभा का सर्वोत्तम परिचायक है। उनके नाटकों की श्रेष्ठतम विशेषतायें ये हैं :—घटना संयोजन में सौष्ठव, वर्णनों एवं घटनाओं के चित्रण में स्वाभाविकता, सार्थकता और संकेतात्मकता; चरित्र-चित्रण में वैयक्तिकता; रचना-कौशल; कवित्व तथा रस-परिपाक। संस्कृत-साहित्य के अधिकांश नाटकों में अभिनेयता का लगभग अभाव-सा पाया जाता है। किन्तु कालिदास के नाटकों की यह महती विशेषता है कि वे अभिनय की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त हैं।

घटना-संयोजन में सौष्ठव—कालिदास ने अपने सर्वोत्तम नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल में घटनाओं का संयोजन करने में असाधारण चातुर्य का परिचय दिया है। साथ ही उनमें पूर्ण रूप से स्वाभाविकता भी विद्यमान है। प्रत्येक घटना की अपनी एक उपयोगिता तथा सार्थकता है। इसीलिये मुख्य कथानक के विकास में प्रत्येक घटना का पूर्ण योग विद्यमान है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अ० शा० की कथावस्तु की गति निरन्तर स्वाभाविक और अविच्छिन्न बनी रही है। उदाहरणार्थ—प्रथम अङ्क में मृग का पीछा करते हुए रथारूढ़ राजा के समक्ष तपस्वी स्वाभाविक ढंग से आते हैं। उनके कहने पर राजा मृग पर बाण चलाना बन्द कर देता है। परिणामस्वरूप वे उसे आशीर्वाद देते हैं कि तुम्हारे चक्रवर्ती पुत्र होगा। उनके द्वारा राजा से आश्रम में जाकर आतिथ्य स्वीकार करने के निमित्त प्रार्थना की जाती है। इसके पश्चात् वे तपस्वी समिधा लाने चले जाते हैं। ऋषि कण्व सोमतीर्थ गये हुए हैं। राजा विनीत वेष में आश्रम में प्रवेश करता है। तीन युवती कन्याओं का परस्पर-वार्त्तालाप श्रवण करता है। वे स्वाभाविक रूप से आपस में हास्य कर रही हैं। भ्रमर द्वारा शकुन्तला को तंग किया जा रहा है। रक्षार्थ सहायता की माँग होने पर वह एकाएक उनके सामने आ जाता है। राजा का प्रवेश उचित अवसर पर हुआ है। वह भ्रमर से शकुन्तला को बचाता है। इस स्वाभाविक एवं सार्थक घटना-समूह द्वारा दुष्यन्त और शकुन्तला का परस्पर साक्षात्कार बड़े ही नाटकीय ढंग से हुआ है। इसी भाँति आगे भी प्रत्येक घटना स्वाभाविक रूप में ही आती जाती है। घटना-संयोजन में विशिष्ट-सौष्ठव के स्थान ये हैं:—सखियों द्वारा परस्पर किया गया विवाह-विषयक वार्त्तालाप, भ्रमर द्वारा शकुन्तला को पीड़ित किया जाना, अनसूया द्वारा शकुन्तला की उत्पत्ति का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जाना, द्वितीय अङ्क में राजा का शिकार खेलने न जाना, शकुन्तला को पुनः देखने के लिये आश्रम में जाने हेतु बहाना सोचते समय ही दो ऋषिकुमारों द्वारा प्रविष्ट होना तथा राक्षसों के वधार्थ राजा से आश्रम में रुकने की प्रार्थना किया जाना, शकुन्तला को बिना देखे ही विदूषक का प्रस्थान, तृतीय अङ्क में गान्धर्व-विवाह के पश्चात् गौतमी का प्रविष्ट होना, चतुर्थ अङ्क में दुर्वासा का शाप, अँगूठी के दिखलाने से शाप-मुक्ति हो जाने का आश्वासन, पंचम अङ्क में रानी हंसपदिका का गीत, प्रत्याख्यान के पश्चात् मेनका द्वारा शकुन्तला को ऋषि मारीच के

आश्रम में ले जाया जाना, षष्ठ अङ्क में मुद्रिका (अंगूठी) की प्राप्ति तथा राजा का दुःखी होना, सप्तम अङ्क में राजा का पुत्र-दर्शन तथा शकुन्तला से मिलना। राजा बालक सर्वदमन (भरत) की माँ का नाम जानना चाहता है। उसी समय 'शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व' के द्वारा उसका नाम उसे ज्ञात हो जाता है।

घटनाओं की सार्थकता—अ० शा० की प्रत्येक घटना स्वाभाविक तथा सार्थक है। किसी विशिष्ट उद्देश्य से ही उसकी कल्पना एवं रचना भी हुई है। उदाहरणार्थ प्रथम अङ्क में तपस्वियों के अचानक आगमन से राजा को चक्रवर्ती पुत्र का आशीर्वाद प्राप्त होता है। उनके आदेशानुसार वह आश्रम में जाता है, फलस्वरूप शकुन्तला से प्रेम होता है। महर्षि कण्व सोमतीर्थ गये हुए हैं, अतः राजा को शकुन्तला के साथ गान्धर्व-विवाह करने का अवसर प्राप्त होता है। द्वितीय अङ्क में दो ऋषिकुमार आकर राक्षसों के बधार्थ राजा को आश्रम में रोक लेते हैं; परिणामस्वरूप शकुन्तला सम्बन्धी उसका प्रेम पुष्टि को प्राप्त होता है। पंचम अङ्क में शकुन्तला को बिना देखे विदूषक के चले जाने से शकुन्तला का प्रत्याख्यान निर्बाध होता है। अन्यथा यह संभव था कि विदूषक राजा को शकुन्तला-विषयक स्मरण दिला देता। इसी कारण पंचम अङ्क में उसे रानी हंसपदिका को समझाने के लिये पहले ही भेज दिया गया है। चतुर्थ अङ्क में दुर्वासा ऋषि का आश्रम में आना, शाप देना, अँगूठी द्वारा शाप-निवृत्ति का सन्देश महत्त्वपूर्ण घटनायें हैं। अँगूठी के खो जाने के कारण राजा को शकुन्तला का स्मरण ही नहीं आता है। अतः वह उसे नहीं पहचान पाता है। फिर अँगूठी मिलने पर स्मरण आ जाता है। सप्तम अङ्क में इन्द्र-लोक से वापिस आते समय मारीच ऋषि के आश्रम में पुत्र तथा पत्नी के साथ राजा का मिलन होता है।

वर्णनों में स्वाभाविकता—अ० शा० का प्रत्येक स्थल वर्णन-चातुरी एवं स्वाभाविकता से ओतप्रोत है। प्रत्येक वर्णन इतना सजीव तथा स्वाभाविक है कि पाठकों के समक्ष पूरा दृश्य ही उपस्थित हो जाता है। जैसे प्रथम अङ्क में भागते हुए भयभीत मृग का वर्णन १।७।।, रथ की गति का वर्णन—१।८–९।। तीनों सखियों का परस्पर वार्त्तालाप, द्वितीय अङ्क में विदूषक के साथ हुई राजा की बातचीत, तृतीय अङ्क में प्रेम-प्रदर्शन तथा गान्धर्व-विवाह,

चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला की बिदाई का दृश्य, पंचम अङ्क में शकुन्तला का प्रत्याख्यान, षष्ठ अङ्क में विरही दुष्यन्त का अत्यधिक शोकसमन्वित होना, सप्तम में पुत्र सर्वदमन तथा पत्नी से भेंट।

चरित्र-चित्रण में वैयक्तिकता—कालिदास चरित्र-चित्रण में अत्यन्त कुशल हैं। उनके प्रत्येक पात्र में अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व है। प्रत्येक पात्र की अपनी कुछ मुख्य विशेषतायें हैं, उनका विकास व्यवस्थित रूप में हुआ है। अ० शा० के प्रायः सभी पात्र समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि हैं। इसी कारण महाकवि द्वारा उनका नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चित्रण उत्तम रूप में प्रस्तुत किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि महाकवि को समाज के विभिन्न वर्गों की गति-विधियों का ज्ञान पूर्णरूपेण प्राप्त था तथा उनका मानव-प्रकृति-निरीक्षण भी अत्यन्त गम्भीर था।

दुष्यन्त धीरोदात्त नायक है। वह उत्साही तथा प्रतापी है। उसको अपने कर्तव्य-पालन का ध्यान सदैव रहता है। महाभारत के दुष्यन्त की अपेक्षा अ० शा० का दुष्यन्त अधिक सहानुभूति तथा प्रशंसा का पात्र है। वह एक आदर्श प्रजा-पालक राजा तथा धार्मिक सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाला व्यक्ति है। उसके द्वारा पत्नी के परित्याग का कारण शाप-जनित विस्मृति ही है, लोकापवाद का भय नहीं। कालिदास ने तीन वयोवृद्ध ऋषियों का वर्णन प्रस्तुत किया है तथा उन तीनों में अन्तर भी रखा है :—(१) कण्व–ये अत्यन्त सज्जन महर्षि हैं। उन्होंने शकुन्तला का पालन-पोषण अपनी पुत्री के सदृश किया है। उसके अनिष्ट-निवारण के लिये वे सोमतीर्थ जाते हैं। वे गान्धर्व-विवाह की स्वीकृति देते हैं और शकुन्तला की बिदाई के समय वास्तविक पिता के समान करुण-भाव से द्रवित हो जाते हैं। (२) मारीच—ये एक वीतराग ऋषि हैं। निर्लेपभाव से वे संसार की गतिविधियों को देखा करते हैं तथा संसार को कर्तव्य का उपदेश भी देते हैं। (३) दुर्वासा—यह एक अतिक्रोधी ऋषि हैं। मामूली सी गलती पर बेचारी शकुन्तला को शाप दे देते हैं।

दो ऋषि कण्व के शिष्य हैं—(१) शार्ङ्गरव–यह आत्माभिमानी, क्रोधी तथा अधिक बोलने वाला व्यक्ति है। (२) शारद्वत—यह विनीत, शान्त और कम बोलने वाला व्यक्ति है।

तीन सखियाँ हैं :—(१) शकुन्तला अत्यन्त सुशील, विनम्र, सलज्ज, मितभाषी, मधुरभाषी, सरल-हृदय और पतिव्रता है। (२) अनसूया गम्भीर, शान्त, विचारशील और मितभाषी है। (३) प्रियंवदा हास्य-प्रिय, वाक्चतुर, तथा अधिक बोलने वाली है। (प्रमुख पात्रों का विस्तृत चरित्र-चित्रण "पात्रों के चरित्र-चित्रण" शीर्षक में देखिये।)

चरित्र-चित्रण के इस प्रसंग में दो बातें विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य हैं:— (१) कालिदास ने अपने अन्य नाटकों में प्रधान नायिका के साथ ही साथ गौण नायिकाओं को भी प्रस्तुत किया है जिसका परिणाम यह हुआ है कि मुख्य नायिका के चरित्र का उत्थान सम्यक् रीत्या नहीं हो सका है। उन्होंने अ० शा० में इस त्रुटि का परिमार्जन किया है, अतएव शकुन्तला के चरित्र का विकास उत्तम रीति से हुआ है। अ० शा० में तो केवल एक नायिका शकुन्तला ही रङ्गमञ्च पर आती है। कालिदास ने बहुत सोच-समझ-कर षष्ठ अङ्क में रानी वसुमती को रंगमञ्च पर नहीं आने दिया है और प्रधान मन्त्री का पत्र लेकर प्रतिहारी का प्रवेश दिखलाया है। (२) कालिदास ने अन्य नाटकों में विदूषक को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया है। अ० शा० में उसका महत्त्व कम कर दिया है। उन्होंने यह अनुभव किया कि विदूषक जैसे सामान्य पात्र को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिये। इसी कारण उसे केवल तीन अङ्कों में ही (अङ्क २,५ व ६ में) रंगमंच पर लाया गया है और वह भी साधारण पात्र के रूप में ही। मातलि द्वारा किये गये प्रहार में उसका अच्छा उपयोग हुआ है।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेख कर देना उचित है कि महाकवि कालिदास के सभी ग्रन्थों में पुरुष-पात्रों की अपेक्षा स्त्री-पात्रों का चरित्र-चित्रण अधिक उत्तम बन पड़ा है।

रचना-कौशल—कालिदास कथानक के संचयन तथा उसके निर्माण में अत्यन्त कुशल हैं। उन्होंने अ० शा० में महाभारत के एक साधारण और नीरस कथानक को अपनी रचना-कुशलता के ही कारण अनुपम तथा अत्यधिक सरस बना दिया है। उनके रचना-कौशल में उर्वरता, नवीनता तथा कल्पनाओं का

बाहुल्य विद्यमान है । उन्होंने मूल-कथानक में क्या क्या परिवर्त्तन किये हैं तथा उन परिवर्त्तनों का क्या महत्त्व है, इसका विस्तृत-विवेचन "मूलकथा में परिवर्त्तन एवं परिवर्धन" शीर्षक में देखिये ।

वर्णनों और घटनाओं को संकेतात्मकता—कालिदास के ग्रन्थों में ध्वनि अथवा व्यंजना का मुख्य स्थान है । अतएव उनके वर्णन तथा घटनायें संकेतात्मकता से परिपूर्ण हैं । वे आगे होने वाली घटनाओं की ओर संकेत करती हैं । अ० शा० में प्रस्तुत प्रारम्भिक वर्णनों के द्वारा नाटक के कथानक की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है । "या स्रष्टुः..." इत्यादि (१।१) में नाटक की घटनाओं के सांकेतिक विवरण के लिये उक्त श्लोक की व्याख्या देखिये । नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के "दिवसाः परिणामरमणीयाः" (१।३) इस कथन से नाटक का अन्त सुखद होने की सूचना मिल जाती है । नटी के "ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः" (१।४) इस कथन से संकेत मिलता है कि भ्रमर के सदृश राजा दुष्यन्त भी शकुन्तला से कुछ समय के लिये प्रेम करेगा । सूत्रधार के "आर्ये सम्यगनुबोधितोऽस्मि । अस्मिन् क्षणे विस्मृतं खलु मया"—इस कथन से इस बात का संकेत मिलता है कि इस नाटक में 'भूलना' एक महत्त्वपूर्ण घटना है । राजा दुष्यन्त शकुन्तला को भूल जाएगा और अँगूठी उसे शकुन्तला की याद कराएगी । इस भाँति अपने प्रिय दुष्यन्त के ध्यान में निमग्न शकुन्तला दुर्वासा ऋषि का आतिथ्य करना भी भूल जाती है । परिणामस्वरूप वह शाप-ग्रस्त होती है । इस प्रकार नाटक की कुछ अन्य घटनायें भी भावी घटनाओं की ओर संकेत करती हैं । उदाहरणार्थ—प्रथम अङ्क में भ्रमर वाली घटना से दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को पीड़ित किये जाने का संकेत प्राप्त होता है । चतुर्थ अङ्क के आरम्भ में कण्व के शिष्य द्वारा प्रभात का वर्णन करते हुए "यात्येकतोऽस्तशिखरं..." इत्यादि (४।२।।) तथा "अन्तर्हित शशिनि..." इत्यादि (४।३) इस प्रकार से कहा जाना यह संकेत करता है कि सुख-दुःख का क्रम अनिवार्य है; अतः शकुन्तला पर आपत्ति आयेगी । उसका पति दुष्यन्त से वियोग होगा और उसकी स्थिति दयनीय होगी । पंचम अङ्क के प्रारम्भ में प्रस्तुत हंसपदिका के गीत "अभिनवमधुलोलुप..." इत्यादि (५।१।।) से यह संकेत मिलता है कि राजा दुष्यन्त शकुन्तला को भूल चुका है । वह उसका प्रत्याख्यान करेगा ।

साथ ही यह भी संकेत प्राप्त होता है कि दुष्यन्त की कई प्रेमिकायें हैं और वह उन्हें भुला देता है। यह उसका स्वभाव है। सप्तम अङ्क में इन्द्र द्वारा दुष्यन्त का विशेष सत्कार किया जाना इस ओर संकेत करता है कि दुष्यन्त की अभिलाषा शीघ्र ही पूरी होगी अर्थात् उसका शकुन्तला से मिलन शीघ्र ही होगा।

संवादों में नाटकीयता—अ० शा० के सभी संवाद नाटकीयता से परिपूर्ण हैं। प्रायः सभी वाक्य सरल, चुस्त और छोटे-छोटे हैं। कालिदास ने संवादों में व्यंजना का पूरा-पूरा आश्रय लिया है। चौथे अङ्क में अनसूया द्वारा प्रियंवदा से यह कहे जाने पर कि "दुर्वासा के शाप की बात हम लोगों तक ही सीमित रहे; किसी अन्य के अथवा शकुन्तला के समीप तक न पहुँचे" प्रियंवदा कितने सीमित शब्दों में उत्तर देती है—"को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति" ? (भला कौन नवमालिका को गर्म जल से सींचेगा ?) कालिदास ने संवादों को प्रभावशाली एवं सरस बनाने के निमित्त स्थान-स्थान पर आभाणकों तथा लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। राजा दुष्यन्त के शिकार सम्बन्धी व्यसन से खिन्न मन वाला विदूषक राजा के शकुन्तलाविषयक प्रेम को जानकर कहता है :—"इयतेदानीमपि पीडा न निष्क्रामति। ततो गण्ड-स्योपरि पिण्डकः संवृत्तः"। उन्होंने संवादों में शब्दों का इतना नपा-तुला प्रयोग किया है कि उनके वाक्य ही आगे चलकर लोकोक्तियों और सूक्तियों के रूप में प्रयुक्त होने लगे। अ० शा० इस प्रकार की अनेक सूक्तियों से भरा पड़ा है। (देखिये परिशिष्ट सं० ३)

भावपक्ष एवं कलापक्ष—

उत्कृष्ट कवियों में भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों ही समान दृष्टि से हुआ करते हैं। किसी-किसी में एक पक्ष की ही प्रधानता दृष्टिगोचर हुआ करती है। इस दृष्टि से यह कहना नितान्त उपयुक्त ही होगा कि महाकवि कालिदास की रच-नाओं में दोनों ही पक्ष समान दृष्टि से विद्यमान हैं। वे भाव-पक्ष के चित्रण में जितने कुशल हैं उतने ही कलापक्ष के चित्रण में भी।

अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रसिद्ध चार श्लोक

(तत्रापि श्लोकचतुष्टयम्)

"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।
तत्रापि चतुर्थोऽङ्कः तत्र श्लोकचतुष्टयम् ।।"

इस उक्ति के अनुसार अ० शा० के चतुर्थ अङ्क के अन्दर ये चारों प्रसिद्ध श्लोक विद्यमान हैं जो अनेक विद्वानों द्वारा अभिमत हैं। ये हैं :—(१) यास्यत्यद्य......(४।६) (२) शुश्रूषस्व गुरून्...(४।१८) (३) अस्मान् साधु...(४।१७) अथवा अभिजनवतो भर्त्तुः......(४।१९), (४) भूत्वा चिराय......(४।२०)।

अ० शा० में चतुर्थ अङ्क को ही सर्वोत्तम अङ्क माना गया है। इसका कारण है—इस अङ्क में करुण-विप्रलम्भ-भाव का चित्रण किया जाना। एक तो समस्त तपोवन (वहाँ के ऋषि, तपस्वीजन, पशु, पक्षी, वृक्ष, लतायें आदि सभी शकुन्तला के वियोग से दुःखी हैं। ऐसे वियोग के समय हृदय में करुण भाव का जाग्रत् हो जाना स्वाभाविक ही है। अतः इस भाव की विशिष्टता से ओत-प्रोत होने के कारण इसकी सर्वोत्तमता स्वीकार की गई है। दर्शकों पर नाटक देखते समय इस अङ्क के कथानक का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। वे भाव-मग्न हो जाते हैं।

चतुर्थ अङ्क के प्रायः सभी दृश्य अत्यन्त मार्मिक हैं। अतः उनमें भी जो स्थल भावादि की दृष्टि से अति प्रभावोत्पादक तथा मार्मिक होंगे, उन्हीं को सर्वोत्तम कहा जाना उचित होगा। "यास्यत्यद्य०" में करुण-विप्रलम्भ का सर्वोत्तम प्रवाह है अतः उसको चारों श्लोकों में भी सर्वोत्तम कहा जा सकता है। "शुश्रूषस्व०" में बिदा होती हुई पुत्री के लिये सर्वोत्तम उपदेश दिया गया है। अतः इसको चारों श्लोकों में द्वितीय स्थान प्रदान किया जाना उचित ही है। इन दोनों श्लोकों को चार श्लोकों के अन्तर्गत सभी आलोचकों ने स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त "अस्मान् साधु०" तथा "पातुं न प्रथमं व्यवस्यति०" ने इन दो श्लोकों को उक्त चार श्लोकों के अन्तर्गत रखा जाना

अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । "अस्मान् साधु०" में कन्यापक्ष की ओर से कन्या के पिता द्वारा वर के लिये सन्देश प्रेषित किया गया है । इस श्लोक में कन्या के पिता की हार्दिक-भावनाओं का कितना सुन्दर चित्रण हुआ है । "पातुं न प्रथमं०" में करुण भाव का सुन्दर चित्रण हुआ है । वाह्य-प्रकृति के साथ एकात्मता का अनुभव इसमें किया गया है । "अभिजनवतो भर्त्तुः०" तथा "भूत्वा चिराय०" में तो शकुन्तला को केवल आश्वासन ही प्रदान किया गया है । अतः इन दोनों श्लोकों की अपेक्षा "अस्मान् साधु०" तथा "पातुं" न प्रथमं० इन दोनों श्लोकों में मार्मिकता तथा भाव-चित्रण का अंश कहीं अधिक है ।

उपसंहार

यद्यपि महाकवि कालिदास से पूर्व भास तथा शूद्रक नामक नाटककार हुए हैं जिनकी गणना आलोचकों द्वारा सफल नाटककारों में की जाती है, तथापि प्रायः सभी विद्वानों, आलोचकों तथा संस्कृत-साहित्य के इतिहास-लेखकों ने इस बात को एकमत से स्वीकार किया है कि संस्कृत-साहित्य के सर्वोत्तम नाटककार कालिदास ही हैं । उनका भाषा तथा भावों पर पूर्ण अधिकार है । उन्होंने प्रत्येक बात को अत्यन्त सुन्दर, सरस तथा सरलतम रूप में प्रस्तुत किया है । उनके नाटक में आई हुई प्रत्येक घटना का मुख्य कथावस्तु के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है : उसकी उचित उपयोगिता भी है । प्रत्येक पात्र द्वारा प्रयुक्त भाषा उसकी योग्यता तथा उसकी अनुकूलता के आधार पर उचित ही है । उनका प्रत्येक वर्णन स्वाभाविकता से युक्त है । उनकी रचना में कहीं भी अस्वाभाविकता एवं कृत्रिमता का दर्शन तक नहीं होता है । प्रत्येक पात्र का चरित्र अति सुन्दर रूप से विकसित हुआ है । पात्रों के चरित्र-चित्रण में उनकी वैयक्तिकता स्पष्ट रूप से झलकती है । उन्होंने अनावश्यक विस्तार को कहीं भी स्थान प्रदान नहीं किया है । इसके विपरीत उन्होंने सदैव संकेतात्मक शैली को ही अपनाया है । नाटक में मुख्य कथावस्तु का प्रवाह अबाध गति से तथा आकर्षक रूप में निरन्तर आगे बढ़ता चला जाता है । प्रधान तथा सभी गौण रसों का सम्यक् परिपाक हुआ है । इसके अतिरिक्त शास्त्रीय पाण्डित्य के साथ ही साथ कवित्व का भी सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है । शृंगार रस के

दोनों पक्षों (संयोग एवं वियोग) का वर्णन तो अद्वितीय ही है। वियोग अथवा विप्रलम्भ शृङ्गार द्वारा संयोग की सम्यक् पुष्टि भी हुई है। जैसा कि कहा भी गया है कि "न विना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते"। उन्होंने इस सिद्धान्त का अत्यधिक ध्यान रखा है। हास्य-रस का चित्रण करते हुए उन्होंने शिष्ट एवं परिष्कृत हास्य को ही स्थान प्रदान किया है। साथ ही व्यंग का भी यथास्थान सुन्दर समावेश किया है। अन्य रसों का भी यथास्थान सुन्दर परिपाक हुआ है।

कालिदास के नाटकों में अभिनेयता भी पूर्णतया विद्यमान है। आधुनिक रंगमंच पर भी उनका अभिनय (विशेष रूप से अ० शा० का) पूर्ण सफलता के साथ किया जा चुका है। अ० शा० उनकी नाट्यकला-कुशलता का सर्वोत्तम परिचायक है। दुष्यन्त एवं शकुन्तला के साधारण से कथानक को इतना अधिक रुचिपूर्ण बना देना उनकी कला-कुशलता का द्योतक है। इसी कारण उनके सम्बन्ध में आलोचकों द्वारा कहा भी गया है :—

"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।"

स्थान-स्थान पर उनकी मौलिकता तथा नवीन कल्पना-शक्ति का दर्शन पाठकों एवं दर्शकों तथा आलोचकों को प्राप्त होता है। उनके नाटक साधारण से साधारण तथा विद्वान् सभी व्यक्तियों को आनन्द से आप्लावित करने में पूर्णतया समर्थ हैं।

उनके सभी नाटकों में भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रायः सभी नियमों का पूर्णतः पालन हुआ है। मानवीय भावनाओं का विभिन्न रूपों में विश्लेषण करने में भी उन्होंने अपनी अपूर्व प्रतिभा प्रदर्शित की है। प्रेम तथा सौन्दर्य के भाव-चित्रण में तो वे अद्वितीय ही हैं।

उनके प्रत्येक नाटक में विदूषक का भी एक विशिष्ट स्थान है। वह नायक के सखारूप में सर्वत्र उपस्थित होता है। दर्शकों की उत्सुकता नाटक के देखने में निरन्तर बनी रहे, इसके लिये बीच-बीच में कुछ मनोरंजन अथवा हास्य आदि का होना नाटकों में आवश्यक है। इसीलिये उन्होंने अपने नाटकों में विदूषक को अपनाया है।

उनकी रचनाओं में जन साधारण की दृष्टि से महान् सन्देश[१] भी विद्यमान हैं जिनके आधार पर जीवन को उन्नत से उन्नत बनाया जा सकता है।

कालिदास तथा भवभूति का संस्कृत-साहित्य में स्थान—कालिदास और भवभूति दोनों ही संस्कृत साहित्य के शीर्षस्थानीय नाटककार हैं। दोनों ही महाकवि अपने-अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। दोनों की कलात्मक विशेषताओं में अन्तर अवश्य है[२]। यदि कालिदास की रचनाओं में व्यंजनावृत्ति का प्राधान्य उपलब्ध होता है तो भवभूति की वाणी में वाच्यार्थ की प्रगल्भता। यदि कालिदास थोड़े से चुने हुए शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति कर देते हैं तो भवभूति विपुल वाग्विस्तार द्वारा किसी भाव का विशद वर्णन करते है। कालिदास बहुत कुछ अपने पाठकों की कल्पना पर ही छोड़ देते हैं, तो भवभूति सब कुछ स्वयं ही कह देते हैं। कालिदास की भाषा मसृण तथा कोमल है; भवभूति की प्रायः प्रगल्भ एवं

१—प्रजा के हित-साधन में राजा के संलग्न होने तथा पुनर्जन्म नष्ट होकर मोक्षप्राप्ति का सन्देश :—"प्रवर्त्ततां प्रकृति....." इत्यादि—अ० शा० ७।३५।।
परोपकार का सन्देश :—"भवन्ति नम्रास्तरवः....." इत्यादि—अ० शा० ५।१२।।
पतिगृह पहुँचने पर स्त्रियों के प्रधान कर्त्तव्य सम्बन्धी सन्देश :—"शुश्रूषस्व गुरुन्....." इत्यादि अ० शा० ४।१८।।–१—त्याग, तपस्या एवं तपोमय जीवन का सन्देश :—"शमप्रधानेषु तपोधनेषु..." इत्यादि अ० शा० २।७।।
अ० शा० का एक विशिष्ट और अमर सन्देश यह है कि प्रेमी और प्रेमिका को पश्चात्ताप और वियोग की भयंकर अग्नि में अपने अपने हृदयों की शुद्धि करनी पड़ती है तब वे कहीं वास्तविक प्रेम के लक्ष्य तक पहुँच पाते हैं :—"अतः परीक्ष्य कर्तव्यं......" इत्यादि—अ० शा० ५।२४।।
(इसी प्रकार के अन्य अनेक सन्देश)

२—इसका सोद्धरण विस्तृत विवेचन षष्ठ तथा अष्टम परिच्छेद में किया जायगा।

उदात्त है। कालिदास ने प्रायः प्रकृति के कोमल एवं ललित पहलुओं की ओर दृष्टिपात किया है परन्तु भवभूति ने प्रकृति के कोमल पहलुओं के अतिरिक्त प्रचण्ड एवं घोर पक्ष को भी अपनाया है। भारतीय नाट्य-साहित्य के इन दोनों कलाकारों की कृतियों के सम्बन्ध में स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय ने उत्तररामचरित तथा अभिज्ञानशाकुन्तल की तुलना करते हुए लिखा है :—

"विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भाव की तरंग-क्रीड़ा में, भाषा के गाम्भीर्य में और हृदय के माहात्म्य में 'उत्तररामचरित' और घटनाओं की विचित्रता में, कल्पना के कोमलत्व में, मानवचरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरलता और लालित्य में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' श्रेष्ठ है[1]"।

जो कुछ भी हो, संस्कृत साहित्य में दोनों ही नाटककार अथवा महाकवि श्रेष्ठतम है। यहाँ उनकी तुलना करना अभीष्ट नहीं है। संस्कृत साहित्य में इनके श्रेष्ठतम स्थान की ही परीक्षा करनी है।

दोनों ही नाट्यकारों को अपने-अपने लेखन-काल के प्रारम्भिक समयों में एक उत्तम स्थान प्राप्त नहीं हो सका था, ऐसा उनकी प्रारम्भिक कृतियों से ज्ञात होता है। महाकवि कालिदास ने अपनी प्रथम नाट्य-कृति "मालविकाग्निमित्र" में लिखा है कि:—

"जितने प्राचीन काव्य हैं, सब निर्दोष हैं तथा नवीन सभी सदोष हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। वस्तुतः सज्जन समीक्षक परीक्षा करके ही उस प्राचीन और नवीन में से अच्छी वस्तु को ग्रहण कर लिया करते हैं। मूर्ख पुरुष दूसरों के मत के आधार पर चला करते हैं।[2]" इससे स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास को अपने "मालविकाग्निमित्र" नाटक के लिखने तथा अभिनीत होने के समय तक लोक में एक उत्तम स्थान प्राप्त न हो सका था तथा उस समय लोकभाषादि की रचनाओं से ही प्रभावित था।

इसी प्रकार महाकवि भवभूति ने भी अपनी प्रथम कृति "मालतीमाधव" में लिखा है :—

१—"कालिदास और भवभूति" (द्विजेन्द्रलाल राय) पृष्ठ १६२-१६३।

२—"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥ मालविका० १।२॥

"जो लोग मेरी इस कृति का निरादर करते हैं, उसका कारण उन्हें ही ज्ञात होगा । ऐसे व्यक्तियों के लिए मैंने यह प्रयत्न नहीं किया है । मेरी रचना को भली भाँति समझने वाला कोई व्यक्ति किसी समय तो उत्पन्न होगा ही अथवा इसी समय कहीं होगा क्योंकि समय की अवधि नहीं है और पृथ्वी का विस्तार भी कम नहीं है[1] ।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपनी रचनाओं के प्रारम्भिक काल में महाकवि भवभूति को भी उत्तम स्थान तथा आदर नहीं प्राप्त हो सका था ।

परन्तु इन दोनों ही महाकवियों की अन्य रचनाओं में इस प्रकार का कोई उद्धरण उपलब्ध नहीं होता है जिससे यह प्रतीत होता है कि उनको अपनी अपनी अन्तिम नाट्य-कृतियों को उपस्थित करते समय तक उनको जनता में एक उत्तम प्रतिष्ठा तथा उत्तम स्थान मिलना अवश्य ही प्रारम्भ हो गया होगा ।

हाँ, इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि इन दोनों ही महाकवियों के स्वर्गारोहण के पश्चात् इनकी कलाओं की उत्कृष्टता का वास्तविक ज्ञान आलोचकों को हुआ[2] । सभी विद्वान् तथा आलोचक इस विषय में एकमत हैं कि ये दोनों ही

१——ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यते तु मम कोपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।।
(मालतीमाधव १।६)

२——कालिदास के सम्बन्ध में आलोचकों एवं विद्वानों की सम्मतियाँ

(१) लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः ।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ।।
(कविवर दण्डी की उक्ति, अवन्तिसुन्दरी कथा—प्रस्तावना श्लोक १५)

(२) निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते ।।
(महाकवि बाण, हर्ष-चरित प्रस्तावना श्लोक १६)

(३) एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ।
शृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ।। राजशेखर ।

(४) अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियांकपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ।। कवि० श्रीकृष्ण ।

कलाकार संस्कृत-साहित्य-क्षेत्र के अत्यन्त देदीप्यमान रत्न हैं। दोनों ही महाकवि अलौकिक प्रतिभासम्पन्न है। श्री द्विजेन्द्रलाल राय आदि कुछ विद्वानों एवं आलोचकों ने दोनों ही कवियों के साहित्य का गम्भीर तथा तुलनात्मक अध्ययन किया है। किन्तु आज तक संभवत: कोई भी यह निश्चय न कर सका है कि सर्वतोमुखी प्रतिभा में दोनों में से कौन अद्वितीय है।

---

(५) ख्यात: कृती सोऽपि च कालिदास: शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्रसिन्धो: परं पारमवाप कीर्ति: ॥ सोढ्ढल।

(६) साकूतमधुरकोकिलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतलीलाकालिदासोक्ती ॥ गोवर्धनाचार्य।

(७) काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्क: तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥ सुभाषित ॥
(किसी विद्वान् अथवा आलोचक का)

(८) पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥ सुभाषित ॥
(किसी विद्वान् अथवा आलोचक का) इत्यादि

भवभूति के सम्बन्ध में

(१) भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्यावशेषा अद्यापि विकटेष कथानिवेशेषु ॥ वाक्पतिराज (इसका मूल प्राकृत भाषा में है)

(२) भवभते: शिखरिणी निरर्गलतरंगिणी।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति ॥ क्षेमेन्द्र।

(३) स्पष्टभावरसा चित्रै: पदन्यासै: प्रवर्तिता।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना ॥ महाकवि धनपाल।

(४) सुकविद्वितयं मन्ये निखिलेऽपि महीतले।
भवभूति: शुकश्चायं वाल्मीकिस्तु तृतीयक: ॥ किसी विद्वान् का मत।

(५) रत्नावलीपूर्वकमन्यदास्तामसीमभोगस्य वचोमयस्य।
पयोधरस्येव हिमाद्रिजाया: परं विभूषा भवभूतिरेव ॥ किसी विद्वान की उक्ति। (इत्यादि-इत्यादि)

वस्तुतः कालिदास एवं भवभूति मूलरूप से कवि ही हैं क्योंकि दोनों की ही रचनाओं में काव्यत्व की प्रधानता अवश्य दृष्टिगोचर होती है। कालिदास ने तो नाटकों के अतिरिक्त महाकाव्य एवं काव्यों की रचना पृथक् रूप से भी की है फिर भी उनका कवित्व नाटकीय संविधान पर हावी होकर उसे विकृत नहीं बना सका है। यह उनका सर्वाधिक महान् गुण है। बाद के नाटककार कवियों में कवित्व की प्रधानता अधिक हो गई है। भवभूति में यह कवित्व भावमय है। वैसे भवभूति भी कलापक्ष के मोह से अपने को पृथक् नहीं रख सके हैं, किन्तु जैसे-जैसे भवभूति की वाणी में परिपक्वता आती गई है वैसे-वैसे उनकी भाव-प्रवणता भी अधिक व्यक्त होती गई है। यहाँ तक कि जहाँ भाव फूट पड़ना चाहते हैं वहाँ उनका पाण्डित्य भी रसप्रवाह में बह निकला है। भवभूति में कवि की यह सर्वाधिक विशेषता है जिसने उन्हें साहित्य में अमर बना दिया है।

संस्कृत साहित्य के नाटककारों एवं महाकवियों में इन दोनों को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। कालिदास की तुलना में यदि कोई नाटककार तथा महाकवि आता है तो वह है केवल भवभूति, अन्य नहीं। इन दोनों महाकवियों में कौन श्रेष्ठ है, इस प्रश्न को लेकर प्राचीन विद्वत्समाज में एक रोचक विवाद उत्पन्न हो गया था। भवभूति[1] के समर्थक कहा करते थे कि कालिदास आदि तो केवल कवि हैं किन्तु हमारे भवभूति महाकवि है। इस[2] पर कालिदास के प्रशंसक यह उत्तर दिया करते थे कि है, स्वर्गलोक में स्थित पारिजात आदि तो केवल वृक्ष ही हैं, स्नुहीवृक्ष (सेंहुंड़ का वृक्ष) अवश्य महावृक्ष है।

जो कुछ भी हो यह विवाद आज भी विद्यमान है तथा आज तक यह निर्णय नहीं हो सका है कि दोनों में श्रेष्ठतर कौन है। महाकवि कालिदास के विषय में टीकाकार मल्लिनाथ का यह विचार है कि "कालिदास की वाणी के सार को आज तक केवल तीन व्यक्तियों ने ही समझा है। एक

१—कवयः कालिदासाद्याः भवभूतिर्महाकविः।

२—तरवः पारि[illegible] स्नुहीवृक्षो महातरुः ।। (पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय रचित "संस्कृत साहित्य की रूपरेखा" के पृष्ठ १८६ से उद्धृत)

तो विधाता ब्रह्मा, दूसरी वाग्देवी सरस्वती और तीसरे कालिदास स्वयं। मेरे सदृश अल्पज्ञ पुरुष उनको ठीक-ठीक समझने में सर्वथा असमर्थ हैं"।[1]

अमेरिका के 'राइडर' नामक विद्वान् ने कालिदास की श्रेष्ठता को अनेक प्रकार से स्थापित करते हुए अन्त में यही कहा है कि :—

"We know that Kalidas was a great poet, because the world has not been able to leave him alone".[2]

अर्थात् कालिदास के बिना संस्कृत साहित्य का अध्ययन ही नहीं हो सकता। हम कालिदास को छोड़ नहीं सकते तथा छोड़कर सन्तोष नहीं पा सकते।

जगत-प्रसिद्ध जर्मन-विद्वान् कवि गेटे "अभिज्ञानशाकुन्तल" के अनुवाद-मात्र का अध्ययन कर आनन्द-विभोर हो गये तथा उन्होंने इस ग्रन्थ की विलक्षण प्रशंसा करते हुए यह कह डाला[3]:—

Wouldst thou see spring's blossoms and the fruits of its decline,
Wouldst thou see by what the souls enraptured, feasted, fed,
Wouldst thou have this earth and heaven in one sole name combine,

---

१—कालिदासगिरां सारं कालिदाससरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृशाः॥ (कालिदास-ग्रन्थावली : द्वितीय संस्करण के तृतीय खण्ड की पृष्ठ संख्या २२ से उद्धृत।

२—कालिदास-ग्रन्थावली : द्वितीय संस्करण के खण्ड ३ के पृष्ठ २२ से उद्धृत।

३—कालिदास और भवभूति : राय, द्विजेन्द्रलाल : द्वितीय संस्करण के पृष्ठ १६३–१६४ से उद्धृत

I name thee O Sakuntala ; and all at once is said".[१]

अर्थात् वसन्त ऋतु के समस्त पुष्प और फल तथा ग्रीष्मकाल के भी सम्पूर्ण फल एवं पुष्प और जो कुछ भी मन को रसायन की भाँति सन्तृप्त और मोहित करने वाले पदार्थ हैं उसको तथा स्वर्गलोक और भूलोक दोनों के अभूतपूर्व एकत्रित ऐश्वर्य को हे प्रियमित्र ! यदि तुम देखना चाहते हो, तो शाकुन्तल का सेवन करो।

इसी प्रकार भवभूति के विषय में भी गोवर्धनाचार्य अपनी पुस्तक "आर्यासप्तशती" में लिखते हैं कि "भवभूति के सम्बन्ध से सरस्वती भी पार्वती के समान ही शोभा को प्राप्त कर लेती है। क्योंकि जब भवभूति की वाणी करुण भाव की व्यंजना करने लगती है तब औरों की तो बात ही क्या, पत्थर भी रुदन करने लगते हैं[२]।"

महाकवि भवभूति के विषय में किसी विद्वान् की धारणा यहां तक है कि "उत्तररामचरित" में भवभूति कालिदास से भी आगे बढ़ गये है।"[३]

डा० ए० बी० कीथ भवभूति के विषय में आलोचना करते हुए लिखते हैं कि "उनका जीवन संयत एवं गम्भीर था तथा उन्हें

१—महाकवि गेटे के इन वचनों का संस्कृत पद्यानुवाद म० म० मिराशी ने अपनी "कालिदास" नामक पुस्तक के पृष्ठ १४१ पर निम्न प्रकार किया है :—

वासन्तं कुसुमं लं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्,
यच्चान्यन्मनसो रसा यनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे !
शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥

२—भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ॥ आर्यासप्तशती—१।३६

३—"उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते" ॥ संस्कृत साहित्य की रूपरेखा : पंचम संस्करण की पृष्ठ संख्या १८६ की टीका से उद्धृत ।

जीवन के रहस्यों का पूर्ण ज्ञान था और उनके उद्घाटन की क्षमता भी उनमें थी" ।[१]

पाश्चात्य विद्वान विल्सन[२] ने महाकवि भवभूति की आलोचना करते हुए लिखा है कि भवभूति की रचनाओं में हमें बड़े उत्कृष्ट विचार दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके सदृश औचित्य और सौष्ठव (संभवतः किसी भी साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत ही नहीं,अपितु समस्त विश्व के साहित्य में इन दोनों महाकवियों को एक उच्च स्थान प्राप्त है । जहाँ कहीं और जब कभी संस्कृत भाषा और उसके साहित्य की चर्चा हुआ करती है, वह इन दोनों महाकवियों के नाम सर्वोपरि स्थान प्राप्त किया करते हैं ।

१—"We find in fact in Bhavabhuti, in a degree unknown to Kalidas, child of fortune, to whom life appeared as an ordered whole, the sense of mystery of things".—Dr. A. B. Keith : Sanskrit Drama : Page 195, Para II Line 1—3.

२—"In Bhavabhuti brilliant thoughts occur, the justice and beauty of which cannot be surpassed in any literature". Wilson. (Bhavabhuti, His Life and Literature : Page 94, line 30—31.

ओ३म्

महाकवि-कालिदास-विरचितम्

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥१॥

नामकरण—अभिज्ञानशाकुन्तलम्—महाकवि कालिदास प्रणीत इस सर्वोत्तम नाटक के दो नाम लोक में प्रचलित हैं (१) अभिज्ञानशाकुन्तलम् (२) अभिज्ञान-शकुन्तलम् । इनमें प्रथम नाम अधिक प्रसिद्ध एवं प्रचलित है । उसकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की जाती है :—अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम् । अभि + ज्ञा + ल्युट् (अन्) । यहाँ 'करणाधिकरणयोश्च' (अष्टा० ३।३।११७ ।) सूत्र से करण अर्थ में ल्युट् होता है । अभिज्ञान अर्थात् जिसके द्वारा पहचाना जाता है वह चिह्न । यहाँ यह चिह्न अथवा अभिज्ञान वह अँगूठी ही है जो दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को प्रदान की गयी थी तथा जिसके बारे में शकुन्तला की विदा के समय [चतुर्थ अंक में] उसकी दोनों सखियों अनसूया एवं प्रियंवदा द्वारा शकुन्तला से यह कहा गया है :—"सख्यौ—सखी ! यदि नाम स राजर्षिः प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्, तदा अस्य इदमात्मनो नामधेयाङ्कितमङ्गुरीयकं दर्शयिष्यसि ॥" शकुन्तलामधिकृत्य कृतं नाटकं शाकुन्तलम् । "अधिकृत्य कृते ग्रन्थे" (अष्टा० ४।३।८७) सूत्र से 'अण्' = शकुन्तला + अण् । अर्थात् शकुन्तला सम्बन्धी नाटक । अभिज्ञानप्रधानं शाकुन्तलम् इति अभिज्ञानशाकुन्तलम् अथवा अभिज्ञानसहितं शाकुन्तलमिति अभिज्ञानशाकुन्तलम् [यहाँ 'अभिज्ञानप्रधानं' शब्द में 'प्रधान' तथा 'अभिज्ञानसहितं' में 'सहित' उत्तर पदों का "शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" वार्तिक से लोप हो जाता है ।] अर्थात् शकुन्तला विषयक नाटक जिसमें प्रधान रूप से अभिज्ञान (अँगूठी) वर्णित है अथवा अँगूठी के वर्णन से युक्त शकुन्तला का वर्णन जिसमें है ऐसा नाटक । अथवा 'अभिज्ञानं' में भाव में ल्युट् और शकुन्तलायाः इदं शाकुन्तलम् 'तस्येदम्' (अष्टा०

४।३।१२०) से अण्। अभिज्ञानं च तत् शाकुन्तलञ्च अभिज्ञानशाकुन्तलम् अर्थात् शकुन्तला की पहिचान। अभेदोपचार से नाटक का नाम भी अभिज्ञान-शाकुन्तलम् ही कहा गया है। अथवा अभिज्ञानं शाकुन्तलं यत्र तत् अभिज्ञानशाकुन्तलम् = वह नाटक जिसमें शकुन्तला पहचानी जाती है। अथवा अभिज्ञायते अनेन इति 'अभिज्ञानम्' (करण में ल्युट्)--पहिचानने का साधन अर्थात् अँगूठी। शकुन्तलायाः इदं शाकुन्तलम् ('तस्येदम्' से अण्) = शकुन्तला का अर्थात् पाणिग्रहण। अभिज्ञानेन स्मृतम् इति अभिज्ञानस्मृतम् = अभिज्ञान के द्वारा याद किया गया हुआ। अभिज्ञानस्मृतं च तत् शाकुन्तलञ्च अभिज्ञानशाकुन्तलम् अर्थात् अँगूठीरूप अभिज्ञान द्वारा पहिचाना अथवा स्मरण किया गया हुआ शकुन्तला का पाणिग्रहण; अभेदोपचार से नाटकरूप ग्रन्थ भी अभिज्ञान-शाकुन्तल कहा जाता है।

प्रोफेसर काले, प्रो० के० बोस तथा राय आदि कुछ विद्वानों ने इस नाटक का नाम 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार इसकी व्याख्या इस प्रकार की जायगी--अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम्। अभिज्ञानेन स्मृता इति अभिज्ञानस्मृता। अभिज्ञानस्मृता शकुन्तला अभिज्ञानशकुन्तला। पूर्वोक्त 'शाकपार्थिवादि' वार्तिक द्वारा उत्तरपद 'स्मृता' का लोप हो जाता है। अभिज्ञान (अँगूठी) द्वारा स्मरण की गई शकुन्तला। अभेदोपचार से नाटक का नाम भी अभिज्ञानशकुन्तलम्। नाटक का नाम होने के कारण शब्द नपुंसकलिङ्ग होगा और 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (अष्टा० १।२।४७।) से अन्तिम 'आ' के स्थान पर ह्रस्व 'अ' हो जायगा।

इसके अतिरिक्त लोक में 'अभिज्ञानशकुन्तला' नाम भी प्रचलित है। ऐसी स्थिति में इसका विग्रह होगा--अभिज्ञानेन स्मृता शकुन्तला इति अभिज्ञान-शकुन्तला। अभिज्ञान के द्वारा स्मरण की गई शकुन्तला। लक्षणावृत्ति से यह शब्द नाटक को लक्षित करता है।

उपर्युक्त तीनों नामों में से 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाम ही सर्वाधिक प्रचलित है।

पदच्छेद--या। सृष्टिः। स्रष्टुः। आद्या। वहति। विधिहुतम्। या। हविः। या। च। होत्री। ये। द्वे। कालम्। विधत्तः। श्रुतिविषयगुणा। या। स्थिता। व्याप्य। विश्वम्। याम्। आहुः। सर्वबीजप्रकृतिः। इति। यया। प्राणिनः। प्राणवन्तः। प्रत्यक्षाभिः। प्रपन्नः। तनुभिः। अवतु। वः। ताभिः। अष्टाभिः। ईशः।

अन्वय--या (तनुः) स्रष्टुः आद्या सृष्टिः, या विधिहुतं हविः वहति, या च होत्री, ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या विश्वं व्याप्य स्थिता, यां सर्वबीजप्रकृतिः इति आहुः, यया प्राणिनः प्राणवन्तः, ताभिः प्रत्यक्षाभिः अष्टाभिः तनुभिः प्रपन्नः ईशः वः अवतु।

संस्कृत-व्याख्या--या = जलरूपा मूर्तिः तनुः वा, स्रष्टुः = जगतः कर्तुः,

आद्या = प्रथमा, सृष्टिः = कृतिः रचना वा, या = अग्निरूपा मूर्तिः तनुः वा, विधि-हुतम् = विधिना यथाशास्त्रं अथवा विधिः विधानं श्रुतिस्मृत्युक्तं तेन हुतं वह्नौ क्षिप्तम्, हविः = होमद्रव्यं घृतादिकम् वहति = देवान् प्रापयति । च, या = तनुः मूर्तिर्वा, होत्री = यजमानरूपा अस्ति । ये द्वे = चन्द्रसूर्यरूपे तनू मूर्ती वा, कालम् = रात्रिन्दिवरूपम् मासर्तुवर्षादिरूपं च, विधत्तः = जनयतः । श्रुतिविषय-गुणा = श्रुतेः श्रवणेन्द्रियस्य विषयः ज्ञेयः अर्थः शब्दः, स गुणे यस्याः तादृशी शब्द-गुणा, या = आकाशरूपा तनुः मूर्तिः वा, विश्वम् = सम्पूर्ण जगत् व्याप्य स्थिता = अनुप्रविश्य वर्त्तते । याम् = पृथिवीरूपाम् तनुं मूर्ति वा, सर्वबीजप्रकृतिः = सर्वेषां बीजानां वान्यादिशस्यानां प्रकृतिः आदिकारणं इति, विद्वांसः आहुः = वदन्ति । यया = वायुरूपया मूर्त्या तन्वा वा, प्राणिनः = जीवधारिणः, प्राणिवन्तः = प्राणादिवायुयुक्ताः सन्ति । ताभिः = पूर्वोक्ताभिः, प्रत्यक्षाभिः = दृष्टिगोचराभिः, अष्टाभिः = अष्टसंख्यकाभिः, तनुभिः = मूर्तिभिः, प्रपन्नः = युक्तः, ईशः = शिवः, वः = युष्मान् (रङ्गागतान् सभ्यान् सामाजिकान् वा), अवतु = रक्षतु । स विश्वात्मा परमकारुणिकः शिवः युष्मान् रक्षतु इति तात्पर्यम् ।

अनुवाद—जो विधाता की सर्वप्रथम रचना है [अर्थात् जलरूप मूर्ति (१)], जो विधिपूर्वक अग्नि में दी गई हुई आहुति को (देवताओं के समीप) ले जाती है [अर्थात् अग्निरूप मूर्ति (२)], जो यजमान स्वरूप है [अर्थात् यज-मानरूप मूर्ति (३)], जो दो प्रकार के समयों का निर्माण करती है अथवा जो दो प्रकार की मूर्तियाँ दिन, रात, मास, ऋतु आदि रूपों में समय का विधान करती है [अर्थात् सूर्य, चन्द्र रूपी दो मूर्तियाँ (४-५)], जिसका शब्द गुण है और जो समस्त विश्व में व्याप्त होकर स्थित है [अर्थात् आकाशरूप मूर्ति (६)], जिसको (विद्वान् पुरुष) समस्त धान्यादि बीजों का कारण कहते हैं [अर्थात् पृथ्वीरूप मूर्ति (७)], और जिसके द्वारा सभी प्राणी प्राण धारण करते हैं [अर्थात् वायु रूप मूर्ति (८)]—इन पूर्वोक्त आठ प्रत्यक्ष मूर्तियों से युक्त भगवान् शिव तुम्हारी (आप सभी दर्शकों की जो कि नाट्यशाला में नाटक देखने के लिये उपस्थित हैं ।) रक्षा करें ।

अलङ्कार तथा छन्द—इस श्लोक में 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार है। "पुन-रुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा । एकार्थतेव–"...काव्यप्रकाश (१२१) । इस श्लोक में स्रग्धरा छन्द है । इसका लक्षण है :—

व्याकरण—**सृष्टिः** = सृज् + क्तिन् (ति) । **स्रष्टुः** = सृज् + तृच् (तृ) + षष्ठी एकवचन । **आद्या** = आदि + यत् (य) + टाप् (आ) । **हुतम्** = हु + क्त (त) । होत्री = हु + तृच् (तृ) + ङीप् (ई) । **श्रुति** = श्रु + क्तिन् (ति) । **स्थिता** = स्था + क्त (त) + टाप् (आ) । व्याप्य = वि + आप् +

ल्यप् (य)। **आहुः** = ब्रू+झि इस स्थिति में "ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः" (अष्टा० ३।४।८४) सूत्र से ब्रू एवं झि के स्थान पर क्रमशः 'आह' एवं 'उस्' होकर 'आहुः' बनता है। **प्राणिनः** = प्राण+इनि (इन्) + जस् (प्रथमा बहुवचन)। **प्रपन्नः** = प्र + पद् + क्त (त)।

समास आदि—**आद्या** = आदौ भवा। **विधिहुतम्** = विधिना हुतम् (तृतीया तत्पुरुष समास)। **श्रुतिविषयगुणा**=श्रुतेः विषयः गुणः यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **सर्वबीजप्रकृतिः** = सर्वेषां बीजानां प्रकृतिः (तत्पुरुष)।

टिप्पणी—**या स्रष्टुः आद्या सृष्टिः**—(शिव का वह रूप) जो विधाता की सर्वप्रथम रचना है अर्थात् जलरूप सृष्टि। मनुस्मृति १।८ में आता है—"**अप एव** ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्"। शतपथ ब्राह्मण (११.१.६.१) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी "आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्" से जल को प्रथम सृष्टि स्वीकार किया गया है। **या विधिहुतं हविः वहति** = (शिव का वह रूप) जो विधिपूर्वक हवन में डाली हुई सामग्री (हविः—घृतादि) को देवताओं के पास पहुँचाता है अर्थात् अग्नि। अग्नि को ही, यज्ञ में डाली गई हवि को देवताओं तक ले जाने वाला माना गया है। अतएव कहा गया है :—"अग्निमुखा वै देवाः"। "जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु"—कुमारसंभव १।५७।। संस्कृत में अग्नि का एक पर्यायवाचक शब्द 'वह्नि' भी है जिसका मौलिक अर्थ है ले जाने वाला (वहतीति)। जिस हवि का विधिपूर्वक हवन नहीं किया जाता है वह जलकर राख हो जाती है। उसे अग्नि देवताओं के समीप नहीं पहुँचाती है। इस कारण यहाँ 'विधिहुतम्' शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् विधिपूर्वक हुत द्रव्य को ही अग्नि देवों तक पहुँचाती है। **या च होत्री**—(शिव का वह रूप) जो यज्ञकर्त्ता हैं। यज्ञ करते समय यजमान भी शिव का एक अंश माना गया है (देखिये रघुवंश ३।६६। "त्रिलोचनैकांशतया"...इत्यादि)। यहाँ पर होत्री शब्द स्त्रीलिङ्ग है क्योंकि इसका सम्बन्ध तनु से है जो कि संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग माना गया है। **ये द्वे कालं विधत्तः** = (शिव के वे दो रूप) जो (दिन एवं रात्रि के रूप में) काल का विधान करते हैं :—(१) सूर्य, (२) चन्द्रमा। इस भाँति दिन एवं रात्रि के रूप में काल का विभाजन करने वाले सूर्य और चन्द्र शिव की दो मूर्तियाँ मानी गई हैं। मनुस्मृति में केवल सूर्य को ही दिन एवं रात्रि के विभाजन का कारण स्वीकार किया गया है (अहोरात्रे विभज्यते सूर्यो मानुषदैविके)। क्योंकि कृष्णपक्ष में चन्द्रमा के न होने पर भी रात्रि की स्थिति होती है (बहुलपक्षे असत्यपि चन्द्रे रात्रेः सम्भवात्।) अतः इस बारे में चन्द्रमा का उल्लेख व्यर्थ है। किन्तु यह बात अधिक उपयुक्त सी प्रतीत नहीं होती क्योंकि काल के सम्बन्ध में सर्वत्र 'सौर' एवं 'चान्द्र' दो मान प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त चन्द्र एवं सूर्य के लिये संस्कृत में क्रमशः क्षपाकर, रजनीकर, निशाकर आदि तथा दिवाकर, अहस्कर, दिनकर आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। यद्यपि काल को अविभाज्य माना गया है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका विभाग किया ही गया

है। अतः दिन एवं रात्रि के रूप में स्वीकार किये गये शिव के दो रूप उचित ही कहे जा सकते हैं। **या श्रुतिविषयगुणा** —(शिव का वह रूप) जिसका गुण श्रुति (कान) का विषय (शब्द) है अर्थात् आकाश। आकाश सर्वव्यापक भी है। शब्द कान का विषय है। न्यायदर्शन के अनुसार वह आकाश का गुण है। महाकवि ने रघुवंश में भी इसी प्रकार का विचार अभिव्यक्त किया है "अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः" इत्यादि—रघुवंश १३।१ ॥ **यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति** = (शिव का वह रूप) जिसको सब बीजों (धान्यों) का मूल कारण माना गया है अर्थात् पृथ्वी। पृथ्वी से ही सब प्रकार के अन्नों की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः यहाँ 'प्रकृति' शब्द द्वितीया विभक्ति में होना चाहिये था (यां सर्वबीजप्रकृतिम् आहुः) किन्तु 'इति' निपात के कारण कर्म उक्त हो गया है। अतः यहाँ उक्त कर्म में प्रथमा हुई है। **यया प्राणिनः प्राणिवन्तः**—(शिव का वह रूप) जिसके द्वारा सब जीव प्राण धारण करते हैं अर्थात् वायु। 'प्राणिनः, प्राणिवन्तः' में 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार है। क्योंकि दोनों शब्द पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। अतः एक ही शब्द की पुनरुक्ति हुई हो, ऐसा प्रतीत होता है। वास्तविकता तो यह है कि 'प्राणिनः' से अभिप्राय 'जीव' और 'प्राणिवन्तः' से 'जीवन से युक्त' अभिप्राय है। अतः यहाँ पुनरुक्ति का आभासमात्र होने के कारण उपर्युक्त अलंकार है। **अष्टाभिः** = आठ (मूर्तियों) से युक्त। शिव को जल, अग्नि, यज्ञकर्त्ता, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी और वायु इन आठ रूपों में विद्यमान माना गया है। इसी कारण शिव को अष्टमूर्ति भी कहा गया है: = "तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः।" कुमारसंभव १।५७॥ "अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः" ...इत्यादि। रघुवंश २।३५ ॥ विष्णुपुराण में = "सूर्यो जलं मही वह्निर्वायुराकाशमेव च। दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः स्मृताः।" भविष्यपुराण में = "शर्वाय क्षितिमूर्त्तये नमः। भवाय जलमूर्त्तये नमः। रुद्राय अग्निमूर्त्तये नमः। उग्राय वायुमूर्त्तये नमः। भीमायाकाशमूर्त्तये नमः। पशुपतये यजमानमूर्त्तये नमः। महादेवाय सोममूर्त्तये नमः। ईशानाय सूर्यमूर्त्तये नमः। मूर्त्तयोष्टौ शिवस्यैताः॥" **प्रत्यक्षाभिः** = प्रत्यक्ष (आठ) मूर्तियों से। यहाँ उपर्युक्त शिव के आठ प्रकार के रूपों को प्रत्यक्ष कहा गया है किन्तु न्याय दर्शन के आधार पर आकाश एवं वायु प्रत्यक्ष नहीं हैं, अपितु अनुमेय हैं। यद्यपि इनका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है तथापि वायु का स्पर्श द्वारा एवं आकाश का उसके गुण 'शब्द' द्वारा प्रत्यक्ष किया ही जा सकता है। इसके अतिरिक्त वेदान्त दर्शन में आकाश एवं वायु को 'प्रत्यक्ष' माना भी गया है। नव्य न्याय के अनुसार भी ये दोनों प्रत्यक्ष हैं। अतः शिव के उपर्युक्त आठ रूपों को प्रत्यक्ष भी कहा जा सकता है।

नान्द्यन्ते

सूत्रधारः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये ! यदि नेपथ्यविधानमवसितम्, इतस्तावदागम्यताम्।

[नान्दीपाठ के पश्चात्]

सूत्रधार--(नेपथ्य की ओर देखकर) आर्ये ! यदि नेपथ्य का कार्य (अभिनेताओं द्वारा वस्त्रादि-धारण रूप कार्य) समाप्त हो गया हो तो इधर आओ ।

(प्रविश्य)

नटी--(अज्जउत्त ! इयं ह्मि ।) आर्यपुत्र ! इयमस्मि ।

(प्रवेश करके)

नटी--आर्यपुत्र ! यह मैं (उपस्थित) हूँ ।

व्याकरण--नान्दी = नन्द् + घञ् + ङीप् । 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टानि' से धातु के 'अ' को वृद्धि । सूत्रधारः = सूत्र + धृ + णिच् + अण् । विधानम् = वि + धा + ल्युट् (अन) । अवसितम् = अव + सो (सा) + क्त (त) ।

टिप्पणी--**नान्दी** = नन्दन्ति देवताः अस्याम् अनया वा अथवा नन्दयतीति नान्दी—अर्थात् जिसमें अथवा जिसके द्वारा देवता प्रसन्न होते हैं अथवा जो आनन्दित करती है, वह **नान्दी** कही जाती है । नाटक की निर्विघ्न समाप्ति के निमित्त नान्दी अर्थात् मंगलाचरण का पाठ किया जाता है । नाटक का प्रारम्भ होने से पूर्व सूत्रधार जिस आशीर्वादात्मक, नमस्क्रियात्मक तथा काव्य की कथावस्तु के सूचक श्लोक (अथवा श्लोकों) का पाठ करता है वह पाठ ही 'नान्दी' कहा जाता है । (१) साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है :

"आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।

देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ।।" साहित्यदर्पण ६।२४ ।।

अर्थात् देवताओं, ब्राह्मणों और राजा आदि की आशीर्वादयुक्त स्तुति इसके द्वारा की जाती है, अतः इसे 'नान्दी' कहा जाता है ।

(२) **"आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः ।**

नान्दीति कथ्यते ।।" आदि भरत ।।

अर्थात् आशीर्वाद और नमस्कार से युक्त श्लोक, जिसमें काव्य के कथानक का भी सूक्ष्म रूप से संकेत किया गया हो, नान्दी कहलाता है । नान्दी के विस्तार की सीमा भी आचार्यों द्वारा निश्चित कर दी गई है--"पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ।" अर्थात् नान्दी अष्टपदा अथवा द्वादशपदा होती है । कुछ विद्वानों ने नान्दी को चतुष्पदा और षोडशपदा भी कहा है :--

'तां षोडशपदामेके केचिदाहुश्चतुष्पदाम् ।'

यहाँ पद का अर्थ 'सुबन्त और तिङन्तपद,' पद्य का एक चरण अथवा अवा-

न्तर वाक्य माना जाता है :—"श्लोकपादः पदं केचित् सुप्तिङन्तमथापरे । परेऽ-वान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे ॥" नाट्यप्रदीप ॥ 'या सृष्टिः'..इत्यादि पद्य में चार चरण होने के कारण इस नान्दी को चतुष्पदा अथवा आठ अवान्तर वाक्य होने के कारण अष्टपदा कहा जा सकता है। जिस नान्दी में कथावस्तु का निर्देश होता है उसे पत्रावली नान्दी कहते हैं :—"यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः । श्लेषेण वा समासोक्त्या नान्दी पत्रावलीति सा" ॥ नाट्यदर्पण ॥ उप-र्युक्त नान्दी में भी कथावस्तु के बीज का उल्लेख किया गया है। अतः यहाँ पत्रा-वली नान्दी है । इसमें कथावस्तु का उल्लेख निम्न रूप में हुआ है :—

'या स्रष्टुः आद्या सृष्टिः' से शकुन्तला की ओर संकेत किया गया है जिसको ब्रह्मा की सर्वश्रेष्ठ रचना माना गया है। 'या विधिहुतं हविः वहति' से शकुन्तला के गर्भ-धारण करने की ओर संकेत किया गया है। 'ये द्वे कालं विधत्तः' से शकु-न्तला की दोनों सखियों-अनसूयाएवं प्रियंवदा—की ओर संकेत किया गया है जो कि शाप के समाप्ति-काल से परिचित थीं। 'श्रुतिविषयगुणा' से शकुन्तला के गुणों के संसार में फैलने की ओर संकेत है। 'यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिः' से भरत (सर्वदमन) को उत्पन्न करने वाली शकुन्तला की ओर संकेत किया गया है। 'यया प्राणिनः प्राणिवन्तः' से शकुन्तला एवं सर्वदमन के साथ राजा दुष्यन्त के अपने राज्य की ओर लौटकर आने का संकेत मिलता है। इस घटना से उनकी सम्पूर्ण प्रजा (प्राणिनः) मानो पुनः जीवित हो उठी थी। 'ईशः' से राजा दुष्यन्त की ओर संकेत किया गया है जो कि शरीरधारी होने के कारण पंचतत्त्व सम-न्वित है। यज्ञ करने के कारण उसे होता तथा सभी लोकपालों का अंश उसमें होने के कारण उसे विशिष्ट तेजस्वी कहा गया है और संभवतः इसी आधार पर उसके सम्बन्ध में सूर्य और चन्द्रमा के तेज से युक्त होने की कल्पना भी की गई है। इस भाँति उसे भी शिव के सदृश उपर्युक्त आठ रूपों से युक्त कहा जा सकता है। **सूत्रधार**—जो व्यक्ति सबसे पहले रंगशाला में उपस्थित होकर नाट-कीय कथावस्तु की सूचना देता है तथा नाटक के अभिनय से सम्बन्धित वस्तुओं एवं पात्रों की व्यवस्था करके नाटक के अभिनय को प्रारम्भ कराता है, उसे सूत्र-धार कहा जाता है "सूत्रं धारयतीति **सूत्रधारः**"—अर्थात् जो सूत्र को धारण करता है वह सूत्रधार कहलाता है। नाट्यशास्त्र में नाट्य के साधनों को 'सूत्र' शब्द द्वारा कहा गया है। अतः उन साधनों को धारण करने वाले व्यक्ति को 'सूत्रधार' कहा जाता है :—

"नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते । सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो मतो बुधैः ॥" कुछ विद्वानों के मतानुसार कथासूत्र की प्रथम सूचना देने वाले व्यक्ति को 'सूत्रधार' कहा गया है :—"नाटकीयकथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते । रंगभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते" ॥ इस सूत्रधार के द्वारा ही नान्दीपाठ भी किया जाता है :—"सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यमं स्वरमाश्रितः ।" भरत ॥ इस दृष्टि से सूत्रधार का नाम सर्वप्रथम लिखना चाहिये था किन्तु ऐसा होता नहीं है; क्योंकि ग्रन्थ के आरम्भ में सर्वप्रथम मंगलाचरण किया जाना परम आवश्यक है। इस

कारण, यद्यपि सूत्रधार ही मंगलाचरण करता है किन्तु फिर भी उसका नाम मंगलाचरण से पूर्व नहीं लिखा जाता ।

नेपथ्य--नेपथ्य शब्द के अनेक अर्थ हैं (१) पर्दा, (जवनिका), (२) वेश-रचना-गृह कि जहाँ पर नाटकीय पात्र वेश धारण करते हैं । (३) सजावट, वेशरचना । (४) किसी अभिनयकर्त्ता का विशेष वेश । "नेपथ्यं स्याज्जवनिका रंगभूमिः प्रसाधनम् ।" इत्यमरः ।। "नेपथ्यं तु प्रसाधने रंगभूमौ वेशभेदे ।" इति हैमः । आधुनिक युग में नेपथ्य को 'ग्रीन-रूम' कहा जाता है ।। 'नेपथ्याभिमुखम्' में नेपथ्य शब्द का अर्थ वेश-रचनागृह से है तथा 'नेपथ्य-विधानम्' में नेपथ्य शब्द का अर्थ 'वेश-रचना' है । **आर्ये**--यह सम्बोधन में एकवचन का रूप है । आर्या (श्रेष्ठ) शब्द पत्नी को सम्बोधित करने का आदरसूचक शब्द है । भरत मुनि के अनुसार नाटक में पत्नी को 'आर्या' शब्द द्वारा सम्बोधित करना चाहिये -- "पत्नी चार्येति संभाष्या" । नाट्यशास्त्र १९।२६ ।। **आर्यपुत्र**--भरतमुनि के अनुसार स्त्री को पति के लिये 'आर्यपुत्र' शब्द का प्रयोग करना चाहिये-- "सर्वस्त्रीभिः पतिर्वाच्य आर्यपुत्रेति यौवने ।" आर्यपुत्र का शाब्दिक अर्थ-- आर्य = श्रेष्ठ व्यक्ति अर्थात् श्वसुर का पुत्र ।

सूत्रधारः--आर्ये ! अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम् । अद्य खलु कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः । तत् प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः ।

सूत्रधार--आर्ये ! इस सभा में विद्वान् (पुरुष) अधिक हैं । आज हमें कालिदास द्वारा रचित कथावस्तु वाले अभिज्ञानशाकुन्तल नामक नवीन नाटक के साथ उपस्थित होना है । अतः प्रत्येक पात्र के प्रति प्रयत्न करना चाहिये ।

नटी--(सुविहिदप्पओअदाए अज्जस्स ण किं पि परिहाइस्सदि) सुविहितप्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते ।

नटी--आर्य के सुव्यवस्थित अभिनय-प्रयोग के कारण कोई कमी न रहेगी ।

व्याकरण--**भूयिष्ठा**--बहु + इष्ठन् (इष्ठ) + टाप् । **परिषत्** = परि = सद् + क्विप् अधिकरणे । **नाटकम्** = नट् (अवस्कन्दने, चुरादि) + ण्वुल् (अक्) । **आधीयताम्** - आ + धा + यक् + लोट् । **सुविहितः** = सु + वि + धा + क्त । **परिहास्यते** = परि + हा + लृट् ।

समास--**अभिरूपभूयिष्ठा** = अभिलक्ष्यं दर्शनीयं रूपमेषामिति अभिरूपाः विद्वांसः सहृदयाः वा भूयिष्ठाः बहुतराः यस्यां सा (बहुव्रीहि) । **परिषत्** = परितः सीदन्ति अस्याम् इति । **प्रतिपात्रम्** = पात्रं पात्रं प्रति (अव्ययी-

भाव)। सुविहित० = सुष्ठु विहितः कृतः सुविहितः प्रयोगः शिक्षाभ्यासः येन सः, तस्य भावः, तत्ता तया।

टिप्पणी :——**अभिरूपभूयिष्ठा** = विद्वान् (अभिरूप) हैं अधिक संख्या में जिसमें ऐसी परिषद्। **वस्तु** = कथावस्तु। **सुविहितप्रयोगतया** = आप अभिनय कला में पूर्णरूपेण चतुर हैं इसलिये, अथवा आपने पात्रों को अभिनय कला सम्बन्धी अच्छी शिक्षा दी है अथवा आपने अभिनय की सुन्दर व्यवस्था की है इसलिये। **न परिहास्यते** = त्रुटि नहीं होगी, न्यूनता नहीं होगी अथवा कोई कमी नहीं रहेगी।

सूत्रधारः——आर्ये! कथयामि ते भूतार्थम् ——

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥२॥

पदच्छेद——आ। परितोषात्। विदुषाम्। न। साधु। मन्ये। प्रयोग-विज्ञानम्। बलवद्। अपि। शिक्षितानाम्। आत्मनि। अप्रत्ययम्। चेतः।

अन्वय——विदुषां परितोषात् आ प्रयोगविज्ञानं साधु न मन्ये। शिक्षितानाम् चेतः बलवदपि आत्मनि अप्रत्ययम्।

संस्कृतव्याख्या——विदुषाम् = पण्डितानाम्, परितोषात् = प्रीतेः, आ = यावत् [यावत् पण्डितानां संतोषः न भवति तावद्], प्रयोगस्य——अभिनयस्य, विज्ञानम् = विशिष्टं ज्ञानम्, साधु = सफलं निर्दोषं वा, न मन्ये = न गणयामि। [यावत् सभ्याः सन्तुष्टाः न भवन्ति तावत् अस्माभिः स्वप्रयोगज्ञानस्य विषये समाश्वस्तैः न भाव्यम्।] (यतः) शिक्षितानाम् = कृताभ्यासानाम्, निपुणानां विदुषां वा, चेतः = चित्तं हृदयं वा, बलवदपि = सुदृढमपि सत्, आत्मनि = स्वविषये, अप्रत्ययम् = विश्वासरहितम्, साशङ्कं सन्दिहानं वा (भवति)। यदा विद्वांसः सन्तुष्टाः भविष्यन्ति तदा एव मम कौशलम् सफलं ज्ञेयमिति भावः।

सूत्रधार——आर्ये! मैं तुम से सत्य कहता हूँ कि जब तक विद्वान् सन्तुष्ट न हो जाएँ तब तक मैं अपने अभिनय के प्रयोग को सफल नहीं मानता हूँ। भली भाँति शिक्षा पाये हुए पुरुषों का भी चित्त अपने विषय में अविश्वासयुक्त ही होता है।

अलंकार तथा छन्द——पूर्वार्ध अर्थात् प्रथम पंक्ति में पर्यायोक्ति अलंकार है क्योंकि यहाँ प्रकारान्तर से यह अर्थ स्पष्ट हो रहा है कि जब विद्वान् इस नाटक के अभिनय को देखकर सन्तुष्ट हो जावेंगे तभी मेरा नाटक-सर्जन-कौशल सफल होगा। लक्षण—"पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचोभङ्ग्यन्तराश्रयम्" कुवलयानन्द ॥ उत्तरार्ध अर्थात् द्वितीय पंक्ति में सामान्य के द्वारा पूर्वार्ध के विशेष वाक्य

का समर्थन होने से 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है। लक्षण--"सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि। कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते॥" यहाँ 'आर्या' छन्द है। लक्षण--"यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या।"

व्याकरण---**परितोष** = परि + तुष् + घञ् (अ)। **प्रयोगविज्ञानम्** = प्रयोग = प्र + युज् + घञ् (अ)। विज्ञानम् = वि + ज्ञा + ल्युट् (अन)।

समास आदि---**प्रयोगविज्ञानम्** = प्रयोगस्य नाट्याभिनयस्य विज्ञानं विशिष्टं ज्ञानमिति (तत्पुरुष)। **अप्रत्ययम्** = न प्रत्ययः यस्य तत्।

टिप्पणी---**भूतार्थम्** = सत्य, सत्य बात, वास्तविक बात। **आ परितोषात्** = सन्तोष-पर्यन्त। 'आङ मर्यादावचने' इस नियम से 'आङ' के योग में परितोषात् में पंचमी विभक्ति हुई है। यहाँ परितोषात् के साथ आङ का समास नहीं हुआ है। यदि समास होता तो 'आपरितोषम्' रूप बनता। अतः 'आ' को परितोषात् शब्द से पृथक् रखना ही उचित है। **प्रयोगविज्ञानम्** = अभिनय कला का ज्ञान। **बलवदपि---इत्यादि** = भली भाँति शिक्षित लोगों के भी चित्त को अपने विषय में विश्वास नहीं होता। यद्यपि टीकाकारों ने 'बलवत्' शब्द का अन्वय 'शिक्षितानाम्' तथा 'चेतः' दोनों ही शब्दों के साथ किया है, किन्तु 'चेतः' शब्द के साथ अन्वय करने की अपेक्षा 'शिक्षितानाम्' शब्द के साथ अन्वय करने पर उसकी उपयोगिता तथा संगति अधिक उचित प्रतीत होती है। अतः यहाँ 'शिक्षितानाम्' शब्द के साथ ही 'बलवत्' शब्द का अन्वय किया गया है।

नटी---(अज्ज ! एवं एदम्। अणन्तरकरणिज्जं अज्जो आणवेदु।) आर्य ! एवमेतत्। अनन्तरकरणीयमार्य आज्ञापयतु।

नटी---आर्य ! यह ऐसा ही है। अब जो करना है, उसे आर्य बतायें।

सूत्रधारः---किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रसादनतः। तदिममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य गीयताम्। संप्रति हि---

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः॥३॥

अन्वय---सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः प्रच्छायसुलभनिद्राः दिवसाः परिणामरमणीयाः (भवन्ति।)

संस्कृत-व्याख्या---सुभगसलिलावगाहाः = सुभगः सुखकरः प्रीतिप्रदः वा सलिले जले अवगाहः स्नानं निमज्जनं वा येषु तादृशाः। पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः = पाटलनामधेयानां ग्रीष्मसमयारम्भे विकासशीलानां पुष्पाणां संसर्गेण सम्पर्कात्

सुरभयः सुगन्धयुक्ताः वनवाताः वनवायवः येषु तादृशाः, प्रच्छायसुलभनिद्राः = प्रकृष्टा घना छाया यत्र तत्प्रच्छायं तेषु घनछायायुक्तस्थलेषु सुलभा सुखेन लभ्या प्राप्या वा निद्रा येषु तादृशाः, दिवसाः = ग्रीष्मसमयवासराः, परिणाम-रमणीयाः = परिणामे दिवसावसाने रमणीयाः मनोहराः भवन्ति ।

सूत्रधार—इस सभा के कानों को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और क्या ? अतः शीघ्र ही प्रारम्भ हुए, (जलस्नानादि) उपभोगों के योग्य, इस ग्रीष्म-काल के विषय में ही कोई गीत गाओ । इस समय (दिन के समय में)—

जल में स्नान करना सुखद प्रतीत होता है । पाटल के पुष्पों के सम्पर्क से वन की हवायें सुगन्ध युक्त होती हैं । (वृक्षों की) सघन छाया में नींद सरलता से आती है तथा दिन सायंकाल के समय रमणीक होते हैं ।

अलंकार तथा छन्द—इस श्लोक में विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकरालङ्कार है—"उक्तिर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः" ॥ ग्रीष्म काल के स्वाभाविक वर्णन की दृष्टि से यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है—"स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद् वस्तुवर्णनम्"। इसके अतिरिक्त यहाँ श्रुत्यनुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास दो शब्दालंकार भी है । आर्या छन्द है । इसका लक्षण पहले लिखा जा चुका है ।

व्याकरण—**श्रुतिप्रसादनतः** = श्रुति – श्रु + क्तिन् (ति), प्रसादनतः – प्र + सद् + णिच् + ल्युट् (अन) पंचमी विभक्ति के अर्थ में तसिल् (तः) । प्र + सद् + णिच् + ल्युट् (अन) । **उपभोग** = उप + भुज् + घञ् (अ) । **अधि-प्रवृत्त** = प्र + वृत् + क्त (त) । **उपभोग** = उप + भुज् + घञ् (अ) । **अधिकृत्य** = अधि + कृ + ल्यप् (य) । **अवगाह** = अव + गाह् + घञ् (अ) । **संसर्ग** = सम् + सृज् + घञ् (अ) । **परिणाम** = परि + नम् + घञ् (अ) । **रमणीय** = रम + अनीयर् (अनीय) । **समास** आदि—**अनन्तरकरणीयम्** = अन्तरस्य अभावः अनन्तरं निर्विलम्बं यथा स्यात्तथा करणीयं कर्तुं योग्यम् इति **अचिरप्रवृत्तम्** = अचिरं यथा स्यात्तथा प्रवृत्तं प्रारब्धम् । **सुभगसलिलावगाहाः** = सु अतिशयेन भगः यत्नः येषु ते सुभगाः, सलिलेषु अवगाहाः सलिलावगाहाः, सुभगाः सलिलावगाहाः येषु ते (तत्पुरुषगर्भक बहुव्रीहि) । **पाटलसंसर्गसुरभि-वनवाताः** = पाटलानां संसर्गः येषु ते पाटलसंसर्गाः, पाटलसंसर्गाश्च सुरभयश्च वनवाताः येषु ते तथोक्ताः (तत्पुरुषगर्भक बहुव्रीहि) । **प्रच्छाय-सुलभनिद्रा** = प्रकृष्टा छाया येषु प्रदेशेषु ते प्रच्छायाः तेषु सुलभा निद्रा येषु ते तथोक्ताः (तत्पु-रुषगर्भक बहुव्रीहि) । **परिणामरमणीयाः** = परिणामे रमणीयाः (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः** में सुरभि शब्द का अर्थ राघव-भट्ट के अनुसार 'ब्लोज' है । मनोज्ञता का कारण शीतल स्पर्श है । सुगन्ध तो पाटल-संसर्ग से ही प्रकट हो जाती है । पुनः उसके लिये 'सुरभि' शब्द का प्रयोग करना पुनरुक्ति ही होगी । 'वन' शब्द से मान्य का भाव प्रकट होता है । परिणामरम-

णीयाः—इसके द्वारा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक के परिणाम के सम्बन्ध में सूचना भी प्राप्त हो जाती है कि इस नाटक का अन्त सुखद होगा। सायंकालीन मनोहर ग्रीष्मऋतु कालिदास को अधिक प्रिय प्रतीत होती है क्योंकि उन्होंने ऋतु-संहार में भी इसका वर्णन करते हुए लिखा है :—

"प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षमवारिसंचयः।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये॥"

नटी—(तह।) तथा। (इति गायति)

(इसीसिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमारकेसरसिहाइं।
ओदसअन्ति दअमाणा प्रमदाओ सिरीसकुसुमाइं ॥४॥)

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥४॥

अन्वय—प्रमदाः दयमानाः भ्रमरैः ईषदीषत् चुम्बितानि सुकुमारकेसर-शिखानि शिरीषकुसुमानि अवतंसयन्ति।

संस्कृत व्याख्या—प्रमदाः = मदविह्वलाः युवतयः, दयमानाः = दयाभाव-भरिताः, सुकुमार-केसर-शिखानि = सुकुमाराः अतिकोमलाः केसराणां किञ्ज-ल्कानां शिखाः अग्रभागाः येषु तानि, भ्रमरैः = मधुकरैः ईषदीषत् = स्वल्पं यथा स्यात्तथा, चुम्बितानि = आस्वादितानि, शिरीष-कुसुमानि = शिरीषवृक्षपुष्पाणि, अवतंसयन्ति = कर्णाभूषणं कुर्वन्ति।

नटी—वैसा (ही होगा)। (यह कहकर गाती है।)

सदयभाव (आह्लाद) के साथ युवतियाँ भ्रमरों द्वारा कुछ कुछ आस्वा-दित तथा अत्यधिक कोमल केसर के अग्रभागों से युक्त शिरीष के फूलों को कान का आभूषण बना रही हैं।

अलंकार तथा छंद—यहाँ 'सुकुमारकेसरशिखानि कुसुमानि सन्ति' 'दय-मानाः प्रमदाः अवतंसयन्ति' के प्रति कारण है अतः काव्यलिंग अलंकार है :—

"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं निगद्यते"।

इसमें उद्गाथा छन्द है। लक्षण—

"पूर्वार्धे उत्तरार्धे मात्रास्त्रिंशदिति सुभग-संभणिताः।
सा उद्गाथा उक्ता पिङ्गलकविदृष्टषष्टिमात्राङ्काः॥"

व्याकरण—दयमाना = दय + शानच्। **अवतंसयन्ति** = अवतंस + णिच् + लट् (यहाँ 'तत्करोति तदाचष्टे' से णिच् होता है)। **समास आदि—प्रमदाः** = प्रकृष्टो मदो यासु ताः। **सुकुमारकेसरशिखानि** = सुकुमाराः केसराणां शिखाः

येषु तानि अथवा सुकुमाराणि केसराणि एव शिखा येषां तानि अथवा सुकुमाराः केसराणां शिखाः येषां तानि (तत्पुरुषगर्भक बहुव्रीहि समास)। **शिरीषकुसुमानि** = शिरीषाणां कुसुमानि (षष्ठी तत्पुरुष समास) ।

टिप्पणी—**दयमाना** :—यह शब्द यह प्रकट करता है कि स्त्रियाँ मद-युक्त होने पर भी पुष्पों को अपने कोमल हाथों से बहुत सावधानी के साथ तोड़ती हैं जिससे वे कुम्हला न जायँ। जिस भाँति भ्रमर बड़ी सावधानी के साथ फूल का स्वाद लेता है उसी प्रकार स्त्रियाँ भी बड़ी सावधानी के साथ फूलों को तोड़ती हैं। **प्रमदाः** = सौन्दर्य आदि गुणों के कारण अधिक मदवाली स्त्रियाँ। इस प्रकार मदसम्पन्न होने पर भी दया के भाव से युक्त होने के कारण वे शिरीष-पुष्पों को बहुत सावधानी के साथ तोड़कर अपना कर्णाभूषण बना रही हैं।

विशेष—इस श्लोक में कवि नाटक की कथा की ओर भी संकेत करता हुआ प्रतीत हो रहा है। शिरीष-पुष्प के रूप में शकुन्तला को प्रस्तुत किया गया है और भ्रमर के रूप में दुष्यन्त के द्वारा उसके अस्थायी मिलन और आस्वादन की ओर भी संकेत किया गया है।

सूत्रधारः—आर्ये ! साधु गीतम् । अहो, रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्गः । तदिदानीं कतमत् प्रकरणमाश्रित्यैनमाराधयामः ?

सूत्रधार—आर्ये ! (तुमने) बहुत अच्छा गाया। ओहो ! राग द्वारा बँधी हुई चित्तवृत्ति वाली यह सभा (दर्शकगण) सब और चित्रलिखित सी हो गई है। अतः इस समय किस नाटक का आश्रय लेकर (प्रदर्शन कर) इसे प्रसन्न करें ?

नटी—(णं अज्जमिस्सेहिं पढमं एव्व आणत्तं अहिण्णाणसाउन्दलं णाम अपुव्व णाडअं पओए अधिकरीअदुत्ति ।) नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेऽधिक्रियतामिति ।

नटी—आपने पहले ही आदेश दिया था कि अभिज्ञानशाकुन्तल नामक अपूर्व नाटक को अभिनय का विषय बनाया जाय।

व्याकरण—**रागबद्धचित्तवृत्तिः** = राग = रञ्ज् + घञ् । बद्ध = बन्ध + क्त (त)। वृत्ति = वृत् + क्तिन् (ति)। रंग = रञ्ज् + घञ्। "घञि च भावकरणयोः" अष्टा० ६।४।२७। से भाव और करण में ही 'रञ्ज्' के न् का लोप हो जाता है। **कतमत्**—किम् + डतमच् (अतम) "अद्ड् डतरादिभ्यः पंचभ्यः" अष्टा० ७।१।२५। से द्वितीया विभक्ति के एकवचन को अदड् (अत्) हो गया है। **आज्ञप्तम्** = आ + ज्ञा + णिच् + क्त ।

समास आदि--**रागबद्धचित्तवृत्तिः**=रागेण बद्धा चित्तवृत्तिः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **आर्यमिश्रैः**--आर्याश्च ते मिश्राः तैः (कर्मधारय)।

टिप्पणी--**आलिखित इव**=चित्रित के समान । रंगः=दर्शकसमूह । रंग शब्द का अर्थ प्रायः रंगमञ्च किया जाता है किन्तु यहाँ पर लक्षणा द्वारा "रंगशाला में एकत्रित हुए दर्शकसमूह" के लिये इस शब्द का प्रयोग हुआ है। **प्रकरणम्**=कथाप्रसंग अथवा नाटक। संस्कृत नाट्यशास्त्र में रूपक के दश भेदों को स्वीकार किया गया है जिनमें से 'प्रकरण' भी उसका एक भेद है। इसका इतिवृत्त कवि-कल्पित हुआ करता है। इसमें वेश्या आदि भी नायिका हो सकती हैं। साधारणतया इसमें दश अंक होते हैं। शूद्रक का 'मृच्छकटिक' अथवा भवभूति का 'मालती-माधव' इसी श्रेणी में आता है। इस स्थान पर सूत्रधार को 'प्रकरण' शब्द का प्रयोग न कर 'नाटक' शब्द का ही प्रयोग करना चाहिये था। उसने अनवधानता के कारण ऐसा किया है क्योंकि वह पूर्वोक्त नटी के गान के द्वारा मन्त्रमुग्ध सा हो गया था अतः वह भूल गया था कि उसे नाटक का अभिनय करना है अथवा प्रकरण का। वह तो नाटक का नाम भी भूल गया था। नटी ने स्मरण दिलाते हुए उसको स्पष्ट किया है कि आज 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नाटक का उसे अभिनय करना है। अपने आगामी कथन में सूत्रधार ने इस भूल को स्वीकार भी किया है। यहाँ महाकवि द्वारा नटी के गान-माधुर्य को प्रकट करने हेतु जानबूझ कर सूत्रधार से ऐसा कहलवाया गया है। **आर्यमिश्रैः**=आदरणीय आपके द्वारा। आर्यमिश्र शब्द का प्रयोग सम्मानपूर्वक सम्बोधन करने के लिये किया जाता है। यह शब्द 'आर्य' और 'मिश्र' इन दो आदरसूचक शब्दों के सम्मिश्रण से बना है। आदरसूचक मिश्र शब्द का प्रयोग सदैव बहुवचन में किया जाता है। 'पूज्ये मिश्रवचनं नित्यं बहुवचनान्तम्' इति रंगनाथः। 'स्यादुत्तरपदे मिश्रस्त्रिषु श्रेष्ठार्थगोचरः'। भरत मुनि ने आर्य का लक्षण इस प्रकार किया है 'कुलं शीलं दया दानं धर्मः सत्यं कृतज्ञता। अद्रोह इति येष्वेतत् तानार्यान् संप्रचक्षते'॥ व्यास ने भी कहा है :--"वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया"। **प्रयोगम्**--यहाँ यह शब्द सामान्यतः अभिनेय वस्तु के लिये प्रयुक्त हुआ है।

सूत्रधारः--आर्ये ! सम्यगनुबोधितोऽस्मि। अस्मिन् क्षणे विस्मृतं खलु मया। कुतः --

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥५॥

(इति निष्क्रान्तौ।)

प्रस्तावना

अन्वय—हारिणा अतिरंहसा सारंगेण एष राजा दुष्यन्त इव तव हारिणा गीतरागेण प्रसभं हृतः अस्मि ।

संस्कृतव्याख्या—हारिणा = मनोहारिणा, अतिरंहसा = अतिवेगवता, सारंगेण = हरिणेन, एषः = पुरो दृश्यमानः, राजा दुष्यन्तः इव = नृपः दुष्यन्त इव (अहं सूत्रधारः), तव = नट्याः, हारिणा = मनोहारिणा श्रुति-सुखदेन वा, गीतरागेण = गीत-माधुर्येण, प्रसभम् = अत्यर्थम्, हृतः अस्मि = दूरं नीतोऽस्मि । यथा राजा दुष्यन्तः मनोहरेण वेगवता च मृगेण बलात् सुदूरं नीतोऽस्ति तथा अहमपि मनोहारिणा तव संगीतेन बलात् आकृष्टचित्तोऽस्मि, स्वकर्तव्यं च विस्मृतवानस्मि इति भावः ।

सूत्रधार—आर्ये ! (तुमने) मुझे ठीक याद दिलाया है । मैं तो इस समय भूल ही गया था । क्योंकि—सुन्दर तथा वेगगामी इस हरिण द्वारा राजा दुष्यन्त के सदृश मैं भी तुम्हारे मनोहारी गीत के राग द्वारा बलपूर्वक हर लिया गया हूँ ।

(जिस प्रकार यह राजा दुष्यन्त सुन्दर एवं तीव्रगामी इस हरिण द्वारा बलपूर्वक बहुत दूर ले जाये गये हैं उसी प्रकार मेरा मन भी तुम्हारे श्रुतिसुखद गीत द्वारा बलपूर्वक आकृष्ट कर लिया गया है । अर्थात् मैं उसमें इतना अधिक तन्मय हो गया था कि अपने कर्तव्य को ही भूल गया था ।)

(दोनों निकल जाते हैं ।)

प्रस्तावना समाप्त ।

अलंकार तथा छन्द—उपर्युक्त श्लोक में 'उपमा' अलंकार है । इसमें 'अनुष्टुप्' छन्द है "श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम् । द्विचतुःपादयो ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ।।"

व्याकरण—**अनुबोधितः** = अनु + बुध् + णिच् + क्त (त) । **विस्मृतम्** = वि + स्मृ + क्त (त) । **हारिणा** = हृ + णिनि (इन्)—हारिन्, तृतीया एकवचन । (यहाँ 'साधुकारिण्युपसंख्यानम्' वार्तिक से साधु अर्थ में 'णिनि' हुआ है ।

समास आदि—**गीतरागेण** = गीतस्य रागः तेन (षष्ठी तत्पुरुष) । **हारिणा** = साधु हरति चित्तमिति हारी तेन । **प्रसभम्** = प्रगता सभा विचारः अस्मात् (बहुव्रीहि समास) । **अतिरंहसा** = अधिकं रंहः यस्य तेन । **सारंगः** = सारमङ्गमस्य ।

टिप्पणियाँ—**अस्मिन् क्षणे विस्मृतं खलु मया** = इस वाक्य के द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि सूत्रधार ने नाटक के स्थान पर भूल से प्रकरण क्यों कहा था । **तवास्मि** = मैं (अहम्) के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला अव्यय है (अस्मीत्यस्मदर्थानुवादेऽहमर्थेऽपि इति गणव्याख्याने ।) ऐसी स्थिति में क्रिया 'अस्मि' का अध्याहार करना होगा । अथवा इसको, हृतः, के साथ भी सम्बद्ध किया जा सकता

है। तब 'हृतोऽस्मि' का अर्थ होगा 'हर लिया गया हूँ'। **निष्क्रान्तौ**=नटी तथा सूत्रधार (दोनों) रंगमंच से बाहर जाते हैं। जिस स्थान पर स्त्री तथा पुरुष दोनों को संकेत किया जाता है वहाँ "पुमान् स्त्रिया"। अष्टा० १।२।६७। सूत्र में वर्णित नियम के अनुसार पुंलिंग के द्विवचन का प्रयोग होता है। इसी कारण यहाँ 'निष्क्रान्तौ' का प्रयोग हुआ है। **प्रस्तावना**=अब प्रस्तावना समाप्त हुई। संस्कृत नाटकों में प्रस्तावना (अथवा आमुख) सूत्रधार और नटी (अथवा किसी अन्य पात्र) के मध्य होने वाले प्रारम्भिक वार्त्तालाप के रूप में होती है। इसमें नाटककार तथा उसकी योग्यता आदि का परिचय करा देने के पश्चात् सूत्रधार अपने वार्त्तालाप में ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है, जिनके द्वारा कथावस्तु का निर्देश स्वयं ही हो जाया करता है। साहित्य-दर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है :—

> "नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
> सूत्रधारेण सहिता संलापं यत्र कुर्वते ॥
> चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
> आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा ॥ सा० दर्पण ६।३२॥

विशेष द्रष्टव्य--यहाँ एक आवश्यक संकेत भी उपलब्ध होता है। वह यह कि जिस प्रकार सूत्रधार संगीत में मग्न होने के कारण अपने कार्य तथा कथावस्तु को भूल जाता है उसी प्रकार शकुन्तला भी दुष्यन्त के ध्यान में मग्न होने के कारण दुर्वासा ऋषि के आतिथ्य सम्बन्धी अपने कर्तव्य को भूल जाती है। इस भूल का परिणाम बहुत ही बुरा होता है—दुष्यन्त शकुन्तला को एकदम भूल जाता है। उसके समक्ष शकुन्तला खड़ी हुई है, न पहचाने जाने पर वह विगत घटना का उल्लेख भी करती है; किन्तु राजा उसे नहीं पहिचान पाता है और इस भाँति वह शकुन्तला का त्याग कर देता है। प्रस्तुत नाटक में 'भूलना' एक महत्त्वपूर्ण घटना है। जिस भाँति नटी सूत्रधार को उसके कर्तव्य का स्मरण दिलाती है और तदनुसार वह अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है, उसी भाँति अंगुरीयक (अँगूठी) भी राजा को शकुन्तला का स्मरण कराती है और स्मरण आने के पश्चात् राजा अपने कर्तव्य के प्रति उन्मुख हो जाता है। अन्ततोगत्वा सूत्रधार के समान राजा भी अपने कर्तव्य को करते हुए अपने इष्ट लक्ष्य की पूर्ति कर ही लेता है।

(ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च ।)

सूतः—(राजानं मृगं चावलोक्य) आयुष्मन् !

> कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके ।
> मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम् ॥६॥

पदच्छेदः—कृष्णसारे । ददत् । चक्षुः । त्वयि । च । अधिज्यकार्मुके । मृगानुसारिणम् । साक्षात् । पश्यामि । इव । पिनाकिनम् ।

अन्वयः—कृष्णसारे अधिज्यकार्मुके त्वयि च चक्षुः ददत् मृगानुसारिणं साक्षात् पिनाकिनं पश्यामि इव ।

संस्कृत-व्याख्या:—कृष्णसारे = [पलायमाने] मृगविशेषे, अधिज्यकार्मुके = अधिज्यं मौर्वीसहितं कार्मुकं धनुः यस्य तस्मिन्, त्वयि = दुष्यन्ते च चक्षुः = दृष्टिं, ददत् = अर्पयन्, [अहम् = सूतः] मृगानुसारिणम् = मृगरूपधारिणं दक्षप्रजापतेः यज्ञस्य वधार्थमनुगच्छन्तम्, साक्षात् = प्रत्यक्षम्, पिनाकिनम् = धनुर्धारिणं शिवम्, पश्यामि इव = अवलोकयामि इव ।

[तदनन्तर मृग का पीछा करते हुए, हाथ में धनुष एवं बाण लिये हुए रथ पर स्थित राजा और सारथि प्रवेश करते हैं ।]

सारथि—(राजा और हरिण को देखकर), आयुष्मन् !

चितकवरे हरिण और प्रत्यञ्चा (डोरी) चढ़े हुए धनुष को धारण करने वाले तुम पर दृष्टिपात करने वाला मैं हरिण का अनुसरण करने वाले साक्षात् शिव को ही मानो देख रहा हूँ ।

अलंकारः—यहाँ प्रस्तुत राजा की अप्रस्तुत शिव के साथ एकत्व की संभावना की गई है अतः 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है । "संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।" यहाँ पर उपमालंकार की संभावना नहीं की जा सकती है क्योंकि आचार्य भामह का कथन है कि तिच्न्त के साथ उपमा नहीं हुआ करती है । उपमा में एक ही क्रिया होती है किन्तु यहाँ पर "ददत्-चक्षुः" तथा "पश्यामि" ये दो क्रियायें हैं । यदि उपमा मान भी लिया जाय तो 'साक्षात्' शब्द व्यर्थ हो जायगा । यदि 'पिनाकिनमिव पश्यामि' ऐसा अन्वय किया जाय तो भी 'ददत्-चक्षुः' क्रिया द्वारा पुनरुक्ति हो जावेगी । अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार ही हो सकता है ।। चक्षु (दृष्टि) एक है किन्तु एक साथ दो स्थानों के साथ उसका सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है । अतः यहाँ विशेषालंकार भी हो सकता है । इसके अतिरिक्त यहाँ पर श्रुति एवं वृत्ति अनुप्रास भी है । **छन्दः**—इसमें 'अनुष्टुप्' छन्द है । लक्षण—यथापूर्व ।

व्याकरण:—**मृगानुसारी** = मृग + अनु + सृ + णिनि (इन्) । **सूतः** = सू + क्त (त) । **आयुष्मन्** = आयुष् + मतुप् (मत्) । **ददत्** = दा + शतृ (अत्) । **पिनाकी** = पिनाक + इनि (इन्) । **समासः**—**मृगानुसारी** = मृगमनुसरतीति । **सशरचापहस्तः** = शरेण सहितः सशरः, सशरः चापः हस्तयोः यस्य सः (बहुव्रीहि) । **सूतः** = सुवति प्रेरयति अश्वान् । **कृष्णसारे** = कृष्णश्चासौ सारः शबलः इति कृष्णसारः तस्मिन् । (कर्मधारय) । **अधिज्यकार्मुके** = ज्यामधिगतं अधिज्यं कार्मुकं धनुः यस्य तस्मिन् (बहुव्रीहि) । **पिनाकिनम्** = पिनाकं शिवधनुः अस्य अस्तीति पिनाकी तम् ।

टिप्पणी:—**सूत** = मन के अनुसार क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणकन्या से उत्पन्न

सन्तान 'सूत' कहलाती है। ये लोग 'सारथि' का काम किया करते हैं "क्षत्रियाद् विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।" सूतानामश्वसारथ्यम्०" इत्यादि मनु० १०।११, ४७ ॥ सूत (सारथि) संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करता है—"संमतानां देवतानां राजन्यमात्यसैनिके। वणिङ्मागधसूतानां पाठ्यं योज्यं तु संस्कृतम्" ॥ मातृगुप्ताचार्य ॥ **आयुष्मन्**—भरतमुनि के अनुसार 'सूत' को रथ में स्थित व्यक्ति से 'आयुष्मन्' शब्द द्वारा संबोधित किये जाने का विधान है "आयुष्मन्निति वाच्यस्तु रथी सूतेन सर्वदा" (नाट्यशास्त्र)। इसी कारण यहाँ पर सारथी द्वारा राजा को 'आयुष्मन्' कहा गया है। संभवतः इसके कारण ये रहे हों—कि सारथि आयु में बड़ा तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति होता था। आयु में अधिक होने के कारण उसके द्वारा राजा से आयुष्मन् कहलवाया गया हो। अथवा वह युद्धों में राजा के साथ चलता था। राजा दीर्घायु तथा विजयी हों, यह भावना उसके हृदय में राजा के प्रति रहती हो और इसी आधार पर उसके द्वारा राजा को 'आयुष्मन्' शब्द द्वारा संबोधित किये जाने का विधान बना हो। **कृष्णसारे** = कृष्ण (काले) और (सार) चितकबरे हरिण पर। यह एक प्रकार का मृग है जो चितकबरा होता है तथा उसके शरीर पर काले धब्बे अधिक हुआ करते हैं। **पिनाकिन्** = शिव। शिव के धनुष का नाम 'पिनाक' है। अतः उन्हें पिनाकिन् कहा जाता है। **मृगानुसारिणं पिनाकिनम्** = यहाँ शिव सम्बन्धी एक पौराणिक कथा की ओर संकेत किया गया है। एक बार शिव के श्वसुर दक्ष ने यज्ञ किया। उसमें उन्होंने अपने दामाद शिव को छोड़कर सभी देवताओं को निमन्त्रित किया। इस यज्ञ में पार्वती विद्यमान थीं। उनके समक्ष दक्ष ने शिव के लिए कुछ अभद्र शब्द कह दिये। पति की निन्दा न सह सकने के कारण पार्वती ने वहीं पर योग द्वारा अपना शरीर त्याग दिया। यह सूचना जब शिव को प्राप्त हुई तब वे बहुत क्रुद्ध हुए। वे यज्ञ-स्थल पर गये। उन्होंने दक्ष को मार डाला तथा अन्य देवताओं को भगा दिया। शिव के भय से भयभीत होकर यज्ञ-देव मृग का रूप धारण कर भागा। शिवजी ने पिनाक (धनुष) लेकर उसका पीछा किया और उसे मार डाला। **महाभारत** के अनुसार यह यज्ञ देवताओं के द्वारा किया गया था तथा उसमें शिव का भाग नहीं निकाला गया था। अतः क्रोधित शिवने मृगरूपधारी यज्ञ का बध किया। **वायुपुराण** के अनुसार—शिव ने स्वयं मृगरूपधारी यज्ञ का वध नहीं किया किन्तु उन्होंने वीरभद्र नामक राक्षस को जन्म देकर उसे यज्ञ के बध के निमित्त भेजा था।

राजा—सूत ! दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः। अयं पुनरिदानीमपि—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने[1] दत्तदृष्टिः,
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।

१. पाठभेद—बद्धदृष्टिः।

दर्भै¹रर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा,
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥७॥

(सविस्मयम्) तदेष कथमनुपतत एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृत्तः ?

अन्वयः—पश्य, [अयं पुनरिदानीमपि] अनुपतति स्यन्दने मुहुः ग्रीवाभंगाभिरामं दत्तदृष्टिः शरपतनभयात् भूयसा पश्चार्धेन पूर्वकायं प्रविष्टः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः अर्द्धावलीढैः दर्भैः कीर्णवर्त्मा उदग्रप्लुतत्वात् वियति बहुतरं उर्व्यां स्तोकं प्रयाति ।

संस्कृत व्याख्या:—पश्य = अवलोकय, [अयं=मृगः, पुनः, इदानीमपि = अधुनाऽपि], अनुपतति = अनु पश्चात् पतति आगच्छति, स्यन्दने = रथे, मुहुः = वारं वारं, ग्रीवाभंगाभिरामम् = ग्रीवायाः कन्धरायाः भंगेन परावर्त्तनेन अभिरामं मनोहरं यथा स्यात्तथा, दत्तदृष्टिः = दत्ता दृष्टिः चक्षुः येन सः, शरपतनभयात् = शरस्य बाणस्य (स्वशरीरे) पतनभयात् पातत्रासाद्, भूयसा = अधिकेन बहुलेन वा, पश्चार्द्धेन = गात्रस्य उत्तरार्धभागेन, पूर्वकायम् = शरीरस्य पूर्वार्धम्, प्रविष्टः = प्रवेशं प्राप्तः इव, श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः = श्रमेण भयाद् द्रुततरगमनपरिश्रमेण विवृतं उद्घाटितं यत् मुखं आननं तस्मात् भ्रंशिभिः अधः पतद्भिः, अर्धावलीढैः = अर्धचर्वितैः, दर्भैः = कुशैः, कीर्णवर्त्मा = कीर्णं व्याप्तं वर्त्म गमनमार्गो यस्य सः, उदग्रप्लुतत्वात्—उच्चप्लवनात्, वियति—आकाशे, बहुतरम् = अधिकम्, उर्व्याम् = भूमौ, स्तोकम् = अल्पम्, प्रयाति = गच्छति ।

राजा—सारथि ! यह मृग हम लोगों को बहुत दूर तक दौड़ा लाया । देखो, यह अब भी पीछे दौड़ते हुए [अथवा पीछा करते हुए हमारे] रथ की ओर बार-बार गर्दन मोड़कर दृष्टिपात करता हुआ, बाण लगने के भय से (अपने) अधिकांश शरीर के पिछले भाग को अगले भाग में समेटता हुआ [दौड़ने से] उत्पन्न हुई थकावट के कारण खुले हुए मुख से गिरते हुए अर्धचर्वित कुशों के तिनकों से मार्ग को व्याप्त करता हुआ, ऊँची ऊँची चौकड़ी [अथवा उछाल] मारने के कारण आकाश में अधिक तथा पृथ्वी पर कम चल रहा है ।

(आश्चर्य के साथ) निरन्तर पीछा करते हुए होने पर भी यह मेरे लिए प्रयत्नों द्वारा देखने योग्य क्यों हो गया है ?

अलंकार तथा छन्दः—यहाँ हरिण के स्वाभाविक वर्णन के होने से प्रधानरूप से स्वभावोक्ति अलंकार है । "स्वभावोक्तिदुरूहार्थस्वक्रियावस्तुवर्णनम्" । रस—उपर्युक्त श्लोक में वीर रस का वर्णन है । काव्यालंकारकार वामन ने इस

---

१. शष्पैः ।

श्लोक को भयानक-रस के उदाहरण में उद्धृत किया है। यहाँ हरिण एवं राजा के [दोनों ही के] उत्साहभाव का वर्णन होने से वीर-रस तथा हरिण की भयभीत स्थिति का वर्णन होने से भयानक-रस की प्रतीति होती है। इसमें 'स्रग्धरा' वृत्त है।

व्याकरणः—अभिराम = अभि + रम् + घञ् (अ)। **अनुपतति** = अनु + पत् + शतृ (अत्) + सप्तमी एकवचन। **स्यन्दनः** = स्यन्द् + ल्युट् (अन)। **दत्तदृष्टिः** = दत्त—दा + क्त (त), दृष्टि–दृश् + क्तिन् (ति)। प्रविष्टः = प्र + विश् + क्त (त)। **भूयसा** = बहु + ईयस् + तृतीया एकवचन। यहाँ "बहोर्लोपो भू च बहोः" अष्टा० ६।४।१५८। सूत्र से 'बहु' के स्थान पर 'भू' और 'ईयस्' के 'ई' का लोप होता है। **अवलीढ** = अव + लिह् + क्त (त)। कीर्ण + कृ + क्त (त)।

समास आदिः—**ग्रीवाभंगाभिरामम्** = ग्रीवायाः भंगः तेन अभिरामम् (तत्पुरुष)। **दत्तदृष्टिः** = दत्ता दृष्टिः येन सः (बहुव्रीहि)। **पश्चार्द्धेन** = अपरः चासौ अर्धः पश्चार्धः तेन (कर्मधारय)—यहाँ "अपरस्यार्धे पश्चभावो वक्तव्यः" वार्तिक से 'अपर' को 'पश्च' आदेश हो जाता है। **शरपतनभयात्** = शरस्य पतनभयात् (तत्पुरुष)। **पूर्वकायम्** = पूर्वं कायस्य इति पूर्वकायः तम् [एकदेशि (तत्पुरुष) समास]। **अर्धावलीढैः** = अर्धम् अवलीढैः (तत्पुरुष)। **श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः** = श्रमेण विवृतं यत् मुखं तस्मात् भ्रंशिभिः (तत्पुरुष)। **कीर्णवर्त्मा**—कीर्णं वर्त्म यस्य सः (बहुव्रीहि)। **उदग्रप्लुतत्वात्** = उदग्रं प्लुतं यस्य सः, तस्य भावः तस्मात्। प्रयत्नप्रेक्षणीयः = प्रयत्नेन प्रेक्षणीयः।

टिप्पणियाँः—**दत्तदृष्टिः** = इसके स्थान पर कुछ संस्करणों में 'बद्धदृष्टिः' पाठ भी मिलता है। किन्तु इन दोनों पाठों में दत्तदृष्टिः पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि 'मुहुरनुपतति' की संगति 'बद्धदृष्टिः' के साथ ठीक नहीं बैठती है। शीघ्रता के साथ दौड़ने वाला हरिण रथ पर दृष्टि गड़ाये नहीं रह सकता अर्थात् टकटकी लगाकर नहीं देख सकता है, वह बारबार घूमकर देख सकता है। **पश्चार्धेन प्रविष्टः** = हरिण बाण के लगने के भय से भयभीत था। अतः वह अपने शरीर के पिछले भाग को अगले भाग की ओर समेटे हुए था। यहाँ कवि संभावना करता है कि मानो वह हरिण अपने शरीर के पिछले भाग को अगले भाग में प्रविष्ट किये हुए है। यहाँ उत्प्रेक्षासूचक 'इव' आदि शब्द का अभाव है। अतः गूढोत्प्रेक्षा अलंकार है—"इवादिकपदाभावे गूढोत्प्रेक्षां प्रचक्षते"। उदग्रप्लुतत्वात् = हरिण शीघ्रता में दौड़ने के कारण बहुत ऊँची तथा लम्बी छलाँग मार रहा है इसलिए कवि का यह कथन वर्णन के अनुकूल ही है कि वह हरिण पृथ्वी की अपेक्षा आकाश में अधिक गमन कर रहा है।

सूतः—आयुष्मन्! उद्घातिनी भूमिरिति मया रश्मि-संयमनाद् रथस्य मन्दीकृतो वेगः। तेन मृग एष विप्रकृष्टः संवृत्तः। सम्प्रति समदेशवर्तिनस्ते न दुरासदो भविष्यति।

सारथि—आयुष्मन् ! भूमि ऊँची नीची थी। इसलिए मैंने लगाम खींचकर रथ का वेग कम कर दिया था। इसी कारण यह हरिण बहुत दूर हो गया है। अब समतल भूमि में स्थित हुए आपके लिए उसका मिल जाना कठिन न होगा।

राजा—तेन हि मुच्यन्तामभीषवः।

राजा—तो (अब तुम) रासें (लगाम की दोनों रस्सियाँ) ढीली कर दो।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (रथवेगं निरूप्य) आयुष्मन् ! पश्य पश्य[1]—

[2]मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः ॥८॥

अन्वयः=रश्मिषु मुक्तेषु अमी रथ्याः मृगजवाक्षमया इव निरायतपूर्वकायाः निष्कम्पचामरशिखाः निभृतोर्ध्वकर्णाः आत्मोद्धतैः अपि रजोभिः अलङ्घनीयाः [सन्तः] धावन्ति।

संस्कृत-व्याख्या—रश्मिषु=प्रग्रहेषु, मुक्तेषु=संयमनात् शिथिलीकृतेषु, अमीरथ्याः=एते रथवाहिनः अश्वाः, मृगजवाक्षमया इव=मृगस्य पुरोधावितस्य हरिणस्य यो जवः वेगः तस्य अक्षमया असहिष्णुतया इव, निरायतपूर्वकायाः= नितरां आयतः दीर्घः पूर्वकायो येषां ते तादृशाः वेगदीर्घीकृतांगाः इत्यर्थः, निष्कम्पचामरशिखाः=निष्कम्पाः निश्चलाः चामराणां कर्णयोरन्तराले भूषणार्थं दत्तानां चमरीपुच्छानां शिखाः अग्रभागाः एषां ते, निभृतोर्ध्वकर्णाः=निभृतौ स्थिरौ कर्णौ येषां तथाविधाः, आत्मोद्धतैः=आत्मना स्वखुरद्वारेण उद्धतैः उत्थितैः अपि, रजोभिः=धूलिभिः, अलङ्घनीयाः=अनतिक्रमणीयाः सन्तः, धावन्ति=अतिवेगेन गच्छन्ति। मृगेण स्पर्द्धया एते अनुकूलमेतं वातमपि अतीत्य गच्छन्ति इति भावः।

सारथि—आयुष्मान् की जैसी आज्ञा। (रथ के वेग को दिखलाते हुए) देखिये, देखिये—

---

१. पाठभेद—एते हि....।

२. पाठभेदः—"स्वेषामपि प्रसरतां रजसामलभ्याः। निष्कम्पचामरशिखाच्युतकर्णभंगा, धावन्ति वर्त्मनि तरन्ति नु वाजिनस्ते"॥

लगाम ढीली कर देने पर ये घोड़े मानो हरिण की तीव्र गति को सहन न कर सकने के कारण अपने लम्बे-चौड़े शरीर के अग्रभाग से युक्त, कम्पनरहित चामर के अग्रभाग (कलँगी) से युक्त, चेष्टारहित कानों को ऊपर की ओर उठाये हुए (अर्थात् कानों को खड़ा किये हुए) स्वयं अपने ही पैरों से उड़ाई गई हुई धूल द्वारा भी न लाँघे जाने योग्य होकर ौड़ रहे हैं।

अलङ्कार तथा छन्दः--श्लोक के प्रथम तीन चरणों में स्वभावोक्ति अलंकार है। 'मृगजवाक्षमया इव' में इव शब्द उत्प्रेक्षावाचक होने से अन्तिम चरण में उत्प्रेक्षा अलंकार भी कहा जा सकता है। इसमें 'वसन्ततिलका' वृत्त है। उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।।"

व्याकरणः--**उदघातिनी** = उत् + हन् + णिनि = ङीप् । **दुरासदः** = दुर् + आ + सद् + खल् (अ) । **निरूप्य** = नि + रूप् + णिच् + ल्यप् । **निरायत** = निर् + आ + यम् + क्त । **निभृत** = नि + भृ + क्त । **रथ्यः** = रथ + यत्--यहाँ "तद्वहति रथयुगप्रासंगम्" अष्टा० ४।४।७६ से 'यत्' होता है।

समास आदिः = **उद्घातिनी** = उद्घाताः सन्ति अस्याम् । **मन्दीकृतः** = अमन्दः मन्दः कृतः इति । **विप्रकृष्टान्तरः** = विप्रकृष्टं अन्तरं यस्य सः (बहुव्रीहि) । **समदेशवर्तिनः** = समदेशे वर्त्तते इति समदेशवर्ती तस्य । **दुरासदः** = दुःखेन आसाद्यते इति । **निरायतपूर्वकायाः** = नितरां आयतः पूर्वकायः येषां ते (बहुव्रीहि)। **निष्कम्पचामरशिखाः** = निष्कम्पाः चामराणां शिखा ऐषां ते (बहुव्रीहि) । **निभृतोर्ध्वकर्णाः** = निभृतौ ऊर्ध्वौं कर्णौं येषां ते (बहुव्रीहि) । **मृगजवाक्षमया** = मृगस्य जवे अक्षमा तया (तत्पुरुष) । रथ्यः--रथं वहतीति **रथ्यः** ।

टिप्पणियाँ--**उद्घातिनी** = ऊँची-नीची, ऊबड़-खाबड़ भूमि । "उद्घातः कथ्यते पादस्खलने समुपक्रमे" इति विश्वः । सारथि ने राजा को बतलाया कि यहाँ पर भूमि ऊँची-नीची थी। रथ के घोड़े ठोकर खाकर गिर सकते थे, इस कारण मैंने लगाम खींचकर रथ का वेग कम कर दिया था। **समदेशवर्तिनः** = सारथि ने राजा को बतलाया कि अब भूमि एक सी (समतल) है। ऐसी स्थिति में रथ का वेग बढ़ा देने पर उस हरिण को पकड़ना कठिन नहीं होगा। **निरूप्य** शब्द का अर्थ है—नाट्य अथवा अभिनय द्वारा दिखला करके । **चामर** = इसका निर्माण 'चमर' नामक हरिण की पूंछ के सफेद बालों से होता था तथा यह मक्खियाँ आदि उड़ाने के काम में लाया जाता था। यह भी एक राजचिह्न था । घोड़े के सिर पर यह कलँगी के रूप में लगाया जाता था। तेजी से दौड़ने के कारण घोड़ों के सिरों पर स्थित कलँगी के अग्रभाग निष्कम्प रूप में खड़े हैं। **रजोभिः** = रथ के घोड़े इतनी अधिक तीव्र गति से दौड़ रहे थे कि उनके खुरों से उठी हुई धूल उनके शरीर पर नहीं आ पाती थी। जब तक यह धूल उड़कर ऊपर की ओर बढ़ती थी, तब तक घोड़े आगे बढ़ जाते थे।

राजा—सत्यम् । अतीत्य हरितो हरींश्च वर्तन्ते वाजिनः ।

तथा हि—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां,
यदर्द्धा विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत् ।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो—
र्न मे दूरे किंचित् क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ।।९।।

सूत ! पश्यैनं व्यापाद्यमानम् । (इति शरसन्धानं नाटयति ।)

अन्वयः=रथजवात् यत् आलोके सूक्ष्मं तत् सहसा विपुलतां व्रजति । यत् अर्द्धा विच्छिन्नं तत् कृतसंधानम् इव भवति, यत् प्रकृत्या वक्रं तदपि नयनयोः समरेखम्, क्षणं अपि किंचित् न मे दूरे न पार्श्वे (अस्ति) ।

संस्कृत-व्याख्या—रथजवात् = रथवेगात्, यद् = यद् वस्तु, आलोके = दर्शने, सूक्ष्मम् = अतिदूरतया क्षुद्रम् दृश्यते, तत् = तदेव वस्तु, सहसा = तत्क्षणमेव, विपुलताम् = स्थूलतां, व्रजति = प्राप्नोति । यत् = यद् वस्तु, अर्द्धा = तत्त्वतः, विच्छिन्नम् = पृथक् पृथक् विभक्तमासीत्, तत् = तद् वस्तु, कृतसन्धानमिव = अपृथग्भूतमिव सम्मिलितमिव वा, भवति = संजायते । यत् = यद् वस्तु, प्रकृत्या = स्वभावेन, वक्रम् = कुटिलं दृश्यते स्म, तदपि = तद् वस्तु अपि, नयनयोः = नेत्रयोः, समरेखम् = समा ऋज्वी रेखा यस्य तत् भवति । क्षणमपि = स्वल्पकालमपि क्षणमात्रमपि, किंचिद् = किमपि वस्तु, न मे दूरे = न मत्तः दूरे तिष्ठति, न पार्श्वे = न च मम समीपे तिष्ठति ।

राजा—सत्य है (कि) मेरे ये घोड़े सूर्य और इन्द्र के घोड़ों को भी (वेग में) मात कर रहे हैं । क्योंकि—

रथ की तीव्र गति के कारण जो वस्तु देखने में छोटी सी दिखलाई पड़ती थी वही एकाएक बड़ी हो जाती है । जो (वृक्ष आदि वस्तु) पहले बीच से पृथक् पृथक् दीख रहे थे वही जुड़े हुए प्रतीत होने लगते हैं । जो वस्तु स्वभाव से ही टेढ़ी मेढ़ी है, वह भी नेत्रों को सीधी मालूम पड़ने लगती है । (कहने का तात्पर्य यह है कि) कोई भी वस्तु इस समय (रथ के वेग के कारण) क्षण भर के लिए भी मेरे पास अथवा दूर नहीं रह जाती है ।

सारथि ! इस मारे जाते हुए मृग को देखो । (यह कहकर बाण चढ़ाने का नाट्य करता है ।)

अलंकार तथा छन्दः—इस श्लोक के चारों पदों में स्वभावोक्ति अलंकार है । श्लोक के प्रथम चरण में विरोधाभास की भी प्रतीति होती है "जो सूक्ष्म दीखता

है, वह विशाल हो जाता है" । द्वितीय एवं तृतीय चरणों में उत्प्रेक्षा अलंकार है। दूसरे चरण में उत्प्रेक्षा-वाचक 'इव' शब्द का प्रयोग होने से 'अगूढोत्प्रेक्षा' है तथा तृतीय चरण में उत्प्रेक्षावाचक शब्द का प्रयोग न होने से 'गूढोत्प्रेक्षा'। इस श्लोक में 'शिखरिणी' वृत्त है । लक्षण--"रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी" ।

व्याकरण--**अतीत्य** = अति + इ + ल्यप् + यहाँ "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" अष्टा० ६।१।७१। से 'तुड़' (त) का आगम होकर अतीत्य बनता है। **वाजी** = वाज + इनि (इन्) । विच्छिन्नम् = वि + छिद् + क्त – यहाँ "रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः" अष्टा० ८।२।४२। से तकार के स्थान पर नकार हो जाता है। **व्यापाद्यमानम्** = वि + पद् + णिच् + शानच् ।

समास आदिः--**वाजी** = वेगो बलं वाऽस्यास्तीति । **कृतसन्धानम्** = कृतं सन्धानं यस्य तत् (बहुव्रीहि) । समरेखम् = समा रेखा यस्य तत् (बहुव्रीहि) । **रथजवात्** = रथस्य जवः तस्मात् (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ--**हरितः** = सूर्य के घोड़ों को। **हरीन्** = इन्द्र के घोड़ों को। ऋग्वेद में इन्द्र के घोड़ों के लिए 'हरि' का (ऋग्वेद १।१६।१ तथा १।१०१।१० में) तथा सूर्य के घोड़ों के लिए 'हरित्' शब्द का (ऋग्वेद १।५०।८ तथा १।११५। ४ में) प्रयोग उपलब्ध होता है। निघण्टु (१,१५) में देवताओं के वाहनों का वर्णन करते हुए कहा गया है--"हरिः इन्द्रस्य, हरितः आदित्यस्य" । इसी लिए सूर्य को 'हरिदश्व' और इन्द्र को 'हरिहय' कहा गया है। यदालोके. . .इत्यादि श्लोक में रथ की तीव्र गति का स्वाभाविक वर्णन किया गया है। आधुनिक युग में भी वायुयान अथवा रेल द्वारा यात्रा करने वालों को इस प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। इस श्लोक में चार प्रकार के सत्यों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है :-- (१) दूर होने के कारण जो वृक्ष आदि वस्तुएँ छोटी दिखलाई पड़ती थीं, वे शीघ्र ही रथ के समीप पहुँचने पर विशाल दिखलाई पड़ने लगती हैं। (२) वृक्ष अथवा नदी आदि वस्तुयें जो वस्तुतः पृथक् पृथक् रूप में स्थित हैं, वे दूर पहुँचने पर जुड़ी हुई सी प्रतीत होने लगती हैं। (३) जो मार्ग आदि वास्तव में मुड़े होने के कारण यत्र तत्र टेढ़े हैं वे भी रथ के समीप पहुँचने पर सीधे दिखलाई पड़ते हैं। (४) रथ के वेग के कारण दूरस्थित वस्तुएँ एकाएक पास आ जाती हैं और समीप वाली वस्तुएँ दूर हो जाती हैं। अतः यह कहना ठीक ही है कि न कोई वस्तु पास है और न दूर ही ।

(नेपथ्ये)

भो भो राजन् ! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः ।

(नेपथ्य में)

राजन् ! यह आश्रम का मृग है। (इसे) न मारिये, न मारिये ।

सूतः—(आकर्ण्यावलोक्य च) आयुष्मन् ! अस्य खलु ते बाण-पथवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिताः ।

सारथि—(सुनकर और देखकर) बाण की पहुँच के अन्दर आये हुए इस मृग के और आपके बीच में तपस्वी उपस्थित हो गये हैं ।

राजा—(ससंभ्रमम्) तेन हि प्रगृह्यन्तां वाजिनः ।

राजा—(घबराहट के साथ) तो घोड़ों को रोक लो ।

सूतः— तथा । (इति रथं स्थापयति)

सारथि—वैसा (ही होगा) । (ऐसा कहकर रथ को रोक लेता है ।)

[ततः प्रविशत्यात्मनातृतीयो वैखानसः ।]

(तदनन्तर दो अन्य शिष्यों के साथ एक तपस्वी प्रवेश करता है ।)

वैखानसः—(हस्तमुद्यम्य) राजन् ! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः ।

तपस्वी—(हाथ उठाकर) हे राजन् ! यह आश्रम का मृग है । [इसे] न मारिये, न मारिये ।

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः ।
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाताः वज्रसारा शरास्ते[1] ॥१०॥
तत् साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम् ।
आर्त्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥११॥

अन्वयः—अस्मिन् मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशौ अग्निः इव अयं बाणः न खलु न खलु सन्निपात्यः । बत हरिणकानां अतिलोलं जीवितं च क्व, निशितनिपाताः वज्रसाराः ते शराः च क्व ? ॥१०॥

संस्कृत-व्याख्या—अस्मिन् = एतस्मिन्, मृदुनि = सुकोमले, मृगशरीरे = हरिणकाये, पुष्पराशौ = कुसुमसमूहे, अग्निः इव = वह्निसदृशम्, अयं बाणः =

---

१. पाठभेद—श्लोक सं० (न खलु न खलु... इत्यादि) कुछ संस्करणों में उपलब्ध नहीं होता है । निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित संस्करण में भी नहीं है ।।

एष शरः, न खलु न खलु = नैव नैव, सन्निपात्यः = निक्षेप्यः । बत = खेदे । हरिणकानाम्--दयनीयमृगाणाम्, अतिलोलम्--अत्यन्तचञ्चलम्, जीवितं च क्व--जीवनं कुत्र वर्तते । निशितनिपाताः--तीक्ष्णाग्रभागाः, वज्रसाराः--वज्रसदृशकठोराः, ते = तव, शराः = बाणाश्च, क्व = कुत्र वर्त्तन्ते । हे राजन् ! हरिणाः कुसुमराशिवत् सुकोमलाः दयनीयाश्च सन्ति, तव शराः अग्निसदृशाः वज्रतुल्याः कठोराश्च सन्ति । अतः ते मृगे न योक्तव्या इति भावः ॥१०॥

अन्वयः--तत् साधुकृतसन्धानं सायकं प्रतिसंहर । वः शस्त्रं आर्त्तत्राणाय (अस्ति), अनागसि प्रहर्तुं न ।

संस्कृत-व्याख्या--तत्--तस्मात्कारणात्, साधुकृतसन्धानम्--साधु यथा-स्यात्तथा कृतं विहितं सन्धानं धनुषि आरोपणं यस्य तम् एतादृशं, सायकम्--बाणम्, प्रतिसंहर--प्रत्यावृत्य स्वं स्थानं प्रापय । वः--युष्माकम् पुरुवंशिनां राज्ञाम्, शस्त्रम्--बाणादिकम्, आर्त्तत्राणाय--आर्त्तानां पीडितानां त्राणाय रक्षणाय [एव अस्ति]; अनागसि--निरपराधे प्राणिनि, प्रहर्तुम्--प्रहारं कर्तुं न प्रवर्त्तते ।

इस सुकोमल हिरण के शरीर पर, फूलों के ढेर पर अग्नि के सदृश, यह बाण न छोड़िये, न छोड़िये । बड़े दुःख का विषय है कि कहाँ तो दयनीय हरिणों का अतिचंचल यह जीवन और कहाँ तीक्ष्ण अग्रभाग से युक्त वज्र के समान यह आपके बाण ? ॥१०॥

इसलिए अच्छे प्रकार से धनुष पर चढ़ाये हुए (अपने) बाण को तुरन्त उतार लीजिये । आपका शस्त्र पीड़ितों की रक्षा करने के लिए है, निरपराध प्राणियों पर प्रहार करने के लिये नहीं ॥११॥

अलंकार तथा छन्द--[श्लोक सं० १० में] इस श्लोक के अन्तिम दो चरणों द्वारा प्रथम दो चरणों में प्रस्तुत किये गये हुए विशेष अर्थ का समर्थन किया गया है, अतः यहाँ पर 'अर्थान्तिरन्यास' अलंकार है । "पुष्पराशाविवाग्निः" में उपमा अलंकार है । तृतीय एवं चतुर्थ चरणों में दो 'क्व' के द्वारा अतिविरुद्ध कार्यों के संघटन के कारण 'विषम' अलंकार है ।

[श्लोक सं० ११ में] इस श्लोक में उत्तरार्ध पूर्वार्ध का कारण है, अतः यहाँ 'काव्यलिंग' अलंकार है तथा समर्थ्यसमर्थकभाव की दृष्टि से यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार की संभावना भी की जा सकती है । श्लोक सं० १० में मालिनी छन्द है "ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" । श्लोक सं० ११ में अनुष्टुप् छन्द है । लक्षण-यथापूर्व ।

व्याकरणः--आत्मनातृतीयः--यहाँ 'आत्मनश्च पूरणे' अष्टा० ६।३।६। तथा 'पूरण इति वक्तव्यम्' वार्तिक से तृतीयाविभक्ति का लोप नहीं होता है । **उद्यम्य** = उत् + यम + ल्यप । **सन्निपात्यः** = सम् + नि + पत् + णिच् + यत् (य) । **निशित** = नि + शो + क्त । निपात = नि + पत् + घञ् । **आर्त्त** = आ + ऋ + क्त । **त्राण** = त्रै + ल्युट् (अन) । **शास्त्रम्** = शस् + ष्ट्रन् (त्र) ।

समास आदिः—**बाणपथवर्त्ती**=बाणस्य पन्थाः बाणपथः तस्मिन् वर्तते इति बाणपथवर्त्ती तस्य । **पुष्पराशौ**=पुष्पाणां राशौ । **हरिणकानाम्**=अनुकम्पनीयाः हरिणाः हरिणकाः (यहाँ अनुकम्पा अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है ।) निशितनिपाताः=निशिताः निपाताः येषां ते (बहुव्रीहि) । **वज्रसाराः**= वज्रस्य सारः इव सारः येषां ते (बहुव्रीहि) । **साधुकृतसन्धानम्**=साधु यथा-स्यात्तथा कृतं सन्धानं यस्य तम् (बहुव्रीहि) । **आर्त्तत्राणाय**=आर्त्तानां त्राणाय (तत्पुरुष) । अनागसि=अविद्यमानं आगः यस्य यस्मिन् वा अनागाः तस्मिन (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**नेपथ्ये**—जो बात पर्दे के पीछे से कही जाती है, उसे 'नेपथ्ये' शब्द द्वारा कहा जाता है । **राजन्**—ऋषि को चाहिये कि वे राजा को 'राजन्' शब्द द्वारा पुकारें "राजन्नित्यृषिभिर्वाच्यः" (भरतमुनि) । **आत्मनातृतीयः**=जो अपने आप तीसरा है अर्थात् एक तो स्वयं तथा दो अन्य । **वैखानसः**=वानप्रस्थ आश्रम में स्थित तपस्वी अथवा विखनस मुनि द्वारा लिखे गये सूत्रों का अनुसरण करने वाला तपस्वी—"वैखानसः वनेवासी वानप्रस्थश्च तापसः" इति वैजयन्ती । **पुष्पराशौ**—कुछ संस्करणों में पुष्पराशौ के स्थान पर "तूलराशौ" पाठ भी उपलब्ध होता है । प्रसंग की दृष्टि से यह पाठ कुछ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि अग्नि रुई को शीघ्र ही जला देती है । किन्तु कालिदास ने जहाँ जहाँ भी सुकोमलता, दयनीयता आदि का वर्णन किया है, वहाँ उन्होंने प्रायः पुष्प से ही उसकी तुलना की है । यथा—अभिज्ञानशा० के चतुर्थ अंक में—"को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति" । कुमारसंभव में—"यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारणम्" इत्यादि ५।५२।। पुष्पराशौ का प्रयोग कर महाकवि ने यह स्पष्ट किया है कि मृग पुष्पराशि के समान सुकोमल, दयनीय तथा दर्शनीय है । उसका वध उसी प्रकार घृणास्पद है कि जिस प्रकार फूलों को जलाना । किन्तु 'तूलराशौ' पाठ स्वीकार करने से मृग की सुकुमारता तथा दयनीयता आदि का भाव स्पष्ट नहीं हो पाता है । अतः यहाँ पर 'पुष्पराशौ' पाठ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । **क्व... क्व**=यहाँ दो बार क्व शब्द का प्रयोग कर दोनों कार्यों के महान् अन्तर को स्पष्ट किया गया है । इस प्रकार के महाकवि के अन्य प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं "क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः" । रघु० १।२ ।। "धूमज्योतिःसलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः, संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः" ।। मेघदूत १।५ ।। इत्यादि ।

राजा—एष प्रतिसंहृतः । (इति यथोक्तं करोति ।

राजा—यह उतार लिया । (इस प्रकार कथनानुसार करता है ।)

वैखानसः—सदृशमेतत् पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव ।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥१२

अन्वयः--यस्य पुरोः वंशे जन्म, तव इदं युक्तरूपम् । एवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनं पुत्रं आप्नुहि ।

संस्कृत-व्याख्या--यस्य = भवतः, पुरोः = पुरुनाम्नः राज्ञः, वंशे = कुले, जन्म = उत्पत्तिः, तव = तस्य तव, इदम् = मुनिवचनपालनम्, युक्तरूपम् = अतिशयेन योग्यमस्ति । एवंगुणोपेतम् = एवंविधैः स्वसदृशैः गुणैः दयाशौर्यादि-गुणैः उपेतं युक्तम्, चक्रवर्तिनम् = सार्वभौमम्, पुत्रम् = सुतम्, आप्नुहि = लभस्व ।

वैखानस--पुरुवंश में प्रदीप तुल्य आपके यह योग्य ही है ।

पुरुकुल में उत्पन्न आपके लिए यह सर्वथा उचित है । ऐसे ही गुणों से युक्त चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करो ।

इतरौ --(बाहू उद्यम्य) सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि ।

अन्य दोनों तपस्वी--(हाथ उठाकर) सब प्रकार चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करो ।

राजा--[सप्रणामम् ।] प्रतिगृहीतम् ।

राजा --(प्रणाम करते हुए) स्वीकार है ।

अलंकार तथा छन्दः--उपर्युक्त श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है । अनुष्टुप् छन्द है ।

व्याकरणः--पुत्रः = पुत् + त्रै (त्रा) + क (अ) । **चक्रवर्तिनम्** = चक्र + वृत् + णिनि ।

समास आदिः--**पुरुवंशप्रदीपस्य**--प्रदीप्यते इति प्रदीपः, पुरोः वंशस्य प्रदीपः तस्य (तत्पुरुष) । **युक्तरूपम्**--अतिशयेन युक्तं युक्तरूपम् । **चक्रवर्तिनम्**--चक्रं भूचक्रं वर्तयति इति चक्रवर्त्ती तम् ।

टिप्पणियाँ--एषः = यह शब्द यहाँ पर 'तुरन्त' का अर्थ प्रकट करता है । इस वाक्य के द्वारा राजा का तपस्वियों के प्रति अति आदरसूचक भाव भी अभिव्यक्त होता है । **पुरोः वंशे**--प्राचीन काल में भारतवर्ष में क्षत्रियों के दो प्रसिद्ध राजवंश थे । (१) सूर्यवंश (२) चन्द्रवंश । १--विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र 'इक्ष्वाकु' सूर्यवंश के आदिपुरुष थे । इस वंश में ककुत्स्थ, दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम आदि अतिप्रसिद्ध राजा हुए । इनका वर्णन महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य 'रघुवंश' में विस्तार से किया है । २--अत्रि ऋषि के पुत्र सोम 'चन्द्रवंश' के आदिपुरुष थे । इस वंश में सोम, बुध, पुरूरवा, आयु, नहुष, ययाति आदि प्रसिद्ध राजा हुए । ययाति के पाँच पुत्र उत्पन्न हुए । उनमें से पुरु तथा यदु दो स्वतंत्र वंशों के संस्थापक हुए । पुरु के वंश में तम्सू, अनिल, दुष्यन्त तथा भरत आदि प्रसिद्ध राजा हुए । महाभारत के आधार पर भरत पुरु से बीसवें राजा थे । 'यदु' के वंश में वृष्णी, देवरात, अन्धक, वसुदेव और कृष्ण हुए । पुरु अपनी पितृभक्ति

के लिए प्रसिद्ध हैं। ययाति को शुक्राचार्य ने शाप दिया कि तुम बिना समय आये ही वृद्ध हो जाओगे। बहुत अनुनय-विनय करने पर उन्होंने कहा—अच्छा, तुम अपना बुढ़ापा अपने पुत्रों में से किसी को दे सकते हो। ययाति के सभी पुत्रों में से केवल पुरु ही इस कार्य के निमित्त उद्यत हुए। ययाति ने एक हज़ार वर्षों के अनन्तर पुरु को उनकी युवावस्था वापिस कर दी और वर भी दिया कि तुम एक प्रसिद्ध वंश के संस्थापक बनोगे। पुत्र—'पुम् नरकात् त्रायते इति पुत्रः' अर्थात् नरक से रक्षा करने वाला। पुत्र, पिता को नरक से बचाता है। पद्म-पुराण में कहा भी गया है :—

"पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा॥

वैखानसः—राजन् ! समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातः, प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः। अपि च—

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद् भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणांक इति॥१३॥

अन्वयः—तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः रम्याः क्रियाः समवलोक्य मौर्वीकिणांक मे भुजः कियत् रक्षति, इति ज्ञास्यति।

संस्कृत-व्याख्या—तपोधनानाम् = तपस्विनाम्, प्रतिहतविघ्नाः = प्रतिहताः भवद्बाहुबलेन विनाशिताः विघ्नाः बाधाः यासां ताः तथोक्ताः, रम्याः = रमणीयाः, क्रियाः = यज्ञकर्माणि, समवलोक्य = सम्यक् दृष्ट्वा, मौर्वीकिणांकः = मौर्व्याः ज्यायाः यः किणः तच्चालनजनितः शुष्कव्रणः स एव अंकः चिह्नं भूषणं वा यत्र सः तादृशः ज्याघातचिह्नभूषितः, मे भुजः = मम बाहुः, कियत् = किंपरिमाणम्, रक्षति = पालयति रक्षां करोति वा इति, ज्ञास्यसि = ज्ञानं प्राप्स्यसि।

तपस्वी—हे राजन् ! हम लोग समिधा लाने के लिए जा रहे हैं। यह सामने मालिनी नदी के किनारे कुलपति कण्व का आश्रम दृष्टिगोचर हो रहा है। यदि [आपको अपने] अन्य कार्य में विलम्ब न हो, तो वहाँ जाकर अतिथि-सत्कार स्वीकार कीजिये। और भी—

तपस्वियों की विघ्नरहित रमणीय (यज्ञादि) क्रियाओं को देखकर आपको यह ज्ञात हो जायेगा कि धनुष की प्रत्यञ्चा के आघात-चिह्नों से विभूषित आपकी भुजा (जनता की) कितनी रक्षा कर रही है।

अलंकार तथा छन्द—विशेषणों के साभिप्राय होने से इस श्लोक में परिकरालंकार है "उक्तिर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः"। इसमें 'आर्या' छन्द है।

व्याकरणः—**समिदाहरणाय** = समिधामाहरणाय । समिध् = सम् + इन्ध् + क्विप् । यहाँ पर "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" अष्टा० २।३।१४। से अथवा "तादर्थ्ये चतुर्थी" से चतुर्थी विभक्ति होती है। **प्रस्थिता** = प्र + स्था + क्त । **आतिथेयः** = अतिथिः + ढञ् (एय)—यहाँ "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" अष्टा० ४।४।१०४ से 'ढञ्' प्रत्यय होता है । **सत्कारः** = सत् + कृ + घञ् । **रम्याः** = रम् + यत् । प्रतिहत = प्रति + हन् + क्त । **विघ्नः** = वि + हन् + क । **मौर्वी** = मूर्वा + अण् + ङीप् ।

समास आदिः—**समिध्** = समिध्यते आभिः, समिधाम् आहरणाय इति समिदाहरणाय (तत्पुरुष) । **अनुमालिनी**—मालिनीतीरस्य अनु इति (अव्ययीभाव समास) । **अन्यकार्यातिपातः** = अन्यस्य कार्यस्य अतिपातः (तत्पुरुष) । **आतिथेयः** = अविद्यमाना तिथिर्यस्य इति (बहुव्रीहि) अतिथिः तस्मिन् साधु इति । **तपोधनानाम्** = तप एव धनं एषाम् (बहुव्रीहि) । **प्रतिहतविघ्नाः**+ विहन्यते एभिः इति विघ्नाः, प्रतिहताः विघ्नाः यासां ताः (बहुव्रीहि) । **मौर्वीकिणांकः** = मौर्व्याः किणः अंकः यस्य सः (बहुव्रीहि समास) ।

टिप्पणियाँ—**कुलपतेः**—जो दस सहस्र विद्यार्थियों का अन्नपानादि द्वारा पालन-पोषण करते हुए उनको शिक्षा भी देता है, वह कुलपति कहलाता है । "मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नपानादिपोषणात् । अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः ।। (इस श्लोक को राघवभट्ट ने "तल्लक्षणं पुराणे" कह कर अपनी टीका में उद्धृत किया है ।) इसका उल्लेख पद्मपुराण में भी उपलब्ध होता है :— "आचार्यः बहुशिष्याणां मुनीनामग्रणीस्तु यः।व्रतयज्ञादिकर्माढ्यः स वै कुलपतिः स्मृतः ।।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक कुलपति के पास दस हज़ार तक लड़के रहते थे । उन सभी के पालन-पोषण एवं शिक्षा आदि का पूर्ण भार उन्हीं पर रहता था । नालन्दा एवं तक्षशिला आदि प्राचीन विश्वविद्यालयों के विवरण के आधार पर, इसको सत्य कहा जा सकता है । **अनुमालिनी** = मालिनी नदी के किनारे । यह नदी गंगा की एक सहायक नदी है, जो कि कोटद्वार के पास बहती है । **रम्याः**—कुछ संस्करणों में इसके स्थान पर "धर्म्याः" शब्द का प्रयोग किया गया है । इस धर्म्याः का भाव 'तपोधनानां' शब्द से स्वयं ही प्रकट हो जाता है । अतः 'रम्याः' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । कण्व ऋषि के आश्रम में किये जाने वाले यज्ञादि कर्म राजा के लिए अधिक मनोरम हो सकते हैं, क्योंकि इस प्रकार के कर्म उसे प्रतिदिन दृष्टिगोचर नहीं हो पाते थे । **मौर्व्या** = मूर्वा नाम की घास से धनुष की प्रत्यञ्चा (डोरी) का निर्माण किया जाता था । यह अधिक दृढ़ तथा स्थायी हुआ करती थी । **किणांकः** = राजा दुष्यन्त आखेट (शिकार) के बहुत प्रेमी थे, अतः उनके हाथ पर प्रत्यञ्चा की रगड़ के चिह्न विद्यमान थे ।

राजा—अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः ?

राजा—क्या कुलपति जी यहाँ पर उपस्थित हैं ?

वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः ।

तपस्वी—अभी अभी अपनी पुत्री शकुन्तला को अतिथि-सत्कार के कार्य में नियुक्त करके इसके प्रतिकूल भाग्य को शान्त करने के निमित्त सोमतीर्थ गये हैं ।

राजा—भवतु । तामेव द्रक्ष्यामि । सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः कथयिष्यति ।

राजा—अच्छा, मैं उसी को देखूँगा । मेरी (महर्षि विषयक) भक्ति को जानकर वह मेरे विषय में महर्षि से कह देगी ।

वैखानसः—साधयामस्तावत् । (इति सशिष्यो निष्क्रान्तः ।)

तपस्वी—अब हम जाते हैं । (ऐसा कहकर शिष्यों सहित चला जाता है ।)

राजा—सूत, नोदयाश्वान् । पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे ।

राजा—सारथि ! घोड़ों को हाँको । पुण्याश्रम के दर्शन से अपने आपको पवित्र कर लें ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति भूयो रथवेगं निरूपयति ।)

सारथि—आयुष्मान् की जैसी आज्ञा । (यह कहकर पुनः रथ के वेग को दिखलाता है ।)

राजा—(समन्तादवलोक्य) सूत ! अकथितोऽपि ज्ञायत एवायमाभोगस्तपोवनस्येति ।

राजा—(चारों ओर देखकर) सारथि ! विना बतलाये हुए भी ज्ञात होता है कि यह तपोवन के आसपास की भूमि है ।

सूतः—कथमिव ?

सारथि—कैसे ?

व्याकरण—**सन्निहितः** = सम् + नि + धा + क्त (यहाँ "दधातेर्हिः" अष्टा० ७।४।४२ से 'धा' के स्थान पर 'हि' हो जाता है ।) **दुहितरम्** = दुह् + तृच् । **नियुज्य** = नि—युज + ल्यप । **शमयितुम्**—शम + णिच् + तुम् । **साधयामः** = साध् + णिच् + लट् । **नोदय** = नुद् + णिच् + लोट् । **आभोगः** = आ + भुज् + घञ् ।

समास:—**अतिथिसत्काराय**—अतिथीनां सत्काराय (तत्पुरुष)। **विदित-भक्तिम्**—विदिता भक्तिः यस्य तम् (बहुव्रीहि) । **पुण्याश्रमदर्शनेन**—पुण्यस्य आश्रमस्य दर्शनेन (तत्पुरुष समास) ।

टिप्पणियाँ—**शकुन्तलामतिथिसत्काराय**=अनेक मुनियों एवं शिष्यों के होने पर भी महर्षि कण्व ने अतिथि-सत्कार का भार शकुन्तला को ही सौंपा। इससे तीन बातों का ज्ञान प्राप्त होता है :—(१) कण्व को शकुन्तला पर सर्वाधिक विश्वास था। (२) कण्व के कोई पुत्र न था। अतः वे शकुन्तला को अपनी पुत्री समझते थे। (३) संभव है कि कण्व ने यह सोचा हो कि अतिथि-सत्कार के पुण्य से उसका प्रतिकूल भाग्य शान्त हो जायगा। **अतिथि**—जिसके आगमन की कोई तिथि निश्चित नहीं होती है, वह अतिथि कहलाता है। इस शब्द की दूसरी निरुक्ति है :—अत् + इथि। जो सदैव भ्रमण किया करता है। इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है :—"यस्य न ज्ञायते नाम न च गोत्रं न च स्थितिः। अकस्माद् गृहमायाति सोऽतिथिः कथ्यते बुधैः" ॥ मनुस्मृति में भी—"एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः। अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥" मनु० ३।१०२ ॥ यमपुराण में अभ्यागत एवं अतिथि का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है :—"तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे येन त्यक्ता महात्मना। सोऽतिथिः सर्वभूतानां शेषानभ्यागतान्विदुः ॥" **दैवमस्याः प्रतिकूलम्**—इस कथन से यह ध्वनित होता है कि महर्षि को यह पहले से ही ज्ञात था कि शकुन्तला के ऊपर आपत्ति आयेगी। भाग्य उसके विपरीत है। अतः उसका दुर्वासा के शाप के कारण परित्याग किया जायगा। "शमयितुं" शब्द से यह भी ज्ञात होता है कि महर्षि कण्व की तपस्या के परिणामस्वरूप उसकी विपत्ति टल जायगी और पुनः भाग्य के अनुकूल होने पर उसका अपने पति से मिलन होगा। **सोमतीर्थः**—प्राचीन काल में यह एक तीर्थ-स्थान था। कुछ लोग इसकी स्थिति गंगाह्रद तथा पानीपत के बीच स्वीकार करते हैं। कुछ अन्य लोगों का कथन है कि प्राचीन समय में यह स्थान काठियावाड़ देश में सोमनाथ के मन्दिर के पास ही था और यह तीर्थस्थान कहा जाता था तथा इसका दूसरा नाम 'प्रभास' था। "पुण्यं प्रभासं समुपाजगाम यत्रोडुराड् यक्ष्मणा क्लिश्यमानः। एवं तु तीर्थप्रवरं पृथिव्यां प्रभासमानात्तस्य तु स प्रभासः"-भागवत—वाचस्पत्यम् में उद्धृत। 'वराहपुराण' के अनुसार यहाँ चन्द्रमा ने क्षय रोग की निवृत्ति के लिए तप किया था। कवि ने कण्व को आश्रम से बहुत दूर रखकर राजा और शकुन्तला के प्रणय के लिए एक अच्छा अवसर प्रदान किया है। इस बीच राजा और शकुन्तला का प्रेम हो जाना, शकुन्तला के गर्भ रह जाना, तथा गर्भ का कुछ प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो जाना, ये कार्य हो जाते हैं। इस सब के लिए कई महीनों के समय की आवश्यकता थी। **साधयामः**—यह साध् धातु का प्रयोग है। इसका प्रयोग नाटकों में 'गम्' धातु के स्थान पर किया जाता है क्योंकि 'गम्' का प्रयोग कुछ अशुभ माना गया है "प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्गमेः स्थाने प्रयुज्यते"। साहित्यदर्पण॥ **निष्क्रान्तः**—यहाँ पर तपस्वियों के चले जाने

का बड़ा [illegible] साथ तपोवन में गमन न किये जाने के कारण ही राजा शकुन्तला के साथ प्रेमालाप करने में समर्थ हो सका है। अतः तपस्वियों का चला जाना नाट्य कला की दृष्टि से बड़े ही महत्त्व का है।

राजा——किं न पश्यति भवान् ? इह हि——

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः

प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।

विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-

स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥१४॥

पदच्छेदः——नीवाराः। शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः। तरूणाम्। अधः। प्रस्निग्धाः। क्वचिद्। इंगुदीफलभिदः। सूच्यन्ते। एव। उपलाः। विश्वासोपगमात्। अभिन्नगतयः। शब्दम्। सहन्ते। मृगाः। तोयाधारपथाः। च। वल्कलशिखानि-ष्यन्दरेखांकिताः ॥१४॥

अन्वयः——इह हि (क्वचित्) तरूणां अधः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः नीवाराः [दृश्यन्ते], क्वचित् प्रस्निग्धा उपला इंगुदीभिदः एव सूच्यन्ते, [क्वचित्] विश्वासोपगमात् अभिन्नगतयः मृगाः शब्दं सहन्ते। (क्वचित्) च तोयाधारपथा वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः [दृश्यन्ते]।

संस्कृतव्याख्या——इह हि=अत्र तु, क्वचित्=कुत्रापि प्रदेशे, तरूणाम्——वृक्षाणाम्, अधः——तले, शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः=शुकाः कीराः गर्भे मध्ये येषां तादृशानां कोटराणां विलानां मुखेभ्यः आननेभ्यः भ्रष्टाः भूमौ पतिताः, नीवाराः= मुनिधान्यकणाः, दृश्यन्ते। क्वचित्=कुत्रचित्, प्रस्निग्धाः=प्रकर्षेण स्निग्धाः स्नेहवन्तः, उपलाः=शिलातलानि, इंगुदीफलभिदः=तापसतरूणां फलानि भेत्तुं शीलमेषामिति, एव सूच्यन्ते——अनुमीयन्ते। क्वचित्=अन्यत्र, विश्वासोपगमात्=विश्वासस्य उपगमात् आविर्भावात्, अभिन्नगतयः=अभिन्ना अविकृता गतिः गमनं येषां तथाविधाः [भयविरहात् गतिभेदं अनवलम्बमानाः], मृगाः= हरिणाः, शब्दम्=रथशब्दम्, सहन्ते=सुखेन शृण्वन्ति। क्वचिच्च=कुत्राप्यन्यत्र, तोयाधारपथाः——तोयाधाराणां जलाशयानां पन्थानः मार्गाः, वल्कलशिखानिष्यन्दरेखांकिताः=वल्कलानां स्नानोत्थितानां तरुत्वक्-निर्मितमुनिवाससां शिखाभ्यः अग्रभागेभ्यः ये निष्यन्दाः——जलधाराः तेषां रेखाभिः अंकिताः चिह्निताः दृश्यन्ते। [एभिः चिह्नैः ज्ञायते यदयमाश्रमाभोग इति] ॥१४॥

राजा——क्या आप देख नहीं रहे हैं ? यहाँ पर——

कहीं पर वृक्षों के नीचे घोंसलों में बैठे हुए तोतों के बच्चों के मुख से गिरे हुए

नीवार (जंगली धान) कण दिखलाई दे रहे हैं। (कहीं पर) इंगुदी के फलों को फोड़ने वाले चिकने पत्थर दिखलाई पड़ रहे हैं। (कहीं पर) विश्वास होने के कारण भयरहित गमन के साथ हरिण (रथ के) शब्द को सुन रहे हैं तथा (कहीं पर) जलाशयों को जाने वाले मार्ग भी (शीघ्र ही स्नान किये हुए मुनियों के) वल्कल वस्त्रों के अग्रभागों से टपकते हुए जल की रेखाओं से चिह्नित हैं ॥१४॥

अपि च--

[1]कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूलाः
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन ।
एते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भाङ्कुरायां
नष्टाशंका हरिणशिशवो मन्दमदं चरन्ति ॥१५॥

पदच्छेदः--कुल्याम्भोभिः । पवनचपलैः । शाखिनः । धौतमूलाः । भिन्नः । रागः । किसलयरुचाम् । आज्यधूमोद्गमेन । एते । च । अर्वाक् । उपवनभुवि । छिन्नदर्भांकुरायाम् । नष्टाशंकाः । हरिणशिशवः । मन्दमन्दम् । चरन्ति ।

अन्वयः--पवनचपलैः कुल्याम्भोभिः शाखिनः धौतमूलाः [सन्ति] आज्यधूमोद्गमेन किसलयरुचां रागः भिन्नः [दृश्यते], एते च नष्टाशंकाः हरिणशिशवः छिन्नदर्भांकुरायां उपवनभुवि अर्वाक् मन्दमन्दं चरन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या--पवनचपलैः=पवनेन वायुना चपलैः चञ्चलैः, कुल्याम्भोभिः=कुल्यायाः कृत्रिमक्षुद्रसरितः अम्भोभिः जलैः, शाखिनः=वृक्षाः, धौतमूलाः=धौतानि प्रक्षालितानि मूलानि येषां ते तथाभूताः सन्ति । [एतादृशी कृत्रिमा सरित् तपोवने एव जलरक्षणाय संभाव्यते अतोऽयं तपोवनस्याभोग इति भावः ।] आज्यधूमोद्गमेन=आज्यस्य हुतहविषः धूमोद्गमेन धूमसम्पर्केण, किसलयरुचाम्=पल्लवकान्तीनाम्, रागः=रक्तिमा, भिन्नः=विकृतः [वैपरीत्यं गतः इति भावः ।] दृश्यते । एते च=दृश्यमानाः नष्टाशंकाः=भयरहिताः हरिणशिशवः=मृगपोताः, छिन्नदर्भांकुरायाम्=लूनकुशाग्रभागायाम्, उपवनभुवि=उद्यानभूमौ, अर्वाक्=अस्माकं निकटे एव, मन्दमन्दम्=स्वेच्छया शनैः शनैः, चरन्ति=भ्रमन्ति [मृगाणां निर्भयभ्रमणदर्शनादयं तपोवनस्याभोग एवेति नृपाभिप्रायः ।] ॥१५॥

और भी--

वायु के कारण चंचल कृत्रिम नदी के जल से आस पास के वृक्षों की जड़ें धुल

१ पाठभेद--अपि च--"कुल्याम्भोभिः" इत्यादि श्लोक निर्णयसागर संस्करण में नहीं है।

गई हैं, यज्ञ के घी के धुएँ के उठने से नवीन पल्लवों की लालिमा दूसरे ही प्रकार की हो गयी है। और ये निर्भीक मृगों के बच्चे जहाँ पर कुशों के अंकुर तोड़ लिये गये हैं ऐसी उद्यान भूमि में पास में ही धीरे-धीरे चर रहे हैं ॥१५॥

अलंकार तथा छन्दः—दोनों श्लोकों में काव्यलिंग, क्रियासमुच्चय तथा स्वभावोक्ति अलंकार हैं। श्लोक सं० १४ में 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त है—लक्षण "सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" ॥ श्लोक सं० १५ में "मन्दाक्रान्ता" वृत्त है। लक्षण—"मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्म्भोनतौ ताद् गुरू चेत्" ॥

व्याकरणः—**नीवाराः** = नि + वृ + घञ् । **प्रस्निग्धाः** = प्र + स्निह् + क्त । **निष्यन्द** = नि + स्यन्द + घञ् । **भिन्नः** = भिद् + क्त । **रागः** = रञ्ज् + घञ् ।

समास आदिः—**शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः**—शुकाः गर्भे येषां ते शुकगर्भाः तेषां कोटराणां मुखेभ्यः भ्रष्टाः (बहुव्रीहिगर्भक तत्पुरुष)। **इंगुदीफलभिदः** = इंगुदीनां फलानि भिन्दन्ति इति । **विश्वासोपगमात्** = विश्वासस्य उपगमात् (तत्पुरुष)। **अभिन्नगतयः** = अभिन्ना गतिः येषां ते (बहुव्रीहि)। **तोयाधारपथाः** = तोयानां आधारः तोयाधारः तेषां पन्थानः (तत्पुरुष)। **वल्कलशिखानिष्यन्दरेखांकिताः** = वल्कलानां शिखाभ्यः निष्यन्दाः तेषां रेखाभिः अंकिताः (तत्पुरुष)। **कुल्याम्भोभिः** = कुल्यायाः अम्भोभिः (तत्पुरुष)। **किसलयरुचाम्** = किसलयानां रुचाम् (तत्पुरुष)। **आज्यधूमोद्गमेन** = आज्यस्य धूमस्य उद्गमेन (तत्पुरुष)। **छिन्नदर्भाङ्कुरायाम** = छिन्नाः दर्भाणाम् अंकुराः यस्यां तस्याम् (बहुव्रीहि)। **नष्टाशंकाः** = नष्टा आशंकाः येषां ते (बहुव्रीहि)। **हरिणशिशवः** = हरिणानां शिशवः (तत्पुरुष समास)।

टिप्पणियाँ—**नीवाराः** = यह एक प्रकार का धान्य है जो जंगलों में उत्पन्न होता है। **शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः** = वृक्षों पर स्थित घोंसलों में तोतों के बच्चे बैठे हुए हैं। तोते नीवार नामक अन्न लाकर बच्चों को खिलाते थे। शीघ्रता के कारण तोतों के बच्चे नीवार का कुछ भाग अपने मुख में ले पाते थे तथा कुछ भाग नीचे पृथ्वी पर गिर जाता था। इंगुदी—इसके फलों में से तेल निकाला जाता है। इस तेल का उपयोग तपस्वीगण किया करते थे। इसको गूंदी, तापसतरु आदि नामों से पुकारा जाता है। बच्चे इसके फलों को फोड़कर इनके बीज खाते हैं। जिन पत्थरों पर ये फोड़े जाते हैं, उन पर तेल की चिकनाहट आ जाया करती है। **शब्दं सहन्ते** = राजा का रथ आश्रम की सीमा के अन्दर पहुँच चुका था। अतः सीमा के अन्दर होने के कारण मृग उसके शब्द से भयभीत नहीं हो रहे थे। **निष्यन्दरेखा** = टपकने के कारण बनी जल की रेखा। कुछ तपस्वीजन जलाशयों में स्नान करने के पश्चात् बिना वल्कल-वस्त्रों को निचोड़े ही वापिस चले जाते थे। इससे मार्ग में टपकते हुए जल की रेखा बन जाती थी। **कुल्याम्भोभिः** = इससे ज्ञात होता है कि महर्षि कण्व के तपोवन के समीप एक छोटी सी नहर भी थी। अथवा कुल्या शब्द का अर्थ नाली भी किया जा सकता है और ये नालियाँ वृक्षों के सींचने के

लिए निर्मित हुई हों, ऐसी संभावना की जा सकती है। कुछ संस्करणों में श्लोक सं० १५ को प्रक्षिप्त मानकर स्थान नहीं दिया गया है। किन्तु श्लोक में आश्रम की समीपता का वर्णन स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा है। अतः नहीं कहा जा सकता है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त ही है अथवा नहीं। संदेहास्पदता अवश्य है। उपर्युक्त दोनों श्लोकों में जिन बातों एवं चिह्नों का वर्णन किया गया है, वे सब आश्रम की समीपता के ही सूचक हैं।

सूतः--सर्वमुपपन्नम् ।

सारथि—(आपका कहा हुआ) सब ठीक है।

राजा--(स्तोकमन्तरं गत्वा) तपोवननिवासिनामुपरोधो मा भूत् । एतावत्येव रथं स्थापय, यावदवतरामि ।

राजा--(थोड़ी दूर जाकर) आश्रमवासियों को कोई विघ्न न हो। (अतः) यहीं पर रथ को रोक दो। जब तक मैं उतरता हूँ।

सूतः--धृताः प्रग्रहाः । अवतरत्वायुष्मान् ।

सारथि—(मैंने) लगाम रोक ली है। आयुष्मान् उतर जायें।

राजा—[अवतीर्य] सूत! विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम । इदं तावद् गृह्यताम् । (इति सूतस्याभरणानि धनुश्चोपनीयार्पयति ।) सूत ! यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्त्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः ।

राजा—(उतर कर) सारथि ! आश्रम में (तपोवन में) नम्र वेष में ही प्रवेश करना चाहिये। अतः इसे ले लो (यह कह कर समीप में जाकर सारथि को आभूषण तथा धनुष देता है।) सारथि ! जब तक मैं तपोवनवासियों का दर्शन कर लौटूं, तब तक आप घोड़ों को ठण्डा कर लीजिये।

सूतः—तथा । [इति निष्क्रान्तः ।]

सारथि—वैसा (ही होगा)। (यह कहकर चला जाता है।)

राजा—(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम् । यावत् प्रविशामि । [प्रविश्य, निमित्तं सूचयन्]

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
अथवा भवितव्यतानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥१६॥

अन्वयः—इदं आश्रमपदं शान्तम्, बाहुः च स्फुरति, इह अस्य फलं कुतः ? अथवा भवितव्यतानां सर्वत्र द्वाराणि भवन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—इदम् = पुरो दृश्यमानम्, आश्रमपदम् = तपोवनस्थानम्, शान्तम् = शमप्रधानमस्ति । (अत्र निवासिनः जनाः निरीहाः सन्ति इति भावः ।) बाहुः च = तथापि मे दक्षिणो भुजः, स्फुरति = स्पन्दते (स्त्रीलाभं द्योतयति इत्यर्थः) । इह = अस्मिन् आश्रमे, अस्य = बाहुस्फुरणस्य, फलम् = वरांगना-प्राप्तिरूपं फलम्, कुतः = कथं सम्भवति ? (न कुतोऽपि इत्यर्थः ।) अथवा भवितव्यतानाम् = अवश्यंभाविनामर्थानाम्, सर्वत्र = सर्वत्रैव, द्वाराणि = उपायाः साधनानि वा भवन्ति । [ईश्वराधीनत्वात् सर्वत्र देशे सर्वस्मिन् काले वा अनायासमुत्पद्यन्ते इति भावः ।]

राजा—(चलकर और देखकर) यह आश्रम का द्वार है । तो प्रवेश करता हूँ । (प्रवेश करके शकुन को सूचित करते हुए—)

यह तपोवन का स्थल शान्त है, मेरी (दाहिनी) भुजा फड़क रही है । इसका फल यहाँ पर कैसे प्राप्त हो सकता है ? (दाहिनी भुजा का फड़कना, श्रेष्ठ स्त्री की प्राप्ति का सूचक है । किन्तु यहाँ पर इस प्रकार की संभावना कैसे की जा सकती है ? क्योंकि यह तो तपोवन है ।) अथवा भावी (होनहार) घटनाओं के लिए सर्वत्र ही द्वार (मार्ग अथवा साधन) हो जाते हैं ।

अलंकार तथा छन्दः—यहाँ सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन होने से 'अर्थान्तर-न्यास' अलंकार है । इसमें आर्या छन्द है ।

व्याकरणः—**उपपन्नम्** = उप + पद् + क्त । **उपरोधः** = उप + रुध् + घञ् । **तपोवननिवासी** = तपोवन + नि + वस् + णिनि (इन्) यहाँ ताच्छील्य अर्थ में "सुप्यजातौ...इत्यादि अष्टा० ३।२।७८ से 'णिनि' होता है ।। **मा भूत्** = "माङि लुङ" अष्टा० ३।३।१७५ । सूत्र से 'मा' के साथ लुङ लकार का ही प्रयोग होता है । तथा 'न माङ योगे' अष्टा० ६।४।७४ । से धातु के पूर्व स्थित 'अ' का अभाव हो जाता है ।। **प्रत्यवेक्ष्य** = प्रति + अव + ईक्ष् + ल्यप् । **शान्तम्** = शम् + क्त । **भवितव्यम्** = भू + तव्य ।

समास आदिः—तपोवननिवासिनाम् = तपोवने निवस्तुं शीलं येषां तेषाम् । **विनीतवेषेण** = विनीतश्चासौ वेषः विनीतवेषः (तेन कर्मधारय) । **आर्द्रपृष्ठाः** = आर्द्राणि पृष्ठानि येषां ते (बहुव्रीहि) । **आश्रमपदम्** = आश्रमस्य पदम् (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—विनीतवेषेण—राजा का कर्तव्य है कि वह तपोवन आदि में नम्र (सादे) वेष का ही प्रयोग करे, जिससे कि तपोवनवासियों के कार्यों में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो । इस बारे में मनुस्मृति का कथन है :—

"विनीतवेषाभरणः पश्येत् कार्याणि कार्यिणाम्" ।। मनु० ८।२।। यहाँ पर

'नीति' नामक नाटकीय अलंकार है। **स्फुरति च बाहुः**=दाहिनी भुजा फड़क रही है। दाहिनी भुजा के फड़कने का परिणाम सुन्दर स्त्री की प्राप्ति माना गया है "वामेतरभुजस्पन्दो वरस्त्री-लाभ सूचकः" ॥ **शान्तम्**=शान्तरस-प्रधान। यहाँ पर लक्षणा के द्वारा आश्रम शब्द का अर्थ 'आश्रमवासी जन' ही है। वे शान्त रहा करते हैं। अतः आश्रम भी शान्त कहे जाते हैं। **भवितव्यतानाम्**=होनहार प्रबल हुआ करती है॥ इस श्लोक में मुख संधि का 'परिकर' नामक अंग है। संक्षेप में पहले कही गई बात को यहाँ विशेष रूप से सूचित किया गया है। यहाँ उत्सुकता रूपी बीज की वृद्धि हुई है।

(नेपथ्ये)

(इदो इदो सहीओ) इत इतः सख्यौ।

(नेपथ्य में)

सखियो! इधर आओ, इधर आओ।

राजा—(कर्णं दत्वा) अये! दक्षिणेन वृक्षवाटिकामालापइव श्रूयते। यावदत्र गच्छामि (परिक्रम्यावलोक्य च) अये! एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते। (निपुणं निरूप्य) अहो! मधुरमासां दर्शनम्।

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥१७॥

यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि। (इति विलोकयन् स्थितः)

अन्वयः—यदि आश्रमवासिनः जनस्य इदं शुद्धान्तदुर्लभं वपुः (अस्ति, तदा) वनलताभिः गुणैः उद्यानलताः दूरीकृताः खलु।

संस्कृत-व्याख्या—यदि=चेद्, आश्रमवासिनः=तपोवननिवासिनः, जनस्य =सामान्यबालिकालोकस्य (शकुन्तलास्वरूपस्य वा), इदम्=पुरो दृश्यमानं, शुद्धान्तदुर्लभम्=शुद्धान्ते अन्तःपुरे अपि दुर्लभं दुष्प्रापम्, वपुः=शरीरम् अस्ति तदा, वनलताभिः=अयत्नेन वर्द्धिताभिः काननवल्लीभिः, गुणैः=सौन्दर्यकोमलत्वादिगुणैः, उद्यानलताः=अत्यन्तयत्नवर्द्धिताः उपवनलताः, दूरीकृताः=तिरस्कृताः।

राजा—(कान लगाकर) वृक्षों की वाटिका के दाहिनी ओर वार्त्तालाप सा सुनाई दे रहा है। तब यहीं जाता हूँ। (घूमकर और देखकर) ओह! ये तपस्वियों की कन्यायें अपनी शक्ति के अनुसार (छोटे) घड़ों से छोटे-छोटे पौधों

(वृक्षों) को जल देने के लिए इधर ही आ रही हैं। (ध्यान से देखकर) ओह ! इनका रूप तो बड़ा ही मनोहर है।

यदि तपोवन में रहने वाले लोगों का ऐसा, अन्त:पुर में भी दुष्प्राप्य (ऐसा मनोहर) शरीर है, तो मानों वन की लताओं ने अपने गुणों से उद्यान की लताओं को तिरस्कृत कर दिया है।

तो इस छाया का आश्रय लेकर (छाया में खड़े होकर) प्रतीक्षा करता हूँ। (ऐसा कह कर देखता हुआ खड़ा रहता है।)

अलंकार तथा छन्दः—इस श्लोक में विशेष के प्रस्तुत होने पर भी सामान्य का कथन होने के कारण 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार है। "अप्रस्तुत प्रशंसा स्याद-प्रकान्तेषु या स्तुति:। तन्मुखेन प्रस्तुतस्य निन्दा यत्र प्रतीयते"॥ यद्यपि श्लोक की दोनों पंक्तियों में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, किन्तु फिर भी दोनों की समाप्ति सादृश्य के रूप में दृष्टिगोचर होती है, अत: यहाँ निदर्शना अलंकार भी है "अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक:।" उपर्युक्त श्लोक में 'आर्या' छन्द है।

व्याकरण:—सेचन = सिच् + ल्युट् (अन)। दर्शनम् = दृश् + ल्युट् (अन)। दुर्लभम् = दुर् + लभ् + खल् (अ)। **आश्रमवासि०** = आश्रम + वस् + णिनि। **आश्रित्य** = आ + श्रि + ल्यप्। **दूरीकृता:** = दूर + च्वि + कृ + क्त।

समास आदि:—वृक्षवाटिका = वृक्षाणां वाटिका (तत्पुरुष)। **स्वप्रमाणानुरूपैः** = स्वस्य प्रमाणस्य अनुरूपैः (तत्पुरुष)। **सेचनघटैः** = सेचनस्य घटै: (तत्पुरुष)। **बालपादपेभ्यः**—बालाश्च ते पादपा: तेभ्य: (कर्मधारय)। **मधुरः** = मधु राति ददाति इति मधुर:। **दर्शनम्** = दृश्यते यत् तत्। **शुद्धान्तदुर्लभम्**—शुद्ध: अन्त: यस्य स शुद्धान्त: (बहुव्रीहि)। शुद्धान्ते दुर्लभम् इति (तत्पुरुष)। **आश्रमवासिनः** = आश्रमे वस्तुं शीलमस्य तस्य। **उद्यानलताः** = उद्यानस्य लता: (तत्पुरुष)। **वनलताभिः** = वनस्य लताभि: (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**मधुरमासाम्** = यहाँ 'आसाम्' में बहुवचन का प्रयोग है। इससे प्रतीत होता है कि राजा को दूर से देखने में तीनों ही कन्यायें (शकुन्तला, प्रियंवदा, अनसूया) समान रूप से सुन्दर दिखलाई पड़ीं। दर्शनम् = जो दिखलाई पड़ता है अर्थात् रूप। **शुद्धान्तदुर्लभम्** = इसमें शुद्धान्त पद का अर्थ अन्त:-पुर है। चूंकि इसका अन्दर का भाग शुद्ध रखा जाता था (अर्थात् राजा द्वारा इस कार का प्रयत्न किया जाता था कि जिससे अन्त:पुर की स्त्रियाँ आचार-विचार तथा व्यवहार आदि में पवित्र रहें और उनके सौन्दर्य आदि की पूर्णतया सुरक्षा हो सके।) अत: अन्त:पुर को 'शुद्धान्त' शब्द द्वारा कहा गया है। **यदि** — यह शब्द सूचित करता है कि राजा को इस प्रकार की आशा नहीं थी कि तपोवन में उसके अन्त:पुर की अपेक्षा अधिक सौन्दर्यशालिनी स्त्रियाँ हो सकती हैं। अत: यह शब्द यहाँ पर राजा के आश्चर्य का द्योतक है।

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला ।)

शकुन्तला--[इदो इदो सहीओ] इत इतः सख्यौ ।

(तदनन्तर दो सखियों के साथ पूर्वोक्त व्यापार करती हुई शकुन्तला प्रवेश करती है।)

शकुन्तला--सखियो ! इधर आओ इधर।

अनसूया--[हला सउन्दले ! तुवत्तो वि तादकस्सवस्स अस्सम-रुक्खआ पिअदरेत्ति तक्केमि । जेण णोमालिआकुसुमपेलवावि तुमं एदाणं आलवालपूरणे णिउत्ता ।] हला शंकुन्तले ! त्वत्तोऽपि तात काश्यपस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि । येन नवमालिका-कुसुमपेलवाऽपि त्वमेतेषामालवालपूरणे नियुक्ता ।

अनसूया--सखी शकुन्तला ! पिता काश्यप (कण्व) को ये आश्रम के वृक्ष तुझ से अधिक प्रिय हैं, ऐसा मैं समझती हूँ। इसीलिए नवमालिका के फूल के समान कोमल तुझ को भी इनके आलवाल (थाँवले) भरने के कार्य में नियुक्त किया है।

शकुन्तला--[ण केवलं तादणिओओ एव्व, अत्थि मे सोदर-सिणेहो एदेसु ।] न केवलं तातनियोग एव, अस्ति मे सोदरस्नेहो-ऽप्येतेषु । (इति वृक्षसेचनं रूपयति ।) ।

शकुन्तला--केवल पिता की आज्ञा ही नहीं, मेरा भी इन (वृक्षों) के प्रति सगे भाई के समान प्रेम है। (यह कहकर वृक्षों में जल देने का नाट्य करती है।)

व्याकरण--**त्वत्तः**=युष्मद्+तसिल् (तः) । **नियोग**=नि+युज्+घञ् ।

समास आदि--**तातकाश्यपस्य**--तातश्चासौ काश्यपः तस्य (कर्मधारय समास) । **आश्रमवृक्षकाः**--आश्रमस्य वृक्षकाः (ह्रस्वाः वृक्षाः वृक्षकाः) (तत्पुरुष समास) । **नवमालिकाकुसुमपेलवा**=नवमालिकायाः कुसुमम् (तत्पुरुष), तद्वत् पेलवा (उपमानसमास-कर्मधारय) । **आलवालपूरणे**=आलवालानां पूरणे (तत्पुरुष) । **तातनियोगः**=तातस्य नियोगः (तत्पुरुष) । **सोदर-स्नेह**=सोदरेषु स्नेहः (तत्पुरुष) । **सोदरः**=समानमुदरं यस्य (बहुव्रीहि) । यहाँ 'समानस्य छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु' अष्टा० ६।३।८४ । के योगविभाग से 'समान' के स्थान पर 'स' हो जाता है। अथवा, सदृशं उदरं अस्य, समास किया जा

सकता है। इसमें सदृश अर्थ में 'सह' के स्थान पर "वोपसर्जनस्य" अष्टा० ६।३। ८२। से 'स' हो जाता है।

टिप्पणियाँ—यहाँ पर शकुन्तला की सखियों द्वारा "शौरसेनी प्राकृत" भाषा का प्रयोग किया गया है। भरतमुनि का कथन है "नायिकानां सखीनां च शौरसेनी प्रकीर्तिता"। **हला**—इस शब्द का प्रयोग एक सखी द्वारा दूसरी सखी को सम्बोधित करते समय किया जाता है "समानाभिस्तथा सख्यो हला भाष्या परस्परम्"॥ ना० शा० १७।८९॥ पेलव = कोमल "पेलवं कोमले तनौ" इति शाश्वतः। **आलवाल** = वृक्ष के नीचे चारों ओर पानी भरने के निमित्त बनाया गया गड्ढा। **सोदर-स्नेहः** = सहोदर जैसा प्रेम। इससे प्रकट होता है कि शकुन्तला के हृदय में एक ओर पितृभक्ति है और दूसरी ओर स्त्रीजनोचित स्नेह एवं सहृदयता पूर्ण रूप में विद्यमान है।

राजा—कथमियं सा कण्वदुहिता। असाधुदर्शी खलु तत्रभवान्। काश्यपः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपु-
स्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥१८॥

भवतु, पादपान्तर्हित एव विश्रब्धं तावदेनां पश्यामि।

[इति तथा करोति।]

अन्वयः—यः ऋषिः अव्याजमनोहरं इदं वपुः किल तपःक्षमं साधयितुं इच्छति, स ध्रुवं नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुं व्यवस्यति।

संस्कृत-व्याख्या—यः ऋषिः = कण्वः, अव्याजमनोहरम् = अव्याजं कृत्रिमशोभारहितं च यत् मनोहरं मनोरमम स्वभावसुन्दरमित्यर्थः, इदम् एतत्, वपुः शकुन्तलायाः शरीरम्, किल तपःक्षमम् = तपोयोग्यम्, साधयितुम् = विधातुं कर्तुं वा, इच्छति = वाञ्छति। सः = ऋषिकण्वः, ध्रुवम् = नूनम्, नीलोत्पलपत्रधारया = नीलकमलपत्रस्य तीक्ष्णपार्श्वभागेन, शमीलताम् = शमीवृक्षस्य शाखाम्. छेत्तुम् = कर्तितुं खण्डितुं वा, व्यवस्यति = प्रयतते।

राजा—क्या यही वह कण्व की पुत्री (शकुन्तला) है? निश्चय ही आदरणीय कण्व असाधुदर्शी (ठीक निर्णय न कर सकने वाले) हैं कि जिन्होंने इसे तपोवन के कार्यों में नियुक्त किया है।

जो ऋषि (कण्व) स्वभाव से ही सुन्दर इस (शकुन्तला) के शरीर को

तप के योग्य बनाना चाहता है, वह निस्संदेह नीलकमल की पंखुड़ी की धार से शमीलता को काटने का यत्न करता है ।

अच्छा, वृक्षों की ओट में छिपा हुआ ही मैं विश्वस्त होकर इसको देखता हूँ। (यह कहकर वैसा करता है ।)

अलंकार तथा छन्द--इस श्लोक में 'निदर्शना' अलंकार है। 'सम्भवन्वस्तु-सम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित् । यत्र विम्बानुविम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना" ।। साहित्यदर्पण ।। 'ध्रुवम्' के कारण उत्प्रेक्षा है । श्लोक की प्रथम दो पंक्तियों में विरूप कार्यों के संघटन के कारण 'विषम' अलंकार है । "अव्याजमनोहरम्" में 'विभावना' अलंकार है । इसमें "वंशस्थ" वृत्त है । लक्षण--"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।"

व्याकरण:--**दुहिता** = दुह् + तृच् । **असाधुदर्शी** = असाधु + दृश् + णिनि । **काश्यप**: = **काश्यप** + अण् । **व्याज** = वि + अज् + घञ् । **मनोहर**--मनस् + हृ + अच् । **व्यवस्यति** = वि + अव + सो + लट् । **विश्रब्धम्** = वि + श्रम्भ् + क्त ।

समास आदि--**असाधुदर्शी** = साधु पश्यतीति साधुदर्शी, न साधुदर्शी असाधुदर्शी । **तत्रभवान्**--स भवान् इति तत्रभवान् (सुप्सुपा समास) । **अव्याजमनोहरम्**--न व्याज: यस्मिन् तत् अव्याजम् (बहुव्रीहि) । अव्याजं च तत् मनोहरम् इति (कर्मधारय) । **नीलोत्पलम्**--नीलं च तत् उत्पलम् इति (कर्मधारय) । **शमीलताम्** = शम्या: लताम् (तत्पुरुष) । **पादपान्तर्हित**: = पादपै: अन्तर्हित: (तत्पुरुष) । **तप:क्षमम्**--तपस: क्षमम् (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ--**इयं सा** = अनसूया के प्रति दिये गये उत्तर से राजा दुष्यन्त को ज्ञात हुआ कि यही वह शकुन्तला है, जिसके विषय में उसने वैखानस द्वारा सुना था । **कथम्** = इस शब्द के द्वारा राजा का आश्चर्य अभिव्यक्त होता है । शकुन्तला के अनुपम सौन्दर्य को देखकर राजा आश्चर्यान्वित हो गया है । **असाधुदर्शी** = इस का भाव यह है कि ऋषि कण्व ठीक प्रकार से देखने वाले अर्थात् उचित निर्णय कर किसी व्यवस्था को करने वाले नहीं हैं । इसी कारण उन्होंने इस सुकोमल शकुन्तला को ऐसा कठोर कार्य करने में नियुक्त कर रखा है, जो कि शरीर की दृष्टि से उसके लिए सर्वथा अनुचित है । **तत्रभवान्** = 'तत्रभवान्' तथा 'अत्रभवान्' ये दोनों शब्द पूजनीय अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । अन्तर केवल इतना ही है कि दूरस्थ अथवा अनुपस्थित के लिए 'तत्रभवान्' और समीपस्थ के लिए 'अत्रभवान्' शब्द का प्रयोग किया जाया करता है । इसी प्रकार पूजनीया स्त्री के लिए 'अत्रभवती' एवं 'तत्रभवती' शब्दों के प्रयोग होते हैं । **काश्यप** = का अर्थ है 'कश्यप' ऋषि के गोत्र में उत्पन्न (अर्थात् कण्व) । **अव्याजमनोहरम्** = व्याज का अर्थ है कृत्रिमता । जो विना किसी प्रकार की कृत्रिमता के ही (अर्थात्, स्वभाव से ही) सुन्दर है । राजा दुष्यन्त के अन्त:पुर में स्थित स्त्रियाँ भी सुन्दर प्रतीत होती थीं । किन्तु उसका कारण

बाह्य कृत्रिम साधन भी थे। किन्तु शकुन्तला बिना कृत्रिम साधनों के ही अति-सुन्दर प्रतीत हो रही थी। **तपःक्षमम्**=तपस्या जैसे कठोर कार्य के योग्य। **नीलोत्पलपत्रधारया**=नील कमल (कुमुद) रात्रि के समय चन्द्रमा की चाँदनी में विकसित होता है। यह अत्यन्त कोमल होता है। शकुन्तला की समानता के लिए यहाँ रखा गया है। इस फूल की पंखुड़ी की धार अति कोमल होती है। उससे कठोर शमीवृक्ष की शाखा कभी भी नहीं काटी जा सकती है। इसी प्रकार अति-कोमल शकुन्तला के द्वारा यह कठोर तप किया जाना, एक प्रकार से असंभव ही है। **शमीलता**=शमी का वृक्ष कठोर होता है। यहाँ 'लता' का अर्थ 'शाखा' लेना अधिक उपयुक्त है। शमीवृक्ष के अन्दर अग्नि रहा करती है।

यहाँ पर अभिप्राय नामक नाटकीय लक्षण है। "अभिप्रायस्तु सादृश्याद् भूतार्थस्य कल्पना।" जहाँ पर सादृश्य के आधार पर असंभव कार्य की कल्पना की जाया करती है, वहाँ 'अभिप्राय' नामक नाटकीय लक्षण हुआ करता है। यहाँ पर नीलकमल की पंखुड़ी की धार से शमीलता को काटने रूपी असंभव कार्य का वर्णन किया गया है। इसीलिये आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में इसको 'अभिप्राय' के उद्धरण के रूप में उद्धृत किया है।

शकुन्तला—[सहि अणसूये ! अदिपिणद्धेण वक्कलेण पिअंवदाये णिअंति द ह्मि। सिढिलेहि दाव णं।] सखि अनसूये ! अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रिताऽस्मि। शिथिलय तावदेतत्।

शकुन्तला—सखी अनसूया ! प्रियंवदा के द्वारा दृढ़ता से बाँधे हुए इस वल्कल वस्त्र (चोली) के द्वारा मैं अधिक कष्ट में हूँ। अर्थात् प्रियंवदा ने वल्कलनिर्मित चोली को बहुत कसकर बाँध दिया है। इसे कुछ ढीला तो कर दो।

अनसूया—[तह।] तथा। [इति शिथिलयति।]

अनसूया—अच्छा (यह कहकर ढीला कर देती है।)

प्रियंवदा—[सहासम्] (एत्थ पओहरवित्थारइत्तअं अप्पणो जोव्वणं उवालह। मं किं उवालहसि।) अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व। मां किमुपालभसे ?

प्रियंवदा—(हँसती हुई) इस विषय में तू (अपने) स्तनों के विस्तार के कारणभूत अपनी युवावस्था को उलाहना दे। मुझे क्यों उलाहना देती हो ?

राजा—सम्यगियमाह।

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे

स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।

वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण ॥१९॥

अन्वयः––स्कन्धदेशे उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन अस्याः इदं अभिनवं वपुः पाण्डुपत्रोदरेण पिनद्धं कुसुमं इव स्वां शोभां न पुष्यति ॥ १९ ॥

संस्कृत-व्याख्या––इयम् = सहचरी प्रियंवदा, सम्यक् आह = तथ्यं वदति। स्कन्धदेशे = अंसप्रदेशे, उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना = उपहितः दत्तः सूक्ष्मः क्षुद्रः ग्रन्थिः बन्धनं यस्य तेन, स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना = स्तनयुगस्य कुचद्वयस्य यः परिणाहो विशालता तमाच्छादयति इति तथाभूतेन, वल्कलेन––धृतवल्कलकञ्चुकेन, अस्याः––शकुन्तलायाः, इदम्––सम्प्रति दृश्यमानम्, अभिनवम्––नूतनम्, वपुः–शरीरम्, पाण्डुपत्रोदरेण––पाण्डुपत्राणां परिणततया पाण्डुरवर्णानां दलानां उदरेण गर्भेण पिनद्धम्––बद्धं आच्छादितं वा, कुसुममिव––पुष्पमिव, स्वाम्––स्वकीयाम्, शोभाम्, ––कान्तिम्, न पुष्यति––न धारयति ॥१९॥

राजा––यह ठीक कह रही है।

कन्धे पर बँधी हुई छोटी गाँठ वाले, दोनों स्तनों के विस्तार को ढकने वाले वल्कल वस्त्र से इसका यह मनोहर शरीर, पीले पत्ते के मध्यभाग से ढके हुए पुष्प के सदृश अपनी शोभा को नहीं धारण कर रहा है।

अथवा काममनुरूपमस्या वपुषो वल्कलं न पुनरलङ्कारश्रियं न पुष्यति। कुतः ––

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥२०॥

अन्वय––शैवलेन अपि अनुविद्धं सरसिजं रम्यं (भवति), मलिनं अपि लक्ष्म हिमांशोः लक्ष्मीं तनोति, वल्कलेन अपि इयं तन्वी अधिकमनोज्ञा (अस्ति)। हि मधुराणां आकृतीनां किमिव मण्डनं न (भवति)।

संस्कृतव्याख्या––शैवलेन अपि––जलनील्या अपि, अनुविद्धम्––आवृतम्, सरसिजम्––कमलम्, रम्यम्––मनोहरं एव भवति। मलिनमपि––कृष्णवर्णमपि, लक्ष्म––कलंकः, हिमांशोः––चन्द्रस्य, लक्ष्मीम्––शोभाम्, तनोति––वर्धयति। वल्कलेन अपि––मुनिवसनेन अपि, इयम्––पुरो दृश्यमाना, तन्वी––कृशांगी शकुन्तला, अधिकमनोज्ञा––अधिकं यथास्यात्तथा मनोज्ञा मनोहरा

वर्तते । हि—यतः, मधुराणाम्—मनोहराणाम्, आकृतीनाम्—वपुषाम्, किमिव—किं वस्तु, मण्डनम्—भूषणं न भवति । अपितु वस्तुमात्रमपि शोभनानामाकृतीनां शोभां वर्धयति अथवा सर्वमेव कान्तमूर्त्तेः भूषणं भवति ।

अथवा यद्यपि यह वल्कलवस्त्र पर्याप्त रूप से इसके शरीर के योग्य नहीं है तथापि यह (वल्कलवस्त्र) इसकी अलंकार की शोभा को उत्पन्न न कर रहा हो, ऐसी बात नहीं है (अर्थात् कर ही रहा है ।) क्योंकि—शैवाल (सिवार, काई) से आच्छादित हुआ भी कमल मनोहर ही होता है, कृष्णवर्ण का (चन्द्रमा के अन्दर विद्यमान) कलंक भी चन्द्रमा की शोभा को बढ़ाता ही है । यह कृशांगी (शकुन्तला) इन वल्कलवस्त्रों को धारण किये हुए होने पर भी अतिसुन्दर प्रतीत होती है । क्योंकि सुन्दर आकृतियों के लिए कौन सी वस्तु शोभाधायक नहीं होती है ? अर्थात् स्वभावतः सबको प्रिय लगने वाली आकृतियों के लिए कौन सी वस्तु अलंकार नहीं होती है ? अर्थात् सभी वस्तुयें अलंकार हो जाती है ॥२०॥

अलंकार तथा छन्द—श्लोक सं० १९ में 'उपमा' अलंकार है तथा श्लोक सं० २० में 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार है, क्योंकि इसमें एक ही सामान्य धर्म का तीन चरणों में रम्य , लक्ष्मी विस्तार तथा मनोज्ञ शब्दों द्वारा कथन किया गया है । लक्षण—"प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः । एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्" । सा० दर्पण ॥ इसके अतिरिक्त इसी श्लोक के चतुर्थ चरण में सामान्य द्वारा विशेष का समर्थन किये जाने के कारण 'अर्थान्तिरन्यास' अलंकार है । श्लोक सं० १९ तथा २० दोनों में 'मालिनी' नामक वृत्त है । लक्षण—"न न म य य युतेयं मालिनी भोगिलोकैः" ॥

व्याकरण—**पिनद्धम्**=अपि+नह्+क्त । यहाँ "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः" नियम के अनुसार भागुरि आचार्य के मतानुसार 'अपि' के 'अ' का विकल्प करके लोप हो जाता है । **नियन्त्रिता**—नि+यन्त्+टाप्+क्त । शिथिलय—शिथिल+णिच्+लोट् । **विस्तारयितृ**—वि+स्तृ+णिच्+तृच् । **उपालभस्व**—उप+आ+लभ्+लोट् । **परिणाह**—परि+नह्+घञ् । **अलंकार**—अलम्+कृ+घञ् । **अनुविद्धम्**—अनु+व्यध+क्त । **मनोज्ञ**—मनस्+ज्ञा+क ।

समास आदि—**पयोधरविस्तारयितृ**—धरतीति धरः, पयसः धरः . पयोधरः, पयोधरयोः विस्तारयितृ (तत्पुरुष) । **उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना**—उपहितः सूक्ष्मः ग्रन्थिः यस्य तेन (बहुव्रीहि) । **स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना**—स्तनयुगस्य परिणाहं आच्छादयतीति । **पाण्डुपत्रोदरेण**—पाण्डूनां पत्राणां उदरेण । (तत्पुरुष) **अनुरूपम्** रूपम् अनुगतम् अनुरूपम् (अव्ययीभाव) । **अलंकारश्रियम्**—अलंकारस्य श्रियम् (तत्पुरुष) । **अलंकार**—अलंक्रियते अनेन । **सरसिजम्**—सरसि जातम् ।

टिप्पणियाँ—स्कन्धदेशे उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना=कन्धे पर लगी महीन गाँठ वाले । वल्कल निर्मित साड़ी खुल न जाये, इस कारण कन्धे पर छोटी गाँठ बाँध दी गई थी ॥ **पाण्डुपत्रोदरेण पिनद्धम्**—पक जाने के कारण पीले पत्रों के बीच ढके हुए ॥

राजा की "सम्यगियमाह" इस उक्ति के अनन्तर "इदमुपहित"...इत्यादि श्लोक की संगति उचित प्रतीत नहीं होती। क्योंकि प्रियंवदा शकुन्तला के पयोधर-विस्तार को उत्पन्न करने वाले यौवन की बात कहती है। राजा द्वारा इसका समर्थन किया जाता है। इसके पश्चात् जो श्लोक आता है उसमें यौवन तथा पयोधर-विस्तार का ही वर्णन अपेक्षित था। यद्यपि उक्त श्लोक में "स्तनयुगपरिणाह" का उल्लेख है। किन्तु फिर भी वह अर्थ में गौण हो जाता है। "उसके शरीर पर वल्कलवस्त्र शोभा नहीं देता है" इस बात का प्राधान्य हो जाता है। इसकी संगतता भी उचित प्रनीत होती है। ऐसी स्थिति में "इदमुपहित" इत्यादि श्लोक की संगति उचित प्रतीत नहीं होती है। अतः उपर्युक्त श्लोक कई संस्करणों में उपलब्ध भी नहीं होता है। और उन संस्करणों में राजा की उक्ति "काममनुरूप" इत्यादि से प्रारम्भ होती है। इस उक्ति का प्रियंवदा की उक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह राजा की स्वतन्त्र उक्ति है। अतः ठीक है। किन्तु उपर्युक्त दोनों श्लोकों में वल्कलवस्त्र के विषय में राजा की दो प्रकार की विचारधाराओं का वर्णन किया गया है, इस कारण दोनों ही श्लोक दे दिये गये हैं। इन श्लोकों में शकुन्तला और उसके वस्त्रों को देखकर राजा के तर्क-वितर्क का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया गया है। **पुनः** = इस शब्द का यहाँ पर अर्थ है—फिर भी अथवा तथापि। **किमिव हि मधुराणाम्** इत्यादि = कालिदास की यह एक प्रसिद्ध सूक्ति है। इस प्रकार के भावों से पूर्ण कालिदास की कुछ अन्य उक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं:—"न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं सशैवलासंगमपि प्रकाशते"। कुमारसंभव ५।९ ॥ "अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्"। अभि० शा० अंक –६। "अहो सर्वास्ववस्थास्वनवद्यता रूपस्य"। मालविकाग्निमित्रम् ॥

शकुन्तला—(अग्रतोऽवलोक्य) [एसो वादेरिदपल्लवङ्गुलीहिं तुवरेदि विअ मं केसररुक्खओ। जाव णं संभावेमि।] एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः। यावदेनं सम्भावयामि।

(इति परिक्रामति।)

शकुन्तला—(आगे की ओर देख कर) यह केसर का छोटा वृक्ष वायु द्वारा हिलाये गये पत्रों रूपी अँगुलियों से मानो मुझे (अपने पास आने के लिए) जल्दी करने के लिए प्रेरित कर रहा है। तो अब मैं इसकी ओर (सिंचन द्वारा) ध्यान देती हुँ।

(यह कह कर घूमती है।)

प्रियंवदा—(हला सउन्दले ! एत्थ एव दाव मुहुत्तअं चिट्ठ।)

हला शकुन्तले ! अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ।

प्रियंवदा—सखी शकुन्तले ! थोड़ी देर यहीं ठहरो ।

शकुन्तला—(किं णिमित्तम् ?) किं निमित्तम् ?

शकुन्तला—किसलिए ?

प्रियंवदा—(जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अअं केसर-रुक्खओ पडिभादि ।) यावत् त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसर-वृक्षकः प्रतिभाति ।

प्रियंवदा—समीप में स्थित तुम से युक्त यह केसर का छोटा वृक्ष लता (रूपी स्त्री) से युक्त सा प्रतीत होता है ।

शकुन्तला—(अदो क्खु पिअंवदा सि तुमं ।) अतः खलु प्रियं-वदाऽसि त्वम् ।

शकुन्तला—इसीलिए तो तुम प्रियंवदा (मधुरभाषिणी) हो ।

राजा—प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियंवदा । अस्याः खलु—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥२१॥

अन्वय—अस्याः खलु अधरः किसलयरागः, बाहू कोमलविटपानुकारिणौ, अंगेषु कुसुमं इव लोभनीयं यौवनं सन्नद्धम् ।

संस्कृत-व्याख्या—अस्याः = शकुन्तलायाः, खलु = निश्चयेन, अधरः = अधरोष्ठः, किसलयरागः—किसलयस्य पल्लवस्य रागः इव रागो यस्य सः पल्लव-ताम्रः अस्ति । बाहू = भुजौ, कोमलविटपानुकारिणौ = कोमलयोः मृदुलयोः विटपयोः स्कन्धोर्ध्वशाखयोः अनुकारिणौ तत्सदृशौ स्तः । अंगेषु = गात्रावयवेषु, कुसुममिव = पुष्पमिव, लोभनीयम् = चित्ताकर्षकम्, यौवनम् = तारुण्यम्, सन्न-द्धम् = व्याप्तमस्ति ।

राजा—प्रियंवदा ने शकुन्तला से प्रिय होते हुए भी सत्य ही कहा है । निश्चय ही इसका—

अधरोष्ठ नवीन पत्र के समान लाल है । दोनों हाथ दो कोमल शाखाओं का अनुकरण करने वाले हैं । फूल के समान सुन्दर दृष्टिगोचर होने वाला यौवन इसके (शकुन्तला के) सब अंगों में व्याप्त है ।

अलंकार तथा छन्दः—इस श्लोक में 'उपमा' अलंकार है । इसमें आर्या छन्द है ।

व्याकरणः—ईरित = ईर् + क्त । त्वरयति = त्वर् + णिच् + लट् । संभाव-

यामि = सम् + भू + णिच् + लट् । **उपगतया** = उप + गम् + क्त + टाप् (तृतीया विभक्ति) । **प्रियंवदा** = प्रिय + वद् + खच् (अ)—टाप् । **रागः** = रञ्ज् + घञ् । **अनुकारी** = अनु + कृ + णिनि । **सन्नद्धम्** = सम् + नह् + क्त ।

समास आदि:—**वातेरितपल्लवांगुलीभिः** = पल्लवा एव अङ्गुल्यः पल्लवाङ्गुल्यः (कर्मधारय), वातेन ईरिताः पल्लवाङ्गुल्यः ताभिः (तत्पुरुष) । **लतासनाथः** = लतया सनाथः (तृतीया तत्पुरुष) । **प्रियंवदा** = प्रियं वदतीति । **किसलयरागः** = किसलयस्य रागः (तत्पुरुष) । किसलयस्य राग इव रागो यस्य (उत्तरपदलोपी बहुव्रीहि) । **अनुकारी** = अनुकरोतीति अनुकारी । **कोमलविटपानुकारिणौ** = कोमलयोः विटपयोः अनुकारिणौ (तत्पुरुष समास) ।

टिप्पणियाँ—**पल्लवांगुलीभिः** में रूपक अलंकार का प्रयोग किया गया है । पत्ते रूपी अङ्गुलियों के द्वारा । **त्वरयतीव**—में उत्प्रेक्षा अलंकार है । **प्रियंवदा** = यह नाम सार्थक है । क्योंकि प्रियंवदा वस्तुतः प्रिय बोलने वाली थी । **केसरवृक्षकः** = मौलश्री के वृक्ष को केसरवृक्ष भी कहते हैं । इस पर छोटे छोटे सफेद फूल आया करते हैं । यहाँ यह शब्द पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त होने के कारण पुरुष (पति) के अर्थ का द्योतक है । अतः यहाँ समासोक्ति अलंकार है । **लतासनाथः** = सनाथ शब्द का यहाँ अर्थ है—नाथ अर्थात् पति के साथ । इस शब्द का साधारण अर्थ है—सहित अथवा युक्त । यहाँ पर केसर वृक्ष को पति के रूप में तथा शकुंतला को लतारूप में उसकी पत्नी कहा गया है । **प्रियमपि तथ्यम्**—प्रिय एवं सत्य वाणी को सूनृत शब्द द्वारा कहा गया है—"प्रियं तथ्यं च सूनृतम्" । संसार में प्रिय एवं सत्य का मिश्रण मिलना अत्यन्त कठिन होता है—"हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः" । किराता० १।४ ।। "नहि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः" । किरात—१।२ ।। "अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।" रघुवंश में भी—"तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या" रघु० १४।९ ।। श्लोक सं० २१ में शकुन्तला की तुलना लता के साथ की गई है । शकुन्तला का अधरोष्ठ नवीन पत्ते के सदृश है । उसकी दोनों भुजायें पतली शाखाओं के सदृश हैं, अंगों में मनोहर पुष्पों जैसा यौवन का सौन्दर्य है । इस श्लोक में 'पदोच्चय' नामक नाटकीय लक्षण है । इसका लक्षण—"संचयोऽर्थानुरूपो यः पदानां स पदोच्चयः" । सा० दर्पण ६।१८० ।। इस स्थल पर अर्थ के अनुसार पदों में भी कोमलता है । विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इस श्लोक को 'पदोच्चय' के उदाहरण में उद्धृत किया है ।

अनसूया—(हला सउन्दले ! इअं सअंवरवहू सहआरस्स तुए किदणामहेआ वणजोसिणित्ति णोमालिआ । णं विसुमरिदासि ?)
हला शकुन्तले ! इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका । एनां विस्मृतासि ?

अनसूया—सखी शकुन्तला ! यह आम के वृक्ष की स्वयं वरण की गई हुई वधू नवमालिका है जिसका तूने वनज्योत्स्ना नाम रक्खा है । क्या इसे भूल गई ?

शकुन्तला—[तदा अत्ताणं वि विसुमरिस्सं] (लतामुपेत्यावलोक्य च(हला रमणीए क्खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्य वइअरो संवुत्तो । णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी बद्धपल्लवदाए उवभोअक्खमो सहआरो ।] तदात्मानमपि विस्मरिष्यामि । हला रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः । नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना, बद्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः ।

(इति पश्यन्ती तिष्ठति ।)

शकुन्तला—तब तो स्वयं को भी भूल जाऊँगी । (लता के समीप पहुँचकर और देखकर) सखी, सुन्दर समय में इस लता और वृक्ष के जोड़े का सम्पर्क हो गया है । वनज्योत्स्ना नूतन पुष्पों के रूप में युवावस्था से युक्त है और आम्र वृक्ष पत्तों से युक्त होने के कारण उपभोग के योग्य है ।

(यह कहकर देखती हुई रुक जाती है ।)

व्याकरण:—**स्वयंवरा**=स्वयं+वृ+खच् (अ)+टाप् । **विस्मृता**= वि+स्मृ+क्त (कर्त्तरि) +स्त्री० । **सहकारः**=सह+कृ+णिच्+अण् । **रमणीयः**=रम्+अनीयर् (अनीय) । **पादपः**=पाद+पा+क (अ) । **व्यतिकरः**=वि+अति+कृ+आ । **उपभोगः**=उप+भुज्+घञ् ।

समास आदि:—**स्वयंवरवधूः**=स्वयं वृणुते असौ स्वयंवरा सा चासौ वधूश्च (कर्मधारय) । **विस्मृता**=विस्मृतं विस्मरणमस्या अस्ति इति विस्मृता । **कृतनामधेया**=कृतं नामधेयं यस्याः सा (बहुव्रीहि) । **ज्योत्स्ना**=ज्योतिः अस्ति अस्यामिति । **लतापादपमिथुनस्य**=लता च पादपश्च लतापादपौ (द्वन्द्व) तयोः मिथुनम् तस्य (तत्पुरुष) । **नवकुसुमयौवना**=नवं कुसुमं एव यौवनं यस्याः सा (बहुव्रीहि) । **उपभोगक्षमः**—उपभोगस्य क्षमः (तत्पुरुष) । **बद्धपल्लवतया**—बद्धाः पल्लवाः यस्य सः (बहुव्रीहि) , तस्य भावः तया ।

टिप्पणियाँ—**सहकारः**=प्रियजनों को परस्पर मिलाने के कारण संभवतः, आम का यह नाम पड़ गया है (सह कारयति मेलयति इति) । कालिदास को लता एवं वृक्ष के स्वयंवर विवाह का वर्णन अभिप्रेत था । इन्हीं की कृतियों में कुछ अन्य भी इसी प्रकार के उद्धरण उपलब्ध होते हैं "चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयम्" अभि० शा० ४।१२ ।। "मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ" ।। रघुवंश ३।६१ ।। **विस्मृता**=स्मृ को गत्यर्थक (स्मरति मनसा गच्छति) मानकर कर्तृ वाच्य में क्त प्रत्यय है । **व्यतिकरः**=संयोग, संगम । यहाँ दोनों के विवाह का भाव है । **नवकुसुमतया**=यहाँ पर कुसुम शब्द के दो अर्थ हैं

(१) पुष्प (२) मासिक धर्म। रजोदर्शन के कारण वनज्योत्स्ना विवाहयोग्य हो चुकी है। **बद्धपल्लवतया** = आम नवीन पत्रों से युक्त है। इसका अर्थ है कि आम्र-वृक्ष भी आवश्यक समृद्धि से युक्त है। अतः योग्य पति के रूप में विद्यमान है।

प्रियंवदा—[अणसूये ! जाणासि किं सउन्दला वनजोसिणिं अदिमेत्तंपेक्खदि त्ति] अनसूये ! जानासि किं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्रं पश्यतीति ?

प्रियंवदा—अनसूये ! क्या तुम जानती हो कि शकुन्तला वनज्योत्स्ना को इतना अधिक क्यों देख रही है ?

अनसूया—[ण क्खु विभावेमि । कहेहि ।] न खलु विभावयामि । कथय ।

अनसूया—नहीं समझ पा रही हूँ। तुम बतलाओ।

प्रियंवदा—[जह वनजोसिणी अणुरूवेण पादवेण संगदा, अवि णाम एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअं त्ति ।] यथा वनज्योत्स्नाऽनुरूपेण पादपेन संगता, अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेत ।

प्रियंवदा—जिस भाँति वनज्योत्स्ना अपने अनुरूप वृक्ष से मिल गई है, क्या इसी प्रकार मैं भी अपने योग्य वर को प्राप्त कर सकूँगी ?

शकुन्तला—[एसो णूणं तुह अत्तगदो मणोरहो ।] एष नूनं तवात्मगतो मनोरथः ।

(इति कलशमावर्जयति ।)

शकुन्तला—अवश्य ही यह तेरी अपनी इच्छा है।

(यह कहकर घड़ा झुकाती है।)

व्याकरण:—**विभावयामि** = वि + भ + णिच् + लट् । **आवर्जयति** = आ + वृज् + णिच् + लट् ।

समास आदि:—**अतिमात्रम्** = अतिक्रान्ता मात्रा यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)। अथवा मात्रातिक्रान्तं यथा तथा। **अनुरूपेण** = रूपस्य योग्यम् तेन (अव्ययीभाव)। **आत्मगतः** = आत्मानं गतः (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**अतिमात्रम्** = मात्रा का अतिक्रमण करके अर्थात् बहुत अधिक। **विभावयामि**—अनुमान द्वारा जानना अथवा अनुमान करना। **अपिनाम**—यहाँ

पर अपि प्रश्न अर्थ में है तथा नाम संभावना के अर्थ में। यहाँ प्रियंवदा द्वारा शकुन्तला की वास्तविक मनोदशा का वर्णन किया गया है। इसी कारण राजा दुष्यन्त को यह अवसर मिला है कि वह शकुन्तला से विवाह करने का विचार करे। मनोरथः=मन का रथ (मनसः रथः)। जिस प्रकार रथ मनुष्य को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाता है उसी प्रकार इच्छा भी मन के भावों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाती है। इसी कारण इच्छा को मन का रथ कहा गया है।

राजा—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात्। अथवा कृतं सन्देहेन।

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥२२॥

तथापि तत्त्वत एनामुपलप्स्ये।

अन्वयः—असंशयम् (इयम्) क्षत्रपरिग्रहक्षमा, यत् मे आर्यं मनः अस्यां अभिलाषि। हि सन्देहपदेषु वस्तुषु सतां अन्तःकरणप्रवृत्तयः प्रमाणम्।

संस्कृत-व्याख्या—असंशयम्=निस्संदेहम्, इयम्=शकुन्तला, क्षत्रपरिग्रहक्षमा=क्षत्रस्य क्षत्रियस्य परिग्रहस्य पत्नीत्वेन ग्रहणस्य क्षमा योग्या अस्ति। यत्=यस्मात्, मे=मम, आर्यम्=श्रेष्ठम्, मनः=हृदयम्, अस्याम्=शकुन्तलायाम्, अभिलाषि=अभिलाषायुक्तम् अस्ति। हि=यतः, सन्देहपदेषु=संशयस्थानेषु, वस्तुषु=विषयेषु, सताम्=शुद्धशीलानां सज्जनानाम्, अन्तःकरणप्रवृत्तयः=अन्तःकरणस्य मनसः प्रवृत्तयः व्यापाराः, प्रमाणम्=निर्णायकम्।

राजा—कदाचित् यह कुलपति की असमान वर्ण की पत्नी से उत्पन्न हुई हो। अथवा सन्देह की कोई आवश्यकता नहीं।

निस्संदेह (यह) क्षत्रिय द्वारा स्वीकार किये जाने योग्य है, क्योंकि मेरा श्रेष्ठ मन इसके प्रति अभिलाषा से युक्त है। सन्देहास्पद विषयों में सज्जनों के अंतःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं।

फिर भी वास्तविक रूप से इस (शकुन्तला) के विषय में पता लगा लूँगा।

अलंकार तथा छन्दः—यहाँ उत्तरार्ध (सामान्य) के द्वारा पूर्वार्ध (विशेष) का समर्थन करने से 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है। "क्षत्रपरिग्रहक्षमा" में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। यहाँ राजा दुष्यन्त ने कन्या शकुन्तला को अपने योग्य

न कहकर क्षत्रिय के विवाह योग्य ऐसा सामान्य वर्णन किया है। श्लोक का द्वितीय चरण प्रथम चरण का कारण है, अतः यहाँ काव्यलिंग अलंकार है। इसमें वंशस्थ छन्द है।

शकुन्तला—(ससंभ्रमम्) [अम्मो सलिलसेअसंभमुग्गदो-णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ।] अम्मो ! सलिल-सेकसंभ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वावदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते।

(इति भ्रमरबाधां रूपयति।)

शकुन्तला—(घबराहट के साथ) ओह ! जल के सिंचन से घबराकर उड़ा हुआ यह भौंरा नवमालिका को छोड़कर मेरे मुख की ओर ही आ रहा है।

(यह कहकर भ्रमर से पीड़ा का नाट्य करती है।)

व्याकरणः—**संभव**=सम्+भू+अप् (अ)। **संशय**=सम्+शी+अच् (अ)। **अभिलाषि**=अभि+लष्+णिनि। **सन्देह**=सम्+दिह+घञ्। **करण**=कृ+ल्युट् (अन)। **प्रवृत्ति**=प्र+वृत्+क्तिन्। **प्रमाणम्**=प्र+मा+ल्युट् (अन्)। **उद्गत**=उद्+गम्+क्त। **उज्झित्वा**=उज्झ्+क्त्वा।

समास आदि—**असवर्णक्षेत्रसंभवा**=समानो वर्णो यस्य तत् सवर्णम् (बहुव्रीहि), न सवर्णम् असवर्णम् (तत्पुरुष); असवर्णं क्षेत्रम् असवर्णक्षेत्रम् (कर्मधारय), असवर्णक्षेत्रात् संभवः उत्पत्तिः यस्याः सा अथवा असवर्णक्षेत्रं संभवः उत्पत्तिस्थानं यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **असंशयम्**=अविद्यमानः संशयः यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)। **क्षत्रपरिग्रहक्षमा**=परिग्रहं क्षमते इति परिग्रहक्षमा, क्षत्रस्य परिग्रहक्षमा इति क्षत्रपरिग्रहक्षमा (तत्पुरुष)। **सन्देहपदेषु**=सन्देहस्य पदेषु (तत्पुरुष)। अन्तःकरणप्रवृत्तयः=**अन्तःकरणस्य प्रवृत्तयः** (तत्पुरुष)। **सलिल-सेकसंभ्रमोद्गतः**=सलिलस्य सेकेन संभ्रमः तेन उद्गतः (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—असवर्णक्षेत्रसंभवा=यहाँ क्षेत्र शब्द का अर्थ पत्नी है। शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यन्त के मन में सन्देह उत्पन्न हो रहा है कि संभवतः शकुन्तला कण्व की ब्राह्मणेतर पत्नी से उत्पन्न हुई हो। ऐसी स्थिति में वह शकुन्तला के साथ अपना विवाह कर सकता है। मनु का कथन है "सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि। कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः॥ शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते। ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥" मनु० ३।१२-१३॥ अर्थात् अपने वर्ण की कन्या से विवाह करना सर्वोत्तम है। इसके अतिरिक्त अपने से निम्नवर्ण की कन्या से भी विवाह किया जा सकता है। ब्राह्मण सभी वर्णों की कन्या से, क्षत्रिय ब्राह्मण को छोड़कर शेष वर्णों की कन्याओं से तथा वैश्य शूद्र-कन्या से विवाह कर सकता है। **क्षत्रपरिग्रहक्षमा**=

राजा कहता है कि शकुन्तला के माता-पिता में से एक अवश्य क्षत्रिय है। अतः उसका विवाह शकुन्तला से हो सकता है। **आर्यं मनः** = मेरा मन पूर्णतया पवित्र है, अतः वह विवाह के अयोग्य कन्या की ओर कभी भी नहीं जा सकता है। **सतां हि...इत्यादि** = संदेहयुक्त स्थलों में सज्जनों के चित्त अथवा मन की प्रवृत्तियाँ प्रमाण होती हैं। उसी के आधार पर निर्णय कर कार्य करना चाहिये। इस विषय में मनु का भी कथन है:—"वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च" ।। मनुस्मृति—२।६।। **तत्वतः** = वास्तविक रूप से। **मधुकरः**=भ्रमर शकुन्तला के मुख को कमल समझकर उस ओर आ रहा है तथा उसे बार बार परेशान कर रहा है। इससे प्रतीत होता है कि शकुन्तला पद्मिनी स्त्री थी। रतिमञ्जरी में पद्मिनी का लक्षण इस प्रकार किया गया है:—

भवति कमलनेत्रा नासिकाक्षुद्ररन्ध्रा,
अविरलकुचयुग्मा दीर्घकेशी कृशाङ्गी।
मृदुवचनसुशीला नृत्यगीतानुरक्ता,
सकलतनुसुवेशा पद्मिनी पद्मगन्धा ।।

दशरूपक में इस श्लोक को अभिलाषा के उदाहरण में उद्धृत किया गया है। शृंगार रस के भेद 'अयोग' की दश अवस्थाओं में से 'अभिलाषा' भी एक भेद है। कुमारिल ने भी इस श्लोक के उत्तरार्ध भाग को तन्त्रवार्तिक में उद्धृत किया है। इस श्लोक में 'परिन्यास' नामक मुखसन्धि का अंग है। लक्षण—"तन्निष्पत्तिः परिन्यासः" सा० दर्पण ६।८४।। यहाँ पर दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति प्रेमरूपी काव्यार्थ का निश्चित उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।

राजा—(सस्पृहं विलोक्य) साधु, बाधनमपि रमणीयमस्याः।

यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्त्तते,
ततस्ततः प्रेरित-वामलोचना।
विवर्त्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते
भयादकामाऽपि हि दृष्टिविभ्रमम् ।।२३।।

अन्वयः—हि यतः यतः षट्चरणः अभिवर्त्तते, ततः ततः प्रेरितवामलोचना विवर्तितभ्रूः इयं भयात् अकामा अपि अद्य दृष्टिविभ्रमं शिक्षते।

संस्कृत-व्याख्या—हि = यस्मात् कारणात्, यतो यतः = यस्यां यस्यां दिशि, षट्चरणः = भ्रमरः, अभिवर्तते = अस्याः मुखं लक्ष्यीकृत्य भ्रमति, ततः ततः = तस्यां तस्यां दिशि, प्रेरितवामलोचना = प्रेरिते चालिते वामे सुन्दरे लोचने नयने यया सा तथोक्ता, विवर्तितभ्रूः = विवर्तिते प्रतिक्षणं परिवर्तिते भ्रुवौ दृग्स्याः

मूर्ध्वभागौ यया सा तथोक्ता सती, इयम्=शकुन्तला, भयात्=भ्रमरदंशनभीत्या, अकामाऽपि=शिक्षितुं अनिच्छन्ती अपि, अद्य=अधुना, दृष्टिविभ्रमम्=कटाक्ष-निक्षेपम्, शिक्षते=अभ्यस्सतीव ।

राजा—(इच्छा के साथ देखकर) वाह, भ्रमर को हटाने की इसकी चेष्टा भी कितनी सुन्दर प्रतीत होती है—

क्योंकि जिस जिस ओर यह भ्रमर जाता है, उस उस ओर अपने सुन्दर नेत्रों को घुमाकर और भौंहों को ऊपर चढ़ाकर यह (शकुन्तला) भय के कारण, काम-भावना से रहित होने पर भी आज कटाक्षपात को सीख सी रही है ।।२३।।

अपि च (सासूयमिव) —

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ।।२४।।

अन्वयः—हे मधुकर ! त्वं वेपथुमतीं चलापाङ्गां दृष्टिं बहुशः स्पृशसि, रहस्याख्यायी इव कर्णान्तिकचरः मृदु स्वनसि, करौ व्याधुन्वत्याः रतिसर्वस्वं अधरं पिबसि, वयं तत्त्वान्वेषात् हताः, त्वं खलु कृती ।। २४ ।।

संस्कृत-व्याख्या—हे मधुकर ! =हे भ्रमर !, त्वम्, वेपथुमतीम्=कम्पनवतीं, चलापांगाम्=चलौ चञ्चलौ अपांगौ नेत्रप्रान्तभागौ यस्यास्ताम्, दृष्टिम्=नेत्रम् (तद्द्वयमिति भावः), बहुशः=पुनः पुनः, स्पृशसि=स्पर्शं करोषि चुम्बसीति भावः । रहस्याख्यायी इव=रहस्यं गोप्यं आख्याति इति रहस्याख्यायी स इव, कर्णान्तिकचरः=श्रवणेन्द्रियसमीपगामी सन्, मृदु=कोमलं यथा स्यात्तथा, स्वनसि=ध्वनसि गुञ्जसि वा । करौ==हस्तौ, व्याधुन्वत्याः==भ्रमर-निराकरणाय इतस्ततः चालयन्त्याः (शकुन्तलायाः), रतिसर्वस्वम्==रतेः सुरतेच्छायाः सर्वस्वं प्रधानकारणम्, अधरम्==दन्तच्छदं अधरोष्ठं वा, पिबसि==आस्वादयसि चुम्बसीत्यर्थः । वयम्==अहम्, तत्त्वान्वेषात्==कस्येयं कन्या ? का वेयम् ? मम परिग्रहक्षमा न वा ? इत्यादि तथ्यानुसन्धानात्, हताः=भग्न-मनोरथाः जाताः, त्वम्==त्वं पुनः, खलु==नूनम् (अस्याः स्पर्शनचुम्बनादिना) कृती==कृतकृत्यः==सफलमनोरथः इति भावः ।।२४।।

और भी—(ईर्ष्याभाव के सदृश देखकर)—

हे भ्रमर ! तू चञ्चल नेत्रप्रान्त वाली तथा काँपती हुई दृष्टि को बार बार स्पर्श (चुम्बन) कर रहा है । भेदभरी बात को कहने वाले के सदृश तू कान के

पास जाकर मधुर गुंजन कर रहा है। हाथों को हिलाती हुई (शकुन्तला) के प्रेम के सर्वस्वभूत अधरोष्ठ का पान कर रहा है। (हे भ्रमर) हम तो वास्तविकता के अनुसन्धान में ही मारे गये। तू कृतार्थ हो गया ॥२४॥

अलंकार तथा छन्दः—श्लोक सं० २३ में सकामतारूपी कारण के विना ही कटाक्षपात-शिक्षण रूपी कार्य के होने से 'विभावना' अलंकार है—"विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते" ॥ "शिक्षते इव" में उत्प्रेक्षा अलंकार है। श्लोक सं० २४ में—भ्रमर में नायक के व्यवहार (दर्शन, स्पर्शन, मृदु-कथन तथा अधर-रसपान आदि) का आरोप होने के कारग 'समासोक्ति' अलंकार है—"समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत् ॥" "वयं तत्त्वान्वेषाद् हताः त्वं खलु कृती" में उपमेय की अपेक्षा उपमान में आधिक्य होने के कारण व्यतिरेक अलंकार है। भ्रमर कमल के भ्रम से शकुन्तला के मुख पर ही मँडरा रहा है इत्यादि भ्रमर के व्यवहार से 'भ्रान्तिमान' अलंकार है। "त्वं खलु कृती" के प्रति श्लोक के प्रथम तीन चरण कारण हैं, अतः यहाँ काव्यलिंग अलंकार है। "रहस्याख्यायीव" में उत्प्रेक्षा अलंकार है। छन्द-श्लोक सं० २३ में 'वंशस्थ' वृत्त है तथा श्लोक सं० २४ में शिखरिणी।

व्याकरणः—दृष्टि = दृश् + क्तिन्। **वेपथु** = वेप् + अथुच्। **वेपथुमती** = वेपथु + मतुप्। **रहस्याख्यायी**—रहस्य + आ—चक्ष् + णिनि (यहाँ "चक्षिङः ख्याञ्" ॥ अष्टा० २।४।५४। से चक्ष् धातु को 'ख्या' आदेश हो जाता है।) **कर्णान्तिकचरः**—कर्णान्तिक + चर् + ट (अ)। **बहुशः**—बहु + शस्। **व्याधुन्वत्याः**—वि + आ + धु + शतृ + ङीप्। **अन्वेष**—अनु + इष् + घञ्।

समास आदि—**सस्पृहम्** = स्पृहया सहितम् (अव्ययीभाव)। **षट्चरणः** = षट् चरणाः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **प्रेरितवामलोचना**—प्रेरिते वामे लोचने यया सा (बहुव्रीहि)। **विवर्तितभ्रूः**—विवर्तिता भ्रूः यया सा (बहुव्रीहि)। अकामा—न कामः यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **दृष्टिविभ्रमम्**—दृष्टेः विभ्रमम् (तत्पुरुष)। **सासूयम्**—असूयया सहितम् (अव्ययीभाव) **चलापाङ्गाम्**—चलौ अपांगौ यस्याः ताम् (बहुव्रीहि)। **वेपथुमती**—वेपथुः अस्ति अस्याः ताम्। **रहस्याख्यायी**—रहस्यं आख्यातुं शीलमस्य सः। **कर्णान्तिकचरः**—कर्णयोः अन्तिकम् कर्णान्तिकम् (तत्पुरुष) तत्र चरतीति। **रतिसर्वस्वम्**—रत्याः सर्वस्वम् (तत्पुरुष)। **तत्त्वान्वेषात्**—तत्त्वस्य अन्वेषात् (तत्पुरुष)। **कृती**—कृतम् अस्यास्तीति।

टिप्पणियाँ—**श्लोक सं० २३** (यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते...इत्यादि) कई संस्करणों में उपलब्ध नहीं होता है। किन्तु प्रसंग एवं भाव की दृष्टि से इसकी सार्थकता पूर्णरूपेण उचित प्रतीत होती है। इसी कारण इस श्लोक को यहाँ स्थान प्रदान किया गया है। **सस्पृहम्**—इस शब्द द्वारा राजा की शकुन्तला के प्रति आसक्ति स्पष्ट हो जाती है। **अकामा**—इस शब्द के यहाँ दो अर्थ लिये जा सकते हैं (१) विना इच्छा के अथवा न चाहते होने पर भी। (२) काम भावनाओं से

रहित। **दृष्टिविभ्रमम्**—दृष्टि का संचार। यहाँ पर 'कटाक्षपात' से भाव हो सकता है। शकुन्तला न चाहने पर भी कटाक्ष-पात सीख रही है, ऐसा प्रतीत होता है। वास्तविकता तो यह है कि शकुन्तला की इच्छा दृष्टि-विभ्रम सीखने की तनिक भी नहीं है, किन्तु भ्रमर के भय के कारण उसे सीखना पड़ रहा है। **सासूयमिव**—एक प्रेमी प्रेममग्न होकर प्रेयसी के साथ जो व्यवहार (कपोल-स्पर्श, एकान्त प्रेमालाप, अधर-चुम्बन आदि आदि) किया करता है, उन्हीं कार्यों को भ्रमर भी शकुन्तला के साथ कर रहा है। राजा को भ्रमर के ये व्यवहार नितान्त असह्य है। अतः वह ईर्ष्यायुक्त के सदृश देख रहा है। इस बात से प्रतीत होता है कि राजा की शकुन्तला के प्रति आसक्ति की यह चरम सीमा है। **करौ**—यहाँ द्विवचन का प्रयोग किया गया है क्योंकि भयभीत होकर अपनी रक्षा के निमित्त दोनों हाथों का हिलाना स्वाभाविक हुआ करता है। **अधरं पिबसि**—अधर का चुम्बन करते हो। संस्कृत में 'चुम्बन' को 'अधर-पान' शब्द द्वारा कहा जाता है। इसका भाव होता है—अधरामृतपान। चुम्बन अधर का किया जाता है, ओष्ठ का नहीं। **रतिसर्वस्व**—अधर रति का सर्वस्व है। क्योंकि सुरत का प्रारम्भ अधर पान से ही होता है। **तत्त्वान्वेषात्**— "यह किस की कन्या है? हमारे द्वारा विवाह करने योग्य है वा नहीं?" इत्यादि तथ्यों की खोज में ही राजा दुष्यन्त संलग्न रहे, इस कारण। **हताः**—मारे गये अर्थात् भ्रमर सफल-मनोरथ रहा और हम असफल-मनोरथ रहे। ऐसे स्थलों पर भ्रमर जैसे अशिष्ट व्यक्ति सफल रहते हैं, क्योंकि उनको अपनी अप्रतिष्ठा का कोई भी ध्यान नहीं रहा करता है। शिष्ट व्यक्ति अपनी अप्रतिष्ठा के भय से इस प्रकार के कार्य नहीं किया करते हैं। भ्रमर तथा राजा में यही अन्तर है। कुछ संस्करणों में इसके पश्चात् "अपि च—लोलां दृष्टिमितस्ततो...इत्यादि" श्लोक भी उपलब्ध होता है। इसमें पूर्वोक्त भाव को ही प्रायः दुहराया गया है। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होता है।

शकुन्तला—[ण एसो धिट्ठो विरमदि। अण्णदो [गमिस्सं। (पदान्तरे स्थित्वा स दृष्टिक्षेपम्) कहं इदो वि आअच्छदि। हला! परित्ताअह मं इमिणा दुव्विणीदेण महुअरेण अहिहूअमाणं।) नैष धृष्टो विरमति। अन्यतो गमिष्यामि। कथमितोऽप्यागच्छति। हला! परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन मधुकरेणाभिभूयमानम्।

शकुन्तला—यह दुष्ट (भ्रमर) नहीं रुक रहा है। मैं दूसरी ओर जाती हूँ। (थोड़ा चलकर पुनः रुककर दृष्टिपात करते हुए) क्यों, यह इस ओर ही आ रहा है। सखी! इस दुष्ट भ्रमर से अभिभूत (तिरस्कृत अथवा तंग) की जाती हुई मेरी रक्षा करो।

उभे—(सस्मितम्) [का वअं परित्तादु ? दुस्संदं अक्कन्द।

राअरक्खिदव्वाइं तवोवणाइं णाम ।] के आवां परित्रातुम् ? दुष्यन्तमाक्रन्द । राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम ।

दोनों सखियाँ—(ईषद् हास्य के साथ) हम दोनों बचाने वाली कौन हैं ? दुष्यन्त को पुकारो । तपोवन राजा द्वारा रक्षणीय हुआ करते हैं ।

राजा—अवसरोऽयमात्मानं प्रकाशयितुम् । न भेतव्यं न भेतव्यम् । (इत्यर्धोक्ते स्वगतम्) राजभावस्त्वभिज्ञातो भवेत् । भवतु । एवं तावदभिधास्ये ।

राजा—अपने आपको प्रकट करने का यह (उचित) अवसर है । डरो नहीं, डरो नहीं—(यह आधी बात कहकर—मन में) किन्तु (इस प्रकार) मेरा राजा होना प्रकट हो जायगा । अच्छा, तब इस प्रकार कहूँगा ।

शकुन्तला—(पदान्तरे स्थित्वा ; सदृष्टिक्षेपम्) [कहं इदो वि मं अणुसरदि ।] कथमितोऽपि मामनुसरति ?

शकुन्तला—(थोड़ा चलकर, रुककर दृष्टिपात करते हुए) क्यों, इस ओर भी मेरा पीछा कर रहा है ?

व्याकरण—**धृष्टः**—धृष्+क्त । विरमति—वि+रम्—यहाँ "व्याङ्परिभ्यो रमः" अष्टा० १।३।८३ से परस्मैपद ।। **भेतव्यम्**—भी+तव्यत् । **अभिधास्ये**—अभि+धा+लृट् ।

समास आदि:—**दुर्विनीतः**—दुष्टं विनीतः (सुप्सुपा समास) अथवा दुष्टं विनीतं यस्य ।। (बहुव्रीहि) । **राजरक्षितव्यानि**–राज्ञा रक्षितव्यानि (तत्पुरुष) । **राजभावः**—राज्ञः भावः (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**दुष्यन्तमाक्रन्द**=महाकवि ने इस वाक्य का प्रयोग दुष्यन्त को प्रकट करने के निमित्त किया है । भ्रमर द्वारा शकुन्तला पर आक्रमण, उससे शकुन्तला का भयभीत होना तथा इसी बीच राजा द्वारा तपोवन की रक्षार्थ एकाएक प्रवेश करना इत्यादि सभी घटनायें स्वाभाविकता से परिपूर्ण प्रतीत होती हैं । यह प्रसंग महाकवि की नाट्यकला-निपुणता का परिचायक है । **न भेतव्यं न भेतव्यम्**=वृक्ष की ओट से राजा ये शब्द ज़ोर से कहता है अथवा उसके मुख से ये शब्द अचानक ही निकल पड़ते हैं । इन शब्दों को दर्शक सुनते हैं । किन्तु शकुन्तला तथा उसकी सखियाँ नहीं सुन पाती हैं । इसी कारण यहाँ पर इन शब्दों के साथ कोई रंगमंचीय निर्देश उपलब्ध नहीं होता है । **स्वगत**=जो बात मन ही मन अथवा गुनगुनाकर कही जाती है उसे 'स्वगत' कहा जाता है । इसके विपरीत

जो बात सर्वश्राव्य होती है उसे 'प्रकाशम्' कहा जाता है। "सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम्" । दशरूपक ॥

राजा—(सत्वरमुपसृत्य)

क: पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम् ।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु ॥२५॥

अन्वय:—दुर्विनीतानां शासितरि पौरवे वसुमतीं शासति क: अयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु अविनयं आचरति ।

संस्कृत-व्याख्या—दुर्विनीतानाम् = अशिष्टानां दुष्टानां वा, शासितरि = दण्डादिना शासके, पौरवे = पुरुवंशोत्पन्ने नृपे दुष्यन्ते, वसुमतीम् = पृथ्वीम्, शासति = रक्षति सति, क: अयम् = कोऽसौ दुष्ट:, मुग्धासु = सरलासु, तपस्विकन्यासु = मुनिकुमारीषु, अविनयम् = अशिष्टाचरणम्, औद्धत्यं वा, आचरति = प्रयोजयति करोति वा ।

राजा—(शीघ्रता के साथ पास जाकर) अशिष्ट एवं दुष्टों के शासक पुरुवंशी राजा (दुष्यन्त) के पृथ्वी का शासन करते हुए होने पर यह कौन है जो भोली भाली तपस्विकन्याओं के प्रति अशिष्ट-व्यवहार कर रहा है ?

(सर्वा राजानं दृष्ट्वा किंचिदिव संभ्रान्ता: ।)

(सब राजा को देखकर कुछ घबरा सी जाती हैं)।

अनसूया—[अज्ज ! ण क्खु किं वि अच्चाहिदं । इयं नो पिअसही महुअरेण अहिहूअमाणा कादरीभूदा ।] आर्य ! न खलु किमप्यत्याहितम् । इयं नौ प्रियसखी मधुकरेणाभिभूयमाना कातरीभूता ।

(इति शकुन्तलां दर्शयति ।)

अनसूया—आर्य ! कोई अनर्थ नहीं हुआ । यह हम दोनों की प्रियसखी भ्रमर द्वारा तिरस्कृत की जाती हुई कुछ घबरा गई थी ।

(यह कहकर शकुन्तला को दिखलाती है ।)

अलंकार तथा छन्द:—उपर्युक्त श्लोक में प्रस्तुत दुष्यन्त और शकुन्तला का अप्रस्तुत पौरव तथा तपस्विकन्या के रूप में वर्णन किये जाने से 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार है । इसमें आर्या छन्द है ।

व्याकरण:—**शासितरि** = शास् + तृच् । तृच् प्रत्यय के कारण दुर्विनीतानाम् में 'कर्तृकर्मणो: कृति' अष्टा० २।३।६५ से षष्ठी विभक्ति होती है । **शासति** = में "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" अष्टा० २।३।३७ । से सप्तमी विभक्ति हुई है । **अत्याहितम्** = अति + आ + धा + क्त (धा के स्थान पर हि हो जाता है ।)

समास आदि:—**पौरवे**—पुरोः गोत्रापत्यं पुमान् पौरवः तस्मिन् । पुरु+अण् । यहाँ गोत्रोत्पन्न अपत्य अर्थ में "पुरोरण् वक्तव्यः" ४।१।१६८ के वार्तिक द्वारा 'अण्' होता है । **तपस्विकन्यासु**=तपस्विनां कन्यासु (तत्पुरुष) । **अत्याहितम्**=अतीव आधीयते स्म मनसि । **कातरीभूता**=अकातरा कातराभूता इति ।

टिप्पणियाँ—**पौरवे**=पुरुकुलोत्पन्न राजा । यहाँ राजा ने 'मयि' शब्द न कहकर 'पौरवे' शब्द का ही प्रयोग किया है । इस भाँति उन्होंने अपने में तथा राजा दुष्यन्त में अन्तर प्रकट किया है जिससे उसे दुष्यन्त न समझा जा सके । **दुर्विनीतानाम्**=इस शब्द से प्रकट होता है कि राजा दुष्टों को कठोर दण्ड देता था तथा अनुशासन का पालन करता था । मुग्धासु=भोली-भाली, सरलस्वभाव वाली । मुग्धा का लक्षण साहित्यदर्पण में निम्न प्रकार से किया गया है :—

"प्रथमावतीर्णयौवनमदविकारा रतौ वामा ।

कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥" सा० द० ३।५८

शकुन्तला के मुग्धा होने के कारण भ्रमर का उसके प्रति किया गया अपराध पूर्णतया अक्षम्य था । **आर्य**=अनसूया ने राजा को 'आर्य' शब्द द्वारा सम्बोधित किया है । आर्य शब्द की व्युत्पत्ति "अर्यते आश्रयत्वेन अधिगम्यते इति आर्यः" । अर्थात् आश्रय प्राप्त करने हेतु जिसके पास लोग जाया करते हैं। लक्षण :—

कर्तव्यमाचरन् कार्यमकर्तव्यमनाचरन् ।

तिष्ठति प्रकृताचारे यः स आर्य इति स्मृतः ॥

कुलं शीलं दया दानं धर्मः सत्यं कृतज्ञता ।

अद्रोह इति येष्वेतत् तानार्यान् संप्रचक्षते ॥

यहाँ पर 'दण्ड' नामक मुखसंधिका अंग है । लक्षण—"दण्डस्त्वविनयादीनां दृष्ट्वा श्रुत्वा च तर्जनम्" ॥ सुधाकर ॥ **अत्याहितम्**=महाभय अथवा संकट, जो मन पर अत्यन्त गहरा प्रभाव उत्पन्न करता है ।

राजा—(शकुन्तलाभिमुखो भूत्वा) अपि तपो वर्धते ?

(शकुन्तला साध्वसादवचना तिष्ठति ।)

राजा—(शकुन्तला की ओर मुख करके) क्या (आपका) तप बढ़ रहा है ?

(शकुन्तला भय के कारण मौन खड़ी रहती है ।)

अनसूया—[दाणिं अदिहिविसेसलाहेण । हला सउंदले ! गच्छ उडअं । फलमिस्सं अग्घं उवहर । इदं पादोदअं भविस्सदि ।] इदानी-

मतिथिविशेषलाभेन । हला शकुन्तले ! गच्छोटजम् । फलमिश्रं अर्घ-मुपहर । इदं पादोदकं भविष्यति ।

अनसूया—(हाँ) अब विशेष अतिथि के शुभागमन से तप बढ़ रहा है। सखी शकुन्तले ! कुटिया में जा और फलमिश्रित अर्घ ले आ। यह (घट का जल) पैर धोने के लिये जल हो जायगा।

राजा—भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम् ।

राजा—आप लोगों की पवित्र एवं सत्य (अथवा मधुर) वाणी ने ही अतिथि-सत्कार कर दिया।

प्रियंवदा—[तेण हि इमस्सिं पच्छाअसीअलाए सत्तवण्णवेदिआए मुहुत्तअं उवविसिअ परिस्समविणोदं करेदु अज्जो ।] तेन ह्यस्यां प्रच्छायशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायां मुहूर्त्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः ।

प्रियंवदा—तब आर्य इस घनी छाया के कारण शीतल सप्तपर्ण वृक्ष की वेदी (चबूतरे) पर थोड़ी देर बैठकर अपनी थकावट दूर कर लें।

व्याकरण:—**साध्वसात्** = साधु + अस् + अच् । हेतु अर्थ में यहाँ पंचमी विभक्ति । **विशेषलाभेन** = वि + शिष् + घञ् । **लाभ** = लभ् + घञ् । **सूनृत** = सु + नृत् + घञ् (अ) । यहाँ "हलश्च" अष्टा० ३।३।१२१। से घञ् होता है। "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" के नियम से गुण का अभाव तथा "अन्येषामपि दृश्यते" अष्टा० ६।३।१३७। से सु को दीर्घ हो जाता है। **आतिथ्यम्** = अतिथि + ञ्य (य), "अतिथेर्ञ्यः" अष्टा० ५।४।२६। से 'ञ्य' होता है। **विनोद** = वि + नुद् + घञ् ।

समास आदि:—**शकुन्तलाभिमुखः** = शकुन्तलायाः अभिमुखः (तत्पुरुष) । **अभिमुखः** = अभिगतं मुखमस्य सः (बहुव्रीहि) । **साध्वसात्** = साधु सम्यक्तया अस्यति क्षिपति हृदयं यत् तत् । **अतिथिविशेषलाभेन** = अतिथीनां विशेषः तस्य लाभेन (तत्पुरुष) । **फलमिश्रम्** = फलैः मिश्रम् (तत्पुरुष) । **पादोदकम्**—पादाभ्याम् उदकम् (तत्पुरुष) । **सूनृतया** = सुष्ठु नृत्यन्ति अनेन जना हर्षात् । **आतिथ्यम्** = अतिथये इदम् । **प्रच्छायशीतलायाम** = प्रकृष्टा छाया प्रच्छायम् (कर्मधारय), प्रच्छायेन शीतला, तस्याम् (तत्पुरुष) । **सप्तपर्णवेदिकायाम्** = सप्तपर्णस्य वेदिकायाम् (तत्पुरुष) । **परिश्रमविनोदम्** = परिश्रमस्य विनोदम् (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**अपि तपो वर्धते** = यहाँ पर 'अपि' शब्द प्रश्नवाचक है। **साध्वसाद्** = यहाँ साध्वस का भाव है—भय के कारण । अपरिचित व्यक्ति के समक्ष

अपने को पा कर तथा उसके द्वारा प्रश्न किये जाने पर शकुन्तला का भय से युक्त हो जाना स्वाभाविक ही था। इस कारण वह उत्तर न दे सकी। उसके स्थान पर अनसूया ने उत्तर दिया। **अर्घम्** = महर्षि ने जाते समय अतिथिसत्कार का भार शकुन्तला को सौंपा था। इसी कारण अनसूया ने उससे अर्घ ले आने को कहा है। अर्घ में जो आठ वस्तुयें हुआ करती हैं उनका विवरण निम्न प्रकार है :—

आपः क्षीरं कुशाग्रं च दधि सर्पिः सतण्डुलम् ।
यवः सिद्धार्थकश्चैव अष्टांगोऽर्घः प्रकीर्तितः ॥ तन्त्र ॥

देवी पुराण के आधार पर अर्घ में निम्न वस्तुयें होती है :—

रक्तविल्वाक्षतैः पुष्पैः दधिदूर्वाकुशैस्तिलैः ।
सामान्यः सर्वदेवानामर्घोऽयम् परिकीर्तितः ॥

सप्तपर्ण = इसका दूसरा नाम "सतौना' है। इस वृक्ष की प्रत्येक डाल में सात पत्ते हुआ करते हैं। इस वृक्ष के नीचे चारों ओर बना हुआ चबूतरा ही वेदी है। अथवा वृक्ष के नीचे चौकोर बना हुआ चबूतरा।

राजा—नूनं यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ताः ।

राजा—निश्चय ही आप सब भी इस कार्य से थक गई होंगी।

अनसूया—[हला सउन्दले ! उइदं णो पज्जुवासणं अदिहीणं। एत्थ उवविसह्म ।] हला शकुन्तले ! उचितं नः पर्युपासनमतिथी-नाम् ।

(इति सर्वा उपविशन्ति ।)

अनसूया—सखी शकुन्तले ! अतिथि के समीप बैठना हमारे लिये उचित है। अतः हम सब यहाँ बैठें।

(यह कहकर सब बैठ जाती है।)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) [किं णु क्खु इमं पेक्खिअ तवो-वणविरोहिणो विआरस्स गमणीअह्मि संवुत्ता । [किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता ।

शकुन्तला—[मन में] मैं इन्हें देखकर तपोवन के विरोधी विकार की पात्र क्यों बन गई हूँ।

राजा—(सर्वा विलोक्य) अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम् ।

राजा—(सबको देख कर) ओह, आप लोगों की मित्रता समान आयु और रूप के कारण सुन्दर है।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) [अणसूये ! को णु क्खु एसो चउरगम्भीराकिदी महुरं पिअं आलवन्तो पहाववन्तो विअ लक्खीअदि।] अनसूये ! को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन् प्रभाववानिव लक्ष्यते ?

प्रियंवदा—(चुपके से) अनसूये ! यह सुन्दर और गम्भीर आकृति वाला व्यक्ति कौन है जो मधुर एवं प्रिय वार्त्तालाप करता हुआ प्रभावशाली सा दीखता है ?

व्याकरण:—**परिश्रान्त**=परि+श्रम्+क्त। **पर्युपासनम्**=परि+उप+आस्+ल्युट् (अन)।। **विकार:**=वि+कृ+घञ् (अ)। **सौहार्द**=सु+हृद्+अण् (अ)। **भाव:**=भू+घञ् (अ)। *समास आदि*—**विकार:**=विक्रियते अनेन इति विकार:। **समवयोरूपरमणीयम्**=वय: रूपं च वयोरूपम् (द्वन्द्व), समं वयोरूपं तेन रमणीयम् (तत्पुरुष)। अथवा समेन वयसा रूपेण च रमणीयम्। **सौहार्दम्**=शोभनं हृदयं यस्य स सुहृद्ग,सुहृद: भाव: सौहार्दम्। **चतुरगम्भीराकृति:**=चतुरा गम्भीरा च आकृतिर्यस्य स: (बहुव्रीहि)। **प्रभाव:**=प्रकृष्ट: भाव:।

टिप्पणियाँ—**जनान्तिकम्**=अन्य पात्रों से छिपाकर। जब दो पात्र आपस में तीन अँगुलियाँ उठाकर हाथ से आड़ करके किसी के विषय में वार्त्तालाप किया करते हैं तब यह 'जनान्तिकम्' कहलाता है। साहित्यदर्पण तथा दशरूपक में इसका लक्षण निम्न प्रकार किया गया है :— "त्रिपताककरेणान्यान् अपवार्यान्तिरा कथाम्। अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात् तज्जनान्ते जनान्तिकम्।। सा० द० ६।१३९।। **चतुरगम्भीराकृति:**=यहाँ पर 'चतुर' शब्द का लाक्षणिक अर्थ 'सुन्दर' है।

अनसूया—[सहि ! मम वि अत्थि कोदूहलं। पुच्छिस्सं दाव णं।] प्रकाशम् (अज्जस्स महुरालावजणिदो वीसम्भो मं मन्तावेदि-कदमो अज्जेण राएसिवसो अलंकरीअदि। कदमो वा विरहपज्जुस्सुअजणो किदो देसो। किं णिमित्तं वा सुउमारदरो वि तवोवणगमणपरिस्समस्स अत्ता पदं उवणीदो।] सखि ! ममाप्यस्ति कौतूहलम्। पृच्छामि तावदेनम् (प्रकाशम्) आर्यस्य मधुरालापजनितो विस्रम्भो मां मन्त्रयते—कतमो आर्येण राजर्षिवशोऽलंक्रियते ? कतमो वा विरह-

पर्युत्सुकजनः कृतो देशः ? किं निमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवन-गमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः ?

अनसूया—सखी ! मुझे भी (इनके विषय में) उत्सुकता है। इनसे पूछती हूँ। [प्रकट रूप से] आर्य के मधुर भाषण से उत्पन्न विश्वास मुझे (पूछने के लिये) प्रेरित कर रहा है कि आप किस राजर्षिवंश को अलंकृत करते हैं ? आपने किस देश के लोगों को अपने विरह से व्याकुल बनाया है ? और किस कारण (आपने) अत्यधिक कोमल शरीर को (इस) तपोवन में आने के परिश्रम से युक्त किया है ?

शकुन्तला—[हिअअ ! मा उत्तम्म । एसा तुए चिन्तिदाइं अणसूआ मन्तेदि ।] (आत्मगतम्) हृदय! मोत्ताम्य । एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते ।

शकुन्तला—(मन में) हृदय ! उतावले न बनो। तुम्हारे द्वारा सोची गई बात को ही अनुसूया पूछ रही है।

राजा—(आत्मगतम्) कथमिदानीमात्मानं निवेदयामि, कथं वात्मापहारं करोमि ? भवतु। एवं तावदेनां वक्ष्ये । (प्रकाशम्) भवति ! यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमविघ्नक्रियो-पलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः ।

राजा—(मन में) अब मैं किस रूप में अपने बारे में निवेदन करूँ (बत-लाऊँ) ? अथवा किस भाँति अपने आपको छिपाऊँ ? अच्छा, मैं इससे इस प्रकार कहता हूँ। (प्रकट रूप से) श्रीमती जी ! जिसको पुरुवंशी राजा ने धर्माधिकारी के पद पर नियुक्त किया है, वह मैं निर्विघ्नता से युक्त तपोवन की (धार्मिक) क्रियाओं के बारे में जानने के लिये इस तपोवन में आया हूँ।

व्याकरणः—**उत्ताम्य** = उद् + तम् (दिवादि) + लोट् । **उपलम्भ** = उप + लभ् + घञ् (अ) ।

समास आदिः—**विरहपर्युत्सुकजनः** = विरहेण पर्युत्सुका जना यस्मिन् सः (बहुव्रीहि) । **आत्मापहारम्** = आत्मनः अपहारः तम् (तत्पुरुष) । **धर्माधिकारे** = धर्मेऽधिकारः तत्र । **अविघ्नक्रियोपलम्भाय** = न विघ्नो यासु ता अविघ्नास्ताश्च क्रियाः तासाम् उपलम्भः ज्ञानं तस्मै (तत्पुरुष) । **धर्मारण्यम्** = धर्मार्थं धर्मप्रधानं वा अरण्यम् ।

टिप्पणियाँ—[illegible] = कहने अथवा बोलने के लिये प्रारम्भ कर रहा है। **राजर्षिवंशः** = इन शब्दों से प्रतीत होता है कि अनसूया ने राजा को पहचान लिया है। **विरहपर्युत्सुकजनः** = इन शब्दों के द्वारा ज्ञात होता है कि राजा कितना अधिक लोकप्रिय है। **कथमिदानीं. . .करोमि** = इन शब्दों से ज्ञात होता है कि राजा स्वयं अपने आपको राजा के रूप में प्रकट नहीं करना चाहता। वह सत्यता को भी नहीं छिपाना चाहता है। इस भाँति उसकी मनोदशा द्विविधायुक्त हो रही है। **भवति** = अपरिचित स्त्री पात्र के लिये इस शब्द का प्रयोग किया जाता था "परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः। तां ब्रूयाद् भवतीति. . ." इत्यादि। मनुस्मृति २।१२९॥" "यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः"—यह वाक्य द्व्यर्थक है—(१) जो पौरव राजा दुष्यन्त द्वारा धार्मिक क्रियाओं के निरीक्षण में नियुक्त किया गया है। (२) जो पौरव राजा (अर्थात् उसके पिता) के द्वारा राजधर्म के कार्य में नियुक्त किया गया है। **अविघ्नक्रियोपलम्भाय** = विघ्नरहित धर्म के कार्यों को ठीक जानने के निमित्त।

अनसूया—[सणाहा दाणिं धम्मआरिणो।] सनाथा इदानीं धर्मचारिणः।

(शकुन्तला शृङ्गारलज्जां रूपयति।)

अनसूया—धर्माचरण करने वाले तपस्वीजन अब सनाथ हो गये।

(शकुन्तला शृंगार की लज्जा का नाट्य करती है।)

सख्यौ—(उभयोराकारं विदित्वा, जनान्तिकम्) [हला सउन्दले! जइ एत्थ अज्ज तादो संणिहिदो भवे।] हला शकुन्तले! यद्यत्राद्य तातः संनिहितो भवेत्।

दोनों सखियाँ—(दोनों के प्रेम भाव को समझकर चुपके से) सखी शकुन्तले! यदि पिताजी आज यहाँ होते तो..........।

शकुन्तला—[तदो किं भवे?] ततः किं भवेत्?

शकुन्तला—तो क्या होता?

सख्यौ—[इमं जीविदसव्वस्सेण वि अदिविसेसं किदत्थं करिस्सदि।] इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति।

दोनों सखियाँ—इस विशिष्ट अतिथि को अपने जीवन का सर्वस्व भी देकर कृतार्थ करते।

शकुन्तला—[तुम्हे अवेध। किं वि हिअए करिअ मन्तेध। ण वो

वअणं सुणिस्सं ।] युवामपेतम् । किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयेथे । न युवयोर्वचनं श्रोष्यामि ।

शकुन्तला—तुम दोनों दूर हट जाओ । (तुम दोनों) कुछ मन में रखकर कह रही हो । तुम दोनों की बात नहीं सुनूंगी ।

राजा—वयमपि तावद् भवत्योः सखीगतं किमपि पृच्छामः ।

राजा—मैं भी आप दोनों की सखी के बारे में पूछना चाहता हूँ ।

सख्यौ—[अज्ज ! अणुग्गहो विअ इअं अब्भत्थणा ।] आर्य ! अनुग्रह इवेयमभ्यर्थना ।

दोनों सखियाँ—आर्य ! (आपकी) यह प्रार्थना (हम पर) अनुग्रह ही है ।

व्याकरण :—संनिहितः = सम् + नि + धा + क्त ।

समास:—सनाथाः = नाथेन सहिताः । **धर्मचारिणः** = धर्मं चरन्तीति । **जीवितसर्वस्वेन** = जीवितस्य सर्वस्वं तेन (तत्पुरुष) । **कृतार्थम्** = कृतः सम्पादितः अर्थः प्रयोजनं यस्य तम् (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**अद्य सनाथाः**. . . इत्यादि—अनुसूया के कथन को सुनकर शकुन्तला के मन में पति की कल्पना उत्पन्न हुई। संभवतः इसी कारण उसमें कुमारी-जनोचित लज्जा भी उत्पन्न हुई । क्योंकि यहाँ पर "सनाथाः" शब्द के दो अर्थ किये जा सकते हैं—(१) रक्षक से युक्त और (२) पति से युक्त । **जीवितसर्वस्वेनापि** = कण्व ऋषि शकुन्तला को अपने प्राणतुल्य मानते थे अतः 'जीवितसर्वस्वेन' शब्द का प्रयोग 'शकुन्तला' के लिये किया गया है । सखियों का कहना है कि यदि कण्व ऋषि यहाँ होते तो शकुन्तला को देकर इस अतिथि को कृतार्थ करते । **शृंगारलज्जाम्** = प्रेम के भाव के कारण उत्पन्न हुई लज्जा का नाट्य करती है । **आकारं विदित्वा**—दोनों के आकार से परस्पर प्रेम का भाव जानकर । **कृतार्थम्** = सफल-मनोरथ । **अपेतम्** = हटो, दूर रहो । तात्पर्य यह है कि तुम दोनों ऐसी बात मत करो, चुप रहो । **किमपि हृदये** = कुछ बात मन में रखते हुए।

राजा—भगवान् कश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः । इयं च वः सखी तदात्मजेति कथमेतत् ?

राजा—भगवान् काश्यप (महर्षि कण्व) तो शाश्वत् ब्रह्मचारी हैं, यह प्रसिद्ध है । फिर यह आपकी सखी उनकी पुत्री है, यह कैसे ?

अनसूया—[सुणादु अज्जो । अत्थि को वि कोसिओत्ति गोत्त-

णामहेओ महाप्पहाओ राएसी ।] शृणोत्वार्यः । अस्ति कोऽपि कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षिः ।

अनसूया—आर्य, सुनें । कोई "कौशिक" इस गोत्र नाम वाला अतिप्रभावशाली राजर्षि था (कौशिक—विश्वामित्र) ।

राजा—अस्ति, श्रूयते ।

राजा—था, सुना जाता है ।

अनसूया—[तं णो पिअसहीए पहवं अवगच्छ । उज्झिआए सरीरसंवड्ढणादिहिं तादकस्सवो से पिदा ।] तमावयोः प्रियसख्याः प्रभवमवगच्छ । उज्झितायाः शरीरसंवर्द्धनादिभिस्तात काश्यपोऽस्याः पिता ।

अनसूया—उनको ही हम दोनों की प्रिय सखी का जन्मदाता समझिये । (माता-पिता द्वारा) त्याग दी गई हुई इसके पालन-पोषण आदि के द्वारा पिता कण्व ही इसके पिता हैं ।

राजा—उज्झितशब्देन मे जनितं कौतूहलम् । आमूलाच्छ्रोतुमिच्छामि ।

राजा—"त्याग दी गई हुई" इस शब्द ने मेरे अन्दर उत्सुकता उत्पन्न कर दी है । अतः प्रारम्भ से ही सुनना चाहता हूँ ।

अनसूया—[सुणादु अज्जो । गौतमीतीरे पुरा किल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्टमाणस्स किंवि जादशंकेहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा पेसिदा णिअमविग्घकारिणी ।] शृणोत्वार्यः । गौतमीतीरे पुरा किल तस्य राजर्षेरुग्रे तपसि वर्त्तमानस्य किमपि जातशंकैर्देवैर्मेनका नाम अप्सराः प्रेषिता नियमविघ्नकारिणी ।

अनसूया—आर्य, सुनें । पहले गौतमी नदी के किनारे उस राजर्षि के कठिन तप करने पर कुछ शंकित हुए देवताओं ने उनकी तपस्या में विघ्न डालने वाली मेनका नाम की अप्सरा भेजी ।

व्याकरणः—काश्यप = कश्यप + अण् (अ) ।

समास आदिः—**कौशिकः** = कुशिकस्य गोत्रापत्यं पुमान् कौशिकः । **गोत्र-**

नामधेय = नाम गोत्रं यस्य सः । **अप्सराः** = अद्भ्यः सरन्तीति । **नियमविघ्नकारिणी** = नियमस्य विघ्नं करोतीति ।

टिप्पणियाँ—**शाश्वते** = सदा रहने वाले । **ब्रह्मणि** = यहाँ पर ब्रह्मन् शब्द ब्रह्मचर्य अर्थ में प्रयुक्त है । ऋषि कण्व आजन्म ब्रह्मचारी हैं । **प्रकाशः** = प्रसिद्ध । **कौशिकः** = रामायण (बालकाण्ड ३।३२।) के अनुसार विश्वामित्र कुशिक अथवा कुश का प्रपौत्र था । वंशक्रम इस प्रकार है—कुश, कुशनाभ, गाधि, विश्वामित्र । महाभारत के (आदिपर्व १९१) के आधार पर यह कुशिक का पौत्र था । कुशिक, गाधि, विश्वामित्र । **महाप्रभावः** = वसिष्ठ की प्रतिस्पर्द्धा में विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षित्व की प्राप्ति के निमित्त कठोर तपस्या की थी । अतः वे महान् प्रभावशाली थे । **प्रभवम्** = उत्पादक, जन्मदाता, पिता । **पिता**—महाभारत के अनुसार पालन-पोषण करने वाला भी पिता होता है "शरीरकृत् प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते । क्रमेणैते त्रयोऽप्युक्ताः पितरो धर्मशासने" ।। **जातशंकैः** = यहाँ पर विशेष रूप से इन्द्र के सशंक होने का भाव है । इन्द्र को यह शंका हुई कि कहीं विश्वामित्र उनका स्थान ग्रहण न कर लें ।

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम् ।

राजा—दूसरे की समाधि को देखकर भयभीत होना देवताओं में (देखा जाता) है ।

अनसूया—[तदो वसन्तोदारसमए से उम्मादइत्तअं रूवं पेक्खिअ. . . .] ततो वसन्तोदारसमये तस्या उन्मादयितृरूपं प्रेक्ष्य. . .

(इत्यर्धोक्ते लज्जया विरमति ।)

अनसूया—तत्पश्चात् वसन्त ऋतु के आगमन के समय उसके उन्मादक सौन्दर्य को देखकर. . . . . ।

(इस प्रकार आधा कहकर लज्जा के कारण रुक जाती है ।)

राजा—परस्ताज्ज्ञायत एव । सर्वथाऽप्सरःसंभवैषा ।

राजा—आगे प्रगट ही है । यह वस्तुतः अप्सरा से उत्पन्न है ।

अनसूया—[अह इं ।] अथ किम् ?

अनसूया—और क्या ?

राजा—उपपद्यते ।

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ।।२६।।

(शकुन्तलाऽधोमुखी तिष्ठति ।)

अन्वयः—अस्य रूपस्य संभवः मानुषीषु कथं वा स्यात्? प्रभातरलं ज्योतिः वसुधातलात् न उदेति।

संस्कृत-व्याख्या—अस्य = ईदृशस्य अलौकिकस्य, रूपस्य = सौन्दर्यस्य, संभवः = उत्पत्तिः, मानुषीषु = मनुष्यलोकस्त्रीषु, कथं वा स्यात् = केन प्रकारेण भवितुमर्हति? कथमपि नेत्यर्थः। प्रभातरलम् = प्रभया कान्त्या दीप्त्या वा तरलं चञ्चलं उज्ज्वलं वा, ज्योतिः = तेजः (विद्युदित्यर्थः, चन्द्रादि इति केचित्), वसुधातलात् = पृथ्वीतलात्, न उदेति = न उद्गच्छति, नोत्पद्यते इत्यर्थः।

राजा– ठीक है।

इस सौन्दर्य की उत्पत्ति मनुष्यलोक की स्त्रियों में कैसे हो सकती है? कान्ति से चञ्चल ज्योति (विद्युत्) पृथ्वी से उत्पन्न नहीं होती है।

(शकुन्तला नीचे की ओर मुख किये रहती है।)

अलंकार तथा छन्दः—श्लोक की प्रथम पंक्ति में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' तथा सम्पूर्ण श्लोक में 'दृष्टान्त' अलंकार है। कुछ विद्वानों ने इसमें 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार भी स्वीकार किया है। इसमें 'अनुष्टुप्' छन्द है।

व्याकरणः—**उन्मादयितृ** = उत् + मद् + णिच् + तृन् (तृ)। **विरमति** = वि + रम् + तिप्। **मानुषी** = मनु + अञ् + ङीप्।

समास आदिः—**अन्यसमाधिभीरुत्वम्** = अन्येषां समाधेः भीरुः, तस्य भावः (तत्पुरुष)। **वसन्तावतारसमयः** = वसन्तस्य अवतारस्य समयः (तत्पुरुष)। **अप्सरःसंभवा** = अप्सरसः संभवो जन्म यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **मानुषीषु** = मनोः अपत्यं पुमान् मानुषः, स्त्री मानुषी। **प्रभातरलम्** = प्रभया तरलम्।

टिप्पणियाँ—**अन्यसमाधिभीरुत्वम्** = दूसरे की तपस्या से भयभीत हो जाना। **देवानाम्** = यहाँ इन्द्र के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। **अथ किम्** = और क्या? अर्थात् हाँ। **मानुषीषु** = मनुष्यलोक की स्त्रियों के अन्दर। **अस्य** = इस अलौकिक रूप की। **संभवः** = उत्पत्ति। **कथं वा स्यात्** = कैसे संभव है अर्थात् असंभव है। **ज्योतिः** = तेज (विद्युत्)। **अधोमुखी** = लज्जा के कारण शकुन्तला का मुख नीचे की ओर ही रहता है। यह बात उसके सलज्ज होने की द्योतक है।

राजा—(आत्मगतम्) लब्धावकाशो मे मनोरथः। किं तु सख्याः परिहासोदाहृतां वरप्रार्थनां श्रुत्वा धृतद्वैधभावकातरं मे मनः।

राजा—(मन में) मेरी अभिलाषा को अवसर प्राप्त हो गया। किन्तु सखी द्वारा हास्य में कही गई वर की प्रार्थना को सुनकर मेरा मन दुविधा के कारण खिन्न हो रहा है।

प्रियंवदा—(सस्मितं शकुन्तलां विलोक्य नायकाभिमुखी

भूत्वा) [पुणो वि वत्तुकामो विअ अज्जो ।] पुनरपि वक्तुकाम इवार्यः ।

(शकुन्तला सखीमङ्गुल्या तर्जयति ।)

प्रियंवदा—(ईषद् हास्य के साथ शकुन्तला को देखकर पुनः नायक की ओर मुख करके) आर्य पुनः कुछ कहना चाहते से प्रतीत होते हैं ।

(शकुन्तला सखी को अँगुली के संकेत से धमकाती है ।)

राजा—सम्यगुपलक्षितं भवत्या । अस्ति नः सच्चरितश्रवण-लोभादन्यदपि प्रष्टव्यम् ।

राजा—आपने ठीक समझा । सच्चरित के सुनने के लोभ से हमें और भी पूछना है ।

प्रियंवदा—[अलं विआरिअ । अणि अन्तणाणुओओ तवस्सि-अणो णाम ।] अलं विचार्य । अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम ।

प्रियंवदा—अधिक विचार से बस (अर्थात् अधिक विचार न कीजिये) । तपस्वी लोगों से बेरोक टोक पूछा जा सकता है ।

व्याकरण:—**द्वैधम्** = द्वि + धा = द्विधा तस्य भावः द्वैधम् । **अनुयोगः** = अनु + युज् + घञ् (अ) ।

समास:—**लब्धावकाशः** = लब्धः अवकाशः येन सः (बहुव्रीहि) । **धृत-द्वैधीभावकातरम्** = धृतः द्वैधीभावः येन तत् (कर्मधारय), तच्च कातरमिति । **वक्तुकामः** = वक्तुं कामः । सच्चरितश्रवणलोभात् = सत् चरितम् (कर्मधारय) **सच्चरितश्रवणलोभात्** लोभः तस्मात् (तत्पुरुष) । **अनियन्त्रणानुयोगः** = न विद्यते नियन्त्रणा यस्मिन् सोऽनियन्त्रणः (बहुव्रीहि), अनियन्त्रणः अनुयोगः यस्मिन् सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**लब्धावकाशः** = जिसको अवसर प्राप्त हो गया है । वस्तुतः शकुन्तला एक क्षत्रियकन्या है। अतः राजा की विवाह सम्बन्धी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है । **सख्याः** = प्रियंवदा के पूर्वकथित वक्तव्य की ओर संकेत है । **धृत-द्वैधीभावम्** = राजा का मन द्विविधा में इस कारण पड़ गया है कि कहीं ऐसा न हो कि शकुन्तला का विवाह किसी और से निश्चित हो चुका हो अथवा शकुन्तला ने ही किसी अन्य को स्वयं वरण कर लिया हो । **तर्जयति** = शकुन्तला प्रियंवदा को अँगुली के संकेत से डाँटती है कि वह इस प्रकार की व्यर्थ की बातें न करे । **उप-लक्षितम्** = जाना, समझा । **नाम** = इस शब्द के यहाँ पर दो अर्थ संभव है । (१) प्रकाश्य = अर्थात् ऐसा प्रसिद्ध है कि....... । अथवा—अभ्युपगम अर्थात् स्वी-कृतिसूचक अर्थ में ।

राजा—इति सखीं ते ज्ञातुमिच्छामि ।

वैखानसं किमनया व्रतमा प्रदानाद्
व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम् ।
[1]अत्यन्तमेव [2]सदृशेक्षणवल्लभाभि- ।
राहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः ॥२७॥

अन्वयः—किम् अनया मदनस्य व्यापाररोधि वैखानसं व्रतं आ प्रदानात् । निषेवितव्यम् । आहो, सदृशेक्षणवल्लभाभिः हरिणांगनाभिः समं अत्यन्तमेव निवत्स्यति ।

संस्कृत-व्याख्या—किम्, अनया = शकुन्तलया, मदनस्य = कामस्य, व्यापार-रोधि = व्यापारं प्रवृत्तिं रोद्धुं प्रतिषेद्धुं शीलमस्य इति व्यापाररोधि = काम-चेष्टाप्रतिबन्धकम्, वैखानसम् = तपस्विजनोचितम्, वृत्तम् = नियमः धर्मः वा, ब्रह्मचर्यम् = आप्रदानात् वराय प्रदानपर्यन्तम् (परिणयपर्यन्तमित्यर्थः), निषे-वितव्यम्—पालनीयम् । आहो = अथवा, मदिरेक्षणवल्लभाभिः = सदृशे स्व-समाने ये ईक्षणे नयने यासां ताः, अतएव वल्लभाः प्रियाः ताभिः, हरिणांगनाभिः—मृगीभिः, समम् = सह साकं वा, अत्यन्तमेव = सातिरेकमेव (यावज्जीवनमेवे-त्यर्थः), निवत्स्यति—स्थास्यति ।

राजा—तुम्हारी सखी के बारे में मैं यह जानना चाहता हूँ—

क्या यह कामदेव के व्यापारों को रोकने वाले तापसव्रत का सेवन विवाह होने के समय तक करेगी अथवा एक से नेत्र होने के कारण प्रिय हरिणियों के साथ ही सदैव निवास करेगी ?

अलंकार तथा छन्दः—यहाँ पर विशेषण के साभिप्राय होने के कारण 'परि-कर' अलंकार है:—"उक्तिर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः"। साहित्यदर्पण ॥ **छन्द**—इसमें 'वसन्ततिलका' वृत्त है । "उक्तं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः" ॥

व्याकरणः—**व्यापाररोधि** = व्यापार + रुध् + णिनि (इन्) । **निवत्स्यति** = नि + वस्—लृट् । आ **प्रदानात्** = यहाँ 'आ' के योग में "पंचम्यपाङ्परिभिः" अष्टा० २।३।१० । से पंचमी हुई है । **समास आदिः**—**वैखानसम्** = वैखानसस्य इदम् । **व्यापाररोधि** = व्यापारं रोद्धु शीलमस्य तत् । **सदृशेक्षणवल्लभाभिः**—सदृशाभ्यां ईक्षणाभ्यां वल्लभाभिः (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—उपर्युक्त श्लोक के दो अर्थ हो सकते हैं (१) यह विवाह होने

पाठभेद—१. अत्यन्तमात्मसदृशे (अत्यधिक रूप से अपने समान नेत्र होने के कारण । २. मदिरेक्षण...(मादक नेत्रों के कारण) ।

तक ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण करेगी अथवा जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती हुई हिरणियों के साथ रहेगी ? (२) क्या यह किसी राजा के साथ विवाह होने के समय तक व्रत धारण करेगी और आश्रम में रहेगी अथवा किसी तपस्वी के साथ विवाह हो जाने के कारण सदैव इस आश्रम में ही हरिणियों के साथ रहेगी ? प्रियंवदा एवं अनसूया के पूर्वकथित वार्त्तालाप के आधार पर [(१) "इमं जीवित-सर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति"—(२) "एवमहमात्मनोऽनुरूपं वरं लभेय.......।"] राजा को यह ज्ञात हो चुका था कि उसका विवाह होना है। हाँ, इतना सन्देह अवश्य था कि महर्षि कण्व उसका विवाह किसी क्षत्रिय राजा से करेंगे अथवा किसी तपस्वी से ? प्रियंवदा के अगले कथन से राजा के प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हो जाता है।

वैखानसम्=वानप्रस्थ अथवा तपस्वी का । **आप्रदानात्**=प्रदान अर्थात् योग्यतम व्यक्ति राजा आदि को पाणिग्रहण संस्कारपूर्वक दिये जाने के समय पर्यन्त। **अत्यन्तमेव**=सदा के लिये । **निवत्स्यति**=रहेगी, निवास करेगी ।

प्रियवंदा—[अज्ज ! धम्मचरणे वि परवसो अयं जणो। गुरुणो उण से अणुरूववरप्पदाणे संकप्पो ।] आर्य! धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः । गुरोः पुनरस्याः अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः ।

प्रियंवदा—आर्य ! यह व्यक्ति (शकुन्तला) धर्म का आचरण करने में भी पराधीन है। फिर भी पिता जी का विचार इसे (किसी) योग्य वर को देने का है ।

राजा—(आत्मगतम्) न दुरवापेयं खलु प्रार्थना ।
"भव हृदय ! साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः ।
आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ॥२८॥

अन्वयः—हृदय ! साभिलाषं भव, सम्प्रति सन्देहनिर्णयः जातः । यदग्निं आशंकसे तत् इदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ।

संस्कृत-व्याख्या—हे हृदय !, साभिलाषम्=शकुन्तलाविषये अभिलाष-युक्तम्, भव । सम्प्रति=इदानीम्, सन्देहनिर्णयः=सन्देहः किमियं मुनिकन्या क्षत्रियकन्या वा इति तत्र निर्णयः, जातः=अभूत् । यत्=यद्, शकुन्तलारूपं वस्तु, अग्निम्=वह्निम् (मुनिकन्यात्वेन स्पर्शायोग्यतया वह्निमिव), आशं-कसे=मन्यसे, तदिदम्=तदेव शकुन्तलारूपं वस्तु, स्पर्शक्षमम्=स्पर्शयोग्यम्, रत्नम्=मणिः जातम् ।

राजा—[मन में] यह मेरा मनोरथ दुर्लभ नहीं है ।

हे हृदय ! (शकुन्तला के विषय में) अभिलाषा से युक्त हो जा । (क्योंकि) अब सन्देह का निर्णय हो चुका है ! जिसे तू (स्पर्श न करने योग्य) अग्नि समझ रहा था वह तो स्पर्श करने योग्य रत्न है ।

अलंकार तथा छंद:—यहा श्लोक के पूर्वार्ध के प्रति उत्तरार्ध के कारण होने से काव्यलिंग अलंकार है । इसमें आर्या छन्द है ।

व्याकरण:—दुखापा + दुर् + अव + आप् + खल् (अ) + टाप् ।

समास आदि—**साभिलाषम्** = अभिलाषेण सहितम् । **अनुरूपवरप्रदाने** = अनुरूपाय वराय प्रदानं तस्मिन् (तत्पुरुष) । **सन्देहनिर्णयः** = सन्देहस्य निर्णयः (तत्पुरुष) । **स्पर्शक्षमम्** = स्पर्शं क्षमते इति स्पर्शक्षमम् ।

टिप्पणियाँ—**धर्मचरणे** = धर्म अर्थात् धार्मिक कृत्यों के आचरण में भी । शकुन्तला धार्मिक कार्यों के करने में भी पराधीन है । उसका प्रत्येक कार्य पिता कण्व की इच्छा पर आधारित है । अतः उसका विवाह भी उन्हीं की इच्छा के अनुसार होगा । **न दुरवापा** = शकुन्तला क्षत्रिय-कन्या है । उसका किसी योग्य वर को दिया जाना निश्चित ही है। अतः उसका दुष्यन्त को प्राप्त हो जाना कठिन नहीं है । **सन्देहनिर्णयः** = शकुन्तला मुनिकन्या है अथवा क्षत्रियकन्या है ? इसका विवाह किससे होगा ? इत्यादि विषयों का स्पष्टीकरण हो चुका है । **आशंकसे अग्निम्** = यदि शकुन्तला ब्राह्मण की पुत्री होती तो राजा से उसका विवाह नहीं हो सकता था । ऐसी दशा में वह राजा के लिये अस्पृश्य थी । **स्पर्शक्षमम्** = राजा को जब यह ज्ञात हो गया कि शकुन्तला क्षत्रिय की पुत्री है तब तो वह उसके लिये स्पर्श करने योग्य रत्न के सदृश हो गई । प्राचीन संस्कृति के अनुसार क्षत्रिय का ब्राह्मणकन्या के साथ विवाह नहीं हो सकता था । यहाँ पर 'समाधान' नामक मुखसन्धि का अंग है । लक्षण = "बीजस्यागमनं यत्तु तत् समाधानमुच्यते" । सा० द० ६।८५ ।

शकुन्तला—(सरोषमिव) [अणसूये ! गमिस्सं अहं ।] अनसूये ! गमिष्याम्यहम् ।

शकुन्तला—[क्रोधित के सदृश होकर] अनसूया ! मैं चली जाऊँगी ।

अनसूया —[किंणिमित्तं ?] किं निमित्तम् ?

अनसूया—किस कारण ?

शकुन्तला—[इमं असम्बद्धप्पलाविणिं पिअवदं अज्जाए गोदमीए णिवेदइस्सं । [इमामसम्बद्धप्रलापिनीं प्रियंवदामार्यायै गौतम्यै निवेदयिष्यामि ।

शकुन्तला—इस असम्बद्ध वार्त्तालाप करने वाली प्रियंवदा की शिकायत मैं आर्या गौतमी से करूँगी।

अनसूया—[सहि ! ण जुत्तं अकिदसक्कारं अदिहिविसेसं विसज्जिअ सच्छन्ददो गमणं।] सखि! न युक्तमकृतसत्कारमतिथि-विशेषं विसृज्य स्वच्छन्दतो गमनम्।

अनसूया—सखी ! विशेष अतिथि को, बिना सत्कार किये, छोड़कर चला जाना उचित नहीं है।

(शकुन्तला बिना कुछ कहे हुए ही चली जाती है।)

राजा—(ग्रहीतुमिच्छन् निगृह्यात्मानम् । आत्मगतम्) अहो चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्तिः। अहं हि—

अनुयास्यन् मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः ॥२९॥

अन्वयः—अहं हि मुनितनयां अनुयास्यन् सहसा विनयेन वारितप्रसरः स्थानाद् अनुच्चलन् अपि गत्वा पुनः प्रतिनिवृत्तः इव।

संस्कृतव्याख्या—अहम् = दुष्यन्तः, हि, मुनितनयाम् = शकुन्तलाम्, अनुयास्यन् = अनुगमिष्यन्, सहसा = झटिति, विनयेन = शीलेन (जितेन्द्रियतया), वारितप्रसरः = वारितः निषिद्धः प्रसरो वेगो यस्य सः तादृशः सन्, स्थानात् = स्वासानात्, अनुच्चलन् अपि—अनुत्तिष्ठन् अपि, गत्वा = शकुन्तलामनुसृत्य, पुनः प्रतिनिवृत्तः इव—प्रत्यागत इव।

राजा—(पकड़ने की इच्छा रखते हुए अपने को रोककर मन में) अहो, कामी मनुष्यों के अन्तःकरण का व्यापार उनकी चेष्टाओं के अनुकूल ही होता है।

मैं मुनिकन्या (शकुन्तला) के अनुगमन की इच्छा करता हुआ, एकाएक विनय के कारण रुक गया। मैं अपने स्थान से उठा भी नहीं (किन्तु फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि) जाकर पुनः लौट आया हूँ।

अलंकार तथा छन्दः—यहाँ "उत्प्रेक्षा" अलंकार है। "अनुच्चलन्नपि गतः" में विरोधाभास अलंकार है। इसमें आर्या छन्द है।

व्याकरणः—सम्बद्ध = सम् + बन्ध + क्त। **असंबद्धप्रलापिनी** = असंबद्ध + प्र + लप् + णिनि (इन्)) । अनुयास्यन् + अनु + या + स्य + शतृ।

समास आदिः—**असंबद्धप्रलापिनी** = असंबद्धं प्रलपतीति। **अकृतसत्कारम्** =

न कृतः सत्कारः यस्य तम् (बहुव्रीहि) । **चेष्टाप्रतिरूपिका** = चेष्टायाः प्रतिरूपिका (तत्पुरुष) । प्रतिगतं रूपं अस्यां सा प्रतिरूपा (बहुव्रीहि) (स्वार्थ में कन् (क) प्रत्यय ।) **कामिजनमनोवृत्तिः** = कामिजनानां मनसः वृत्तिः (तत्पुरुष) । मुनितनयाम्—मुनेः तनयाम् (तत्पुरुष) । **वारितप्रसरः** = वारितः प्रसरः गतिः यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**गौतम्यै** = गौतमी कण्व के आश्रम की अधिष्ठात्री थी । **मुनितनयाम्** = यहाँ मुनि विशेष अभिप्राय से युक्त है । शकुन्तला मुनि कण्व की पुत्री है । अतः उसके साथ शिष्ट व्यवहार ही करना उचित है । **चेष्टाप्रतिरूपिका** = शारीरिक क्रियाओं को प्रतिविम्बित करने वाली । **कामिजनमनोवृत्तिः** = कामी पुरुषों की इच्छा। तात्पर्य यह है कि कामी पुरुषों की भावना इतनी प्रबल हुआ करती है कि बिना शारीरिक क्रिया (चेष्टा) किये हुए ही उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा करता है कि मानों उन्होंने अपनी इच्छा पूर्ण कर ली है । **विनयेन वारितप्रसरः**—शील के कारण एकाएक मेरी गति रुक गई ।

प्रियंवदा—(शकुन्तलां निरुध्य) [हला ण दे जुत्तं गन्तुं ।] हला ! न ते युक्तं गन्तुम् ।

प्रियंवदा—(शकुन्तला को रोक कर) सखी ! तुम्हार लिये जाना उचित नहीं है ।

शकुन्तला —(सभ्रूभङ्गम्) [किं णिमित्तं ?] किं निमित्तम् ?

शकुन्तला—(भौं चढ़ाकर) किस कारण ?

प्रियंवदा—[रुक्खसेअणे दुवे धारेसि मे । एहि दाव । अत्ताणं मोचिअ तदो गमिस्ससि ।] वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे । एहि तावत् । आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि ।

प्रियंवदा—तू मेरे दो वृक्षों को सींचने की ऋणी है । तो आ । अपने आपको (ऋण से) छुड़ाकर तभी जा सकोगी ।

(इति बलादेनां निवर्तयति ।)

(यह कह कर बलपूर्वक उसे लौटा देती है ।)

राजा—भद्रे ! वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रभवतीं लक्षये । तथा ह्यस्याः—

स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा-

दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः ।

[1]वद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजा ॥३०॥

तदहमेनामनृणां करोमि (इत्यङ्गुलीयं दातुमिच्छति ।)
(उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः ।)

अन्वयः—घटोत्क्षेपणात् अस्याः बाहू स्रस्तांसौ अतिमात्रलोहिततलौ, प्रमाणाधिकः श्वासः अद्यापि स्तनवेपथुं जनयति । वदने कर्णशिरीषरोधि घर्माम्भसां जालकं बद्धम्, बन्धे स्रंसिनि मूर्धजा च एकहस्तयमिताः पर्याकुलाः ।

संस्कृतव्याख्या—घटोत्क्षेपणात् = घटस्य सेचनकलशस्य उत्क्षेपणात् उत्थापनात्, अस्याः—शकुन्तलायाः, बाहू = भुजौ, स्रस्तांसौ = स्रस्तौ अवनतौ अंसौ स्कन्धौ ययोस्तौ, अतिमात्रलोहिततलौ = अतिमात्रं प्रकृतेरधिकं लोहितं रक्तं तलं करतलं ययोः तथाभूतौ स्तः । प्रमाणाधिकः = प्रमाणात् स्वमात्रायाः अधिकः श्वासः प्राणवायुः अद्यापि = इदानीमपि, स्तनवेपथुं = स्तनयोः कुचयोः वेपथुः कम्पम्, जनयति = उत्पादयति । वदने = मुख, कर्णशिरीषरोधि—कर्णयोः अवतंसीकृतं शिरीष-पुष्पं तद् रोद्धुं शीलमस्य तत्, घर्माम्भसां = स्वेदजलानाम्, जालकम् = विन्दु-समूहरूपम्, बद्धम् = व्याप्तम् । बन्धे = केशबन्धने, स्रंसिनि = प्रशिथिले सति, मूर्धजाः च = केशाश्च, एकहस्तयमिताः = एकेन हस्तेन करेण यमिताः धृताः सन्तः, पर्याकुलाः = विकीर्णाः सन्ति ।

राजा—भद्रे ! वृक्षों को सींचने से ही मैं इनको थकी हुई देख रहा हूँ क्योंकि घड़े के उठाने के कारण इनके (शकुन्तला के) दोनों हाथ कन्धे पर से झुक गये हैं और दोनों हाथों की हथेलियाँ अत्यधिक लाल हो गई हैं । परिणाम से अधिक लम्बे श्वास इस समय भी स्तनों में कम्पन उत्पन्न कर रहे हैं । मुख पर कान में लगे सिरस के पुष्प को रोकनेवाला पसीने की बूंदों का समूह व्याप्त है । (केशों के) बन्धन के खुल जाने के कारण बालों को एक हाथ में पकड़े हुए हैं, (अतएव केश) बिखरे हुए हैं ।

अतः मैं इसे ऋणमुक्त करता हूँ (यह कहकर अपनी अँगूठी देना चाहता है ।)

(नामांकित अँगूठी के अक्षरों को पढ़कर दोनों एक दूसरी की ओर देखती हैं ।)

अलंकार—इस श्लोक में 'स्वभावोक्ति' अलंकार है—"स्वभावोक्ति-रसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम् ।" छन्दः—इसमें 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त है ।

पाठभेद—१ स्रस्तम् (बह गया है) ।

न कृतः सत्कारः यस्य तम् (बहुव्रीहि) । **चेष्टाप्रतिरूपिका** = चेष्टायाः प्रति-रूपिका (तत्पुरुष) । प्रतिगतं रूपं अस्यां सा प्रतिरूपा (बहुव्रीहि) (स्वार्थ में कन् (क) प्रत्यय ।) **कामिजनमनोवृत्तिः** = कामिजनानां मनसः वृत्तिः (तत्पुरुष) । मुनितनयाम्—मुनेः तनयाम् (तत्पुरुष) । **वारितप्रसरः** = वारितः प्रसरः गतिः यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**गौतम्यै** = गौतमी कण्व के आश्रम की अधिष्ठात्री थी । **मुनितनयाम्** = यहाँ मुनि विशेष अभिप्राय से युक्त है । शकुन्तला मुनि कण्व की पुत्री है । अतः उसके साथ शिष्ट व्यवहार ही करना उचित है । **चेष्टाप्रतिरूपिका** = शारीरिक क्रियाओं को प्रतिविम्बित करने वाली । **कामिजनमनोवृत्तिः** = कामी पुरुषों की इच्छा। तात्पर्य यह है कि कामी पुरुषों की भावना इतनी प्रबल हुआ करती है कि बिना शारीरिक क्रिया (चेष्टा) किये हुए ही उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा करता है कि मानों उन्होंने अपनी इच्छा पूर्ण कर ली है । **विनयेन वारितप्रसरः**—शील के कारण एकाएक मेरी गति रुक गई ।

प्रियंवदा—(शकुन्तलां निरुध्य) [हला ण दे जुत्तं गन्तुं ।] हला ! न ते युक्तं गन्तुम् ।

प्रियंवदा—(शकुन्तला को रोक कर) सखी ! तुम्हार लिये जाना उचित नहीं है ।

शकुन्तला —(सभ्रूभङ्गम्) [किं णिमित्तं ?] किं निमित्तम् ?

शकुन्तला—(भौं चढ़ाकर) किस कारण ?

प्रियंवदा—[रुक्खसेअणे दुवे धारेसि मे । एहि दाव । अत्ताणं मोचिअ तदो गमिस्ससि ।] वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे । एहि तावत् । आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि ।

प्रियंवदा—तू मेरे दो वृक्षों को सींचने की ऋणी है । तो आ । अपने आपको (ऋण से) छुड़ाकर तभी जा सकोगी ।

(इति बलादेनां निवर्तयति ।)

(यह कह कर बलपूर्वक उसे लौटा देती है ।)

राजा—भद्रे ! वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रभवतीं लक्षये । तथा ह्यस्याः—

स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा-
दद्यापि स्तनवेपथु जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः ।

[1]बद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजा ॥३०॥

तदहमेनामनृणां करोमि (इत्यङ्गुलीयं दातुमिच्छति ।)

(उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः ।)

अन्वयः—घटोत्क्षेपणात् अस्याः बाहू स्रस्तांसौ अतिमात्रलोहिततलौ, प्रमाणाधिकः श्वासः अद्यापि स्तनवेपथुं जनयति । वदने कर्णशिरीषरोधि घर्माम्भसां जालकं बद्धम्, बन्धे स्रंसिनि मूर्धजा च एकहस्तयमिताः पर्याकुलाः ।

संस्कृतव्याख्या—घटोत्क्षेपणात् = घटस्य सेचनकलशस्य उत्क्षेपणात् उत्थापनात्, अस्याः—शकुन्तलायाः, बाहू = भुजौ, स्रस्तांसौ = स्रस्तौ अवनतौ अंसौ स्कन्धौ ययोस्तौ, अतिमात्रलोहिततलौ = अतिमात्रं प्रकृतेरधिकं लोहितं रक्तं तलं करतलं ययोः तथाभूतौ स्तः । प्रमाणाधिकः = प्रमाणात् स्वमात्राया: अधिकः श्वासः प्राणवायुः अद्यापि = इदानीमपि, स्तनवेपथुं = स्तनयोः कुचयोः वेपथुः कम्पम्, जनयति = उत्पादयति । वदने = मुख, कर्णशिरीषरोधि—कर्णयोः अवतंसीकृतं शिरीष-पुष्पं तद् रोद्धुं शीलमस्य तत्, घर्माम्भसां = स्वेदजलानाम्, जालकम् = विन्दु-समूहरूपम्, बद्धम् = व्याप्तम् । बन्धे = केशबन्धने, स्रंसिनि = प्रशिथिले सति, मूर्धजाः च = केशाश्च, एकहस्तयमिताः = एकेन हस्तेन करेण यमिताः धृताः सन्तः, पर्याकुलाः = विकीर्णाः सन्ति ।

राजा—भद्रे ! वृक्षों को सींचने से ही मैं इनको थकी हुई देख रहा हूँ क्योंकि घड़े के उठाने के कारण इनके (शकुन्तला के) दोनों हाथ कन्धे पर से झुक गये हैं और दोनों हाथों की हथेलियाँ अत्यधिक लाल हो गई हैं । परिणाम से अधिक लम्बे श्वास इस समय भी स्तनों में कम्पन उत्पन्न कर रहे हैं । मुख पर कान में लगे सिरस के पुष्प को रोकनेवाला पसीने की बूंदों का समूह व्याप्त है । (केशों के) बन्धन के खुल जाने के कारण बालों को एक हाथ में पकड़े हुए हैं, (अतएव केश) बिखरे हुए हैं ।

अतः मैं इसे ऋणमुक्त करता हूँ (यह कहकर अपनी अँगूठी देना चाहता है ।)

(नामांकित अँगूठी के अक्षरों को पढ़कर दोनों एक दूसरी की ओर देखती हैं ।)

अलंकार—इस श्लोक में 'स्वभावोक्ति' अलंकार है—"स्वभावोक्ति-रसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम् ।" छन्दः—इसमें 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त है ।

पाठभेद—१ स्रस्तम् (बह गया है) ।

व्याकरण—**परिश्रान्त**=परि+श्रम+क्त । **स्रस्त**=स्रंस+क्त । **वेपथु:**=वेप्+अथुच् । **कर्णशिरीषरोधि**=कर्णशिरीष+रुध्+णिनि । **बद्धम्** =बन्धु+क्त । **अँगुलीयम्**=अंगुलि+छ (ईय) । **अनुवाच्य**=अनु+वच् +णिच्+ल्यप् ।

समास आदि—**स्रस्तांसौ** =स्रस्तौ अंसौ ययो: तौ (बहुव्रीहि) । **अतिमात्रलोहिततलौ**=अतिमात्रं लोहितं तलं ययो: तौ (बहुव्रीहि) । **घटोत्क्षेपणात्**=घटस्य उत्क्षेपणात् (तत्पुरुष) । **प्रमाणाधिक:**=प्रमाणात् अधिक: (तत्पुरुष । **कर्णशिरीषरोधि**=कर्णयो: शिरीषं रोद्धुं शीलमस्य तत् । **एकहस्तयमिता:**=एकेन हस्तेन यमिता: (तत्पुरुष) । **नाममुद्राक्षराणि**=नाम्न: मुद्रा नाममुद्रा, नाममुद्राया: अक्षराणि (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**मे धारयसि**=धारयसि का अर्थ है ऋणी होना । अनसूया के कथनानुसार शकुन्तला दो वृक्षों में पानी देने की अनसूया की ऋणी है । **वृक्षसेचनादेव**=अपने वृक्षों का सिंचन करने के कारण शकुन्तला थकी हुई है । उससे और अधिक वृक्षों का सिंचन करने के निमित्त कहना अनुचित है । **स्रस्तांसौ**= झुके हुए दोनों कन्धों से युक्त । स्त्री का कन्धा थोड़ा झुका होना उसके सौन्दर्य का सूचक होता है । **प्रमाणाधिक:**=साधारण मनुष्य के श्वास के परिमाण से अधिक । उस समय अधिक परिश्रम करने के कारण श्वास का वेग तीव्र हो गया था । **कर्णशिरीषरोधि**=पसीने से मुख व्याप्त होने के कारण शिरीष का पुष्प मुख पर चिपक गया है, इस कारण हिल नहीं पाता । **बद्धम्**=यहाँ पर पाठान्तर में "स्रस्तं" का प्रयोग हुआ है । किन्तु इस शब्द के रखने पर 'जालकम्' शब्द का भाव नष्ट हो जाता है । अगले चरण में स्थित स्रंसिनि शब्द के कारण पुनरुक्ति का दोष भी आ सकता है । अतएव "बद्धम्" पाठ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । **परस्परमवलोकयत:**=शकुन्तला की दोनों सखियाँ अँगूठी पर जब राजा का नाम पढ़ती हैं तब दुष्यन्त को राजा समझकर दोनों आश्चर्य से एक दूसरे की ओर देखती हैं ।

राजा—[1]अलमस्माानन्यथा संभाव्य । राज्ञ: [2]परिग्रहोऽयम् ।

राजा—हमको कुछ और न समझें । यह राजा का उपहार है । अत: मुझे राज-पुरुष ही समझो ।

प्रियंवदा—[तेण हि णारिहदि एदं अंगुलीअअं अंगुलीविओअं । अज्जस्स वअणेण अणिरिणा दाणिं एसा । हला सउन्दले ! मोइदा सि अणुअम्पिणा अज्जेण, अहवा महाराएण । गच्छ दाणिं] तेन हि नार्हत्येतदङ्गुलीयकमङ्गुलीवियोगम् । आर्यस्य वचनेनानृणेदानीमेषा ।

पाठभेद—१. अलमन्यथा । २. परिग्रहोऽयमिति ।

(किंचिद् विहस्य) हला शकुन्तले ! मोचिताऽस्यनुकम्पिनायेण अथवा महाराजेन । गच्छेदानीम् ।

प्रियंवदा—तो यह अँगूठी (आपकी) अँगुली के वियोग के योग्य नहीं है। आर्य के वचन से ही अब यह ऋणमुक्त हो गई। (कुछ मुस्कराकर) सखी शकुन्तले ! तुम दयालु आर्य के द्वारा छुड़ा दी गई हो, अथवा महाराज के द्वारा। अब तुम जाओ।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) [जइ अत्तणो पहविस्सं । का तुमं विसज्जिदव्वस्स रुन्धिदव्वस्स वा] (यद्यात्मनः प्रभविष्यामि । (प्रकाशम्) का त्वं विस्रष्टव्यस्य[1] रोद्धव्यस्य वा ?

शकुन्तला—(मन में) यदि अपने वश में रहूँगी तो। (प्रकट में) तुम मुझको छोड़ने अथवा रोकने वाली कौन होती हो ?

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य । आत्मगतम्) किं नु खलु यथा वयमस्यामेवमियमप्यस्मान् प्रति स्यात् । अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना ।

कुतः—

> वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
> कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे ।
> कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना
> भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥३१॥

अन्वयः—यद्यपि मद्वचोभिः वाचं न मिश्रयति (तथापि) मयि भाषमाणे कर्णं अभिमुखं ददाति । कामं मदाननसंमुखीना न तिष्ठति, अस्याः दृष्टिः तु भूयिष्ठं अन्यविषया न ।

संस्कृत-व्याख्या—यद्यपि, मद्वचोभिः = मम वचनैः सह, वाचम् = आत्मनो वचनम्, न मिश्रयति = न योजयति (मया सह साक्षात् नाऽभ्यतीत्यर्थः) । मयि भाषमाणे = मयि वदति सति, कर्णम् = श्रोत्रम्, अभिमुखम्—मां प्रति, ददाति = अवधानं ददाति (मदुक्तं सादरं शृणोतीत्यर्थः) । कामम् = स्वेच्छानुसारम्, मदाननसम्मुखीना = मदाननस्य मम मुखस्य सम्मुखं सर्वं मुखं सम्मुखं तस्य दर्शना संमुखीना, न तिष्ठति (सम्मुखी भूत्वा एव तिष्ठति इत्यर्थः) ।

---

[1] पाठभेद—विसर्जितव्यस्य (छोड़ने की) ।

अस्याः = शकुन्तलायाः, दृष्टिः तु = नयन पुनः, भूयिष्ठम् = अतिशयेन, अन्यविषया न = मन्मुखातिरिक्तविषयगता नास्ति ।

राजा—(शकुन्तला को देखकर अपने मन में) तब क्या हम जैसे इसके प्रति (अनुरक्त) हैं उसी प्रकार यह भी हमारे प्रति (अनुरक्त) होगी ? अथवा मेरी इच्छा को अवसर प्राप्त हो गया है । क्योंकि :—

यद्यपि (यह) मेरे वचनों से अपने वचनों को नहीं मिला रही है (अर्थात् मेरे साथ वार्त्तालाप नहीं कर रही है) किन्तु फिर भी मुख के सामने मुख करके स्थित नहीं है किन्तु (फिर भी) इसकी दृष्टि प्रायः अन्य विषयों की ओर नहीं है ।

अलंकार—यहाँ अनुराग की उत्पत्ति रूपी कार्य के प्रति कानों का लगाना तथा अन्य विषयों की ओर दृष्टि न लगाना रूपी दो कारणों का उल्लख होने से "समुच्चय" नामक अलंकार है । लक्षण—"भूयसामेकसम्बन्धभाजां गुम्फः समुच्चयः" । छन्दः—इसमें 'वसन्ततिलका' वृत्त है ।

व्याकरण—**सम्मुखीना** = सम्मुख + ख (ईन) । यहाँ पहले "यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः" अष्टा० ५।२।६ । से 'ख' प्रत्यय और तदनन्तर 'ख' को 'ईन' आदेश होता है । **भूयिष्ठम्** = बहु + इष्ठन्—यहाँ बहु के स्थान पर 'भू' आदेश तथा 'इ' के स्थान पर 'यि' हो जाता है ।

समास आदि—**राजपुरुषः** = राजा चासौ पुरुषः । **मदाननसम्मुखीना** = मदाननस्य सम्मुखीना (तत्पुरुष) । **अन्यविषया** = अन्यः विषयः यस्याः सा (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**अलमस्मानन्यथा**—आप लोग हमको कुछ और न समझें । **राज्ञः परिग्रहोऽयम्**—इस वाक्यांश द्वारा राजा अपने आपको पुनः छिपाने का प्रयास करता है । अतः यहाँ इसके दो अर्थ हैं—(१) यह (अँगूठी) राजा दुष्यन्त द्वारा मुझे प्रदान किया गया हुआ उपहार है अथवा (२) यह राजा का उपहार (तुम्हारे लिये) है । 'इति राजपुरुषं मामवगच्छथ'—इस वाक्यांश के भी दो अर्थ लिये जा सकते हैं (१) राजकीय व्यक्ति अर्थात् राजा का कर्मचारी अथवा राज्य का कोई कर्मचारी (२) राजा (राजा चासौ पुरुषः) । **किंचिद् विहस्य**—इन शब्दों से प्रकट होता है कि प्रियंवदा को विश्वास हो चुका है कि अँगूठी वाले आगन्तुक महोदय राजा ही है । **विसृष्टव्यस्य**....इत्यादि = तुम मुझे भेजने अथवा रोकने वाली कौन हो ? यह तो मेरी इच्छा पर निर्भर है कि मैं जाऊँ अथवा न जाऊँ । **अभिमुखम्** = मेरे समक्ष अथवा मेरी ओर । यहाँ पाठान्तर में "अवहिता" शब्द का भी प्रयोग किया गया है । उसका अर्थ है—सावधानता के साथ । **कर्णं ददाति**—कानों को इस ओर ही लगाकर सुनती है । **कामम्** = यह अव्यय है । इसका अर्थ है—माना कि, यह ठीक है कि, अथवा भले ही ।

(नेपथ्ये)

भो भोस्तपस्विनः, सन्निहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत। प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः ।

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणु-
विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु ।
पतति परिणतारुणप्रकाशः
शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु ॥३२॥

अन्वयः—तथा हि तुरगखुरहतः परिणतारुणप्रकाशः रेणुः शलभसमूहः इव विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु आश्रमद्रुमेषु पतति ।

संस्कृत-व्याख्या—तथा हि = यतो हि, तुरगखुरहतः = तुरगाणां अश्वानां खुरैः हतः उत्थापितः, परिणतारुणप्रकाशः = परिणतस्य सान्ध्यस्य अरुणस्य सूर्यस्य प्रकाशो वर्ण इव प्रकाशः कान्तिः यस्य सः, रेणुः = धूलिः, शलभसमूह इव = पतंगनिकर इव, विटप-विषक्तजलार्द्रवल्कलेषु = विटपेषु शाखासु विषक्तानि लग्नानि जलैरार्द्राणि क्लिन्नानि वल्कलानि येषां तेषु, आश्रमद्रुमेषु-तपोवनवृक्षेषु, पतति = वातसंयोगेनोड्डीय संसृजति ।

(नेपथ्य में)

हे हे तपस्वियो ! तपोवन के प्राणियों की रक्षा के लिये आप लोग इकट्ठे हो जाइये। शिकार के लिये विचरण करने वाला राजा दुष्यन्त समीप में ही है।

क्योंकि घोड़ों के खुरों से उड़ाई हुई तथा सायंकालीन छिपते हुए सूर्य की शोभा के समान लाल वर्ण की धूलि, पतंगों के समूह के सदृश गीले वल्कल वस्त्रों से युक्त शाखाओं वाले आश्रम के वृक्षों पर पड़ रही है।

अलंकार—इस श्लोक में 'उपमा' अलंकार है। **छन्दः**—इसमें "पुष्पिताग्रा" नामक वृत्त है। लक्षण—"अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा" ।

व्याकरण—**संनिहिताः** = सम् + नि + धा + क्त । **प्रत्यासन्नः** = प्रति + आ + सद् + क्त । मृगया = मृग् + णिच् + श । **विषक्त** = वि + सञ्ज् + क्त । **परिणत** = परि + नम् + क्त ।

समास आदि—**तपोवनसत्त्वरक्षायै** = तपोवनस्य सत्त्वानां रक्षायै (तत्पुरुष)। मृगयाविहारी = मृग्यन्ते अस्यां पशवः इति मृगया तया विहरतीति । तुरगखुरहतः = तुरगखुरैः हतः (तत्पुरुष)। **विटप-विषक्तजलार्द्रवल्कलेषु**—विटपेषु विषक्तानि जलार्द्राणि वल्कलानि येषां तेषु (बहुव्रीहि) । **परि-**

णतारुणप्रकाशः = परिणतस्य अरुणस्य प्रकाश इव प्रकाशो यस्य सः (बहुव्रीहि) ।
शलभसमूहः = शलभानां समूहः (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**सन्निहिताः** = पास में स्थित अथवा एकत्र हो जाओ। **मृगया-विहारी** = शिकार की दृष्टि से विचरण करनेवाला । **तुरगखुरहतः** = घोड़ों के खुरों के आघात से उठी हुई । **विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु**—जिन वृक्षों की शाखाओं पर गीले वस्त्र (सुखाने की दृष्टि से) लटके हुए हैं। धूलि से ये वस्त्र गीले होने के कारण मलिन हो सकते हैं। **परिणतारुणप्रकाशः**—अस्ताचल की ओर जाने वाले सूर्य के प्रकाश के समान रंग अथवा कान्ति वाली (धूलि) ।

अपि च—

तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः
पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः ।
मूर्त्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः ॥३३॥

(सर्वाः कर्णं दत्वा किंचिदिव सम्भ्रान्ताः)

अन्वयः—स्यन्दनालोकभीतः तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः पादाकृष्टव्रततिवलयासंगसंजातपाशः भिन्नसारंगयूथः गजः नः तपसः मूर्त्तः विघ्नः इव धर्मारण्यं प्रविशति ।

संस्कृत-व्याख्या—स्यन्दनालोकभीतः = स्यन्दनस्य रथस्य आलोकाद् दर्शनाद् भीतः त्रस्तः, तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः = तीव्रेण गुरुणा आघातेन प्रहारेण प्रतिहतः त्रोटितः यः तरुः वृक्षः तस्य स्कन्धे शाखायां लग्नः संसक्तः एको दन्तो यस्य तथाविधः, पादाकृष्टव्रततिवलयासंगसंजातपाशः = पादाभ्यां चरणाभ्यां आकृष्टं यत् व्रततिवलयं लतासमूहं तस्य आसंगेन संसर्गेण संजातः उत्पन्नः पाशः बन्धनरज्जुः यस्य तथाविधः, भिन्नसारंगयूथः = भिन्नानि विभक्तानि विद्रावितानि वा सारंगाणां मृगाणां यूथानि वृन्दानि येन तथाविधः, गजः = वनहस्ती, नः = अस्माकम्, तपसः = तपस्यायाः, मूर्त्तः = शरीरधारी, विघ्न इव = अन्तराय इव (वृतदेहः धर्माचरणप्रत्यूह इव), धर्मारण्यम् = तपोवनम्, प्रविशति = प्रवेश करोति । पश्यत भो ! अयं वनगजः अदृष्टपूर्वं रथं दृष्ट्वा महता भयेन समरेखमेव धावितः (न दक्षिणतः नापि वामतः), मार्गे यत् च पतितं तत् सर्वं मर्दयित्वा चलितः । अत्र दन्ताघातपातितं वृक्षं दन्तेनैव वहन् तत्र दलितानां लतागुल्मानां पादलग्नानि वलयानि पादेनैव कर्षन् अन्यत्र च मृगयूथेषु सहसा पतितः तानि विद्रावयन् तैस्तैः विघ्नैः पदे पदे व्याहन्यमानगमनः नातिवेगमित एव आयाति । तत् त्यजत धर्मकर्माणि झटिति अस्य मार्गं दत्वा आत्मानं रक्षत इति भावः ।

और भी—

रथ को देखने से डरा हुआ (अपने द्वारा किये गये) तीव्र आघात से तोड़ी, गयी हुई वृक्ष की शाखा में जिसका एक दाँत संलग्न है, (स्वयं अपने) पैरों से खींचे गये हुए लता-समूह के लिपट जाने से जिसके (पैरों में) पाश (बेड़ी सदृश जाल) सा पड़ गया है, जिसने हरिणों के समूह को छिन्न-भिन्न कर दिया है ऐसा हाथी हमारी तपस्या के लिये शरीरधारी विघ्न के सदृश तपोवन में (ऋषि कण्व के आश्रम में) प्रवेश कर रहा है।

[सभी कान लगाकर (सुनकर) कुछ घबराई हुई सी हो जाती हैं।]

अलंकार तथा छन्द—यहाँ आघात इत्यादि के कारण हाथी में शरीरधारी विघ्न की संभावना करने से उत्प्रेक्षा अलंकार है। "संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्" काव्यप्रकाश॥ **रस**—यहाँ भयानक रस का वर्णन है। हाथी के अन्दर विद्यमान 'भय' का भाव ही स्थायीभाव है। दुष्यन्त की सेना तथा रथ इत्यादि का देखा जाना—विभाव तथा इतस्ततः देखने के कारण अन्य प्राणियों का भागना आदि व्यभिचारी भाव हैं। इसमें 'मन्दाक्रान्ता' छन्द है। लक्षण—"मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ ग्गौ ययुग्मम्।"

व्याकरण:—आघात = आ + हन् + घञ्। प्रतिहत = प्रति + हन् + क्त। आसङ्ग = आ + सञ्ज् + घञ्। **मूर्तः** = मूर्छ् + क्त। **विघ्नः** = वि + हन् + घञर्थे करणे 'क'।

समास आदि:—**स्यन्दनालोकभीतः** = स्यन्दनस्य आलोकाद् भीतः (तत्पुरुष)। **तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः** = तीव्रेण आघातेन प्रतिहतस्य तरोः स्कन्धे लग्नः एकः दन्तः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **पादाकृष्टव्रततिवलयासंगसंजातपाशः** = पादाभ्यां आकृष्टस्य व्रततीनां वलयस्य आसंगेन संजातः पाशः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **भिन्न-सारङ्गयूथः** = भिन्नानि सारंगाणां यूथानि येन सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**स्यन्दनालोकभीतः** = रथ को देखने से भयभीत। **तीव्राघातप्रतिहततरु०....इत्यादि** = यह एक जंगली (वन का) हाथी था। जब उसने रथ देखा तो उसे देखकर वह डर गया और भागा। उसके मार्ग में एक वृक्ष पड़ा। उसने बड़े वेग से उस पर प्रहार किया। परिणामस्वरूप वह वृक्ष गिर गया और उसकी शाखा में उसका एक दाँत फँस गया। शीघ्रता के कारण वह अपने दाँत को उससे पृथक् न कर सका और उस शाखा को उखाड़कर तथा उसके साथ ही वह भाग रहा था। **पादाकृष्ट०....इत्यादि** = दौड़ने के कारण मार्ग में आई हुई लतायें उसके पैरों में उलझ गईं। ऐसा प्रतीत होता था कि मानों उसके पैरों में लताओं का जाल ही पड़ गया हो। **भिन्नसारंगयूथः** = उसकी इस प्रकार

की गति देखकर हाथियों के झुण्ड भयभीत हो गये थे। अतः वे तितर-बितर हो गये थे। मूर्त्तः = साक्षात् शरीरधारी।

राजा—(आत्मगतम्) अहो धिक्। पौरा अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति। भवतु। प्रतिगमिष्यामस्तावत्।

राजा—(मन में) ओह! धिक्कार है। हमको खोजते हुए नागरिकजन तपोवन को पीड़ित कर रहे हैं। अच्छा, तो मैं लौटकर जाता हूँ।

सख्यौ—[अज्ज! इमिणा आरण्णअवुत्तंतेण पज्जाउलम्ह। अणुजाणीहि णो उडअगमणस्स।] आर्य! अनेनारण्यकवृत्तान्तेन पर्याकुलाः स्म। अनुजानीहि न उटजगमनाय।

दोनों सखियाँ—आर्य! इस जंगली हाथी के समाचार से हम लोग बहुत घबरा गई हैं। हमें (अपनी) कुटिया में जाने की अनुमति दीजिये।

राजा—(ससंभ्रमम्) गच्छन्तु भवत्यः। वयमप्याश्रमपीडा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे।

(सर्वे उत्तिष्ठन्ति।)

राजा—[घबराहट के साथ] आप लोग जाइये। हम भी ऐसा प्रयत्न करेंगे कि जिससे आश्रम में (किसी प्रकार का) कष्ट न हो।

(सब उठते हैं।)

सख्यौ—[अज्ज! असंभाविदादिहि सक्कारं भूओ वि पेक्खणणिमित्तं लज्जेमो अज्जं विण्णविदुं।] आर्य! असंभावितातिथिसत्कारं भूयोऽपि प्रेक्षणनिमित्तं लज्जावहे आर्यं विज्ञापयितुम्।

दोनों सखियाँ—आर्य! (इस समय) आपका अतिथि सत्कार न किये जा सकने के कारण आपको पुनः दर्शन देने के लिये निवेदन करती हुई हम लज्जित हो रही हैं।

राजा—मा मैवम्। दर्शनेनैवात्रभवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि।

राजा—नहीं, ऐसा नहीं है। आप लोगों के दर्शन से ही मेरा सत्कार हो गया है।

शकुन्तला—¹[अणसूए ! अभिणवकुससूईए परिक्खदं मे चलणं । कुरवअसाहापरिलग्गं च वक्कलं। दाव पडिपालेध मं जावणं मोआवेमि ।] अनसूये ! अभिनवकुशसूच्या परिक्षतं मे चरणम्, कुरवकशाखापरिलग्नं च वल्कलम् । तावत् परिपालयत मां यावदेतन्मोचयामि ।

शकुन्तला—अनसूये ! नवीन कुश के अग्रभाग से मेरा पैर घायल हो गया है (अर्थात् मेरे पैर में चुभ गया है ।) और मेरा वल्कल वस्त्र कुरबक वृक्ष की शाखा में उलझ गया है । जब तक मैं इसको छुड़ा लेती हूँ तब तक मेरी प्रतीक्षा करो ।

शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता ।]

(राजा को देखती हुई, बहाने के साथ कुछ रुककर, शकुन्तला दोनों सखियों के साथ निकल जाती है ।)

व्याकरण:—**आरण्यक** = (अरण्ये भवः) अरण्य + वुञ् (अक) । यहाँ "पथ्यध्याय" इत्यादि वार्तिक के द्वारा हाथी के अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होता है। **अनुजानीहि** = अनु + ज्ञा + लोट् मध्यमपुरुष, एकवचन । **पुरस्कृतः** = पुरस् + कृ + क्त । **व्याज** = वि + अज् + घञ् (अ) ।

समास आदि:—**आरण्यकवृत्तान्तेन** = आरण्यकस्य वृत्तान्तेन (तत्पुरुष) । **असंभावितातिथि-सत्कारम्** = असंभावितः अतिथेः सत्कारः यस्य तम् (बहुव्रीहि) । सव्याजम् = व्याजेन सहितम् (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**उपरुन्धन्ति** = पीड़ित कर रहे हैं । अर्थात् तपोवन के कार्यों में विघ्न उपस्थित कर रहे हैं । **आरण्यकवृत्तान्तेन** = जंगली हाथी के वृत्तान्त से । **असंभावितातिथिसत्कारम्** = नहीं किया गया है अतिथिसत्कार जिसका (ऐसे राजा को) । अनसूया आदि सखियाँ राजा का अतिथि सत्कार नहीं कर सकी थीं । **प्रेक्षणनिमित्तम्** = दर्शन देने के लिये । **कुरबक** = यह एक प्रकार के फूल का पौधा है । इसका फूल लाल होता है तथा इस पर काँटे होते हैं ।

राजा—मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति । यावदनुयात्रिकान् समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम् । न खलु शक्नोमि शकुन्तलाव्यापारादात्मानं निवर्तयितुम् । मम हि—

पाठभेद—१. शकुन्तला की यह उक्ति निर्णयसागर-संस्करण में नहीं है ।

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं[1] चेतः ।

चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥३४॥

अन्वय—हि मम शरीरं पुरः गच्छति, चेतः प्रतिवातं नीयमानस्य केतोः चीनांशुकमिव असंस्तुतं पश्चात् धावति ।

संस्कृत-व्याख्या—हि = यतः, मम, शरीरम् = वपुः, पुरः = अग्रे, गच्छति = याति । चेतः = मनः तु, प्रतिवातम् = वायोः प्रतिकूलम्, नीयमानस्य = उह्यमानस्य, केतोः = ध्वजस्य, चीनांशुकमिव = चीनदेशोद्भवं ध्वजवसनमिव, असंस्तुतम् = अपरिचितमिव, पश्चात् = पृष्ठतः (शकुन्तलाभिमुखमित्यर्थः) धावति = जवेन वेगेन वा याति ।

राजा—(अपने) नगर के प्रति जाने (लौटने) की मेरी उत्सुकता समाप्त हो गई है । तो अपने अनुगमन करने वाले लोगों से मिलकर उनको आश्रम के समीप में ठहरा दूं । शकुन्तला की ओर प्रवृत्त हुए अपने आपको मैं रोक नहीं सकता हूँ । क्योंकि :—

मेरा शरीर आगे की ओर बढ़ रहा है (चल रहा है) । (किन्तु मेरा) मन वायु से विपरीत दिशा में ले जाये जाते हुए ध्वजा के चीनी वस्त्र (चीन द्वारा निर्मित रेशमी वस्त्र) के सदृश अपरिचित सा होकर पीछे (शकुन्तला) की ओर दौड़ रहा है ।

उपर्युक्त श्लोक का अन्वय एवं अर्थ अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है :—

अन्वयः—प्रतिवातं नीयमानस्य केतोरिव मम हि शरीरं पुरः गच्छति । (किन्तु मम) चीनांशुकमिव असंस्तुतं चेतः पश्चात् धावति ।

वायु की विपरीत दिशा में ले जाये जाते हुए ध्वजा की भाँति मेरा शरीर आगे की ओर चल रहा है किन्तु ध्वजा में संलग्न रेशमी वस्त्र के सदृश मेरा अपरिचित अथवा (पाठभेद के आधार पर—) अस्थिर (चंचल) मन पीछे (शकुन्तला) की ओर दौड़ रहा है ।

अर्थात् मेरा शरीर ध्वजा (ध्वजदण्ड तथा ध्वज-वस्त्र मिलकर ही ध्वजा अथवा ध्वज शब्दवाच्य होता है ।) के सदृश है । ध्वज वायु से विपरीत दिशा में चलने को तैयार नहीं होता है किन्तु चलाये जाने पर चलता ही है, उसी प्रकार मेरा शरीर भी बलात् आगे बढ़ रहा है । किन्तु मेरा अस्थिर अथवा अपरिचित

पाठभेद—१. असंस्थितम्—अर्थात् चंचल अथवा अस्थिर ।

सा मन ध्वजा के वस्त्र के समान (जैसे वायु की विपरीत दिशा में ध्वजा के ले जाये जाने पर उसका वस्त्र निरन्तर पीछे की ओर दौड़ा करता है, उसी प्रकार) पीछे (शकुन्तला) की ही ओर जाने को दौड़ रहा है।

अलंकार तथा छन्द:—इस श्लोक में "चीनांशुकमिव" में उपमा अलंकार है तथा सम्बद्ध शरीर और मन में असम्बन्ध का वर्णन होने के कारण 'अतिशयोयोक्ति' अलंकार है। इसमें 'आर्या' छन्द है।

व्याकरण:—**अनुयात्रिक**=अनुयात्रा+ठन् (इक्)। **निवेशयेयम्**= नि+विश्+णिच्+विधिलिङ के उत्तमपुरुष का एकवचन।

समास आदि:—**मन्दौत्सुक्य**= उत्सुकस्य भाव: औत्सुक्यम्, मन्दं औत्सुक्यं यस्य स: (बहुव्रीहि)। **अनुयात्रिकान्**=अनु पश्चात् यात्रा अस्ति येषां तान्। **प्रतिवातम्**=वातस्य प्रतिकूलम् (अव्ययीभाव)।

टिप्पणियाँ—**मन्दौत्सुक्य:**= मन्द हो गई है उत्सुकता जिसकी ऐसा। **शकुन्तलाव्यापारात्**= शकुन्तला की ओर व्यापार अर्थात् प्रवृत्ति से। **गच्छति+ धावति**= इस श्लोक में इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। दोनों का सुन्दर उपयोग यहाँ पर हुआ है। शरीर का सम्बन्ध 'गच्छति' से है और चेत: का 'धावति' से। शकुन्तला के वियोग के कारण शरीर अति कष्ट के साथ मन्दगति से आगे बढ़ रहा है तथा मन अत्यधिक वेग के साथ शकुन्तला की ओर जाने को दौड़ रहा है। **असंस्तुतम्**= मेरा मन मुझसे अपरिचित सा हो गया है तथा शकुन्तला से परिचित सा हो गया है क्योंकि यह शकुन्तला की ओर जाने के लिये अत्यन्त उत्सुक होने के कारण तीव्रगति से दौड़ रहा है तथा मेरे साथ चलने को अनुद्यत सा है। यहां पाठभेद में="असंस्थितम्" शब्द आता है। इसका अर्थ अस्थिर अथवा चञ्चल अथवा बेबस भी किया जा सकता है। **चीनांशुकम्**= कालिदास के समय में चीनी रेशमी वस्त्र भारत में आता रहा होगा तथा उसका उपयोग ध्वजा वस्त्र में किया जाता होगा। इसी कारण उन्होंने इसका प्रयोग किया है। **प्रतिवातम्** = जिस प्रकार वायु के वेग के प्रतिकूल दिशा में चलने से ध्वजा का वस्त्र पीछे की ओर उड़ता रहा करता है और ध्वज का दण्ड आगे बढ़ा करता है, उसी प्रकार राजा दुष्यन्त का शरीर दण्ड के सदृश था तथा मन ध्वजा के वस्त्र के समान।.

[इति निष्क्रान्ता: सर्वे।]

प्रथमोऽङ्क:

(सब निकल जाते हैं।)

प्रथम अंक समाप्त

विशेष द्रष्टव्य—राजा के गमन से पूर्व नागरिकों द्वारा आश्रम का घेर लिया जाना आदि घटनाओं का चित्रण नाटकीय नियमों के विरुद्ध होने के कारण नहीं

दिखलाया गया है। "दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः। शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम् ॥ स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः॥" सा० दर्पण। ६।१६-१८ ॥

अंकः—संस्कृत के रूपकों में नायक से सम्बन्धित कथावस्तु के एक भाग का वर्णन एक स्थल पर किया जाता है। इसी को अंक कहते हैं। एक अंक में नायक का एक दिन से सम्बन्धित चरित्र का वर्णन किया जाता है तथा अंक के अन्त में सभी पात्रों का निकल जाना भी हो जाया करता है। दशरूपक में कहा गया है :–

एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्नानायकम् ।
पात्रैस्त्रिचतुरैरंकस्तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ॥

नाट्यशास्त्र के अनुसार :—

अंक इति रूढ़िशब्दो भावैः रसैश्च रोहयत्यर्थान् ।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद् भवेदंकः ॥
यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहारः ।
किंचिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदावगन्तव्यः ॥
(नाट्यशास्त्र अ० २०।१४-१६ ।)

इत्यभिज्ञानशाकुन्तलस्याचार्यसुरेन्द्रदेवकृतायां "आशुबोधिनी" व्याख्यायां प्रथमोऽङ्कः समाप्तः ॥

———

द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति विषण्णो विदूषकः ।]

[तत्पश्चात् खिन्न हुआ विदूषक प्रवेश करता है ।]

विदूषकः—(निश्वस्य) [भो दिट्ठं । एदस्स मअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो म्हि । अअं मओ अअं वराहो अअं सद्दूलो त्ति मज्झण्णे वि गिम्हविरलपाअवच्छाआसु वणराईसु आहिण्डीअदि अडवीदो अडवी । पत्तसंकरकसाआइं कडुआइं गिरिणई-जलाइं पीअन्ति । अणिअदवेलं सुल्लमंसभूइट्ठो आहारो अण्हीअदि । तुरगाणुधावणकण्डिदसन्धिणो रत्तिम्मि वि णिकामं सइदव्वं णत्थि। तदो महन्ते एव्व पच्चूसे दासीए पुत्तेहिं सउणिलुद्धएहिं वणग्गहण-कोलाहलेण पडिबोधिदोम्हि । एत्तएण दाणिं वि पीडा ण णिक्कमदि । तदो गण्डस्य उवरि पिण्डओ[1] संवुत्तो । हिओ किल अम्हेसु ओहीणेसु तत्तहोदो मआणुसारेण अस्समपदं पविट्ठस्स तावसकण्णआ सउन्दला मम अधण्णदाए दंसिदा । संपदं णअरगमणस्स मणं कहं वि ण करेदि । अज्ज वि से तं एव्व चिन्तअन्तस्स अच्छीसु पमादंआसि । का गदी ? जाव णं किदाचारपरिक्कमं पेक्खामि । (इति परिक्रम्यावलोक्य च) एसो बाणासणहत्थाहिं जवणीहिं वणपुप्फमालाधारिणीहिं पडिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो । होदु; अङ्गभङ्ग विअलो विअ भविअ चिट्ठिस्सं ।ज इ एव्व वि णाम विस्समलहअं (भो दिष्टम्[2] ! एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि । अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु वन-राजिष्वाहिण्ड्यतेऽटवीतोऽटवी । पत्रसंकरकषायाणि कटूनि[3] गिरि-

पाठभेद—१. (विस्फोडओ) । २. दृष्टम् (देखा) । ३. कदुष्णानि (कुछ उष्ण) गतगता ।

नदीजलानि पीयन्ते। अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते। तुरगानुधावनकण्डितसंधे रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति। ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि। इयतेदानीमपि पीडा न निष्क्रामति। ततो गण्डस्योपरि पिटकः[1] संवृत्तः। ह्यः किलास्मास्ववहीनेषु तत्रभवतो मृगानुसारेणाश्रमपदं प्रविष्टस्य तापसकन्यका शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता। साम्प्रतं नगरगमनाय[2] मनः कथमपि न करोति। अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतोऽक्ष्णोः प्रभातमासीत्। का गतिः? यावत्त कृताचारपरिक्रमं पश्यामि। एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्यः। भवतु। अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि। यद्येवमपि नाम विश्रामं लभेय।

(इति दण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थितः।)

विदूषक—(गहरी साँस लेकर) हे दुर्भाग्य ! मैं इस शिकार के व्यसनी राजा की मित्रता से अत्यधिक दुःखी हो गया हूँ। 'यह हिरण जा रहा है', 'यह सुअर जा रहा है', 'यह व्याघ्र जा रहा है' इस प्रकार मध्याह्नकाल में भी वृक्षों की नाम मात्र की छाया से युक्त एक वन से दूसरे वन में घूमना पड़ता है। पत्तों के गिरने से कसैले तथा कड़ये पर्वतीय नदियों के जल पीने पड़ते हैं। अनिश्चित समय पर भुने हुए माँस की अधिकता से युक्त भोजन करना पड़ता है। घोड़े पर स्थित होकर पीछे पीछे दौड़ने के कारण मेरे जोड़ों में पीड़ा हो गई है (अतएव रात्रि में पूर्ण रूप से शयन भी नहीं कर पाता हूँ। तिस पर भी बहुत ही सबेरे दासी के पुत्र बहेलियों के वन को घेरने के हल्ले से जगा दिया गया हूँ। इतना होने पर भी अभी मेरी पीड़ा शान्त नहीं हुई है। फिर यह कपोल के ऊपर एक फोड़ा और निकल आया है। कल हम लोगों के पीछे छूट जाने पर पूज्य राजा जब हरिण का पीछा करते हुए आश्रम में पहुँच गये तब (वहाँ) मेरे दुर्भाग्य से उनको एक तपस्वी कन्या शकुन्तला दिखलाई दी। अब (वह) नगर की ओर लौटने का मन भी नहीं

---

१. पिण्डकः—फोड़ा (अथवा विस्फोटकः—फोड़ा)।

पाठभेद—२. गमनस्य (जाने की)।

करते हैं। आज भी रात भर उसी (शकुन्तला) के बारे में सोचते हुए उनकी आँखों में प्रातःकाल हो गया। क्या चारा है ? तो अब सभी दैनिक कार्यों से निवृत्त हुए राजा का दर्शन करता हूँ। (घूमकर और देखकर) यह मेरे प्रियमित्र धनुष को धारण करने वाली तथा वन के पुष्पों की मालाओं को धारण करने वाली यवन स्त्रियों से घिरे हुए इस ओर ही आ रहे हैं। अच्छा, अंगभंग के कारण व्याकुल सा होकर यहाँ रुकूँगा। हो सकता है कि इस प्रकार ही मुझे कुछ विश्राम मिल जाये।

[यह कहकर डण्डे का सहारा लेकर खड़ा हो जाता है।]

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टपरिवारो राजा।)

(तदनन्तर पूर्व निर्दिष्ट परिवार से युक्त राजा प्रवेश करता है।)

राजा—(आत्मगतम्)

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि[1]।

अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥१॥

(स्मितं कृत्वा) एवमात्माभिप्रायसंभावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विडम्ब्यते।

अन्वयः—कामं प्रिया सुलभा न, तु मनः तद्भावदर्शनाश्वासि[1]। मनसिजे अकृतार्थेऽपि उभयप्रार्थना रतिं कुरुते।

संस्कृत-व्याख्याः—कामम् = स्वेच्छानुसारं, प्रिया = शकुन्तला, सुलभा न = सुखेन लब्धुं योग्या न (अस्वाधीनत्वाद् गुरोरपि तस्याः असमीपवर्तित्वाच्चेति भावः।) तु = किन्तु, मनः = मदीयं चेतः, तद्भावदर्शनाश्वासि = तस्याः प्रियायाः शकुन्तलायाः ये भावाः अनुरागव्यञ्जकस्निग्धकटाक्षविक्षेपादिचेष्टाविशेषाः तेषां दर्शनेन अवलोकनेन आश्वासि सन्तुष्टमस्ति। (यतः) मनसिजे = कामे, अकृतार्थेऽपि = असफलेऽपि उभयप्रार्थना = प्रियायाः मम चान्योन्यानुरागः, रतिम् + प्रीतिम्, कुरुते + उत्पादयति।

राजा—(मन में) यद्यपि (अथवा अपनी इच्छा के अनुसार) शकुन्तला का प्राप्त हो जाना (अपने पिता कण्व के आधीन होने तथा उनके भी इस समय यहाँ उपस्थित न होने आदि के कारण) सरल नहीं है, किन्तु उसके भावों को देखकर मेरा मन सन्तुष्ट हो गया है। (क्योंकि) कामदेव के सफल न होने पर भी नायक-नायिका की परस्पर- प्रार्थना (अथवा इच्छा) दोनों के (हृदयों में) प्रेम को उत्पन्न करती ही है।

पाठभेद—१. दर्शनायासि—दर्शन के प्रयत्न वाला।

Important

(मुस्करा कर) इस भाँति अपने भावों के अनुसार ही अपने प्रिय व्यक्ति के मनोभावों के सम्बन्ध में सम्भावना करने वाला प्रेमीजन हँसी को प्राप्त हुआ करता है। (अथवा अपमानित हुआ करता है।)

अलंकार तथा छन्दः—उपर्युक्त श्लोक में पूर्वार्ध (विशेष) का परार्ध के (सामान्य के) द्वारा समर्थन किये जाने से 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है।। द्वितीय पंक्ति में 'विरोधाभास' अलंकार भी हो सकता है क्योंकि काम के असफल होने पर रति (सम्भोग) की उत्पत्ति में विरोध आता है। किन्तु रति का अर्थ 'प्रेम' करने पर उसका परिहार हो जाता है। पूरे श्लोक में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार की सम्भावना भी की जा सकती है। इसमें आर्या छन्द है।

व्याकरणः—**विषण्णः** = वि + सद् + क्त । **वयस्य** = वयस- + यत् (य) **निर्विण्णः** = निर् + विद + क्त । नियत + नि = यम् + क्त । **शूल्यम्** = शूल + यत् (य) । **प्रत्यूषः** = प्रति + उष् + क (अ) । **अवहीनेषु** = अव + हा (त्यागे) + क्त (त) यहाँ "ओदितश्च" (अष्टा० ८।२।४५) से त को न और "घुमास्थागापा जनातिसां हलि" ॥ अष्टा० ६।४।६६ । से 'आ' के स्थान पर 'ई' हो जाता है। **धन्य** = धन + यत् (य) । **बाणासन** = बाण + अस् = ल्युट् (अन) । **सुलभा** = सु + लभ् + खल् (अ) । **आश्वासि** = आ + श्वास् + णिनि । **मनसिजे** = मनसि + जन् + ड (अ) सप्तमी । **अभिप्राय** = अभि + प्री + घञ् ।

समास आदिः—**मध्याह्ने** = अह्नः मध्यम् = मध्याह्नम् तस्मिन् । **ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु** = पादपानां छाया पादपच्छायम्, ग्रीष्मेण विरलं पादपच्छायं यासु तासु (बहुव्रीहि) । **पत्रसंकरकषायाणि** = पत्राणां संकरेण कषायाणि (तत्पुरुष) । **अनियतवेलम्** = अनियता वेला यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि) । **शूल्यमांसभूयिष्ठः** = शूले संस्कृतम् शूल्यम्, शूल्यं मांसं भूयिष्ठं यस्मिन् सः (बहुव्रीहि) । **तुरगानुधावनकण्डितसंधे** = तुरगेण अनुधावनम्, तेन कण्डिताः सन्धयः यस्य तस्य (बहुव्रीहि) । **प्रत्यूषे** = प्रत्यूषति पीडयति कामुकान् इति प्रत्यूषः तस्मिन् । **शकुनिलुब्धकैः** = शकुनीनां लुब्धकैः (तत्पुरुष) । **वनग्रहणकोलाहलेन** = वनग्रहणस्य कोलाहलेन (तत्पुरुष) । **कृताचारपरिक्रमम्** = कृतः आचारस्य स्नानादेः परितः क्रमः येन तम् (बहुव्रीहि) । **बाणासन** = बाणाः अस्यन्ते अनेन (बाण जिसके द्वारा फेंके जाते हैं।) **बाणासनहस्ताभिः** = बाणासनं धनुः हस्ते यासां ताभिः (बहुव्रीहि) । **विकलः** = विगताः कलाः यस्य सः (जिसके शरीर के अंग नष्ट हो गये हैं। **तद्भावदर्शनाश्वासि** = तस्याः भावः तद्भावः तस्य दर्शनं तेन आश्वसिति इति । **अकृतार्थः** = न कृतः अर्थः येन स । **उभयप्रार्थना** = उभययोः प्रार्थना (तत्पुरुष) । **आत्माभिप्रायसंभावितेष्टजनचित्तवृत्तिः** = आत्मनः अभिप्रायेण संभाविता इष्टजनस्य चित्तवृत्तिः येन सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**विदूषकः** = यह संस्कृत नाटकों में हास्य-रस का एक पात्र होता है जो कि नायक का मित्र तथा विश्वासपात्र होता है। नायक के प्रेम व्यापारों में वह नायक की सहायता करता है। इसका शरीर, वेष, भाषा हास्योत्पादक हुआ

करते हैं। इसे नायक का नर्मसचिव अथवा नर्मसुहृत् भी कहा गया है। यह प्राकृत भाषा में बोलता है। इसका मुख्य कार्य अपने विकलांगों, विचित्र वेषभूषा तथा व्यंग्योक्तियों के द्वारा हास्य उत्पन्न करना होता है। "अन्यो हास्यकृच्चविदूषक:" दशरूपक २।८ ॥ "विकृतांगवचोवैषैर्हास्यकारी विदूषक:" । रसार्णवसुधाकर । "कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः । हास्यकरः कलहरतिविदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः" ॥ साहित्यदर्पण ३।४२ ॥ **दिष्टम्**—भाग्य । यहाँ पर इसका प्रयोग दुर्भाग्य अर्थ में किया गया है। **शूल्य०**—काँटे पर भुना हुआ। **दास्याः पुत्रैः**—दासी-पुत्र—अर्थात् नीच । **शकुनिलुब्धकः**—पक्षियों का हनन करने वाले अर्थात् बहेलिये । **वनग्रहणकोलाहलेन**—वन को घेरने के शोर से। **गण्डस्योपरि पिटकः संवृत्तः** = यह एक लोकोक्ति है। इसमें पिटकः के स्थान पर "पिण्डकः" तथा "विस्फोटकः" पाठ भी है। इसका अर्थ है—"कपोल (गाल) के ऊपर फोड़ा" अथवा "फोड़े पर फोड़ा", 'व्रण अथवा घाव पर घाव', हिन्दी में इसके लिये "जले पर नमक छिड़कना" का प्रयोग किया जाता है। इसका भाव यह है कि आपत्ति पर आपत्ति चली आ रही है। यह दुःखपरम्परा की द्योतक है। **अवहीनेषु** = पीछे छूट जाने पर। **ह्यः किल०.. इत्यादि** = इस वाक्य से ज्ञात होता है कि प्रथम अंक की घटनाओं तथा द्वितीय अंक की घटनाओं के बीच केवल एक दिन का ही अन्तर है। **अक्ष्णोः प्रभातम्** = जागते जागते ही रात्रि समाप्त हो गई। **कृताचार-परिक्रम** = प्रतिदिन किये जाने वाले कार्यों अर्थात् स्नानादि को जिसने कर लिया है। **यवनी** = यवन स्त्री। यहाँ यवन शब्द से अभिप्राय आर्येतर जाति से है। यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास ने यवनी शब्द का प्रयोग फारस (ईरान देश) की लड़कियों के लिये किया है। ये राजा के समीप सेविका के रूप में रहा करती थीं। महाकवि ने इस शब्द का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग अन्यत्र भी किया है यथा—"पारसीकांस्ततो जेतुं"..."यवनीमुखपद्मानाम्" रघुवंश ४।६०-६१ ॥ **कामम्** = अपनी इच्छा के अनुसार, अथवा भले ही, अथवा माना कि, अथवा अत्यधिकरूप से। यह अव्यय है। **तद्भावदर्शनाश्वासि** = उसके (शकुन्तला) के भाव को देखकर संतुष्ट अथवा आनन्दित होता है। वस्तुतः भाव तो अदृश्य पदार्थ है। अतः यहाँ इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि भाव को अभिव्यक्त करने वाली चेष्टा अथवा चेष्टायें। चेष्टाओं को देखकर उनके आधार पर हृद्गत भाव का अनुमान कर लिया जाता है। **मनसिजे अकृतार्थेऽपि** = कामदेव के कृतार्थ (सफल) न होने पर भी अर्थात् रतिसुख प्राप्त न होने पर भी ॥ इस अंक के इस प्रथम श्लोक में 'विलास' नामक 'प्रतिमुखसंधि' का अंग है। साहित्यदर्पण में यह श्लोक 'विलास' के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है। **लक्षण** = "समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते" साहित्यदर्पण ६।८९ ॥

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयनेयत्प्रेरयन्त्या[1] तया,

यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव ।

पाठभेद—१. प्रेषयन्त्या—भेजती हुई (चलाती हुई)।

मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी,
सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी[1] स्वतां पश्यति ॥२॥

पदच्छेदः—स्निग्धम् । वीक्षितम् । अन्यतः । अपि । नयने । यत् । प्रेरयन्त्या । तया । यातम् । यत् । च । नितम्बयोः । गुरुतया । मन्दम् । विलासात् । इव । मा । गाः । इति । उपरुद्धया । यत् । अपि । सा । सासूयम् । उक्ता । सखी । सर्वम् । तत् । किल । मत्परायणम् । अहो । कामी । स्वताम् । पश्यति ।

संस्कृत-व्याख्या—अन्यतः अपि = मत्तः अन्यस्मिन् अपि वस्तुनि अथवा अन्यस्यां दिशि अपि, नयने = नेत्रे, प्रेरयन्त्या = पातयन्त्या निक्षिपन्त्या वा, तया= शकुन्तलया, यत् स्निग्धम् = सस्नेहम्, वीक्षितम् = अवलोकितम्, [स्निग्धदृष्टि-लक्षणम्—"विकाशिस्निग्धमधुरा चतुरे विभ्रती भ्रुवौ । कटाक्षिणी साभिलाषा दृष्टिः स्निग्धाभिधीयते ॥" और भी—"स्निग्धं तद् यस्य विषयस्तत् प्रभामिलितो भवेत्" । दिवाकरः ॥] । च नितम्बयोः = कटिपृष्ठभागयोः, गुरुतया = पृथुलत्वेन भारवत्तया, विलासादिव = लीलयेव, मामुद्दिश्य अंगक्रियादिषु वैशिष्ट्यं प्रदर्श्येवेत्यर्थः, यत् मन्दम् = शनैः, यातम् = गमनं कृतम्' मा गा इति = 'न गच्छ' इत्थं उक्त्वा प्रिय-सख्या प्रियंवदया, उपरुद्धया = निवारितया तया शकुन्तलया, सा सखी = प्रियंवदा, यदपि, 'यत्किंचिद्, सासूयम् = सक्रोधम् (भ्रू-भंगसूचितेर्ष्यापूर्वकम् यथास्यात्तथा), उक्ता = अभिहिता; तत् सर्वम् = सानुरागावलोकनमन्थरगमनसभ्रूभंगवाक्यादि सर्वम्, मत्परायणम् = मामेव लक्ष्यीकृत्य आसीत्, किल = (किलेति संभावनायाम्, अतः) इति संभावयामि । अहो = आश्चर्यमेतत्, कामी = विषयीजनः, स्वताम् = सर्वत्र स्वाभिप्रायरूपताम्, पश्यति = जानाति सम्भावयतीत्यर्थः ।

दूसरी ओर अथवा दूसरी वस्तु के प्रति अपनी दृष्टि डालते हुए होने पर भी उसने (शकुन्तला ने मेरी ओर) जो प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखा, और कटि-प्रदेश के भारी होने के कारण लीला करने के सदृश जो उसने धीरे-धीरे गमन किया, 'मत जाओ' इस प्रकार (प्रियंवदा द्वारा) रोके जाने पर उसने अपनी सखी (प्रियंवदा) से क्रोधपूर्वक जो कुछ भी कहा, वह सम्पूर्ण मुझको ही लक्ष्य में रखकर किया गया था । आश्चर्य है कि कामी पुरुष सर्वत्र अपनी ही बात देखता है । (अर्थात् कामी व्यक्ति परविषयक व्यापार को भी अपने ही लिये समझ लिया करता है ।)

अलंकार तथा छन्द—कामी स्वताम्०. . .इत्यादि में विशेष के द्वारा सामान्य अर्थ का समर्थन किये जाने से 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है । "विलासाद् इव" में "उत्प्रेक्षा' अलंकार है तथा सम्पूर्ण श्लोक में "स्वभावोक्ति" अलंकार है । इसमें "शार्दूलविक्रीडित' छन्द है ।

१. कामः—काम ।

व्याकरण—[illegible] = स्निह् + [illegible] । [illegible] = यहाँ [illegible] के कारण लुङ् लकार है (माङि लुङ्—अष्टा० ३।३।१७५ ॥) गाः—गति अर्थ वाले 'इण गतौ' धातु का लुङ् लकार का मध्यम पुरुष का एकवचन का रूप है । यहाँ 'माङ्' के कारण अडागम नहीं होता है "इणो गा लुङि" अष्टा० २।४।४५ । से लुङ् में 'इ' के स्थान पर 'गा' आदेश हो जाता है ।

समास आदिः—**सासूयम्** = असूयया सहितम् । **परायणम्** = परं अयनं विषयो यस्य तत् । **स्वताम्** = स्वस्य भावः स्वता ताम् ।

टिप्पणियाँ—नितम्बयोः गुरुतया = नितम्बों (कटिभाग, चूतड़) का भारी होना स्त्रियों के सौन्दर्य का प्रतीक है । विलासाद् = अपने अभीष्ट व्यक्ति को देख कर स्त्रियों के शृंगारिक-भाव विशेष को 'विलास' कहा जाता है । इसका लक्षण—"यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् । विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसंदर्शनादिना ॥" सा० दर्पण ३। ९९-१०० ॥ नाट्यशास्त्र के अनुसार—"गमनासन-पाणिपादचेष्टासविशेषं नयनभ्रुवां च कर्म । दयितोपगमे यदप्रयत्नाद् क्रियते नूनमयं विलास उक्तः" । **सासूयम्** = असूया का अर्थ है ईर्ष्या, डाह आदि अथवा इसी आधार पर गुणों में दोष निकालना अथवा छिद्रान्वेषण करना । किन्तु यहाँ पर यह शब्द कुछ क्रोध के भाव को लिये हुए प्रयुक्त हुआ है । सखी = यहाँ पर यह शब्द प्रियंवदा के लिये प्रयुक्त हुआ है क्योंकि यहाँ पर जो संकेत प्रथम अंक के वार्त्तालाप की ओर किया गया है, वह उसी से सम्बन्धित है । **परायण** = लक्ष्य अथवा उद्देश्य । **कामी स्वतां पश्यति** = कामी व्यक्ति अपने इष्ट व्यक्ति की प्रत्येक वस्तु और कार्य को अपनेपन के ही साथ देखता है अर्थात् वह प्रेयसी के प्रत्येक हाव-भाव अथवा चेष्टा के अन्तर्गत अपने प्रेम के प्रभाव को ही खोजने का प्रयास किया करता है और समझा करता है कि उसके इष्ट व्यक्ति का प्रत्येक कार्य उसको दिखलाने के निमित्त ही किया जा रहा है ।

विदूषकः—(तथास्थित एव) [भो वअस्स, ण मे हत्थपाआ पसरन्ति । वाआमेत्तएण जीआवइस्सं ।] भो वयस्य ! न मे हस्तपादं प्रसरति । वाङ्मात्रेण जापयिष्यामि ।

विदूषक—(उसी प्रकार खड़े रहते हुए) हे मित्र (मेरे हाथ पैर नहीं चल रहे हैं । (अतः) वाणीमात्र से (आपकी) जय कहता हूँ । (अर्थात् जयकार बोलता हूँ ।)

राजा—(सस्मितम्) कुतोऽयं गात्रोपघातः ?

राजा—(मुस्कराहट के साथ) यह अंग-भंग कैसे हो गया ?

विदूषकः—[कुदो किल सअं अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि ?] कुतः किल स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि ?

विदूषकः—स्वयं (मेरी) आँखों में चोट मारकर (मेरे) आँसू का कारण क्यों पूछते हो ?

राजा—न खल्ववगच्छामि ।

राजा—मैं नहीं समझ रहा हूँ ।

विदूषकः—[भो वअस्स ! जं वेदसो कुज्जलीलं विडम्बेदि तं किं अत्तणो पहावेण णं णईवेअस्स ?] भो वयस्य ! यत् वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति, तत् किमात्मनः प्रभावेण, ननु नदीवेगस्य ?

विदूषक—हे मित्र ! बेत का वृक्ष जो कुंवड़े की चेष्टा का अनुकरण किया करता है, वह क्या अपने प्रभाव से (वैसा करता है ?) अथवा नदी के वेग के प्रभाव से ?

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम् ।

राजा—नदी का वेग उसमें कारण है ।

विदूषकः—[मम वि भवं ।] ममापि भवान् ।

विदूषक—मेरे भी (अंग-भंग के कारण) आप हैं ।

राजा—कथमिव ?

राजा—कैसे ?

विदूषकः—[एव्वं राअकज्जाणि उज्झिअ एआरिसे आउलप्पदेशे वणचरवुत्तिणा तुए होदव्वं । जं सच्चं पच्चहं सावदसमुच्छारणेहि संखोहिअसंधिबन्धाणं मम गत्ताणं अणीसो म्हि संवुत्तो । ता पसीद मे । एक्काहं वि दाव विस्समीअदु ।] एवं राजकार्याणि उज्झित्वा एतादृश आकुलप्रदेशे वनचरवृत्तिना त्वया भवितव्यम् । यत्सत्यं प्रत्यहं श्वापदसमुत्सारणैः संक्षोभितसन्धिबन्धानां मम गात्राणामनीशोऽस्मि संवृत्तः ! तत्[1] प्रसीद मे।एकाहमपि तावद् विश्राम्यताम् ।

विदूषक—इस प्रकार राजकार्यों को छोड़कर ऐसे (हिंसक वन्य पशुओं

पाठभेद—१. (ता पसाइस्सं विसज्जिदुं मं एक्काहं वि दाव विस्समिदुं ।) तत्प्रसादयिष्यामि विसर्जितुं मामेकाहमपि तावद्विश्रामितुम्—तो मैं आपको मनाऊँगा कि आप मुझे एक दिन विश्राम करने के लिये छोड़ दें।

से) व्याप्त प्रदेश में मुनि वनवासियों के सदृश व्यापार वाला हो गया हूँ । मैं सत्य कहता हूँ कि प्रतिदिन हिंसक जंतुओं का पीछा करने के कारण मेरे (शरीर के जोड़ ढीले पड़ गये हैं और मैं अपने अंगों का स्वामी नहीं रह गया हूँ । अतः मुझसे प्रसन्न हो जाइये । एक दिन तो विश्राम कर ही लीजिये ।

राजा—(स्वगतम्) अयं चैवमाह । ममापि काश्यपसुताम-नुस्मृत्य मृगयाविक्लवं चेतः । कुतः—

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो
धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु ।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः
कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः[1] ॥३॥

अन्वयः—अधिज्यं आहितसायकं इदं धनुः मृगेषु नमयितुं न शक्तः अस्मि । यैः प्रियायाः सहवसतिं उपेत्य मुग्धविलोकितोपदेशः कृतः इव ।

संस्कृत-व्याख्या—अधिज्यम् = अध्यारूढ़ा ज्या प्रत्यञ्चा यस्मिन् तदधि-ज्यम् गुणयुक्तमित्यर्थः, आहितसायकम्=आहितः लक्ष्य-भेदनाय संयोजितः सायकः वाणो यस्मिन् तत् आहितसायकम् शरयुक्तम्, इदम् = प्रत्यक्षं दृश्यमानम्, धनुः = शरासनम्, मृगेषु = हरिणेषु, नमयितुम् = चालयितुम् (कर्णान्तिकमाकर्ष्टु-मिति), न शक्तः अस्मि = न समर्थोऽस्मि । यैः = मृगैः, प्रियायाः = शकुन्-तलायाः, सहवसतिम् = सहवासम्, उपेत्य = प्राप्य, मुग्धविलोकितोपदेशः = मुग्धानि स्वभावसुन्दराणि विलोकितानि अवलोकनानि तेषामुपदेशः शिक्षणं, कृत इव = दत्त इव ।

राजा—(मन में) यह (विदूषक) इस प्रकार कह रहा है और मेरा भी मन शकुन्तला का स्मरण करके शिकार की ओर से उदासीन हो गया है । क्योंकि—

प्रत्यञ्चा चढ़े हुए और वाण-सन्धान किये गये इस धनुष को मृगों पर चलाने में मैं समर्थ नहीं हूँ, जिन मृगों ने मेरी प्रिया (शकुन्तला) के साथ को प्राप्त करके मानों (उसे) मनोहर दृष्टिपात का उपदेश दिया है ।

अलंकार तथा छन्द—इस श्लोक में उत्प्रेक्षा तथा काव्यलिंग अलंकार हैं । इसमें 'पुष्पिताग्रा' नामक छन्द है ।

व्याकरण—जापयिष्यामि = जि + णिच् + लृट् । यहाँ 'क्रीङ्जीनां णौ'

---

[1] पाठभेद—लोचनकान्तिसंविभागः (नयशोभा का परस्पर विभाजन) ।

(अष्टा० ६।१।४८) से जि के 'इ' को आ तथा "अतिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग्णौ" (अष्टा० ७।३।३६) से पुक् (प्) हो जाता है । **अनुस्मृत्य** = अनु + स्मृ + ल्यप् । **नमयितुम्** = नम् + णिच् + तुमुन् । **आहत** = आ + धा + क्त । यहाँ 'धा' के स्थान पर 'हि' हो जाता है । **उपेत्य** = उप + इ + ल्यप् । प्रिया = प्री + क (अ) । इसमें "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" से 'क' प्रत्यय हो जाता है । मुग्ध = मुह् + क्त ।

समास आदि—**हस्तपादम्** = हस्तौ च पादौ च (द्वन्द्व समास) । **श्वापदाः** = शुनः पदानि श्वापदानि श्वापदानीव पदानि येषां ते श्वापदाः । **अधिज्यम्** = अधिगता ज्या यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि) । **आहितसायकम्** = आहितः सायकः यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि) । प्रिया = प्रीणातीति प्रिया । **मुग्धविलोकितोपदेशः** = मुग्धस्य विलोकितस्य उपदेशः (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**वाङ्मात्रेण** = केवल वाणी से अर्थात् हाथ आदि उठाकर नहीं । **जापयिष्यामि** = जयकार बोलूँगा; 'आपकी जय हो' ऐसा कहकर ही आपका अभिनन्दन करूँगा । **कुब्जलीलाम्** = बड़े पुरुष की भाँति चेष्टा करना । **विडम्बयति** = अनुकरण करता है । **आकुलप्रदेशे** = हिंसक जन्तुओं से व्याप्त प्रदेश में अर्थात् भयानक स्थान में । **सत्यत्वम्** = सचमुच, सत्य कहता हूँ । **श्वापदानामनुसरणैः** = हिंसक पशुओं को भगाने अथवा उनका पीछा करने से । **गात्राणाम्** = गात्र शब्द के एकवचन के प्रयोग से गात्र शब्द का अर्थ होता है "शरीर" तथा बहुवचन के प्रयोग से अर्थ होता है "अंग" । गात्राणामनीशः = गात्राणाम् + अन् + ईशः = जिसका अपने शरीर के अंगों पर नियन्त्रण नहीं रहा है ऐसा । **अनुस्मृत्य** = शकुन्तला का स्मरण करके । **नमयितुम्** + चलाने में । अधिज्यम् = जिस पर प्रत्यञ्चा (डोरी) चढ़ी हुई है । **आहितसायकम्** = रक्खा हुआ है सायक (बाण) जिस पर ऐसे धनुष को । **सहवसतिम्** = सहवास, साथ साथ रहना । **प्रिया** = मन को प्रसन्न करने वाली । **मुग्धविलोकितोपदेश** = मनोहर अथवा अकृत्रिम दृष्टिपात का उपदेश । मुग्ध शब्द के मनोहर और अकृत्रिम दोनों ही अर्थ होते हैं । मृगों ने शकुन्तला को सुन्दरता से युक्त देखना सिखलाया है । अतः मैं उन पर बाण नहीं चला सकता हूँ । यहाँ "लोचन-कान्ति-संविभागः" पाठभेद का अर्थ है—मृगों ने शकुन्तला के साथ मानों अपने नेत्रों के सौन्दर्य का विभाजन कर लिया है । इस उपर्युक्त श्लोक में अनुस्मृति नामक तीसरी मदनावस्था का वर्णन किया गया है । इसका लक्षण है—अर्थानामनुभूतानां देशकालानुवर्तिनाम् । सातत्येन परामर्शो मानसः स्यादनुस्मृतिः ।।

विदूषकः—(राज्ञो मुखं विलोक्य) [अत्तभवं किं वि हिअए करिअ मंतेदि । अरण्ये मए रुदिअं आसि ।] अत्रभवान् किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते । अरण्ये मया रुदितमासीत् ।

विदूषक—(राजा के मुख की ओर देखकर) आप कुछ हृदय में रखकर विचार कर रहे हैं। मैंने (तो) अरण्य-रोदन ही किया।

राजा—(सस्मितम्) किमन्यत्। अनतिक्रमणीयं मे सुहृद्वाक्य-मिति स्थितोऽस्मि।

राजा—(मुस्कराहट के साथ) और क्या ? मैं मित्र के वचन का उल्लंघन नहीं कर सकता हूँ। अतः (आखेट से) रुक गया हूँ।

विदूषकः—[चिरं जीअ।] चिरं जीव।

[इति गन्तुमिच्छति]

विदूषक—आप चिरायु हों।

[यह कहकर जाना चाहता है।]

राजा—वयस्य ! तिष्ठ। सावशेषं मे वचः।

राजा—हे मित्र ! ठहरो। मेरी बात अभी शेष है।

विदूषकः—[आणवेदु भवं।] आज्ञापयतु भवान्।

विदूषक—आप आज्ञा दीजिये।

राजा—विश्रान्ते भवता ममाप्यनायासे[1] कर्मणि सहायेन भवितव्यम्।

राजा—आराम कर चुके हुए आप मेरे भी एक सरल कार्य में सहायक हों।

विदूषकः—[किं मोदअखज्जिआए[2]। तेण हि अअं सुगहीदो खणो।] किं मोदकखादिकायाम्। तेन ह्ययं सुगृहीतः क्षणः।

विदूषक—क्या लड्डू खाने में ? तब तो यह समय बहुत ही सुन्दर है। (अर्थात् मुझे स्वीकार है)।

राजा—यत्र वक्ष्यामि। कः कोऽत्र भोः ?

राजा—जिसमें (जिस कार्य के बारे में) मैं कहूँ। अरे ! यहाँ कोई है ?

(प्रविश्य)

(प्रवेश करके)

दौवारिकः—(प्रणम्य) [आणवेदु भट्टा।] आज्ञापयतु भर्ता।

पाठभेद—१. ममाप्येकस्मिन्ननायासे—मेरे भी एक सरल कार्य में। २. (खंडिआए) खण्डिकायाम्—खाँड़ में।

द्वारपाल---(प्रणाम करके) स्वामी, आज्ञा दीजिये ।

व्याकरण---**विश्रान्त** = वि + श्रम् + क्त । **मोदकः** = मुद् + णिच् + ण्वुल् (अक) । **खादिका** = खाद् + ण्वुल् (अक) + । **दौवारिकः** = द्वार + ठक् (इक) "द्वारादीनां च" अष्टा० ७।३।४ से मध्य में 'औ' हो जाता है ।

समास आदि:---**सावशेषम्** = अवशेषेण सह (बहुव्रीहि) । **मोदकखादिकायाम्**---मोदयते इति मोदकः, मोदकानां खादनं मोदकखादिका तस्याम् । **दौवारिकः** = द्वारे नियुक्तः ।

टिप्पणियाँ---**मन्त्रयते** = आप मन ही मन कुछ विचार कर रहे हैं । **अरण्ये मया रुदितमासीत्** = "अरण्ये रुदितम्" (अरण्यरोदन) यह एक मुहावरा है । मैंने अरण्यरोदन किया । इसका भाव यह है कि मैंने व्यर्थ ही कहा । जिस भाँति वन में रोने को कोई नहीं सुना करता है वैसे ही मेरी बात को भी किसी ने नहीं सुना । इस मुहावरे का प्रयोग संस्कृत में प्रचुर मात्रा में मिलता है । **स्थितोऽस्मि** = मैं रुक गया हूँ अर्थात् अब मैं शिकार खेलने से रुक गया हूँ (मैं अब शिकार में नहीं चल सकूँगा ।) **सावशेषम्** = अवशिष्ट; अर्थात् जिसमें अभी कुछ और कहना शेष है । **अनायासे** = अन् + आयासे । जिसमें आयास = परिश्रम नहीं है अर्थात् सरल । **सुगृहीतः क्षणः**---यह अवसर (क्षण) मैंने ठीक रूप में पकड़ लिया है, अर्थात् आपकी बात मुझे स्वीकार है । **भर्त्ता** = स्वामी । नाटकों में निम्नश्रेणी के पात्रों द्वारा 'राजा' इसी प्रकार के शब्दों द्वारा सम्बोधित किया जाता है ।

राजा---रैवतक ! सेनापतिस्तावदाहूयताम् ।

राजा---रैवतक ! सेनापति को तो बुलाओ ।

दौवारिकः---(तह) तथा । (इति निष्क्रम्य सेनापतिना सह पुनः प्रविश्य) [एसो अण्णावअणुक्कण्ठो भट्टा इदो दिण्णदिट्ठी एव्व चिट्ठदि । उपसप्पदु अज्जो ।] एष आज्ञा-वचनोत्कण्ठो भर्त्तेतो दत्त-दृष्टिरेव तिष्ठति । उपसर्पत्वार्यः ।

द्वारपाल---जैसी आज्ञा । (ऐसा कहकर बाहर जाकर, सेनापति के साथ पुनः प्रवेश करके) आज्ञा देने के निमित्त उत्कण्ठायुक्त स्वामी इधर ही दृष्टि लगाये हुए बैठे हैं । आर्य समीप जायें ।

सेनापतिः---(राजानमवलोक्य) दृष्टदोषापि स्वामिनि मृगया केवलं गुण एव संवृत्ता । तथा हि देवः---

[illegible]र्ज्या[illegible]क्रूरपूर्वं

रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम् ।

अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ॥४॥

(उपेत्य) जयतु स्वामी। गृहीतश्वापदमरण्यम्। किमन्यत्रावस्थीयते।

अन्वय--गिरिचरः नागः इव देवः अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैः अभिन्नम् अपचितम् अपि व्यायतत्वात् अलक्ष्यं प्राणसारं गात्रं बिभर्ति।

संस्कृत-व्याख्या--गिरिचरः = पर्वतविहारी, नाग इव = गज इव, देवः--महाराजः, अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वम् = अनवरतं सततं धनुषः कार्मुकस्य ज्यायाः गुणस्य आस्फालनेन आकर्षणेन क्रूरः कठिनः पूर्वः पूर्वभागः यस्य तत्; रविकिरणसहिष्णुः = सूर्यकिरणसहनशीलम्, स्वेदलेशैः = स्वेदस्य घर्मोदकस्य लेशैः कणैः, अभिन्नम् = विरहितम्, अपचितमपि = क्षीणमपि, व्यायतत्वात् = परिपुष्टत्वात्, अलक्ष्यम् = क्षीणत्वेन अप्रतीयमानम्, प्राणसारम् = प्राणो बलमेव सारः स्थिरांशो यत्र तत्, गात्रम् = शरीरम्, बिभर्त्ति = धारयति। **नागशरीर-पक्षे**--अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वम् = अनवरतम् धनुषः प्रियालद्रुमस्य ज्यायां भूमौ आस्फालनेन क्रूरः कठिनः पूर्वभागः यस्य तत्, रविकिरणसहिष्णु = सूर्या-तपसहनशीलम्, स्वेदलेशैरभिन्नम् = स्वेदजलरहितम्, अपचितमपि = कृशमपि, व्यायतत्वात्, अलक्ष्यम् = अज्ञेयम्, प्राणसारम् = बलयुक्तम्, गात्रं बिभर्त्ति।

सेनापति--(राजा को देखकर) जिसके दोषों को देख लिया गया है इस प्रकार की मृगया स्वामी (राजा) के लिये केवल गुण ही हो गई है क्योंकि--महाराज पर्वत पर घूमने वाले हाथी के समान बलस्वरूप सार वाले शरीर को धारण किये हुए हैं, जिसका पूर्वभाग निरन्तर धनुष की प्रत्यंचा के खींचने के कारण कठोर हो गया है, जो सूर्य की किरणों को सहन करने में समर्थ है, जो पसीने की बूंदों से रहित है, जो कृश होने पर भी पुष्टता के कारण (दुर्बल) नहीं दिखाई देता है। (समीप जाकर) स्वामी की जय हो। वन के हिंसक जन्तु घेर लिये गये हैं। अब आप यहाँ पर क्यों स्थित हैं?

अलंकार तथा छन्दः--यहाँ 'उपमा' अलंकार है। उक्त श्लोक में 'मालिनी' वृत्त है।

व्याकरण--**सहिष्णु** = सह् + इष्णुच्। **अपचितम्** = अप + चि + क्त। **व्यायत** = वि + आ + यम् + क्त।

समास आदिः--**दृष्टदोषा** = दृष्टाः दोषा यस्यां सा (बहुव्रीहि)। **रवि-किरणसहिष्णुः** = रवेः किरणानां सहिष्णुः (तत्पुरुष)। **प्राणसारम्** = प्राणः सारः यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)। अथवा प्राणस्य सारम् (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—सेनापतिः—मत्स्यपुराण के अनुसार सेनापति का लक्षण निम्न है :—

कुलीनः शीलसम्पन्नो धनुर्वेदविशारदः ।
हस्तिशिक्षाऽश्वशिक्षासु कुशलः श्लक्ष्णभाषणः ॥
निमित्ते शकुनज्ञाने वेत्ता चैव चिकित्सिते ।
कृतज्ञः कर्मणां शूरस्तथा क्लेशसह ऋजुः ॥
व्यूहतत्त्वविधानज्ञः फल्गुसारविशेषवित् ।
राज्ञा सेनापतिः कार्यो ब्राह्मणः क्षत्रियोऽथवा ॥
म० पु० अध्याय १८९ ॥

दृष्टदोषा—जिसमें दोष देखे गये हैं । शिकार खेलना राजा के मुख्य दुर्व्यसनों में से एक है । 'पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् । एतत् कष्टतमं विद्यात् चतुष्कं कामजे गणे' ॥ मनु० अ० ७।५० ॥ कामन्दक में भी—'पानं स्त्री मृगया च यथा द्यूतं व्यसनानि महीपतेः' ॥ काम० १४।६१ ॥ अनवरत०. . .इत्यादि श्लोक के दो अर्थ किये जा सकते हैं (१) राजा के शरीर के पक्ष में (२) हाथी के शरीर के पक्ष में । राजा के शरीर के पक्ष में—धनुष की डोरी की निरन्तर रगड़ के कारण जिसके हाथ का अग्रभाग कठोर हो गया है । हाथी के पक्ष में—सर्वदा प्रियाल नामक वृक्ष की जड़ में रगड़ते रहने के कारण जिसके शरीर का अग्रभाग कठोर हो गया है । यहाँ धनुष एवं ज्या शब्दों के दो-दो अर्थ हैं— धनुष प्रियाल नामक वृक्ष । ज्या = धनुष की डोरी तथा भूमि । शेष विशेषणों के अर्थ दोनों पक्षों में लगभग एक से ही हैं । **स्वेदलेशैः अभिन्नः** = पसीने की बूँदों से रहित । इससे यह बात स्पष्ट होती है कि राजा का शरीर अत्यन्त दृढ़ तथा पुष्ट है । इसी कारण परिश्रम करने से उसके शरीर से पसीना नहीं निकला करता है । इससे उसका श्रमजयी होना सिद्ध होता है । **अपचितम्** = मोटापा न होने के कारण कृश । **व्यायतत्वात्** = शरीर की पुष्टता अथवा विशालता के कारण । **अलक्ष्यम्**—शरीर की पुष्टता अथवा विशालता के कारण उसकी दुर्बलता दृष्टिगोचर नहीं होती थी । **प्राणसारं गात्रम्** = बलरूपी सार वाले शरीर को अथवा बल के सारभूत शरीर को ।

राजा—मन्दोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माढव्येन ।

राजा—शिकार की निन्दा करने वाले माढव्य ने मुझे हतोत्साह कर दिया है ।

सेनापतिः—(जनान्तिकम्) सखे, स्थिरप्रतिबन्धो भव । अहं तावत् स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनुवर्तिष्ये । (प्रकाशम्) प्रलपत्वेष वैधेयः[1] । ननु प्रभुरेव निदर्शनम् ।

पाठभेद—१. वैधवेयः (विधवा का पुत्र) ।

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः ॥५॥

अन्वय—वपुः मेदश्छेदकृशोदरं लघु उत्थानयोग्यं भवति । सत्त्वानामपि भयक्रोधयोः विकृतिमत् चित्तं लक्ष्यते । स च धन्विनां उत्कर्षः यत् चले लक्ष्ये इषवः सिध्यन्ति । मृगयां मिथ्या एव व्यसनं वदन्ति, ईदृक् विनोदः कुतः ?

संस्कृत-व्याख्या—वपुः = आखेटकारिणः पुरुषस्य शरीरम्, मेदश्छेदकृशोदरम् = मेदसां वसानां छेदेन न्यूनतया कृशं क्षीणं उदरं यस्य तत्, (अतः) लघु = क्रियाशीलम्, (ततः), उत्थानयोग्यम् = उद्यमयोग्यं, भवति = संजायते । सत्त्वानामपि = जन्तूनामपि, भयक्रोधयोः = भयस्य क्रोधस्य चावस्थायाम्, विकृतिमत् = विकृतियुक्तम् क्षुब्धम् वा, चित्तम् = मनः, लक्ष्यते = (चेष्टाविशेषदर्शनेन) ज्ञायते । स च = एष च, धन्विनाम् = धनुर्धारिणाम्, उत्कर्षः = नैपुण्यातिशयः, यत् चले = चञ्चले, लक्ष्ये = शरव्ये, इषवः = बाणाः, सिध्यन्ति = कृतकार्या भवन्ति, न तु कदाचित् स्खलन्तीत्यर्थः । मृगयाम् = आखेटम्, मिथ्यैव = व्यर्थमेव, व्यसनम् = दुर्गुणम्, वदन्ति = कथयन्ति, ईदृग् = ईदृशः, विनोदः = मनोरंजनम्, कुतः = कुत्रास्ति, न कुतोऽपीत्यर्थः । मृगयायां अनेकाः गुणाः दृश्यन्ते, अतो मृगया न व्यसनमित्यर्थः ।

सेनापति—(राजा न सुन सके, इस प्रकार चुपके से) हे मित्र ! तुम अपने आग्रह पर दृढ़ रहना । मैं तो महाराज की ही इच्छा का अनुसरण करूँगा । (प्रकट रूप से) इस मूर्ख को बकने दीजिये । । इस विषय में स्वामी ही प्रमाण हैं ।

(इस शिकार खेलने से) शरीर, चर्बी (वसा) के छँट जाने के कारण घटे हु पेट वाला, हलका अथवा चुस्त और उद्योग करने योग्य हो जाता है । जन्तुओं का भी भय तथा क्रोध की अवस्था में मन क्षुब्ध अथवा विकारयुक्त (हो जाता है ऐसा) देखा जाता है । यह धनुर्धारियों के उत्कर्ष की बात है कि चंचल लक्ष्य पर उनके बाण सफल होते हैं । शिकार खेलने को व्यर्थ ही लोग व्यसन कहते हैं । ऐसा मनोरंजन (अन्यत्र) कहाँ ?

अलंकार तथा छन्दः—उपर्युक्त श्लोक में "उत्कर्षः स च" मे 'च' से क्रियाओं का एकत्रीकरण होने से 'समुच्चय' अलंकार है । श्लोक की प्रथम तीन पंक्तियाँ शिकार खेलने के व्यसन न होने के प्रति कारण हैं अतः काव्यलिंग अलंकार है । इसमें 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है ।

व्याकरण—छेद = छिद् + घञ् । **उत्थान**—उत् + स्था + ल्युट् (अन्) । **उत्कर्ष**—उत् + कृष् + घञ् (अ) । **धन्विन्**—धन्व + इनि (इन्) ।

समास आदि:—**मेदश्छेदकृशोदरम्**—मेदसः छेदेन कृशं उदरं यस्य तत् (बहुव्रीहि) । **उत्थानयोग्यम्**—उत्थानस्य योग्यम् (तत्पुरुष) ! **भयक्रोधयोः**—भयं च क्रोधश्च भयक्रोधौ (द्वन्द्व) तयोः ।

टिप्पणियाँ—**मृगयापवादिना** = शिकार की निन्दा करने वाले । **माढव्य** = विदूषक का नाम । **स्थिरप्रतिबन्धो भव** = अपने आग्रह पर अड़े रहना । यहाँ सेनापति का चरित्र दर्शनीय है । वह स्वयं शिकार खेलने से ऊब गया है । किन्तु राजा को प्रसन्न रखने के लिये शिकार का गुण-गान करता है । **चित्तवृत्तिम्** = मैं राजा की इच्छा के अनुसार बात करूँगा । **वैधेयः** = मूर्ख—"अज्ञे मूढयथाजातमूर्खवैधेयबालिशाः" । **मेदश्छेदकृशोदरम्** = चर्बी के छँट जाने पर (कम हो जाने पर) पेट की स्थूलता कम हो जाती है । **सिध्यन्ति** = सिद्ध होते हैं अर्थात् सफल होते हैं । **व्यसनम्** = दुर्गुण । **व्यसन का लक्षण** = "यस्माद् व्यस्यति श्रेयस्तस्माद् व्यसनमुच्यते व्यसत्यधो वा व्रजति तस्मात्तत् परिवर्जयेत् ॥" कामन्दकनीति १४-१९ ॥ मनुस्मृति के अनुसार मृगया को कामज-व्यसन माना गया है:—"मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥" मनुस्मृति ७।४७ ॥ महाकवि कालिदास ने मृगया के गुणों का वर्णन अपने महाकाव्य रघुवंश में भी किया है:—"परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम् । श्रमजयात् प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥" रघुवंश ९।४९ ॥ इस स्थल पर राजा के चित्तानुवर्तन के कारण **दाक्षिण्य**नामक नाटकीय लक्षण का ज्ञान प्राप्त होता है। **लक्षण** = "दाक्षिण्यं चेष्टया वाचा परचित्तानुवर्त्तनम् ॥" (साहित्यदर्पण ६।१८८ ॥) । इस श्लोक में दोष का वर्णन गुणरूप में किया गया है अतः यहाँ पर मृदव नामक **वीथिका** अंग है । लक्षण—दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ॥ साहित्यदर्पण ६।२६३ ॥

विदूषकः—(सरोषम्) [अवेहि रे उच्छाहहेतुअ[1] । अत्तभवं पकिदिं आपण्णो । तुमं दाव अडवीदो अडवीं आहिण्डन्तो णरणासिआलोलुवस्स जिण्णरिच्छस्स कस्स वि मुहे पडिस्ससि ।] अपेहि रे उत्साहहेतुक[1] । अत्रभवान् प्रकृतिमापन्नः । त्वं तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णऋक्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि ।

विदूषक—(क्रोध के साथ) अरे उत्साहवर्धन करने वाले ! दूर जा । पूज्य

---

१. यह वाक्य निर्णयसागर के संस्करण में उपलब्ध नहीं होता है ।

महाराज तो अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गये हैं। मूर्ख वन से दूसरे वन में भ्रमण करता हुआ मनुष्य की नाक के लोभी किसी वृद्ध रीछ के मुख में पड़ेगा।

राजा—भद्र सेनापते ! आश्रमसंकृष्टे स्थिताः स्मः। अतस्ते वचो नाभिनन्दामि। अद्य तावत्—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्रब्धं क्रियतां वराहततिभि[1]र्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥६॥

अन्वय—महिषाः शृंगैः मुहुः ताडितं निपानसलिलं गाहन्ताम्। छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थं अभ्यस्यतु। वराहततिभिः विश्रब्धं पल्वले मुस्ताक्षतिः क्रियताम्। इदं अस्मद्धनुः च शिथिलज्याबन्धं विश्रामं लभताम्।

संस्कृत-व्याख्या—महिषाः=शृंगिपशुविशेषाः, शृंगैः=विषाणैः, मुहुः=वारं वारं; ताडितम्=आलोडितम्, निपानसलिलम्=निपानस्य जलाशयस्य सलिलं नीरं जलम्, गाहन्ताम्=विलोडयन्तु। यथेष्टं स्नानं कुर्वन्तु इत्यर्थः। छायाबद्धकदम्बकम्=छायायां बद्धं रचितं कदम्बकं समूहो येन तत्, मृगकुलम्=हरिणवृन्दम्, रोमन्थम्=चर्वितचर्वणम्, अभ्यस्यतु=पुनः पुनः अनुतिष्ठतु। वराहततिभिः=वराहाणां शूकराणां ततिभिः पंक्तिभिः समूहैः वा, विश्रब्धम्=निर्भयं यथास्यात्तथा, पल्वले=स्वल्पजलाशये, मुस्ताक्षतिः=मुस्तानां तदाख्यतृणविशेषाणां क्षतिः कन्दग्रहणार्थं मूलोत्पाटनेन ध्वंसः, क्रियताम्=विधीयताम्। इदम्=एतत्, अस्मद्धनुः=अस्माकं कार्मुकम्, शिथिलज्याबन्धम्=शिथिलः शिथिलीभूतः ज्यायाः मौर्व्याः बन्धः बन्धनं यस्मिन् तत्, विश्रामम्=शान्तिम्, लभताम्=प्राप्नोतु।

राजा—हे कल्याणकारिन् सेनापति ! हम लोग आश्रम के पास में ठहरे हुए हैं अतः हम तुम्हारे कथन को स्वीकार नहीं करते हैं। आज तो—

भैंसे सींगों से बारबार आलोडित किये हुए जलाशय के जल में स्नान करें। छाया में समूह बाँध कर बैठा हुआ मृगों का झुण्ड जुगाली का अभ्यास करे।

पाठभेद—१. वराहपतिभिः (सुअरों के स्वामी) यह पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है।

सूकरों के झुण्ड निर्भय होकर छोटे छोटे तालाबों में नागरमोथा उखाड़ें और हमारा यह धनुष ढीली प्रत्यंचा वाला होकर विश्राम करे।

अलंकार तथा छन्द:—यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है। कार्य एवं कारण की एक साथ उक्ति होने के कारण अतिशयोक्ति अलंकार भी हो सकता है। उक्त श्लोक में 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है।

व्याकरण:—**विश्रामम्** = पाणिनि के अनुसार शुद्ध शब्द विश्रम है। वि+श्रम्—घञ् (अ)। विश्रमः एव विश्रामः। यहाँ "प्रज्ञादिभ्यश्च" (अष्टा० ५।४।३८) से स्वार्थ में 'अण्' होकर उक्त रूप बनता है।

समास आदि:—**मृगकुलम्** = मृगाणां कुलम् (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**प्रकृतिः** = मन की स्वाभाविक अवस्था। **नरनासिकालोलुप** = मनुष्य की नाक का अभिलाषी। यह कहा जाता है कि रीछ मनुष्य की नाक को बड़े प्रेम से खाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि कोई रीछ तुम को खा जायगा। **जीर्णऋक्षस्य** = वृद्ध रीछ के। **नाभिनन्दामि** = पसन्द नहीं करता हूँ अथवा स्वीकार नहीं करता हूँ। **निपानसलिलम्**—निपान शब्द का अर्थ है हौज़। कुयें के समीप स्नानादि के निमित्त बनाया गया हुआ छोटा सा हौज़। किन्तु यहाँ पर इसका अभिप्राय तालाब से ही है। अतः 'तालाबों के जल को' अर्थ हुआ। **छायाबद्धकदम्बकम्**=छाया में झुण्ड बाँधकर बैठे हुए। **कदम्ब** = झुण्ड। **रोमन्थम्** = चबाये हुए को पुनः चबाना अथवा जुगाली करना। **विश्रब्धम्** = (विस्रब्धम्) विश्वस्त (निर्भय) होकर। **मुस्ता** = नागरमोथा। **शिथिलज्याबन्धम्** = ढीली कर दी गई है डोरी जिसकी (ऐसा धनुष)।

सेनापतिः—यत्[1] प्रभविष्णवे रोचते।

सेनापति—जो प्रभु को अच्छा लगे।

राजा—तेन हि निवर्त्तय पूर्वगतान् वनग्राहिणः। यथा न मे सैनिकास्तपोवनमुपरुन्धन्ति तथा निषेद्धव्याः। पश्य—

> शमप्रधानेषु तपोधनेषु
> गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
> स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्ता-
> स्तदन्यतेजोऽभिभवाद् वमन्ति ॥७॥

अन्वय—शमप्रधानेषु तपोधनेषु हि दाहात्मकं तेजः गूढं अस्ति। स्पर्शानुकूलाः सूर्यकान्ताः इव (ते तपोधनाः) अन्यतेजोऽभिभवात् तद् वमन्ति।

१. पाठभेद—यथा प्रभ०...।

संस्कृत-व्याख्या—शमप्रधानेषु = शमः शान्तिः प्रधानं येषु तेषु, तपोधनेषु = तपस्विषु, हि = निश्चयेन, दाहात्मकम् = दहनस्वभावकम्, तेजः = ब्रह्मवर्चसम्, गूढम् = प्रच्छन्नमस्ति । स्पर्शानुकूलाः = स्पर्शयोग्याः, सूर्यकान्ताः इव = सूर्यकान्तमणयः इव, (ते तपस्विनः), अन्य तेजोऽभिभवात् = अन्यस्य तेजसा वर्चसा अभिभवात् पराभवाद् हेतोः, तद् = स्वकीयं गूढं तेजः, वमन्ति = प्रकटयन्ति ।

राजा—तो आगे गये हुए वन घेरने वालों को लौटा लो। मेरे सैनिकों को इस प्रकार की चेतावनी दे दो जिससे वे आश्रम में विघ्न न करें। देखो—

शान्तिप्रधान तपस्वियों के अन्दर ज्वलनशील तेज छिपे हुए रूप में रहा करता है। स्पर्श करने योग्य सूर्यकान्त मणियों के सदृश, अन्य तेजों से तिरस्कृत होने पर (वे तपस्वी) उस तेज को उगलने (प्रकट करने) लगते हैं।

अलंकार तथा छन्दः—उपर्युक्त श्लोक के अन्तिम दो पदों में श्लेष होने के कारण श्लेषालंकार है तथा 'इव' उपमावाचक शब्द के द्वारा 'उपमा' अलंकार भी है। इसमें 'उपजाति' छन्द है।

व्याकरण:—**प्रभविष्णु** = प्र + भू + इष्णुच् (इष्णु) यहाँ भुवश्च (अष्टा० ३।२।१३८) से 'इष्णुच्' होता है।

समास आदि:—**प्रभविष्णवे** = प्रभवितुं शीलमस्य तस्मै। **शमप्रधानेषु** = शमः प्रधानो येषु तेषु (बहुव्रीहि)। **दाहात्मकम्**—दाहः आत्मा स्वभावः यस्य तत् (बहुव्रीहि)। **स्पर्शानुकूलाः**—स्पर्शस्य अनुकूलाः (तत्पुरुष)। **अन्य तेजोऽभिभवात्** = अन्यस्य तेजसा अभिभवात् (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**वनग्राहिणः** = वन को घेरने के निमित्त गये हुए सैनिकों को। **शमप्रधानेषु** = शम का अर्थ है संयम अर्थात् मन एवं इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेना। अतः मनोनिग्रह करने वाले। **गूढम्** = छिपा हुआ। गुप्त रूप में विद्यमान। **दाहात्मकम्** = जलाना जिनका स्वभाव है। **स्पर्शानुकूलाः** = स्पर्श के योग्य। इस विशेषण का सम्बन्ध तपस्वियों तथा सूर्यकान्त मणि दोनों से ही है। **अन्य-तेजोऽभिभवात्** = दूसरे के तेज से तिरस्कृत होने पर। तपस्वियों के पक्ष में इसका अर्थ—अन्य राजा आदि के तेज से तिरस्कृत होने पर उनका छिपा हुआ तेज प्रकट हो जाया करता है। उस तेज के द्वारा वे अपने शत्रु को नष्ट कर देते हैं। मणि के पक्ष में अर्थ—सूर्य के तेज से तिरस्कृत होने पर सूर्यकान्त मणि अपने तेज (किरणों) को प्रकट किया करती है। सूर्य के सामने इस मणि को रखने से उसमें से अधिक तीव्र किरणें निकला करती हैं। महाकवि भवभूति ने भी इस भाव का वर्णन अपने उत्तररामचरित में किया है, लव एवं चन्द्रकेतु के युद्ध-वर्णन की बात सुनकर—कहते हैं :—

न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते
स तस्य स्वो भावः प्रकृतिनियतत्वादकृतकः ।

मयूखैरश्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः
किमाग्नेयो ग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति ।।
उ० रा० च० ६।१४ ।।

वमन्ति का अर्थ यहाँ पर प्रकट करना है ।

सेनापतिः—यदाज्ञापयति स्वामी ।

सेनापति—स्वामी की जैसी आज्ञा ।

विदूषकः—[घंसदु दे उच्छाहवुत्तन्तो ।] ध्वंसतां ते उत्साहवृत्तान्तः ।

(निष्क्रान्तः सेनापतिः)

विदूषक—तेरी उत्साह वाली बात समाप्त हो ।

(सेनापति चला जाता है ।)

राजा—(परिजनं विलोक्य) अपनयन्तु भवत्यो मृगयावेशम् । रैवतक ! त्वमपि स्वनियोगमशून्य कुरु ।

राजा—(सेवकों की ओर देखकर) आप लोग अपना शिकार का वेष उतार दें । रैवतक ! तुम भी अपनी नियुक्ति को अशून्य करो (अर्थात् तुम भी अपने काम पर जाओ ।) ।

परिजनः —[जम् देव आणवेदि ।] यत् देव आज्ञापयति ।

(इत निष्क्रान्तः ।)

सेवकवर्ग—महाराज जो आज्ञा दें ।

(यह कहकर चले जाते हैं ।)

विदूषकः—[किदं भवदा णिम्मच्छिअं । संपदं एदस्सिं[1]पादवच्छाआए विरइदलदाविदाणदंसणीआए आसणे णिसीददु भवं, जाव अहं वि सुहासीणो होमि ।] कृतं भवता निर्मक्षिकम् । सांप्रतमेतस्यां पादपच्छायायां विरचितलतावितानदर्शनीयामासने निषीदतु भवान्, यावदहमपि सुखासीनो भवामि ।

१—पाठभेद—[पादवच्छाआविरइदविदाणसणाथे सिलाअले] एतस्मिन् पादपच्छायाविरचितवितानसनाथे शिलातले (इस वृक्ष की छाया से बने शामियाने से युक्त इस शिलापट्ट पर ।

विदूषक—आपने मक्खियों से रहित कर दिया (अर्थात् सबको हटाकर एकान्त कर दिया।) अब आप इस वृक्ष की छाया में, जो बनाये गये लता-वितान से सुन्दर है, आसन पर बैठिये, जिससे मैं भी सुखपूर्वक बैठ सकूं।

राजा—गच्छाग्रतः ।

राजा—आगे आगे चलो ।

विदूषकः—[एदु भवं] एतु भवान् ।

(इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ ।)

विदूषक—आप आइये ।

(दोनों चारों ओर घूमकर बैठ जाते हैं।)

राजा—माढव्य ! अनाप्तचक्षुफलोऽसि । येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम् ।

राजा—माढव्य ! तुमने अपनी आँखों का फल नहीं पाया । क्योंकि तूने देखने योग्य वस्तु नहीं देखी ।

विदूषकः—[णं भवं अग्गदो मे वट्टदि ।] ननु भवानग्रतो मे वर्तते ।

विदूषक—(एक तो) आप ही मेरे सामने हैं ।

राजा—सर्वः खलु कान्तमात्मीयं पश्यति । अहं तु तामाश्रम-ललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि ।

राजा—सब कोई अपने आत्मीय (जनों) को सुन्दर समझते हैं। मैं तो आश्रम की अलंकारस्वरूपा उस शकुन्तला को ही लक्ष्य में रखकर कह रहा हूं।

विदूषकः—(स्वगतम्) [होदु, से अवसरं ण दाइस्स ।] (प्रकाशम्) [भो वअस्स ! ते तावसकण्णआ अब्भत्थणीआ दीसदि ।] भवतु, अस्यावसरं न दास्ये । (प्रकाशम्) भो वयस्य ! ते तापसकन्यकाऽभ्यर्थनीया दृश्यते ।

विदूषक—(मन में) अच्छा, मैं इसे अवसर नहीं दूंगा। (प्रकट रूप में) प्रिय मित्र ! तुम तपस्वी की कन्या के इच्छुक दिखलाई पड़ते हो ।

समास:—निर्मक्षिकम्—मक्षिकाणाम् अभावः निर्मक्षिकम् (अव्ययीभाव)। **विर-पादपच्छायायाम्**—पादपस्य छाया इति पादपच्छाया (तत्पुरुष) तस्याम्। विर-

चितलतावितानदर्शनीयायाम्—विरचितो यो लतानां वितानः तेन दर्शनीयायाम् । **अनाप्तचक्षुःफलः**—न अवाप्तं चक्षुषः फलं येन सः (बहुव्रीहि) । **आश्रमललामभूताम्**—आश्रमस्य ललामं भूता इति ताम् । (सुप्सुपासमास) ।

टिप्पणियाँ—**ध्वंसताम्** = तेरी उत्साह बढ़ाने वाली बात समाप्त हो । **निर्मक्षिकम्** = जहाँ मक्खी भी न हो अर्थात् जहाँ से सब लोग हटा दिये गये हों वह स्थान—एकान्त । **अनवाप्तचक्षुःफलः** = नहीं प्राप्त किया है अपने नेत्रों का लाभ (फल) जिसने । (अर्थात् तुम इस प्रकार के हो, अतः तेरी आँखें असफल हैं ।) **ननु भवानग्रतो मे**—विदूषक राजा को सम्बोधित कर कह रहा है कि आप द्रष्टव्य पदार्थों में सर्वोत्तम हैं तथा आपको ही मैं अपने समक्ष प्रत्यक्ष रूप में देख रहा हूँ तब यह कैसे कहा जा सकता है कि मेरे नेत्र निष्फल हैं ? **सर्वः खलु कान्तमात्मीयम्** = सभी व्यक्ति अपने व्यक्तियों को सुन्दर समझा करते हैं । स्नेहवश होकर तुम मुझको सुन्दर मान रहे हो । **आश्रमललामभूता**—आश्रम की आभूषण-स्वरूपा । **अवसरं न दास्ये** = मैं राजा को ऐसा अवसर नहीं दूंगा कि वह शकुन्तला के बारे में कुछ अधिक बात कर सके । **अभ्यर्थनीया**—प्रार्थना के योग्य । अर्थात् तुम तपस्वी ब्राह्मण की कन्या से विवाह की प्रार्थना करना चाहते हो ।

राजा—सखे ! न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते ।

सुरयुवतिसंभव किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम् ।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ॥८॥

अन्वय—शिथिलं अर्कस्य उपरि च्युतं नवमालिकाकुसुमं इव सुरयुवतिसंभवं तत् उज्झिताधिगतं मुनेः अपत्यं किल ।

संस्कृत-व्याख्या—शिथिलम् = वृन्तात् भ्रष्टम्, अर्कस्य = मन्दारवृक्षस्य, उपरि, च्युतम्—पतितम्, नवमालिकाकुसुममिव = नवमालिका-नाम-लतायाः पुष्पमिव, सुरयुवतिसंभवम्—सुरयुवतिः अप्सरा मेनका, तस्याः संभवो जन्म यस्य तत्, तत् सा शकुन्तला, उज्झिताधिगता = उज्झितं सा मात्रा परित्यक्ता पश्चात् अधिगतं कण्वेन गृहीता, अतः मुनेः = कण्वस्य, अपत्यम् = सन्तानम्, किल = एवं श्रूयते इत्यर्थः ।

राजा—हे मित्र ! परित्याग करने योग्य वस्तु की ओर पुरुवंशियों का मन प्रवृत्त नहीं होता है । (डंठल से) शिथिल होकर आक के पेड़ के ऊपर गिरे हुए चमेली के फूल के समान सुरयुवति (अप्सरा) से उत्पन्न हुई वह कन्या (उस अप्सरा के द्वारा) छोड़ दी जाने पर प्राप्त हुई मुनि कण्व की सन्तान कही जाती है ।

अलंकार तथा है । इसमें 'आर्या' नामक छन्द है ।

व्याख्या — यमनि + क्तन् । ति (यहाँ "यनस्तिः" (अष्टा० ४।१।७७) से स्त्रीलिंग में नि प्रत्यय हो जाता है ।) **अपत्यम्** = न + पत् + य ।

समास आदि—**सुरयुवतिसंभवम्**—सुरयुवतिः संभवः उत्पत्तिस्थानं यस्य तत् (बहुव्रीहि) । **अपत्यम्** = न पतन्ति पितरः येन जातेन । निरुक्त के तृतीय अध्याय में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है :—अपत्यं कस्मात् = अपततं भवति, पितुः सकाशादेत्य पृथगिव ततं भवति । अनेन जातेन सता पिता नरके न पततीति वा । **उज्झिताधिगतम्**—उज्झितं च तत् अधिगतम् (कर्मधारय) । **तदुज्झिताधिगतम्**—तया आदौ उज्झितं पश्चात् मुनिना अधिगतम् ।

टिप्पणियाँ—**न परिहार्ये वस्तुनि** = राजा दुष्यन्त विदूषक को उत्तर दे रहे हैं कि "वह (शकुन्तला) ब्राह्मणकन्या नहीं है। वह तो क्षत्रिय—कन्या है। कण्व द्वारा उसका लालन-पालन ही किया गया है । वस्तुत : उसकी उत्पत्ति मेनका और विश्वामित्र से हुई है। अतएव वह त्याज्य नहीं है।" तात्पर्य यह है कि अग्राह्य वस्तु पर दुष्यन्त का मन कभी जाता ही नहीं। **किल** = निश्चित रूप से। **उज्झिताधिगतम्** = माता (मेनका) द्वारा परित्यक्त तथा ऋषि (कण्व) द्वारा गृहीत। **अर्कस्योपरि**—यद्यपि अन्य पुष्पों की भाँति अकौये (मन्दार) के फूल को मनुष्य अपने उपयोग में नहीं लाता तथापि डंठल से पृथक होकर मन्दार के वृक्ष के ऊपर गिरे हुए नवमालिका के फूल को लेने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होती है। उसी प्रकार शकुन्तला वस्तुतः ऋषि कण्व की कन्या नहीं है वह तो मेनका नामक अप्सरा से उत्पन्न है, विश्वामित्र उसका पिता है माता ने उसे छोड़ दिया है अतः छोड़ी गई उस कन्या के पालन-पोषण करने वालेत ऋषि कण्व हैं । उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया है ।

विदूषकः—(विहस्य) [जह कस्स वि पिण्डखज्जूरेहिं उव्वेजिदस्स तिन्तिणीए अहिलासो भवे, तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इमं अब्भत्थणा ।] यथा कस्यापि पिण्डखजूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत्, तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना ।

विदूषक—(हँसकर) जिस भाँति पिण्ड खजूर से उकताये हुए किसी व्यक्ति की इमली खाने की अभिलाषा हो, उसी भाँति उत्तम स्त्रियों का तिरस्कार करने वाले आपकी यह प्रार्थना है ।

राजा—न तावदेनां पश्यसि येनैवमादीः ।

राजा—तुमने उसको देखा नहीं है इसीलिये ऐसा कह रहे हो ।

विदूषकः—[तं खु रमणिज्जं जं भवदो वि विम्हअं उप्पादेदि ।] तत् खलु रमणीयं यद् भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति ।

विदूषक—वह अवश्य ही सुन्दर होगी जिसने आपको भी आश्चर्य में डाल दिया है।

राजा—वयस्य ! किं वहुना —

> चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
>
> रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
>
> स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
>
> धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥९॥

अन्वय—धातुः विभुत्वं तस्याः वपुः च अनुचिन्त्य मे सा विधिना चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा, मनसा नु रूपोच्चयेन कृता अपरा स्त्रीरत्नसृष्टिः प्रतिभाति ।

संस्कृतव्याख्या—धातुः = स्रष्टुः, विभुत्वम् = निर्माणसामर्थ्यम्, तस्याः = शकुन्तलायाः, वपुः = शरीरम्, च, अनुचिन्त्य = विचार्य ध्यात्वा वा, मे = मम, सा = शकुन्तला, विधिना = प्रजापतिना ब्रह्मणा वा, (प्रथमम्) चित्रे, निवेश्य = आलिख्य, परिकल्पितसत्वयोगा = परिकल्पितः कृतः सत्वस्य जीवनस्य प्राणस्य वा योगः संचारः यस्यां सा, मनसा नु = किं वा तूलिकादिभिः वाह्यकरणैः अंगेषु कठोरता स्यादिति भयात् वाह्यकरणान् विहाय अन्तःकरणेन एव, रूपोच्चयेन = रूपाणां त्रिलोकसौन्दर्याणां उच्चयेन एकत्र संग्रहेण समूहेन वा, कृता = निर्मिता, अपरा = अद्वितीया अपूर्वा वा, स्त्रीरत्नसृष्टिः = रमणीरत्ननिर्माणम्, प्रतिभाति = प्रतीयते ।

राजा—मित्र ! और अधिक क्या ?

(सृष्टि की रचना करने वाले) विधाता अथवा ब्रह्मा की निर्माणशक्ति और शकुन्तला के शरीर के सम्बन्ध में विचार करने पर वह (शकुन्तला) मुझे ब्रह्मा द्वारा पहले चित्र बनाकर, उसमें जीवन अथवा प्राणों का संचार करके, अथवा मन के द्वारा ही मानों सौन्दर्य-समूह को एकत्रित कर निर्माण की गई हुई एक अद्भुत स्त्री-रत्न प्रतीत होती है ।

अलंकार तथा छन्द—इस श्लोक में "मनसा विधिना कृता नु" के आधार पर सन्देह अलंकार की प्रतीति होती है । "अपरा सृष्टिः" पदों के द्वारा अभेद में भेद का वर्णन होने से अतिशयोक्ति अलंकर की प्रतीति होती है । श्लोक के प्रथम तीन चरणों के प्रति चतुर्थ चरण कारण है अतः यहाँ काव्यलिंग अलंकार है । इसमें "वसन्ततिलका" छन्द है ।

व्याकरण—उद्वेजितस्य = उत् + विज् + णिच् + क्त । निवेश्य = नि + विश् + णिच् + ल्यप् ।

समास आदि:—परिकल्पितसत्वयोगा—परिकल्पितः सत्वस्य योगः यस्यां सा (बहुव्रीहि) । **अपरा** = न विद्यते परा यस्याः सा ।

टिप्पणियाँ—**उद्वेजितस्य**—ऊबा हुआ अथवा जिसका मन भर गया है । अर्थात् पिण्ड खजूर खाते खाते जिसके मन में (उन पिण्ड खजूरों के खाने के प्रति) अरुचि उत्पन्न हो गई है । **स्त्रीरत्नपरिभाविनः** = स्त्रीरत्नों (उत्तम एवं श्रेष्ठ स्त्रियों) का तिरस्कार करने वाला । विदूषक राजा से कह रहा है कि "तुम्हारा भी मन अन्तःपुर की स्त्रियों की ओर से भर गया है अतः अब तुमको तपस्वि-कन्या चाहिये ।" **चित्रे निवेश्य....योगा** = चित्र में अंकित करके किया गया है प्राणों का सम्बन्ध जिसमें, ऐसी (शकुन्तला) । राजा की यह कल्पना है कि ब्रह्मा द्वारा पहले शकुन्तला के चित्र का निर्माण किया गया होगा और तदनन्तर उसमें प्राण डाल दिये गये होंगे । **रूपोच्चयेन**—रूपों का संग्रह करके अर्थात् संसार में जितने भी रूप हैं उन सबका संग्रह कर । **मनसा**—मन के द्वारा । अर्थात् अँगुलियों द्वारा स्पर्श न करके । अँगुलियों द्वारा निर्माण करने में उसके निर्दोष सौन्दर्य में किसी प्रकार दोष न आ जाय इस कारण । उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शकुन्तला का निर्माण करने में ब्रह्मा द्वारा उक्त दोनों (१-२) में से किसी एक विधि का ही प्रयोग किया गया होगा । अपरा—जिससे बड़ी अर्थात् अधिक सुन्दर कोई दूसरी स्त्री नहीं है, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ, अपूर्व, विलक्षण ।

विदूषकः—[जइ एव्वं, पच्चादेसो दाणिं रूववदीणं ।) यद्येवं, प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम् ।

विदूषक—यदि ऐसा है तब तो (उसने सभी) स्त्रियों को तिरस्कृत कर दिया ।

राजा—इदं च मे मनसि वर्तते ।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥१०॥

पदच्छेद—अनाघ्रातम् । पुष्पम् । किसलयम् । अलूनम् । कररुहैः । अनाविद्धम् । रत्नम् । मधु । नवम् । अनास्वादितरसम् । अखण्डम् । पुण्यानाम् । फलम् । इव । च । तद् । रूपम् । अनघम् । न । जाने । भोक्तारम् । कम् । इह । समुपस्थास्यति । विधिः ।

अन्वयः—अनघं तद् रूपम् [illegible] कररुहैः अलूनं किसलयम्,

अनाविद्ध रत्नम्, अनास्वादितरसं नवमधु, अखण्डं च पुण्यानां फलमिव (अस्ति)। विधिः इह कं भोक्तारं समुपस्थास्यति (इति) न जाने।

संस्कृत-व्याख्या—अनघम् = निर्मलं, निष्कलंकं, निर्दोषं वा, तद्रूपम् = तस्याः शकुन्तलायाः रूपं सौन्दर्यम्, अनाघ्रातम् = अकृतगन्धोपयोगम्, पुष्पम् = कुसुमं इव अस्ति। कररुहैः = नखैः, अलूनम् = अच्छिन्नम्, किसलयम् = नवपल्लवमिवास्ति। अनाविद्धम् = अक्षतमकुटिलं वा, रत्नम् = मणिःइवास्ति। अनास्वादितरसम् = अनास्वादितः केनापि रसनयाऽननुभूतः रसः स्वादो माधुर्यं वा यस्य तत्, नवं मधु = तत्कालमेवानीतं क्षौद्रमिवास्ति। पुण्यानाम् = सुकृतानाम्, अखण्डम् = पूर्णम्, फलमिव = परिणाम इवास्ति। विधिः = विधाता, इह = जगति अथवा शकुन्तलारूपविषये, कम् = कं जनम्, भोक्तारम् = अनुभवितारं उपभोक्तारं वा, समुपस्थास्यति = आनयिष्यति इति, न जाने = नाहं वेद्मि।

राजा—मेरे मन में यह है कि—

उसका (शकुन्तला का) निर्दोष सौन्दर्य (किसी भी व्यक्ति के द्वारा इस समय तक) न सूँघे गये हुए पुष्प के समान, नाखूनों से न छेदे गये हुए नवीन पल्लव के सदृश, न बींधे गये रत्न के समान, जिसके रस का आस्वादन नहीं किया गया है ऐसे नवीन मधु के सदृश और पुण्यकर्मों के अखण्डित फल के समान है। न जाने, विधाता किस व्यक्ति को उसका उपभोक्ता बनाएगा।

अलंकार तथा छन्दः—उपर्युक्त श्लोक में शकुन्तला के निर्दोष-सौन्दर्य के लिये अनेक प्रकार की उपमायें दी गई हैं अतः मालोपमा अलंकार है। "मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते"। साहित्यदर्पण॥ इस श्लोक में अनाघ्रात, अलून, अनाविद्ध आदि विशेषण साभिप्राय हैं, अतः परिकर अलंकार भी है। "उक्तिविशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः"॥ इसमें "शिखरिणी" छन्द है।

व्याकरणः—**अनाघ्रात** = अन् + आघ्रात = आ + घ्रा + क्त। **लूनम्** = लू + क्त (यहाँ "ल्वादिभ्यश्च" (अष्टा० ८।२।४४) से 'त' के स्थान पर 'न' हो जाता है।) **आविद्ध** = आ + व्यध् + क्त।

समास आदिः—**अनाघ्रातम्** = न आघ्रातम् इति (नञ् तत्पुरुष)। **अलूनम्** = न लूनम् इति। **अनास्वादितरसम्** = न आस्वादितः रसः यस्य तत् (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**प्रत्यादेशः**—निरादर। अर्थात् शकुन्तला की तुलना में सभी स्त्रियाँ व्यर्थ हो गईं। **अनाघ्रातम्**—जिसकी सुगन्धि किसी ने अभी तक नहीं ली है ऐसे पुष्प की तरह। इससे शकुन्तला के शरीर के सुगन्धि-युक्त होने की प्रतीति होती है। **अनाविद्धम्**—जिसमें छेद नहीं किया गया है। पाठभेद—अनाभुक्तम् = उपभोग न किया गया हुआ अर्थात् न पहना गया हुआ। **अनास्वादितरसम्**—जिसके स्वाद का रस नहीं लिया गया है ऐसा मधु। **अखण्डम्** = खण्डित न किया

हुआ अर्थात् पूरे का पूरा । **अनघम्** = निष्पाप, निर्दोष । जिसमें कोई दोष अथवा कलंक नहीं है । **समुपस्थास्यति** = लायेगा, उपस्थित करेगा, बनायेगा ।

विदूषकः—[तेण हि लहु परित्ताअदु णं भवं । मा कस्स वि तवस्सिणो इंगुदीतेल्ल-चिक्कणसीसस्स हत्थे पडिस्सदि ।] तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान् । मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलचिक्कण-शीर्षस्य हस्ते पतिष्यति ।

विदूषक—तो आप शीघ्र ही उसकी रक्षा कीजिये । (जिससे कि वह) कहीं हिंगोट का तेल लगाने के कारण चिकने सिर वाले किसी तपस्वी के हाथ में न पड़ जाय ।

राजा—परवती खलु तत्रभवती । न च संनिहितोऽत्र गुरुजनः ।

राजा—वह पराधीन है । उसके पिता (कण्व) यहाँ उपस्थित नहीं हैं ।

विदूषकः—[अत्तभवंतं अन्तरेण कीदृशो से दिट्ठिरागो ?] अत्रभवन्तमन्तरेण कीदृशस्तस्या दृष्टिरागः ?

विदूषकः—श्रीमान् के प्रति उसकी प्रेम-दृष्टि कैसी थी ?

राजा—निसर्गादेवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः, तथापि तु—

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षणं
हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया
न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥११॥

अन्वयः—मयि अभिमुखे ईक्षणं संहृतम्, अन्यनिमित्तकृतोदयं हसितम् । अतः तया विनयवारितवृत्तिः मदनः न विवृतः, न च संवृतः ।

संस्कृत-व्याख्या—मयि = दुष्यन्ते, अभिमुखे = संमुखं अवलोकयति सति, ईक्षणं = दृष्टिः, संहृतम् = अन्यतः कृतम् । अन्यनिमित्तकृतोदयम् = अन्यस्मात् मद्भिन्नात् कारणात् उदयः आविर्भावो यस्य हासस्य तत् यथा तथा, हसितम् = हासः कृतः । अतः तया = शकुन्तलया, विनयवारितवृत्तिः = विनयेन शीलेन वारिता निरुद्धा वृत्तिः प्रसरो यस्य सः, मदनः = कामः, न विवृतः—न प्रकटी-कृतः, न च संवृतः—न च गोपितः ।

राजा—तपस्वियों की कन्यायें स्वभाव से ही सीधी-सादी (भोली भाली) होती हैं । किन्तु फिर भी—

मेरे द्वारा सामने देखे जाने पर (वह शकुन्तला अपनी) दृष्टि हटा लेती थी और अन्य कारण को लेकर हँस पड़ती थी। इसलिये उसने शील के द्वारा नियन्त्रित व्यापार वाले कामभाव को न तो प्रकट ही किया और न छिपाया ही।

अलंकार तथा छन्द—उपर्युक्त श्लोक में 'विरोधाभास' अलंकार है। "न विवृत: न संवृत: " में विरोध का आभास होता है किन्तु भोलेपन के आधार पर उसका परिहार हो जाता है। इसमें 'द्रुतविलम्बित' छन्द है।

व्याकरण:—राग: = रञ्ज् + घञ् ।

समास आदि:—**परवती** = पर: स्वामी अस्यास्तीति परवती। **अन्यनिमित्तकृतोदयम्**—अन्येन निमित्तेन कृत: उदय: यस्य तत् (बहुव्रीहि)। **विनयवारितवृत्ति:** = विनयेन वारिता वृत्ति: यस्य स: (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—दृष्टिराग: = आँखों द्वारा दिखलाया गया हुआ प्रेम। **भवन्तमन्तरेण**—आपके विषय में अथवा आपकी ओर। नियमानुसार निषेध अर्थवाले 'अन्तरेण' शब्द के साथ "अन्तरान्तरेण युक्ते" (अष्टा० २।३।४) सूत्र से द्वितीया विभक्ति होती है किन्तु महाकवि ने उपर्युक्त अर्थ में भी द्वितीया विभक्ति का ही प्रयोग किया है। **अप्रगल्भा** = सीधी-सादी, भोली-भाली। **मयि अभिमुखे** = मेरे (द्वारा) उसकी ओर अभिमुख हो जाने पर, अर्थात् जब मैं अपना मुख उस शकुन्तला की ओर (अथवा समक्ष) कर लेता था उस समय वह आँखें मिलाती नहीं थी अपितु आँखों को मेरी ओर से हटा लिया करती थी। **अन्यनिमित्तकृतोदयम्** = (प्रेम के अतिरिक्त) किसी अन्य कारण से (अथवा बहाने से) किया गया है प्रकटीकरण जिसका ऐसा हास्य। अर्थात् यद्यपि शकुन्तला यह प्रकट करना चाहती थी कि उसकी हँसी का कारण कुछ और ही है परन्तु वास्तविकता यह थी कि उसके हास्य का कारण प्रेम का प्रभाव ही था। **विनयवारितवृत्ति:** = (आत्मभाव अथवा शिष्टाचार) शील के कारण जिसकी क्रिया (वृत्ति) रोक दी गयी है (ऐसा कामभाव)। **न विवृत: न च संवृत:** = न प्रकट किया और न छिपाया ही। अनुरक्ता नितम्बिनी नायक के समक्ष ऐसा किया करती है।

विदूषक:—[ण क्खु दिट्ठमेत्तस्स तुह अंकं समारोहदि।]
न खलु दृष्टमात्रस्य तवाङ्कं समारोहति।

विदूषक—वस्तुत: देखने मात्र से ही तुम्हारी गोद में नही बैठ जाती।

राजा—मिथ: प्रस्थाने पुन: शालीनतयापि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या। तथा हि—

दर्भाङ्कुरेण चरण: क्षत इत्यकाण्डे

तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।

आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥१२॥

अन्वयः—तन्वी कतिचित् एव पदानि गत्वा अकाण्डे दर्भांकुरेण चरणः क्षतः इति स्थिता। द्रुमाणां शाखासु च असक्तम् अपि वल्कलं विमोचयन्ती विवृत्तवदना आसीत्।

संस्कृत-व्याख्या—तन्वी = कृशांगी (सा शकुन्तला), कतिचिदेव = कतिपयानि एव, पदानि = चरणानि, गत्वा = चलित्वा, अकाण्डे = अनवसरे, दर्भांकुरेण = दर्भस्य कुशस्य अङ्कुरेण अग्रभागसूच्या, चरणः = पादः, क्षतः = विद्धः विदीर्णः वा, इति = एवं कथयित्वा, स्थिता = मामवलोकितुमवस्थिता। द्रुमाणाम् = वृक्षाणाम्, शाखासु = स्कन्धेषु, च असक्तमपि = अलग्नमपि, वल्कलम् = वल्कलवस्त्रम्, विमोचयन्ती = शाखामुक्तं कुर्वती सती, विवृत्तवदना = विवृत्तं मदवलोकनार्थं प्रत्यावृत्तं वदनं मुखं यस्याः सा तथाभूता, आसीत् = मामवलोकयितुं स्थिता आसीत्। (मुख दुष्यन्तं प्रति कृत्वा किञ्चित्कालं स्थिता इत्यर्थः।)

राजा—परस्पर विदा के समय अथवा (सखियों के साथ) प्रस्थान करते समय उसने (शकुन्तला ने) लज्जाशीलता के साथ ही अपने प्रेम भाव को (मेरे प्रति) उचितरूप में अभिव्यक्त भी किया। क्योंकि—

दुर्बल अंगों वाली (वह शकुन्तला) कुछ ही पग चलकर अचानक "कुश के अंकुर से मेरा पैर घायल हो गया है" यह कहकर खड़ी हो गई और वृक्षों की शाखाओं में न उलझे हुए भी वल्कल वस्त्र को छुड़ाती हुई (मेरी ओर) मुख करके खड़ी हो गई।

अलंकार तथा छन्दः—उपर्युक्त श्लोक में "असक्तमपि विमोचयन्ती" में विरोध का आभास हो रहा है किन्तु यह बहानामात्र होने से उसका परिहार भी हो जाता है। अतः 'विरोधाभास' अलंकार है। विवृत्तवदना होना शकुन्तला के हृद्गत भाव के अभिव्यक्त करने के प्रति हेतु है तथा उसका कार्य के साथ अभेदरूप में वर्णन किया गया है अतः यहाँ 'हेतु' नामक अलंकार भी है। मुग्धा नायिकाओं का इस प्रकार का स्वभाव ही हुआ करता है अतः यहाँ 'स्वभावोक्ति' अलंकार की भी प्रतीति होती है। 'कामसूत्र' में कहा गया है:—"दूरे स्थिता पश्यतु मामिति मन्यमाना परिजनं समदनविकारमाभाषते" इति॥ इसी प्रकार 'रतिविलास' में भी—"विलम्बस्तु पथि व्याजात् परावृत्यापि दर्शनम्। इत्यादि।" इसमें 'वसन्ततिलका' छन्द है।

व्याकरणः—शालीन = शाला + खञ् (ईन)। तन्वी = तनु + ङीप्

वैश्य, शूद्र, इन चारों वर्णों से । रत्नराशीन्=तपस्या का छठा भाग रत्न की राशियों से भी बढ़कर है । यह षष्ठांश अविनाशी है अतः अविनश्वर रूप से राज्य की रक्षा किया करता है । उत्तिष्ठति=कर या टैक्स के रूप में प्राप्त होता है । तपःषड्भागम्=तपस्या का छठा भाग । यहाँ 'षट्' शब्द का अर्थ 'षष्ठ' है—"वृत्तिविषये संख्याशब्दस्य पूरणार्थत्वमिष्यते" के नियम के आधार पर यहाँ 'षट्' शब्द 'षष्ठ' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अक्षय्यम्=क्षीण न होने वाला अर्थात् अविनाशी ।

(नेपथ्ये)

हन्त, सिद्धार्थौं स्वः ।

(नेपथ्य में)

प्रसन्नता की बात है कि हम दोनों का कार्य सिद्ध हो गया ।

राजा—(कर्णं दत्वा) अये ! धीरप्रशान्तस्वरैस्तपस्विभिर्भवितव्यम् ।

राजा—(कान लगाकर) ओह, (ये) गम्भीर और शान्त स्वर वाले तपस्वी होंगे ।

(प्रविश्य)

दौवारिकः—जेदु जेदु भट्टा। एते दुवे इसिकुमारआ पडिहारभूमिं उवट्ठिदा।] जयतु जयतु भर्त्ता । एतौ द्वौ ऋषिकुमारौ प्रतीहारभूमिमुपस्थितौ ।

द्वारपाल—जय हो, स्वामी की जय हों । ये दो मुनिकुमार द्वार पर उपस्थित हैं।

राजा—तेन ह्यविलम्बितं प्रवेशय तौ ।

राजा—तो उन्हें शीघ्र ही अन्दर बुला लाओ ।

दौवारिकः—[एसो पवेसेमि ।] एष प्रवेशयामि । (इति निष्क्रम्य ऋषिकुमाराभ्यां सह प्रविश्य) [इदो इदो भवन्ता ।] इत इतो भवन्तौ ।

द्वारपाल—अभी प्रवेश कराता हूँ । (यह कहकर बाहर निकलकर दोनों ऋषिकुमारों के साथ प्रवेश करके) आप लोग इधर से आइये ।

(उभौ राजानं विलोकयतः ।)

(दोनों राजा की ओर देखते हैं ।)

प्रथमः—अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयतास्य वपुषः । अथवोप-

पन्नमेतदस्मिन् ऋषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि । कुतः—

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति ।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ॥१४॥

अन्वयः—अमुना अपि सर्वभोग्ये आश्रमे वसतिः अध्याक्रान्ता । रक्षायोगात् अयमपि प्रत्यहं तपः संचिनोति । वशिनः अस्य अपि केवलं राजपूर्वः पुण्यः मुनिः इति शब्दः चारणद्वन्द्वगीतः मुहुः द्यां स्पृशति ।

संस्कृत-व्याख्या—अमुना अपि = अनेन राज्ञा दुष्यन्तेनापि, सर्वभोग्ये = सर्वैः व्यवहर्तव्ये, आश्रमे = गृहस्थाश्रमे, वसतिः = निवासः, अध्याक्रान्ता = अंगीकृता । रक्षायोगात् = रक्षायाः प्रजानां रक्षणस्य योगात् सम्बन्धात्, अयमपि = नृपोऽपि, प्रत्यहम् = प्रतिदिनम्, तपः = सुकृतम्, संचिनोति = समुपार्जयति । वशिनः = जितेन्द्रियस्य, अस्यापि = राज्ञः अपि केवलं राजपूर्वः = केवलं राजशब्दविशिष्टः, पुण्यः = पवित्रः, मुनिरिति शब्दः = राजमुनिरिति शब्दः, राजर्षिशब्द इत्यर्थः, चारणद्वन्द्वगीतः = चारणानां स्तुतिपाठकानां द्वन्द्वेन युगलेन गीतः कीर्तितः, मुहुः = भूयो भूयः, द्याम् = स्वर्गम्, स्पृशति—आरोहति । ऋषिपक्षे—ऋषिणा सर्वभोग्ये = सर्वैः छात्रैः आश्रयणीये, आश्रमे = तपोवने, वसतिः = निवासः, अध्याक्रान्ता = कृता । रक्षायोगात् = धर्मरक्षार्थं योगानुष्ठानात्, प्रत्यहम् = प्रतिदिनम् तपः संचिनोति = पुण्यं संचयं करोति । वशिनः = जितेन्द्रियस्य, तस्य अपि, पावनः मुनिशब्दः द्याम् = स्वर्गम्, स्पृशति = व्याप्नोति ।

पहला—ओह ! कान्तियुक्त होने पर भी इसका शरीर कैसा विश्वसनीय है । अथवा ऋषियों के सदृश इस राजा के विषय में यह ठीक ही है । क्योंकि—

यह (राजा) भी सबके द्वारा ~~आश्रय प्राप्त~~ उपभोग करने योग्य आश्रम (गृहस्थाश्रम) में वास करता है । (अपनी प्रजा के) रक्षा रूपी योग के द्वारा यह भी प्रतिदिन तप संचित करता है । इस जितेन्द्रिय का भी केवल 'राज'पूर्वक पवित्र 'मनि' शब्द ('राजर्षि' शब्द) चारणों के युगल द्वारा गाया गया हुआ बार-बार स्वर्ग का स्पर्श करता है ।

अलंकार तथा छन्द—यहाँ पर श्लिष्ट अर्थ होने के कारण 'श्लेष' अलंकार है । उपमान (ऋषि) की अपेक्षा उपमेय (राजर्षि) का अधिक महत्त्व वर्णित होने

के कारण व्यतिरक अलंकार है । "व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः" । छन्द:--इसमें "मन्द्राक्रान्ता" छन्द है ।

व्याकरण--धीरप्रशान्तस्वरैः--यहाँ पर "इत्थंभूतलक्षणे" (अष्टा० २।३।२१) से तृतीया होती है ।

समास आदि--धीरप्रशान्तस्वरैः--धीराः प्रशान्ताः च येषां स्वराः तैः बहुव्रीहि)। **सर्वभोग्ये** = सर्वैर्भोग्ये । **रक्षायोगात्** = (राजा के पक्ष में)--रक्षायाः योगः तस्मात् (ऋषि के पक्ष में)--रक्षार्थं योगः तस्मात् । **चारणद्वन्द्व-गीत**--चारणानां द्वन्द्वेन गीतः (तत्पुरुष) । **राजपूर्वः** = राजा पूर्व यस्य सः राजपूर्वः ।

टिप्पणियाँ--अध्याक्रान्ता. . .इत्यादि श्लोक में राजा की ऋषियों से तुलना की गई है। जो गुण ऋषियों में हैं, वे सब इस राजा में भी हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि वे सब केवल ऋषि कहलाते हैं और राजा--राजर्षि कहलाता है। अतः इस श्लोक के अर्थ भी दोनों पक्षों में निम्न भाँति हो जाते हैं:--श्लोक की प्रथम पंक्ति का अर्थ--**राजा के पक्ष में**--यह (राजा) सब के द्वारा आश्रय प्राप्त करने योग्य गृहस्थ आश्रम में निवास करता है । **मुनि-पक्ष में**--सभी विद्यार्थियों द्वारा आश्रय के योग्य तपोवन में निवास करता है। द्वितीय-पंक्ति--**राजा के पक्ष में**--यह प्रजा की रक्षा रूपी योग ('योगः कर्मसु कौशलम्') के द्वारा तप का संग्रह करता है। **मुनिपक्ष में**--धर्म की रक्षा के निमित्त अष्टांग योग के अभ्यास द्वारा तप करता है। तृतीय एवं चतुर्थ पंक्ति--**राजा के पक्ष में**--इस जितेन्द्रिय का राजपूर्वक मुनि शब्द अर्थात् राजर्षि शब्द स्वर्गतक पहुँचता है। **मुनिपक्ष में**--जितेन्द्रिय मुनि अथवा ऋषि का पावन मुनि अथवा ऋषि शब्द स्वर्ग तक पहुँचता है ।

आश्रमे--(१) गृहस्थाश्रम (२) तपोवन। **सर्वभोग्ये**--(१) सब के द्वारा भोगे जाने वाले (अर्थात् गृहस्थ) आश्रम में। क्योंकि अन्य तीन ब्रह्मचर्य. वान-प्रस्थ और आश्रमों में स्थित रहने वाले व्यक्ति अपने निर्वाहार्थ गृहस्थ आश्रम में विद्यमान व्यक्तियों के ही आश्रित रहते हैं--"यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः । तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ।।" मनुस्मृति--३।७१ ।। "गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ।।" मनु० ६।३९।। (२) ऋषि के यहाँ सभी विद्यार्थी आश्रय प्राप्त करते हैं। **रक्षायोगात्** = (१) प्रजा की रक्षा करने के कारण। (२) धर्म की रक्षा के निमित्त समाधि लगाने अथवा याग आदि करने के कारण। **तपः**-- (१) लोकोत्तर धर्म (२) चान्द्रायणादि व्रत । **वशिनः** = जिसने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है अथवा सांसारिक वासनाओं पर जिसने विजय प्राप्त कर ली है अर्थात् जितेन्द्रिय ।

द्वितीयः--गौतम ! अयं स बलभित्सखो दुष्यन्तः ?

दूसरा--गौतम ! क्या यही इन्द्र के मित्र दुष्यन्त हैं ?

प्रथमः—अथ किम् ?

पहला—और क्या ?

द्वितीयः—तेन हि

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति ।
आशंसन्ते समितिषु सुरा बद्धवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥१५॥

अन्वयः—यद् नगरपरिघप्रांशुबाहुः अयं एकः उदधिश्यामसीमां कृत्स्नां धरित्रीं भुनक्ति, एतत् न चित्रम् । हि दैत्यैः बद्धवैराः सुराः समितिषु अस्य अधिज्ये धनुषि पौरुहूते वज्रे च विजयं आशंसन्ते ।

संस्कृत-व्याख्या—यद् नगरपरिघप्रांशुबाहुः = नगरस्य (लक्षणया) नगरद्वारस्य यः परिघः अर्गलस्तद्वत् प्रांशू दीर्घौ बाहू भुजौ यस्य सः, अयमेकः = अयमेकाकी दुष्यन्तः, उदधिश्यामसीमां = उदधिः समुद्र एव श्यामा कृष्णवर्णा सीमा यस्यास्ताम्, कृत्स्नाम् = सकलाम्, धरित्रीम् = पृथ्वीम्, भुनक्ति = रक्षति पालयति वा, एतत् न चित्रम् = अत्र किंचिदपि आश्चर्योत्पादकं नास्ति । हि—यतो हि, दैत्यैः = असुरैः सह, बद्धवैराः = बद्धं रूढं वैरं शत्रुता येषां ते, सुराः = देवाः, समितिषु = (दानवैः) युद्धेषु, अस्य = दुष्यन्तस्य, अधिज्ये = ज्यामधिगते, धनुषि = कार्मुके, पौरुहूते = ऐन्द्रे, वज्रे = कुलिशे च, विजयम् = विशेषेण जयम्, आशंसन्ते = कामयन्ते ।

दूसरा—तब तो—

नगर-द्वार की अर्गला के सदृश विशाल भुजाओं वाला यह अकेला ही समुद्र से श्याम वर्ण की सीमा से युक्त समस्त पृथिवी का पालन अथवा रक्षा कर रहा है, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है । क्योंकि राक्षसों के साथ जिनका वैर बँधा हुआ है ऐसे देवगण युद्ध में इसके प्रत्यंचा चढ़े हुए धनुष तथा इन्द्र के वज्र पर ही विजय की आशा रखते हैं ।

अलंकार तथा छन्द—"नगरपरिघप्रांशुबाहु" में लुप्तोपमा अलंकार है । श्लोक का उत्तरार्ध भाग "नैतच्चित्रम्" का कारण है, अतः 'काव्यलिंग' अलंकार है । इसके अतिरिक्त प्रस्तुत दुष्यन्त के धनुष और अप्रस्तुत इन्द्र के वज्र—दोनों का सम्बन्ध एक विजयरूपी क्रिया के साथ वर्णित होने से 'दीपक' अलंकार है । "प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते" । छन्दः—इसमें "मन्दाक्रान्ता" छन्द है ।

व्याकरण—बलभित् = बल + भिद् + क्विप् । उदधि = उदक + धा +

कि (३)। इस शब्द में "कर्मण्यधिकरणे च" (अष्टा० ३।३।९३) से 'कि' प्रत्यय तथा "उदकस्योदः सञ्ज्ञायाम्" (अष्टा० ६।३।५७)। **परिघ**—परि+हन्+अप् (अ)। **आशंसन्ते**=आ+शंस्। यहाँ इच्छा अर्थ में आत्मनेपदी होता है। **समिति**=सम्+इ+क्तिन् (ति)।

समास आदि:—**बलभित्सखः**=बलं भिनत्तीति बलभित् तस्य सखा। (तत्पुरुष)। **उदधिश्यामसीमाम्**=उदधिः एव श्यामा सीमा यस्याः सा ताम् (बहुव्रीहि)। **पौरुहूते**=पुरुभिः बहुभिः हूयते यज्ञेषु आहूयते इति पुरुहूतः, पुरुहूतस्येदं पौरुहूतम् तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—**बलभित्सखः**=बल नामक राक्षस अथवा राक्षसों की सेनाओं (बल) को नष्ट कर देने वाले इन्द्र का मित्र। **चित्रम्**=आश्चर्य। **उदधिश्यामसीमाम्**=(चारों ओर स्थित) समुद्रों की नील वर्ण की सीमा से घिरी हुई पृथ्वी को अथवा समुद्र पर्यन्त पृथ्वी को। **नगरपरिघप्रांशुबाहुः**=नगर के द्वार की अर्गला के सदृश विशाल भुजाओं वाला। प्राचीनकाल में सुरक्षा की दृष्टि से मुख्य दरवाज़ों के पीछे बहुत लम्बे तथा मोटे डंडे लगाये जाया करते थे जिनको परिघ अथवा अर्गला कहा जाता था। उस समय लम्बी भुजाओं का होना एक वैशिष्ट्य माना जाता था क्योंकि धनुर्विद्या की निपुणता इन्हीं भुजाओं पर आधारित थी। **भुनक्ति**=पालन करता है। (भुज् धातु 'रक्षा करने' अर्थ में परस्मैपदी है तथा भोजन करने अर्थ में आत्मनेपदी।) **आशंसन्ते**=आशा करते हैं अथवा आकांक्षा करते हैं। **समितिषु**=समिति शब्द के युद्ध तथा सभा दोनों ही अर्थ हैं। **बद्धवैराः**—बँधा हुआ है वैर जिनका अर्थात् जिनकी शत्रुता चल रही है। **पौरुहूते**—इन्द्र के।

उभौ—(उपगम्य) विजयस्व राजन्!

दोनों—(समीप जाकर) राजन्! आपकी विजय हो।

राजा—(आसनादुत्थाय) अभिवादये भवन्तौ।

राजा—(आसन से उठ कर) मैं आप दोनों का अभिवादन करता हूँ।

उभौ—स्वस्ति भवते। (इति फलान्युपहरतः।)

दोनों—आपका कल्याण हो। (यह कहकर दोनों फल भेंट करते हैं।)

राजा—(सप्रणामं परिगृह्य) आज्ञापयितुमिच्छामि।

राजा—(प्रणाम के साथ स्वीकार करके) मैं चाहता हूँ (कि आप लोग कुछ) आज्ञा दें।

उभौ—विदितो भवानाश्रमसदामिहस्थः। तेन भवन्तं प्रार्थयन्ते।

दोनों—आपका यहाँ पर स्थित होना आश्रमवासियों को विदित है। अतएव वे आपसे प्रार्थना करते हैं।

राजा—किमाज्ञापयन्ति ?

राजा—वे क्या आज्ञा देते हैं ?

उभौ—तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसांनिध्याद्रक्षांसि न इष्टिविघ्न-मुत्पादयन्ति। तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियता-माश्रम इति।

दोनों—आदरणीय महर्षि कण्व के यहाँ उपस्थित न होने के कारण राक्षस हमारे यज्ञों में विघ्न उत्पन्न करते हैं। अतः कुछ रात्रि पर्यन्त आप सारथि सहित आश्रम को सनाथ कीजिये।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि।

राजा—मैं अनगृहीत हूँ।

विदूषकः—(अपवार्य) [एसा दाणिं अणुऊला ते अब्भत्थणा।] एषेदानीमनुकूला तेऽभ्यर्थना।

विदूषक—(एक ओर को होकर) अब यह प्रार्थना तो आपकी इच्छा के अनकूल हो गई।

राजा—(स्मितं कृत्वा) रैवतक ! मद्वचनादुच्यतां सारथिः सवाणासनं रथमुपस्थापयेति।

राजा—(मुस्कराकर) रैवतक ! मेरी ओर से सारथि को कहो— "धनुष-बाण सहित रथ को यहाँ ले आओ।"

दौवारिकः—[जं देवो आणवेदि] यद् देव आज्ञापयति।

द्वारपाल—जो महाराज की आज्ञा।

(इति निष्क्रान्तः)

(यह कहकर निकल जाता है)

उभौ—(सहर्षम्)

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि।
आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः ॥१६॥

अन्वयः—पूर्वेषां अनुकारिणि त्वयि इदं युक्तरूपम्। खलु पौरवाः आपन्ना-भयसत्रेषु दीक्षिताः।

संस्कृतव्याख्या—पूर्वेषाम् = पुरुप्रभृतीनां पूर्वजानाम्, अनुकारिणि = अनुवर्तिनि तच्चरितचारिणि इत्यर्थः, त्वयि = दुष्यन्ते, इदम् = अस्मदुक्तकरणम्, युक्तरूपम् = अत्युचितमस्ति । खलु = निश्चयेन, पौरवाः = पुरुवंशिनृपाः, आपन्नाभयसत्रेषु = आपन्नानां आपत्प्राप्तानां, विपन्नानां, भीतानां वा यत् अभयं भयाभावः तदेव सत्राणि यागाः तेषु, दीक्षिताः=गृहीतव्रताः सन्ति ।

दोनों—(हर्ष के साथ) अपने पूर्वजों का अनुकरण करने वाले आपके लिये यह पूर्णतया उचित ही है । वस्तुतः पुरुवंशी राजा विपद्ग्रस्तों को अभयदान-रूपी यज्ञों की दीक्षा लिये हुए हैं ।

अलङ्कार तथा छन्द—श्लोक के उत्तरार्ध भाग में विद्यमान विशेष के द्वारा पूर्वार्ध के सामान्य का समर्थन किया गया है अतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है । श्लोक के उत्तरार्ध भाग में रूपक है । उत्तरार्ध पूर्वार्ध का कारण है अतः काव्यलिंग अलंकार है । छन्दः—इसमें श्लोक नामक वृत्त है ।

समास आदिः—**आपन्नाभयसत्रेषु**—आपन्नानां अभयं एव सत्राणि येषु तेषु (बहुव्रीहि) । **दीक्षिताः**—दीक्षा संजाता एषां ते । **युक्तरूपम्**—अतिशयेन युक्तमिति ।

टिप्पणियाँ—**आज्ञापयितुम्**—आज्ञा से युक्त होना चाहता हूँ अर्थात् आप आज्ञा दीजिये । **इष्टिविघ्नम्**—यज्ञ में विघ्न । ऋषियों के यज्ञों में राक्षसों द्वारा विघ्न डाला जाता था । अतः राक्षसों से उनकी रक्षा करना तथा विघ्नों को दूर करना राजा का प्रमुख कर्तव्य होता था । **कतिपयरात्रम्** = कुछ रात्रियों के लिये । राक्षसगण प्रायः रात्रि में ही ऋषियों को कष्ट पहुँचाया करते थे । **सारथि-द्वितीयेन** = सारथि है दूसरा (सहायक) जिसका अर्थात् सारथि के साथ । **अपवार्य** = एक तरफ स्थित होकर कोई गुप्त बात कहना । इसका लक्षण—**तद्भवेदपवारितम् । रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते** ।। साहित्यदर्पण् ६।१३८ ।। **आपन्नाभयसत्रेषु** =आपत्ति में पड़े लोगोंको अभय देने अर्थात् रक्षा करने के यज्ञों में । **दीक्षिताः** = दीक्षा रूपी व्रत जिन्होंने ग्रहण किया है । यज्ञ करने से पूर्व यज्ञ करने की योग्यता संपादन करने के निमित्त एक कर्म अथवा विधि की जाया करती है उसे दीक्षा कहते हैं । दीक्षा ले लेने पर यज्ञकर्ता यज्ञ सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं कर सकता है ।

राजा—(सप्रणामम्) गच्छतां पुरो भवन्तौ । अहमप्यनुपदमागत एव ।

राजा—(प्रणामपूर्वक) आप दोनों आगे चलिये । मैं भी पीछे आ ही रहा हूँ ।

उभौ—विजयस्व । (इति निष्क्रान्तौ ।)

दोनों—आपकी विजय हो। (दोनों बाहर चले जाते हैं।)

राजा—माढव्य ! अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम् ?

राजा—माढव्य ! क्या तुम्हें शकुन्तला का दर्शन करने की उत्सुकता है ?

विदूषकः—[पढमं सपरिवाहं आसि। दाणिं रक्खसवुत्तंतेण बिंदु वि णावसेसिदो ।] प्रथमं सपरिवाहमासीत्। इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः ।

विदूषक—पहले (तो) बहुत अधिक थी। किन्तु अब राक्षसों के समाचार से बूंद भर भी (उत्सुकता) शेष नहीं रही।

राजा—मा भैषीः, ननु मत्समीपे वर्तिष्यसे ।

राजा—डरो मत। मेरे समीप तो रहोगे ही।

विदूषकः—[एस रक्खसादो रक्खिदो म्हि ।] एष राक्षसाद् रक्षितोऽस्मि ।

विदूषक—यह मैं राक्षसों से रक्षित हो गया हूँ।

(प्रविश्य)

(प्रविष्ट होकर)

दौवारिकः—[सज्जो रधो भट्टिणो विजअप्पत्थाणं अवेक्खदि। एस उण णअरादो देवीणं आणत्तिहरओ करभओ आअदो।] सज्जो रथो भर्तुर्विजयप्रस्थानमपेक्षते। एष पुनर्नगराद् देवीनामाज्ञप्तिहरः करभक आगतः ।

द्वारपाल—रथ तैयार है और महाराज के विजय-प्रस्थान की प्रतीक्षा कर रहा है। किन्तु महारानी का संदेश लेकर नगर से यह करभक आया है।

राजा—(सादरम्) किमम्बाभिः प्रेषितः ?

राजा—(आदर सहित) क्या माता जी ने भेजा है ?

दौवारिकः—[अह इं ?] अथ किम् ?

द्वारपाल—और क्या ? (अर्थात् जी हाँ।)

राजा—ननु प्रवेश्यताम् ।

राजा— तो (उसे) अन्दर बुला लाओ ।

दौवारिकः—[तह] तथा । (इति निष्क्रम्य करभकेण सह प्रविश्य) [एसो भट्टा, उवसप्प] एष भर्त्ता, उपसर्प ।

द्वारपाल—जैसी महाराज की आज्ञा । (ऐसा कहकर बाहर जाकर करभक के साथ प्रवेश करके) यह स्वामी हैं, (उनके) पास जाओ ।

व्याकरण—विजयस्व – वि + जि + लोट् । (यहाँ "विपराभ्यां जेः" सूत्र (अष्टा० १।३।१९) से आत्मने पद होता है) । परिवाह = परि + वह् + घञ् (अ) । मा भैषीः = भी (डरना) + लुङ + मध्यम पु० एकवचन । (यहाँ 'मा' के योग में लोट् लकार के अर्थ में लुङ लकार का प्रयोग है ।) सज्जः = सज्ज् + अच् (अ) । आज्ञप्तिहरः = आज्ञप्ति + हृ + अच् (अ) (यहाँ "हरतेरनुद्यमनेऽच्" (अष्टा० ३।२।९ ।) से 'अच्' होता है ।)

समास आदि—अनुपदम् = पदस्य पश्चादिति अनुपदम् (अव्ययीभाव) । सपरिवाहम्=परिवाहेण सहितमिति ।

टिप्पणियाँ—अनुपदम्—पीछे-पीछे । परिवाहः=तालाब इत्यादि के जल का लबालब भरा होने के कारण बाहर बहना । तात्पर्य यह है कि मेरी शकुन्तला को देखने की उत्सुकता लबालब भरी हुई थी किन्तु अब एक बूंद भी नहीं रही । राक्षसाद्रक्षितः—विदूषक कह रहा है कि वस्तुतः वह पहले राक्षसों से डरा हुआ था और अब बच गया । देवीनाम्—यहाँ यह शब्द दुष्यन्त की माता के लिये प्रयुक्त हुआ है । आदरार्थ में बहुवचन का प्रयोग किया गया है । आज्ञप्तिहरः—संदेशवाहक । अम्बाभिः—पूज्य माता द्वारा । यहाँ आदर अर्थ में बहुवचन का प्रयोग है ।

करभकः—[जेदु जेदु भट्टा । देवी आणवेदि आआमिणि चउत्थदिअहे पउत्तपारणो मे उववासो भविस्सदि । तहिं दीहाउणा अवस्सं संभाविदव्वा त्ति ।] जयतु जयतु भर्त्ता । देव्याज्ञापयति । आगामिनि चतुर्थ दिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति । तत्र दीर्घायुषाऽवश्यं संभावनीयेति ।

करभक—जय हो, महाराज की जय हो । देवी (महारानी) ने आदेश दिया है कि आगामी चौथे दिन मेरे उपवास की पारणा (उपवास के अनन्तर किया जाने वाला भोजन) होगी । वहाँ आप आयुष्मान (अपनी उपस्थिति से) अवश्य ही (मुझे) संमानित करें ।

राजा—इतस्तपस्विकार्यम्, इतो गुरुजनाज्ञा । द्वयमप्यनतिक्रमणीयम् । किमत्र प्रतिविधेयम् ।

राजा—इधर तपस्वियों का काम है, और उधर गुरुजनों की आज्ञा है। दोनों ही अनुल्लङ्घनीय हैं। (तो) इस विषय में क्या करूँ ?

विदूषकः—[तिसङ्कू विअ अन्तरा चिट्ठ ।] त्रिशङ्कुरिवान्तरा तिष्ठ ।

विदूषक—त्रिशङ्कु के सदृश मध्य में लटके रहिये ।

राजा—सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि ।

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मनः ।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा ॥१७॥

(विचिन्त्य) सखे, त्वमम्बया पुत्र इति प्रतिगृहीतः । अतो भवानितः प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रमानसं मामावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठातुमर्हति ।

अन्वयः—कृत्ययोः भिन्नदेशत्वात् मे मनः पुरः शैले प्रतिहतं स्रोतोवहः स्रोतः यथा द्वैधीभवति ।

संस्कृत-व्याख्या—कृत्ययोः = उभयोरपि कार्ययोः, भिन्नदेशत्वात् = भिन्नो देशः स्थानं ययोः ते तयोः भावः तस्मात् स्थलभेदात्, मे = मम दुष्यन्तस्य, मनः = हृदयम्, पुरः = अग्रे, शैले = पर्वते, प्रतिहतम् = अवरुद्धम्, स्रोतोवहः = नद्याः, स्रोतः = प्रवाहो, यथा = इव, द्वैधीभवति = संशयाकुलं भवति ।

राजा—वस्तुतः मैं परेशान हो गया हूँ ।

दोनों कार्यों के भिन्न भिन्न स्थानों पर होने के कारण मेरा मन सामने पर्वत से रुके हुए नदी के प्रवाह के समान दुविधा में पड़ गया है ।

(सोचकर) मित्र, तुमको माता जी पुत्रवत् मानती हैं । अतः तुम यहाँ से लौटकर, मुझे तपस्वियों के कार्य में संलग्न मनवाला बतलाकर, पूजनीय (माताओं) का पुत्रकार्य कर सकते हो ।

अलङ्कार तथा छन्द—इस श्लोक में 'उपमा' अलंकार है । छन्दः—इसमें 'श्लोक' नामक वृत्त है ।

व्याकरण—स्रोतोवहः = स्रोतस् + वह् + खच् ।

समास आदि—**प्रवृत्तपारणः**—प्रवृत्ता पारणा यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**प्रवृत्तपारणः** = जिसके उपवास की समाप्ति पर (चौथे दिन) भोजन होगा । (संभवतः यह जीवत्पुत्रिका [जिउतिया = जूतिया] का व्रत रहा होगा) आजकल भी इस व्रत का पालन उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में प्राप्त होता है । इस व्रत को स्त्रियाँ पुत्र के दीर्घजीवी होने के निमित्त अधिक संख्या में करती हैं । यहाँ पर "पुत्रपिण्डपालनो नाम" पाठभेद भी मिलता है । पुत्रपिण्ड-पालन नामक व्रत है—पुत्र को सन्तान प्राप्त हो, इसके लिये किया जाने वाला व्रत । **संभावनीया**—सम्मानित किया जाना चाहिये । **त्रिशंकु**—त्रिशंकु नाम का एक राजा था । इसने तीन महान् पाप किये थे । (१) पिता को रुष्ट करना, (२) वसिष्ठ की गाय का वध करना (३) गोमांसभक्षण । ये तीनों पाप ही तीन शङ्कुओं के समान थे, इसी कारण इसका नाम त्रिशङ्कु पड़ा था । "पितुश्चा-परितोषेण गुरोर्दोग्ध्रीवधेन च । अप्रोक्षितोपयोगाच्च त्रिविधस्ते व्यतिक्रमः ।।" वायुपुराण ।। इस राजा को अपने शरीर से बहुत स्नेह था । एक बार इसने अपने कुलपुरोहित वसिष्ठ से ऐसा यज्ञ करने के लिये प्रार्थना की कि जिसके पुण्य से वह सदेह स्वर्ग जा सके । वसिष्ठ ने ऐसा करना अस्वीकार कर दिया । तब वह उनके पुत्रों के समीप गया । उन्होंने भी उसकी बात को नहीं सुना । इस पर क्रुद्ध होकर राजा ने उनको अनेक अपशब्द कहे । ऋषिपुत्रों ने राजा को चाण्डाल हो जाने का शाप दिया । तब वह विश्वामित्र के पास गया । उन्होंने उसे यज्ञ कराया और अपने प्रभाव से सशरीर स्वर्ग में भेज दिया । किन्तु इन्द्र तथा अन्य देव-ताओं ने उसे स्वर्ग से नीचे ढकेल दिया । विश्वामित्र ने अपनी शक्ति से उसे बीच में ही रोक दिया । इस प्रकार वह दक्षिणी गोलार्द्ध में एक नक्षत्र के रूप में स्वर्ग एवं पृथ्वी के बीच में उलटा लटक रहा है । **कृत्ययोः भिन्नदेशत्वात्** = दो कार्य हैं जिनको दो विभिन्न स्थानों पर होना है । आश्रम की रक्षा के निमित्त तपोवन में रहना आवश्यक है और माता की आज्ञा पालन करने के निमित्त घर लौट जाना आवश्यक है । **द्वैधी-भवति** = दो भागों में बँट गया है अर्थात् दुविधा में पड़ गया है । **स्रोतोवहः** = नदी का । जिस भाँति पहाड़ से प्रतिहत होने पर नदी का प्रवाह दो भागों में विभक्त हो जाता है । **पुत्र इव गृहीतः** = पुत्र की तरह माना है ।

विदूषकः—[ण क्खु मं रक्खोभीरुअं गणेसि ।] न खलु मां रक्षोभीरुकं गणय ।

विदूषक—मुझे राक्षसों से डरने वाला न समझो ।

राजा—(सस्मितम्) कथमेतद् भवति संभाव्यते ?

राजा—(मुस्कराते हुए) आप में यह कैसे संभव हो सकता है ?

विदूषकः—[जह राआणुएण गंतव्वं तह गच्छामि ।] यथा राजानुजेन गन्तव्यं तथा गच्छामि ।

विदूषक—जिस भाँति राजा के छोटे भाई को जाना चाहिये, उसी भाँति जाऊँगा।

राजा—ननु तपोवनोपरोधः परिहरणीय इति सर्वाननुयात्रिकां-स्त्वयैव सह प्रस्थापयामि।

राजा—तपोवन को बाधाओं से बचाना चाहिये, अतः सभी अनुयायियों को तुम्हारे ही साथ भेज रहा हूँ।

विदूषकः—(सगर्वम्) [तेण हि जुवराओ म्हि दाणिं संवुत्तो।] तेन हि युवराजोऽस्मीदानीं संवृतः।

विदूषक—(गर्व के साथ) तब तो मैं अब युवराज हो गया हूँ।

राजा—(स्वगतम्) चपलोऽयं वटुः कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत्। भवतु। एनमेवं वक्ष्ये। (विदूषकं हस्ते गृहीत्वा, प्रकाशम्) वयस्य! ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापस-कन्यकायां ममाभिलाषः। पश्य—

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो
मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे
परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥१८॥

अन्वयः—सखे! वयं क्व, मृगशावैः समम् एधितः परोक्षमन्मथः जनः क्व। परिहासविजल्पितं वचः परमार्थेन न गृह्यताम्।

संस्कृत-व्याख्या—सखे! = हे मित्र!, वयम् = विविधोपचारयुक्ता नाना-कौशल-विदग्धाः नागराः, क्व = कुत्र वर्त्तामहे, मृगशावैः = हरिणशिशुभिः, समम् = सह, ऐधितः = वृद्धिगतः, परोक्षमन्मथः = मदनभावानभिज्ञः, जनः = शकुन्तलारूपआरण्यको जनः, क्व = कुत्र वर्त्तते। **परिहासविजल्पितम्** = उप-हासेन विविधं कथितम्, वचः = शकुन्तलानुरागविषयकं पूर्वोक्तं मे वचनम्, पर-मार्थेन = यथार्थरूपेण सत्यरूपेण वा, न गृह्यताम् = न ज्ञायताम्।

राजा—(अपने मन में) यह (ब्राह्मण) बालक चंचल है। कहीं हमारी (शकु-न्तला सम्बन्धी) अभिलाषा को अन्तःपुर की स्त्रियों से (रानियों से) न कह दे। अच्छा, इससे इस प्रकार कहता हूँ। (विदूषक का हाथ पकड़कर, प्रकट रूप में) मित्र! ऋषियों के प्रति आदरभाव के कारण आश्रम में जा रहा हूँ। वस्तुतः तपस्वीकन्या के प्रति मेरी (कोई) इच्छा नहीं है। देखो—

हे मित्र ! कहाँ हम और कहाँ हरिणों के बच्चों के साथ वृद्धि को प्राप्त, कामभाव से सर्वथा अपरिचित व्यक्ति (शकुन्तला) ? हास्य में कही गई बात को सत्य न समझ लेना ।

अलङ्कार तथा छन्दः—उपर्युक्त श्लोक में दो पृथक् पृथक् स्वरूप वाले राजा एवं शकुन्तला के एक ही स्थान पर किये गये वर्णन के कारण 'विषम' अलंकार है। श्लोक का पूर्वार्ध भाग उत्तरार्ध भाग के प्रति कारण होने से 'काव्यलिङग' अलंकार है । छन्दः—इसमें वियोगिनी नामक छन्द है । लक्षण—"**विषमे ससजा गुरुः समे समरालोऽथ गुर्वियोगिनी।**"

समास आदिः—मृगशावैः = मृगाणां शावैः (तत्पुरुष) । **परोक्षमन्मथः** = परोक्षः मन्मथः यस्य सः । **परिहासविजल्पितम्** = परिहासेन विजल्पितम् (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**अस्मत्प्रार्थनाम्** = मेरी शकुन्तलाविषयक इच्छा को। **अन्तः-पुरेभ्यः** = यहाँ लक्षणा शक्ति द्वारा अन्तःपुर की स्त्रियाँ अथवा रानियाँ, अर्थ स्पष्ट होता है । **परोक्षमन्मथः** = काम-कला से अपरिचित । अर्थात् जिसको प्रेम की बातों का अनुभव नहीं है। **परिहासविजल्पितम्** = हँसी में कही हुई बात को। **परमार्थेन न गृह्यताम्** = सच मत मान लेना । राजा के कहने का भाव यह है कि मैं तो सांसारिक विषय-वासनाओं से सर्वथा परिचित हूँ और वे तापस-कन्यायें तो यहाँ मृगों के साथ विचरण करती रही हैं अतः उन्हें काम-केलि का क्या ज्ञान ? ऐसी स्थिति में हमारा उनके साथ प्रणय होना कैसे संभव है ? हमने जो कुछ तुमसे कहा है वह हास्य में कहा है । तुम उसे सत्य न समझ लेना ।

यहाँ राजा के (स्वगतम्) से लेकर अन्त तक 'संवृत्ति' नामक संधि का अंग है । उसका लक्षण है—"संवृतिः स्वयमुक्तस्य स्वयं प्राच्छादनं भवेत्" । इस स्थल पर विदूषक का शकुन्तला को विना देखे ही राजधानी को लौट जाना तथा राजा द्वारा यह कहा जाना कि "मैंने जो कुछ भी शकुन्तला के बारे में कहा वह सब हास्य मात्र है" नाट्यकला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । ऐसा प्रतीत होता है कि राजा के इस कथन का विदूषक पर पूर्णतया प्रभाव पड़ा है और उसने राजा की बात को सत्य ही मान लिया है क्योंकि पंचम अथवा आगामी अंकों में शकुन्तला का विषय पुनः प्रस्तुत होने पर वह इन बातों का उल्लेख राजा से नहीं करता है ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

(इसके पश्चात् सब निकल जाते हैं ।)

इति द्वितीयोऽङ्कः

दूसरा अंक समाप्त हुआ

इत्यभिज्ञान-शाकुन्तलस्याचार्य-सुरेन्द्रदेव-कृतायां "आशुबोधिनी" व्याख्यायां द्वितीयोऽङ्कः समाप्तः ॥

तृतीयोऽङ्कः

अथ विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति कुशानादाय यजमानशिष्यः)

(तदनन्तर कुशों को लेकर यजमान का शिष्य प्रवेश करता है ।)

शिष्यः—अहो ! महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः । प्रविष्टमात्र एवाश्रमं तत्रभवति राजनि निरुपद्रवाणि नः कर्माणि प्रवृत्तानि भवन्ति ।

का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरतः ।
हुंकारेणैव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ॥१॥

अन्वयः—बाणसन्धाने का कथा, हि स दूरतः ज्याशब्देन एव धनुषः हुंकारेण इव विघ्नान् अपोहति ।

संस्कृत-व्याख्या—बाणसन्धाने = धनुषि बाणारोपणे, का कथा = किमुच्यते—(तत्प्रसंग एव नास्तीत्यर्थः) हि = यतः, सः = राजा दुष्यन्तः, दूरतः = दूरादेव, ज्याशब्देनैव—धनुर्गुणस्य ध्वनिना एव, धनुषः = कार्मुकस्य, हुंकारेण इव = 'हुम्' इति शब्देन 'इव' इत्युत्प्रेक्षायाम्, विघ्नान् = उपद्रवान्, अपोहति = निराकरोति दूरीकरोति वा ।

शिष्य—अहो ! राजा दुष्यन्त महान् प्रभावशाली हैं । आदरणीय राजा के आश्रम में प्रवेश करने मात्र से ही हमारे (सभी धार्मिक) कृत्य विघ्नरहित हो गये हैं ।

(धनुष पर) बाण चढ़ाने की तो बात ही क्या है ? क्योंकि वह तो दूर से ही प्रत्यंचा के शब्द मात्र सें मानो धनुष के हुंकार शब्द से, विघ्नों को दूर कर देता है ।

यावदिमान् वेदिसंस्तरणार्थं दर्भानृत्विग्भ्यः उपनयामि[1] । (परिक्रम्यावलोक्य च । आकाशे) प्रियंवदे, कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते ? (श्रुतिमभिनीय[2]) किं

पाठभेद—१. उपहरामि (देता हूँ) । २. आकर्ण्य (सुनकर)

ब्रवीषि ? आतपलङ्घनाद् बलवदवस्था शकुन्तला, तस्याः शरीरनिर्वापणायेति ? तर्हि यत्नादुपचर्यताम्[1] । सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम् । अहमपि तावद् वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि ।

(इति निष्क्रान्तः ।)

इति विष्कम्भकः ।

तब तक वेदी पर बिछाने के लिये इन कुशाओं को ऋत्विजों के पास ले जाता हूँ । (चारों ओर घूम कर और देखकर । आकाश की ओर देखकर) प्रियंवदा ! यह खस का लेप और कमलदण्ड से युक्त कमल-पत्र किसके लिये ले जा रही हो ? (सुनने का अभिनय करके) क्या कहा ? लू लग जाने के कारण शकुन्तला अस्वस्थ हो गयी है; उसके शरीर को शान्ति प्रदान करने के लिये ? तो सावधानी से (उसका) उपचार करना । वह वास्तव में भगवान् कण्व की प्राणस्वरूप है । मैं भी तब तक शकुन्तला के लिये यज्ञ सम्बन्धी शान्तिदायक जल गौतमी के हाथ भेजता हूँ ।

(यह कहकर चला जाता है)

(शुद्ध) विष्कम्भक समाप्त ॥

अलङ्कार तथा छन्द—उपर्युक्त श्लोक में 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है । छन्दः—इसमें श्लोक नामक वृत्त है ।

व्याकरणः—**यजमानशिष्यः** = यजमानः = यज् + लट् + शानच् (आन); **शिष्य**—शास्—क्यप् (य) (यहाँ पर "एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्" (अष्टा० ३।१।१०९) से क्यप् तथा "शास इदङ्हलोः" (अष्टा० ६।४।३४) से 'आ' के स्थान पर 'इ' हो जाता है ।) **सन्धान** = सम् + धा + ल्युट् (अन) । **अपोहति** = अप + ऊह् + लट् । "ऊह्" धातु आत्मनेपदी है किन्तु 'अप' उपसर्ग के पहले होने के कारण "उपसर्गादस्यति"...इत्यादि वार्तिक से यहाँ परस्मैपद हो गया है । **ऋत्विग्** = ऋतु + यज् + क्विन् ।

समास आदिः—**यजमानः** = यजते इति यजमानः । **महानुभावः** = महान् अनुभावः यस्य सः । **प्रविष्टमात्रे** = प्रविष्ट एव प्रविष्टमात्रस्तस्मिन् । **निरुपद्रवाणि** = निर्गता उपद्रवाः येषां तानि (बहुव्रीहि) । **बाणसन्धाने** = बाणस्य संधाने (तत्पुरुष) । **ऋत्विग्** = ऋतौ यजतीति ।

---

१. त्वरितं गम्यताम् (शीघ्र जाओ) ।

टिप्पणियाँ—**कुशान्** = कुश एक प्रकार की घास होती है। प्राचीन काल में गुरु के आश्रमों में निवास करने वाले शिष्य के लिये धर्मशास्त्र द्वारा विहित अनेक कर्तव्यों में से एक कर्तव्य इस पवित्र घास (कुश) को लाना भी था। **यजमानशिष्यः** = यज्ञ करने वाले ऋषि कण्व का शिष्य। **महानुभावः** = महान् प्रभाव वाला। **निरुपद्रवाणि** = विघ्नरहित। **का कथा** = क्या कहना। **ज्याशब्देनैव** = धनुष की डोरी की ध्वनिमात्र से ही। **अपोहति** = दूर करता है। **वेदिसंस्तरणार्थम्** = वेदि पर बिछाने के निमित्त। **ऋत्विग्भ्यः** = यज्ञकुण्ड के चारों ओर बैठने के लिये चार विद्वान् पंडितों की आवश्यकता हुआ करती है। इन्हींको ऋत्विग् कहा जाता है। इन चारों के नाम इस प्रकार हैं :—होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। **आकाश**—यह शब्द 'आकाशभाषित' को लक्षित करता है। किसी नाटक का अभिनय करते समय जब कोई पात्र आकाश की ओर दृष्टिपात करके किसी ऐसे व्यक्ति से कोई बात पूछता है कि जो रंगमंच पर उपस्थित ही न हो, और उससे उत्तर के श्रवण करने का बहाना सा करके "क्या कह रहे हो" ? इस प्रकार का प्रश्न करके स्वयं ही उस उत्तर को दोहराया करता है तब इस प्रकार के प्रश्नोत्तर को "आकाशभाषित" कहा जाता है। दशरूपक में इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है :—

"किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम्॥"

आतपलङ्घनात् = लू लग जाने से। **उच्छ्वसितम्** = उनके लिये वह उतनी ही मूल्यवान् है जितना उनका अपना जीवन। **वैतानिकम्**—यज्ञ सम्बन्धी। **विष्कम्भकः**—विष्कभ्नाति इति विष्कम्भकः। कथावस्तु के वे अंश कि जिनका अंकों में विस्तारपूर्वक दिखलाया जाना अभीष्ट नहीं हुआ करता है किन्तु घटनाचक्र को समझने के निमित्त जिनका ज्ञान होना आवश्यक होता है उन्हें 'अर्थोपक्षेपक' कहा जाता है। ये अर्थोपक्षेपक ५ प्रकार के होते हैं १—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार, अंकमुख। बीते हुए तथा आगे होने वाले कथा के अंशों को दिखलाने वाले दृश्य का ही नाम 'विष्कम्भक' है। (लक्षण—वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः। संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावंकस्य दर्शितः॥ साहित्यदर्पण ६।५५॥) यह भी दो प्रकार का होता है (१)—शुद्ध, (२) मिश्र। एक अथवा अनेक मध्यम श्रेणी के पात्रों द्वारा कल्पित विष्कम्भक "शुद्ध" माना जाता है और एक मध्यम तथा एक नीच दो भिन्न वर्गों के पात्रों द्वारा कल्पित विष्कम्भक "मिश्र" अथवा संकीर्ण विष्कम्भक कहलाता है। यह अंक के आदि में आता है (मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः। शुद्धः स्यात् स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः॥ साहित्यदर्पण ६।५६॥) प्रस्तुत विष्कम्भक "शुद्ध" श्रेणी का विष्कम्भक है।

(ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा)

(तदनन्तर काम-पीड़ित अवस्था में राजा प्रवेश करता है)

राजा—(निश्वस्य)

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम् ।

अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥२॥

अन्वयः—तपसः वीर्यं जाने, सा बाला परवती इति मे विदितम् । तथापि इदं हृदयं ततः निवर्तयितुं अलं न अस्मि ।

संस्कृत-व्याख्या—तपसः = तपस्यायाः, वीर्यम् = शक्तिम्, जाने = अहं जानामि । सा बाला = युवतिः शकुन्तला, परवती = पराधीना, इति मे विदितम् = इति मे = इति मम, विदितम् = ज्ञातम् । तथापि = एतत् जानन्नपि, इदम् = एतत्, हृदयम् = मनः, ततः = (पराधीनायाः) शकुन्तलायाः, निवर्तयितुम् = निवारयितुम्, अलम् = समर्थः, न अस्मि ।

राजा— (लम्बी श्वास लेकर) मैं तप के प्रभाव को जानता हूँ । वह युवती शकुन्तला पराधीन है, यह भी मुझे ज्ञात है । फिर भी मैं अपने इस मन को उससे हटाने में समर्थ नहीं हूँ ।

अलंकार—तपस्या की शक्ति जानने रूपी कारण से अपने मन को हटा न सकने रूपी अप्रस्तुत कार्य के कारण अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है । **छन्दः**—इसमें आर्या छन्द है ।

व्याकरणः—**कामयमान** = कम् + णिङ + शानच् (यहाँ "आने मुक्" (अष्टा० ७।२।८२) से 'मुक' का आगम होता है ।), **जाने** = ज्ञा + लट् {उत्तम पु० एकवचन) यहाँ "अनुपसर्गाज्ज्ञः") १।३।७६) से आत्मनेपद हो जाता है । **निवर्त्तयितुम्** = नि + वृत् + णिच् + तुमुन् ।

समास आदिः—**कामयमानावस्थः**—कामयमानस्य अवस्था इव अवस्था यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**कामयमानावस्थः** = कामियों के सदृश अवस्था वाला । **जाने तपसो वीर्यम्** = मैं तपस्या के बल अथवा प्रभाव को भली भाँति जानता हूँ इस कारण मैं शकुन्तला को बलात् नहीं ले जा सकता हूँ । **सा बाला परवतीति** = वह शकुन्तला पराधीन है । अतः वह अपनी इच्छा होने पर भी मेरे साथ नहीं जा सकती है । **ततः निवर्त्तयितुं न अलम्** = मैं प्रयत्न करने पर भी अपने (उसकी ओर आसक्त) मन को हटाने में असमर्थ हूँ । कोई उपाय दृष्टिगोचर न हो सकने के कारण यहाँ पर 'तापन' नामक प्रतिमुख सन्धि का अंग है । लक्षण—उपायासन्दर्शनं यत्तु तापनं नाम तद् भवेत् ॥ साहित्यदर्पण ६।९१॥

विशेष—उपर्युक्त श्लोक की उत्तरार्द्ध पंक्ति में निम्न प्रकार पाठभेद मिलता है :—

"न च निम्नादिव सलिलं निवर्त्तते मे ततो हृदयम्" ॥

अर्थात् जैसे किसी नीचे स्थान से ऊपर की ओर जल (स्वयं) नहीं चढ़ा करता है, उसी प्रकार मेरा मन भी उसकी (शकुन्तला की) ओर से फिरता ही नहीं है।

कुछ संस्करणों में इसके बाद निम्न अंश अधिक उपलब्ध होता है :—

भगवन् ! मन्मथ ! कुतस्ते कुसुमायुधस्य सतस्तैक्ष्ण्यमेतत्। (स्मृत्वा) आं ज्ञातम्—

"अद्यापि नूनं हरकोपवह्निस्त्वयि ज्वलत्यौर्व इवाम्बुराशौ।
त्वमन्यथा मन्मथ ! मद्विधानां भस्मावशेषः कथमेवमुष्णः ॥

अर्थ—हे भगवन् कामदेव ! तुम तो 'कुसुमशर' कहलाते हो, फिर तुम्हारे अन्दर इतनी तीक्ष्णता कहाँ से आई ? (स्मरण करके) अच्छा, समझ गया—

आज भी तुम्हारे शरीर के अन्दर समुद्र की वडवाग्नि के सदृश शिव की क्रोधाग्नि धधक रही है। अन्यथा हे कामदेव ! भस्मरूप में अवशिष्ट तुम मुझ जैसे व्यक्तियों के लिये इतने सन्तापकारी कभी न होते।

(मदनबाधां निरूप्य) भगवन्कुसुमायुध ! त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्यामतिसंधीयते कामिजनसार्थः। कुतः—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥३॥

अन्वयः—तव कुसुमशरत्वं, इन्दोः शीतरश्मित्वम् इदं द्वयं मद्विधेषु अयथार्थं दृश्यते। इन्दुः हिमगर्भैः मयूखैः अग्निं विसृजति। त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि।

संस्कृत व्याख्या—तव = कामदेवस्य, कुसुमशरत्वम् = पुष्पबाणसंज्ञत्वम्, इन्दोः = चन्द्रमसः, शीतरश्मित्वम् = हिमांशुसंज्ञत्वम्, इदं द्वयम् = एतदुभयम्, मद्विधेषु = मादृशेषु कामपीडितेषु विरहिषु विषये, अयथार्थम् = असत्यं विरुद्धार्थं वा, दृश्यते = ज्ञायते। यतो हि इन्दुः = चन्द्रः, हिमगर्भैः = तुषारपूर्णैः, मयूखैः = रश्मिभिः, अग्निम् = अनलम्, विसृजति = वर्षति। त्वमपि = त्वं कामदेवोऽपि, कुसुमबाणान् = पुष्पशरान्, वज्रसारीकरोषि = वज्रमिव कठिनान् करोषि।

(कामदेव की पीड़ा का अभिनय करके) भगवन् कामदेव ! तुम तथा चन्द्रमा विश्वासपात्र होते हुए भी कामिजनों के समूह को ठगा करते हो। क्योंकि :–

तुम्हारा पुष्प-बाण होना तथा चन्द्रमा का शीतल किरणों वाला होना, ये दोनों ही मुझ जैसे (कामपीड़ितों) के लिये असत्य दिखलाई देते हैं। (क्योंकि) चन्द्रमा (अपनी) शीतल किरणों से (मेरे ऊपर) अग्नि की वर्षा करता है और तुम भी (अपने) फूल के बाणों को वज्र के सदृश कठोर बना लेते हो।

अलंकार तथा छन्द:—इस श्लोक में उत्तरार्ध भाग पूर्वार्ध के प्रति कारण है अत: 'काव्यलिंग' अलंकार है। "हिमगर्भैः अग्नि विसृजति" में विरोधाभास अलंकार है। विरही पुरुषों को इस प्रकार की अनुभूति का होना स्वाभाविक है। कुसुमबाणान् में फूलों पर बाण का आरोप विरह-दु:ख का कारण होने से यहाँ पर उपयोगी है; अत: परिणाम अलंकार है। इसके अतिरिक्त इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार भी है। इस श्लोक में 'मयि' विशेष के स्थान पर "मद्विधेषु" सामान्य का कथन किया गया है। सामान्य द्वारा विशेष की प्रतीति होने के कारण अप्रस्तुत प्रशंसा है। छन्द:—इस श्लोक में 'मालिनी' वृत्त है।

व्याकरण:—अति संधीयते = अति + सम् + धा (ठगना)।

समास आदि:—**कामिजनसार्थ:** = कामी चासौ जनश्चेति कामिजन: तेषां सार्थ:। **कुसुमशरत्वम्** = कुसुमानि एव शरा: यस्य तस्य भाव: (बहुव्रीहि)। **शीतरश्मित्वम्** = शीता: रश्मय: यस्य तस्य भाव: (बहुव्रीहि)। **हिमगर्भै:** = हिमं गर्भे येषां तै: (बहुव्रीहि)। **अयथार्थम्** = अर्थस्य योग्यं यथार्थं, न यथार्थं अयथार्थम्। **कुसुमबाणान्** = कुसुमान्येव बाणा: तान्। **वज्रसारीकरोषि** = वज्रस्य सार इव सारो येषां ते वज्रसारा: (बहुव्रीहि), अवज्रसारान् वज्रसारान् करोषि वज्रसारीकरोषि।

टिप्पणियाँ—**विश्वसनीयाभ्याम्** = कामदेव को पुष्पों के बाणों वाला कहा जाता है तथा चन्द्रमा शीतल किरणों से युक्त है अत: ताप-शामक होने से दोनों ही विश्वसनीय हैं, परन्तु कामपीड़ित व्यक्तियों के लिये दोनों ही अत्यन्त दु:खदायी हैं। **अतिसंधीयते** = ठगा जाता है (प्रतार्यते)। **कुसुमशरत्वम्** = फूलों के बाण वाला होना। कामदेव के जो पाँच प्रकार के फूल बाण माने जाते हैं, वे हैं :—अरविन्द, अशोक, आम, नवमालिका और नीलकमल (अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायका: ।।) कहीं नवमालिका के स्थान पर शिरीष का भी उल्लेख प्राप्त होता है। कार्य की दृष्टि से उनके पाँच बाणों के प्रकार ये हैं :—"उन्मादनस्तापनश्च शोषण: स्तम्भनस्तथा। संमोहनश्च कामस्य पञ्च बाणा: प्रकीर्तिता: ।।" **शीतरश्मित्वम्** = शीतल किरणों वाला होना। चन्द्रमा को अमृत का सागर अथवा भंडार माना गया है अत: उसकी किरणों का शीतलता-प्रदान करना स्वाभाविक ही है। **अयथार्थ** = ठीक अर्थ वाला न होना अर्थात् असत्य अथवा विरुद्ध अर्थ वाला होना। **मद्विधेषु** =

मेरे सदृश व्यक्तियों के विषय में। **हिमगर्भः**=हिम अथवा तुषार जिनके अन्दर विद्यमान है—अर्थात् शीतल।

*(परिक्रम्य) क्व नु खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यैरनुज्ञातः खिन्नमात्मानं[1] विनोदयामि। (निश्वस्य) किं नु खलु मे प्रिया-दर्शनादृते शरणमन्यत्। यावदेनामन्विष्यामि। ([2]सूर्यमवलोक्य) इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति। तत्रैव तावद् गच्छामि। (परिक्रम्य,† संस्पर्शं रूपयित्वा) अहो, प्रवातसुभगोऽयमुद्देशः।

---

*इसके पश्चात् कुछ संस्करणों में निम्न पाठ अधिक मिलता है:—

अथवा—अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो मे।
यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति॥

भगवन्! एवमुपालब्धस्य ते न मां प्रत्यनुक्रोशः।
वृथैव संकल्पशतैरजस्रम्, अनंग! नीतोऽसि मयाऽतिवृद्धिम्।
आकृष्य चापं श्रवणोपकण्ठे मय्येव युक्तस्तव बाणमोक्षः॥

अथवा—यदि कामदेव मुझे लक्ष्य में रखकर उस मादकता भरी नेत्रोंवाली शकुन्तला को भी पीड़ित करता है तब तो वह सदा मेरे मन को दुःखित करते हुए होने पर भी मुझे प्रिय है।

भगवन्! इस भाँति उलाहना देने वाले मुझ पर तुमको दया नहीं आती—हे कामदेव! निरन्तर सैकड़ों प्रकार के व्यर्थ के संकल्पों को कर करके मैंने तुमको इतना अधिक बढ़ाया है। ऐसी दशा में क्या तुम्हारे लिये यह उचित है कि कानों तक धनुष खींच कर तुम मुझ ही पर बाण छोड़ो?

पाठभेद—१. श्रमक्लान्तम् (परिश्रम से खिन्न)
२. ऊर्ध्वमवलोक्य (ऊपर की ओर देखकर)

† कुछ संस्करणों में यहाँ पर निम्न पाठ अधिक मिलता है:—
(परिक्रम्यावलोक्य च) अनया बालपादपवीथ्या सुतनुरचिरं गतेति तर्कयामि। कुतः—

शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरङ्गाणाम् ।
अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः ॥४॥

अन्वयः—अनंगतप्तैः अंगैः अरविन्दसुरभिः मालिनीतरंगाणां कणवाही पवनः अविरलं आलिंगितुं शक्यम् ।

संस्कृत-व्याख्या—अनंगतप्तैः = कामसन्तप्तैः, अंगैः = शरीरावयवैः, अरविन्दसुरभिः = कमलसुगन्धिः, मालिनीतरंगाणाम् = मालिन्याः तन्नामसरितः तरंगाणां कल्लोलानाम्, कणवाही = जलविन्दुधारी, पवनः = वनमारुतः, अविरलम् = गाढं यथा स्यात्तथा दृढमित्यर्थः, आलिंगितुम् = स्प्रष्टुम्, शक्यम् = योग्यमस्ति ।

(चारों ओर घूमकर) यज्ञ कर्म सम्पन्न हो जाने पर सदस्यों (ऋषियों) द्वारा जाने की अनुमति पाकर मैं अपने खिन्न मन को कहाँ पर बहलाऊँ ? (गम्भीर श्वास लेकर) प्रिया के दर्शन के अतिरिक्त मेरे लिये और क्या शरण (आश्रय) है ? तब तक उसी को खोजता हूँ । (सूर्य की ओर देखकर) शकुन्तला सखियों सहित इस तेज धूप वाले समय को प्रायः लता के कुंजों से युक्त मालिनी नदी के किनारे बिताया करती है । तो वहीं जाता हूँ । (चारों ओर घूम कर , वायु के स्पर्श का अभिनय करके) ओह ! यह स्थान सुखद वायु के कारण सुहावना है ।

(यहाँ पर) काम से संतप्त अंगों द्वारा, कमलों की सुगन्ध से युक्त (एवं) मालिनी की तरंगों के कणों का वहन करने वाले वायु का गाढ़ आलिंगन किया जा सकता है ।

सम्मीलन्ति न तावद्बन्धनकोषास्तयावचितपुष्पाः ।
क्षीरस्निग्धाश्चामी दृश्यन्ते किसलयच्छेदाः ॥

(चारों ओर घूमकर और देखकर) इन छोटे छोटे पौधों से युक्त मार्ग से वह कोमल अंगों वाली (शकुन्तला) अभी ही गयी है । ऐसी मैं तर्कना करता हूँ । क्योंकि :—

उसके द्वारा फूल तोड़े जाने के कारण फूलों के डंठल (वृन्त) अभी तक संकुचित नहीं हुए हैं और अभी भी नवीन पत्रों (कोंपलों) के भाग दूध के गिरने से आर्द्र (तर) दिखलाई पड़ रहे हैं ।

अलंकार तथा छन्द—उपर्युक्त श्लोक में वायु के सहायक होने के कारण 'समाहित' अलंकार है। लक्षण—"कार्यारम्भे सहायाप्तिः"। शीतल एवं सुगन्धित वायु में मित्र के सदृश आलिंगन आदि कार्यों का आरोप किये जाने से 'समासोक्ति' अलंकार है। छन्दः—इसमें आर्या छन्द है।

व्याकरण—**सदस्य**—सदस्+यत् (य) यहाँ "तत्र साधुः" (अष्टा० ४।४।९८) सूत्र से साधु अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। **खिन्नम्**—खिद+क्त। **शक्यम्**—शक्+यत् (य) यहाँ "शकिसहोश्च" (अष्टा० ३।१।९९) से 'यत्' होता है। वस्तुतः यहाँ पर "पवनः आलिंगितुं **शक्यः**" का प्रयोग किया जाना चाहिये था किन्तु यहाँ 'शक्यम्' का प्रयोग कर्म की अविवक्षा के कारण नपुंसकलिंग एकवचन है। इस प्रकार के प्रयोग महाभाष्य के प्रथम आह्निक में उपलब्ध होते हैं। अतः यहाँ पर "पवनः आलिंगितुं शक्यम्" का अर्थ है "पवनस्य आलिंगनं शक्यम्"।

समास आदि—**सदस्यैः**—सदसि साधवः सदस्याः तैः। **अरविन्दसुरभिः**= अरविन्दैः सुरभिः (तत्पुरुष)। **कणवाही**=कणान् वहतीति। **मालिनीतरंगाणाम्**= मालिन्याः तरंगाणाम् (तत्पुरुष)। **अनंगतप्तैः**=अनंगेन तप्तैः (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**संस्थिते**=समाप्त होने पर। संस्थित शब्द का अर्थ 'मृत' भी होता है। **सदस्यैः**—विधिदर्शिभिः। विधि को बतलाने वाले अथवा मन्त्रों की विधियों का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों से ("सदस्याः विधिदर्शिनः" इत्यमरः)। प्राचीन काल में किसी सभा आदि में बैठने वाले व्यक्ति को भी 'सदस्य' कहा जाता था। इस समय भी 'सदस्य' शब्द का उक्त अर्थ में प्रयोग मिलता है। **प्रियादर्शनादृते**—यहाँ 'ऋते' शब्द के योग में पंचमी विभक्ति हुई है। शकुन्तला के दर्शन के बिना। **प्रवातसुभगः**=उत्तम वायु के कारण सुहावना। **अरविन्दसुरभिः**=कमलों की सुगन्ध से युक्त।

(परिक्रम्यावलोक्य च) अस्मिन् वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे संनिहितया तया[1] भवितव्यम्। तथा हि, (अधो विलोक्य)—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात् पश्चात्।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥५॥

यावद् विटपान्तरेणावलोकयामि। (परिक्रम्य, तथा कृत्वा, सहर्षम्) अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम्। एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसु-

---

१. पाठभेद—शकुन्तलया (शकुन्तला के द्वारा)।

मास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते । भवतु । श्रोष्याम्यासां विश्रम्भकथितानि ।

(इति विलोकयन् स्थितः ।)

अन्वयः—अस्य पाण्डुसिकते द्वारे पुरस्तात् अभ्युन्नता, जघनगौरवात् पश्चात् अवगाढा, अभिनवा पदपङ्क्तिः दृश्यते ।

संस्कृत-व्याख्या—अस्य = लतामण्डपस्य, पाण्डुसिकते = पीतवर्णवालुका-विशिष्टे, द्वारे = प्रवेशमार्गे, पुरस्तात् = अग्रभागे, अभ्युन्नता = समुन्नता, जघन-गौरवात् = कटिभागस्य गुरुत्वात्, पश्चात् = पृष्ठतः, अवगाढा = किंचद् निम्ना, अभिनवा = सद्यः पतिता, पदपङ्क्तिः—चरणचिह्नावलिः, दृश्यते = विलोक्यते ।

(घूमकर और देखकर) बेंत से घिरे हुए इस लतामण्डप में उसको (शकुन्तला को) विद्यमान होना चाहिये । क्योंकि—(नीचे की ओर देखकर)—

इसके (इस लतामण्डप के) धवल वर्ण की बालू से युक्त द्वार पर आगे की ओर उठी हुई और कटिप्रदेश के भारी होने के कारण पीछे की ओर कुछ गहरी नवीन पैरों के चिह्नों की पंक्ति दृष्टिगोचर हो रही है ॥५॥

तो मैं शाखाओं के मध्यभाग में से देखता हूँ । (घूमकर, उसी प्रकार करके, हर्ष के साथ) ओह, मेरी आँखों को पूर्ण आनन्द मिल गया । यह फूलों के बिछौने से युक्त शिलापट्ट पर लेटी हुई, मेरी मानसिक प्रियतमा (अपनी) दो सखियों द्वारा सेवित की जा रही है । अच्छा, इसके विश्वस्त (अथवा गुप्त) रूप में कहे गये हुए वचनों को सुनूंगा ।

(यह कहकर देखता हुआ खड़ा रहता है ।)

अलंकार तथा छन्दः—उपर्युक्त श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार है । चरणचिह्नों की पंक्ति द्वारा शकुन्तला का अनुमान किये जाने के कारण अनुमान अलंकार है । (अनुमानं च कार्यादेः कारणाद्यवधारणम् ।) शकुन्तला की उपस्थिति इसी लतामण्डप में है । इसका प्रकारान्तर द्वारा वर्णन किये जाने से 'पर्यायोक्ति' अलंकार है । छन्दः—इसमें आर्या छन्द है ।

व्याकरणः—**अभ्युन्नत**—अभि + उत् + नम्—क्त । **अवगाढा**—अव + गाह + क्त । **निर्वाण**—निर् + वा + क्त (यहाँ "निर्वाणोऽवाते" (अष्टा० ८।२।५०) से 'त्' के स्थान पर 'न' हो जाता है ।)

समास आदि—वेतसपरिक्षिप्ते = वेतसैः परिक्षिप्ते (तत्पुरुष) । जघन-गौरवात् = जघनस्य गौरवात् (तत्पुरुष) । पाण्डुसिकते = पाण्डवः सिकताः

यत्र तस्मिन् (बहुव्रीहि) । **पदपङ्क्तिः**=पदानां पंक्तिः इति (तत्पुरुष) । **विटपान्तरेण**=विटपानां अन्तरेण (तत्पुरुष) । **नेत्रनिर्वाणम्**=नेत्रयोः निर्वाणम् (तत्पुरुष) । **मनोरथप्रियतमा**=मनोरथानां प्रियतमा (तत्पुरुष) । **सकुसुमास्तरणम्**=कुसुमानां आस्तरणं कुसुमास्तरणं (तत्पुरुष) । तेन सहितमिति । **विश्रम्भकथितानि**=विश्रम्भः यथा-स्यात्तथा कथितानि इति ।

टिप्पणयाँ—**परिक्षिप्ते**—चारों ओर से घिरे हुए । **अभ्युन्नता**=ऊपर की ओर उठी हुई । अँगुलियों की ओर पैर का भार कम हुआ करता है अतः इस ओर का पैर का चिह्न कुछ हलका है तथा एड़ी की ओर का पद-चिह्न कुछ गहरा है क्योंकि उस ओर कमर का भार भी उस पर पड़ा करता है । **अवगाढा**=गहरा, कुछ नीचे की ओर दबा हुआ । **जघनगौरवात्**=जंघाओं के भारीपन से अथवा जघन प्रदेश (नितम्ब प्रदेश) के भारीपन के कारण । **पाण्डुसिकते**=पाण्डु (श्वेत और पीत) वर्ण की बालुका से युक्त । **अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्**=(निर्वाण का अर्थ है मोक्ष अथवा परम आनन्द) अहो, नेत्रों का परम आनन्द प्राप्त कर लिया अर्थात् नेत्रों को देखने का सर्वाधिक आनन्द की प्राप्तिरूप शकुन्तला का दर्शन प्राप्त हो गया । यह महाकवि कालिदास की संकेतात्मक अथवा व्यंजनाप्रधान शैली का एक निदर्शन है । कवि ने यहाँ शकुन्तला के दर्शन से राजा के मन में उत्पन्न हुए प्रभाव को कितने सुन्दर रूप में एक ही छोटे से वाक्य में अभिव्यक्त किया है । **मनोरथप्रियतमा**=मन से मानी हुई प्रियतमा । क्योंकि अभी तक शकुन्तला राजा दुष्यन्त की वास्तविक रूप में प्रिया नहीं बन सकी थी । **शिलापट्टमधिशयाना**=यहाँ पर 'शिलापट्टम्' शब्द में अधि - उपसर्गपूर्वक शीङ धातु के योग में (अधिशीङ्स्थासां कर्म, अष्टा० १।४।४६ से) द्वितीया विभक्ति होती है । शिलापट्ट पर लेटी (सोती) हुई । **अन्वास्यते**=सेवा की जा रही है । **विश्रम्भकथितानि**=विश्वास के साथ कही गई हुई बातें और संकोचरहित स्पष्ट रूप से कहे गये हुए कथन ।

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला ।)

(तदनन्तर अपनी सखियों से युक्त पूर्वोक्त अवस्था में विद्यमान शकुन्तला प्रवेश करती है ।)

सख्यौ—(उपवीज्य सस्नेहम्) [हला सउन्दले ! अवि सुहेदि दे णलिणीपत्तवादो ?] हला शकुन्तले ! अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवातः ?

दोनों सखियाँ—(हवा करके, प्रेम सहित) सखी शकुन्तला ! क्या कमल के पत्ते की हवा तुमको सुख दे रही है ?

शकुन्तला—[किं वीअअन्ति मं सहीओ ?] किं वीजयतो मां सख्यौ ?

शकुन्तला—क्या सखियाँ मेरे ऊपर हवा कर रही हैं ?

(सख्यौ विषादं नाटयित्वा परस्परमवलोकयतः ।)

(दोनों सखियाँ परस्पर एक दूसरी की ओर विषादपूर्ण नेत्रों से देख रही हैं।)

राजा—बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते। (सवितर्कम्) तत्किमयमातपदोषः स्यात्, उत यथा मे मनसि वर्तते ? (साभिलाषं निर्वर्ण्य) अथवा कृतं सन्देहेन ।

स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिल[1]मृणालैकवलयं
प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम् ।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-
र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु ॥६॥

अन्वयः—प्रियायाः स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयं साबाधं इदं वपुः किमपि कमनीयम्। युवतिषु मनसिजनिदाघप्रसरयोः तापः समः कामम् । तु ग्रीष्मस्य अपराद्धं एवं सुभगं न ।

संस्कृत-व्याख्या—प्रियायाः = शकुन्तलायाः, स्तनन्यस्तोशीरम् = स्तनयोः कुचयोः न्यस्तं तापोपशमनाय दत्तं उशीरं नलदानुलेपः यत्र तत्तादृशम्, प्रशिथिल-मृणालैकवलयम् = प्रशिथिलं शरीरदौर्बल्यात् श्लथीभूतं शिथिलं संजातं वा मृणालस्य कमलनालस्य एकं अनन्यं वलयं कंकणं यस्मिन् तत्, साबाधम् = आसमन्ताद् बाधया पीडया सहितम् (अस्वस्थमित्यर्थः), इदम् = पुरो दृश्यमानम्, वपुः = शरीरम्, किमपि = अनिर्वचनीयतया, कमनीयम् = चेतोहरं मनोज्ञं वा अस्ति । युवतिषु = आरूढ़यौवनासु तरुणीषु विषये, मनसिज-निदाघ-प्रसरयोः = मनसिजः कामः, निदाघः ग्रीष्मः तयोः प्रसरौ वेगौ तयोः, तापः = दाहः (सन्तापः), समः = तुल्यः, कामम् = इत्यनुमतम् । तु = किन्तु, ग्रीष्मस्य = निदाघस्य आतपस्य वा, अपराद्धम् = तापप्रदत्वादपराधः, एवम् = ईदृशम्, सुभगम् = सौन्दर्यवर्धकम् न = न भवति ।

प्रिया (शकुन्तला का) स्तनों पर रखे हुए खस से युक्त और (शरीर की दुर्बलता के कारण) ढीले हुए कमल-दण्ड-निर्मित एक कंकण से युक्त यह शरीर क्या ही सुन्दर है ? यद्यपि काम और ग्रीष्म के वेगों का ताप (सन्ताप) समान ही हुआ करता है, किन्तु गर्मी (लू) के सन्ताप का स्त्रियों के विषय में, ऐसा सौन्दर्यवर्धक (अथवा सुहावना) अपराध नहीं हुआ करता है ।

१. पाठभेदः—शिथिलित (शिथिल हुए) ।

अलंकार एवं छन्द:—शकुन्तला के शरीर में विद्यमान एक प्रकार के सन्ताप के निवारणरूप कार्य की सिद्धि के निमित्त "स्तनन्यस्तोशीरम्" "प्रशिथिलमृणालैक-वलयम्" इन दो प्रकार के विशेषण रूप कारणों के वर्णन के होने से यहाँ 'समुच्चय' अलंकार है। (भूयसामेकसम्बन्धभाजां गुम्फः समुच्चयः ।)। शकुन्तला के शरीर में स्वस्थता के कारणों के न होने पर भी (शकुन्तला पूर्ण अस्वस्थ है।) कमनीयता रूप कार्य का वर्णन होने के कारण 'विभावना' अलंकार है (विभावना विनाऽपि स्यात्कारणं कार्यजन्म चेत्)। सन्तापादि बाधाओं से युक्त कारण के होने पर भी सौंदर्यनाश रूपी कार्य के न होने से 'विशेषोक्ति' अलंकार है। 'शकुन्तला' के स्थान पर 'युवतिषु' का वर्णन होने से 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार है। छन्दः—इसमें 'शिखरिणी' वृत्त है।

व्याकरण—सुखयति = सुख + णिच्—लट्।

समास आदि—**यथोक्तव्यापारा** = यथोक्तो व्यापारो यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **अस्वस्थशरीरा** = अस्वस्थं शरीरं यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **आतपदोषः** = आतपस्य दोषः (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**यथोक्तव्यापारा** = पूर्वकथित अवस्था में। इससे विदित होता है कि रंगमंच पर दो पर्दों का प्रबन्ध होना चाहिये। शकुन्तला पर्दे के पीछे स्थित है तथा पर्दे के हटते ही वह लेटी हुई दृष्टिगोचर होती है। **विषादम्** = दुःख, शोक अथवा खेद या उदासी। शकुन्तला की दशा अधिक शोचनीय हो गई क्योंकि उसको अपने समीप में हो रहीं घटनाओं का भी पता नहीं है। अतः उसे पंखे की हवा का भी ज्ञान नहीं है। इस दशा को देखकर दोनों सखियाँ अधिक दुःखी हैं। **आतपदोषः** = लू का प्रभाव। दोष का अर्थ बुराई होता है, यहाँ पर उसका भाव "कुप्रभाव" से है। **कृतं सन्देहेन**—सन्देह से बस अर्थात् सन्देह करना व्यर्थ है। इस पर काम का ही प्रभाव है, लू का नहीं। **स्तनन्यस्तोशीरम्** = शारीरिक ताप की शान्ति के निमित्त छाती पर 'खस' का लेप किया गया था। **प्रशिथिलैकमृणालवलयम्** = शरीर की दुर्बलता के कारण केवल एक ही मृणाल द्वारा निर्मित कंकण शकुन्तला के हाथ में था। **साबाधम्** = पूर्ण रूप से पीड़ा-युक्त। **किमपि कमनीयम्** = अवर्णनीय रूप से (अर्थात् अत्यधिक) मनोहर। **मनसिजनिदाघप्रसरयोः** = काम और गर्मी दोनों के वेगों का। **अपराद्धम्** = अपराध। तात्पर्य यह है कि लू लगने और काम के प्रभाव–इन दोनों में समानता होने पर भी पर्याप्त अन्तर है। लू लगने से शरीर की कान्ति अथवा सौन्दर्य नष्ट हो जाया करता है तथा काम के प्रभाव में दुर्बलता के होने पर भी सुन्दरता बनी रहा करती है।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) [अणसूये ! तस्स राएसिणो पढम-दंसणादो आरहिअ पज्जसुआ विअ सउन्दला। किं णु खु से तण्णि-मित्तो अअं आतंको भवे ?] अनसूये ! तस्य राजर्षेः प्रथमदर्शनादारभ्य

पर्युत्सुकेव शकुन्तला। किं नु खलु अस्यास्तन्निमित्तोऽयमातङ्को भवेत्?

प्रियंवदा—(हाथ की ओट में) अनसूया, शकुन्तला उस राजर्षि के प्रथम दर्शन से लेकर ही व्याकुल सी है। तब क्या इसका यह उपद्रव (अस्वस्थता) उसके कारण ही हो सकता है?

अनसूया—[सहि! ममवि ईदिसी असंका हिअअस्स। होदु; पुच्छिस्सं दाव णं। (प्रकाशम्) सहि! पुच्छिदव्वासि किम्पि। वलवं खु दे संदावो।] सखि! ममापीदृश्याशङ्का हृदयस्य। भवतु, प्रक्ष्यामि तावदेनाम्। (प्रकाशम्) सखि! प्रष्टव्यासि किमपि। वलवान् खलु ते संतापः।

अनसूया—सखी, मेरे मन में ऐसी ही आशंका है। अच्छा; इससे पूछती हूँ। (प्रकट) सखी, तुमसे कुछ पूछना है। निश्चय ही तुम्हारा सन्ताप (पीड़ा) अत्यधिक तीव्र है।

शकुन्तला—(पूर्वार्धेन शयनादुत्थाय) [हला! किं वत्तुकामासि] हला! किं वक्तुकामाऽसि?

शकुन्तला—(शरीर के पूर्वार्ध भाग को शय्या से उठाकर) सखी, क्या कहना चाहती हो?

अनसूया—[हला सउन्दले! अणब्भन्तरा क्खु अम्हे मदणगदस्स वुत्तन्तस्स, किंदु जादिसी इदिहासणिबन्धेसु कामअमाणाणं अवत्था सुणीअदि तादिसीं दे पेक्खामि। कहेहि किं णिमित्तं दे संदावो। विआरं क्खु परमत्थदो अजाणिअ अणारंभो पडिआरस्स। [हला शकुन्तले! अनभ्यन्तरे खल्वावां मदनगतस्य वृत्तान्तस्य। किन्तु यादृशीतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं तव पश्यामि। कथय किं निमित्तं ते सन्तापः? विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य।

अनसूया—सखी शकुन्तला, हम दोनों वस्तुतः काम-सम्बन्धी बातों से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं। किन्तु ऐतिहासिक ग्रन्थों की कथाओं में काम-पीड़ितों की जैसी अवस्था सुनी जाती है वैसी तुम्हारी (अवस्था) देख रही हूँ। बतलाओ, तुम्हारे सन्ताप का क्या कारण है? वस्तुतः रोग को ठीक-ठीक रूप से जाने विना उपाय (चिकित्सा) का प्रारम्भ नहीं किया जा सकता है।

राजा—अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः । नहि स्वाभिप्रायेण मे दर्शनम् ।

राजा—अनसूया के अन्दर (के मन में) भी मेरा विचार पहुँच गया है। मेरा विचार व्यक्तिगत (अपने) अभिप्राय से नहीं था ।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) [बलवं क्खु मे अहिणिवेसो । दाणिं वि सहसा एदाणं ण सक्कणोमि णिवेदिदु ं ।] बलवान् खलु मेऽभिनिवेशः । इदानीमपि सहसैतयोर्न शक्नोमि निवेदयितुम् ।

शकुन्तला—(मन में) वस्तुतः मेरी (राजा के प्रति) आसक्ति बहुत तीव्र है । (किन्तु) इस समय भी एकाएक इनको बतलाने में असमर्थ हूँ ।

प्रियंवदा—[सहि सउन्दले ! सुट्ठु एषा भणादि । किं अत्तणो आतंकं उवेक्खसि ? अणुदिअहं क्खु परिहीअसि अंगेहिं । केवलं लावण्णमई छाया तुमं ण मुंचदि ।] सखि शकुन्तले ! सुष्ठु एषा भणति । किमात्मन आतंकमुपेक्षसे ? अनुदिवसं खलु परिहीयसेऽङ्गैः । केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति ।

प्रियंवदा—सखी शकुन्तला ! यह (अनसूया) ठीक कहती है । अपने रोग (आतंक) की उपेक्षा क्यों करती हो ? तुम प्रति दिन अंगों से दुर्बल होती जा रही हो । केवल सौन्दर्ययुक्त (शारीरिक) कान्ति ही तुमको नहीं छोड़ रही है ।

व्याकरणः—प्रतीकार = प्रति + कृ + घञ् (अ) । यहाँ "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" (अष्टा० ६।३।१२२) से विकल्प करके दीर्घ हो जाता है । इस प्रकार प्रतिकार व प्रतीकार दोनों शब्द बनते हैं ।

समास आदिः—अनभ्यन्तरः = अभिगतः अन्तरमभ्यन्तरः, न अभ्यन्तरः अनभ्यन्तरः तत्स्त्रियामनभ्यन्तरा, तत्र द्विवचनमनभ्यन्तरे । इतिहासनिबन्धेषु = इतिहासस्य निबन्धेषु (तत्पुरुष) । इतिहास = इति ह आस्ते अस्मिन् इति, इति + ह + आस । अनुदिवसम्—दिवसे दिवस इत्यनुदिवसम् ।

टिप्पणियाँ—पर्युत्सुका = खिन्न, व्याकुल । आतंक—सन्ताप, रोग । सन्ताप = कष्ट अथवा रोग । बलवान् = तेज़, तीव्र अथवा उग्र । अनभ्यन्तरे = अपरिचित अथवा अनभिज्ञ । मदनगतस्य वृत्तान्तस्य = काम-वासना सम्बन्धी बातों के बारे में । इतिहास = जिसमें भूतकालीन घटनाओं का वर्णन हो । इतिहास का लक्षण—"धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् । पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ।" विकार = रोग । प्रतीकार = उपचार, चिकित्सा ।

अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः = मेरा विचार अनसूया के पास (मन में) भी चला गया है। अर्थात् (राजा अपने मन में सोच रहा है कि) शकुन्तला की दशा के बारे में जो विचार मेरा है, वही अनसूया का भी है। **दर्शनम्** = दृष्टि, विचार। इस स्थल पर 'विचार' अर्थ ही उपयुक्त है। **अभिनिवेशः** = आग्रह, अनुराग, आसक्ति, हठ। यहाँ 'आसक्ति' अर्थ लेना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। **परिहीयसे अंगैः** = अंगों के द्वारा छोड़ी जा रही हो अर्थात् तुम्हारे अंग क्षीण हो रहे हैं। **लावण्यमयी छाया** = सौन्दर्य की कान्ति। 'उज्ज्वलनीलमणि' में लावण्य का लक्षण निम्न रूप में मिलता है:—

"मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥"

राजा—अवितथमाह प्रियंवदा। तथा हि—

क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी ॥७॥

अन्वयः—आननं क्षामक्षामकपोलम्, उरः काठिन्यमुक्तस्तनम्, मध्यः क्लान्ततरः, अंसौ प्रकामविनतौ, छविः पाण्डुरा। मदनक्लिष्टा इयं पत्राणां शोषणेन मरुता स्पृष्टा माधवी लता इव शोच्या च प्रियदर्शना च आलक्ष्यते।

संस्कृत-व्याख्या—आननम् = (शकुन्तलायाः) मुखम्, क्षामक्षामकपोलम् = क्षामक्षामौ अतिशयेन क्षीणौ कपोलौ गण्डस्थलौ यस्य तत्तथाभूतम्। उरः = वक्षस्थलम्, काठिन्यमुक्तस्तनम् = काठिन्येन दृढ़तया मुक्तौ रहितौ स्तनौ कुचौ यत्र तथाविधं जातम्। मध्यः = कटिभागः, क्लान्ततरः = नितरां दुर्बलः जातः। अंसौ = स्कन्धौ, प्रकामविनतौ = प्रकामं अत्यधिकं यथा स्यात्तथा विनतौ अवनतौ जातौ। छविः = शरीरकान्तिः, पाण्डुरा = पाण्डुवर्णा जाता। मदनक्लिष्टा = मदनेन कामेन क्लिष्टा पीडिता इयम् = शकुन्तला, पत्राणाम् = दलानाम्, शोषणेन = शोषणकर्मकारिणा, मरुता = वायुना, स्पृष्टा = बाधिता, लघिता वा, माधवी लता इव = तन्नामवल्लीव, शोच्या च = शोचनीया च, प्रियदर्शना = प्रियं मनोज्ञं दर्शनं प्रतिकृतिर्यस्याः सा, मनोरमा, चालक्ष्यते = दृश्यते।

राजा—प्रियंवदा ने सत्य कहा है। क्योंकि :—

(इस शकुन्तला का) मुख अत्यधिक क्षीण कपोलों वाला हो गया है, वक्षःस्थल कठोरता से रहित स्तनों वाला हो गया है, कटिभाग अधिक कृश हो गया है, कन्धे अत्यधिक झुक गये हैं तथा शारीरिक कान्ति पाण्डु (पीली और धवल)

वर्ण की हो गई है। काम से पीड़ित यह, पत्तों को सुखाने वाली वायु से स्पर्श की जाती हुई माधवी (वासन्ती) लता के सदृश शोचनीय और प्रियदर्शन वाली दिखलाई दे रही है।

अलंकार:—उपर्युक्त श्लोक में 'शोच्या च प्रियदर्शना च' में विरोधाभास अलंकार है। "शोच्या" का अर्थ दयनीय कर देने पर विरोध का परिहार हो जाता है। शोच्यत्व के प्रति कारण है "मदनक्लिष्टा" अतः काव्यलिंग अलंकार है। 'माधवी लता इव' में उपमा अलंकार है। इसमें "अनुप्रास" नामक शब्दालंकार भी है। छन्दः—इसमें 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त है।

समास आदि:—**अवितथम्**—विगतं सत्यं यस्मात् तत् वितथम्, न वितथम् अवितथम्।

टिप्पणियाँ—**क्षामक्षामकपोलम्** = अत्यन्त कृश गालोंवाला मुख। क्षाम शब्द का अर्थ है—कृश, क्षीण, दुर्बल। इस शब्द का दो बार प्रयोग कृशता के आधिक्य को प्रकट करने हेतु ही हुआ है। **काठिन्यमुक्तस्तनम्** = कठोरता से रहित (अर्थात् ढीले-ढाले) स्तनों से युक्त छाती (वक्षःस्थल)। **शोच्या च प्रियदर्शना च** = कामदेव के सन्ताप से पीड़ित होने के कारण शकुन्तला की दशा शोचनीय हो गई है किन्तु कामपीड़ित अवस्था में भी एक प्रकार के सौन्दर्य की कान्ति और भी अधिक बढ़ जाया करती है अतः शारीरिक कान्ति की दृष्टि से वह प्रियदर्शना भी है।

शकुन्तला—[सहि ! कस्स वा अण्णस्स कहइस्सं ? किन्दु आआसइत्तिआ दाणिं वो भविस्सं।] सखि ! कस्य वाऽन्यस्य कथयिष्यामि ? किन्तु आयासयित्रीदानीं वां भविष्यामि।

शकुन्तला—सखी, तब और किससे कहूँगी ? किन्तु अब मैं तुम दोनों को कष्ट देने वाली हो जाऊँगी।

उभे—[अदो एव्वं क्खु णिब्बन्धो। सिणिद्धजणसंविभत्तं हि दुक्खं सज्झवेदणं होदि।] अतएव खलु निर्बन्धः। स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति।

दोनों—इसीलिये तो हमारा यह आग्रह है। प्रिय जनों में बँटा हुआ दुःख, सहन करने योग्य पीड़ा वाला हो जाता है।

राजा—

पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला।
नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम्।

दृष्टो विवृत्य[1] बहुशोऽप्यनया सतृष्ण-
मत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ॥८॥

अन्वयः—समदुःखसुखेन जनेन पृष्टा इयं बाला मनोगतं आधिहेतुं न वक्ष्यति (इति) न । अनया बहुशः विवृत्य सतृष्णं दृष्टः अपि अत्रान्तरे श्रवण-कातरतां गतः अस्मि ।

संस्कृत-व्याख्या—समदुःखसुखेन = समं तुल्यं दुःखसुखं यस्य तेन, जनेन = सखीजनेन, पृष्टा = कष्टहेतुप्रकाशनाय जिज्ञासिता, इयं बाला = शकुन्तला, मनोगतम् = मनसि विद्यमानम्, आधिहेतुम् = आधेः मनोव्यथायाः हेतुः कारणं तम्, न वक्ष्यति = न श्रावयिष्यति, इति न, अवश्यमेव कथयिष्यतीत्यर्थः । अनया = शकुन्तलया, बहुशः = अनेकवारम्, विवृत्य = मुखं परावृत्य, सतृष्णम् = साभिलाषम्, दृष्टः अपि = अवलोकितोऽपि, अहम्, अत्रान्तरे = अस्मिन्नवसरे, श्रवणकातरताम् = सखीप्रश्ने प्रतिवचनस्य श्रवणे कातरतां व्याकुलताम्, गतो-ऽस्मि = प्राप्तोऽस्मि ।

राजा—दुःख एवं सुख में समान रूप से साथ रहने वाली सखियों द्वारा पूछी गई हुई यह बालिका (शकुन्तला) अपने मानसिक दुःख के कारण को नहीं बता-एगी, ऐसा नहीं हो सकता (अर्थात् अवश्य बतायेगी)। इसके द्वारा अनेक बार पीछे मुड़कर अभिलाषा के साथ देखा गया हुआ भी मैं इस समय (इसका उत्तर) सुनने के लिये व्याकुल हो गया हूँ ।

अलंकारः—इस श्लोक में सखियों का दुःख-सुख में समान रूप से रहना—उत्तर-प्राप्ति का कारण होने से काव्यलिंग अलंकार है । **छन्दः**—इसमें 'वसन्त-तिलका' वृत्त है ।

व्याकरण:—**आयासयित्री** = आ + यस् + णिच् + तृच् + ङीप् ।

समास आदि—**स्निग्धजनसंविभक्तम्** = स्निग्धे जने संविभक्तम् (तत्पु-रुष)। **सहृद्यवेदनम्** = सहृद्या वेदना यस्य तादृशम् (बहुव्रीहि) । **समदुःख-सुखेन** = दुःखं च सुखं च तयोः समाहारः दुःखसुखम्, (यहाँ "विप्रतिषिद्धं चान-धिकरणवाचि" अष्टा० २।४।१३ । से एकवचन हो जाता है) समं दुःखसुखं यस्य तेन (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**आयासयित्री** = कष्ट देने वाली । **निर्बन्धः** = आग्रह । **स्निग्ध-जन०....भवति** = अपने प्रिय एवं इष्ट जनों में बँटा हुआ दुःख सहन करने योग्य हो जाता है । प्रिय व्यक्ति जब दुःख के कारण को समझ लेते हैं तब वे उसके निराकरण का प्रयास किया करते हैं अथवा सान्त्वना इत्यादि प्रदान किया करते

पाठभेद—१. निवृत्य (लौटकर) ।

हैं। ऐसा करने से दुःखी व्यक्ति को शान्ति मिला करती है। आधिहेतुम्=मनोव्यथा का कारण। अत्रान्तरे...गतोस्मि=इस समय उसका (शकुन्तला का) उत्तर सुनने के लिये अधीर हो गया हूँ। यद्यपि राजा को यह विदित है कि शकुन्तला उससे स्नेह करती है फिर भी वह उसकी सखियों के द्वारा किये गये प्रश्न का उत्तर सुनने के लिये व्याकुल है क्योंकि उसके भविष्य का निर्णय उसी उत्तर पर आधारित है।

शकुन्तला—[सहि ! जदो पहुदि मम दंसणपहं आअदो सो तवोवणरक्खिदा राएसी ।] सखि ! यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षिः (इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयति)

शकुन्तला—सखी, जब से तपोवन की रक्षा करने वाले वह राजर्षि मेरे दृष्टि-पथ में आये हैं (आधी बात कहकर ही लज्जा का अभिनय करती है।)

उभे—(कहेदु पिअसही ।) कथयतु प्रियसखी ।

दोनों—कहो, प्रियसखी ।

शकुन्तला—[तदो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्थम्हि संवुत्ता ।] तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थास्मि संवृत्ता ।

शकुन्तला—उस समय से लेकर उसके प्रति अभिलाषा के कारण मैं इस अवस्था को प्राप्त हो गई हूँ।

राजा—(सहर्षम्) श्रुतं यच्छ्रोतव्यम् ।

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः ।
दिवस इवाभ्रश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य ॥९॥

अन्वयः—तपात्यये जीवलोकस्य अभ्रश्यामः दिवस इव स्मरः एव मे तापहेतुः स एव (मे) निर्वापयिता जातः ।

संस्कृत-व्याख्या—तपात्यये=तपस्य ग्रीष्मस्य अत्यये अवसाने, वर्षारम्भे इत्यर्थः, जीवलोकस्य=प्राणिवर्गस्य, अभ्रश्यामः=अभ्रैः मेघैः श्यामः कृष्णवर्णः, दिवस इव=दिनमिव, स्मरः एव=काम एव, मे=मम दुष्यन्तस्य, तापहेतुः=तापस्य सन्तापस्य हेतुः उत्पादकः आसीदिति शेषः। स एव=कामदेव एव, (मे=मम), निर्वापयिता=सन्तापस्य शमयिता, जातः=अभवत् । **अयमाशयः**—यथा वर्षणात् पूर्वं ग्रीष्मकालीनो दिवसः प्राणिजगतः सन्तापमुत्पादयति, ग्रीष्मावसाने वर्षारम्भे स एव मेघाच्छन्नो दिवसः वृष्ट्यनन्तरं शीतलः शान्तिप्रदश्च भवति तथैव शकुन्तलावचनश्रवणात्पूर्वं यः कामः मां तापयति स्म, स एव कामः अधुना मम संतापस्य शमयिता जातः ।

राजा—(प्रसन्नता के साथ) जो सुनना था (वह मैंने) सुन लिया—

ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति पर प्राणियों के लिये मेघों से आच्छादित श्याम-वर्ण के दिन के सदृश कामदेव ही (मेरे) संताप का कारण था और (नायिका शकुन्तला में स्थित) वह (काम) ही (मुझ को) शान्ति देने वाला हो गया ।

अलंकारः—पहले जो 'तापहेतु' था वही 'ताप-निर्वापयिता' हो गया; अतः यहाँ विरोधाभास अलंकार है । दो भिन्न अवस्थाओं में (अर्थात् दुष्यन्त के शरीर में जो कामदेव संताप देने वाला था वही कामदेव शकुन्तला को भी कष्ट दे रहा है, ऐसी शकुन्तला की दशा को देखकर दुष्यन्त का सन्ताप शान्त हो गया ।) उस स्वरूप के विद्यमान होने से विरोध का परिहार भी हो जाता है । इसके अतिरिक्त इस श्लोक में 'उपमा' अलंकार स्पष्ट ही है । **छन्दः**–इसमें आर्या छन्द है ।

व्याकरणः—**दर्शनपथम्** = दर्शन + पथिन् + अ । दर्शन = दृश् + ल्युट् (अन) । (दर्शनपथम् में "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" अष्टा० ५।४।७४।। से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है ।) **निर्वापयिता** = निर् + वा + णिच् + तृच् । **अत्यय** = अति + इ + अच् ।

समास आदि :—**दर्शनपथम्** = दर्शनस्य पन्थाः तम् (तत्पुरुष) । **एतदवस्था** = एषा अवस्था यस्याः सा (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**स्मर एव तापहेतुः** इत्यादि श्लोक के दो पक्ष हैं वर्षा ऋतु के आरम्भ होते समय मेघाच्छन्न दिन, वर्षाकाल से पूर्व गर्म होने के कारण ताप का कारण था, वही वर्षा होते ही सुखद हो गया । इसी प्रकार शकुन्तला के उत्तर को श्रवण करने से पूर्व जो कामदेव राजा के सन्ताप का कारण बना हुआ था, वही कामदेव उत्तर सुनने के पश्चात् राजा के लिये सुखदाता भी हो गया । इसी प्रकार के भाव का चित्रण कालिदास ने अपनी अन्य रचनाओं में भी किया है । जैसे—

(i) मनो जह्रुः निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव ।। रघुवंश १०।८३ ।।

(ii) नववारिधरोदयादहोभिः भवितव्यं च निरातपर्द्धिरम्यैः ।

विक्रमोर्वशीय—४।१४ ।।

निर्वापयिता—ताप शान्त कर देने वाला ।

शकुन्तला—[तं जइ वो अणुमदं, ता तह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणुकम्पणिज्जा होमि । अण्णहा अवस्सं सिंचह मे तिलोदअं ।] तद्यदि वा अनुमतं, तदा तथा वर्त्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि । अन्यथावश्यं सिञ्चतं मे तिलोदकम् ।

शकुन्तला—अतः यदि तुम दोनों की अनुमति हो तो ऐसा करो कि जिससे

मैं उस राजर्षि की कृपा की पात्र हो जाऊँ; नहीं तो अवश्य ही मेरे लिये तिल-मिश्रित जल दे दो [अर्थात् मुझे मृत समझो और मेरा अन्तिम संस्कार (अन्त्येष्टि क्रिया) करो]।

राजा—संशयच्छेदि वचनम् ।

राजा—(इसका यह) वचन संशय को (पूर्णतया) दूर करने वाला है।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) [अणसूए ! दूरगअमन्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स । जस्सि बद्धभावा एसा सो ललामभूदो पोरवाणं । ता जुत्तं से अहिलासो अहिणंदिदुं ।] अनसूये ! दूरगत-मन्मथाक्षमेयं कालहरणस्य। यस्मिन्बद्धभावैषा स ललामभूतः पौर-वाणाम् । तद्युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम् ।

प्रियंवदा—(चुपके से) अनसूया, इसका कामभाव बहुत दूर तक पहुँच चुका है (अर्थात् बढ़ चुका है), अब यह विलम्ब सहन करने में असमर्थ है। जिसके प्रति इसका प्रेम-भाव बँधा है वह पुरुवंशियों में सर्वश्रेष्ठ है। तब तो इसकी अभिलाषा का अभिनन्दन करना ही उचित है।

अनसूया—[तह जह भणासि] तथा यथा भणसि ।

अनसूया—जैसा तुम कह रही हो, ठीक है।

प्रियंवदा —(प्रकाशम्) [सहि ! दिट्ठिआ अणुरूवो दे अहि-णिवेसो । साअरं उज्झिअ कहिं वा महाणई ओदरइ ? कोदाणिं सह-आरं अन्तरेण अदिमुत्तलदं पल्लविदं सहेदि ?] सखि ! दिष्ट्यानु-रूपस्तेऽभिनिवेशः । सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति ? क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते ?

प्रियंवदा—(प्रकट में) सखी, भाग्य से तुम्हारा आग्रह (तुम्हारे) योग्य (व्यक्ति के प्रति) ही है। अथवा समुद्र को छोड़कर महानदी क्या कहीं दूसरी जगह जाकर मिला करती है ? आम्र वृक्ष को छोड़कर और कौन (वृक्ष) पल्लवों से युक्त अतिमुक्त (माधवी) लता को सहारा दे सकता है ?

राजा—किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते ।

राजा—यदि दोनों विशाखा नामक नक्षत्र चन्द्र-लेखा का अनुसरण करते हैं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

अनसूया—[को उण उवाओ भवे जेण अविलम्बिअं णिहुअं अ सहीए मणोरहं संपादेम्ह ?] कः पुनरुपायो भवेद्येनाविलम्बितं निभृतं च सख्या मनोरथं संपादयावः ?

अनसूया—फिर (वह) कौन सा उपाय हो सकता है (कि) जिससे शीघ्र तथा गुप्त रूप से (चुप-चाप) सखी की इच्छा पूर्ण की जा सके ?

प्रियंवदा—[णिहुअं त्ति चिन्तणिज्जं भवे । सिग्घं त्ति सुअरं ।] निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत् । शीघ्रमिति सुकरम् ।

प्रियंवदा—'चुप-चाप'—यह विचारणीय हो सकता है । 'शीघ्र' यह सरल है ।

अनसूया—[कहंविअ] कथमिव ?

अनसूया—कैसे ?

टिप्पणियाँ:—**तिलोदकम्** = (तिलमिश्रमुदकं तिलोदकम् ।) तिलों से मिश्रित अञ्जलि मृतकों की आत्मा को दी जाया करती है, ऐसी प्रथा भारतवर्ष में प्रचलित है । शकुन्तला के कहने का तात्पर्य यह है कि यदि उसकी भेंट राजा से नहीं होगी तो वह मर जायगी । **संशयच्छेदि वचनम्** = शकुन्तला के कथन से सम्पूर्ण संदेह दूर हो गये हैं । **दूरगतमन्मथा** = इस शकुन्तला का कामभाव बहुत बढ़ चुका है । **अक्षमा इयं कालहरणस्य** = अतः अब यह विलम्ब सहन नहीं कर सकती है । **अभिनन्दितुम्** = इसने जो स्वयं वरण रूपी कार्य किया है वह इसके लिये सर्वथा उचित है । अतः हमको चाहिये कि हम इसे बधाई दें । **अभिनिवेशः** = आग्रह । यहाँ पर भाव है "छाँट", क्योंकि उसी के वरण करने के लिये यह आग्रह है । **सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति**—राजा दुष्यन्त सागर के सदृश हैं और शकुन्तला महानदी के सदृश । जिस प्रकार महानदी सदा समुद्र में ही जाकर मिला करती है, उसी प्रकार शकुन्तला भी दुष्यन्त से जाकर मिलेगी अथवा मिलने जा रही है । महानदी का समुद्र से मिलना स्वाभाविक हुआ करता है क्योंकि उसमें अन्य छोटी छोटी नदियाँ भी आकर मिला करती है । उसमें जल की बहुत अधिकता हुआ करती है । उस महान् जल को लेकर वह स्थल पर कब तक रह सकती है ? अन्यथा वह अपने जल द्वारा स्थल का विनाश ही करती रहेगी । अतः उसका समुद्र से मिलना आवश्यक है । इसी प्रकार शकुन्तला भी एक अप्सरा की पुत्री है । उसके लिये सर्वाधिक योग्य वर दुष्यन्त जैसा राजा ही हो सकता था । अतः दोनों का मिलन भी स्वाभाविक अथवा भाग्य के अनुकूल अथवा ईश्वरीय ही था । **क इदानीं...सहते**—आम्र वृक्ष को छोड़कर अन्य कोई दूसरा ऐसा वृक्ष नहीं है कि जो अतिमुक्त (माधवी) लता को सहारा दे सके । (अतिमुक्तः

पुण्ड्रकः स्याद्वासन्ती माधवी लता [illegible]) तात्पर्य यह है कि राजा दुष्यन्त ही इस समय एक ऐसा व्यक्ति है कि जो शकुन्तला की ऐसी दशा में सहायता कर सकता है अथवा उसको सहारा दे सकता है। क्योंकि शकुन्तला उसे पतिरूप में स्वयं ही वरण कर चुकी है। **किमत्र चित्रं....अनुवर्त्तेते**—यहाँ पर "विशाखे" शब्द स्त्रीलिंग द्विवचन है और "शशाङ्कलेखा" शब्द स्त्रीलिंग एक-वचन। अतः यहाँ 'विशाखे' शब्द शकुन्तला की दोनों सखियों (अनसूया एवं प्रियंवदा) को तथा "शशाङ्कलेखा" शब्द शकुन्तला को लक्षित करता है। (शकुन्तला की दशा अथवा शरीर के क्षीण होने के कारण "शशाङ्कलेखा" शब्द शकुन्तला के लिये सर्वथा उपयुक्त ही है।) जिस प्रकार दोनों विशाखा नक्षत्र चन्द्रमा की 'लेखा' का अनुगमन किया करते हैं उसी भाँति शकुन्तला की दोनों सखियाँ उसका अनुसरण कर रही हैं। भाव यह है कि इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि शकुन्तला की दोनों सखियाँ उसके लिये इतनी अधिक चिन्ता प्रकट करें तथा उसे सुख पहुँचाने के निमित्त प्रयास करें। **निभृतम्** = गुप्तरूप से, चुप-चाप।

प्रियंवदा—[णं सो राएसी इस्सि सिणिद्धदिट्ठीए सूइदाहिलासो इमाइं दिअहाइं पजाअरकिसो लक्खीअदि।] ननु स राजर्षिरस्यां स्निग्धदृष्टया सूचिताभिलाष एतान् दिवसान् प्रजागरकृशो लक्ष्यते।

प्रियंवदा—क्योंकि वह राजर्षि भी प्रेमपूर्ण दृष्टि से (शकुन्तला को) देख कर अपनी अभिलाषा प्रकट कर चुका है। इन दिनों रात्रि-जागरण के कारण वे दुर्बल दिखलाई पड़ते हैं।

राजा—सत्यमित्थंभूत एवास्मि। तथा हि—

> इदमशिशिरैरन्तस्तापाद् विवर्णमणीकृतं
> निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः।
> अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात्
> कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ॥१०॥

अन्वयः—निशि निशि भुजन्यस्तापांगप्रसारिभिः अन्तस्तापाद् अशिशिरैः अश्रुभिः विवर्णमणीकृतं मणिबन्धनात् स्रस्तं स्रस्तं इदं कनकवलयं मया अनभिलुलितज्याघातांकं मुहुः प्रतिसार्यते।

संस्कृत-व्याख्याः—निशि निशि = प्रतिरात्रम्, भुजन्यस्तापांगप्रसारिभिः = भुजे वामहस्ते न्यस्तः स्थापितः यः अपांगः नेत्रप्रान्तः तस्मात् प्रसरन्ति निर्गच्छ-

न्तीति तैः, अन्तस्तापाद्=कामकृतमानसिकसन्तापात्, अशिशिरैः=उष्णैः, अश्रुभिः=नयनवारिभिः, विवर्णमणीकृतम्=विवर्णाः निष्प्रभाः मलिनाः वा मणयः रत्नानि यस्मिन् तत् विवर्णमणि तद्वत् विहितम्, मणिबन्धनात्=करमूलप्रदेशात्, स्रस्तं स्रस्तम्=वारं वारं स्खलितम्, इदम्=एतत्, कनकवलयम्=सुवर्णकंकणम्, मया=दुष्यन्तेन, अनभिलुलितज्याघातांकम्=अनभिलुलितः अस्पृष्टः ज्याघातस्य धनुर्गुणघर्षणस्य अंकः चिह्नं यस्मिन् कर्मणि तत् यथा, तथा मुहुः =पुनः पुनः, प्रतिसार्यते=स्वस्थानं प्राप्यते ।

राजा—वस्तुतः ऐसा ही हो गया हूँ । क्योंकि—

प्रत्येक रात्रि में (बायीं) भुजा पर रक्खे हुए नेत्र के कोने से बहने वाले तथा हृदयस्थित सन्ताप के कारण उष्ण अश्रुधाराओं के कारण कान्तिविहीन मणियों से युक्त, कलाई से बार बार (कोहनी की ओर) खिसक जाने वाले इस स्वर्णनिर्मित कंकण को मैं धनुष की प्रत्यंचा (डोरी) की रगड़ के चिह्न को स्पर्श न कराते हुए बार बार यथा स्थान पहुँचाता हूँ ।

विद्वान् टीकाकारों ने इस श्लोक का अन्वय तथा अर्थ निम्न रूप में भी किया है :—

अन्वयः—निशि निशि भुजन्यस्तापांगप्रसारिभिः अन्तस्तापाद् अशिशिरैः अश्रुभिः विवर्णमणीकृतं , अनभिलुलितज्याघातांकम् इदं कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया. मणिबन्धनात् मुहुः प्रतिसार्यते ।

अर्थात् प्रत्येक रात्रि में बायीं भुजा पर रक्खे हुए नेत्र-प्रान्त से बहने वाले, हृदयस्थित सन्ताप के कारण गर्म अश्रुधाराओं से मलिन अथवा कान्तिविहीन मणियों से युक्त, धनुष की प्रत्यंचा (डोरी) की रगड़ के चिह्न का स्पर्श न करने वाला यह स्वर्णनिर्मित कंकण बार बार (नीचे की ओर) खिसक जाने पर मेरे द्वारा बार बार कलाई से ऊपर की ओर सरका कर ले जाया जाता है (अन्यथा नीचे ही गिर जाय) ।

इन उपर्युक्त दोनों अर्थों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि श्लोक की अन्तिम दो पंक्तियों के अर्थ के सम्बन्ध में ही विवाद है । प्रथम अर्थ से स्पष्ट होता है कि हाथ ऊपर की ओर उठा हुआ था और वह मुँह के रखने का सहारा बना हुआ था अतः कंकण कोहनी की ओर सरक जाता था और फिर राजा उसे ठीक स्थान पर लाने के लिये बार बार कलाई की ओर सरकाता था । ऐसा करने में वह कंकण भुजा में विद्यमान प्रत्यंचा के घावों के चिह्नों में रगड़ नहीं खाता था ।

द्वितीय अर्थ से स्पष्ट होता है कि हाथ नीचे की ओर था और चलते फिरते समय कृशता के कारण कंकण नीचे की ओर अँगुलियों के समीप आ जाता था अथवा पृथ्वी पर गिरने योग्य स्थिति को प्राप्त हो जाता था । ऐसी स्थिति में राजा पुनः उसे ऊपर की ओर पहुँचा दिया करता था ।

वस्तुतः प्रत्यञ्चा की रगड़ के चिह्न कलाई और कोहनी के मध्यभाग में हुआ करते हैं । अतः ऊपर की ओर कंकण के सरकने पर ही अथवा राजा द्वारा पुनः अपने स्थान पर कंकण के ले जाते समय ही उन चिह्नों से कंकण के स्पर्श की संभावना की जा सकती है, कलाई से नीचे की ओर अँगुलियों की ओर सरकने अथवा अँगुलियों की ओर से कलाई की ओर कंकण के खिसकने अथवा खिसकाने के समय नहीं । राजा हाथ पर मुख रखे बैठा है । अतः हाथ का ऊपर की ओर उठा होना उचित ही प्रतीत होता है । ऐसी स्थिति में कंकण कोहनी की ओर ही सरकेगा । राजा दुर्बल हो गया है अतः दुर्बलता के कारण उसका कोहनी की ओर का भाग भी कृश हो गया होगा । फिर कंकण उस ओर खिसक ही सकता है तथा कोहनी की ओर कंकण के खिसकने से राजा के कृश होने का भाव भी अधिक स्पष्ट हो जाता है ।

इन उपर्युक्त विचारों के आधार पर प्रथम अर्थ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ।

अलङ्कार—इसमें 'स्वभावोक्ति' अलंकार है । **छन्दः**—इसमें 'हरिणी' वृत्त है । लक्षण—"न समरसलागैः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता ।।"

टिप्पणियाँ—**ननु**=यहाँ यह अव्यय प्रश्नवाचक अर्थ में प्रयुक्त है । क्या तुमको ज्ञात नहीं है कि... **प्रजागरकृशः**—प्रजागरात् कृशः । रात्रि में जागते रहने के कारण दुर्बल । **अन्तस्तापाद् अशिशिरैः**=कामदेव के प्रभाव के कारण हृदय में सन्ताप विद्यमान था, इसी कारण अश्रु भी गरम निकल रहे थे । **भुजन्यस्तापांगप्रसारिभिः**—वाम हस्त पर रखे हुए नेत्र के एक कोने से निकलते हुए । **अनभिलुलितज्याघातांकम्**—प्रत्यञ्चा के घाव के चिह्न को स्पर्श न करते हुए ।

प्रियंवदा—(विचिन्त्य) [हला ! मअणलेहो से करीअदु । तं सुमणोगोविदं करिअ देवप्पसादस्सावदेसेण से हत्थअं पावइस्सं ।]

हला ! मदनलेखोऽस्य क्रियताम् । तं सुमनोगोपितं कृत्वा देवप्रसादस्यापदेशेन तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि ।

प्रियंवदा—(सोचकर) सखी ! उनके लिये (इससे) एक मदन-लेख

(प्रणय-पत्र) लिखवाओ। उसको फूलों में छिपाकर देवता के प्रसाद के बहाने उनके पास पहुँचा दूँगी।

अनसूया—[रोअइ मे सुउमारो पओओ। किं वा सउन्दला भणादि ?]रोचते मे सुकुमारः प्रयोगः। किं वा शकुन्तला भणति ?

अनसूया—मुझे यह सुन्दर उपाय अच्छा प्रतीत होता है। अथवा शकुन्तला क्या कहती है ?

शकुन्तला—[को णिओओ विकप्पीअदि ?] को नियोगो विकल्प्यते ?

शकुन्तला—(तुम्हारी) किस आज्ञा पर (मेरे द्वारा) सोच-विचार किया जाता है ?

प्रियंवदा—[तेण हि अत्तणो उवण्णासपुव्वं चिंतेहि दाव ललिअपदबंधणं। [तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावत् ललितपदबन्धनम्।

प्रियंवदा—तब तो अपने नाम का उल्लेख करते हुए कोई सुन्दर पदों की रचना (पद्य) सोचो।

शकुन्तला—[हला ! चिंतेमि अहं। अवहीरणाभीरुअं पुणो वेवइ मे हिअअं।] हला ! चिन्तयाम्यहम्। अवधीरणाभीरुकं पुनर्वेपते मे हृदयम्।

शकुन्तला—सखी ! मैं सोचती हूँ। किन्तु तिरस्कार के भय से डरने वाला मेरा हृदय काँप रहा है।

राजा—(सहर्षम्)

अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको
विशंकसे भीरु ! यतोऽवधीरणाम्।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ॥११॥

अन्वयः—हे भीरु ! यतः अवधीरणां विशंकसे, सः अयं ते संगमोत्सुकः तिष्ठति। प्रार्थयिता श्रियं लभेत वा न वा, श्रिया ईप्सितः कथं दुरापः भवेत् ॥

संस्कृतव्याख्या—हे भीरु ! = हे भयशीले !, यतः = यस्मात् जनात् दुष्य-न्तादित्यर्थः, अवधीरणाम् = अवज्ञाम्, विशंकसे = आशंकसे, सः अयम् = दुष्यन्तः, ते = तव, संगमोत्सुकः = संगमे , सम्मेलने उत्सुकः उत्कण्ठितः, तिष्ठति = स्थितोऽस्ति । प्रार्थयिता = याचकः जनः, श्रियम् = लक्ष्मीम्, लभेत = प्राप्नु-यात्, वा न वा = न प्राप्नुयाद् वा। किन्तु श्रिया = लक्ष्म्या, ईप्सितः = आप्तु-मिष्टः जनः, कथम् = केन प्रकारेण, दुरापः = दुर्लभः, भवेत् = स्यात् । मम एव त्वत्प्राप्तौ शंका युक्ता, न तु तव मत्प्राप्तौ इत्यर्थः ।

राजा—(हर्ष के साथ)

हे भीरु ! जिससे तुम अपमान की आशंका कर रही हो, वह यह (दुष्यन्त) तुमसे मिलने के लिये उत्कण्ठित खड़ा है। प्रार्थी (प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला) पुरुष लक्ष्मी को प्राप्त कर सके अथवा न प्राप्त कर सके, किन्तु लक्ष्मी के द्वारा प्रार्थित (अभीष्ट व्यक्ति लक्ष्मी के लिये) कैसे दुर्लभ हो सकता है ?

अलंकारः—इस श्लोक में 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है । छन्दः—इसमें 'वंशस्थ' वृत्त है ।

व्याकरण—दुरापः = दुर् + आप् + खल् (अ) । **ईप्सितः** = आप् + सन् + क्तः ।

समास आदि—**उपन्यासपूर्वकम्** = उपन्यासः पूर्वं यस्य तत् । **ललित-पदबन्धनम्** = ललितानां पदानां बन्धनम् (तत्पुरुष) । **अवधीरणाभीरुकम्** = अवधीरणायाः भीरुकम् (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**मदनलेखः** = प्रेम-पत्र (जिसमें अपनी काम-भावना का उल्लेख किया गया हो ।) स्त्रियों द्वारा अपने भावों के अभिव्यक्त (प्रकट) करने के चार प्रकार बतलाये गये हैं। उनमें से (प्रेम-पत्र) भी एक प्रकार है। (लेखप्रस्थापनैः स्निग्धैर्वीक्षितैर्मृदुभाषितैः । दूतीसम्प्रेषणैर्नार्या भावाभिव्यक्ति-रिष्यते ॥ नाट्यशास्त्र ॥) ये चार प्रकार ये हैं :—१. प्रेम-पत्र प्रेषित करना, २. प्रेम-पूर्वक देखना, ३. मीठी बातें तथा ४. दूती को भेजना । **देवप्रसाद-स्यापदेशेन** = देव-पूजा के बहाने से । देवता को पूजा में चढ़ाये गये हुए फूलों का यह उपहार है, यह कहकर । **उपन्यासपूर्वम्** = 'उपन्यास' शब्द का अर्थ है पास में रखना अथवा प्रस्तुत करना। यहाँ भाव "उल्लेख कर देने का" है। अर्थात् अपना उल्लेख करते हुए । **ललितपदबन्धनम्** = सुन्दर पदों की रचना अर्थात् सुन्दर कविता । **अवधीरणाभीरुकम्** = अपमान से डरने वाली । शकुन्तला को यह डर है कि कहीं राजा उसे ग्रामीण अथवा वन्य लड़की समझ कर उसके प्रेम को अस्वीकार न कर दे। पत्र लिखने के पश्चात् यदि ऐसा हुआ तो उसका बड़ा ही तिरस्कार होगा । **संगमोत्सुकः** = मिलने के लिये उत्सुक । **यतः** = जिससे अथवा जिस व्यक्ति से । **प्रार्थयिता** = प्राप्त करने का इच्छुक । अर्थात् चाहने

वाले व्यक्तियों को लक्ष्मी की प्राप्ति हो सके अथवा न हो सके, ये दोनों ही बातें संभव हैं। श्रियाo—लक्ष्मी स्वयं जिस पर कृपा करना चाहे (जिसके पास पहुँचना चाहे), वह व्यक्ति उसके लिये दुर्लभ कैसे हो सकता है क्योंकि लक्ष्मी के चाहनेवाले तो सभी हुआ करते हैं। शकुन्तला भी लक्ष्मी के सदृश है। वह जिसे चाहेगी, वह उसके लिये कैसे दुष्प्राप्य होगा ?

सख्यौ[1]—[अयि अत्तगुणावमाणिणि ! को दाणिं सरीरणिव्वावइत्तिअं सारदिअं जोसिणिं पडंतेण वारेदि ।] अयि आत्मगुणावमानिनि ! क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति ।

दोनों सखियाँ—हे अपने गुणों का अपमान करने वाली ! कौन अब शरीर को शान्ति प्रदान करने वाली शरद् ऋतु की चाँदनी को (अपने) आँचल (वस्त्र के छोर से) से रोकता है ?

शकुन्तला—(सस्मितम्) [णिओइआ दाणिं म्हि ।] नियोजितेदानीमस्मि । (इत्युपविष्टा चिन्तयति)

शकुन्तला—(ईषद् हास्य के साथ) तो अब मैं (प्रेम-पत्र लिखने में) लगा दी गई हूँ । (बैठी हुई सोचती है ।)

राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि ।

---

१. इस कथन से पूर्व राजा द्वारा कहा गया हुआ एक अन्य श्लोक भी किसी किसी संस्करण में उपलब्ध होता है :—

अपि च—

अयं स यस्मात् प्रणयावधीरणा-
मशङ्कनीयां करभोरु ! शंकसे ।
उपस्थितस्त्वां प्रणयोत्सुको जनो
न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥

अर्थ—हे करभोरु ! (हाथी के बच्चे के शुण्डादण्ड के सदृश जंघाओं वाली !) तुम जिस व्यक्ति द्वारा सन्देह न किये जाने योग्य प्रार्थना के भंग हो जाने की आशंका करती हो, यह वही व्यक्ति (दुष्यन्त) तुमसे प्रार्थना करने के लिये (स्वयं ही) तुम्हारे समक्ष आकर उपस्थित है। क्योंकि रत्न (स्वयं किसी को नहीं खोजा करता है अपितु वह (रत्न) स्वयं खोजा जाता है।

यतः—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥१२॥

अन्वयः—पदानि रचयन्त्याः अस्याः उन्नमितैकभ्रूलतं आननं कण्टकितेन कपोलेन मयि अनुरागं प्रथयति ।

संस्कृत-व्याख्या—पदानि = मदनलेखयोग्यान् छन्दःपादान्, रचयन्त्याः = विचिन्त्य निबध्नन्त्याः, अस्याः = शकुन्तलायाः, उन्नमितैकभ्रूलतम् = उन्नमिता उत्थापिता एका भ्रूलता यस्य तत् तादृशम्, आननम् = मुखम्, कण्टकितेन = रोमाञ्चयुक्तेन, कपोलेन = गण्डस्थलेन, मयि = दुष्यन्ते, अनुरागम् = स्नेहम्, प्रथयति = प्रकटीकरोति ।

राजा—वस्तुतः, उचित अवसर पर मैं निर्निमेष (अपलक) दृष्टि से अपनी प्रियतमा को देख रहा हूँ । क्योंकि :—

(कविता के) पदों की रचना करती हुई इस (शकुन्तला) का उठाई गई हुई एक भौं से युक्त मुख रोमाञ्चित कपोल द्वारा मेरे प्रति अनुराग प्रकट कर रहा है ।

अलंकारः—इसमें 'अनुमान' अलंकार है । छन्दः—'आर्या' नामक छन्द है ।

व्याकरणः—**कण्टकितेन**—कण्टक + इतच् (इत) = कण्टकित (तृतीया) ।

समास आदिः—**आत्मगुणावमानिनि** = आत्मनः गुणानवमन्यते तच्छील-मस्या इति आत्मगुणावमानिन, तत्सम्बुद्धौ आत्मगुणावमानिनि । **शरीरनिर्वापयित्रीम्** = शरीरं निर्वापयति इति ताम् । **शारदीम्** = शरदि भवां शारदीम् ।

टिप्पणियाँ—**आत्मगुणावमानिनि** = अपने गुणों का अपमान करने वाली । तात्पर्य यह है कि शकुन्तला अपने गुणों का तिरस्कार कर रही है । वह अपने सौन्दर्य आदि गुणों का पूरा मूल्य नहीं आँक रही है और यह समझ रही है कि राजा उसके प्रणय की अवज्ञा करेगा । **शरीरनिर्वापयित्रीम्** = शरीर को शान्ति प्रदान करने वाली (चाँदनी) को । शान्तिप्रदा शरत्कालीन चन्द्रिका को सभी बड़े प्रेम से चाहा करते हैं । कोई उसे कभी हटाता अथवा अपने ऊपर पड़ने से रोका नहीं करता है । इसी भाँति शकुन्तला भी सर्वत्र आदरणीय है । **नियोजिताऽस्मि**—आप लोगों (सखियों) के द्वारा काम में संलग्न की गई हूँ अर्थात् आप लोगों के द्वारा कहे जाने के कारण मैं इस कार्य को कर रही हूँ । **स्थाने**—उचित । राजा को जब यह ज्ञात हो गया है कि शकुन्तला उसे हृदय से चाहती है और उसकी इस प्रकार की दयनीय दशा उसके विरह के ही कारण हो रही है तो उसके लिये यह उचित हो जाता है कि वह शकुन्तला को अपना

कर प्रेम के साथ देखें । **उन्नमितकभ्रूलतम्** = ऊपर की ओर उठाई गई है भौं रूपी लता जिसमें ऐसा मुख । **पदानि**–श्लोक के चतुर्थांश को पद अथवा चरण कहा जाता है । **कण्टकितेन** = रोमाञ्चयुक्त ("रोमहर्षेऽपि कण्टकः" इत्यमरः ।) । **अनुरागम्** = प्रेम । रति की छठी अवस्था 'अनुराग' है । ये ६ अवस्थायें ये हैं:—

अंकुरपल्लवकलिकाप्रसूनफलभोगभागियं क्रमशः ।
प्रेमा मानः प्रणयः स्नेहो रागोऽनुराग इत्युक्तः ॥ सुधाकर ॥

अनुराग का लक्षण—

राग एव स्वसंवेद्यदशाप्राप्त्या प्रकाशितः ।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेदनुराग इतीरितः ॥ सुधाकर ॥

यहाँ पर नायक को नायिका के अनुरागरूपी भाव का तात्त्विक ज्ञान है अतः यहाँ गर्भसन्धि का क्रम नामक अंग है । 'क्रम' का लक्षण करते हुए साहित्यदर्पणकार ने उपर्युक्त श्लोक को ही उसके उद्धरणस्वरूप उद्धृत भी किया है । लक्षण—"भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्" ॥

शकुन्तला—[हला ! चिंतिदं मए गीदवत्थु । [1] असण्णिहिदाणि उण लेहणसाहणाणि ।] हला ! चिन्तितं मया गीतवस्तु । असंनिहितानि पुनर्लेखनसाधनानि ।

शकुन्तला—सखी ! मैंने गीत का विषय सोच लिया है । किन्तु लेखन-सामग्री यहाँ विद्यमान नहीं है ।

प्रियंवदा—[इमस्सि सुओदरसुउमारे णलिणीपत्ते णहेहिं णिक्खित्तवण्णं करेहि ।] एतस्मिन् शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु ।

प्रियंवदा—तोते के पेट के सदृश कोमल इस कमलपत्र पर नाखूनों से अक्षरों को अंकित कर दो ।

शकुन्तला—(यथोक्तं रूपयित्वा) [हला ! सुणुद दाणिं संगदत्थं ण वेति ।] हला ! शृणुतमिदानीं संगतार्थं न वेति ?

---

१. (ण खु सण्णिहिदाणि) न खलु संनिहितानि । पास में नहीं हैं ।

शकुन्तला—(जैसा कहा गया था उसी प्रकार का लिखने का नाट्य करके) सखियो ! अब तुम दोनों सुनो, (यह पद्य) संगत अर्थवाला है अथवा नहीं ?

उभे—[अवहिदे म्ह ।] अवहिते स्वः ।

दोनों सखियाँ—हम सावधान हैं ।

शकुन्तला—(वाचयति)

[तुज्झ ण जाणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्पि ।
णिग्घिण ! तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाए अंगाइं ।।]
तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि ।
निर्घृण ! तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथाया अङ्गानि ।।१३।।

अन्वयः—हे निर्घृण ! तव हृदयं न जाने । त्वयि वृत्तमनोरथाया मम पुनः कामः दिवा अपि रात्रौ अपि अंगानि बलीयः तपति ।

संस्कृत-व्याख्या—हे निर्घृण ! = हे निर्दय !, तव = नृपस्य, हृदयम् = चित्तम्, न जाने = न जानामि । तव चित्तं मयि अनुरक्तं निरनुरक्तं वा इति न जानामीत्यर्थः । त्वयि = तव विषये, वृत्तमनोरथायाः = वृत्तः संजातः, मनोरथः अभिलाषः यस्या तादृश्याः, मम = शकुन्तलायाः अंगानि = गात्रावयवान्, पुनः कामः = मदनः, दिवा अपि = दिवसेऽपि, रात्रावपि = निशायामपि बलीयः = अत्यर्थम्, तपति = पीडयति ।

शकुन्तला—(पढ़ती है)

हे निर्दय ! मैं तुम्हारे हृदय को नहीं जानती । (किन्तु) तुम्हारी ओर अभिलाषायुक्त मेरे अंगों को कामदेव दिन-रात अत्यधिक संतप्त कर रहा है ।

अलंकारः—उपर्युक्त श्लोक के अर्थ के आधार पर यह भाव लिया जाय कि "यदि तुम्हारे अंग भी संतप्त हैं तो आलिंगनार्थ आओ" तब यह अनुमान होने से 'अनुमान अलंकार' है । "तव हृदयं न जाने" इस वाक्य से यदि यह भाव लिया जाय कि "तुम्हारे हृदय में उत्कण्ठा का अभाव है" तो यहाँ अर्थापत्ति अलंकार होगा । छन्दः—यहाँ 'उद्गाथा' वृत्त है ।

समास आदिः—गीतवस्तु = गीतस्य वस्तु (तत्पुरुष) । शुकोदरसुकुमारे = शुकस्य उदरं इव सुकुमारे । संगतार्थम् = संगतः अर्थो यस्य तत् (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—निक्षिप्तवर्णम् = वर्णों (अक्षरों) को लिख दो । संगतार्थम् = अनुकूल है अर्थ जिसका । न जाने = तुम्हारे हृदय के बारे में मैं नहीं जानती हूँ कि उसकी क्या अवस्था है । अर्थात् तुम्हारे हृदय का झुकाव मेरी ओर है या नहीं' यह मैं नहीं जानती हूँ । निर्घृण = निर्दय । मेरी दयनीय अवस्था को देख

कर भी तुम्हारा ध्यान इस ओर नहीं है अतः तुम निर्दय हो। वृत्तमनोरथायाः = मेरी सम्पूर्ण इच्छायें तुम्हारी ही ओर लगी हुई हैं।

राजा—(सहसोपसृत्य)

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।

ग्लपयति यथा शशांकं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ॥१४॥

अन्वयः—हे तनुगात्रि ! मदनः त्वां अनिशं तपति, मां पुनः दहति एव । दिवसः यथा शशांकं ग्लापयति, तथा कुमुद्वतीं न हि ।

संस्कृत-व्याख्या—हे तनुगात्रि ! = तनूनि कृशानि गात्राणि यस्याः सा तनुगात्री तत्सम्बुद्धौ तनुगात्रि–हे कृशांगि !, मदनः = कामः, त्वाम् = शकुन्तलाम्, अनिशम् = निरन्तरम्, तपति = पीडयति, माम् = दुष्यन्तम्, पुनः = तु, दहति एव = भस्मीकरोति एव । दिवसः = दिनम्, यथा = येन प्रकारेण, शशांकम् = चन्द्रम्, ग्लपयति = ग्लानिं नयति निश्शोभं करोतीत्यर्थः, तथा = तेन रूपेण, कुमुद्वतीम् = कुमुदिनीम्, न हि = न ग्लपयतीत्यर्थः ।

राजा—(एकाएक पास में जाकर) हे कृशांगी ! कामदेव तुझे निरन्तर तपा रहा है (अर्थात् पीड़ित कर रहा है) किन्तु मुझको तो वह जला ही रहा है। दिन जितना चन्द्रमा को कान्तिविहीन करता है, उतना कुमुदिनी को नहीं।

अलंकारः—इस श्लोक की दोनों पंक्तियों में विद्यमान दोनों वाक्यों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव दृष्टि-गोचर हो रहा है अतः 'दृष्टान्त' अलंकार है (लक्षण —" चेद्बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः" ॥) 'तनुगात्रि' में तनु और गात्र दोनों का अर्थ 'शरीर' है अतः इसमें 'पुनरुक्तवदाभास' की प्रतीति होती है। चन्द्रमा एवं कुमुदिनी में नायक एवं नायिका का संकेत होने के कारण 'समासोक्ति' अलंकार है। शरीर का दुर्बल होना तथा स्त्री होना दोनों ही कारणों से काम संतप्त कर रहा है अतः 'काव्यलिंग' अलंकार है। छन्दः—इसमें 'आर्या' छन्द है।

सख्यौ—(विलोक्य सहर्षमुत्थाय) [साअदं अविलम्बिणो मणोरहस्स ।] स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य ।

(शकुन्तलाऽभ्युत्थातुमिच्छति ।)

दोनों सखियाँ—(देखकर हर्ष के साथ उठकर) अविलम्ब (शीघ्र ही) उपस्थित हुए मनोरथ (आप) का स्वागत है।

(शकुन्तला (स्वागत में) उठना चाहती है ।)

राजा—अलमलमायासेन ।

सन्दष्टकुसुमशयनान्याशुक्लान्तविसभङ्गसुरभीणि ।
गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ॥१५॥

अन्वयः—सन्दष्टकुसुमशयनानि आशुक्लान्तविसभंगसुरभीणि गुरुपरितापानि ते गात्राणि उपचारं न अर्हन्ति ।

संस्कृतव्याख्या—सन्दष्टकुसुमशयनानि = सन्दष्टं पीड़ितं कुसमानां पुष्पाणां शयनं शयनीयं यैः तानि, आशुक्लान्तबिसभंगसुरभीणि = आशु शीघ्रं क्लान्तैः मलिनीकृतैः बिसभंगैः मृणालखण्डैः सुरभीणि सुगन्धयुक्तानि, गुरुपरितापानि = गुरुः अधिकः परितापः येषां तानि, ते = तव गात्राणि = शरीरांगानि, उपचारम् = शिष्टाचारं सम्मानप्रदर्शनायोत्थानादिव्यवहारं, न अर्हन्ति = न क्षमन्ते ।

राजा—कष्ट करने से बस, बस (अर्थात् आपको कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है ।)

पुष्पों की शय्या को पीड़ित करने वाले, शीघ्र ही मुरझाये हुए (कुचले गये हुए) मृणालखण्डों के टूटने से सुगन्धित, महान् सन्ताप से युक्त तुम्हारे अंग शिष्टाचार का पालन करने योग्य नहीं हैं ।

अलङ्कारः—इस श्लोक में उत्तरार्ध के प्रति पूर्वार्ध कारण है । अतः 'काव्यलिंग' अलंकार है । श्लोक में सभी विशेषण साभिप्राय हैं अतः 'परिकर' अलंकार है । छन्दः—इसमें 'आर्या' छन्द है ।

टिप्पणियाँ—**तपति**...इत्यादि श्लोक में 'तपति' एवं 'दहति' दोनों ही शब्द ध्यान देने योग्य हैं । राजा का कथन है कि कामदेव तुम को तपाता है किन्तु मुझे तो जलाये ही डाल रहा है । तात्पर्य यह कि मुझ को काम अधिक कष्ट दे रहा है और तुम्हारे मिलने के विना मेरी दशा तो मृतप्राय हो रही है । **ग्लपयति**... इत्यादि = दिन के समय में कुमुदिनी केवल मुरझा जाया करती है किन्तु चन्द्रमा का तो अस्तित्व ही नष्टप्राय हो जाता है । यहाँ शकुन्तला को राजा ने कुमुदिनी तथा अपने को चन्द्रमा माना है । चन्द्रमा के उदित होने पर कुमुदिनी का विकसित होना स्वाभाविक है । **स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य** = शीघ्र ही उपस्थित हुए मनोरथ का स्वागत है । यहाँ मनोरथ का भाव अभीष्ट व्यक्ति अर्थात् 'राजा' है । अथवा लक्षणा शक्ति द्वारा भी इस प्रकार का अर्थ किया जा सकता है । **सन्दष्ट** = इस शब्द का अर्थ है लगा हुआ अथवा मिला हुआ । लक्षणा द्वारा उसका अर्थ 'पीड़ित' किया गया है । अंगों से पुष्पों की शय्या संलग्न थी अतः अंगों से दबने आदि के कारण वह मुरझा गई है । संभवतः कवि को यही अर्थ अभीष्ट रहा होगा । **आशुक्लान्तविसभंगसुरभीणि** = शीघ्र ही मुरझाये हुए कमलनालों के टूटने के कारण सुगन्धि-युक्त । **उपचारं न अर्हन्ति** = साधारण

रूप से किये जाने वाले शिष्टाचार की क्षमता भी (तुम्हारे) अंगों में नहीं रह गई है (अतः शय्या से उठने की आवश्यकता नहीं है)। माननीय पुरुष के आने पर आदर-सम्मान के निमित्त जो कार्य किया जाता है, जैसे उठकर खड़ा हो जाना इत्यादि, 'उपचार' अथवा शिष्टाचार कहलाता है।

अनसूया—[इदो सिलातलेक्कदेसं अलंकरेदु वअस्सो ।] इतः शिलातलैकदेशमलंकरोतु वयस्यः ।

(राजोपविशति । शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति ।)

अनसूया—प्रिय मित्र इधर शिलातल के एक भाग को अलङ्कृत करें।

(राजा बैठता है। शकुन्तला लज्जित हो जाती है ।)

प्रियंवदा—[दुवेणं पि वो अण्णोणाणुराओ पच्चक्खो । सहीसिणेहो उण मं पुणरुत्तवादिणिं करेदि ।] द्वयोरपि युवयोरन्योन्यानुरागः प्रत्यक्षः । सखीस्नेहः पुनर्मां पुनरुक्तवादिनीं करोति ।

प्रियंवदा—आप दोनों का परस्पर प्रेम प्रत्यक्ष ही है। किन्तु सखी का प्रेम मुझे उसी बात को पुनः कहने के लिये बाध्य कर रहा है।

राजा—भद्रे ! नैतत् परिहार्यम् । विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति ।

राजा—भद्रे ! यह छोड़ने योग्य नहीं है। (क्योंकि) जो बात कहने योग्य है, यदि वह न कही जाय तो (वह) पश्चात्ताप का कारण होती है।

प्रियंवदा—[आवण्णस्स विसअणिवासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्वं त्ति एसो वो धम्मो ।] आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यमित्येष वो धर्मः ।

प्रियंवदा—राजा को अपने राज्य के अन्दर रहने वाले विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति के कष्ट को दूर करने वाला होना चाहिये। यह आपका धर्म है।

राजा—नास्मात् परम् ।

राजा—इससे बड़ा और कोई (कर्तव्य) नहीं है।

प्रियंवदा—[तेण हि इअं णो पिअसही तुमं उद्दिसिअ इमं अवत्थन्तरं भअवता मअणेण आरोविदा । ता अरिहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलम्बिदुं ।] तेन हीयमावयोः प्रियसखी त्वामुद्दिश्ये-

दमवस्थान्तरं भगवता मदनमारोपिता । तदर्हस्यभ्युपपत्त्या जीवित-मस्या अवलम्बितुम् ।

✓ प्रियंवदा—तब यह हमारी प्रिय सखी (शकुन्तला) आपको ही लक्ष्य करके भगवान् कामदेव के द्वारा इस शोचनीय अवस्था को पहुँचा दी गई है। अतः उचित है कि आप अपने अनुग्रह द्वारा इसके जीवन की रक्षा करें।

राजा—भद्रे ! साधारणोऽयं प्रणयः । सर्वथाऽनुगृहीतोऽस्मि ।

राजा—भद्रे ! यह प्रार्थना (दोनों ही ओर से) एक सी है। मैं सर्वथा (आपका) अनगृहीत हूँ ।

व्याकरण:—अनुराग = अनु + रञ्ज् + घञ् । पुनरुक्तवादिनी = पुनरुक्त + वद् + णिनि । विवक्षित = ब्रू + सन् + क्त । आपन्न = आ + पद् + क्त ।

समास आदि:—**अन्योन्यानुरागः** = अन्यस्मिन् अन्यस्मिन् इति अन्योन्यम्, अन्योन्यस्मिन् अनुरागः इति (तत्पुरुष) । **पुनरुक्तवादिनीम्** = पुनरुक्तं वदतीति पुनरुक्तवादिनी ताम् । **विषयनिवासिनः** = विषये निवसति इति विषयनिवासी तस्य । **आर्तिहरेण** = आर्ति हरतीति तेन । **साधारणः** = समानं धारणं आधारणं वा अस्य ।

टिप्पणियाँ—**एकदेशम्** = एक भाग को । **वयस्य** = यहाँ पर अनसूया ने नये सम्बोधन द्वारा राजा को सम्बोधित किया है। इसका कारण यही हो सकता है कि राजा ने विवाह सम्बन्धी अपनी स्वीकृति दे दी है। अतः सखी (शकुन्तला) का पति भी वयस्य अर्थात् मित्र हो गया है। **पुनरुक्तवादिनी** = राजा तथा शकुन्तला का प्रेम उन दोनों की चेष्टाओं तथा अवस्थाओं से ही प्रकट है। उसी बात को प्रियंवदा ने पुनः कहा है अतः वह पुनरुक्तवादिनी हुई । **नैतत् परिहार्यम्** = जो कहना है उसे मत छोड़ो अर्थात् कह डालो । **विवक्षितम** = जिसका कहना अभीष्ट है । **अनुताप** = पश्चात्ताप । **आपन्नस्य** = आपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति का । **विषयनिवासिनः** = विषय का अर्थ है "प्रदेश" । यहाँ भाव 'राज्य' से है। राज्य में रहने वाले । **आर्ति** = पीड़ा, कष्ट । **नास्मात् परम्** = इससे बढ़कर राजा का कोई अन्य कर्तव्य नहीं है। **अवस्थान्तरम्** = इस दयनीय अथवा शोचनीय परिवर्तित अवस्था को । **अभ्युपपत्त्या** = अनुग्रह के द्वारा । **साधारण** = दोनों में समान रूप से पाया जाने वाला । यह प्रार्थना दोनों ओर से ही एक जैसी है। "तुम्हारी सखी की रक्षा के निमित्त मैं अनुग्रह करूँ और मेरी रक्षा के निमित्त तुम्हारी सखी अनुग्रह करे"—यह भाव है ।

शकुन्तला—(प्रियंवदामवलोक्य) [हला ! किं अंतेउर-विरहपज्जुस्सुअस्स राएसिणो उवरोहेण ?] हला ! किमन्तः-पुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन ?

शकुन्तला—(प्रियंवदा को देखकर) सखी ! अपने अन्तःपुर की स्त्रियों के विरह से खिन्न राजर्षि को क्यों रोकती हो ?

राजा—

इदमनन्यपरायणमन्यथा
हृदयसन्निहिते ! हृदयं मम ।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे !
मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥१६॥

अन्वयः—हे हृदयसन्निहिते ! यदि अनन्यपरायणं मम इदं हृदयं अन्यथा समर्थयसे (तर्हि) हे मदिरेक्षणे ! मदनबाणहतः (अहम्) पुनः हतः अस्मि।

संस्कृत-व्याख्या—हे हृदयसन्निहिते ! = हृदये मम चित्ते सत् सम्यक्तया निहिते स्थिते (मया सर्वदा ध्याते–इत्यर्थः) चेतोऽवस्थिते । यदि हृदयसन्निहिता अपि त्वम्, अनन्यपरायणम् = न अन्यत् कलत्रं परायणं आश्रयः यस्य तत् तथाविधं वा अन्यत्रानासक्तम् त्वदेकनिरतमित्यर्थः , मम = दुष्यन्तस्य, इदम् = एतत्, हृदयम् = मानसम्, अन्यथा = अन्यप्रकारेण, अन्यनिष्ठं वा, समर्थयसे = मन्यसे, तर्हि हे मदिरेक्षणे = मदिरे मदयुक्ते ईक्षणे नेत्रे यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ चारुचञ्चललोचने !, मदनबाणहतः = मदनस्य कामस्य बाणैः शरैः हतः विद्धोऽपि अहम्, पुनः = भूयः, हतः = मारितः अस्मि । सर्वथैव हतोऽस्मीत्यर्थः ।

राजा—हे हृदय में स्थित (शकुन्तले) ! यदि तुम अन्य में अनासक्त मेरे इस हृदय को अन्य प्रकार से (किसी दूसरे में निष्ठ) मानती हो, तो मदयुक्त अथवा सुन्दर और चञ्चल नेत्रों वाली (हे शकुन्तले) ! काम के बाणों से मारा गया हुआ मैं और भी (फिर) मारा जाऊँगा ।

अलङ्कारः—यहाँ 'अनन्यपरायणम्' का कारण 'हृदयसन्निहिते' है, अतः काव्यलिंग अलंकार है। हृदयसन्निहिते आदि शब्दों के साभिप्राय होने के कारण परिकर अलंकार है । **छन्दः** = इसमें द्रुतविलम्बित वृत्त है ।

व्याकरणः—**परायण** = परा + अय् + ल्युट् (अन) । **मदिरा** = मद् + किरच् (इर्) ।

समासः—**अन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य** = अन्तःपुरस्य विरहेण पर्युत्सुकस्य (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**अन्तःपुरविरह०** = रनिवास में रहने वाली स्त्रियों के वियोग से व्याकुल । **अन्तःपुर** = रनिवास, जहाँ रानियाँ रहा करती हैं । **पर्युत्सक** = व्याकुल, खिन्न । उपरोधेन = राजा को रोकने से क्या लाभ ? अर्थात् उनको क्यों रोकती हो ? इस वाक्य के द्वारा शकुन्तला राजा के हृदय की परीक्षा करना

चाहती है और वास्तविकता को जानना चाहती है कि राजा को उससे वास्त-विक और हार्दिक स्नेह है वा नहीं। वह जानती है कि राजा पूर्ण रूप से उसके प्रेमपाश में बँध चुका है, फिर भी वह उसके मुख से इस बात को स्पष्ट रूप से सुनना चाहती हैं। **हृदयसन्निहिता** = हृदय में स्थित। सन्निहित शब्द के दो अर्थ किये जा सकते हैं (१) सत् + निहित = अच्छी प्रकार से रखी हुई, सुस्थित। (२) सम् + निहित = पास में रखी हुई अर्थात् हृदय में ही विद्यमान। **समर्थयसे** = मानती हो। **अन्यथा** = दूसरे ही रूप में अर्थात् यदि तुम यह समझती हो कि मैं तुम्हारी अपेक्षा अन्य स्त्रियों को अधिक चाहता हूँ। **मदिरेक्षणे** = मादक नेत्रों वाली अथवा सुन्दर और चंचल नेत्रों वाली। इस स्थल पर मदिरा शब्द के ४ अर्थ किये जा सकते हैं (१) सुरा = लक्षणा द्वारा मदिरा का अर्थ होगा—मादक, उन्मादक अथवा देखने वालों को अपनी ओर आकृष्ट करने वाली। (२) मदिरा शब्द का पारिभाषिक अर्थ है = सुन्दर, विकसित अपांग वाली और चंचल कनीनिका वाली (आँखें)। नाट्यशास्त्र में मदिरा का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है :—"**आघूर्णमानमध्या या क्षामा चाञ्चिततारका। दृष्टिर्विकसितापांगा मदिरा तरुणे मदे॥**" रघुवंश ८।६८ वें श्लोक की टीका करते हुए हेमाद्रि ने संगीतकलिका का निम्न श्लोक मदिरा के लक्षण के रूप में उद्‌धृत किया है :—

> "**सौष्ठवेनापरित्यक्ता स्मेरापांगमनोहरा।**
> **वेपमानान्तरा दृष्टिर्मदिरा परिकीर्तिता॥**"

(३) माद्यति आभ्यां इति मदिरा = उन्मत्त करने वाली। (४) मदिरा मत्त-खंजन पक्षी का भी नाम है ("मदिरा मत्तखंजनः" इति शब्दरत्नावली) मत्त-खंजन के सदृश चंचल नेत्रों वाली। **मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः** = मैं इस समय भी कामदेव के बाणों से आहत (मारा गया हुआ) हूँ। यदि तुम्हारा भी मुझ पर सन्देह है तब तो मैं पुनः मारा जाऊँगा। तात्पर्य यह है कि फिर मैं जीवित ही न रह सकूँगा।

इस स्थल पर 'साम' नामक प्रतिमुखसंधि का अंग विद्यमान है। लक्षण—"तत्र साम प्रियं वाक्यं सानुवृत्तिप्रकाशकम्"। नाट्यशास्त्र।

अनसूया—[वअस्स ! बहुवल्लहा राआणो सुणीअन्ति। जह णो पिअसही बंधुअणसोअणिज्जा ण होइ तह [1]णिव्वाहेहि।]

वयस्य ! बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। यथा नौ प्रियसखी बन्धुजन-शोचनीया न भवति तथा निर्वाहय। Carried out.

पाठभेद—१. [णिव्वत्तेहि] निर्वर्तय—करना।

अनसूया—मित्र ! सुना जाता है कि राजाओं के बहुत-सी प्रियतमायें हुआ करती हैं। (अतः) वैसा व्यवहार कीजियेगा कि जिससे हम लोगों की प्रिय सखी के लिये बन्धुजन शोक न करें।

राजा—भद्रे ! किं बहुना ?

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे ।

समुद्ररसना[1] चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥१७॥

अन्वयः—परिग्रहबहुत्वे अपि मे कुलस्य द्वे प्रतिष्ठे, समुद्ररसना उर्वी च युवयोः इयं सखी च।

संस्कृत-व्याख्या—परिग्रहबहुत्वे अपि = परिग्रहाणां पत्नीनां बहुत्वे आधिक्ये-ऽपि, मे = मम, कुलस्य = वंशस्य, द्वे प्रतिष्ठे = गौरवहेतू स्तः। समुद्ररसना = समुद्रः सागरः रसना मेखला यस्याः सा समुद्रेण परितः आवृता, उर्वी च = पृथ्वी च, युवयोः = भवत्योः, इयम् = एषा सखी = शकुन्तला च।

राजा—भद्रे ! अधिक कहने से क्या लाभ ?

अनेक स्त्रियों के होने पर भी मेरे वंश की दो ही प्रतिष्ठायें (गौरव अथवा मुख्य आधार) हैं:—समुद्ररूपी मेखला से युक्त (चारों ओर समुद्र से घिरी हुई) पृथ्वी और तुम्हारी यह सखी (शकुन्तला)।

अलङ्कार—यहाँ पृथ्वी और शकुन्तला दोनों प्रस्तुतों का एक धर्म प्रतिष्ठा के साथ वर्णन किया गया है अतः "तुल्ययोगिता" अलंकार है। लक्षण—"क्रिया-दिभिरनेकस्य तुल्यता तुल्ययोगिता ॥" कुछ विद्वानों का यह मत है कि यहाँ शकुन्तला का वर्णन प्रस्तुत है तथा पृथ्वी का वर्णन अप्रस्तुत। इन दोनों प्रस्तुत और अप्रस्तुत का वर्णन एक-धर्म (प्रतिष्ठा) के साथ वर्णित होने से यहाँ दीपकालंकार है "प्रस्तुताऽप्रस्तुतानां च तुल्यत्वे दीपकं मतम्"। पृथ्वी में स्त्रीत्व का आरोप होने के कारण 'समासोक्ति' अलंकार है। छन्दः—इसमें 'श्लोक' नामक वृत्त है।

व्याकरण—**परिग्रहः** = परि + ग्रह् + अप् (अ) (यहाँ "ग्रहवृदृनिश्चि-गमश्च" ॥ अष्टा० ३।३।५८ ॥ से 'अप्' होता है।) **प्रतिष्ठा** = प्रति + स्था + अङ (अ) + टाप् (यहाँ "आतश्चोपसर्गे"। अष्टा० ३।३।१०६ ॥ से अङ होता है।

समास आदि—**बहुवल्लभाः** = बहवो वल्लभाः येषां ते। **बन्धुजन-शोचनीया** = बन्धुजनैः शोचनीया इति (तत्पुरुष)। **परिग्रहः** = परि साकल्येन

[1] **समुद्रवसना—समुद्र जिसका वस्त्र है।**

(पूर्णरूप से) गृह्यते स्वीक्रियते (पवित्र अग्नि के चारों ओर ले जाई जाती है अथवा स्वीकार की जाती है) पत्नी ।

टिप्पणियाँ—बहुवल्लभाः = अनसूया के कहने का तात्पर्य यह है कि राजाओं के अनेक पत्नियाँ हुआ करती हैं । आप भी राजा हैं । हो सकता कि आप भी अनेक पत्नियों वाले हों । अतः आप शकुन्तला के साथ ऐसा व्यवहार कीजियेगा कि जिससे वह दुःखित न हो तथा उसके दुःख से हम लोगों को भी दुःखी अथवा शोकयुक्त न होना पड़े । "बन्धुजनशोचनीया" की उक्ति यहाँ पूर्णतया सार्थक है क्योंकि अनसूया का इस स्थल का सन्देह आगामी पंचम अंक में जाकर पूर्ण रूप धारण कर लेता है । राजा शकुन्तला का परित्याग कर देता है और उसके इस व्यवहार को श्रवण कर सभी आश्रमवासी जन दुःखी होते हैं । **परिग्रह-बहुत्वेऽपि**—अनेक पत्नियों के होने पर भी । **परिग्रह** = भार्या, पत्नी ("परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकारमूलयोः" । अमरकोश ।) **प्रतिष्ठे** = गौरव का स्थल अथवा कारण । राजा शकुन्तला को अपने कुल के गौरव का कारण मानता है । **समुद्ररसना** = (पृथ्वी के पक्ष में)—समुद्र जिसकी मेखला के सदृश है अर्थात् चारों ओर से समुद्र से घिरी हुई । (शकुन्तला के पक्ष में)—"मुदं प्रीतिं राति ददातीति मुद्रा, मुद्रा च सा रसना च मुद्ररसना तया सह वर्तते इति समुद्ररसना"—अर्थात् प्रसन्नता प्रदान करने वाली जिह्वा से युक्त अथवा हर्षोत्पादक वचनों को बोलने वाली । अथवा—"मुद्रया मण्यादिवस्तुना सह वर्तते इति समुद्रा सा रसना काञ्ची गुणो यस्याः सा" । मणियों से युक्त कर-धनी वाली ।

इस स्थल पर वाणी द्वारा दूसरे के मन का अनुरंजन किये जाने के कारण 'दाक्षिण्य' नामक नाटकीय लक्षण है । दाक्षिण्य का लक्षण साहित्यदर्पण में निम्न प्रकार किया गया है :—

"दाक्षिण्यं चेष्टया वाचा परचित्तानुवर्त्तनम्" ॥

उभे—[णिव्वुदा म्ह ।] निर्वृते स्वः ।

दोनों—हम दोनों निश्चिन्त हो गयीं ।

प्रियंवदा—(सदृष्टिक्षेपम्) [अणसूये ! एसो इदो दिण्ण-दिट्ठी उत्सुओ मिअपोदओ मादरं अण्णेसदि । एहि, संजोएम णं ।] अनसूये ! इतो एष दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्वि-ष्यति । एहि, संयोजयाव एनम् ।

(इत्युभे प्रस्थिते)

प्रियंवदा—(एक ओर दृष्टि डालते हुए) अनसूये ! इधर की ओर दृष्टि

लगाये हुए उत्सुक यह मृग का बच्चा अपनी माता को खोज रहा है। आओ, इसे (माता से) मिला दें।

(दोनों चल पड़ती हैं।)

शकुन्तला—[हला ! असरण म्हि। अण्णदरा वो आअच्छदु।] हला ! अशरणाऽस्मि अन्यतरा युवयोरागच्छतु।

शकुन्तला—सखी ! मैं असहाय हूँ। तुम दोनों में से एक यहाँ आओ।

शकुन्तला—[कहं गदाओ एव्व।] कथं गते एव ?

शकुन्तला—क्यों, दोनों ही चली गईं ?

उभे—[पुहवीए जो सरणं सो तुह समीवे वट्टइ।] पृथिव्या यः शरणं स तव समीपे वर्तते। (इति निष्क्रान्ते)

दोनों—जो पृथ्वी का रक्षक है वह तेरे समीप है। (ऐसा कहकर दोनों चली जाती हैं।)

राजा—अलमावेगेन। नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते।

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्
संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः।
अंके निधाय करभोरु यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ॥१८॥

अन्वयः—किं शीतलैः क्लमविनोदिभिः नलिनीदलतालवृन्तैः आर्द्रवातान् संचारयामि ? उत हे करभोरु ! ते पद्मताम्रौ चरणौ अंके निधाय यथासुखं संवाहयामि ?

संस्कृत-व्याख्या—किं शीतलैः = शीतलस्पर्शैः, क्लमविनोदिभिः = क्लमं सन्तापं खेदं वा विनोदयितुं शीलं येषां तैः, सन्तापहारकैः, नलिनीदलतालवृन्तैः = नलिनं पद्मं विद्यते यस्याः सा नलिनी तस्या दलानि पत्राणि एव तालवृन्तानि व्यजनानि तैः ('व्यजनं तालवृन्तकम्' इत्यमरः।), आर्द्रवातान् = शीतलतर-वातान्, संचारयामि = करोमि ? उत = अथवा, हे करभोरु ! = करभः मणि-बन्धात् कनिष्ठिकाऽङ्गुलिपर्यन्तं हस्तस्य बहिःप्रदेशः स इव ऊरुः यस्याः सा तत्स-म्बुद्धौ, ते = तव, पद्मताम्रौ = पद्मं कमलं इव ताम्रौ रक्तवर्णौ, चरणौ = पादौ, अंके = क्रोडे, निधाय = स्थापयित्वा, यथासुखम् = मन्दं मन्दम्, येन

प्रकारेण ते सुखं [illegible] प्रकारेणेत्यर्थः, संवाहयामि = मर्दयामि, मर्दनेन क्लेशमपनयामीत्यर्थः ।

राजा—घबराने की कोई बात नहीं है। यह (तुम्हारा) उपासक व्यक्ति तुम्हारे पास ही है।

क्या मैं शीतल तथा थकावट को दूर करने वाले कमलपत्र के पंखे से ठंडी (आर्द्र) हवा करूँ? अथवा हे करभोरु! तुम्हारे कमल के सदृश लाल चरणों को गोद में रखकर सुखपूर्वक (जिस प्रकार तुमको सुख मिले उस प्रकार) दबाऊँ?

अलंकार—प्रस्तुत प्रकरण में कमलपत्र में तालवृन्त का आरोप उपयोगी होने के कारण यहाँ 'परिणाम' अलंकार है। श्लोक के पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध में तुल्य-बलविरोध होने के आधार पर 'विकल्प' अलंकार है। विशेषणों के साभिप्राय होने के कारण, 'परिकर' नामक अलंकार भी है। **छन्दः**—इसमें 'वसन्ततिलका' वृत्त है।

व्याकरणः—**क्लमविनोदी** = क्लम + वि + नुद् + णिच् + णिनि ।

टिप्पणियाँ—**निर्वृते** = हम दोनों आनन्दित अर्थात् निश्चिन्त हो गईं। **मृगपोतकः** = शकुन्तला की दोनों सखियाँ राजा एवं शकुन्तला को एकान्त वार्त्ता-लाप के निमित्त अवसर प्रदान करना चाहती थीं। इसके लिये उन्हें कोई बहाना वहाँ से हटने के लिये चाहिये था। उन्होंने मृग के बच्चे को देखा और कहा कि यह अपनी माँ को खोज रहा है। अतः इसे उससे मिला देना आवश्यक है। अतः वे दोनों उस मृग के बच्चे को उसकी माँ के समीप पहुँचाने के बहाने वहाँ से चली जाती हैं। **अन्यतरा** = दोनों में से एक। **आराधयिता** = आराधना (पूजा) करने वाला अथवा उपासक। यहाँ सेवक अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। **क्लम-विनोदिभिः** = थकावट को दूर करने वाले। **नलिनीदलतालवृन्तैः** = कमलपत्र के पंखे के द्वारा। **करभोरु** = करभ के सदृश जंघाओं वाली। कलाई के मूल से लेकर हाथ की छोटी अँगुली के बीच के हाथ के भाग को 'करभ' कहते हैं। 'करभ' शब्द का दूसरा अर्थ 'हाथी का बच्चा' भी है। इस आधार पर अर्थ होगा हाथी के बच्चे की सूँड़ के सदृश जंघाओं वाली। संस्कृत काव्यों में स्त्री-सौन्दर्य के वर्णन में 'करभ' और 'रम्भा' शब्दों का प्रयोग जाँघ के प्रसिद्ध उपमानों के रूप में किया गया है। **संवाहयामि** = दबाऊँ। इस शब्द से राजा की चाटुकारिता का बोध होता है।

यहाँ पर प्रसन्न करने के भाव का वर्णन होने के कारण 'उपन्यास' नामक प्रतिमुखसन्धि का अंग है। लक्षण—"उपन्यासः प्रसादनम्" ॥ सा० द० ६।९३ ॥

अपने अभीष्ट अर्थ के निमित्त अनेक प्रकार की बातों के कहने के कारण

यहाँ 'माला' नामक नाटकीय लक्षण भी है। लक्षण— "माला स्यात् यद-भीष्टार्थं नैकार्थप्रतिपादनम्" ॥ सा० द० ६।१८९ ॥

इस श्लोक को आचार्य विश्वनाथ ने 'माला' के उदाहरण में उद्धृत किया है।

शकुन्तला—[ण माणणीएसु अत्ताणं अवराहइस्सं ।] न माननीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये ।

(इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति ।)

शकुन्तला—माननीय व्यक्तियों के प्रति मैं अपने आपको अपराधिनी नहीं बनाऊँगी ।

(यह कहकर उठकर जाना चाहती है।)

राजा—सुन्दरि ! अनिर्वाणो दिवसः । इयं च ते शरीरावस्था ।

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम् ।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधा-पेलवैरङ्गैः ॥१९॥

(इति बलादेनां निवर्त्तयति ।)

अन्वयः—नलिनीदलकल्पितस्तनावरणं कुसुमशयनं उत्सृज्य परिबाधापे-लवैः अंगैः कथं आतपे गमिष्यसि ?

संस्कृत-व्याख्या—नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम् = नलिनीदलैः कमल-पत्रैः कल्पितं रचितं स्तनयोः कुचयोः आवरणं आच्छादनं यस्मिन् तत्, कुसुम-शयनम् = पुष्पमयीं शय्याम्, उत्सृज्य = विहाय, परिबाधापेलवैः = परितः बाधा परिबाधा पीडा तया पेलवैः सुकुमारैः (कोमलैः) अंगैः शरीरावयवैः, कथम् = केन प्रकारेण, आतपे = सूर्यातपे घर्मे वा, गमिष्यसि । आतपे तव गमनं सर्वथाऽहितकरमतः न गन्तव्यमित्यर्थः ।

राजा—हे सुन्दरी ! अभी दिन समाप्त नहीं हुआ है और तुम्हारे शरीर की यह अवस्था है।

जिसमें कमलिनी के पत्तों से (तुम्हारे) स्तनों का आवरण बनाया गया है (ऐसी इस) पुष्पशय्या को छोड़कर पीड़ा के कारण कोमल अंगों से तुम धूप में कैसे जाओगी ?

(यह कहकर बलपूर्वक इसे लौटाता है।)

अलङ्कारः—तुम कैसे जाओगी ? इसके प्रति "परिबाधापेलवैः अंगैः" कारण है। अतः काव्यलिंग अलंकार है। "परिबाधापेलवैः" आदि विशेषणों के साभि-प्राय होने के कारण यहाँ 'परिकर' अलंकार है। छन्दः—इसमें 'आर्या' छन्द है।

व्याकरण:—**अपराधयिष्ये** = अप् + राध् + णिच् + लृट् ।
समास आदि:—**अनिर्वाण**: = न निर्वाणं यस्य सः । **शरीरावस्था** = शरीरस्य अवस्था (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**न माननीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये** = यहाँ माननीय व्यक्ति से अभिप्राय 'राजा' से है। शकुन्तला के लिये राजा माननीय है तथा वह उसे पति के रूप में स्वीकार कर चुकी है। अतः वह माननीय व्यक्ति से (राजा से) पैर कैसे दबवा सकती है ? यदि दबवावेगी तो स्वयं अपराधिनी होगी । **अनिर्वाण**: = ढला हुआ अथवा ठंडा पड़ा हुआ न होना। यहाँ पर सूर्य के अस्त होने से अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि अभी सूर्य छिपा नहीं है। धूप काफी तीव्र है अतः बाहर जाना उचित नहीं है। **कुसुमशयनम्** = पुष्पों की शय्या। ऐसा बिछावन कि जिस पर फूल फैलाये गये हों। **नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम्** = कमल के पत्तों से बनाया गया है स्तनों का आवरण जिसमें ऐसी (कुसुमशय्या)। कहने का तात्पर्य यह है कि पुष्पों की शय्या पर शकुन्तला लेटी हुई थी और उसने अपने स्तनों को, शीतलता के निमित्त पुष्पशय्या के कमल के पत्तों से ढक रखा था। **परिबाधापेलवैः** = (सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त) कष्ट के कारण कोमल (अंगों) से। यहाँ पर "पेलव" शब्द में कुछ अश्लीलता का भाव छिपा हुआ है। अतः "परिबाधाकोमलैः" पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

इस श्लोक में हेतुपूर्वक अर्थ के वर्णन से 'उपन्यास' नामक प्रतिमुख सन्धि का अंग है। लक्षण—" **उपपत्तिकृतो योऽर्थ उपन्यासस्तु स स्मृतः** " (नाट्यशास्त्र)। हेतु के साथ अभीष्ट वाक्य के कथन किये जाने से यहाँ 'हेतु' नामक नाटकीय लक्षण है। इसका लक्षण—

" **हेतुर्वाक्यं समासोक्तमिष्टकृद् हेतुदर्शनात्** " ॥
सा० दर्पण ६।१७८ ॥

शकुन्तला:—[पौरव ! रक्ख विणअं। मअणसंतत्ताबि ण हु अत्तणो पहवामि ।] पौरव ! रक्ष विनयम् । मदनसंतप्ताऽपि न खल्वात्मनः प्रभवामि ।

शकुन्तला—हे पुरुवंशी राजन् ! शील की रक्षा कीजिये। काम-पीड़ित भी मुझे अपने पर अधिकार नहीं है।

राजा—भीरु ! अलं गुरुजनभयेन । दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः । अपि च,—

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः ।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥२०॥

अन्वयः—बह्व्यः राजर्षिकन्यकाः गान्धर्वेण विवाहेन परिणीताः, ताः पितृभिः अभिनन्दिताः च श्रूयन्ते ।

संस्कृत-व्याख्या—बह्व्यः = अनेकाः, राजर्षिकन्यकाः = राजर्षीणां कन्यकाः कुमार्य्यः, गान्धर्वेण = रहसि परस्परानुमोदनकृतेन विवाहेन ("गान्धर्वः समयान्मिथः" इति याज्ञवल्क्य-स्मृतेः), परिणीताः = विवाहं प्राप्ताः । ताः = कन्यकाः, पितृभिः = गुरुजनैः, अभिनन्दिताः = अनुमोदिताः, श्रूयन्ते = आकर्ण्यन्ते ।

✓ राजा—हे भयशीले ! (डरपोक), अपने गुरुजनों का भय मत करो । तुम्हारे विषय में (सब बातें) जानकर धर्म को जानने वाले पूजनीय कुलपति (कण्व) इस विषय में दोष नहीं मानेंगे । और भी—

अनेक राजर्षियों की कन्याओं ने गान्धर्व-विधि के द्वारा अपना विवाह कर लिया और उनका (उनके इस कार्य का) उनके पिताओं ने अनुमोदन किया, ऐसा सुना जाता है ।

अलङ्कार—इसमें 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार है । **छन्दः**—इसमें श्लोक नामक वृत्त है ।

व्याकरण—**विदितधर्मा** = इसमें "धर्मादनिच् केवलात्" (अष्टा० ५।४।१२४) से अनिच् (अन्) प्रत्यय होता है । इसके रूप 'आत्मन्' शब्द के समान चलेंगे । **कन्यकाः**—यहाँ स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय हो जाता है ।

समास आदि—**विदितधर्मा** = विदितः धर्मः यस्य सः (बहुव्रीहि) । **राजर्षिकन्यकाः** = राजानः ऋषयः इव इति राजर्षयः तेषां कन्याः, कन्याः एव कन्यकाः ।

टिप्पणियाँ—**रक्ष विनयम्** = विनय (शील) की रक्षा कीजिये अर्थात् शिष्टाचार का पालन कीजिये । भाव यह है कि मुझे बलात् खींचने का प्रयास न कीजिये । **आत्मनः न प्रभवामि** = मुझ पर मेरा अपना अधिकार नहीं है अर्थात् मैं अपनी इच्छानुसार कुछ भी नहीं कर सकती हूँ । मेरे विषय में जो कुछ भी करना है वह पिता (कण्व) ही करेंगे । **दृष्ट्वा** = देखकर अर्थात् तुम्हारे बारे में सब कुछ जानकर । **विदितधर्मा** = धर्म को जानने वाले । यहाँ पर धर्म शब्द का भाव विधि, मर्यादा, आचार, परम्परा से है । **गान्धर्वेण विवाहेन** = गान्धर्व-विवाह नाम की विधि से । धर्मशास्त्रों में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख आता है (१) ब्राह्म (२) दैव (३) आर्ष (४) प्राजापत्य (५) आसुर (६) गान्धर्व (७) राक्षस (८) पिशाच । (**ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः । गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥**) इनमें से प्रथम चार को शास्त्रसम्मत कहा गया है और शेष चार को असम्मत ।

किन्तु क्षत्रिय के लिये गान्धर्व विवाह भी सम्मत कहा गया है (मनु० ३।३६)। कन्या एवं पुरुष के पारस्परिक प्रेम के आधार पर दोनों की स्वीकृति से होने वाले विवाह को गान्धर्व-विवाह कहते हैं। इसमें माता-पिता की स्वीकृति का लेना आवश्यक नहीं होता है। (इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥ मनु० ३।३२॥) इतना अवश्य था कि वर और कन्या दोनों अपने कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व को ठीक समझते हों। बाद में माता-पिता का भी समर्थन प्राप्त हो जाया करता था। **अभिनन्दिताः**=माता-पिता आदि ने उनका अनुमोदन किया। ऐसा गान्धर्व विवाह प्रभावती का प्रद्युम्न से, उषा का अनिरुद्ध से हुआ (हरिवंश०—२।९४। तथा २।११९।)।

इस श्लोक में शास्त्रानुकूल सुन्दर वाक्य का कथन किया गया है अतः इसमें 'उपदिष्ट' नामक नाटकीय लक्षण है। इसका लक्षण :—"उपदिष्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारतः" ॥ साहित्यदर्पण ६।१८४ ॥

शकुन्तला—[मुञ्च दाव मं। भूओ वि सहीजणं अणुमाणइस्सं।] मुञ्च तावन्माम्। भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये।

शकुन्तला—मुझे अभी छोड़ दो। मैं फिर अपनी सखियों से अनुमति लूंगी।

राजा—भवतु। मोक्ष्यामि।

राजा—अच्छा, छोड़ दूंगा।

शकुन्तला—[कदा ?] कदा ?

शकुन्तला—कब ?

राजा—

अपरिक्षतकोमलस्य यावत्
कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते
सदयं सुन्दरि ! गृह्यते रसोऽस्य ॥२१॥

(इति मुखमस्याः समुन्नयितुमिच्छति। शकुन्तला परिहरति नाट्येन।)

अन्वयः—हे सुन्दरि ! यावत् षट्पदेन नवस्य कुसुमस्य इव पिपासता मया अपरिक्षतकोमलस्य अस्य ते अधरस्य रसः सदयं गृह्यते।

संस्कृत-व्याख्या—हे सुन्दरि !=हे मनोहारिणि शकुन्तले !, यावत्=यावत्कालपर्यन्तं मयाऽधरपानं क्रियते, तत्पश्चात् मोक्ष्यते इतिभावः, षट्पदेन=

भ्रमरेण, नवस्य=नवविकसितस्य, कुसुमस्य इव=पुष्पस्य इव, पिपासता=पातुमिच्छता, मया=दुष्यन्तेन, अपरिक्षतकोमलस्य=अपरिक्षतः न दष्टः अनास्वादितपूर्व इत्यर्थः कोमलः च सुकुमारश्च तस्य, अस्य, ते=तव, अधरस्य, रसः=स्वादः, सदयं=दयया सहितं मन्दं मन्दम्, गृह्यते=आदीयते ।

राजा—हे सुन्दरी ! भ्रमर के द्वारा नवविकसित पुष्प के (रस के) सदृश, प्यासे मेरे द्वारा अक्षत तथा कोमल तेरे अधर का रस दयाभाव के साथ पिया जा रहा है, उसके पश्चात् (तुझे छोड़ूँगा) ।

(यह कहकर इस (शकुन्तला) के मुख को ऊपर उठाना चाहता है। शकुन्तला उसको रोकने का अभिनय करती है ।)

अलङ्कार—इसमें उपमा अलंकार है । छन्दः—इसमें 'मालभारिणी' वृत्त है । "विषमे ससजा गुरु समे चेत् समरा येन तु मालभारिणीयम् ॥"

व्याकरण—अनुमानयिष्ये=अनु+मन्+णिच्+लृट् । पिपासता=पा+सन्+पिपास+शतृ+तृ० ।

समास आदि—अपरिक्षतकोमलस्य = अपरिक्षतः चासौ कोमलश्च (कर्मधारय) तस्य ।

टिप्पणियाँ—अनुमानयिष्ये=अनुमति (सम्मति) लूँगी । अपरिक्षत=अक्षत अर्थात् जिसका स्वाद अभी तक किसी के द्वारा नहीं लिया गया है । पिपासता=पीने के इच्छुक (प्यासे) ।

सुन्दर वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा के कारण इस श्लोक में "स्पृहा" नामक नाटकीय अलंकार है । लक्षण—**आकांक्षा रमणीयत्वाद् वस्तुनो या स्पृहा तु सा** ॥ साहित्यदर्पण ६।२०२ ॥ **नाटयेन**=शकुन्तला राजा को अधरपान करने से रोकने का अभिनय करती है । नाटकीय सिद्धान्तों के अनुसार रंगमंच पर अधरपान करते हुए दिखलाना वर्जित है ।

(नेपथ्ये)

(चक्कवाकवहुए ! आमन्तेहि सहअरं । उवट्ठिआ रअणी ।)

चक्रवाकवधूः ! आमन्त्रयस्व सहचरम् । उपस्थिता रजनी ।

(नेपथ्य में)

हे चकवा की बहू ! अपने साथी से विदा ले लो । रात्रि आ गई है ।

शकुन्तला—(ससंभ्रमम्) [पोरव ! असंसअं मम सरीरवुत्तंतोवलंभस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि । जाव विडवंतरिदो होहि ।] पौरव ! असंशयं मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति । यावद्विटपान्तरितो भव ।

शकुन्तला—(घबराहट के साथ) हे पौरव ! निस्संदेह मेरे शरीर का हाल जानने के लिये आर्या गौतमी इधर ही आ रही हैं। तब तक आप शाखाओं की ओट में छिप जाइये।

राजा—तथा। (इत्यात्मानमावृत्य तिष्ठति।)

राजा—अच्छा। (यह कहकर अपने आपको छिपाकर खड़ा होता है।)

(ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी सख्यौ च।)

(तदनन्तर हाथ में पात्र लिये हुए गौतमी और दोनों सखियाँ प्रवेश करती हैं।)

सख्यौ—(इदो इदो अज्जा गोदमी।) इत इत आर्या गौतमी।

दोनों सखियाँ—इधर से, आर्या गौतमी इधर से।

गौतमी—(शकुन्तलामुपेत्य) [जादे ! अवि लहुसंदावाइं दे अंगाइं।] जाते ! अपि लघुसन्तापानि तेऽङ्गानि ?

गौतमी—(शकुन्तला के पास जाकर) पुत्री ! क्या तेरे अंगों का संताप कुछ कम हुआ ?

शकुन्तला—[अत्थि मे विसेसो] अस्ति मे विशेषः।

शकुन्तला—हाँ, मुझे कुछ लाभ है।

गौतमी—(इमिणा दब्भोदएण णिराबाधं एव्व दे सरीरं भविस्सदि। (शिरसि शकुन्तलामभ्युक्ष्य) वच्छे ! परिणदो दिअहो। एहि, उडजं एव गच्छम्ह।] अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते शरीरं भविष्यति। वत्से ! परिणतो दिवसः। एहि, उटजमेव गच्छामः।

(इति प्रस्थिताः।)

गौतमी—इस कुश के जल से तेरा शरीर पीड़ा-रहित हो जायगा। (शकुन्तला के सिर पर जल छिड़ककर) ! पुत्री (अब) दिन ढल गया है। आओ, अब हम सब कुटी पर ही चलें।

(सब चल पड़ती हैं।)

व्याकरण—उपलम्भः = उप + लम् + घञ्।

टिप्पणियाँ—**चक्रवाकवधुके = चक्रवाक की वधू (चकवी)। कवि–प्रसिद्धि है कि चकवा-चकवी का जोड़ा दिन में साथ रहता है और रात्रि में अलग-अलग**

हो जाया करता है। इस विषय में एक कथानक प्रचलित है कि पम्पासर के किनारे पर स्थित राम, सीता के वियोग में, रुदन कर रहे थे। उनके इस रुदन को देखकर चकवा उन पर हँसा। क्रोध में आकर राम ने उसे शाप दे दिया कि तुम भी रात में पृथक्-पृथक् होकर रहोगे तथा एक-दूसरे के वियोग में रोया करोगे। महाकवि ने यहाँ पर बड़े ही सुन्दर संकेत द्वारा शकुन्तला को सूचना देने के रूप में नेपथ्य से दोनों सखियों में से किसी एक के द्वारा यह कहलवाया है कि हे शकुन्तला! (चकवी) तुम अपने पति (चकवा–दुष्यन्त) से विदाई लो। क्योंकि अब रात्रि रूपी गौतमी आ रही है। ये अत्यन्त प्रेमी जीव माने गये हैं। इनके पर्यायवाची शब्दों से भाव और भी स्पष्ट हो जाता है—'भूरि-प्रेमा', 'द्वन्द्व-चारी', 'रात्रिविश्लेषगामी' इत्यादि। कालिदास के ग्रन्थों में इनका उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। उदा०—"दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्"॥ मेघदूत २।२३॥ "शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्रिणम्"॥ रघुवंश ८।५६।) इत्यादि। **आमन्त्रयस्व**—आ+मन्त्र् का अर्थ होता है विदाई लेना। **शरीरवृत्तान्तोपलम्भाय**—शरीर की दशा का समाचार जानने के लिए। **उपलम्भः**=जानना, पता लगाना। **अन्तरितः**=छिपना। **लघुसन्तापानि**=स्वल्प कष्ट से युक्त। **अंगानि**='अंगों' का भाव यहाँ पर 'शरीर' से है। शारीरिक कष्ट अथवा पीड़ा कम हुई अथवा नहीं? **विशेषः**=विशेषता है अर्थात् कुछ लाभ है। **निराबाधम्**=कष्ट अथवा पीड़ारहित, रोगरहित। **परिणतो दिवसः**=दिन ढल गया है अर्थात् अब सायंकाल का समय हो रहा है।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) [हिअअ! पढमं एव्व सुहोवणदे मणोरहे कादरभावं ण मुंचसि। साणुसअविहडिअस्स कहं दे संपदं संदावो? (पदान्तरे स्थित्वा, प्रकाशम्) लदावलअ संदावहारअ! आमंतेमि तुमं भूओ वि परिभोअस्स।] हृदय! प्रथममेव सुखोपनते मनोरथे कातरभावं न मुञ्चसि। सानुशय-विघटितस्य कथं ते साम्प्रतं संतापः? लतावलय संतापहारक! आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय।

(इति दुःखेन निष्क्रान्ता शकुन्तला सहेतराभिः।)

शकुन्तला—(मन में) हे हृदय! पहले ही अनायास मिले हुए मनोरथ (दुष्यन्त) के होने पर तुमने कातरता को छोड़ा नहीं। अब पश्चात्तापपूर्वक पृथक् होने पर तुझे संताप क्यों है? (थोड़ा चलकर और रुककर, प्रकट रूप से) हे दुःखहारक लतामण्डप! फिर सेवन करने के लिये मैं तुमसे विदा माँगती हूँ। (यह कहकर शकुन्तला अन्य स्त्रियों के साथ दुःखपूर्वक बाहर जाती है।)

राजा—(पूर्वस्थानमुपेत्य, सनि:श्वासम्) अहो, विघ्नवत्य: प्रार्थितार्थसिद्धय: । मया हि—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं
प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्या:
कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥२२॥

अन्वय:—पक्ष्मलाक्ष्या: मुहु: अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामं अंसविवर्ति मुखं कथमपि उन्नमितं न तु चुम्बितम् ।

संस्कृत-व्याख्या—(मया—दुष्यन्तेन), पक्ष्मलाक्ष्या: = पक्ष्मले प्रशस्तरोमयुक्ते अक्षिणी नेत्रे यस्यास्तस्या:, मुहु: = वारं वारम्, अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठम् = अङ्गुलिभि: संवृत: आच्छादित: अधरोष्ठ: निम्नोष्ठ: यस्मिन् तत्, प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् = प्रतिषेधाक्षराणि—"मा मा" इत्यादीनि (निषेधोक्ते:) तेषां विक्लवं स्फुटोच्चारणेऽसमर्थं तेन अभिरामं सुन्दरम्, अंसविवर्ति = अंसे स्कन्धोपरिभागे विवर्त्तते चुम्बनातंकात् तद्रक्षणायैव लज्जयैव वा परावर्त्तते इति अंसविवर्ति (अत्र आदौ अंगुलिसंवरणं तत्रापि पश्चात् प्रतिषेधक्षराणि तत्रापि पुनरंसविवर्त्तनमितिक्रमो विवक्षित:), मुखम् = आननम्, कथमपि = महता कष्टेन, उन्नमितं = ऊर्ध्वीकृतम्, न तु चुम्बितम् = न तु चुम्बनं कृतम् । तु : पश्चात्तापे ।

राजा—(अपने पूर्वस्थान पर आकर, ठंडी साँस लेकर) ओह, अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धियों में बहुत से विघ्न हो जाया करते हैं । क्योंकि मैंने—

उस सुन्दर नेत्रों वाली (शकुन्तला) का बार-बार अँगुलियों से ढके निचले ओष्ठ से युक्त, निषेध (नहीं-नहीं के शब्दों) के अक्षरों के अस्पष्ट उच्चारण के कारण सुन्दर, कन्धे की ओर मुड़े हुए, मुख को (मैंने) किसी प्रकार ऊपर की ओर उठा तो लिया किन्तु उसका चुम्बन न कर सका ।

अलङ्कार—यहाँ पर "मुख" के तीनों विशेषण 'कथमपि' के कारण ही हैं। अत: काव्यलिंग अलंकार है । सम्पूर्ण श्लोक में 'स्वभावोक्ति' अलंकार है । छन्द—उक्त श्लोक में—'मालभारिणी' वृत्त है ।

व्याकरण—अनुशय = अनु + शी + अच् (अ) ।

समास आदि—सलोपखते = सखेन उपखते । सानुशयविघटितस्य = अनुशयेन सहितं यथास्यात्तथा विघटितस्य । प्रार्थितार्थसिद्धय: = प्रार्थितानां अर्थानां सिद्धय: (तत्पुरुष) । अंगुलिसंवृताधरोष्ठम् = अधरश्च ओष्ठश्च अधरोष्ठम्,

अंगुलिभिः संवृतं अधरोष्ठं यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)। अथवा अधरः ओष्ठः अधरोष्ठः अङ्गुलिभिः संवृत्तः अधरोष्ठः यस्मिन् तत्। **प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्** = मा मा इत्यादिभिः प्रतिषेधाक्षरैः विक्लवमपि अभिरामम्। अथवा प्रतिषेधाक्षराणां विक्लवं तेन अभिरामम् (तत्पुरुष)। **अंसविवर्ति** = अंसे विवर्त्तते इति। अथवा अंसे विवर्तितुं शीलं यस्य तत्।

टिप्पणियाँ—**सुखोपनते** = अनायास (बिना किसी प्रयास आदि के ही) आ गये हुए। **मनोरथे** = चाही गई हुई वस्तु अर्थात् दुष्यन्त। **कातरभावम्** = कातरता के भाव को। लज्जा, भय अथवा संकोच को। **सानुशयविघटितस्य** = (अनुशय) पश्चात्ताप के साथ पृथक् पृथक् हुए। **लतावलय···परिभोगाय**—शकुन्तला की यह उक्ति दो अर्थ वाली है :(१) लतागृह के पक्ष में (२) राजा के पक्ष में। यहाँ लताकुंज को संबोधित किया गया है ताकि गौतमी कुछ और न समझ पावें। वास्तविकता तो यह है कि यह वाक्य लताकुंज में छिपे हुए राजा के ही लिये कहा गया है। (१) लतागृह के पक्ष में—हे लताकुञ्ज ! तुम मेरे संताप को हरण करने वाले हो। आमन्त्रये त्वाम् = तुम से विदाई लेती हूँ। भूयोऽपि परिभोगाय = मैं विश्राम करने के लिये फिर आऊँगी। (२) राजा के पक्ष में = हे लतावलय सन्तापहारक—हे लतागृह में छिपे हुए प्राणेश ! तुमने मेरे काम-सन्ताप को दूर किया है अथवा हे लतागृह में सम्भोग करके कामजन्य सन्ताप को दूर करने वाले राजन् ! आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय = सम्भोग के लिये मैं तुमको पुनः आमन्त्रित करती हूँ। अर्थात् मुझ से फिर मिलियेगा। कलात्मक दृष्टि से इस वाक्य में 'मनोरथ' नामक नाटकीय लक्षण प्राप्त होता है। उसका लक्षण—"**मनोरथस्त्वभिप्रायः स्वोक्तिर्भङ्ग्यन्तरेण यत्**" इति। दूसरे प्रकार से अपने अभिप्राय को कहना। **प्रार्थितार्थसिद्धयः**—अभिलषित (चाहे गये हुए) अर्थ की सिद्धियाँ अनेक प्रकार के विघ्नों से भरपूर होती हैं। अर्थात् अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में बाधायें आ ही जाया करती हैं। पश्चात्ताप के साथ राजा द्वारा यह वाक्य कहा गया है। **अंगुलिसंवृताधरोष्ठम्**—अँगुलयों से ढका हुआ है निचला ओष्ठ जिसका (ऐसा मुख)। अर्थात् शकुन्तला अपने ओष्ठ को बार-बार अँगुलियों से ढक लेती थी। **प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्** = मना करने के अक्षरों (नहीं, नहीं) के अस्पष्ट उच्चारण के कारण सुन्दर। अथवा मना करने के अक्षरों (नहीं, नहीं) से (उत्पन्न हुई) व्याकुलता के कारण सुन्दर। **अंसविवर्ति**—कन्धे से दूसरी ओर को मुड़ने वाले। अथवा (दूसरे) कन्धे की ओर मुड़ा हुआ। सर्वप्रथम मना करने पर और फिर अँगुलियों से ओष्ठ को ढकने पर भी जब राजा नहीं माना तब शकुन्तला ने अपना मुख दूसरे कन्धे की ओर फेर लिया। **पक्ष्मलाक्ष्याः**—सुन्दर पलकों से युक्त आँखों वाली। **कथमपि**—किसी प्रकार से बड़ी कठिनाई के साथ अथवा शकुन्तला की इच्छा के विरुद्ध।

बड़े पश्चात्ताप के साथ राजा द्वारा यह कथन किया गया है। राजा को चुम्बन

न कर सकने का पश्चात्ताप है। अतः यहाँ पश्चात्ताप नामक नाट्यीय अलंकार है। लक्षण—**मोहावधोरितार्थस्य पश्चात्तापः स एव तु** ॥ साहित्यदर्पण ६।२०३॥

क्व नु खलु संप्रति गच्छामि ? अथवा इहैव प्रियापरिभुक्तमुक्ते लतावलये मुहूर्त्तं स्थास्यामि । (सर्वतोऽवलोक्य)—

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः ।
हस्ताद् भ्रष्टमिदं विसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि ॥२३॥

अन्वयः—तस्याः शरीरलुलिता शिलायां इयं पुष्पमयी शय्या । तस्याः नखैः अर्पितः नलिनीपत्रे एष क्लान्तः मन्मथलेखः । तस्याः हस्ताद् भ्रष्टं इदं विसाभरणम्, इति आसज्यमानेक्षणः (अहम्) शून्यात् अपि वेतसगृहात् सहसा निर्गन्तुं न शक्नोमि ।

संस्कृत-व्याख्या—तस्याः = प्रियायाः शकुन्तलायाः, शरीरलुलिता = शरीरेण संतप्तदेहेन लुलिता मर्दिता, शिलायाम् = प्रस्तरखण्डोपरि, इयम् = पुरो दृश्यमाना, पुष्पमयी = कुसुमनिर्मिता, शय्या = तल्पं शयनीयं वा वर्त्तते । (अत्र सा विरहिणी शयाना आसीत् इतीयं मां स्मारयति इति भावः ।) तस्याः नखैः अर्पितः = उल्लिखितः, नलिनीपत्रे = कमलदले, एष = पुरः स्थितः, क्लान्तः = म्लानः, मन्मथलेखः = प्रणयपत्रमस्ति । इति सा मयि भावमवर्णयत् इत्येष मे कथयति । तस्याः हस्तात् = करात्, भ्रष्टम् = च्युतम् पतितम् वा, इदम् = पुरोवर्ति, विसाभरणम् = मृणालवलयमस्ति । अत्रासीच्चुम्बनाध्यवसाय इत्येतन्मे निवेदयति । इति = एभिः प्रकारैः, आसज्यमानेक्षणः = आसज्यमाने प्रियायाः वस्तुत्वादेव द्रष्टुं प्रवृत्ते ईक्षणे नेत्रे यस्य सः, (एतादृशोऽहम्) शून्यादपि = प्रियाविरहितादपि, वेतसगृहात् = लतामण्डपात्, सहसा = अकस्मात् सद्य एव वा, निर्गन्तुम् = बहिर्यातुम्, न शक्नोमि = न समर्थोऽस्मि । प्रियोपभुक्तं तत्तत् वस्तु मे दृष्टिं बध्नाति, तेन तेन विशेषेण तां तामवस्थां स्मारितो नाहमितो गन्तुं समर्थः इति भावः ।

अब मैं कहाँ जाऊँ ? अथवा कुछ समय तक यहीं प्रिया द्वारा भोगकर छोड़े गये (इस) लतामण्डप में ठहरूँ । (चारों ओर देखकर)—

उसके शरीर द्वारा दबाई गई हुई एवं शिला पर पड़ी हुई यह फूलों की शय्या है। (उसके) नखों द्वारा कमल पत्र पर लिखा हुआ यह मुरझाया हुआ प्रेम-पत्र है। (उसके) हाथ से गिरा हुआ यह मृणाल-निर्मित कंकण है। इस प्रकार

(इन सभी वस्तुओं में) लगी हुई दृष्टिवाला मैं इस सूने (शकुन्तला से रहित) भी वेंत के गृह (लता-मण्डप) से एकाएक बाहर निकलकर जाने में समर्थ नहीं हूँ।

अलंकार:—यहाँ पर वेतसगृह पूर्णतया शून्य है। अतः उसमें रुकने का कोई कारण उपस्थित न होने पर भी राजा द्वारा वहाँ रुका जा रहा है। अतः विभावना अलंकार है। लतामण्डप शून्य है अतः वहाँ से चला जाना चाहिये; किन्तु शून्यता रूपी कारण के उपस्थित होने पर भी जाना रूपी कार्य के न होने के कारण 'विशेषोक्ति' अलंकार है। छन्दः—"यहाँ 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त है।

व्याकरण—**क्लान्तः** = क्लम् + क्त । **अर्पितः** = ऋ + णिच् + क्त ।

समास आदि—**प्रियापरिभुक्तमुक्ते**—प्रियया पूर्वं परिभुक्ते पश्चान्मुक्ते । **शरीरलुलिता** = लोट-पोट करने (इधर-उधर करवट बदलने) के कारण शरीर से विमर्दित (रगड़ी गई हुई) । **क्लान्तः** = मुरझाया हुआ। **नखैरर्पितः** = नाखूनों से लिखा गया हुआ । **आसज्यमानेक्षणः** = जिसकी दृष्टि उस (प्रिया द्वारा भोग की गई हुई वस्तुओं) में ओर लगी हुई है। पाठभेद—आसज्जमानेक्षणः = इसका भी अर्थ वही है। निर्गन्तुं न शक्नोमि = बाहर निकलने में समर्थ नहीं हूँ। राजा को शकुन्तला द्वारा भोग की गई हुई वस्तुओं से भी इतना अधिक प्रेम हो गया है कि वह उनको भी छोड़कर बाहर नहीं जाना चाहता है।

उपर्युक्त श्लोक की चतुर्थ पंक्ति में प्रेमाधिक्य को प्रदर्शित करने वाली विशेष बात कही गई है। अतः यहाँ पर "पुष्प" नामक प्रतिमुख संधि का अंग है। उसका लक्षण— "पुष्पं विशेषवचनं मतम्" ॥ साहित्यदर्पण ६।९३॥

(आकाशे)

राजन् !

सायंतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते
वेदिं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः ।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः
संध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम् ॥२४॥

अन्वयः—सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते हुताशनवतीं वेदिं परितः प्रयस्ताः सन्ध्यापयोदकपिशाः भयं आदधानाः पिशिताशनानां छायाः बहुधा चरन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—सायन्तने = सायंकालिके, सवनकर्मणि = यजनकर्मणि, संप्रवृत्ते = सम्यक् प्रवृत्ते आरब्धे सति, हुताशनवतीम् = हुतं हविः अश्नाति यः अग्निः तद्वतीं यज्ञियाग्नियुक्तामित्यर्थः, वेदिं परितः = यज्ञभूमेः चतुर्षु पार्श्वेषु,

प्रयस्ता: = विकीर्णा: व्याप्ता: वा, सन्ध्यापयोदकपिशा: = सन्ध्यायां सायंकाले

ये पयोदा: मेघा: तद्वत् कपिशा: पिंगलवर्णा:, भयम् = भीतिम्, आदधाना: =
उत्पादयन्त्य: पिशिताशनानाम् = पिशितं मांसं अशनं भोजनं येषां तेषां राक्ष-
सानाम्, छाया: = प्रतिबिम्बानि, चरन्ति = इतस्ततो भ्रमन्ति ।

(आकाश में)

हे राजा ! सायंकालीन यज्ञ के प्रारम्भ होने पर, प्रज्वलित अग्नि से युक्त यज्ञमण्डल के चारों ओर फैली हुई, सन्ध्याकालीन मेघसमूह के सदृश पिंगलवर्ण (काले और पीले रंग) वाली तथा भय उत्पन्न करने वाली राक्षसों की परछाइयाँ इधर-उधर विचरण कर रही हैं ।

अलंकार:—यहाँ "संध्यापयोदकपिशा:" में लुप्तोपमा अलंकार है । यज्ञ की वेदी के चारों ओर विचरण करने वाली राक्षसों की छाया ही "भयमादधाना:" का कारण है । अत: काव्यलिंग अलंकार है । *छन्द*:—इसमें 'वसन्ततिलका' वृत्त है ।

व्याकरण:—**सायन्तनम्** = सायं भवं सायन्तनम् । सायम् + ट्यु (अन्) (यहाँ 'सायंचिरम्प्रा०' इत्यादि अष्टा० ४।३।२३।। से ट्यु प्रत्यय तथा बीच में तुट् (त्) का आगम । **सवन** = सु + ल्युट् (अन्) । **संप्रवृत्ते** = सम् + प्र + वृत् + क्त । **हुताशन:**—अश्नातीति अशन:—अश् + ल्यु (अन्), हुतस्य अशन: हुताशन: । **आदधान:** = आ + धा + शानच् ।

समास:—**पिशिताशना:** = पिशितं अशनं येषां ते (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**सायन्तने** = सायं समय होने वाले (यज्ञ में) । **सवनकर्मणि**
= यज्ञकर्म में । "सवनं यजने स्नाने" इति विश्व: । **संप्रवृत्ते**—ठीक रूप में प्रारम्भ
हो जाने पर । **हुताशनवतीम्** = अग्नि से युक्त । **हुताशन** = अग्नि । **प्रयस्ता:** =
फैले हुए, व्याप्त । **छाया:** = परछाइयाँ, प्रतिबिम्ब । राक्षस आकाश में भ्रमण
कर रहे हैं अत: उनकी परछाइयाँ ही पृथ्वी पर दिखलाई देती हैं । **बहुधा** = इस
शब्द का सम्बन्ध 'चरन्ति' तथा 'भयमादधान:' दोनों से हो सकता है । बहुधा
चरन्ति = अनेक प्रकार से विचरण कर रही हैं । बहुधा भयमादधाना: = अनेक
प्रकार से भय उत्पन्न करती हुई । **कपिशा:** = काले और पीले रंग की "श्याव:
स्यात् कपिश: पिंगपिशंगौ कद्रुपिंगलौ"—अमरकोष । **संध्यापयोदकपिशा:** = संध्या
समय में मेघों के सदृश पिंगल वर्ण वाली । **पिशिताशनानाम्** = कच्चा मांस खाने
वालों की, मांसाहारी राक्षसों की । इस श्लोक में 'भयानक' रस है ।

राजा—(आकर्ण्य, सावष्टम्भम्) भो भोस्तपस्विन: ! मा भैष्ट मा भैष्ट, अयमहमागत एव ।

(इति निष्क्रान्ता:)

राजा—(सुनकर धैर्य तथा गर्व के साथ) हे हे तपस्वियो ! आप लोग

भयभीत न हों। यह मैं आ ही गया।

(यह कहता हुआ राजा चल देता है।)

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥

(तृतीय अंक समाप्त)

टिप्पणियाँ—**सावष्टम्भम्**=अवष्टम्भ शब्द में गर्व, उत्साह, तेज, धैर्य आदि अनेक भाव सम्मिलित रहते हैं। इससे राजा का 'धीरोदात्त' होना सूचित होता है। राजा की इस उक्ति में वीर रस है।

इत्यभिज्ञानशाकुन्तलस्याचार्यसुरेन्द्रदेवकृतायां 'आशुबोधिनी'-
व्याख्यायां तृतीयोऽङ्कः समाप्तः।

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ ।)

अनसूया—[हला पिअंवदे ! जहवि गंधव्वेण विहिणा णिव्वुत्तकल्लाणा सउंदला अणुरूवभत्तुगामिणी संवुत्तेति णिव्वुदं मे हिअअं, तह वि एत्तिअं चिन्तणिज्जं ।] हला प्रियंवदे ! यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलाऽनुरूपभर्तृ-गामिनी संवृत्तेति निर्वृतं मे हृदयम् तथाप्येतावच्चिन्तनीयम् ।

(तदनन्तर फूल चुनने का अभिनय करती हुई [शकुन्तला की] दोनों सखियाँ प्रवेश करती हैं।) अनसूया—सखी प्रियंवदा ! यद्यपि गान्धर्व विधि से विवाहित होकर शकुन्तला ने (अपने) अनुकूल पति को प्राप्त कर लिया है, इससे मेरा मन शान्त (अवश्य) हो गया है, फिर भी इतना विचारणीय है ही ।

प्रियंवदा—[कहंविअ ?] कथमिव ?

प्रियंवदा—वह क्या ?

अनसूया—[अज्ज सो राएसी इट्ठिं परिसमाविअ इसीहिं विसज्जिदो अत्तणो णअरं पविसिअ अन्तेउरसमागदो इदो गदं वुत्तन्तं सुमरदि वा ण वेदि ।] अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्य ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतो गतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति ।

अनसूया—आज वह राजर्षि यज्ञ समाप्त करके ऋषियों द्वारा विदा किया गया, अपने नगर में प्रवेश करके (अपने) अन्तःपुर की स्त्रियों से मिलने पर यहाँ के वृत्तान्त को स्मरण रक्खेगा अथवा नहीं ?

प्रियंवदा—[वीसद्धा होहि । ण तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणो होन्ति । तादो दाणिं इमं वुत्तन्तं सुणिअ ण आणे किं पडिवज्जिस्सदि त्ति ।] विस्रब्धा भव । न तादृशा आकृति-

विशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति । तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति ।

प्रियंवदा—विश्वास रखो । इस प्रकार की विशिष्ट आकृतियाँ गुणों की विरोधी नहीं होती हैं । (किन्तु) पिता (कण्व) अब इस समाचार को सुनकर न जाने क्या सोचेंगे ।

अनसूया—[जह अहं पेक्खामि तह तस्स अणुमदं भवे ।] यथाऽहं पश्यामि, तथा तस्यानुमतं भवेत् ।

अनसूया—जहाँ तक मैं समझती हूँ, यह उनको मान्य ही होगा ।

प्रियंवदा—[कहं विअ ?] कथमिव ?

प्रियंवदा—कैसे ?

अनसूया—[गुणवदे कण्णआ पडिवादणिज्जेत्ति अअं दाव पढमो संकप्पो । तं जइ देव्वं एव्व संपादेदि णं अप्पआसेण किदत्थो गुरुअणो ।] गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत् प्रथमः संकल्पः । तं यदि दैवमेव संपादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः ।

अनसूया—"गुणवान् व्यक्ति को कन्या देनी चाहिये ।" यह (माता-पिता का) प्रथम विचार हुआ करता है । यदि उसको (उस कार्य को) भाग्य ही (स्वयं) संपादित कर देता है तो बिना परिश्रम के ही गुरुजन कृतार्थ हो गये ।

प्रियंवदा—(पुष्पभाजनं विलोक्य) [सहि ! अवइदाइं बलिकम्मपज्जत्ताइं कुसुमाइं ।] सखि ! अवचितानि बलिकर्म-पर्याप्तानि कुसुमानि ।

प्रियंवदा—(पुष्पों की टोकरी की ओर दृष्टिपात करके) सखी ! पूजा-कर्म के निमित्त पर्याप्त फूल चुन लिये गये हैं ।

अनसूया—[णं सहीए सउन्दलाए सोहग्गदेवआ अच्चणीआ ।] ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्चनीया ।

अनसूया—किन्तु सखी शकुन्तला के सौभाग्य-देवता की भी तो पूजा करनी है ।

प्रियंवदा—[जुज्जदि ।] युज्यते ।
(इति तदेव कर्मारभेते ।)

प्रियंवदा—ठीक है ।
(फिर वही कार्य [फूलों का चुनना] प्रारम्भ करती हैं)।

व्याकरण—**कुसुमावचयम्**=पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यह (अवचयम्) शब्द अशुद्ध है। इसके स्थान पर अवचायम् होना चाहिये था। 'अवचय' शब्द का अर्थ होगा—चुराना। परन्तु यहाँ पर चुनना अर्थ अपेक्षित है। अतः व्याकरण के "हस्तादाने चेरस्तेये" (अष्टा० ३।३।४० ।) सूत्र के अनुसार 'अवचाय' शब्द का प्रयोग होना चाहिये था। चोरी को छोड़कर अन्य स्थलों पर जब "हाथ से चुनना" अर्थ लिया जायगा तब यहाँ धातु से घञ् (अ) प्रत्यय होगा तथा वृद्धि होकर 'अवचाय' रूप बनेगा—अव+चि+घञ् (अ)। 'अवचय' शब्द अव+चि+अच् प्रत्यय से बनेगा।। महाकवि ने इस 'अवचय' का प्रयोग अन्य स्थलों पर भी किया है जैसे "कुसुमावचयव्यग्रहस्ता" (मालविकाग्निमित्र अंक—४)॥ पेड़ पर चढ़कर फूल तोड़ना अर्थ करने पर दूरी होगी। फिर इस दूरी के कारण 'घञ्' प्रत्यय नहीं होगा। राघवभट्ट ने इस स्थल पर ऐसा स्पष्टीकरण अवश्य किया है। किन्तु उनका यह स्पष्टीकरण मान्य प्रतीत नहीं होता। क्योंकि यह दोनों कन्यायें वृक्ष पर चढ़कर फूल तोड़ रही हों, ऐसा नहीं है तथा यह बात कन्याओं की दृष्टि से उचित भी प्रतीत नहीं होती है। **कल्याण**=कल्य+अण्+अ। **निर्वृत्त**—निर्+वृत्+क्त। **निर्वृतम्**=निर्+वृ+क्त। **इष्टि**—यज्+क्तिन् (ति)। **आकृति**=आ+कृ+क्तिन्। **विशेषाः**=वि+शिष्+घञ्। **गुणविरोधिनः**—गुणा विरुन्धन्ति इति। यहाँ ताच्छील्य अर्थ में णिनि होता है—गुण+वि+रुध्+णिनि। अथवा विरोधः अस्ति एषाम् इति। यहाँ पर मत्वर्थ में णिनि प्रत्यय होता है। **अनुमतम्**=अनु+मन्+क्त (कर्मणि)। **गुणवते**=गुण+मतुप्+गुणवान्। **अप्रयासेन**=प्रयास=प्र+यस+घञ्।

समास आदि—**कुसुमावचयम्**—कुसुमानां, अवचयम् (तत्पुरुष)। **निर्वृत्तकल्याणा**—निर्वृत्तं जातं कल्याणं विवाहमंगलं यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **आकृति-अनुरूपभर्तृगामिनी**=अनुरूपो योग्यो भर्त्ता पतिस्तं गता इति। **आकृति-विशेषाः**=आकृतीनां विशेषाः (तत्पुरुष)। **गुणविरोधिनः**—गुणान् विरुन्धन्ति ये ते, गुणैः विरोधः एषां ते इति वा। **बलिकर्मपर्याप्तानि**=बलिकर्मणि पर्याप्तानि (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**गान्धर्वेण**=गान्धर्व-विवाह की विधि के द्वारा। **निर्वृत्त-कल्याणा**=हो गया है विवाहरूपी मंगल कार्य (कल्याण) जिसका। यहाँ पर 'कल्याण' शब्द शकुन्तला के विवाहमंगल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **निर्वृतम्**=प्रसन्न अथवा सन्तुष्ट। **न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति**=

तात्पर्य यह है कि जैसी आकृति सुन्दर दुष्यन्त की है वैसे ही उसके अन्दर उत्कृष्ट गुण भी होने चाहिये। संस्कृत के कवियों में यह धारणा विशेष रूप से पाई जाती है कि जिन व्यक्तियों की सुन्दर आकृति होती है उनमें उत्तम गुण भी पाये जाया करते हैं। अथवा सुन्दर आकृति वाला व्यक्ति गुणहीन नहीं हुआ करता है। यह एक सूक्ति है। इस भाव की अनेक सूक्तियाँ प्राप्त होती हैं :—बृहत्संहिता में—"प्रायो विरूपासु भवन्ति दोषा यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति" ।।, विद्धशालभञ्जिका में—"आकृतिमनुगृह्णन्ति गुणाः" ।।, कुमारसंभव में—"यदुच्यते पार्वति पाप-वृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः" ।।, रघुवंश में—"आकारसदृशप्रज्ञः" ।।, मृच्छकटिक में—"न ह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम्" ।।, अग्निपुराण में—"यत्राकारस्ततो गुणाः" ।।, दशकुमारचरित में—"सेयमाकृतिर्न व्यभिचरति शीलम् ।।, कादम्बरी में—"स्वप्नेऽपि अविसंवादिन्य आकृतयः" ।। तथा "आकृतिरेवानुमापयत्यमानुषताम्" ।। **किं प्रतिपत्स्यते**=क्या करेंगे (क्या सोचेंगे) ।। **पश्यामि**=इस स्थल पर "समझना" अर्थ है। जहाँ तक मेरा विचार है अथवा मैं समझती हूँ। **गुणवते कन्यका प्रतिपादनीया**=प्रत्येक माता-पिता का अपनी पुत्री के विवाह के बारे में यह विचार रहा करता है कि सुयोग्य और गुणवान् व्यक्ति को ही कन्या देना है। **प्रथमः**=मुख्य। **अप्रयासेन**=बिना परिश्रम के। अनायास। **बलिकर्म**=पूजा का कार्य। **सौभाग्यदेवता**=स्त्रियों के सौभाग्य (सुहाग अथवा विवाहित जीवन में सुख का प्राप्त होना) का प्रतिपादक देवता। यहाँ 'पति' से अभिप्राय है। क्योंकि पति को ही उसे सुहागिन बनाकर रखना है।

(नेपथ्ये)

अयमहं भो : !

(नेपथ्य में)

यह मैं (आया हूँ), कोई है ?

अनसूया—(कर्णं दत्वा)[सहि ! अदिधीणं विअ णिवेदिदं ।] सखि ! अतिथीनामिव निवेदितम् ।

अनसूया—(कान लगाकर) सखी ! किसी (पूज्य) अतिथि के सदृश यह वचन है।

प्रियंवदा—[णं उडजसण्णिहिदा सउंदला ।] ननूटजसन्निहिता शकुन्तला ।

प्रियंवदा—कुटी पर शकुन्तला तो विद्यमान है ही।

अनसूया—[अज्ज उण हिअएण असंणिहिदा । अलं एत्तिएहिं

कुसुमेहिं ।] अद्य पुनर्हृदयनासीन्निहिता । अलमेतावद्भिः कुसुमैः ।

अनसूया—किन्तु आज वह हृदय से (वहाँ) विद्यमान (उपस्थित) नहीं है । बस, इतने ही फूल रहने दो ।

(इति प्रस्थिते ।)

(दोनों चल पड़ती हैं ।)

(नेपथ्ये)

आ: अतिथिपरिभाविनि !

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥१॥

अन्वयः—अनन्यमानसा (त्वम्) यं विचिन्तयन्ती उपस्थितं मां तपोधनं न वेत्सि, स बोधितः सन् अपि त्वां प्रमत्तः प्रथमं कृतां कथामिव न स्मरिष्यति ।

संस्कृत-व्याख्या—अनन्यमानसा = नास्ति अन्यस्मिन् दुष्यन्तातिरिक्त-विषये मानसं मनो यस्याः सा—एकाग्रचित्ता (त्वम् = शकुन्तला), यम् = यं पुरुषं दुष्यन्तमित्यर्थः, विचिन्तयन्ती = ध्यायन्ती, उपस्थितम् = स्वयमागतम्, माम् = दुर्वाससम्, तपोधनम् = तप एव धनं यस्य तम् तपस्विनम् ('तपोनिधिम्' इति पाठे तु तप एव निधिर्निधानं यस्य तम्), न वेत्सि = (मया बोध्यमाना-ऽपि) न जानासि; सः = दुष्यन्तः, बोधितः सन् अपि = स्मारितः सन् अपि, त्वाम् = शकुन्तलाम्, प्रमत्तः = उन्मत्तः असावधानो जनः, प्रथमम् = उन्माद-दशायाः पूर्वम्, कृताम् = उक्ताम्, कथामिव = वाचमिव, न स्मरिष्यति = इयं मम पत्नी इति एवं रूपेण नानुभविष्यति । स दुष्यन्तः स्वयं तु त्वां नैव स्मरिष्यति, त्वया स्मारितोऽपि नाभिज्ञास्यति । ममानादरकरणस्येदमेव फलं भुज्यतामित्याशयः ।

(नेपथ्य में)

ओह, (मुझ) अतिथि का अनादर करने वाली !

एकाग्रचित्त होकर (तू—शकुन्तला) जिसका (दुष्यन्त का) चिन्तन करती हुई स्वयं उपस्थित हुए मुझ तपस्वी को नहीं जान रही है, वह (दुष्यन्त तेरे द्वारा) स्मरण दिलाये जाने पर भी तुझ को उसी प्रकार स्मरण न कर

सकेगा (नहीं पहचान पायेगा), जिस भांति एक उन्मत्त पुरुष पहले (उन्मत्तावस्था को प्राप्त होने से पूर्व) कही हुई बात को स्मरण नहीं कर पाता है।

अलंकार—श्लोक की प्रथम पंक्ति, द्वितीय पंक्ति में वर्णित स्मरण न कर सकने रूप शाप के प्रति कारण है। अतः काव्यलिंग अलंकार है। उत्तरार्ध में 'उपमा' अलंकार है। "प्रथमं कृतामिव" में श्लेषालंकार है। *छन्द*—इसमें 'वंशस्थ' वृत्त है।

व्याकरण—सन्निहिता—सम्+नि+धा+क्त।

समास आदि—**अनन्यमानसा**—न अन्यत् अवलम्बनं यस्य तत् अनन्यम्, अनन्यं मानसं यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **प्रमत्तः**—प्रकर्षेण मत्तः इति।

टिप्पणियाँ—**अयमहं भोः**—यह पूर्ण वाक्य का संक्षिप्त रूप है। इसको पूरा इस प्रकार से किया जा सकता है "अयमहमागतः, भोः कोऽप्यस्त्यत्र ?" यह मैं आया हूँ, यहाँ कोई है क्या ? **निवेदितम्**—कथन, निवेदन, वचन। क्त प्रत्ययान्त 'निवेदितम्' शब्द यहाँ पर भाववाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है और नपुंसकलिंग है (नपुंसके भावे क्तः)। **अद्य पुनर्हृदयेनासंनिहिता**—कुछ संस्करणों में यह वाक्य इससे पूर्व प्रियंवदा द्वारा कथित 'ननूटजसंनिहिता शकुन्तला' के साथ ही आया है। किन्तु प्रियंवदा के इस कथन के साथ इसकी संगति ठीक नहीं बैठती है। वस्तुतः इसकी उपयोगिता अनसूया के कथन में ही उचित प्रतीत होती है। इस कारण इसका उल्लेख अनसूया के कथन के साथ ही किया गया है। श्री एम० आर० काले ने भी इस वाक्य का प्रयोग इसी प्रकार किया है। इसका अर्थ यह है कि शकुन्तला हृदय से यहाँ नहीं है अर्थात् केवल उसका शरीर ही यहाँ पर है। तात्पर्य यह है कि शकुन्तला का मन आज कहीं अन्यत्र है अथवा दुष्यन्त की ओर लगा हुआ है। इस कारण संभव है कि उसका ध्यान अतिथि की ओर न जाए। अतः इतने ही फूल रहने दो, इनसे काम चल जायगा। हम दोनों चलकर स्वयं ही अतिथि का सत्कार करें। **अनन्यमानसा**—एकाग्रचित्त होकर दुष्यन्त का ही ध्यान करती हुई। दुर्वासा के शाप का कारण शकुन्तला का अपने कर्त्तव्य को भूल जाना ही है। वह दुष्यन्त का ध्यान करती रहे, इससे शाप का कोई सम्बन्ध नहीं है। दुष्यन्त का ध्यान करते रहने पर भी उसे अपने कर्तव्य (अतिथि-सत्कार रूप कर्त्तव्य) से विमुख नहीं होना चाहिये था। दुर्वासा अत्रि तथा अनसूया के पुत्र थे। पुराणों में इनका वर्णन एक कठोर स्वभाव वाले तथा शीघ्र ही कुपित होने वाले ऋषि के रूप में उपलब्ध होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल नामक नाटक की मूल कथा में दुर्वासा के शाप का कोई वर्णन नहीं आता है। महाकवि की यह अपनी मौलिक कल्पना है। **प्रमत्तः प्रथमं कृतां कथामिव**—जैसे कोई नशे में चूर व्यक्ति नशीली वस्तु का सेवन करने से पूर्व की सभी बातों को भूल जाता है, उसी प्रकार दुष्यन्त भी तुम्हारे साथ हुई सभी बातों को भूल जायगा। परिणाम यह होगा कि वह न तो स्वयं ही तुमको पह-

चान सकेगा और न तुम्हारे द्वारा स्मरण दिलाये जाने पर ही (वह) तुम्हारा स्मरण आवेगा। यहाँ 'प्रथमं कृताम्' के दो अर्थ हैं (१) दुष्यन्त के पक्ष में, (२) उन्मत्त व्यक्ति के पक्ष में। (१) दुष्यन्त के पक्ष में अर्थ है कि दुष्यन्त से जो-जो बातें तुम्हारे साथ इस आश्रम में हुई हैं, वह उनको भूल जायगा। (२) उन्मत्त के पक्ष में—उन्मत्त व्यक्ति की उन्मत्तावस्था से पूर्व जो-जो बातें किसी के साथ होती हैं, वह उन्हें उन्मत्तावस्था में पूर्णतया भूल जाया करता है। स्मरण दिलाने पर भी वे बातें उसे स्मरण नहीं आती हैं।

प्रियंवदा—[हद्धी, हद्धी। अप्पिअं एव्व संवुत्तं। कस्सिं पि पूआरुहे अवरद्धा सुण्णहिअआ सउन्दला।] (पुरोऽवलोक्य) [ण हु जस्सि कस्सि पि। एसो दुव्वासो सुलहकोवो महेसी। तह सविअ वेअवलुप्फुल्लाए दुव्वाराये गईए पडिणिवुत्तो।] हा धिक्, हा धिक्। अप्रियमेव संवृत्तम्। कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला। न खलु यस्मिन् कस्मिन्नपि। एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षिः। तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लया दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः।

प्रियंवदा—हाय ! हाय ! अनिष्ट ही हो गया। किसी पूज्य व्यक्ति के प्रति शून्य हृदय वाली शकुन्तला ने कुछ अपराध कर दिया है। (सामने देखकर) वस्तुतः जिस किसी व्यक्ति (साधारण व्यक्ति) के प्रति नहीं। शीघ्र ही क्रोधित हो जाने वाले यह महर्षि दुर्वासा हैं। इस प्रकार (शकुन्तला को) शाप देकर वेग के बल से युक्त (अर्थात् अति तेज़) तथा न रोकी जा सकने वाली गति से लौटे जा रहे हैं।

अनसूया—[को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि। गच्छ। पदेसु पणमिअ णिवत्तेहि णं, जाव अहं अग्घोदअं उवकप्पेमि।] कोऽन्यो हुतवहाद् दग्धुं प्रभवति। गच्छ। पादयोः प्रणम्य निवर्त्तयैनं, यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि।

अनसूया—अग्नि के अतिरिक्त और कौन जला सकता है ! जा—और (उनके) चरणों में प्रणाम करके उनको लौटा कर ला। तब तक मैं अर्घ्य (अतिथि-सत्कार के निमित्त पूजा की सामग्री) और जल तैयार करती हूँ।

प्रियंवदा—[तह ।] तथा ।

(इति निष्क्रान्ता)

प्रियंवदा—अच्छा ।

(यह कहकर चल देती है ।)

अनसूया—(पदान्तरे स्खलितं निरूप्य) [अम्मो, आवेअ-क्खलिदाए गईए पब्भट्ठं मे अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं ।] अहो, आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात् पुष्पभाजनम् ।

(इति पुष्पोच्चयं रूपयति ।)

अनसूया—(कुछ पग चलकर लड़खड़ाने का नाट्य करके) ओह ! घबराहट और शीघ्रता के साथ लड़खड़ाती हुई चाल के कारण मेरे हाथ के अग्रभाग से फूलों की डाली गिर गई ।

(फूलो को उठाने का नाट्य करती है ।)

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—[सहि ! पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअं पडिगेण्हदि ? किंवि उण साणुक्कोसो किदो ।] सखि ! प्रकृतिवक्रः स कस्यानुनयं प्रतिगृह्णाति ? किमपि पुनः सानुक्रोशः कृतः ।

(प्रवेश करके)

प्रियंवदा—सखी ! स्वभाव से ही टेढ़ा (कुटिल) वह किसकी प्रार्थना स्वीकार करता है ? किन्तु फिर भी (मैंने) उसे कुछ दयालु बना लिया ।

अनसूया—(सस्मितम्) [तस्सिं बहु एदं पि । कहेहि ।] तस्मिन् बह्वेतदपि । कथय ।

अनसूया—(मुस्कराहट के साथ) उनके विषय में तो इतना भी बहुत है । बतलाओ (क्या हुआ ?) ।

प्रियंवदा—[जदा णिवत्तिदुं ण इच्छदि तदा विण्णविदो मए । भअवं ! पढमं त्ति पेक्खिअ अविण्णादतवप्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्को अवराहो मरिसिदव्वो त्ति ।] यदा निर्वर्तितुं नेच्छति तदा विज्ञापितो मया । भगवन् !

थम इति प्रथ्याविज्ञाततपःप्रभाविस्य दुहितृजनस्य भगवताकोऽपराधो मर्षयितव्य इति ।

प्रियंवदा—जब उन्होंने लौटना न चाहा (जब वे लौटने के लिये तैयार न हुए) तब मैंने (उनसे) निवेदन किया—"भगवन् ! प्रथम (अपराध) है, यह सोचकर आपके तप के प्रभाव को न जानने वाली अपनी पुत्री के एक अपराध को आपको क्षमा कर देना चाहिये ।

अनसूया—[तदो तदो] ततस्ततः ।

अनसूया—तब क्या हुआ ?

प्रियंवदा—[तदो मे वअणं अण्णहाभविदुं णारिहदि, किंदु अहिण्णाणाभरण दंसणेण सावो णिवत्तिस्सदि ,त्ति मंतअंतो एव्व अंतरिहिदो ।] ततो मे वचनमन्यथा भवितुं नार्हति, किन्त्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यत इति मन्त्रयमाण एवान्तर्हितः ।

प्रियंवदा—तदनन्तर 'मेरा वचन असत्य नहीं हो सकता है, किन्तु पहचान के आभूषण को दिखलाने से शाप समाप्त हो जाएगा' यह कहते हुए ही (वे) अन्तर्धान हो गये ।

व्याकरण—**पूजार्हे**=पूजा+अर्ह्+अच् । **अपराद्धा**=अप+राध्+क्त+टाप् । **सुलभः**=सु+लभ्+खल् । **सानुक्रोशः**=अनुक्रोशेन सह । अनु-क्रोश—अनु+क्रुश्+घञ् । **अन्तर्हितः**=अन्तर्+धा+क्त ।

समास आदि—पूजार्ह=पूजां अर्हतीति, तस्मिन् । वेगबलोत्फुल्लया= वेगस्य बलं तेन उत्फुल्ला तया । **अर्घोदकम्**=अर्घश्च उदकं च तयोः समाहारः (द्वन्द्व) । अथवा अर्घः पूजा तदर्थमुदकम्=अर्घोदकम् । आवेगस्खलितया= आवेगेन स्खलितया (तत्पुरुष) । **अग्रहस्तः**=अग्रश्चासौ हस्तश्च अग्रहस्तः (कर्मधारय) । **प्रकृतिवक्रः**=प्रकृत्यावक्रः (तत्पुरुष) । **अविज्ञाततपःप्रभावस्य**=न विज्ञातः तपसः प्रभावो यस्य तस्य (बहुव्रीहि) । **अभिज्ञानाभरणदर्शनेन**=अभिज्ञायतेऽनेनेत्यभिज्ञानं तद्रूपं यदाभरणं तस्य दर्शनेन (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**अप्रियमेव**=अशुभ, अनिष्ट, अनर्थ । **शून्यहृदया**=शून्य हृदय वाली अर्थात् अन्यमनस्क । इसी कारण वह दुर्वासा के आगमन के प्रति ध्यान न दे सकी । **वेगबलोत्फुल्लया गत्या**=वेग के कारण बढ़ी हुई चाल से । **कोऽन्यो-हुतवहाद् दग्धुं प्रभवति**=अग्नि के अतिरिक्त और कौन जला सकता है ? यहाँ

अग्नि से अभिप्राय दुर्वासा ऋषि से है। अतः इस वाक्य से यह भाव स्पष्ट हो जाता है कि दुर्वासा सदृश महान् क्रोधी ऋषि ही शकुन्तला को शाप दे सकता है। **अर्घोदकम्**=अर्घ और जल। अर्घ में आठ प्रकार की चीज़ों का मिश्रण होता है। वे हैं :—"आपः क्षीरं कुशाग्रश्च दधि सर्पिः सतण्डुलम्। यवः सिद्धार्थकश्चैवाष्टांगोर्घः परिकीर्तितः ॥" **आवेगस्खलितया गत्या**—=शीघ्रता अथवा व्याकुलता के कारण लड़खड़ाती हुई चाल से अर्थात् पैरों के लड़खड़ा जाने के कारण। **प्रभ्रष्टम् अग्रहस्तात् पुष्पभाजनम्**=फूलों की डाली हाथ से गिर गई। पुष्पभाजन का हाथ से गिर जाना अपशकुन माना जाता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दुर्वासा ऋषि शकुन्तला पर पूर्ण रूप से दया नहीं करेंगे। इसके अतिरिक्त नाटचशास्त्र के नियमानुसार रंगमंच खाली नहीं रहना चाहिये। इस आधार पर "अनसूया का गिर जाना और फिर उठकर फूलों को चुनना भी रंगमंच पर दिखलाया जाना आवश्यक ही था। **अग्रहस्तात्**=अग्रश्चासौ हस्तश्च। अवयव तथा अवयवी का लक्षण द्वारा अभेद स्वीकार कर लिया जाता है। अथवा हस्तस्य अग्रम् ऐसा करके आहिताग्न्यादि गण के अन्तर्गत पाठ करके विकल्प से 'अग्र' शब्द का पूर्व निपात किया जा सकता है किन्तु (यह नियम बहुव्रीहि समास के लिये है।) किन्तु ऐसा करने पर तत्पुरुष समास की प्रक्रिया करनी होगी। अतः प्रथम प्रकार ही ठीक है। (एम० आर० काले की टिप्पणी के आधार पर।) **प्रकृतिवक्रः**=स्वभाव से टेढ़े अथवा कुटिल। **प्रतिगृह्णाति**=स्वीकार करता है। **अनुक्रोशः**=दया से युक्त। **दुहितृजनस्य**=यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि हम आपकी पुत्री हैं अतः हम पर दया कीजिये। **अन्तर्हितः**=अन्तर्धान हो गये, छिप गये। दुर्वासा एक योगी थे अतः वे अपनी योग-सिद्धि के आधार पर वहाँ से एकाएक अन्तर्धान हो गये। योगसिद्धि का लक्षण निम्न है :—

"अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिः दृष्टिः श्रोत्रज्ञता तथा।
निजं शरीरमुत्सृज्य परकायप्रवेशनम्।
अर्थानां छन्दतः सृष्टिर्योगसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥" याज्ञ० ३।२०३ ॥

अनसूया—[सक्कं दाणिं अस्ससिदुं। अत्थि तेण राएसिणा संपत्थिदेण सणामहेअंकिअं अंगुलीअअं सुमरणीयं त्ति सअं पिणद्धं। तस्सिं साहीणोवाआ सउन्दला भविस्सदि।] शक्यमिदानीमाश्वसितुम्। अस्ति तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेन स्वनामधेयांकितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम्। तस्मिन् स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति।

अनसूया—अब धैर्य रक्खा जा सकता है। प्रस्थान के लिये उद्यत उस राजर्षि

(दुष्यन्त) ने स्मृति-चिह्न के रूप में अपने नामाक्षरों से अंकित अँगूठी स्वयं (शकुन्तला की अँगुली में) पहना दी थी। उसके द्वारा शकुन्तला (शापनिवृति के निमित्त) अपने अधीन उपाय वाली हो जायेगी।

प्रियंवदा—[सहि, एहि देवकज्जं दाव णिवत्तेम्ह। (सखि ! एहि; देवकार्यं तावन्निवर्त्तयावः।

प्रियंवदा—हे सखी ! आओ, देवपूजा का कार्य तब तक कर डालें।

(इति परिक्रामतः)

(दोनों चारों ओर घूमती हैं।)

प्रियंवदा—(विलोक्य) [अणसूये ! पेक्ख दाव। वामहत्थोवहि दवअणा आलिहिदा विअ पिअसही। भत्तुगदाए चिन्ताए अत्ताणं पिं ण एसा विभावेदि। किं उण आअन्तुअं।] अनसूये ! पश्य तावत्। वाम हस्तोपहितवदनाऽऽलिखितेव प्रियसखी। भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति। किं पुनरागन्तुकम् ?

प्रियंवदा—(देखकर) अनसूया ! देखो तो। बायें हाथ पर मुख रखे हुए प्रियसखी (शकुन्तला) चित्र-लिखित सी (प्रतीत होती हुई) बैठी है। पति के ध्यान में निमग्न रहने के कारण यह अपने आपको भी नहीं देख रही है, फिर आगन्तुक अतिथि को तो क्या ?

अनसूया—[पिअंवदे ! दुवेण एव्व णो मुहे एसो वुत्तन्तो चिट्ठदु। रक्खिदव्वा क्खु पकिदिपेलवा पिअसही।] प्रियंवदे ! द्वयोरेव नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु। रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी।

अनसूया—प्रियंवदा ! यह बात हम दोनों के मुख ही तक रहे। स्वभाव से ही कोमल प्रियसखी की रक्षा की जानी चाहिये।

प्रियंवदा—[को णाम उण्होदएणणोमालिअं सिंचेदि।] को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति ?

प्रियंवदा--(भला) कौन नवमालिका को गर्म पानी से सींचेगा ?

(इत्युभे निष्क्रान्ते ।)

(दोनों का प्रस्थान ।)

विष्कम्भक समाप्त

व्याकरण—**संप्रस्थितेन** = सम + प्र + स्था + क्त + संप्रस्थित (तृतीया एकव०) । **पिनद्धम्** = आप + नह् + क्त । यहाँ भागुरि के मतानुसार अपि के अकार का लोप हो जाता है । समास आदि:—**स्वनामधेयांकितम्** = स्वेन नामधेयेन अंकितम् (तृ० तत्पुरुष) । **स्मरणीयम्** = स्मरत्यनेन स्मरणीयम् । **वामहस्तोपहितवदना** = वामहस्ते उपहितं वदनं यस्याः सा (बहुव्रीहि) । **प्रकृतिपेलवा** = प्रकृत्या पेलवा ।

टिप्पणियाँ—**आश्वसितुम्** = धैर्य अथवा सन्तोष किया जा सकता है । **संप्रस्थितेन** = प्रस्थान करते समय । **स्मरणीयमिति** = स्मरण दिलाने के रूप में । इस अँगूठी को देखकर तुम मेरा स्मरण करती रहना । **पिनद्धम्** = पहना दी थी । **स्वाधीनोपाया** = शाप-निवृत्ति के उपाय में स्वतन्त्र अर्थात् अँगूठी शकुन्तला के पास है ही । जब दुष्यन्त उसे नहीं पहचान सकेगा तो वह इस अँगूठी को राजा को दिखायेगी और फिर राजा उसे पहचान जायेगा । **वामहस्तोपहितवदना** = बायें हाथ पर रख लिया गया है मुख जिसके द्वारा । अथवा बायें हाथ पर जिसका मुख रखा हुआ है । **न विभावयति** = नहीं जानती है अर्थात् 'मैं कौन हूँ ?', 'क्या करूँ ?', 'कहाँ रहूँ' ? इत्यादि आत्मविषयक ज्ञान भी उसको नहीं है । फिर ऐसी स्थिति में उसे अतिथि का ध्यान कैसे आता ? **द्वयोरेव....प्रियसखी**—शकुन्तला को दुर्वासा के शाप का कुछ भी ज्ञान नहीं है । वह तो राजा के ध्यान में ही पूर्णतया अवस्थित है। फिर शाप की वाणी उसे सुनाई ही कैसे पड़ती । अतः दोनों सखियाँ शाप-सम्बन्धी वृत्तान्त को उससे छिपाना चाहती हैं । क्योंकि एक तो वह दुष्यन्त के वियोग के कारण स्वयं ही अत्यधिक दुःखी तथा चिन्तित एवं अन्यमनस्क है, फिर ऐसी स्थिति में शाप के वृत्तान्त को सुनकर उसकी दशा और भी अधिक शोचनीय हो जायगी । अतः वे दोनों यह निश्चय करती हैं कि यह शाप का वृत्तान्त हम लोगों तक ही सीमित रहे और किसी से उसका वर्णन न किया जाय । **को नामो०....सिञ्चति** = दुर्वासा के शाप का वृत्तान्त शकुन्तला को बतलाना नवमालिका को गरम जल से सींचने के सदृश होगा । अतः प्रियंवदा का कहना है कि ऐसा मूर्खतापूर्ण कार्य कौन करेगा कि नवमालिका को गरम जल से सींचे । गरम जल से यदि नवमालिका का सिंचन किया जाय तो वह मुरझा जायगी और तदनन्तर शीघ्र ही नष्ट हो जावेगी । इसी भाँति यदि यह

समाचार शकुन्तला से कहा जायगा तो वह महान् संकट में पड़ जायगी और उसका

जीवन भी खतरे से खाली न रहेगा। अतः मैं तुम्हारे कथन से पूर्णतया सहमत हूँ कि यह वृत्तान्त हम दोनों के हृदयों तक ही सीमित रहे। विष्कम्भकः— विष्कम्भक का लक्षण तथा भेद इत्यादि का उल्लेख तृतीय अंक के प्रारम्भ में विस्तार से किया जा चुका है। उस आधार पर परीक्षा करने पर ज्ञात हो जाता है कि इस स्थल पर भी यह शुद्ध-विष्कम्भक है। यहाँ पर दुर्वासा संस्कृत में तथा दोनों सखियाँ प्राकृत भाषा में बोलती हैं। सभी पात्र भी मध्यम श्रेणी के हैं। अतः शुद्ध विष्कम्भक है।

(ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः शिष्यः ।)

शिष्यः—वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन काश्यपेन। प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति। (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त! प्रभातम्।

तथाहि —

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
मा‌विष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥२॥

अन्वयः—एकतः ओषधीनां पतिः अस्तशिखरं याति, एकतः अरुणपुरःसरः अर्कः आविष्कृतः। तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां लोकः आत्मदशान्तरेषु नियम्यते इव।

संस्कृत-व्याख्या—एकतः = एकस्यां दिशि (पश्चिमायां दिशि), ओषधीनां पतिः = चन्द्रमा ("सोम ओषधीनां पतिः" इति श्रुतेः।), अस्तशिखरम् = अस्तस्य अचलस्य अग्रभागं चूडां वा अस्ताचलमित्यर्थः, याति = गच्छति। एकतः = एकस्यां दिशि पूर्वदिग्भागे इत्यर्थः, अरुणपुरःसरः = अरुणः + अनूरुः स्वसारथिः पुरस्सरः—अग्रगामी यस्य सः ("सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः" इत्यमरः।), अर्कः = सूर्यः, आविष्कृतः = आत्मानं प्रकाशयितुमारभते = प्रादुर्भूत इत्यर्थः। तेजोद्वयस्य = चन्द्रसूर्ययोः, युगपत् = समकालम्, व्यसनोदयाभ्याम् = व्यसनं भ्रंशः (चन्द्रस्य) उदयः उन्नतिश्च (सूर्यस्य) ताभ्याम्—अस्तोदयगमनाभ्याम् विपत्सम्पद्भ्यां च, लोकः = एष संसारः, आत्मदशान्तरेषु = आत्मनः दशान्तरेषु सुखदुःखात्मकावस्थाविशेषेषु, नियम्यत इव = उपदिश्यते इव।

(तदनन्तर सोकर उठा हुआ शिष्य प्रवेश करता है।)

शि[illegible]) ने मुझे समय देखने का (क्या समय है ? यह पता लगाऊँ।) आदेश दिया है। बाहर प्रकाश वाले स्थान में निकलकर देखता हूँ कि कितनी रात शेष रही है । (चारों ओर घूमकर और देखकर) ओह, सवेरा हो गया । क्योंकि— एक ओर औष-धियों का स्वामी (चन्द्रमा) अस्ताचल को जा रहा है और दूसरी ओर अरुण (सूर्य का सारथि) को आगे किये हुए सूर्य उदय हो रहा है। दो तेजों के एक साथ अस्त और उदय के द्वारा मानों संसार को अपनी विभिन्न दशाओं का उप-देश दिया जा रहा है।

अलङ्कार—यहाँ चन्द्र एवं सूर्य दोनों का वर्णन प्रस्तुत है अतः तुल्ययोगिता अलंकार है ।'इव' उत्प्रेक्षावाचक है। अतः उत्प्रेक्षा अलंकार है। चन्द्र तथा सूर्य में दो सज्जनों के व्यवहार का आरोप किये जाने के कारण 'समासोक्ति' अलंकार है। चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों का क्रमशः व्यसन तथा उदय से सम्बन्ध होने के आधार पर यहाँ 'यथासंख्य' अलंकार है। छन्दः—इसमें 'वसन्ततिलका' वृत्त है।

व्याकरण—ओषधि = ओष + धा + कि (इ) । अर्कः = अच् + घञ् (अ) कर्मणि—"चजोः कु घिण्यतोः" (अष्टा० ७।३।५२) से च् के स्थान पर क् हो जाता है। युगपत् = युग + पय् + डत् । समास आदिः—प्रवासात् = प्रवसत्यस्मिन् इति प्रवासः तस्मात् । ओषधि = ओषः पाकः दीप्तिर्वा धीयते अस्यामिति ।

टिप्पणियाँ—**वेलोपलक्षणार्थम्** = वेला + उपलक्षणार्थम्—वेला = समय, उपलक्षणार्थम् = पता लगाने अथवा निश्चय करने के लिये । **उपावृतेन** = लौट कर आये हुए । **हन्त** = यह अव्यय हर्ष अथवा दुःख का द्योतक है । इस स्थल पर आश्चर्ययुक्त हर्ष का बतलाने वाला है। **अस्तशिखरम्** = सायंकाल के समय जब सूर्य अस्त होने लगता है तब पश्चिम दिशा के बादलों का रंग अरुण अथवा लाल हो जाया करता है। इन्हीं रक्तवर्ण के बादलों से स्थित पश्चिम दिशा के भाग को पश्चिमाचल अथवा अस्ताचल शब्द द्वारा कहा जाता है । (अस्त = अस्यन्ते सूर्यकिरणाः अत्र ।) अलंकारिक रूप में पश्चिम में अस्ताचल तथा पूर्व में उदयाचल नाम के दो पर्वतों की कल्पना की गई है । सूर्य और चन्द्र अस्ताचल के पीछे चले जाने पर अस्त होते हैं तथा उदयाचल के पीछे से निकलने पर उदित हुआ करते हैं । **पतिरोषधीनाम्** = वनस्पतियों (जड़ी बूटियों) का स्वामी अर्थात् चन्द्रमा। चन्द्रमा को वनस्पतियों का स्वामी इसलिये माना गया है कि यह वनस्पतियों में रस डालता है जिसके कारण उनके अन्दर विशेष गुणों की उत्पत्ति होती है । (पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।।भगवद्-गीता १५।१३ ।।) । **आविष्कृतः** = सूर्य उदय हो रहा है । इस शब्द में आदि कर्म (कार्य के प्रारम्भ अर्थ में) के अर्थ में कर्तृ वाच्य में क्त प्रत्यय होता है। "आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या (वार्तिक) तथा आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च"
(अष्टा० ३।४।७१) से क्त प्रत्यय होता है। अब अर्थ होता है—"सूर्य उदितो

भवति ”। ऐसी स्थिति में यहाँ पर प्रक्रम भंग दोष नहीं आता है। अरुणपुरःसरः = अरुण (लालिमा) जिसके आगे चल रहा है। पुराणों में अरुण को सूर्य का सारथी कहा गया है। युगपद्व्यसनोदयाभ्याम् = एक साथ ही अस्त (चन्द्रमा के) तथा उदय (सूर्य के) होने से। आत्मदशान्तरेषु = अपने जीवन की दशाओं के अनेक रूपों में (अथवा भिन्न भिन्न दशाओं के विषय में) अर्थात् जीवन के उतार-चढ़ावों में (सुख-दुःख की अवस्थाओं अथवा परिस्थितियों में।) समय अथवा भाग्य ही किसी को उन्नत करता है और किसी को अवनत। जो आज उन्नत है वह कल अवनत होता है तथा जो आज अवनत है वह कल उन्नत। अतः उन्नति में हर्ष और अवनति में दुःख का भाव नहीं लाना चाहिये (“संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता”।) इस भाँति चन्द्रमा तथा सूर्य के व्यसन और उदय मानो मानव मात्र को विभिन्न दशाओं की शिक्षा प्रदान कह रहे हैं। ये दशायें परिवर्त्तनशील हैं। महाकवि ने मेघदूत में कहा है:—“कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा” ॥ मेघ० २।४८ ॥ महाकवि भास भी अपने ‘स्वप्नवासवदत्तम्’ नाटक में —“कालक्रमेण जगतः परिवर्त्तमाना, चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः”। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि अब आगे आनेवाली अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा में भी व्यसन (दुःख) तथा उदय (सुख) का क्रमिक वर्णन उपस्थित होगा। वास्तविकता है भी इसी प्रकार की। राजा शकुन्तला को किसी भी प्रकार से नहीं पहिचान पाता है। शकुन्तला की अँगूठी मार्ग में शची तीर्थ में गिर गई थी। अतः वह उसे दिखला ही नहीं पाती है। परिणामस्वरूप राजा उसे ग्रहण नहीं करता है। इस परित्याग से उसे महान् कष्ट होता है। अप्सरा द्वारा वह हेमकूट पर्वत पर ले जाई जाती है। वहीं पुत्र की उत्पत्ति होती है। पति की वियोगजन्य व्यथा से वह निरन्तर पीड़ित रहती है। राक्षसों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् इन्द्रलोक से लौटते समय राजा की हेमकूट पर्वत पर उससे भेंट होती है। राजा उसे स्वीकार कर अपनी राजधानी में ले आता है। इस भाँति शकुन्तला को पुनः सुख की अनुभूति होती है। यह है, सांसारिक दुःख-सुख का वर्णन जो कि इस कथानक के साथ सम्बन्धित है। यहाँ पर अपने पक्ष की अर्थ-सिद्धि के निमित्त चन्द्र एवं सूर्य के व्यसन एवं उदय का वर्णन दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत किया गया है। अतः यहाँ दृष्टान्त नामक नाटकीय लक्षण है। “दृष्टान्तो यस्तु पक्षार्थसाधनाय निदर्शनम्” ॥ सा० द० ६।१७९ ॥

अपि च— ?

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवास जनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥३॥

अन्वय:—शशिनि अन्तर्हिते सा एव कुमुद्वती संस्मरणीयशोभा (सती) मे दृष्टिं न नन्दयति । नूनम् अबलाजनस्य इष्टप्रवासजनितानि दुःखानि अतिमात्रसुदुःसहानि (भवन्ति) ।

संस्कृत-व्याख्या—शशिनि = चन्द्रे, अन्तर्हिते = अस्तं गते सति (दर्शनपथात् व्यतीते सति), सा एव = या पूर्वं विकसितकुसुमादर्शनीयशोभा आसीत् सैव सकलजनानन्ददायिनी, कुमुद्वती = कुमुदिनी, संस्मरणीयशोभा = संस्मरणीया केवलं स्मरणीया (न त्विदानीं दर्शनार्हा इति भावः) शोभा कान्तिर्यस्याः सा नष्टकान्तिः सती, मे = मम तपसस्य, दृष्टिम् + नयनम्, न नन्दयति = न मोदयति न आह्लादयति वा । नूनम् = निश्चितम्, अबलाजनस्य = दुर्बलस्य स्त्रीजनस्य सम्बन्धे इष्टप्रवासजनितानि = इष्टः प्रियः तस्य प्रवासेन देशान्तरगमनेन जनितानि उत्पादितानि, दुःखानि = कष्टानि, अतिमात्रसुदुःसहानि = अतिमात्रं अत्यधिकं सुदुःसहानि असह्यानि, भवन्ति । प्रिय-विरहे नार्यः न शोभन्ते इति तात्पर्यम् । तथा च कुमुद्वती प्रियस्य शशिनः अन्तर्धानाद् दुःखेन विनष्टकान्तिः सती दृष्टिं न पीणयतीत्याशयः । अत्र केचिदर्थयन्ति—कौ—पृथिव्यां मुद्वती-हर्षयुक्ता सैव—शकुन्तला एव शशिनि—लक्षणया चन्द्रसदृशे अथवा चन्द्रवंशोद्भवत्वात् शशिनि—दुष्यन्ते अन्तर्हिते—असमीपे सति संस्मरणीयशोभा = विरहदुःखेन विगतकान्तिः सती दृष्टिं न नन्दयति—न प्रीणयति । अनेन शकुन्तलायाः राजगृहं प्रति प्रस्थापनं आवश्यकमिति सूचितम् ।

और भी—

चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर वही कुमुदिनी, जिसकी शोभा (अब) स्मृति का विषय मात्र रह गई है, मेरी दृष्टि को आनन्दित नहीं करती है । निश्चय ही—स्त्रियों को अपने प्रिय के प्रवास (परदेश चले जाने के कारण) से उत्पन्न दुःख अत्यधिक दुःसह हुआ करते हैं ।

अलंकार—इस श्लोक में चन्द्रमा तथा कुमुदिनी में दुष्यन्त और शकुन्तला का आरोप किये जाने से 'समासोक्ति' अलंकार है । श्लोक के उत्तरार्ध में विद्यमान सामान्य के द्वारा श्लोक के पूर्वार्ध में विद्यमान विशेष का समर्थन किये जाने से यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है । "संस्मरणीयशोभा अतएव दृष्टिं न नन्दयति" यहाँ दृष्टि को आनन्दित न करने का कारण 'संस्मरणीय-शोभा' है अतः काव्यलिंग अलंकार है । छन्दः—इसमें 'वसन्ततिलका' वृत्त है ।

व्याकरण—अन्तर्हिते = अन्तर् + धा + क्त (धा के स्थान पर हि हो जाता है ।) सुदुःसह = सु + दुः + सह् + खल् ।

टिप्पणियाँ—कुमुद्वती = कुमुदिनी रात्रि में खिला करती है तथा दिन में मुरझाया करती है । संस्मरणीयशोभा = जिसकी शोभा अब केवल स्मरण का विषय रह गई है । चन्द्रवंश में उत्पन्न राजा दुष्यन्त के चले जाने से शकुन्तला

(जो [illegible] यहाँ उपस्थिति के समय प्रसन्न थी ।) शोभाहीन हो गई है। अर्थात् शकुन्तला के मन में दुष्यन्त स्मरण का ही विषय रह गया है। अतः उसके विरह-शोक से व्याकुल होने के कारण वह शोभाहीन हो गई है। अबला = स्त्रियाँ। यह शब्द यहाँ पर एक विशेष अभिप्राय भी रखता है। स्त्रियों का वास्तविक बल पति ही हुआ करता है, उसके बिना वे अबला हैं। इसी कारण उसके वियोग में दुःखित रहा करती हैं। **अतिमात्रसुदुःसहानि** = अत्यधिक रूप में न सहे जाने योग्य। सुदुःसह में 'सु' शब्द अधिकता अथवा कठोरता का ही द्योतक है। इस श्लोक में चन्द्रमा और कुमुदिनी के द्वारा दुष्यन्त और शकुन्तला की ओर संकेत किया गया है। यद्यपि चन्द्रमा कलंक से युक्त है किन्तु फिर भी वह कुमुदिनी का प्रियतम है तथा कुमुदिनी उसके अस्ताचल को चले जाने पर खिन्नमना है। इसी प्रकार यद्यपि दुष्यन्त सदोष थे किन्तु फिर भी वह शकुन्तला का स्वाभिनीत प्रियतम (पति) था अतः वह भी उसके वियोग में खिन्नमना है।

इस श्लोक से यह ध्वनि निकल रही है कि शकुन्तला को शीघ्र ही राजा के समीप भेज देना चाहिये। इस गूढ़ार्थ के होने से यहाँ तीसरा 'पताकास्थानक' है। लक्षण निम्न है :—

अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत् ।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते ।। साहित्यदर्पण ६।४८ ।।

कुछ संस्करणों में इसके पश्चात् निम्नलिखित दो श्लोक और प्राप्त होते हैं :—

अपि च—

कर्कन्धूनामुपरि तुहिनं रञ्जयत्यग्रसन्ध्या
दार्भं मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः ।
वेदिप्रान्तात्खुरविलिखितादुत्थितश्चैव सद्यः
पश्चादुच्चैर्भवति हरिणः स्वाङ्गमायच्छमानः ।।

और भी—

प्रातःकालीन सन्ध्या बेरों की झाड़ियों के ऊपर पड़ी हुई ओस की बूंदों को लाल रंग का बना रही है। नींद से उठा हुआ (जाग्रत) मयूर डाभनिर्मित कुटी की छत को छोड़ रहा है। अपने खुरों से खोदे हुए यज्ञ की वेदी के किनारे से अभी उठा हुआ यह हरिण अपने शरीर के अंगों को फैलाता हुआ पीछे की ओर से उठ रहा है। यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार तथा मन्दाक्रान्ता छन्द है।

अपि च—

पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्मूर्ध्नि कृत्वा सुमेरोः
क्रान्तं येन क्षपिततमसा माध्यमं धाम विष्णोः ।
सोऽयं चन्द्रः पतति गगनादल्पशेषैर्मयूखै-
रत्यारूढिर्भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठा ॥

और भी—

अन्धकार को नष्ट कर देने वाले जिस (चन्द्रमा) ने पर्वतराज सुमेरु की चोटी पर पैर (किरण) रखकर, विष्णु के मध्यम स्थान (आकाश) को लाँघ डाला, वही यह चन्द्रमा थोड़ी-सी अवशिष्ट किरणों के साथ आकाश से गिर रहा है । महान् पुरुषों की भी अति उच्च स्थान पर चढ़ने की परिणति पतन में ही हुआ करती है ।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

अनसूया—[जइ वि णाम विसअपरम्मुहस्स जणस्स एदं ण विदिअं तह वि तेण रण्णा सउंदलाए अणज्जं आअरिदं ।] यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्य जनस्यैतन्न विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम् ।

(पर्दे को बिना उठाये ही प्रविष्ट होकर)

अनसूया—यद्यपि विषयों से पराङ्मुख व्यक्ति (हम लोगों) को ये सब बातें ज्ञात नहीं हैं किन्तु फिर भी (मेरा ऐसा विचार है कि) उस राजा ने शकुन्तला के साथ अभद्र आचरण किया है ।

शिष्यः—यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि ।

(इति निष्क्रान्तः)

शिष्य—तो अब उपस्थित हुए हवन के समय के बारे में गुरु से निवेदन करता हूँ ।

(यह कहकर चला जाता है ।)

अनसूया—[पडिबुद्धा वि किं करिस्सं ? ण मे उइदेसु वि णिअ-करणिज्जेसु हत्थपाआ पसरन्ति । कामो दाणिं सकामो होदु, जेण असच्चसंधे जणे सुद्धहिअआ सही पदं कारिदा । अहवा दुव्वाससो

सावो एसो विआरेदि । अण्णहा कहं सो राएसी तारिसाणि मंतिअ

एत्तिअस्स कालस्स लेहमेत्तं पि ण सिवज्जेदि ? ता इदो अहिण्णाणं अंङ्गुलीअअं तस्स विसज्जेम । दुक्खसीले तवस्सिजणे को अब्भत्थीअदु ? णं सहीगामी दो सोत्ति व्ववसिदा वि ण पारेमि पवास पडिणिउत्तस्स तादकस्सवस्स दुस्सन्तपरिणीदं आवण्णसत्तं सउन्दलं णिवेदिदुं । इत्थंगदे अम्हेहिं किं करणिज्जं ?] प्रतिबुद्धाऽपि किं करिष्यामि ? न मे उचितेष्वपि निजकरणीयेषु हस्तपादं प्रसरति । कामः इदानीं सकामो भवतु । येनासत्यसन्धे जने शुद्धहृदया सखी पदं कारिता । अथवा दुर्वाससा शाप एष विकारयति । अन्यथा कथं स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावतः कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति ? तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयकं तस्य विसृजावः । दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम् ? ननु सखीगामी दोष इति व्यवसितापि न पारयामि प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकाश्यपस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्वां शकुन्तलां निवेदयितुम् । इत्थं गते अस्माभिः किं करणीयम् ?

अनसूया—जागकर भी क्या करूँगी ? उचित दैनिक अपने कार्यों में भी मेरे हाथ पैर नहीं चल रहे हैं । अब कामदेव की इच्छा पूर्ण हो, जिसने झूठी प्रतिज्ञा वाले व्यक्ति (दुष्यन्त) के प्रति शुद्ध हृदय वाली सखी (शकुन्तला) का प्रेम कराया है । अथवा दुर्वासा का शाप ही विकार उत्पन्न कर रहा है । नहीं तो क्यों वह राजर्षि उस प्रकार की (मीठी) बातें करके इतने दिनों तक लेख (पत्र) भी न भेजता । अतः यहाँ से वह पहचान की अँगूठी हम उसके पास भेजती हैं । कष्ट सहन करने वाले तपस्वियों में से किससे प्रार्थना की जाय ? (कि जो संवाद लेकर जाये ।) हमारी सखी पर दोष आएगा, इस कारण निश्चय कर लेने पर भी मैं प्रवास से लौटे हुए पिता काश्यप से दुष्यन्त द्वारा विवाहित तथा गर्भिणी शकुन्तला के बारे में निवेदन करने के लिये (अपने को) समर्थ नहीं पाती हूँ । ऐसी दशा में हमको क्या करना चाहिये ?

व्याकरण—प्रतिबुद्धा = प्रति + बुध् + क्त । व्यवसिता = वि + अव + सो + क्त । समास आदि:—अपटीक्षेपः = पटचाः क्षेपः पटीक्षेपः, न पटीक्षेपः अपटीक्षेपः । विषयपराङ्मुखस्य [illegible] । सकामः = कामेन

सहितः सकामः । दुःखशीले = दुःखं शीलं यस्य तस्मिन् । प्रवासप्रतिनिवृत्तम् = प्रवासात् प्रतिनिवृत्तम् (तत्पुरुष) । असत्यसंधे = असत्या सन्धा प्रतिज्ञा यस्य तस्मिन् । शुद्धहृदया = शुद्धं हृदयं यस्याः सा (बहुव्रीहि) । आपन्नसत्वाम् = आपन्नं गर्भे प्राप्तं सत्वं जन्तुः यया ताम् ।

टिप्पणियाँ—अपटीक्षेप = पर्दे को बिना उठाये ही, केवल हाथ के द्वारा पर्दे को एक ओर झटके से हटाकर रंगमञ्च पर आ जाना। रंगमञ्च का यह निर्देश हर्ष, शोक, भय अथवा किसी अन्य भाव से अभिभूत किसी पात्र के एका-एक प्रवेश को सूचित करने के निमित्त किया जाता है। पात्र पर्दे को एक ओर झटका देकर रंगमंच पर आ जाया करता है, पर्दे को उठाया नहीं जाता। ("पटी-क्षेपो न कर्तव्य आर्त्तराजप्रवेशने" ऐसी विधि के होने से।) इसीलिये यहाँ शकु-न्तला के दुःख से दुःखी (आर्त्त) अनसूया के प्रवेश में कवि ने उसे बिना पर्दा उठाये ही रंगमञ्च पर प्रविष्ट कराया है। **विषयपराङ्मुखस्य** = (सांसारिक) विषयों (के भोगों) से (अर्थात् विषय-सुखों से) अपरिचित। **अनार्यमाचरि-तम्** = दुष्यन्त ने शकुन्तला के साथ न किये जाने योग्य (अभद्र) आचरण किया है। तपोवन से नगर जाने पर वह एकदम उसे भूल गया। उसने उसका समाचार जानने के लिये न तो कभी किसी आदमी को ही भेजा तथा न कोई पत्र ही। प्रेम सम्बन्ध को स्थापित करके इस प्रकार भूल जाना अभद्र (अनार्य) आचरण है। **काम इदानीं. . .पदं कारिता** = इस समय कामदेव की इच्छा पूर्ण हो कि उसने झूठी प्रतिज्ञा करने वाले व्यक्ति के साथ शकुन्तला का प्रेम कराया और उसे दुःख में डाला। **पदं कारिता** = (झूठी प्रतिज्ञा करने वाले) व्यक्ति में अथवा व्यक्ति के मन में स्थान ग्रहण कराया अथवा उसमें विश्वास उत्पन्न कराया। **लेखमात्रमपि** = केवल पत्र भी। **अङ्गुलीयकं विसृजावः** = अतः जो अँगूठी वह दे गया था, वह उसके पास भेजें। उसे देखकर हो सकता है कि उसे शकु-न्तला का स्मरण हो आवे। **दुःखशीले तपस्विजने** = तपस्वी लोग सब प्रकार के कष्टों को सहन करने वाले हुआ करते हैं। अतः वे पूर्ण संयमी होते हैं। फिर उनमें से ऐसा कौन होगा कि जो इस प्रेम के समाचार को लेकर राजा के समीप जाने को तैयार हो। **सखीगामी दोषः** = जब यह बात कण्व ऋषि को बतलायी जावेगी तो उसमें सम्पूर्ण दोष सखी शकुन्तला पर ही आवेगा कि उसने ऐसा नि-कृष्ट कार्य क्यों किया, और फिर अपने पिता की बिना आज्ञा लिये ही। वह ऋषि कण्व की सर्वाधिक प्रिय कन्या थी। अतः उसके लिये आवश्यक था कि पहले वह अपने पिता कण्व से इस प्रकार के कार्य को (गान्धर्व-विवाह) करने के लिये अनुमति तो ले लेती। **व्यवसिताऽपि** = (पूज्य कण्व ऋषि से कहने के निमित्त) निश्चय कर लेने पर भी। **आपन्नसत्वा** = गर्भवती।

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—(सहर्षम्) [सहि ! तुवर, तुवर सउन्दलाए पत्थानको-

दुअं णिव्वत्तिदुं ।] सखि ! त्वरस्व, त्वरस्व शकुन्तलायाः प्रस्थान-कौतुकं निर्वर्तयितुम् ।

(प्रवेश करके)

प्रियंवदा—(हर्ष के साथ) सखी ! शकुन्तला के प्रस्थान-समय के मंगल-सम्बन्धी कार्यों के करने के लिय शीघ्रता करो ।

अनसूया—[सहि ! कहं एदं ।] सखि ! कथमेतत् ?

अनसूया—सखी ! यह कैसे (हुआ) ?

प्रियंवदा— [सुणाहि । दाणिं सुहसइदपुच्छिआ सउन्दलासआसं गदम्हि ।] शृणु । इदानीं सुखशयितप्रच्छिका शकुन्तलासकाशं गताऽस्मि ।

प्रियंवदा—सुनो । अभी सुखपूर्वक सोने के बारे में (सुखपूर्वक सोई कि नहीं, यह पूछने के लिये) पूछने वाली मैं शकुन्तला के पास गई थी ।

अनसूया—[तदो तदो ।] ततस्ततः ।

अनसूया—उसके पश्चात् (क्या हुआ ?) ।

प्रियंवदा—[दाव एणं लज्जावणदमुहिं परिस्सजिअ तादकस्स-वेण एव्वं अहिणन्दिदं । दिट्ठिआ धूमाउलिददिट्ठिणो वि जअमाणस्स पाअए एव्व अहुदी पडिदा । वच्छे ! सुसिस्सपरिदिण्णा विज्जा विअ असोअणिज्जासि संवुत्ता । अज्ज एव्व इसिरक्खिदं तुमं भत्तुणो सआसं विसज्जेमिति ।] तावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकाश्य-पेनैवमभिनन्दितम् । दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता । वत्से ! सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता । अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां भर्त्तुः सकाशं विसर्जयामीति ।

प्रियंवदा—तब लज्जा के कारण झुके हुए मुख वाली इस (शकुन्तला) का आलिंगन करके पिता काश्यप ने इस प्रकार (उसका) अभिनन्दन किया—"सौभाग्य से धुएँ से व्याकुल दृष्टि वाले भी यजमान की आहुति अग्नि में ही पड़ी । पुत्री ! योग्य शिष्य को दी गई विद्या के सदृश तुम चिन्ता का विषय

(शोचनीय) नहीं रही हो। आज ही ऋषियों से सुरक्षित करके तुमको (तुम्हारे) पति के समीप भेज रहा हूँ।"

व्याकरण—**सुखशयितप्रच्छिका** = सुखशयित + प्रच्छ् + ण्वुल् (अक) + आ। **समास आदि**:—**प्रस्थानकौतुकम्** = प्रस्थाने गमनसमये कौतुकं पारम्पर्यागतमंगलम्। **सुखशयितप्रच्छिका** = सुखं शयितमिति या पृच्छति सा सुखशयितप्रच्छिका (सुप्सुपा समास)। यहाँ पाठभेद में 'सुखशयिकपृच्छिका' भी है। यह रूप भी दूसरे प्रकार से बन सकता है। पृच्छा शब्द से स्वार्थ में कन् प्रत्यय करने पर पृच्छिका बनता है। सुखशयितस्य पृच्छिका इति। **लज्जावनतमुखीम्** = लज्जया अवनतं मुखं यस्याः सा ताम् (बहुव्रीहि) अथवा लज्जया अवनतमुखीम् (तत्पुरुष)। **धूमाकुलितदृष्टेः** = धूमेन आकुलिता दृष्टिः यस्य तस्य (बहुव्रीहि)। **सुशिष्यपरिदत्ता** = शोभनः शिष्यः इति सुशिष्यः तस्मै परिदत्ता इति।

टिप्पणियाँ—**प्रस्थानकौतुकम्** = प्रस्थान के समय किया जाने वाला मंगलमय कार्य। यहाँ कौतुक शब्द का अर्थ है:—मांगलिक कार्य अथवा मंगलाचार (मंगलार्थं सुधागैरिकलेपादियत क्रियते तत् कौतुकमुच्यते—चारित्रवर्धन।) अतः इस कौतुक शब्द का अर्थ—कंगन (हाथ में बाँधा जाने वाला सूत्र) भी है। **सुखशयितप्रच्छिका** = सुखपूर्वक सोना हुआ अथवा नहीं, यह पूछना। **लज्जावनतमुखीम्** = लज्जा के कारण नीचे की ओर मुख किये हुये। **अभिनन्दितम्** = अभिनन्दन किया अर्थात् ऋषि कण्व ने शकुन्तला के कार्य को स्वीकृत किया और उसे बधाई भी दी। **सुशिष्यपरिदत्ता विद्या इव** = प्राचीन काल में ऐसी परम्परा थी कि गुरु पहले शिष्य की परीक्षा ले लिया करते थे और जब यह समझ लेते थे कि वस्तुतः यह इस प्रकार के ज्ञान का पात्र है तभी उस विद्या को उसे पढ़ाया करते थे। इस भाँति सुयोग्य शिष्य को ही विद्या दी जाती थी और ऐसे शिष्य को विद्या देने से विद्या की श्रीवृद्धि भी हुआ करती थी। शकुन्तला भी विद्या के सदृश पवित्र है तथा वह भी योग्य व्यक्ति के समीप पहुँच गई है।

अनसूया—[अह केण सूइदो तादकस्सवस्स वुत्तंतो ?] अथ केन सूचितस्तातकाश्यपस्य वृत्तान्तः ?

अनसूया—पिता काश्यप को यह समाचार किसने बतलाया ?

प्रियंवदा—[अग्गिसरणं पविट्ठस्स सरीरं विणा छन्दोमईए वाणिआऐ।] अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या।

प्रियंवदा—यज्ञशाला में प्रविष्ट होने पर (उनको) शरीररहित छन्दोमयी वाणी ने (बतलाया)।

अनसूया—(सविस्मयम्) [कहं विअ ?] कथमिव ?

अनसूया—(आश्चर्य के साथ) कैसे ? (किस प्रकार से ?)।

प्रियंवदा—(संस्कृतमाश्रित्य)

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥४॥

अन्वयः—हे ब्रह्मन् ! दुष्यन्तेन आहितं तेजः भुवः भूतये दधानां तनयाँ अग्निगर्भां शमीमिव अवेहि ।

संस्कृत-व्याख्या—हे ब्रह्मन् ! = हे वेदविदां वर काश्यप ! दुष्यन्तेन = राज्ञा, आहितम् = गर्भाधानरूपेण संस्थापितम्, तेजः—शुक्रं (शुक्रं तेजो रेतसी च । इत्यमरः ।), भुवः = पृथिव्याः, भूतये = कल्याणाय, दधानाम् = धारयन्तीम्, तनयाम् = स्वपुत्रीं शकुन्तलाम्, अग्निगर्भाम् = अग्निः गर्भे अभ्यन्तरे यस्याः ताम्, शमीमिव = शमीनाम्ना प्रसिद्धं वृक्षविशेषमिव, अवेहि = जानीहि ।

प्रियंवदा—(संस्कृत भाषा का आश्रय लेकर)

हे ब्रह्मन् (काश्यप) ! राजा दुष्यन्त के द्वारा आधान किये गये तेज (शुक्र) को पृथ्वी के कल्याण के लिये धारण करने वाली अपनी पुत्री (शकुन्तला) को अपने अन्दर (मध्य) अग्नि को धारण करने वाले शमीवृक्ष के समान समझो ।

अनसूया—(प्रियंवदामाश्लिष्य) [सहि ! पिअं मे, किन्दु अज्ज एव्व सउंदला णीअदित्ति उक्कंठासाधारणं परितोसं अणुहोमि ।] सखि ! प्रियं मे, किंत्वद्यैव शकुन्तला नीयते इत्युत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि ।

अनसूया—(प्रियंवदा को गले लगाकर) सखी ! मैं बहुत प्रसन्न हूँ । किन्तु आज ही शकुन्तला ले जाई जा रही है, इस कारण मैं व्याकुलता से युक्त संतोष का अनुभव कर रही हूँ ।

प्रियंवदा—[सहि ! आवां दाव उक्कंठं विणोदइस्सामो । सा तवस्सिणी णिव्वुदा होदु ।] सखि ! आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः । सा तपस्विनी निर्वृता भवतु ।

प्रियंवदा—सखी ! हम दोनों तो अपनी व्याकुलता को दूर (किसी भाँति) दूर कर ही लेंगी । वह बेचारी सुखी हो ।

अनसूया--[तेण हि एदस्सिं चूदसाहावलम्बिदे णारिएरसमुग्गए एतण्णिमित्तं एव्व कालान्तरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ। ता इमं हत्थसंणिहिदं करेहि। जाव अहंपि से गोरोअणं तित्थ-मित्तिअं दुव्वाकिसलआणि त्ति मंगलसमालंभणाणि विरएमि।] तेन ह्येतस्मिश्चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसमुद्गक एतन्निमित्त-मेव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका। तदिमां हस्त-संनिहितां कुरु। यावदहमपि तस्यै गोरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिस-लयानीति मङ्गलसमालम्भनानि विरचयामि।

अनसूया--इसीलिये मैंने इस आम्रवृक्ष की शाखा में लटके हुए नारियल के खोल में इस प्रयोजन के लिये ही अधिक समय तक टिक सकने वाली केसर (मौलसिरी) की माला रक्खी हुई है। तो इसको हाथ में ले लो। तब तक मैं भी उसके लिये गोरोचन, तीर्थों की मिट्टी, दूब के अंकुर आदि मांगलिक वस्तुओं को तैयार करती हूँ।

प्रियंवदा--[तह करीअदु।] तथा क्रियताम्।

(अनसूया निष्क्रान्ता। प्रियंवदा नाट्येन सुमनसो गृह्णाति

प्रियंवदा--वैसा ही करो।

(अनसूया बाहर चली जाती है। प्रियंवदा अभिनय के साथ पुष्पों को लेती है।)

अलंकार--श्लोक सं० ४ में उपमा अलंकार है। **छन्दः**--इसमें 'श्लोक' नामक वृत्त है।

व्याकरण--**अवेहि**=अव+आ+इ का लोट् म० पु० एकवचन का रूप है। अव+एहि--यहाँ पर ओमाङोश्च (अष्टा० ६।१।९५) से पररूप हो जाता है। **समुद्गक**=सम्+उद्+गम्+ड (अ)। यहाँ 'ड' के कारण 'अम्' का लोप हो जाता है तथा स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय होकर ('क') यह शब्द बनता है। **समास आदिः**--**उत्कण्ठासाधारणम्**=उत्कण्ठाया साधारणम्। **समुद्गक**=समुद्गच्छतीति।

टिप्पणियाँ--**अग्निशरणम्**=यज्ञ करने का स्थान अर्थात् यज्ञशाला। इसमें यज्ञ-कार्य सम्पन्न हुआ करते हैं। इसमें तीन प्रकार की अग्नियों के लिये तीन कुण्ड हुआ करते हैं। ये तीन अग्नियाँ ये हैं:--गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि तथा दक्षिणाग्नि। **छन्दोमयी**=छन्द में बँधी हुई। **भूतये भुवः**=पृथ्वी के कल्याण

के लिये। इससे यह संकेत प्राप्त होता है कि यह बच्चा आगे चलकर चक्रवर्ती सम्राट् होगा। अग्निगर्भांशमीम् = जिस भाँति शमीवृक्ष के अन्दर अग्नि हुआ करती है उसी भाँति शकुन्तला में भी तेजयुक्त जीव गर्भ में विद्यमान है। इस सम्बन्ध में महाभारत के अनुशासन पर्व में एक कथा आती है :—एक बार देवताओं की आज्ञा से अग्नि ने शिव जी के शुक्र को धारण किया। किन्तु वह उसकी गरमी को सहन न कर सका। तब वह पहले पीपल में प्रविष्ट हुआ और तदनन्तर शमीवृक्ष में। देवगण जब उसे ढूँढ़ने निकले तब उन्होंने उसे शमीवृक्ष में पाया। उसी समय से उन्होंने शमीवृक्ष को उसका स्थायी निवासस्थान बना दिया। इसी कारण शमीवृक्ष की लकड़ी को थोड़ा-सा रगड़ने पर भी अग्नि उत्पन्न हो जाया करती है। कथा का मूल भाग—

"इत्युक्त्वा निःसृतोऽश्वत्थादग्निर्वारण सूचितः ।
प्रविवेश शमीगर्भमथ वह्निःसुषुप्सया ॥........॥

इत्युक्त्वा तं शमीगर्भे वह्निमालक्ष्य देवताः ।
यदेवायतनं चक्रुः पुण्यं सर्वक्रियास्वपि ॥

ततः प्रभृति चाप्यग्निः शमीगर्भेषु दृश्यते ।
उत्पादने तथोपायमभिजग्मुश्च मानवाः ॥

महाभा०--अनुशासनपर्व---अध्याय ३५ ॥

इसके अतिरिक्त महाभारत के शल्यपर्व के ४६ वें अध्याय में भी एक कथा मिलती है :—एक बार भृगु के शाप के भय से भयभीत होकर 'अग्नि' ने शमीवृक्ष के अन्दर शरण प्राप्त की :—

"भृगोः शापाद् भृशं भीतो जातवेदाः प्रतापवान्। इत्यादि ॥

जब ऋषि कण्व यज्ञशाला में उपासनार्थ गये हुए थे उस समय उस अतिपवित्र स्थान पर उन्हें देववाणी द्वारा यह समाचार सुनने को मिला कि उनकी पुत्री शकुन्तला कुमारी-अवस्था में गर्भिणी हो चुकी है। इस अप्रिय समाचार को कण्व तक पहुँचाने का किसी का भी साहस न था। यदि यह समाचार उन्हें किसी अन्य व्यक्ति से प्राप्त होता तो वे उस पर कदापि विश्वास न करते। यह भी सम्भव था कि वे उसे असत्य मानकर समाचार देने वाले को ही शाप देकर भस्म कर डालते। हो सकता था कि वे क्रुद्ध होकर दुष्यन्त को ही शाप दे देते। अतः देववाणी द्वारा यह समाचार प्राप्त होने के कारण यह अनर्थ न हो सका। और ऋषि को दुष्यन्त एवं शकुन्तला के सम्बन्ध पर विश्वास हो गया। साथ

ही उन्हें यह भी सन्तोष हुआ कि यह जो कुछ भी हुआ है वह देवताओं की इच्छा से तथा जगत् के कल्याणार्थ ही हुआ है। इस घटना से प्रियंवदा तथा अनसूया के सिर का भी महान् बोझ उतर गया।

श्लोक सं० ४ में 'मार्ग' नामक गर्भसन्धि का अंग विद्यमान है क्योंकि इस में वास्तविक बात का प्रकाशन किया गया है। इसका लक्षण है :—

"तत्वार्थकथनं मार्गः" (साहित्यदर्पण—६।९६ ॥)

उत्कण्ठासाधारणं परितोषम् = शीघ्र ही आने वाले शकुन्तला के वियोग से उत्पन्न दुःख के साथ सन्तोष। **उत्कण्ठाविनोदयिष्यावः** = हम दोनों किसी भाँति अपने मन को बहला ही लेंगी। **तपस्विनी** = तपस्या के कष्ट से पीड़ित होने के कारण आश्रय चाहने वाली—अतएव बेचारी (शकुन्तला)। **निर्वृता भवतु** = चिन्तामुक्त होकर सुखी होवे। तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार से शकुन्तला का कल्याण हो। **अवलम्बिते** = लटके हुए। **नारिकेलसमुद्गके** = नारियल के डिब्बे में, खोल में। **समुद्गक** = खोल, डिब्बा अथवा दोना। **कालान्तरक्षमा** = समय की कुछ अवधि तक ठहर सकने योग्य (अर्थात् जिसकी गन्ध कुछ अधिक समय तक रुक सकती है)। **गोरोचना** = गोरोचन। यह वस्तु गाय के पित्त अथवा मूत्र से बनती है। यह पीले रंग की होती है तथा शुभ कार्यों में काम में लाई जाती है। ('स्वनामख्यातपीतवर्णद्रव्यम्'—शब्दकल्पद्रुम) **समालम्भनानि** = अलंकार की वस्तुयें। ('समालम्भनमाले ये तिलकेऽलङ्कृतावपि'— यादवप्रकाश। इसमें वर्णित सभी पदार्थ माङ्गलिक माने जाते हैं।) **विरचयामि** = एकत्र करती हूँ, तैयार करती हूँ।

(नेपथ्ये)

गौतमि ! आदिश्यन्तां शार्ङ्गरवमिश्राः शकुन्तलानयनाय ।

(नेपथ्य में)

हे गौतमी ! शार्ङ्गरव आदि को शकुन्तला को (पतिगृह) ले जाने के लिये आदेश दे दो।

प्रियंवदा—(कर्णं दत्वा) [अणसूये ! तुवर, तुवर । एदे क्खु हत्थिणाउरगामिणो इसीओ सद्दावीअंति ।] अनसूये ! त्वरस्व, त्वरस्व । एते खलु हास्तिनापुरगामिन ऋषयः शब्दाय्यन्ते ।

प्रियंवदा—(सुनकर) हे अनसूया ! शीघ्रता करो, शीघ्रता करो । ये हस्तिनापुर जाने वाले ऋषि लोग पुकारे जा रहे हैं ।

(प्रविश्य समालम्भनहस्ता)

अनसूया—[सहि ! एहि । गच्छम्ह ।] सखि ! एहि । गच्छावः ।

(इति परिक्रामतः ।)

(माङ्गलिक वस्तुओं को हाथ में लिये हुए प्रविष्ट होकर)

अनसूया—सखी ! आओ । चलें ।

(दोनों चारों ओर घूमती हैं ।)

प्रियंवदा—(विलोक्य) [एसा सुज्जोदए तव सिहामज्जिदा पडिच्छिदणीवारहत्थाहिं सोत्थिवअणिकायाहिं तावसीहिं अहिणन्दीअमाणा सउन्दला चिट्ठइ । उवसप्पम्ह णं ।] एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतीष्टनीवारहस्ताभिः स्वस्तिवाचनिकाभिस्तापसीभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति । उपसर्पाव एनाम् ।

(इत्युपसर्पतः ।)

प्रियंवदा—(देखकर) यह (शकुन्तला) सूर्योदय के समय ही शिर से स्नान करके, नीवार नामक (तिन्नी के) चावलों को हाथ में लिये, स्वस्तिवाचन का पाठ करती हुई तपस्विनियों द्वारा अभिनन्दन की जाती हुई, बैठी है । (हम दोनों) इसके पास चलें ।

(दोनों उसके समीप जाती हैं ।)

(ततः प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापारा आसनस्था शकुन्तला ।)

(तदनन्तर पूर्वोक्त रूप में आसन पर बैठी हुई शकुन्तला प्रवेश करती है ।)

तापसीनामन्यतमा—(शकुन्तलां प्रति) [जादे ! भत्तुणो बहुमाणसूअअं महादेईसद्दं लहेहि ।] जाते ! भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व ।

हे पुत्री ! पति के अत्यधिक सम्मानसूचक 'महारानी' शब्द को प्राप्त करो ।

द्वितीया—[वच्छे ! वीरप्पसविणी होहि ।] वत्से ! वीरप्रसविनी भव ।

दूसरी—हे पुत्री ! वीर पुत्र को जन्म देने वाली होओ।

तृतीया—[वच्छे ! भत्तुणो बहुमदा होहि ।] वत्से ! भर्तुर्बहुमता भव ।

(इत्याशिषो दत्वा गौतमीवर्जं निष्क्रान्ताः ।)

तीसरी—पुत्री ! पति के बहुत सम्मान को प्राप्त करने वाली होओ।

(इस प्रकार आशीर्वाद देकर गौतमी को छोड़कर अन्य तपस्विनियाँ चली जाती हैं।)

व्याकरण—**शब्दाय्यन्ते** = शब्दाय + णिच् + लट् । (यहाँ "शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे" से क्यङ होता है।) । **प्रतीष्ट** = प्रति + इष् + क्त । **वीरप्रसविनी** = वीर + प्र + सू + इनि (इन्) यहाँ "जिदृक्षिविश्रीण्वमाव्यथाभ्यमपरिभूप्रसूभ्यश्च" से इनि प्रत्यय होता है।

समास आदि—**शार्ङ्गरवेण मिश्राः** = तत्पुरुष समास । (यहाँ पर मिश्र शब्द मिश्रित अथवा इत्यादि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।) अर्थात शार्ङ्गरव आदि। अथवा शार्ङ्गरवो मिश्रः येषां ते । शार्ङ्गरव ही प्रधान अथवा पूज्य है। यहाँ मिश्र शब्द प्रधान अथवा पूज्य अर्थ में आया है। **शिखामज्जिता** = शिखायां केशेषु मज्जिता मज्जनं स्नानं कारिता । **प्रतीष्टनीवारहस्ताभिः** = प्रतीष्टा गृहीता नीवारा हस्ते यासां ताभिः । **स्वस्तिवाचनकाभिः** = स्वस्ति इति वाचनं स्वस्तिवाचनं तत् प्रयोजनं आसां ताः स्वस्तिवाचनाः, स्वस्तिवाचनाः एव स्वस्तिवाचनिकाः (स्वार्थ में कन्) तैः। **वीरप्रसविनी** = वीरं प्रसूते इति। **गौतमीवर्जम्** = गौतमीं वर्जयित्वा इति ।

टिप्पणियाँ—**हस्तिनापुर** = यह नगर भरत के प्रपौत्र राजा हस्तिन् (हस्ती) के द्वारा बसाया गया था। इसी कारण इसका नाम हस्तिनापुर पड़ा। क्रम इस प्रकार है—भरत–सुमन्यु–सुहोत्र–हस्ती। यह बात महाभारत (१।९५) के आधार पर सिद्ध होती है। किन्तु वायुपुराण (अध्याय ९९ तथा १६५) और विष्णुपुराण (४।१८) तथा हरिवंश पुराण (अध्याय २०) के अनुसार हस्ती भरत से सातवाँ राजा हुआ। यह नगर वर्तमान काल में स्थित दिल्ली से ५६ मील उत्तर-पूर्व की ओर, गंगा की एक सहायक नदी के किनारे पर, स्थित था। वस्तुतः दुष्यन्त की राजधानी के रूप में हस्तिनापुर का उल्लेख करना कालगणना की दृष्टि से भूल ही है क्योंकि यह नाम तो दुष्यन्त के पश्चात् कई पीढ़ियों के बाद पड़ा है। किन्तु इसे महाकवि की त्रुटि अथवा भूल नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उनके समय में उस नगर का जो प्रचलित नाम था उसी नाम का उल्लेख उन्होंने दुष्यन्त की राजधानी के रूप में किया है। **शिखामज्जिता**—शिखा (चोटी) सहित नहाई हुई। हिन्दू स्त्रियाँ शुभ अवसरों पर सिर को

धोकर [illegible] हैं। [illegible] स्त्रियों [illegible] पानी बिना डाले ही नहाती हैं। शकुन्तला की विदा का यह शुभ-अवसर था। अतः उसने सूर्योदय के समय ही सिर धोकर स्नान किया था। **प्रतीष्टनीवारहस्ताभिः** = लिया हुआ है नीवार नामक चावल हाथ में जिन्होंने ऐसी (तपस्विनियों द्वारा)। **स्वस्तिवाचनिकाभिः** = "स्वस्तिवाचन का पाठ करने वाली। (इससे प्रतीत होता है कि महाकवि के समय में स्त्रियाँ वेदमन्त्रों का पाठ भी किया करती थीं।") अथवा स्वस्तिवाचन (अर्थात् तेरा कल्याण हो इस प्रकार) कहने वाली तपस्विनियों के द्वारा। **वीरप्रसविनी** = वीरपुत्र को उत्पन्न करने वाली। **बहुमता** = अधिक सम्मान को प्राप्त करने वाली।

सख्यौ—(उपसृत्य) [सहि ! सुहमज्जणं दे होदु।] सखि ! सुखमज्जनं ते भवतु।

दोनों सखियाँ—(पास जाकर) हे सखी ! तेरा स्नान सुखकारी हो। (अर्थात् तू सदा सुखी हो।)

शकुन्तला—[साअदं मे सहीणं। इदो णिसीदह।] स्वागतं मे सख्योः। इतो निषीदतम्।

शकुन्तला—अपनी सखियों का स्वागत। इधर बैठो।

उभे—(मङ्गलपात्राण्यादाय। उपविश्य) [हला ! सज्जा होहि। जाव दे मङ्गलसमालम्भणं विरएम।] हला ! सज्जा भव। यावत्ते मङ्गलसमालम्भनं विरचयावः।

दोनों—(मांगलिक पात्रों को लेकर, पास में बैठकर) सखी ! (शकुन्तला) तैयार हो जाओ। हम लोग अब तुम्हारा मंगल-प्रसाधन (मांगलिक सजावट) करती हैं।

शकुन्तला—[इदं पि बहुमन्तव्वं। दुल्लहं दाणिं मे सहीमण्डणं भविस्सदि।] इदमपि बहुमन्तव्यम्। दुर्लभमिदानीं मे सखीमण्डनं भविष्यति।

(इति वाष्पं विसृजति।)

शकुन्तला—इसे ही बहुत समझना चाहिये। अब मेरे लिये सखियों-द्वारा अलंकृत किया जाना दुर्लभ हो जायगा।

(आँसू बहाती है।)

उभे—[सहि ! उइणं दे ण मङ्गलकाले रोइदुं ।] सखि उचितं न ते मङ्गलकाले रोदितुम् ।

(इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाट्येन प्रसाधयतः)

दोनों—सखी ! इस मांगलिक अवसर पर तुम्हारा रोना उचित नहीं है।

(आँसुओं को पोंछकर अलंकृत करने का अभिनय करती हैं।)

प्रियंवदा—[आहरणोइदं रूवं अस्समसुलहेहिं पसाहणेहिं विप्पआरी अदि ।] आभरणोचितं रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैः विप्रकार्यते ।

प्रियंवदा—आभूषणों के योग्य रूप को आश्रम में प्राप्य प्रसाधनों से विकृत किया जा रहा है।

(प्रविश्योपायनहस्तावृषिकुमारकौ)

उभौ—इदमलंकरणम् । अलंक्रियतामत्रभवती ।

(सर्वाः विलोक्य विस्मिताः ।)

(आभूषणों को हाथ में लिये हुए दो ऋषिकुमार प्रवेश करते हैं।)

दोनों—ये आभूषण हैं। इनके द्वारा देवी (शकुन्तला) को अलंकृत करें।

(सब देखकर आश्चर्यान्वित होती हैं।)

गौतमी—[वच्छ णारअ! कुदो एदं ।] वत्स नारद ! कुत एतत् ?

गौतमी—पुत्र नारद ! यह कहाँ से (प्राप्त हुए) ?

प्रथमः—तातकाश्यपप्रभावात् ।

प्रथम—पिता काश्यप के प्रभाव से।

गौतमी—[किं माणसी सिद्धिः ?] किं मानसी सिद्धिः !

गौतमी—क्या ये ऋषि की मानसिक सिद्धि के फल हैं ?

समास आदि—**सुखमज्जनम्**=सुखं मज्जनमिति । **सखीमण्डनम्**= सखीभ्यां कृतं मण्डनमिति । **उपायनहस्तौ**=उपायनानि हस्तयोर्ययोस्तौ (बहुव्रीहि) । **मानसी**=मनस इयं मानसी ।

टिप्पणियाँ—**सुखमज्जनम्**=सुखपूर्वक स्नान । तात्पर्य यह है कि सखियाँ शकुन्तला से कह रही हैं कि उसका (शकुन्तला का) स्नान सुखकारी हो अर्थात् वह सदा सुखी रहे, और दुर्वासा के शाप का उस पर कोई प्रभाव न हो।

मंगलसमालम्भनम् = माङ्गलिक सजावट। **इदमपि बहुमन्तव्यम्** = आप लोगों के द्वारा अलंकृत किये जाने को मैं अत्यन्त गौरव की बात मानती हूँ। **बाष्पं विसृजति** = रोती है। रोना अशुभ हुआ करता है। अतः शकुन्तला का यह रुदन शकुन्तला के भावी वियोग को सूचित करता है। **आभरणोचितम्** = वस्तुतः तुम्हारा रूप बहुमूल्य आभूषणों द्वारा सजाये जाने योग्य है। **विप्रकार्यते** = बिगाड़ा (विकृत) जा रहा है। आश्रम से प्राप्त पुष्पादिकों के अलङ्कारों द्वारा उसमें औचित्य के स्थान पर अनौचित्य ही आ रहा है। **उपायनहस्तौ** = भेंटरूप में प्राप्त आभूषणों को हाथ में लिये हुए। **उपायन** = भेंट, उपहार। **मानसी सिद्धिः** = ऋषि के विचार करते ही यह आभूषण प्रकट हो गये। अतः गौतमी ने प्रश्न किया है कि क्या ये ऋषि के मानसिक संकल्प के परिणामरूप हैं? योगी पुरुषों को इस प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाया करती हैं :—

"अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिर्दृष्टिः श्रोत्रज्ञता तथा।
निजं शरीरमुत्सृज्य परकायप्रवेशनम्।
अर्थानां छन्दतः सृष्टिर्योगसिद्धेर्हि लक्षणम्॥
याज्ञवल्क्यस्मृति॥ ३।२०२-२०३॥

द्वितीयः—न खलु। श्रूयताम्। तत्रभवता वयमाज्ञप्ताः शकुन्तलाहेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरतेति। तत इदानीम्—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि नः किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥५॥

अन्वयः—नः केनचित् तरुणा इन्दुपाण्डु माङ्गल्यं क्षौमं आविष्कृतम्। केनचित् चरणोपरागसुभगः लाक्षारसः निष्ठ्यूतः। अन्येभ्यः किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः आपर्वभागोत्थितैः वनदेवताकरतलैः आभरणानि दत्तानि।

संस्कृत-व्याख्या—नः = अस्मभ्यम्, केनचित् तरुणा = वृक्षेण, इन्दुपाण्डु = इन्दुवत् चन्द्रमण्डलवत् पाण्डु श्वेतं धवलं वा, माङ्गल्यम = मङ्गलकर्मणि साधु, क्षौमम् = दुकूलयुगलम्, आविष्कृतम = स्वदेहान्निसार्य समर्पितम्। केनचित् = तदन्येन तरुणा, चरणोपरागसुलभः = चरणयोः पादयोः उपरागः रञ्जनं तत्र सुलभः सुन्दरः उचितो वा, लाक्षारसः = अलक्तकरसः, निष्ठ्यूतः = उद्गीर्णः दत्तः वा। अन्येभ्यः = वनदेवताधिष्ठितेभ्यः वृक्षान्तरेभ्यः, किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः = किसलयानां पल्लवानां उद्भेदाः उद्भिद्यमानपल्लवाः तेषां प्रतिद्वन्द्विभिः प्रतिस्पर्द्धिभिः तत्सदृशैः वा आपर्वभागोत्थितैः = पर्वणो

भागः पर्वभागस्तं मर्यादीकृत्य इति आपर्वभागं मणिबन्धं यावत् उत्थितैः निर्गतैः, वनदेवताकरतलैः—वनदेवतानां करतलैर्हस्ततलैः, आभरणानि=आभूषणानि दत्तानि=समर्पितानि ॥

दूसरा—नहीं। सुनिये। आदरणीय (ऋषि) ने हमें आज्ञा दी थी कि शकुन्तला के लिये वनस्पतियों से फूल (तोड़कर) लाओ। तब—

हमको किसी वृक्ष ने चन्द्रमा के सदृश श्वेतवर्ण का मङ्गल-कार्य के योग्य रेशमी वस्त्र प्रदान किया। किसी ने चरणों में लगाया जाने वाला लाक्षारस (अलता, महावर) उगला (निकालकर दिया।) अन्य वृक्षों ने, सुन्दर किसलयों (कोंपलों—नवीनपत्रों) से प्रतिस्पर्धा (अथवा समानता) करने वाले, कलाई (मणिबन्ध प्रदेश) तक उठे हुए वनदेवता के करतलों से आभूषण प्रदान किये।

व्याकरण—वनस्पति=वन+पति—यहाँ ("पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्" अष्टा० ६।१।१५४॥ से मध्य में 'स' होकर वनस्पति शब्द बनता है। माङ्गल्यम्=मङ्गल शब्द में स्वार्थ में अण् होकर माङ्गल+यत् (य) (साधु अर्थ में यत्)। *समास आदि*—वनस्पतिभ्यः=वनस्य पतिः, वनस्पतिः तेभ्यः। क्षौमम्=क्षुमायाः विकारम्। माङ्गल्यम्=मङ्गलमेव माङ्गलम् माङ्गले साधु माङ्गल्यम्। प्रतिद्वन्द्विभिः=द्वौ द्वौ इति द्वन्द्वम्, प्रतिगत द्वन्द्व प्रतिद्वन्द्वं प्रतिद्वन्द्वं एषामस्तीति प्रतिद्वन्द्वी तैः। अलङ्कार तथा छन्द क्रमशः—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार है। इसमें शार्दूलविक्रीडित वृत्त है।

टिप्पणियाँ—वनस्पतिभ्यः=साधारणतया वनस्पति शब्द का प्रयोग वृक्षमात्र के लिये किया जाता है। इसका पारिभाषिक अर्थ भी है—जिन वृक्षों पर बिना फूल के ही फल आया करते हैं वे वृक्ष 'वनस्पति' कहलाते हैं :—"अपुष्पा फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः" ॥ मनुस्मृति १।४७॥ "वानस्पत्यः फलैः पुष्पात् तैरपुष्पाद् वनस्पतिः"—अमरकोश। क्षौमम्=रेशमी वस्त्र। इन्दुपाण्डु=चन्द्रमा के समान श्वेत वर्ण का। माङ्गल्यम्=मंगल के अवसर पर पहनने योग्य। आविष्कृतम्=प्रकट किया अर्थात् निकाल कर प्रदान किया। निष्ठ्यूतः=उगला। यहाँ इस शब्द का भाव—निकालकर देना है। लाक्षारसः=महावर अथवा अलता। यह पैरों को रँगने के काम आता है। अन्येभ्यः=अन्य वृक्षों से। यहाँ पर अन्येभ्यः में पंचमी विभक्ति होने के कारण 'कर्तृप्रक्रमभंङ्ग' दोष आता है। यहाँ पर 'केनचित्' का प्रयोग पहले किया जा चुका है। अतः यहाँ भी अन्येन अथवा अन्यैः होना चाहिये था। आपर्वभागोत्थितम्=कलाई (मणिबन्ध) तक उठे हुए। किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः=उनकी (वृक्षों की) नवीन प्रस्फुटित कोपलों से प्रतिस्पर्द्धा करने वाले अथवा तत्सदृश अत्यन्त कोमल लाल-

वर्ण वनदेवता के हाथों ने। यहाँ पर वनदेवता के हाथों द्वारा शकुन्तला के लिये आभूषणों की प्राप्ति हुई है। अतः उसके जीवनपर्यन्त अवैधव्य तथा सौभाग्य का द्योतक है।

प्रियंवदा—(शकुन्तलां विलोक्य) [हला ! इमा ए अब्भुववत्तीए सूइदा दे भत्तुणो गेहे अणुहोदव्वा राअलच्छि ।] हला ! अनयाऽभ्युपपत्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीः ।

(शकुन्तला व्रीडां रूपयति ।)

प्रियंवदा—(शकुन्तला की ओर देखकर) सखी ! (वनस्पतियों) के इस अनुग्रह से सूचित होता है कि तुम अपने पति के गृह में राजलक्ष्मी का अनुभव (उपभोग) करोगी ।

(शकुन्तला लज्जा का नाट्य करती है ।)

प्रथमः—गौतम ! ऐह्येहि । अभिषेकोत्तीर्णाय काश्यपाय वनस्पति-सेवां निवेदयावः ।

पहला—हे गौतम ! आओ, आओ । स्नान करके निकले हुए काश्यप से वनस्पतियों द्वारा की गई सेवा के बारे में निवेदन कर दें ।

द्वितीयः—तथा ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

दूसरा—ठीक है ।

(दोनों निकल जाते हैं ।)

सख्यौ—[अए ! अणुवजुत्तभूसणो अअं जणो । चित्तकम्मपरिअएण अंगेसु दे आहरणविणिओअं करेम्ह ।] अये ! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः । चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरणविनियोगं कुर्वः ।

दोनों सखियाँ—ओह ! इस व्यक्ति ने कभी आभूषणों का उपयोग नहीं किया है, फिर भी हम दोनों चित्रकर्म से परिचित होने के आधार पर तेरे अंगों में आभूषण पहनाती हैं ।

शकुन्तला—[जाणे वो णेउणं ।] जाने वां नैपुण्यम् ।

(उभे नाट्येनालंकुरुतः ।)

शकुन्तला—मैं तुम्हारी निपुणता को जानती हूँ ।

(दोनों अभिनय के साथ आभूषण पहनाती हैं ।)

(ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः काश्यपः ।)

काश्यपः—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥६॥

अन्वयः—अद्य शकुन्तला यास्यति इति हृदयं उत्कण्ठया संस्पृष्टम् । कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषः, दर्शनं चिन्ताजडम् । अरण्यौकसः मम तावत् स्नेहात् इदं ईदृशं वैक्लव्यम्, गृहिणः नवैः तनयाविश्लेषदुःखैः कथं न पीड्यन्ते ।

संस्कृत-व्याख्या—अद्य = अस्मिन्नहनि, शकुन्तला यास्यति = पतिगृहं गमिष्यति, इति = एतस्य हेतोः हृदयम् = मम मनः, उत्कण्ठया = उन्मनस्कतया संस्पृष्टम = सम्यगाक्रान्तम् व्याप्तम् वा । कण्ठः = गलप्रदेशः, स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषः = स्तम्भिता अवरुद्धा या बाष्पाणां अश्रुजलानां वृत्तिः = व्यापारस्तया कलुषः = स्वरभंगयुक्तः जातः । दर्शनम् = दृष्टिः, चिन्ताजडम = चिन्तया शकुन्तलावियोगभावनया जडम् विषयग्रहणाक्षमम (निश्चेष्टमित्यर्थः) अस्ति । अरण्यौकसः = अरण्यं वनमेव ओकः आवासो यस्य तस्य, मम = कण्वस्यापि, तावत् स्नेहात = पुत्रीप्रेम्णः, इदम = अनुभूयमानम्, ईदृशम् = अनिर्वचनीयम्, वैक्लव्यम् = विह्वलत्वं दुःखाधिक्यं वा अस्ति तर्हि, गृहिणः = गृहस्थाः जनाः, नवैः = नूतनैः प्रथमोत्पन्नैरित्यर्थः, तनयाविश्लेषदुःखैः = तनयायाः कन्यायाः योविश्लेषः वियोगः तस्मात् दुःखैः कष्टैः, कथं नु = केनावर्णनीयेन रूपेण, पीडयन्ते = क्लिश्यन्ते, व्याकुली क्रियन्ते वा ?

(तत्पश्चात् स्नान करके आये हुए काश्यप का प्रवेश ।)

काश्यप—आज शकुन्तला चली जायगी, इस कारण मेरा हृदय दुःख से भर रहा है, अश्रुधाराओं के बहने को रोकने के कारण मेरा गला भर आया है (रुँध गया है) । (मेरी) दृष्टि चिन्ता के कारण निश्चेष्ट हो गई है । वन में निवास करने वाले मुझ को जब (शकुन्तला के प्रति) प्रेम के कारण ऐसी विकलता है

तब प्रथम बार पुत्री के वियोग से उत्पन्न दुःखों से गृहस्थी पुरुष कितने अधिक दुःखित होते होंगे ?

(चारों ओर घूमते हैं ।)

व्याकरण—**अभ्युपपत्त्या** = अभि + उप + पद् + क्तिन् । **अभिषेकोत्तीर्णाय** = **अभिषेक** = अभि + सिच् + घञ् । **उत्तीर्ण** = उद् + तृ + क्त । **नैपुणम्** = निपुण + अण् (यहाँ "हायनान्तयुवादिभ्योऽण" ॥ अष्टा० ५।१।१३०॥ से 'अण्' होता है।) । इसका ही "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" ॥ अष्टा० ५।१।१२४॥ से 'ष्यन्' प्रत्यय किये जाने पर नैपुण्यम्' रूप भी बनता है। **संस्पृष्टम्** = सम् + स्पृश् + क्त । *समास आदि*—**अभिषेकोत्तीर्णाय** = अभिषेकादुत्तीर्णाय । **चित्रकर्मपरिचयेन** = चित्रस्य कर्म, तस्मिन् तस्य वा परिचयः, तेन (तत्पुरुष) । **आभरणविनियोगम्** = आभरणानां विनियोगः (तत्पुरुष) तम् । **नैपुणम्** = निपुणस्य भावः नैपुणम् । **स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषाम्** = स्तम्भिता वाष्पवृत्तिः (कर्मधारय) तया कलुषः (तत्पुरुष) । **अरण्यौकसः** = अरण्यं ओकः यस्य (बहुव्रीहि) । **तनयाविश्लेषदुःखैः** = तनयानां विश्लेषाद् दुःखं तैः (तत्पुरुष) । *अलंकार*—विकलता रूप एक कार्य के प्रति उत्कण्ठा रूपी एक कारण के होने पर भी कण्ठ का रुँध जाना आदि दूसरे कारण के वर्णित होने के कारण यहाँ 'समुच्चय' नामक अलंकार है। उत्तरार्ध में अर्थापत्ति अलंकार है। **छन्द**—इस श्लोक में 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त है।

टिप्पणियाँ—**अभ्युपपत्त्या** = वनदेवताओं (अथवा वृक्षों) के इस अनुग्रह से । **अभ्युपपत्ति**—अनुग्रह । **अनुभवितव्या राजलक्ष्मीः** = इससे ज्ञात होता है कि पति के गृह में पहुँचकर शकुन्तला को राजकीय ऐश्वर्य प्राप्त होगा। **अभिषेकोत्तीर्णाय** = अभिषेक अर्थात् स्नान करके निकले हुए । संभवतः महर्षि कण्व स्नानार्थ मालिनी नदी पर गये होंगे; अतः उत्तीर्ण शब्द से 'उनका नदी में स्नान करके लौटना' अर्थ ही लिया जा सकता है । **वनस्पतिसेवाम्**—तपोवन के वृक्षों के द्वारा की हुई सेवा को। तपोवन में रहने वाले ब्रह्मचारियों के मतानुसार ऋषि कण्व के प्रति यह वृक्षों द्वारा की गई सेवा ही है, अनुग्रह नहीं; क्योंकि ऋषि तो स्वयं ही सिद्ध पुरुष हुआ करते हैं अतः वे अपने मानसिक संकल्प द्वारा ही सभी वस्तुयें उत्पन्न कर सकते हैं। **अनपयुक्तभूषणः** = नहीं किया है भूषणों का उपयोग जिसने । यह वाक्य महाकवि ने दोनों सखियों द्वारा तपोवन की लड़कियों का भोलापन अभिव्यक्त करने के हेतु कहलवाया है । तपोवन में रहनेवाली बेचारी लड़कियाँ महल में पहिने जाने वाले आभूषणों के बारे में क्या जाने ? **चित्रकर्मपरिचयेन** = चित्रकला के कार्य से परिचित होने के कारण । तात्पर्य यह है कि हम चित्रकला के ज्ञान से यह जानती हैं कि शरीर के किस अंग पर कौन-सा आभूषण पहिना जाया करता है; इसी ज्ञान के आधार पर हम

तुझे आभूषण पहिनावेंगी। अथवा दूसरे चित्रकारों द्वारा बनाये गये चित्रों में हम जिस भाँति आभूषणों को पहना हुआ देखा करती हैं, उसी प्रकार तुम को भी आभूषण पहनावेंगी। काश्यपः—यहाँ महर्षि कण्व का प्रथम बार रंगमंच पर आगमन हुआ है। **उत्कण्ठया संस्पृष्टम्**=दुःख से व्याप्त। कठोर वेदना (पीड़ा) को उत्कण्ठा कहा गया है। उत्कण्ठा का लक्षण इस प्रकार किया गया है :—

"रागे त्वलब्धविषये वेदना महती तु या।
संशोषणी तु गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः॥"

स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषः=अश्रु के प्रवाह को रोकने के कारण रुँधा हुआ (कण्ठ)। इसी कारण ऐसी अवस्था में आवाज़ स्पष्ट नहीं निकला करती है। कलुष—मैला अर्थात् स्वरभंग के दोष से युक्त। **चिन्ताजडम्**=किसी वस्तु के बारे में लगातार सोचना अथवा उसका ध्यान करना चिन्ता कहलाती है। अतएव शकुन्तला के बारे में निरन्तर सोचते रहने के कारण दृष्टि चेष्टाहीन हो गयी है। कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है। **दर्शनम्**=दृष्टि। **अरण्यौकसः**=वन ही जिनका घर है ऐसे वनवासी जन। **वैक्लव्यम्**=विह्वलता। **गृहिणः**=गृहस्थ पुरुष। जब तपोवन में रहने वाले ऋषि की यह दशा है तब गृहस्थ पुरुषों का क्या हाल होता होगा? **कथं नु**=अवर्णनीय रूप में। **तनया-विश्लेषदुःखैः**=पहले-पहल उत्पन्न हुए अपनी पुत्री के वियोग के दुःखों से। इस प्रकार यहाँ गृहस्थ पुरुषों को मुनि की अपेक्षा अधिक कष्ट होने का वर्णन प्रस्तुत किया गया है जो कि स्वाभाविक भी है।

विशेष—"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्"॥

इस कहावत के अनुसार अभिज्ञानशाकुन्तल का चतुर्थ अंक सर्वोत्तम है। उसमें भी चार श्लोक मुख्य हैं। उन चारों श्लोकों में से एक श्लोक यह है। शेष तीन निम्न प्रकार हैं:— शुश्रूषस्व....इत्यादि (श्लोक सं० १८), अभिजनवतो....इत्यादि (श्लोक सं० १९) अथवा अस्मान् साधु....इत्यादि (श्लोक सं० १७) तथा भूत्वाचिराय....इत्यादि (श्लोक सं० २०)

सख्यौ—[हला सउन्दले! अवसिदमण्डणासि। परिधेहि संपदं खोमजुअलं।] हला शकुन्तले! अवसितमण्डनाऽसि। परिधत्स्व साम्प्रतं क्षौमयुगलम्।

(शकुन्तलोत्थाय परिधत्ते।)

दोनों सखियाँ—सखी शकुन्तला ! तुम्हारा शृंगार पूरा हो चुका है। अब (इन) दोनों रेशमी वस्त्रों को पहन लो।

(शकुन्तला उठकर पहनती है।)

गौतमी—[जादे ! एसो दे आणन्दपरिवाहिणा चक्खुणा परिस्सजन्तो विअगुरुउवट्ठिदो। आआरं दाव पडिवज्जस्स।] जाते ! एष त आनन्दपरिवाहिणा चक्षुपा परष्वजमान इव गुरुरुपस्थितः। आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व।

गौतमी—पुत्री ! आनन्द के अश्रुओं को बहाने वाली दृष्टि से, आलिंगन करते हुए यह तुम्हारे पिता (कण्व) यहाँ उपस्थित हैं। अब उचित शिष्टाचार का पालन करो।

शकुन्तला—(सव्रीडम्) [ताद ! वन्दामि।] तात ! वन्दे।

शकुन्तला—(लज्जा के साथ) पिता जी ! मैं (आपको) प्रणाम करती हूँ।

काश्यपः—वत्से !

यथातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पुरुमवाप्नुहि ॥७॥

अन्वयः—शर्मिष्ठा ययातेः इव भर्तुः बहुमता भव। सा पुरुमिव त्वमपि सम्राजं सुतं अवाप्नुहि।

संस्कृत-व्याख्या—हे वत्से ! = हे पुत्रि ! (शकुन्तले !) शर्मिष्ठा = वृषपर्वण : कन्या, वृषपर्वणः = नहुषपुत्रस्य यथा प्रियतमाऽभवत् तथैव त्वमपि, भर्तुः = पत्युः (राज्ञो दुष्यन्तस्य) बहुमता = प्रियतमा भव। सा = शर्मिष्ठा, पुरुमिव = पुरुनामानं पुत्रमिव (चन्द्रवंशप्रदीपं सम्राजमिव) त्वमपि सम्राजम = चक्रवर्तिनम, सुतम = पुत्रम्, अवाप्नुहि = प्राप्नुहि। पत्या पुत्रेण च सुखिनो भव इति भावः।

काश्यप—हे पुत्री शकुन्तला ! शर्मिष्ठा जिस प्रकार राजा ययाति की अतिप्रिय (रानी) थी उसी प्रकार (तुम भी) पति (राजा दुष्यन्त) की अतिप्रिय (रानी) होओ। उस (शर्मिष्ठा) ने जिस प्रकार (भावी-सम्राट् पुत्र) पुरु को प्राप्त किया, उसी प्रकार तुम भी (भावी) सम्राट्- (अथवा चक्रवर्ती) पुत्र को प्राप्त करो।

गौतमी—[भअवं ! वरो क्खु एसो ; ण आसिसा।] भगवन् ! वरः खल्वेषः, नाशिषः।

गौतमी--भगवन् ! यह तो वस्तुतः वरदान है, (केवल) आशीर्वाद नहीं।

व्याकरण--अवसित = अव + सो + क्त । आनन्दपरिवाहिणा = आनन्द + परि + वाहि + गिनि + तृतीया । आनन्दपरिवाहिणा = आनन्देन वाष्पः आनन्दवाष्पः तं परिवहतीति तेन । समास आदि:--अवसितमण्डना = अवसितं समाप्तं मण्डनं यस्याः सा (बहुव्रीहि) *अलंकार*--श्लोक सं० ७ में उपमा अलंकार है । छन्दः--इसमें 'अनुष्टुप्' वृत्त है ।

टिप्पणियाँ--अवसितमण्डना = जिसका शृंगार पूरा किया जा चुका है । आनन्दपरिवाहिणा = आनन्द मिश्रित अश्रुधाराओं को बहाता हुआ । एक ओर शकुन्तला के विवाहित हो जाने की प्रसन्नता से उत्पन्न आनन्द है और दूसरी ओर उसको पतिगृह भेजा जा रहा है, इसके दुःख से अश्रुधाराओं का निकलना स्वाभाविक ही है । क्षौमयुगलम् = रेशमी वस्त्र के जोड़े को । आचार = उठकर खड़ा हो जाना, प्रणाम आदि करना रूप शिष्टाचार । ययातेः इव--ययाति चन्द्रवंश के एक राजा थे । उनके दो पत्नियाँ थीं (१) असुरों के गुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी । (२) असुरों के राजा वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा । शर्मिष्ठा देवयानी के साथ दासी के रूप में आई थी । वह सुन्दरी तथा गुणवती थी । अतएव ययाति उस पर मुग्ध हो गये और गान्धर्वविधिपूर्वक उसके साथ विवाह कर लिया । शर्मिष्ठा ने अपने गुणों आदि के आधार पर शीघ्र ही राजा ययाति के हृदय को जीत लिया । बाद में वही उनकी महारानी हुई । ययाति के ५ पुत्र हुए जिनमें एक पुरु नामक शर्मिष्ठा का भी पुत्र था । देवयानी के साथ किये गये दुर्व्यवहार के कारण शुक्राचार्य ने राजा को शाप दे दिया कि वह शीघ्र ही वृद्ध हो जाये । पुरु ने पिता की वृद्धावस्था को अपने ऊपर ले लिया और पितृभक्ति के परिणामस्वरूप वह पुरुवंश का संस्थापक-सम्राट् हुआ । यहाँ शकुन्तला तथा शर्मिष्ठा दोनों का साम्य दर्शनीय है । दोनों का विवाह गान्धर्व विधि से हुआ है । दोनों ने पिता की अनुमति प्राप्त करने से पूर्व ही विवाह कर लिया था । दोनों के वरिष्ठ सपत्नियाँ भी थीं । इसी कारण यहाँ शर्मिष्ठा का उदाहरण दिया गया है । शकुन्तला भी अपने सौन्दर्य एवं गुणों आदि के कारण मुख्य-रानी बनती है तथा सम्राट् भरत को जन्म देती है । सम्राजम् = सम्राट्, चक्रवर्ती राजा जिसने राजसूय यज्ञ किया हो । अमरकोश के आधार पर सम्राट् का लक्षण--

"येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः ।
शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्" ॥ अमरकोश ॥

"सर्वेभ्यः क्षितिपालेभ्यो नित्यं गृह्णाति वै करम् ।
स सम्राडिति विज्ञेयश्चक्रवर्ती स एव हि" ॥

॥ शब्दकल्पद्रुम राजनीतिरत्नाकर ।

इस श्लोक में इष्ट की प्राप्ति के कारण 'क्रम' नामक गर्भसन्धि का अंग विद्यमान है। लक्षण—"तत्त्वोपलब्धिरिष्टस्य क्रम इत्यभिधीयते"। सम्राट्-पुत्र की प्राप्ति का आशीर्वाद दिये जाने के फलस्वरूप यहाँ 'आशीः' नामक नाटकीय अलंकार भी है। आचार्य विश्वनाथ ने इस श्लोक को इस 'आशीः' नामक नाटकीय अलंकार के उदाहरण में भी उद्धृत किया है। लक्षण—"आशीरिष्टजनाशंसा" (साहित्य-दर्पण—६।१९९।।) वरः खल्वेषः—वस्तुतः आपका यह कथन वर ही है, आशीर्वाद नहीं। इसकी सत्यता निश्चित है। यह होकर ही रहेगा। महाकवि भवभूति ने अपने 'उत्तररामचरित' नाटक में लिखा भी है—

"लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्त्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ।।

उ० रा० च० १।१०।।

काश्यपः—वत्से ! इतः सद्योहुतानग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व।

(सर्वे परिक्रामन्ति।)

काश्यप—पुत्री ! (आओ और) इधर अभी आहुति दी गई अग्नियों की प्रदक्षिणा करो।

(सब परिक्रमा करते हैं।)

काश्यपः—(ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते।) वत्से !

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः
समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धै-
र्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ।।८।।

प्रतिष्ठस्वेदानीम्। (सदृष्टिक्षेपम्) क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः ?

अन्वयः—अमी समिद्वन्तः, वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः, प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः वैतानाः वह्नयः हव्यगन्धैः (वः) दुरितं अपघ्नन्तः त्वां पावयन्तु ।।

संस्कृत-व्याख्या—अमी = पुरतो दृश्यमानाः, समिद्वन्तः = समिधः यज्ञकाष्ठानि सन्ति येषामिति समिद्वन्तः समिधाभिः प्रदीप्ताः, वेदिं परितः = वेदिं यज्ञवेदिकां परितः तस्याः समन्तात्, क्लृप्तधिष्ण्याः = क्लृप्तानि विहितानि धिष्ण्यानि स्थानानि येषां ते, प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः = प्रान्तेषु पार्श्वभागेषु संस्तीर्णाः प्रसारिताः दर्भाः कुशाः येषां ते, वैतानाः = वितानस्य यज्ञस्य इमे इति वैतानाः,

यज्ञसम्बन्धिनः, वह्न्यः = अग्नयः (गार्हपत्य-दक्षिणा-आहवनीयाख्या वह्नयः) हव्यगन्धैः = हव्यस्य हुतद्रव्यस्य गन्धैः (देवतोद्देशेन प्रक्षिप्ताज्यादिगन्धैः), दुरितम् = पापं विघ्नं वा अपघ्नन्तः = नाशयन्तः, त्वाम् = शकुन्तलाम्, पावयन्तु = पुनन्तु = पवित्रीकुर्वन्तु ।

काश्यप--(ऋग्वेद के छन्द में निर्मित श्लोक द्वारा आशीर्वाद देते हैं।)

हे पुत्री !

ये यज्ञीय समिधाओं द्वारा प्रज्वलित, यज्ञ की वेदी के चारों ओर स्थापित, किनारे पर बिछे हुए कुशों से युक्त, यज्ञ की अग्नियाँ हव्य-वस्तुओं की सुगन्ध से पापों अथवा विघ्नों को नष्ट करती हुई तुझे पवित्र करें।

अब (तुम) प्रस्थान करो। (इधर-उधर दृष्टि डालकर) वे शार्ङ्गरव आदि कहाँ हैं ?

(प्रविश्य)

शिष्यः--भगवन् ! इमे स्मः ।

(प्रविष्ट होकर)

शिष्य--भगवन् ! हम ये हैं।

काश्यपः--भगिन्यास्ते मार्गमादेशय ।

काश्यप--अपनी बहिन को रास्ता दिखाओ ।

शार्ङ्गरव--इत इतो भवती ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

शार्ङ्गरव--आप इधर चलें, इधर ।

(सब घूमते हैं।)

अलंकार--पूर्वोक्त श्लोक सं० ८ में विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है। छन्दः--इसमें वैदिक 'त्रिष्टुप्' छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होते हैं।

टिप्पणियाँ--**प्रदक्षिणीकुरुष्व** = परिक्रमा करो। प्रगतः दक्षिणं प्रदक्षिणः, अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं सम्पद्यमानं करोति प्रदक्षिणीकरोति। किसी पूज्य वस्तु को अपने से दाहिनी ओर करके उसके चारों ओर घूमना प्रदक्षिणा कहलाता है। **ऋक्छन्दसा** = अभिनेताओं के लिये इस प्रकार का निर्देश है कि वे इस श्लोक को ऋग् वेद के मन्त्रों के समान पढ़ें। ऋग्वेद में आये हुए छन्दों के अनुकरण पर ही इस श्लोक का त्रिष्टुप् छन्द में निर्माण किया गया है। यह लौकिक छन्दों

से भिन्न है अतः यहाँ उपर्युक्त प्रकार के निर्देश का होना आवश्यक था। **क्लृप्त-धिष्ण्याः** = (निश्चित) किये जा चुके हैं स्थान जिनके ऐसी (यज्ञाग्नियाँ)। यज्ञवेदी में तीन प्रकार की अग्नियों को स्थापना की जाती है। **गार्हपत्य** = वेदी का पश्चिम दिशा की ओर। **दक्षिण** = वेदी के दक्षिण-पश्चिम की ओर के कोने में। आहवनीय = वेदी के पूर्व के कोने में। **समिद्वन्तः** = समिधाओं से युक्त। **प्रान्त-संस्तीर्णदर्भाः** = जिनके किनारों पर कुश नामक घास बिछाई हुई है। **वैतानाः** = यज्ञ से सम्बन्धित। **वितान** = यज्ञ। **दुरितम्** = तेरे पापों को अथवा शाप सम्बन्धी विघ्नों को। **अपघ्नन्तः** = नष्ट अथवा समाप्त करती हुई।

काश्यपः—भो भोः संनिहितास्तपोवनतरवः !

पातुं नः प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥९॥

अन्वयः—युष्मासु अपीतेषु या प्रथमं जलं पातुं न व्यवस्यति। भवतां स्नेहेन या प्रियमण्डना अपि पल्लवं न आदत्ते। वः आद्ये कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः उत्सवः भवति। सा इयं शकुन्तला पतिगृहं याति। सर्वैः अनुज्ञायताम्।

संस्कृत-व्याख्या—हे संनिहितास्तपोवनतरवः ! युष्मासु = तपोवनतरुषु, अपीतेषु = पीतमेषामस्तीति पीता न पीता अपीतास्तेषु अकृतजलसेकेषु, या = शकुन्तला, प्रथमं = पूर्वम्, जलं = पानीयम्, पातुं = ग्रहीतुम्, न व्यवस्यति = न यतते स्म। भवतां स्नेहेन = प्रेम्णा, या = शकुन्तला, प्रियमण्डना = प्रियमिष्टं मण्डनं प्रसाधनं अलंकारणं वा यस्याः सा तथोक्ता अपि, पल्लवम् = नवं किसलयम्, न आदत्ते = न अवचिनोति स्म। वः = युष्माकम्, आद्ये = प्रथमे, कुसुम-प्रसूतिसमये = कुसुमानां पुष्पाणां प्रसूतेः उद्गमस्य समये काले, यस्याः = शकुन्तलायाः, उत्सवः = हर्षातिशयः, भवति स्म। सा इयम् = सैषा शकुन्तला, पतिगृहम् = स्व-स्वामिभवनम्, याति = गच्छति। अतो भवद्भिः, सर्वैः = सकलैरपि तपोवनतरुभिः, अनुज्ञायताम् = गमनं अनुमन्यताम्।

काश्यप—हे समीपस्थ तपोवन के वृक्षो !

तुमको बिना जल पिलाये जो (शकुन्तला तुमसे) पहले जल पी लेने का विचार नहीं किया करती थी, तुम्हारे प्रति प्रेमाधिक्य के कारण जो अलंकरण-प्रिय होने पर भी तुम्हारे नवीन पत्तों को नहीं तोड़ा करती थी, तुम्हारे प्रथम बार पुष्पों के निकलने समय जिसका उत्सव होता था, वह यह शकुन्तला (आज) पति के घर जा रही है। आप सब (अपनी अपनी) अनुमति दीजिये।

अलंकार:—इस श्लोक में अचेतन वृक्षों में चेतन जैसे॰ यवहार का आरोप किये जाने के कारण समासोक्ति अलंकार है। नवीन पत्रों के न तोड़ने में स्नेह कारण है, अतः काव्यलिंग अलंकार भी है। छन्दः—इसमें 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त है।

टिप्पणियाँ—**प्रथमम्** = शकुन्तला का यह नियम था कि वह पहले वृक्षों में जल दिया करती थी और तदनन्तर स्वयं जलपान किया करती थी। तात्पर्य यह है कि प्रातःकाल उठने के पश्चात् दिन में प्रथम बार वह जल तभी पिया करती थी जब वृक्षों का सिञ्चन कर लेती थी। **अपीतेषु** = जल न पिये हुए होने पर। इस शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है (१) **पीतम्** = पानम् (पीना), पीतमस्ति एषां ते पीताः। यहाँ स्वार्थ में "अर्शआदिभ्योऽच्" (अष्टा० ५।२। १२७) से 'अच्' होता है। न पीताः अपीताः तेषु। अर्थात् जिन्होंने पानी नहीं पिया है। (२) अथवा पीत शब्द को 'जल पिये हुए' अर्थ में गौण रूप से प्रयुक्त मानकर इसका अर्थ किया जायगा—जिन्होंने जल नहीं पिया है। **प्रियमण्डना** = अलंकारों से प्रेम करने वाली अथवा जिसको मण्डन (सजावट) प्रिय है। **कुसुमप्रसूतिसमये** = पुष्पों की उत्पत्ति के समय अथवा फूलों के निकलते समय। **उत्सवः** = उस समय शकुन्तला उत्सव मनाया करती थी।

(कोकिलरवं सूचयित्वा)

अनुगतगमना शकुन्तला
तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा
प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥१०॥

अन्वयः—इयं शकुन्तला वनवासबन्धुभिः तरुभिः अनुगतगमना (जाता), यथा एभिः कलं परभृतविरुतं ईदृशं प्रतिवचनीकृतम्।

संस्कृत-व्याख्या—इयम् = एषा प्रस्थानोन्मुखी शकुन्तला, वनवासबन्धुभिः = वने वासो येषां ते वनवासास्ते च बन्धवः सुहृदस्तैः, तरुभिः = वृक्षैः, अनुगतगमना = अनुगतम् अनुज्ञातं गमनं पतिगृहं प्रति प्रस्थानं यस्याः सा तथोक्ता जाता; यथा = यतो हि, एभिः = तरुभिः, परभृतविरुतम् = परभृतः कोकिलः तस्य विरुतं रवः मञ्जुकूजितं वा, ईदृशम् = प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानं गमनानुज्ञानसूचकं वा, प्रतिवचनीकृतम् = प्रत्युत्तरतां प्रापितम्।

(कोयल के शब्द को सुनने का अभिनय करके।)

इस शकुन्तला को (इसके) वनवास के साथी वृक्षों ने जाने की अनुमति दे दी है क्योंकि इन्होंने अव्यक्तमधुर कोयल के शब्द को इस प्रकार अपना प्रत्युत्तर बनाया है।

अलंकार:—यहाँ कोयल के शब्द में प्रत्युत्तर देने का आरोप हुआ है तथा यह आरोप प्रकृत-शकुन्तला के गमन में उपयोगी भी है; अतः यहाँ परिणाम अलंकार है। छन्दः—यहाँ 'अपरवक्त्र' वृत्त है। लक्षण—'अयुजिननरला गुरुः समेतदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ" ॥

व्याकरण:—अनुमत = अनु + मन् + क्त । *समास आदि*:—परभृत = परैः परेण वा भृतः । अन्यों के द्वारा पालन-पोषण किया गया हुआ—कोयल ।

टिप्पणियाँ—अनुमतगमना = जिसको जाने (गमन करने) की अनुमति प्राप्त हो गई है। वनवासबंधुभिः = वन के बन्धु अथवा साथी अर्थात् वन में साथ रहने वाले बन्धुस्वरूप (वृक्षों द्वारा)। 'उत्तररामचरित' में भी इस प्रकार की भावना का चित्रण हुआ है:—"यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे"। उ० रा० च० ३।८ ॥ परभृतविरुतम् = कोयल की आवाज़ को अथवा कोयल के शब्द को। कोयल को परभृत इसलिये कहा जाता है कि इनका पालन-पोषण दूसरों के द्वारा होता है। ऐसा माना जाता है कि (मादा-स्त्री) कोयल अपने अण्डों को दूसरे पक्षियों (विशेष रूप से कौओं) के घोंसलों में रख आती है। वे पक्षी बच्चों को बाहर निकाल लेते हैं और उनको अपना बच्चा समझकर पालन-पोषण करते हैं। पंख निकल आने पर वे उड़कर अन्यत्र चले जाते हैं। महाकवि कालिदास ने इस भाव का चित्रण अगले अंक में किया है—'अन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति।' अभि० शा० ५।२२ ॥ इसके अतिरिक्त मृच्छकटिक में भी—'परभृत इव नीडे रक्षितो वायसीभिः ॥' मृ० क० ७।३ ॥

(आकाशे)

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः ।
भूयात् कुशेशयरजो मृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥११॥

(सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति ।)

अन्वयः—कमलिनीहरितैः सरोभिः रम्यान्तरः, छायाद्रुमैः नियमितार्कमयूखतापः, अस्याः पन्थाः कुशेशयरजोमृदुरेणुः शान्तानुकूलपवनः च शिवः च भूयात् ।

संस्कृत-व्याख्या—कमलिनीहरितैः = कमलिनीभिः पद्मलताभिः पद्मपंक्तिभिर्वा हरितैः श्यामलैः, सरोभिः = जलाशयैः, रम्यान्तरः = रम्यं मनोहरं अन्तरं मध्यदेशो यस्य तादृशो भूयात्, छायाद्रुमैः = छायाप्रधाना द्रुमाः छायाद्रुमाः तैः छायावद्भिः वृक्षैः, नियमितार्कमयूखतापः = नियमितः निवारितः अर्कस्य सूर्यस्य

मयूखानां किरणानां तापः सन्तापः यस्मिन् तथाविधो भूयात् । अस्याः = अस्याः, पन्थाः = मार्गः, कुशेशयरजोमृदुरेणुः = कुशे जले शेरते इति कुशेशयानि कमलानि तेषां रजांसि परागाः तद्वत् मृदवः कोमलाः रेणवः धूलयः यस्मिन् सः, शान्तानुकूलपवनः = शान्तः मन्दः अनुकूलः सुखकरः पवनः वायुः यस्मिन् तथाविधः, शिवः च = मंगलकरः च भूयात् ।

(आकाश में)

कमल के पत्तों से हरे वर्णवाले तालाबों से (तुम्हारा) मार्ग का मध्य भाग मनोहर हो। विस्तृत छाया से युक्त वृक्षों के द्वारा सूर्य की किरणों का ताप दूर हो। इस (शकुन्तला) का मार्ग कमलों के पराग के सदृश कोमल धूलि से यक्त, शान्त तथा अनुकूल वायु वाला और कल्याणकारी होवे ।

(सब आश्चर्य के साथ सुनने लगते हैं ।)

अलंकार—इस श्लोक में 'कुशेशय रजोमृदुरेणु' में उपमा अलंकार है। साभिप्राय विशेषणों के होने से परिकर अलंकार है। मार्ग एवं वायु दोनों का वर्णन प्रस्तुत है—दोनों का शिव के साथ सम्बन्ध है (अर्थात् दोनों कल्याणकारी हों।) अतः 'तुल्ययोगिता' अलंकार है । कमलिनीहरितैः—इत्यादि कारणों के होने से यहाँ 'काव्यलिंग' अलंकार है । **छन्दः**—इसमें 'वसन्ततिलका' वृत्त है ।

व्याकरण:—**कुशेशय** = कुशे + शी + अच् (यहाँ 'अधिकरणे शेतेः' अष्टा० ३।२।१५ । से 'अच्' प्रत्यय तथा 'शयवासवासिष्वकालात्' । अष्टा० ६।३।१८ । से सप्तमी का अलुक् होता है ।)

टिप्पणियाँ—**आकाशे**—यहाँ यह शब्द तृतीय अंक के विष्कम्भक में आये हुए 'आकाशे' से भिन्न प्रकार का है। यहाँ पर यह देवताओं द्वारा की गई आकाशवाणी है अतः इसका विधान नेपथ्य से ही किया जायगा । भरत मुनि ने अपने नाटयशास्त्र में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है :—

'दूरस्थाऽऽभाषणं यत् स्यादशरीरनिवेदनम् ।
परोक्षान्तरितं वाक्यं तदाकाशे निगद्यते ॥'

प्रस्थान के समय की गई आकाशवाणी शुभसूचक हुआ करती है। **छायाद्रुमैः** = छायाप्रधानैः द्रुमैः । यहाँ शाकपार्थिवादि के समान उत्तरपद का लोप हो जाता है। घनी छाया से युक्त वृक्षों से। **रम्यान्तरः** = जिसके मध्यभाग मनोहर हैं ऐसे मार्ग । **नियमितार्कमयूखतापः** = नियमितः अर्कस्य मयूखानां तापः यस्मिन् सः। (छायादार वृक्षों से) रुक गया है अर्थात् हल्का पड़ गया है सूर्य की किरणों का (धूप का) ताप जहाँ पर ऐसा मार्ग । **कुशेशयरजोमृदुरेणुः** = कमलों के पराग के सदृश कोमल धूल वाला। अथवा कमलों के पराग से कोमल धूलवाला। यह दोनों ही अर्थ किये जा सकते हैं। दूसरे अर्थ का अभिप्राय यह हो सकता है कि पूरे मार्ग में कमलों से हरे-भरे तालाब मिलें और वायु द्वारा उड़ाकर

लाया गया हुआ उनका पराग सम्पूर्ण मार्ग में बिछा हुआ हो तथा इसके कारण मार्ग की धूल अति कोमल हो जाय। **कुशेशय** = जल में रहने वाला—कमल। **शान्तानुकूलपवनः** = शान्त और अनुकूल वायुवाला। वायु की विशेषतायें ३ प्रकार की स्वीकार की गईं हैं (१) हरितल, (२) मन्द, (३) सुगन्ध। इस श्लोक में तीनों ही वर्णित हैं। वायु—छायादार वृक्षों के कारण **शीतल**; शान्त एवं अनुकूल होने के कारण **मन्द** गतिवाली, तथा कमलों की सुगन्ध से **सुगन्धयुक्त**। **शिवः** = कल्याणकारी अथवा मंगलकारी। जिस ओर यात्री गमन करता है उसी दिशा में बहने वाला वायु 'अनुकूल वायु' कहा जाता है। मन्द तथा अनुकूल वायु शुभसूचक हुआ करता है। **सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति** = 'रम्यान्तरः' इत्यादि श्लोक परदे के पीछे (नेपथ्य) से पढ़ा गया है। यह आकाशवाणी है। अतः रंगमंच पर किसी वक्ता के दृष्टिगोचर न होने के कारण सभी आश्चर्य-चकित होकर श्रवण करते हैं।

गौतमी—[जादे ! ण्णादिजणसिणिद्धाहिं अणुण्णादगमणासि तवोवणदेवदाहिं। पणम भअवदीणं।] जाते ! ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनाऽसि तपोवनदेवताभिः। प्रणम भगवतीः।

गौतमी—हे पुत्री ! बन्धुजनों के सदृश प्रेम करने वाले तपोवन के देवताओं ने तुमको जाने की अनुमति दे दी है। (इन) देवताओं को प्रणाम करो।

शकुन्तला—(सप्रणामं परिक्रम्य। जनान्तिकम्) [हला पिअंवदे ! णं अज्जउत्तदंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअंतीए दुक्खेण मे चलणा पुरदो पवट्टन्ति।] हला प्रियंवदे ! नन्वार्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपदं परित्यजन्त्यां दुःखेन मे चरणौ पुरतः प्रवर्तेते।

शकुन्तला—(प्रणामपूर्वक चारों ओर घूमकर, हाथ की ओट में चुपके से) हे सखी प्रियंवदा ! आर्यपुत्र (पति) के दर्शनों के लिये उत्कंठित होते हुए होने पर भी आश्रम-भूमि को छोड़ते हुए मेरे पैर बड़ी कठिनता से आगे की ओर बढ़ रहे हैं।

प्रियंवदा—[ण केवलं तवोवणविरहकादरा सही एव्व। तुए उवट्ठिदविओअस्स तवोवणस्स वि दाव समवत्था दीसइ।] न केवलं तपोवनविरहकातरासख्येव। त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत् समवस्था दृश्यते।

[उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा ।
ओसरिअपंडुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ॥१२॥]

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥१२॥

अन्वयः––मृग्यः उद्गलितदर्भकवलाः, मयूराः परित्यक्तनर्तनाः, लताः अपसृतपाण्डुपत्राः (सत्यः) अश्रूणि मुञ्चन्ति इव ।

संस्कृत-व्याख्या––मृग्यः = हरिण्यः, उद्गलितदर्भकवलाः = उद्गलितः मुखाद् बहिर्निःसारितः दर्भाणां कुशानां कवलः ग्रासः याभिस्तादृश्यः सन्ति । मयूराः = बर्हिणः, परित्यक्तनर्तनाः = परित्यक्तं परिहितं नर्त्तनं नृत्यं यैः तादृशाः सन्ति । लताः = व्रततयः, अपसृतपाण्डुपत्राः = अपसृतानि पतितानि पाण्डूनि पीतानि पत्राणि पर्णानि याभ्यः तादृश्यः सत्यः, अश्रूणि = नेत्र जलानि, मुञ्चन्ति इव = त्यजन्तीव । तव विरहशोकोदयात् अश्रूणि पातयन्तीवेत्यर्थः ।

प्रियंवदा––तपोवन के वियोग से केवल तू ही (सखी ही) दुःखी नहीं है अपितु तेरे द्वारा उपस्थित (तेरे) वियोग के कारण तपोवन की भी तो तेरे सदृश ही दशा दिखलाई पड़ रही है :––

हरिणियों ने कुशों के ग्रासों को उगल दिया है, मयूरों ने नृत्य करना छोड़ दिया है, और लताएँ पीले-पीले पत्तों को गिराकर मानों आँसू बहा रही हैं ।

अलंकारः––यहाँ पीले-पीले पत्तों के गिरने में आँसुओं के गिरने की सम्भावना किये जाने के कारण उत्प्रेक्षा अलंकार है । मयूर, मृगी तथा लताओं में सखीजन सदृश व्यवहार का आरोपण किये जाने से समासोक्ति अलंकार है ।
छन्दः––इसमें 'आर्या' नामक जाति (छन्द) है ।

समास आदिः––**ज्ञातिजनस्निग्धाभिः** = ज्ञातयश्च ते जनाः ज्ञातिजनाः (कर्मधारय) । ज्ञातिजना इव स्निग्धाभिः इति (कर्मधारय उपमानसमास) । स्निग्ध––स्निह् + क्त । **अनुज्ञातगमना** = अनुज्ञातं गमनं यस्याः सा (बहुव्रीहि) । **आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकायाः** = आर्यपुत्रस्य दर्शने उत्सुका इति, तस्याः (तत्पुरुष) । **तपोवनविरहकातरा** = तपोवनस्य विरहेण कातरा (तत्पुरुष) । **उपस्थितवियोगस्य** = उपस्थितः वियोगः यस्य (बहुव्रीहि) । **समावस्था** = समाना अवस्था इति । **उद्गलितदर्भकवलाः** = उद्गलितः दर्भकवलः याभिः ताः (बहुव्रीहि) । **परित्यक्तनर्तना** = परित्यक्तं नर्तनं यैस्ते (बहुव्रीहि) । **अपसृतपाण्डुपत्राः** = अपसृतानि पाण्डूनि पत्राणि याभ्यः ताः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ––**ज्ञातिजनस्निग्धाभिः** = सम्बन्धी लोगों के सदृश स्नेह करने वाले (वनदेवताओं) द्वारा । **अनुज्ञातगमना** = जाने की अनुमति प्राप्त हो गई

है जिसको। **भगवतीः** = यह शब्द यहाँ वन-देवताओं के लिये प्रयुक्त हुआ है। **तपोवनविरहकातरा** = तपोवन के वियोग से कातर, व्याकुल अथवा दुःखित। **त्वयोपस्थितवियोगस्य** = तुझसे जिसकी विदाई का समय उपस्थित हो गया है। **समवस्था** = समान अथवा एक-सी अवस्था है। **उद्गलितदर्भकवलाः** = जिन्होंने कुशाओं का कौर उगल दिया है। **अपसृतपाण्डुपत्राः** = जिनमें से पीले-पीले पत्ते नीचे गिर रहे हैं।

इस श्लोक से मिलते हुए कुछ अन्य श्लोक भी हैं:—

नृत्तं मयूराः कुसुमानि वृक्षाः दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि ॥

रघुवंश १४।६९ ॥ तथा—

हृष्टाश्च केका मुमुचुर्मयूरा दृष्ट्वाम्बुदं नीलमिवोन्नमन्तम् ।
शष्पाणि मुक्त्वाऽभिमुखाश्च तस्थुर्मृगाश्चलाक्षा मृगचारिणश्च ॥

बुद्धचरित ७।५ ॥

शकुन्तला—(स्मृत्वा) [ताद ! लताबहिणिअं वणजोसिणिं दाव आमन्तइस्सं ।] तात ! लताभगिनीं वनज्योत्स्नां ताव-दामन्त्रयिष्ये ।

शकुन्तला—(स्मरण करके) पिता जी ! मैं तनिक अपनी लता-बहन वनज्योत्स्ना से तो विदा ले लूं।

काश्यपः—अवैमि ते तस्यां सोदर्यास्नेहम् । इयं तावद् दक्षिणेन ।

काश्यप—मैं जानता हूँ कि तेरा उसके प्रति सगी बहिन जैसा प्रेम है। यह (इधर) दक्षिण की ओर है।

शकुन्तला—(लतामुपेत्य) [वणजोसिणि ! चूदसंगता विमं पच्चालिंग इदोगदाहिंसाहाबाहाहिं । अज्जप्पहुदि दूरपरिवत्तिणी दे क्खु भविस्सं ।] वनज्योत्स्ने ! चूतसंगतापि मां प्रत्यालिङ्गेतोग-ताभिः शाखाबाहुभिः । अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी ते खलु भविष्यामि ।

शकुन्तला—(लता के पास जाकर) हे वनज्योत्स्ना ! (अपने पति) आम्रवृक्ष से मिली हुई भी तुम अपनी इधर फैली हुई शाखा रूपी बाहुओं से मेरा आलिंगन कर। आज से मैं तुमसे दूर रहने वाली हो जाऊँगी।

काश्यपः—

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्त्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम् ।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय-
मस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः ॥१३॥

इतः पन्थानं प्रतिपद्यस्व ।

अन्वयः—मया तवार्थे प्रथमं एव संकल्पितम् । त्वं सुकृतैः आत्मसदृशं भर्तारं गता । इयं नवमालिका चूतेन संश्रितवती । संप्रति अहं अस्यां त्वयि च वीतचित्तः।

संस्कृत-व्याख्या—**मया**=काश्यपेन, तवार्थे=त्वन्निमित्तम्, प्रथममेव=परिणयात् पूर्वमेव, संकल्पितम्=मनसा अभीप्सितम्; त्वम्=शकुन्तला, सुकृतैः=निजपुण्यैः मत्प्रयासं विनैव, आत्मसदृशम्=स्वानुरूपम्,स्वगुणैस्तुल्यम् वा, भर्तारम्=पतिम्, गता=प्राप्ता । इयम्=एषा, नवमालिका=वनज्योतसना, चूतेन=आम्रेण, संश्रितवती=मिलिता । संप्रति=अधुना, अहम्=काश्यपः, अस्याम्=नवमालिकायाम्, त्वयि च=शकुन्तलायां च, वीतचिन्तः=वीता विगता चिन्ता उत्कण्ठा यस्य तादृशः जातोऽस्मि ।

काश्यप—मैंने तुम्हारे लिये पहले ही (जिस प्रकार के पति की प्राप्ति के बारे में) सोच रखा था, तुमने अपने पुण्यों से (उसी प्रकार के) अपने ही सदृश पति को प्राप्त कर लिया है। यह नवमालिका आम्रवृक्ष से मिल गई है। अब मैं इसकी और तुम्हारी ओर से निश्चिन्त हो गया हूँ। (अब तुम) यहाँ से अपना मार्ग ग्रहण करो।

अलंकार—यहाँ पर आम्रवृक्ष और नवमालिका में नायक एवं नायिका का आरोप किये जाने से समासोक्ति अलंकार है। शकुन्तला तथा नवमालिका दोनों का ही वर्णन यहाँ प्रस्तुत है। 'वीतचिन्तः' के साथ दोनों का सम्बन्ध होने के कारण यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार है। दोनों का अपने अनुरूप पतियों से मिलन हो जाने के कारण काश्यप को निश्चिन्तता प्राप्त हुई है अतः काव्यलिंग अलंकार है। अपने-अपने अनुरूप पतियों के मिलने से 'सम' अलंकार है।

छन्दः—इसमें 'वसन्ततिलका' वृत्त है।

व्याकरण—**अवैमि**=अव+इ और अव+आ+इ धातु का अर्थ जानना है। जानता हूँ। **सोदर्य**=समान+उदर+य। यहाँ 'सोदराद्यः' ॥ अष्टा० ४।४।१०९ ॥ से य प्रत्यय और 'विभाषोदरे'। अष्टा० ६।३।८८ ॥ से समान को 'स' आदेश विकल्प से हो जाता है। अतः जहाँ 'समान' के स्थान पर 'स'

आदेश नहीं होता है वहाँ समानोदर्य रूप बनता है। जो एक ही पेट से उत्पन्न हों अर्थात् सगे । **संश्रितवती** = सम् + श्रि + क्त (भाव में) = संश्रित + मतुप् + ङीप् । यदि इस शब्द को 'क्तवतु' प्रत्ययान्त माना जायगा तो धातु सकर्मक होने से 'चूतं संश्रितवती' प्रयोग होगा । परन्तु यहाँ पर 'चूतेन संश्रितवती' प्रयोग है अतः मतुप् प्रत्ययान्त मानना ही उचित है। ***समास आदि*—सोदर्यास्नेहम्** = समाने उदरे शयिता इति सोदर्या; तस्याः स्नेहम् इति (तत्पुरुष)। **संश्रितवती** = संश्रितं अस्याः अस्तीति। **वीतचिन्तः** = वीता चिन्ता यस्य सः (बहुव्रीहि)। **आत्मसदृशम्** = आत्मनः सदृशम् (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**आमन्त्रयिष्ये** = विदाई लूँगी। **सोदर्यास्नेहम्** = सगी बहिन का प्रेम। **संकल्पितम्** = मैंने पहले ही तुम्हारे विषय में विचार कर निश्चय कर लिया था कि किसी सुयोग्य वर को ही तुझे प्रदान करूँगा। ऐसे सोचे हुए व्यक्तियों में दुष्यन्त का स्थान सर्वप्रथम था। **तवार्थे** = तव + अर्थे। यहाँ 'अर्थे' अव्यय 'लिये' अर्थ में है। तुम्हारे लिये। **सुकृतैः** = अपने पुण्यों के आधार पर तू अपने ही सदृश पति को प्राप्त हुई। **संश्रितवती** = मेल को प्राप्त हो गई। **वीतचिन्तः** = निश्चिन्त अथवा चिन्ता से मुक्त।

शकुन्तला—(सख्यौ प्रति) [हला ! एसा दुवेणं वो हत्थे णिक्खेवो।] हला ! एषा द्वयोर्युवयोर्हस्ते निक्षेपः।

शकुन्तला—(दोनों सखियों के प्रति) सखियो ! इस (लता) को तुम दोनों के हाथ में धरोहर के रूप में छोड़ती हूँ।

सख्यौ—[अअं जणो कस्स हत्थे समप्पिदो ?] अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः ?

(इति वाष्पं विहरतः।)

दोनों सखियाँ—इस जन (हम दोनों) को किसके हाथ में सौंपती हो ?

(दोनों आँसू बहाती हैं।)

काश्यपः—अनसूये ! अलं रुदित्वा। ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकर्तव्या शकुन्तला।

(सर्वे परिक्रामन्ति।)

काश्यप—अनसूया ! रोओ मत। आप दोनों को ही शकुन्तला को धैर्य बँधाना है।

(सब चारों ओर घूमते हैं।)

शकुन्तला—[तादे ! एसा उडजपज्जतचारिणी गब्भमन्थरा मिअवहू जदा अणघप्पसवा होइ तदा मे कंपि पिअणिवेदइत्तअं विसज्जइस्सह ।] तात ! एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदाऽघप्रसवा भवति तदा मह्यं कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ ।

शकुन्तला—पिता जी ! कुटी के समीप विचरण करने वाली तथा गर्भ के कारण मन्द गति वाली मृगी जब कुशलपूर्वक प्रसव (सन्तानोत्पत्ति) कर ले, तब इस शुभ समाचार की सूचना देने वाले किसी व्यक्ति को मेरे पास भेजियेगा।

काश्यप:—नेदं विस्मरिष्याम: ।

काश्यप—(हम) इसे न भूलेंगे ।

शकुन्तला—(गतिभङ्गं रूपयित्वा) [को णु क्खु एसो णिवसणे मे सज्जइ ।] को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते ?

(इति परावर्त्तते ।)

शकुन्तला—(लड़खड़ाने का अभिनय करके) यह कौन मेरे वस्त्र से चिपट रहा है ? (अर्थात् कौन मेरे वस्त्र खींच रहा है ?)

(पीछे की ओर मुड़ती है ।)

काश्यप:—वत्से !

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतक: पदवीं मृगस्ते ॥१४॥

अन्वय:—त्वया यस्य कुशसूचिविद्धे मुखे व्रणविरोपणम् इंगुदीनां तैलं न्यषिच्यत, स: अयं श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितक: पुत्रकृतक: ते पदवीं न जहाति ।

संस्कृत-व्याख्या—त्वया = अत्यन्तदयार्द्रया मातृभूतया शकुन्तलया, यस्य सन्तानभूतस्य मृगस्य, कशसूचिविद्धे = कुशानां दर्भाणां सूचिभि: तीक्ष्णाग्र-भागै: विद्धे क्षते, मुखे = आस्ये व्रणविरोपण्म = व्रणानां क्षतानां विरोपणम् शोषकम्, इंगुदीनां = तापसतरुफलानां, तैलम् = स्नेह:, न्यषिच्यत = निषिक्तम्; सोऽयम् = पुरतो दृश्यमान: स एव, श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितक: = श्यामाकानां

मुन्यन्नरूपाणां तृणधान्यविशेषाणां मुष्टिभिः मुष्टिपरिमितैः ग्रासैः परिवर्द्धितकः सादरं पुत्रवत् पोषितः, पुत्र-कृतकः = पुत्रवत् स्वीकृतः, मृगः = हरिणः, ते = तव, पदवीम् = पन्थानं मार्गं वा, न जहाति = न मुञ्चति परित्यजति वा । त्वदनुगामी भवतीत्यर्थः ।

काश्यप—पुत्री !

तुमने जिसके कुशाओं के अग्रभागों से बिंधे हुए मुख में घावों को भरने वाला हिंगोट का तेल लगाया था, वह यह सावाँ (जंगली चावल) की मुट्ठियों से पाला गया और पुत्र से सदृश माना गया हरिण तेरे मार्ग को नहीं छोड़ रहा है ।

अलंकार—यहाँ मार्ग को न छोड़ने के प्रति पूर्वकथित वाक्यों के कारण होने से काव्यलिंग अलंकार है । मृग के स्वभाव का वर्णन होने से यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार भी है । **छन्दः**—इस श्लोक में 'वसन्ततिलका' वृत्त है ।

व्याकरण—**अलं रुदित्वा** = यहाँ अलं के साथ निषेध अर्थ में "अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः" अष्टा० ३।४।१८। से क्त्वा प्रत्यय हो जाता है। **विरोपण** = वि + रुह् + णिच् + ल्युट् । णिच् प्रत्यय कर देने पर रुह् के ह् के स्थान पर "रुहः पोन्यतरस्याम्" अष्टा० ७।३।४३। से विकल्प करके 'प्' हो जाता है । अतः रोपयति और रोहयति दो रूप बनते हैं । **न्यषिच्यत** = नि + सिच् का कर्मवाच्य लङ् का रूप है । यहाँ पर सिच् के 'स्' को 'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि' अष्टा० ८।३।६३। से 'ष्' हो जाता है । **विद्ध** = व्यध + क्त । य को सम्प्रसारण होकर इ हो जाता है । *समास आदि*—**उटजपर्यन्तचारिणी** = उटजस्य पर्णशालायाः पर्यन्ते समीपे चरतीति । **अनघप्रसवा** = न अघं यस्मिन् सोऽनघः विपत्तिरहितः प्रसवो यस्याः सा (बहुव्रीहि) ! **कुशसूचिविद्धे** = कुशानां सूचिभिः विद्धं (तत्पुरुष) । **पुत्रकृतकः** = कृतकः पुत्रः, पुत्रकृतकः (यहाँ 'मयूरव्यंसकादयश्च' अष्टा० २।१।७२। सूत्र से समास होने पर कृतक शब्द का बाद में प्रयोग हुआ ।) पुत्रः कृतः पुत्रकृतः सुप्सुपा से समास होकर स्वार्थ में कन् (क) प्रत्यय होता है ।

टिप्पणियाँ—**निक्षेपः** = धरोहर । आवश्यकता पड़ने पर अपनी किसी वस्तु को कुछ समय के लिये दूसरे के पास सुरक्षा के निमित्त रख देना । जब उस वस्तु का स्वामी उसको वापिस लेना चाहता है तब उसी सुरक्षित रूप में उस वस्तु को उसे वापिस दे देना होता है । **बाष्पं विहरतः** = यह एक मुहावरा है । इसका अर्थ है आँसू बहाना या गिराना (अर्थात् रोना) । **अलं रुदित्वा** = यहाँ 'अलम्' शब्द निषेधार्थक है । मत रोओ । **स्थिरीकर्तव्या** = स्थिर करना चाहिये अर्थात् धैर्य बँधाना चाहिये । **गर्भमन्थरा** = गर्भ के भार के कारण मन्द गति वाली । **मन्थर** = मन्द, शिथिल, आलस्य युक्त । **अनघप्रसवा** = अघ शब्द का अर्थ क्षति, दुःख अथवा आपत्ति है । उससे रहित (अनघ) । आपत्तिरहित

(अर्थात् सुखपूर्वक) प्रसव होने के पश्चात् । तात्पर्य यह है कि जब बिना कष्ट के हरिणी के बच्चा उत्पन्न हो जाए । **प्रियनिवेदयितृकं**=प्रिय समाचार की सूचना देने वाले (संदेशवाहक) को । **गतिभङ्गम्**=चाल में कुछ रुकावट (रुक जाने का सा) का नाटच कर के । **वसने सज्जते**= वस्त्र में चिपट रहा है अथवा वस्त्र खींच रहा है । **व्रणविरोपणम्**=घावों को भरने वाला । **न्यषिच्यत**=लगाया था । **कुशसूचिविद्धे**=कुशों के अग्रभाग (अंकुरों से) बिंधे हुए । **श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितकः**=सांवा (नामक धान्य) से भरी हुई मुट्ठियों के आधार पर पाला-पोसा गया हुआ । **श्यामाक**=यह वन में उत्पन्न होने वाला एक प्रकार का धान होता है । इसे सावाँ या सवाँ कहते हैं । **पुत्रकृतकः**=पुत्र के सदृश माना गया हुआ ।

शकुन्तला—[वच्छ ! किं सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि ? अचिरप्पसूदाए जणणीए विणा वड्ढिदो एव्व । दाणिं पि मए विरहिदं तुमं तादो चिन्तइस्सदि । णिवत्तेहि दाव ।] वत्स ! किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि ? अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव । इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति । निवर्तस्व तावत् ।

(इति रुदती प्रस्थिता ।)

शकुन्तला—हे वत्स ! साथ छोड़कर जाने वाली मेरा पीछा क्यों कर रहे हो ? अपने जन्म के कुछ ही समय पश्चात् माता के बिना भी तुम पाले ही गये हो । इस समय भी मुझसे वियुक्त हुए तेरी चिन्ता पिता जी करेंगे । अतः अब लौट जाओ ।

(रोती हुई प्रस्थान करती है ।)

काश्यपः—

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्ति
वाष्पं कुरु स्थिरतया विरतानुबन्धम् ।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ॥१५॥

अन्वयः—उत्पक्ष्मणोः नयनयोः उपरुद्धवृत्ति वाष्पं स्थिरतया विरतानुबन्धं कुरु । अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे अस्मिन् मार्गे ते पदानि खलु विषमीभवन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—उत्पक्ष्मणोः = उत-उद्गतानि पक्ष्माणि नेत्रलोमानि ययोः तादृशयोः, नयनयोः = नेत्रयोः, उपरुद्धवृत्तिम् = उपरुद्धा निरुद्धा वृत्तिः दर्शनशक्तिः येन तादृशम्, वाष्पम् = अश्रुजलम्, स्थिरतया = धैर्यविलम्बनेन, विरतानुबन्धम् = विरतः निवृत्तः अनुबन्धः प्रवाहो यस्य तथाविधम्, कुरु = विधेहि । धैर्यमवलम्ब्य नेत्रजलं निवर्त्तय इति भावः । अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे = न लक्षितः न दृष्टः नतः निम्नः उन्नतः उच्चश्च भूमिभागः भूप्रदेशः यस्मिन् तादृशे अस्मिन् = एतस्मिन्, मार्गे = वर्त्मनि, ते = तव, पदानि = पदविन्यासाः खलु = निश्चयेन, विषमीभवन्ति = स्खलन्ति असमाना भवन्तीत्यर्थः, त्वं पतिष्यसि इति भावः ।

काश्यप—

ऊपर की ओर उठे हुए पलकों के बालों (बरौनियों) वाले नेत्रों की दर्शन-शक्ति को रोकनेवाले आँसू को धैर्यपूर्वक रुके हुए प्रवाहवाला करो (अर्थात् रोको) । (क्योंकि) ऊँची-नीची भूमि को न देखने के कारण इस मार्ग में तेरे पैर निश्चित रूप से लड़खड़ा रहे हैं ।

अलंकारः—इस श्लोक में पूर्वार्द्ध के प्रति परार्द्ध वाक्य के कारण होने से 'काव्यलिंग' अलंकार है । **छन्दः**—इसमें 'वसन्ततिलका' वृत्त है ।

व्याकरण:—**सहवासपरित्यागिनीम्**—सहवास + परि + त्यज् + घिनुण् (इन्) । (यहाँ सम्पृचानुरुधा०. . . .इत्यादि—अष्टा० ३।२।१४२ । से साधुकारी अर्थ में घिनुण प्रत्यय होता है ।) **विरत** = वि + रम् + क्त ।

समास आदि:—**सहवासपरित्यागिनीम्** = सहवासं परित्यजतीति । **अचिरप्रसूतया**—अचिरं प्रसूता तया (कर्मधारय) । **उत्पक्ष्मणः**:—उद्गतानि पक्ष्माणि ययोः तयोः (बहुव्रीहि) । **उपरुद्धवृत्तिम्**—उपरुद्धा वृत्तिः येन तम् (बहुव्रीहि) । **विरतानुबन्धम्** = विरतः अनुबन्धः यस्य तम् (बहुव्रीहि) । **अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे** = अलक्षितः नतः उन्नतः भूम्याः भागः यस्मिन् तस्मिन् (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**सहवास** = साथ । **अचिरप्रसूतया** = जन्म देने के पश्चात् शीघ्र ही मृत । **उत्पक्ष्मणः** = ऊपर की ओर उठी बरौनियों (पलकों के बालों) वाले (नेत्रों का) । **उपरुद्धवृत्तिम्** = रुक गई है (देखने की) क्रिया जिससे ऐसे (अश्रु) को । अथवा आखों की देखने की शक्ति को रोकनेवाले (अश्रु) । **वृत्ति** = व्यापार अथवा क्रिया । यहाँ पर दर्शन-व्यापार अथवा दर्शनशक्ति से भाव है । **विरतानुबन्धम्** = रुक गया है प्रवाह जिसका । **अलक्षित** = नहीं देखा है । **विषमीभवन्ति** = ऊँचे-नीचे पड़ रहे हैं अथवा लड़खड़ा रहे हैं ।

शार्ङ्गरव—भगवन् ! ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते । तदिदं सरस्तीरम् । अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हति ।

शार्ङ्गरव—भगवन् ! ऐसा सुना जाता है (कि) प्रिय व्यक्ति के साथ जल के किनारे तक जाना चाहिये । तो यह तालाब का किनारा है । यहाँ पर (अपना) संदेश देकर (आप) वापस जा सकते हैं ।

काश्यपः—तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयामः ।

(सर्वे परिक्रम्य स्थिताः ।)

काश्यप—तो इस पीपल की छाया में हम बैठते हैं ।

(सब लोग चारों ओर घूमकर खड़े हो जाते हैं ।)

काश्यपः—(आत्मगतम्) किं नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरुपमस्माभिः संदेष्टव्यम् ?

(इति चिन्तयति ।)

काश्यप—(मन में) आदरणीय दुष्यन्त के योग्य क्या संदेश भेजना चाहिये ?

(सोचते हैं ।)

शकुन्तला—(जनान्तिकम्) [हला ! पेक्ख । णलिणी-पत्तन्तरिदं वि सहअरं अदेक्खन्ती आदुरा चक्कवाई आरडदि, दुक्करं अहं करेमित्ति ।] हला ! पश्य । नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचर-मपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति, दुष्करमहं करोमीति ।

शकुन्तला—(चुपके से) सखी ! देखो । कमल के पत्तों की ओट में बैठे हुए भी अपने साथी (चकवा) को न देख सकने के कारण व्याकुल यह चकवी जोर से चिल्ला रही है (कि) मैं दुष्कर कार्य कर रही हूँ ।

अनसूया—[सहि । मा एव्वं मन्ते हि ।

एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसाअदीहअरं ।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि ॥१६॥]

सखि ! मैवं मन्त्रयस्व ।

एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम् ।
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति ॥१६॥

अन्वयः—एषा अपि प्रियेण विना विषाददीर्घतरां रजनीं गमयति। आशाबन्धः गुरुः अपि विरहदुःखं साहयति ।

संस्कृत-व्याख्या—एषा = पुरतो दृश्यमाना चक्रवाकी अपि, प्रियेण विना = सहचरेण चक्रवाकेन विना, विषाददीर्घतराम् = विषादेन दुःखेन दीर्घतराम् अधिकदीर्घत्वेन प्रतीयमानाम्, रजनीम् = रात्रिम् गमयति = यापयति । आशाबन्धः = आशाया बन्धो बन्धनम् प्रियसमागमाशेत्यर्थः, गुरुः अपि = असह्यमपि, विरहदुःखम् = वियोगव्यथाम्, साहयति = सहनयोग्यं करोति ।

अनसूया—सखी ! ऐसी बात न कहो,

यह भी अपने प्रिय के बिना दुःख के कारण अधिक लम्बी (प्रतीत होने वाली) रात को बिताती है। किन्तु आशा का बन्धन वियोग के महान् दुःख को भी सहन करा देता है।

अलंकारः—यहाँ विशेष द्वारा सामान्य अर्थ का समर्थन किये जाने के कारण 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है । छन्दः—इसमें आर्या छन्द है ।

समास आदि:—ओदकान्तम् = उदकस्य अन्तः उदकान्तः आ उदकान्तात् ओदकान्तम् (अव्ययीभाव) । यहाँ पर "आङ्मर्यादाभिविध्योः" अष्टा० २।१।१३ । से अव्ययीभाव समास होकर ओदकान्तम रूप बनेगा। समास के विकल्प से होने के कारण 'आ उदकान्तात्' रूप भी बनेगा। यहाँ आङ है और यह प्रगृह्य-संज्ञक आ से भिन्न भी है अतः सन्धि का निषेध नहीं होगा। क्षीरवृक्ष = क्षीरप्रधानः वृक्षः ।

टिप्पणियाँ—ओदकान्तम् = जब कोई व्यक्ति विदेश अथवा कहीं अन्यत्र गमन करता है तो घर के लोगों को उसे छोड़ने के निमित्त किसी जलाशय अथवा नदी आदि जलीय स्थान तक जाना चाहिये, ऐसा शिष्टाचार है। "ओदकान्तं प्रियं प्रोथमनुव्रजेत्" । याज्ञ० स्मृति १।११३ । में भी आता है कि "अतिथिं श्रोत्रियं तृप्तमासीमान्तमनुव्रजेत्" ।। श्रूयते = परम्परा से चली आती हुई ऐसी श्रुति अथवा कहावत है । क्षीरवृक्ष = ऐसा वृक्ष जिसकी छाल से दूध के समान रस निकला करता है—जैसे पीपल, गूलर, वट वृक्ष आदि । यहाँ पर 'पीपल' अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है। युक्तरूपम् = अतिशयेन युक्तम् । यहाँ प्रशंसा अर्थ में रूपम् प्रत्यय होता है। अत्यधिक युक्त अथवा उचित। नलिनीपत्रान्तरितमपि = कमल के पत्तों की ओट में बैठे हुए को भी । दुष्करमहं करोमीति = चकवी कहती है कि मैं अपने पति (चकवे) के वियोग में भी जीवित हूँ अतः मैं यह दुष्कर कार्य कर रही हूँ। यहाँ पर शकुन्तला चकवी की पति सम्बन्धी व्याकुलता को देख रही है। उसका कहने का तात्पर्य यह है कि वह स्वयं भी पति के बिना कठिनाई से जी रही है। अथवा उसका मन्तव्य यह भी हो सकता है कि चकवी तो कमल के पत्तों की ओट में आये हुए ही अपने साथी को न

देखकर चिल्ला रही है किन्तु वह (शकुन्तला) स्वयं अवश्य कठिन कार्य कर रही है कि जो इतने लम्बे समय तक पति का वियोग सहन कर रही है। विषाद-दीर्घतराम् = दुःख के कारण रात्रि लम्बी प्रतीत हुआ करती है। रजनीं गमयति = यहाँ पर "गतिबुद्धिप्रत्ययवसानार्थ०"...इत्यादि (अष्टा० १।४।५२ ।) से द्वितीया विभक्ति हुई है। रात्रि को व्यतीत करती है। आशाबन्धः = आशा के कारण मानव भयंकर कष्टों को भी सहन कर लिया करता है। इसी भाव को बतलाने वाली कुछ अन्य सूक्तियाँ भी हैं:—"आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो-ह्यङ्गनानां सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥" मेघदूत—पूर्वमेघ—९ ॥ "शक्यं खल्वाशाबन्धेनात्मानं धारयितुम्" (विक्रमोर्वशीय अंक—३)। "मनोरथेन जीवामि मन्दभाग्या" (स्वप्नवासव० अंक —३) "आशया हि किमिव न क्रियते" (कादम्बरी—महाश्वेतावृत्तान्त ।)

काश्यपः—शार्ङ्गरव ! इति त्वया मद्वचनात् स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः ।

काश्यप—शार्ङ्गरव ! शकुन्तला को आगे करके तुम मेरी ओर से राजा से इस प्रकार कहना —

शार्ङ्गरवः—आज्ञापयतु भवान् ।

शार्ङ्गरव—आप आज्ञा दीजिये ।

काश्यपः—

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद् वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥१७॥

अन्वयः—संयमधनान् अस्मान्, आत्मनः उच्चैः कुलं च, त्वयि अस्याः कथमपि, अबान्धवकृतां तां स्नेहप्रवृत्तिं च साधु विचिन्त्य, त्वया इयं दारेषु सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकं दृश्या । अतः परं भाग्यायत्तम्, तत् खलु वधूबन्धुभिः न वाच्यम् ।

संस्कृत-व्याख्या—संयमधनान् = संयम एव इन्द्रियदमनमेव धनं येषां तान्, अस्मान् = मद्विधान् तपोधनान्; आत्मनः = स्वस्य, उच्चैः = गौरवास्पदम्, कुलं च = पौरवं वंशं च; त्वयि = भवद्विषये, अस्याः = शकुन्तलायाः, कथमपि = केनापि प्रकारेण, अबान्धवकृताम् = बान्धवप्रयासं विनैव घटिताम्, ताम् = तादृशीं स्वाभाविकीम्, स्नेहप्रवृत्तिम् = प्रेमव्यापारं अनुरागोत्पत्तिं वा च

साधु = सम्यक्, विचिन्त्य = विचार्य, त्वया = राज्ञा दुष्यन्तेन, इयम् = शकुन्तला, दारेषु = पत्नीषु, सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकम् = सामान्या तुल्या प्रतिपत्तिः गौरवं तत्पूर्वकम्, दृश्या = दर्शनीया। अतः परम् = अस्मदधिकम्, भाग्यायत्तम् = दैवाधीनम्। तत् खलु = निश्चयेन, वधूबन्धुभिः = वध्वा बन्धुभिः सम्बन्धिभिः, न वाच्यम्—न कथनीयम्।

काश्यप—

संयमरूपी धनवाले हम लोगों का, अपने उच्च कुल का, और किसी भी प्रकार बन्धुओं द्वारा न किये गये हुये तेरे प्रति इस (शकुन्तला) के उस स्वाभाविक प्रेम-व्यापार का उचित रूप से विचार कर तुम अपनी स्त्रियों में इसको सब के समान ही गौरव के साथ देखना। इसके आगे भाग्य के आधीन है। वह (हम) वधू के सम्बन्धियों को नहीं कहना चाहिये।

व्याकरण—भाग्यायत्त = भाग्य + आ + यत् + क्त। **संयम्** = सम् + यम् + अप्। **समास आदि**:—**संयमधनान्** = संयम एव धनं एषां तान् (बहुव्रीहि)। **अबान्धवकृताम्** = न बान्धवैः कृताम् (तत्पुरुष)। **स्नेहप्रवृत्तिम्** = स्नेहस्य प्रवृत्तिम् (तत्पुरुष)। **सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकम्** = सामान्या प्रतिपत्तिः सामान्यप्रतिपत्तिः (कर्मधारय)। सा पूर्वा यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)।

अलंकार—यहाँ पर 'माम्' न कहकर 'संयमधनान् अस्मान्' कहा गया है। इस प्रकार सामान्य के द्वारा प्रस्तुत विशेष की प्रतीति कराई गई है। अतः अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है। **छन्दः**—इसमें 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त है।

टिप्पणियाँ—**मद्वचनात्** = मेरी (कण्व की) ओर से। **साधु** = ठीक, उचित। **विचिन्त्य** = विचार करके। इसका सम्बन्ध अगले ३ वाक्यों से है। **संयमधनान्** = तप को ही अपना धन समझने वाले (हम को)। कण्व के इस कथन का भाव यह हो सकता है कि हमारी अनुपस्थिति में तुमने जो कुछ भी किया उसे हमने यथार्थ दृष्टि से समझ कर तुम को क्षमा कर दिया है। अतः हमारे तपोबल का ध्यान रखते हुए इस (शकुन्तला) के साथ उचित व्यवहार करना। अन्यथा उसका दुष्परिणाम भी हो सकता है जिसे तुम स्वयं समझ सकते हो। अथवा हम तपस्वी हैं। तुम हमारी कन्या के साथ जैसा भी चाहो, व्यवहार कर सकते हो। हम इस बारे में कुछ भी न कहेंगे। दुर्व्यवहार से उस बेचारी को कष्ट हो सकता है। उससे तुम्हारा अपना भी जीवन सुखमय न हो सकेगा। अथवा हम तो धनहीन तपस्वी हैं। अतः वर-दक्षिणा के रूप में हम तुमको दे ही क्या सकते हैं। हमारे पास तो केवल कन्या ही है जिसे हम तुम्हारे घर के लिये विदा कर रहे हैं। धनहीन ग़रीब की कन्या जानकर इसे किसी प्रकार का कष्ट न देना। **उच्चैः कुलञ्चात्मनः** = अपने उच्च वंश का भी ध्यान करना। और शकुन्तला को उचित सम्मान प्रदान करना। उन्नत वंश के लोग किसी के भी साथ

दुर्व्यवहार नहीं किया करते हैं । **त्वय्यस्याः...अबान्धवकृताम्**=इस शकुन्तला का तुम्हारे प्रति प्रेम सम्बन्धियों द्वारा कराया हुआ नहीं है । अतः स्वाभाविक ही है । क्योंकि यह अपनी ही ओर से तुम्हारे प्रेम में पड़ गई । तुमने भी इसे अपने मन से स्वीकार किया । ऐसा होने पर तुमको अब इसे स्वीकार करना ही चाहिये । न स्वीकार करना तो तुम्हारी कृतघ्नता अथवा विश्वासघातिता ही होगी । **स्नेहप्रवृत्तिम्**=प्रेम-व्यापार को । शकुन्तला का तुम्हारे प्रति स्वाभाविक एवं हार्दिक प्रेम है । अतः इसके स्नेह का सम्मान करना तुम्हारा परम कर्तव्य है । **सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकम्**=सामान्य आदर अथवा गौरव के साथ । **प्रतिपत्ति**=गौरव अथवा आदर । तुम अन्य पत्नियों को जिस गौरव अथवा आदर एवं प्रेम के साथ देखते हो उसी आदर और प्रेम से इसको भी देखना । **भाग्यायत्तम्**=इसके आगे भाग्य के अधीन है । अर्थात् अन्य सब पदार्थ--अच्छे वस्त्र, आभूषण इत्यादि भाग्य के अनुसार ही मिला करते हैं, अथवा महारानी का पद इत्यादि भी भाग्य से ही मिला करता है । **न खलु... वधूबन्धुभिः**=हम लोग कन्या-पक्ष के हैं । अतः इससे अधिक हम लोगों को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है । तात्पर्य यह है कि कन्या के सम्बन्धी सुख एवं शान्ति के लिये जो उच्च विचार रखा करते हैं उनको आप स्वयं समझ सकते हैं । ये बातें कहने योग्य नहीं हैं ।

विशेषः—कुछ विद्वानों ने इस अंक के प्रसिद्ध चार श्लोकों में इस श्लोक की भी गणना की है तथा कुछ विद्वानों ने इसके स्थान पर 'अभिजनवतः' इत्यादि (श्लोक—१९) माना है ।

शार्ङ्गरवः—गृहीतः सन्देशः ।

शार्ङ्गरव—(आपका) सन्देश समझ लिया ।

काश्यपः—वत्से ! त्वमिदानीमनुशासनीयाऽसि । वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम् ।

काश्यप—पुत्री ! अब तुमको भी (कुछ) उपदेश देना है । वनवासी होते हुए भी हम लोग लोकव्यवहार से परिचित हैं ।

शार्ङ्गरवः—न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम ।

शार्ङ्गरव—वस्तुतः विद्वानों के लिये कोई भी बात उनकी पहुँच से परे नहीं होती है ।

काश्यपः—सा त्वमितः पतिकुलं प्राप्य—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने

भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।

भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥१८॥
कथं वा गौतमी मन्यते ?

अन्वयः—गुरून् शुश्रूषस्व, सपत्नीजने प्रियसखीवृत्तिं कुरु, विप्रकृता अपि रोषणतया भर्तुः प्रतीपं मा स्म गमः। परिजने भूयिष्ठं दक्षिणा भव, भाग्येषु अनुत्सेकिनी (भव)। एवं युवतयः गृहिणीपदं यान्ति, वामाः कुलस्य आधयः (भवन्ति)।

संस्कृत-व्याख्या—गुरून् = श्वश्रूश्वशुरादि गुरुजनान्, शुश्रूषस्व = सेवस्व। सपत्नीजने = समानः पतिर्यासां ताः सपत्न्यः तासां जने समूहे, प्रियसखीवृत्तिम् = प्रियसखीनामिव वृत्तिं व्यवहारं, कुरु = विधेहि। विप्रकृता अपि = अवमानिता अपि सती, रोषणतया = क्रोधावेशेन, भर्तुः = पत्युः, प्रतीपम् = प्रतिकूलम्, मा स्म गमः = न गच्छ। परिजने = आश्रितवर्गे सेवकवर्गे वा, भूयिष्ठम् = बाहुल्येन, दक्षिणा = उदारा, भव। भाग्येषु = समृद्धिषु सुखेषु वा, अनुत्सेकिनी = गर्वरहिता भव। एवम् = अनेन आचरणेन, युवतयः = रमण्यः, गृहिणीपदम् = गृहलक्ष्मीस्थानम्, यान्ति = प्राप्नुवन्ति। वामाः = प्रतिकूलाः विपरीतचारिण्यः वध्वः, कुलस्य = वंशस्य, आधयः = दुःखकारणानि भवन्ति।

काश्यप—वह तू यहाँ से पति के कुल में पहुँचकर—

अपने गुरुजनों (मान्य सास, ससुर आदि) की सेवा करना, अपनी सपत्नियों (सौतों) के साथ प्रिय सखी जैसा व्यवहार करना। अपमानित होने पर भी क्रोध के कारण आवेश में आकर पति के प्रतिकूल कार्य मत करना। अपने आश्रितों (सेवकों आदि) पर अत्यन्त उदार रहना और अपने सौभाग्य पर गर्व न करना। इस प्रकार का आचरण करने से स्त्रियाँ गृहलक्ष्मी के पद को प्राप्त कर लिया करती हैं; और इसके विरुद्ध आचरण करने वाली (स्त्रियाँ) अपने घरवालों के हृदय में दुःख उत्पन्न करने वाली होती हैं अथवा अपने कुल के लिये अभिशाप होती हैं।

अथवा (इस विषय में) गौतमी का क्या विचार है ?

व्याकरण—लौकिकज्ञाः = लोक + ठञ् (इक्) = लौकिक। लौकिक + ज्ञा + क (अ) बहुव०। शुश्रूषस्व = श्रु + सन् + लोट। 'श्रु' धातु से 'सन्' प्रत्यय होने पर "ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः" अष्टा० १।३।५७ से धातु आत्मनेपदी हो जाती है। सपत्नी = समान + पति—इस स्थिति में 'नित्यं सपत्न्यादिषु' अष्टा० ४।१।३५। से 'समान' के स्थान पर 'स' आदेश तथा पति के 'इ' के स्थान पर 'न' होने पर (स + पत् + न्) "ऋन्नेभ्यो ङीप्" अष्टा० ४।१।५। से ङीप्

होकर सपत्नी शब्द बनता है। **विप्रकृता** = वि + प्र + कृ + क्त + टाप्। **रोषण-तया** = रुष् + युच् (शील अर्थ में) = रोषण + भाव अर्थ में ता + तृतीया एकवचन। **प्रतीपम्** = प्रतिकूलं अपाम्, प्रति + अप् + अ। यहाँ "ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे" अष्टा० ५।४।७४। से समास के अन्त में 'अ' तथा "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" अष्टा० ६।३।९७। से अप् के 'अ' को ई हो जाता है। **स्म गमः** = यहाँ पर मा (माङ्) के कारण अगमः में "न माङ् योगे" अष्टा० ६।४।७४। से अडागम नहीं होता है। **भूयिष्ठ** = बहु + इष्ठन् (इष्ठ्)। यहाँ "इष्ठस्य यिट् च' अष्टा० ६।४।१५९॥ से बहु के स्थान पर 'भू" आदेश तथा 'इ' के स्थान पर 'यि' हो जाता है। **उत्सेक** = उत् + सिच् + घञ्। यहाँ "चजोः कु घिण्यतोः" अष्टा० ७।३।५२। से 'च्' के स्थान पर 'क्' हो जाता है। **वामा** = वमति स्नेहमिति, वम् + ण (अ) = वाम, स्त्रीलिंग में 'आ'। यहाँ "ज्वलतिकसन्तेभ्यो णः" अष्टा० ३।१।१४०॥ से 'ण' प्रत्यय होता अथवा "भावे" अष्टा० ३।३।१८। से घञ् प्रत्यय होता है। अथवा वामः कामः अस्त्यस्याः, वाम + अच्। **आधयः** = आ + धा + कि (इ)—यहाँ "उपसर्गे घोः किः" अष्टा० ३।३।९२। से 'कि' प्रत्यय होता है। **समास आदि**—**लौकिकज्ञाः** = लोके भवं लौकिकम्, लौकिकं जानन्तीति। **प्रियसखीवृत्तिम्** = प्रियायाः सख्यायाः वृत्तिम् (तत्पुरुष)। **सपत्न्यः** = समानः पतिः यासां ताः (बहुव्रीहि)। **आधिः** = आधीयते दुःखमनेनेति।

अलंकार—'यान्त्येवंगृहिणीपदं युवतयः—' इस सामान्य के द्वारा प्रथम तीन चरणों में वर्णित विशेष का समर्थन किये जाने से 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है। विपरीत आचरण करने वाली स्त्रियाँ 'आधि' का कारण हुआ करती हैं। यहाँ कार्य एवं कारण का अभेद वर्णित होने से 'हेतु' अलंकार है। 'वामा युवतयः' में 'कुलस्याधयः' का आरोप किये जाने से 'रूपक' अलंकार है। **छन्दः**—इसमें 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त है।

टिप्पणियाँ—**अनुशासनीया** = उपदेश देने योग्य अर्थात् अब तुझे उपदेश दिया जाना चाहिये। **अविषयः** = जो (ज्ञान का) विषय नहीं है अर्थात् अज्ञात, अगोचर। विद्वान् पुरुषों को सभी बातें ज्ञात होती हैं। **शुश्रूषस्व** = सेवा करना। शुश्रूषा का अर्थ सेवा करना होता है। **गुरून्** = अपने मान्य लोगों की। बड़ों की सेवा करना वधू का कर्तव्य है "गुरुषु भृत्यवर्गेषु नायकभगिनीषु तत्पतिषु च यथार्हं प्रतिपत्तिः।" कामसूत्र ३।१।५॥ और श्वश्रूश्वशुरपरिचर्या (३७)। **प्रियसखीवृत्तिम्** = प्रियसखी जैसा व्यवहार। **सपत्नीजने** = सौतों के साथ। शकुन्तला के भी सपत्नियाँ हैं। उनके साथ प्रिय सखी के समान आचरण करना चाहिये। "आगतां चैनां (सपत्नीं) भगिनिकावदीक्षेत्।" कामसूत्र—३।२।५॥ **विप्रकृताऽपि** = तिरस्कृत अथवा अपमानित होने पर भी। **रोषणतया** = क्रोध से अथवा क्रोध के [illegible] विरुद्ध। इसका अक्षरार्थ है—जल के प्रवाह के विपरीत चलना (प्रतिकूलं अपाम्)। अतः शब्दार्थ प्रतिकूल

ठीक ही है। पति की सेवा करना तथा उसकी आज्ञा का पालन करना पत्नी का मुख्य कर्तव्य है। प्राचीन विद्वानों का मत है :—"अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता। तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधिस्तस्योपचर्या स्वयम् ।। सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति। प्राच्यैः पुत्रि निवेदितः कुलवधूसिद्धान्तधर्मागमः ।।" **भूयिष्ठम्**=बहुत, अत्यधिक। **दक्षिणा**=उदार, नम्र अथवा अनुकूल। **भोग्येषु**=भोग्य पदार्थों अथवा समृद्धियों के होने पर (अभिमान न करना)। यहाँ पाठभेद 'भोगेषु' शब्द है—भोगों अथवा सब प्रकार के सुखों की सामग्री होने पर। **अनुत्सेकिनी**=अभिमान (घमंड रहित)। कामसूत्र में भी इनसे सम्बन्धित वर्णन आया है (१) न चोपालभेत वामतां च न दर्शयेत् ।। कामसूत्र—३।२।६८ ।। (२) भोगेष्वनुत्सेकः (सूत्र ३९) (३) परिजने दाक्षिण्यम् (सूत्र—४०)। **वामाः**= जो कर्तव्य इस श्लोक में बतलाये गये हैं, उनके विरुद्ध व्यवहार अथवा आचरण करने वाली। **आधि**=मनस्ताप, मानसिक क्लेश अथवा चिन्ता।

विशेषः—इस अंक के सर्वोत्तम श्लोकों में यह भी एक श्लोक है। इसमें ससुराल जाते समय पुत्री को पिता द्वारा दिये गये उपदेश का उल्लेख है जो कि भारतीय आदर्श एवं संस्कृति से ओत-प्रोत है। यदि इस श्लोक को ही इस अंक का सर्वोत्तम श्लोक कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नं होगी।

इस श्लोक में 'उपदिष्ट' नामक नाटकीय लक्षण भी है। इसका लक्षण—"उपदिष्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारतः" ।। सा० द० ६।१८४ ।। यहाँ पर भी शास्त्रानुकूल मनोहर वचन का कथन है।

गौतमी—[एत्तिओ बहूजणस्स उवदेसो । जादे ! एदं खु सव्वं ओधारे हि ।] एतावान् वधूजनस्योपदेशः । जाते ! एतत् खलु सर्वमवधारय ।

गौतमी—इतना ही नववधू के लिये उपदेश होता है। पुत्री ! इन सब बातों को भली भाँति समझ लो।

काश्यपः—वत्से ! परिष्वजस्व मां सखीजनं च ।

काश्यप—पुत्री ! मेरा तथा (अपनी) सखियों का आलिंगन कर।

शकुन्तला—[ताद ! इदो एव्व किं पिअंवदा अणसूआओ सहीओ णिवत्तिस्सन्ति ?] तात ! एत एव किं प्रियंवदाऽनसूये सख्यौ निवर्तिष्येते ?

शकुन्तला—पिताजी ! क्या मेरी सखियाँ प्रियंवदा और अनसूया यहीं से लौट जायेंगी ?

काश्यपः—वत्से ! इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्। त्वया सह गौतमी यास्यति।

काश्यप—पुत्री ! ये दोनों भी दी जानी हैं (अर्थात् इन दोनों का भी विवाह करना है।)। इनका वहाँ जाना उचित नहीं है। तुम्हारे साथ गौतमी जायेगी।

शकुन्तला–(पितरमाश्लिष्य) [कहं दाणिं तादस्स अंकादो परिब्भट्टा मलउतडुम्मूलिआ चन्दणलदा विअ देसन्तरे जीविअं धारइस्सं।] कथमिदानीं तातस्यांकात् परिभ्रष्टा मलयतटोन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये।

शकुन्तला—(पिता का आलिंगन करके) अब पिता की गोद से छूटी हुई मैं, मलयपर्वत के किनारे से उखाड़ी गई हुई चन्दन-लता के समान, दूसरे देश में कैसे प्राण धारण करूँगी ?

काश्यपः—वत्से ! किमेवं कातराऽसि ?

अभिजनवतो भर्त्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥१९॥

(शकुन्तला पितुः पादयोः पतति।)

अन्वयः—हे वत्से ! त्वं अभिजनवतः भर्तुः श्लाघ्ये गृहिणीपदे स्थिता, तस्य विभवगुरुभिः कृत्यैः प्रतिक्षणं आकुला, अचिरात् प्राची अर्कं इव पावनं तनयं प्रसूय च, मम विरहजां शुचं न गणयिष्यसि।

संस्कृत-व्याख्या—हे वत्से ! = हे पुत्रि त्वं अभिजनवतः = महाकुलीनस्य जनस्य, भर्तुः = पत्युः, श्लाघ्ये = प्रशंसनीये, गृहिणीपदे = गृहिण्याः पदं तस्मिन् ("गृहिणी गृहमित्याहुः" इत्युक्तेः तदीयं सर्वस्वं गार्हस्थ्यं त्वदायत्तमिति भावः।) महादेवीपदे इत्यर्थः, स्थिता = प्रतिष्ठिता सती (अथवा भर्तृस्नेहगामिनी तद् गतहृदया सती), तस्य = भर्त्तुः, विभवगुरुभिः = विभवैः समृद्धिभिः गुरुभिः महद्भिः, कृत्यैः = कार्यैः, प्रतिक्षणम् = सततं निरन्तरं वा, आकुला = व्यग्रा गुर्व्या कार्यचिन्तया व्यासक्तहृदया सती, अचिरात् = शीघ्रमेव, प्राची = पूर्वादिक्, अर्कमिव = सूर्यमिव, पावनं = पवित्रम्, तनयम् = पुत्रम्, प्रसूय = उत्पाद्य च, मम = काश्यपस्य, विरहजाम् = वियोगजनिताम्, शुचम् = शोकम्, न गणयिष्यसि = न विचारयिष्यसि।

काश्यप—हे पुत्री ! तुम इस प्रकार व्याकुल क्यों हो रही हो ?

(तुम) महाकुलीन (उत्तम कुल वाले) पति के प्रशंसनीय गृहस्वामिनी (महारानी) पद पर स्थित होकर, ऐश्वर्य (समृद्धि) के कारण महान् कार्यों में प्रतिक्षण संलग्न (अथवा चिन्तित) रहती हुई शीघ्र ही, जिस प्रकार पूर्व दिशा पवित्र सूर्य को (जन्म देती है।) उसी प्रकार पवित्र (कुल को पवित्र अथवा उन्नत करने वाले अर्थात् चक्रवर्ती) पुत्र को उत्पन्न कर मेरे वियोग से उत्पन्न शोक का अनुभव नहीं करोगी।

(शकुन्तला पिता के चरणों पर गिर पड़ती है।)

समास आदि:—**अभिजनवतः**=प्रशस्तः अभिजनः=अभिजनवान् तस्य। **गृहिणीपदे**=गृहिण्याः पदम्, तस्मिन् (तत्पुरुष)।

अलंकारः—यहाँ 'प्राची अर्कमिव' इत्यादि के द्वारा 'पूर्णोपमा' अलंकार है। "न गणयिष्यसि" के प्रति तीन कारण होने से 'काव्यलिंग' अलंकार है। तीनों कारणों का एक साथ वर्णन होने से 'समुच्चय' अलंकार है। **छन्दः**—इसमें 'हरिणी' वृत्त है।

टिप्पणियाँ—**एतावान्**=[गौतमी वृद्ध तपस्विनी है, अपने अनुभव के आधार पर वह स्त्रियों के लिये समुचित आवश्यक कर्तव्यों एवं उपदेश देने योग्य शिक्षाओं से भली भाँति परिचित है। इसी कारण ऋषि द्वारा उसकी सम्मति ('कथं वा गौतमी मन्यते' द्वारा) माँगी गई है।] इसके उत्तर में वह कहती है कि नववधुओं को जो उपदेश दिये जाने चाहिये वे इतने ही हैं। इस प्रकार गौतमी द्वारा काश्यप द्वारा दिये गये उपदेश का पूर्ण समर्थन किया गया है। **सर्वमवधारय**=ठीक-ठीक समझ लो। **इमे अपि प्रदेये**=ये दोनों भी दी जानी हैं अर्थात् इनका भी विवाह करके इनको भी किसी को देना है। यहाँ पर महाकवि ने अपने कौशल से प्रियंवदा और अनसूया को जाने से रोक लिया है। यदि वे जातीं तो संभव था कि वे दुर्वासा के शाप की बात प्रकट कर देतीं और परिणामस्वरूप उसके प्रभाव में विघ्न उपस्थित हो जाता। प्रदेये में प्र उपसर्ग का अर्थ है प्रकृष्ट रूप से। 'कन्या' विवाह में पूर्णरूप से दे दी जाती है, यही भाव है। अर्थात् विवाह का सम्बन्ध अटूट होता है। मनु ने भी कहा है:—"सकृत् कन्या प्रदीयते"। प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनुसार विवाह संस्कार द्वारा विवाहित व्यक्ति अविच्छेद्य होते थे। **मलयतटोन्मूलिता**=मलय पर्वत के किनारे से उखाड़ी गई हुई चन्दन-लता की भाँति। यहाँ पर 'चन्दनलता' शब्द से 'चन्दन के छोटे एवं कोमल वृक्ष' से तात्पर्य है। क्योंकि चन्दन का वृक्ष कोमल हुआ करता है। 'मलयतरून्मूलिता' पाठ के आधार पर "मलय पर्वत के किसी वृक्ष से अथवा चन्दनवृक्ष से उखाड़ी गई चन्दनलता के समान" अर्थ करने पर यही भाव लिया जायगा कि चन्दन के वृक्ष से उखाड़ी गई उसकी शाखा के समान।

अभिजनवतः = उच्च कुल (वंश) वाले अर्थात् कुलीन। **गृहिणीपदं** = तुम गृहिणी पद को प्राप्त कर लोगी अर्थात् महारानी बन सकोगी। **विभवगुरुभिः कृत्यैः** = ऐश्वर्य के कारण महान् अर्थात् महत्त्वपूर्ण कार्यों से। ऐश्वर्य अथवा समृद्धि के कारण तुम्हारे पास बहुत बड़े काम रहेंगे जिनमें तुम स्वयं ही संलग्न रहोगी। **प्राचीवार्कम्** = जिस प्रकार पूर्व दिशा सूर्य को जन्म देती है अर्थात् जिस भाँति सूर्य तेजस्वी, प्रतापी तथा सम्पूर्ण जगत् का हितकारी है उसी भाँति तुम्हारा पुत्र भी तेजसम्पन्न, प्रतापवान् तथा चक्रवर्ती सम्राट् होगा। **पावनम्** = पवित्र, कलंकरहित। तुम्हारा पुत्र कलंकरहित तथा धार्मिक होगा। **विरहजाम्... इत्यादि** = इस प्रकार अपने अनेक कार्यों में संलग्न रहने के कारण तुम मेरे विरह के शोक को भूल जाओगी। शकुन्तला ने कण्व से कहा था कि आपसे वियुक्त होकर मैं कैसे प्राण धारण करूँगी। इसके उत्तर में कण्व कह रहे हैं कि यह दुःख तुमको थोड़े ही समय तक रहेगा। अपने घर जाकर जब तुम गृह के कार्यों में व्यस्त हो जाओगी तथा जब तुम्हारे पुत्रोत्पत्ति हो जावेगी तब तुम मेरे विरह को भूल जाओगी।

विशेषः—इस अंक के प्रसिद्ध चार श्लोकों में से यह एक है। [कुछ विद्वानों ने इसके स्थान पर अस्मान् साधु....इत्यादि (श्लोक—१७) श्लोक स्वीकार किया है।] इसमें विदाई के समय पिता द्वारा अपनी पुत्री को सान्त्वना प्रदान करने का वर्णन किया गया है।

काश्यपः—यदिच्छामि ते तदस्तु।

काश्यप—मैं तेरे लिये जो चाहता हूँ वह (पूर्ण) हो।

शकुन्तला—(सख्यावुपेत्य) [हला ! दुवे वि मं समं एव्व परिस्सजह।] हला ! द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम्।

शकुन्तला—(दोनों सखियों के पास पहुँचकर) सखियो ! तुम दोनों ही मेरा एक साथ आलिंगन करो।

सख्यौ—(तथा कृत्वा) [सहि ! जइ णाम सो राआ पच्चहिण्णाण-मन्थरो भवे, तदो से इमं अत्तणामहेअअंकिअं अंगुलीअअं दंसेहि।] सखि ! यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्, ततस्तस्मा इदमात्मनामधेयांकितमङ्गुलीयकं दर्शय।

दोनों सखियाँ—(वैसा करके) हे सखी ! यदि वह राजा (तुम्हें) पहचानने में कुछ विलम्ब करे तो उसे अपने (उसके) नाम से अंकित यह अँगूठी दिखला देना।

शकुन्तला—[इमिणा संदेहेण वो आकम्पिदम्हि ।] अनेन सन्देहेन वामाकम्पितोऽस्मि ।

शकुन्तला—तुम्हारे इस सन्देह से तो मैं घबरा गई हूँ।

सख्यौ—[मा भाआहि। सिणेहो पापसंकी] मा भैषीः । स्नेहः पापशङ्की ।

दोनों सखियाँ—डरो नहीं। प्रेम अनिष्ट की आशंका करने वाला होता है।

शार्ङ्गरवः—युगान्तरमारूढः सविता । त्वरतामत्रभवती ।

शाङ्र्गरव—सूर्य दूसरे पहर में चढ़ गया है (दोपहर हो रहा है)। आदरणीया जल्दी करें।

शकुन्तला—(आश्रमाभिमुखी स्थित्वा) [ताद ! कदा णु भूओ तवोवणं पेक्खिस्स ?] तात ! कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये ?

शकुन्तला—(आश्रम की ओर मुख करके, खड़ी होकर) पिता जी ! अब मैं इस तपोवन को फिर कब देखूँगी ?

व्याकरण—सन्देहेन = सम् + दिह् + घञ्। सविता = सू + तृच् (तृ) ।
समास आदि—सविता = सुवति कर्मणि प्रेरयति इति। सूर्य—जो प्राणियों को कर्म करने में प्रवृत्त करता है।

टिप्पणियाँ—यदिच्छामि ते तदस्तु = मैं तेरे लिये जो कुछ अभिलाषा रखता हूँ, वे सब मेरी इच्छायें पूर्ण हों। ऋषि कण्व की इच्छाओं का पता हमें आगामी श्लोक से होता है। वहाँ उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि तू महारानी बने और चक्रवर्ती-सम्राट् पुत्र को जन्म दे। **द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम्** = दोनों सखियों के प्रति शकुन्तला का प्रेम एक-सा था। ऐसी दशा में यदि वह किसी को पहले और किसी को बाद में आलिंगन करने के लिये कहती तो कुछ भेद प्रतीत हो सकता था। अतः उसने दोनों को एक साथ ही आलिंगन करने हेतु कहा। उसके कहने का तात्पर्य है कि उसकी दोनों सखियाँ उसे एक साथ ही आलिंगन करें। **प्रत्यभिज्ञानमन्थरः** = पहिचानने में शिथिल। प्रत्यभिज्ञान शब्द भारतीय दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—"वह ज्ञान जो किसी पहले देखी हुई वस्तु को अथवा उसी के सदृश किसी अन्य वस्तु को फिर से देखने पर हो"। अथवा किसी पहले देखी हुई वस्तु को पुनः देखने पर स्मृति के आधार पर उसका स्मरण करना। जैसे—"सोऽयं कृष्णः" में "सः" शब्द स्मृति कराता है और 'अयम्' शब्द प्रत्यक्ष। दुष्यन्त से तुम्हारा परिचय पहले ही हो चुका है। अतः

तुम्हारे पहुँचने पर उसे तुमको पहचान ही लेना चाहिये किन्तु यदि वह न पहचान सके तो तुम यह अँगूठी उसको दिखला देना। इस अँगूठी रूपी अभिज्ञान के द्वारा वह तुमको निश्चित रूप से पहचान लेगा। सन्देहेन वाभाकम्पिताऽस्मि = तुम्हारे द्वारा कही गयी बात (अँगूठी दिखलाने के बारे में) से उत्पन्न हुए संदेह के कारण मैं घबरा गई हूँ। शकुन्तला का घबराना स्वाभाविक ही था। ऐसी परिस्थिति में जो भी रहेगा वह सन्देह में पड़ जाने से घबरायेगा ही। स्नेहः पापशंकी = स्नेह अमंगल की आशंका कराने वाला हुआ ही करता है। दोनों सखियाँ शकुन्तला को शापवाली घटना का संकेत नहीं देना चाहती थीं। अतः उन्होंने वास्तविकता को छिपाने के लिये कहा कि सन्देह का कोई विषय नहीं है। अँगूठी दिखलाने की बात हमने स्नेहवश ही कही है। स्नेह के कारण हम दोनों को यह आशंका है कि राजा तुमको कहीं भूल न गया हो। अतः यदि ऐसी परिस्थिति आवे तो अँगूठी दिखला देना। जब अपना प्रियजन परदेश जाता है तो स्नेही पारिवारिक जनों के मन में इसकी आशंकाओं का उत्पन्न होना स्वाभाविक हुआ करता है कि कहीं ऐसा न हो जाय, कहीं वैसा न हो जाय। इस प्रकार अनिष्ट सम्बन्धी बातें ही मन में आया करती हैं। युगान्तरमारूढः सविता = सूर्य आकाश के दूसरे विभाग (युग) में चढ़ गया है। 'युग' से भाव प्रहर का है। यह युग अथवा प्रहर ३ घंटे का होता था। दिन रात में ८ युग होते थे। इस प्रकार प्रथम युग ६ बजे से ९ बजे तक रहता था और दूसरा युग ९ बजे से प्रारम्भ होता था। दिन में चार और रात्रि में चार युग होते थे। दिन के समान ही सूर्य द्वारा लांघा जाने वाला आकाश भी संभवतः चार विभागों में बटा हुआ रहता होगा। इस आधार पर युगान्तरम् का अर्थ होगा— आकाश का दूसरा विभाग। तात्पर्य यह है कि द्वितीय प्रहर प्रारम्भ हो चुका है।

काश्यपः—श्रूयताम्—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥२०॥

अन्वयः—चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी भूत्वा, अप्रतिरथं दौष्यन्तिं तनयं निवेश्य, तदर्पितकुटुम्बभरेण भर्त्रा सार्धं शान्ते अस्मिन् आश्रमे पुनः पदं करिष्यसि।

संस्कृत-व्याख्या—चिराय = बहुकालपर्यन्तम्, चतुरन्तमहीसपत्नी = चत्वारः समुद्राः अन्ताः अवधयः यस्याः सा चतुःसमुद्रपर्यन्ता इत्यर्थः तथाविधा या मही पृथिवी तस्याः सपत्नी समानम् का भर्ता, अप्रतिरथम् = न विद्यते प्रतिरथः स्वसमानयोद्धा यस्य तादृशम् = अद्वितीयवीरमित्यर्थः, दौष्यन्तिम् =

दुष्यन्तस्य अपत्यं पुमान् दौष्यन्तिस्तम्, तनयम् = दुष्यन्तसुतं भरतमित्यर्थः, निवेश्य = राज्ये स्थापयित्वा; तदर्पितकुटुम्बभरेण = तस्मिन् पुत्रे अर्पितः प्रदत्तः कुटुम्बस्य पोष्यवर्गस्य भरः भारः येन तादृशेन, भर्त्रा = पत्या दुष्यन्तेन, सार्धम् = सह, शान्ते = शमप्रधाने विषयचिन्तारहिते, अस्मिन् आश्रमे = अस्मिन् तपोवने, पुनः = भूयोऽपि, पदम् = स्थानं निवासमित्यर्थः, करिष्यसि = विधास्यसि।

काश्यप—सुनो—

चिरकाल पर्यन्त चारों समुद्रों तक व्याप्त पृथ्वी की सपत्नी (सौत) रहकर, अद्वितीय वीर दुष्यन्त के पुत्र भरत को राज-सिंहासन पर बिठाकर (तथा) परिवार के भार को उस पर डाल कर अपने पति दुष्यन्त के साथ इस शान्त आश्रम में पुनः आकर रहोगी।

अलंकार—इस श्लोक में शकुन्तला के विषय में महीसपत्नीत्वं का, फिर मही पर पुत्र को बिठाने और तदनन्तर उस पुत्र पर कुटुम्ब के भार को रखने आदि अनेक का एक के साथ यथोत्तर क्रमिक सम्बन्ध वर्णित होने से 'मालादीपक' अलंकार है—"तन्मालादीपकं पुनः। धर्मिणामेकधर्मेण सम्बन्धो यद् यथोत्तरम्॥" साहित्यदर्पण १०।७७॥ **छन्दः**—इसमें 'वसन्ततिलका' वृत्त है।

व्याकरण—दौष्यन्ति = दुष्यन्त + इञ् (इ)। यहाँ पुत्र अर्थ में 'अत इञ्' अष्टा० ४।१।९५। से 'इञ्' होता है। **निवेश्य** = नि + विश + णिच् + ल्यप्। **समास आदि**—**चतुरन्तमहीसपत्नी** = चत्वारः अन्ताः यस्याः (बहुव्रीहि) तादृश्याः मह्याः सपत्नी (तत्पुरुष)। **अप्रतिरथम्** = न विद्यते प्रतिरथः यस्य सः तम् (बहुव्रीहि)। प्रतिरथः—प्रतिगतः रथः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **तदर्पित कुटुम्बभरेण** = तस्मिन् अर्पितः कुटुम्बस्य भरः येन तेन (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**चिराय** = यह एक अव्यय है। इसका अर्थ है:—बहुकाल पर्यन्त। **चतुरन्तमहीसपत्नी** = इसके दो प्रकार के अर्थ संभव हैं (१) चारों समुद्र जिसकी सीमा हैं अथवा (२) चारों दिशाओं के अन्तिम भाग ही जिसकी सीमा हैं, इस प्रकार की पृथ्वी की सपत्नी (सौत) होकर। **दौष्यन्तिम्** = दुष्यन्त के पुत्र को। यहाँ भावी पुत्र 'भरत' से तात्पर्य है जिसकी उत्पत्ति अभी तक न हो सकने के कारण नामकरण नहीं किया जा सका है। **अप्रतिरथम्** = जिसकी प्रतिद्वन्द्विता करने वाला कोई भी योद्धा विश्व में नहीं है ऐसा। **प्रतिरथ** = विरोधी, प्रतिद्वन्द्वी अथवा विपक्षी। **निवेश्य** = राज्य सिंहासन पर बिठाकर। **तदर्पितकुटुम्बभरेण** = उस पर डाला है कुटुम्ब का भार जिसने ऐसे पति के साथ। प्राचीन काल में भारतवर्ष में इस प्रकार की परम्परा थी कि राजा लोग वृद्धावस्था के आ जाने पर राज्य का भार अपने बड़े पुत्र को सौंपकर वन को चले जाया करते थे तथा वहाँ वानप्रस्थी बनकर तपस्वी का जीवन व्यतीत किया करते थे। मनुस्मृति में इस परम्परा का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है:—

गृहस्थस्तु यदा पश्यद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ॥

विशेषः--इस अंक के सर्वश्रेष्ठ चार श्लोकों में से यह भी एक श्लोक है।

गौतमी--[जादे ! परिहीअदि गमणवेला । णिवत्तेहि पिदरं । अहवा चिरेण वि पुणो पुणो एसा एव्वं मन्तइस्सद । णिवत्तदु भवं ।] जाते ! परिहीयते गमनवेला । निवर्तय पितरम् । अथवा चिरेणापि पुनः पुनरेषैवं मन्त्रयिष्यते । निवर्त्ततां भवान् ।

गौतमी--पुत्री ! चलने का समय बीतता जा रहा है। (अपने) पिता को लौटा दो। अथवा यह (शकुन्तला) तो बहुत समय तक बार-बार ऐसे ही कहती रहेगी। (अतः) आप लौटिये।

काश्यपः--वत्से ! उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम् ।

काश्यप--पुत्री ! मेरा तप का अनुष्ठान रुक रहा है।

शकुन्तला--(भूयः पितरमाश्लिष्य) [तवच्चरणपीडिदं तादसरीरं । ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कंठिदुं ।] तपश्चरण-पीडितं तातशरीरम् । तन्मातिमात्रं ममकृत उत्कण्ठितुम् ।

शकुन्तला--(पुनः पिता से चिपटकर) आपका शरीर तपस्या के कारण अति दुर्बल हो गया है। (अतः) अब आप मेरे लिये अधिक दुःखी न होइये।

काश्यपः--(सनिःश्वासम्)

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम् ।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥२१॥

गच्छ । शिवास्ते पन्थानः सन्तु ।

(निष्क्रान्ता शकुन्तला सहयायिनश्च ।)

अन्वयः--वत्से ! त्वया रचितपूर्वम् उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः मम शोकः कथं नु शमं एष्यति ।

संस्कृत-व्याख्या--वत्से ! = हे पुत्रि ! त्वया = शकुन्तलया, रचितपूर्वम् = पूर्वं प्राक् पक्षिणां भक्षणाय रचितम्, उटजद्वारविरूढम् = उटजस्य पर्णशालायाः

द्वारे सम्मुखे विरूढम् तोयसम्पर्केणांकुरितम्, नीवारबलिम् = नीवारस्य वन्य-धान्यस्य बलिं पूजोपहारम्, विलोकयतः = यातायातकाले मुहुः पश्यतः, मम = कण्वस्य, शोकः = विषादः, कथमनु = केन प्रकारेण, शमम् = शान्तिम्। एष्यति = प्राप्स्यति। न कथमपि शान्तिम् प्राप्स्यतीति भावः।

काश्यप—(लम्बी साँस लेकर)

हे पुत्री! तेरे द्वारा पहले पूजा के रूप में डाले गये और अब कुटी के द्वार पर उगे हुए नीवार के उपहार को देखते हुए मेरा शोक किस भाँति शान्त हो सकेगा? जाओ। तेरा मार्ग मंगलमय (कल्याणकारी) होवे।

(शकुन्तला और उसके साथ जाने वालों का प्रस्थान।)

अलंकार—उपर्युक्त श्लोक में 'काव्यलिंग' अलंकार है। छन्दः—इसमें 'आर्या' छन्द है।

व्याकरण—**उपरुध्यते** = उप + रुध् + लट्। **परिहीयते** = परि + हा + लट्। **समास आदि** = **गमनवेला** = गमनस्य वेला (तत्पुरुष)। **तपोऽनुष्ठानम्** = तपसः अनुष्ठानम् (तत्पुरुष)। **तपश्चरणपीडितम्** = तपश्चरणेन पीडितम् (तत्पुरुष)। **रचितपूर्वम्** = पूर्वं रचितमिति।

टिप्पणियाँ—**परिहीयते** = छोड़ रहा है। अर्थात् जाने का समय बीत रहा है अथवा जाने के समय में विलम्ब हो रहा है। **उपरुध्यते** = (मेरा तप का अनुष्ठान) रुक रहा है। मुझे जाने दो। इससे प्रतीत होता है कि ऋषि कण्व अपने तपस्या के कार्य में बड़े नियमित थे। **तपश्चरणपीडितं...इत्यादि** = ऋषि कण्व के लिये शकुन्तला के हृदय में कितना स्नेह है। वह नहीं चाहती कि उसके विरह से उसका पिता कण्व किसी भी प्रकार दुःखी हो। अतः वह कहती है कि आप तो तपस्या के कारण ही अति दुर्बल हो रहे हैं, अब मेरे लिये अधिक दुःख करके आप दुःखित न होइयेगा। **शममेष्यति** = ऋषि कण्व ने ऋषिजनों के लिये उपयुक्त भाषा में ही अपने दुःख को अभिव्यक्त किया है। भाषा एवं भाव की दृष्टि से यह श्लोक अपने में पूर्ण है। वियोग एवं शोक के भाव का इसमें सुन्दर चित्रण हुआ है। वे कहते हैं:—तेरे द्वारा फेंके गये पूजा के नीवार जो इस समय पर्णशाला के सम्मुख उग आये हैं, उन्हें आते-जाते समय पुनः-पुनः देखते हुए मेरा दुःख किस प्रकार शान्त हो सकेगा? जब-जब उन पर दृष्टि पड़ेगी तब-तब तेरा स्मरण आ ही जाया करेगा। **रचितपूर्वम्** = (तेरे द्वारा) पहले डाले गये हुए। **विरूढम्** = उगे हुए, अंकुरित हुए। **नीवारबलिम्** = पक्षियों के खाने के लिये डाला गया हुआ नीवार नामक धान्य। यहाँ पर बलि शब्द का प्रयोग बलिवैश्वदेव अथवा भूतयज्ञ के लिये दिये जाने वाले अन्न के लिये प्रयुक्त नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि वह तो सिद्ध (पकाया हुआ) अन्न होता है। सिद्धान्न अंकुरित हो ही नहीं सकता है। और यहाँ पर ... अंकुरित हो रहे हैं,

इस प्रकार का वर्णन है। अतः यहाँ पर प्रयुक्त 'बलि' शब्द तपोवन की कन्याओं द्वारा वहाँ के पशु-पक्षियों के खाने के निमित्त डाले गये कच्चे नीवार नामक धान्य का ही बोधक है। शिवास्ते पन्थानः सन्तु=तेरे मार्ग कल्याणकारी हों। संस्कृत-साहित्य में विदा के समय दिये गये आशीर्वाद के रूप में इस वाक्य का प्रयोग प्रचुरता के साथ उपलब्ध होता है।

सख्यौ—(शकुन्तलां विलोक्य) [हद्धी, हद्धी। अन्तलिहिदा सउन्दला वणराईये।] हा धिक्, हा धिक्। अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या।

दोनों सखियाँ—(शकुन्तला को देखकर) हाय, हाय। वृक्षों की पंक्ति के कारण शकुन्तला ओझल हो गई।

काश्यपः—(सनिःश्वासम्) अनसूये ! गतवती वां सहचारिणी। निगृह्य शोकमनुगच्छन्तं मां प्रस्थितम्।

काश्यप—(लम्बी साँस लेकर) अनसूया ! तुम दोनों की सखी चली गई। शोक को रोककर (आश्रम की ओर) प्रस्थान करने वाले मेरे पीछे-पीछे आओ।

उभे—[ताद ! सउन्दलाविरहिदं सुण्णं विअ तवोवणं कहं पविसामो।] तात ! शकुन्तला-विरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः ?

दोनों—पिताजी ! शकुन्तला से रहित इस शून्य तपोवन में कैसे प्रवेश करें ?

काश्यपः—स्नेह प्रवृत्तिरेवंदर्शिनी। (सविमर्शं परिक्रम्य) हन्त भोः, शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्।

कुतः—,

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो[1] ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥२२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति चतुर्थोऽङ्कः।

पाठभेद—१. जातोऽस्मि सद्यो विशदान्तरात्मा चिरस्य निक्षेपमिवार्पयित्वा।

अन्वयः—कन्या हि परकीयः एव अर्थः, अद्यतां परिग्रहीतुः संप्रेष्य मम अयं अन्तरात्मा प्रत्यर्पितन्यास इव प्रकामं विशदः जातः।

संस्कृत-व्याख्या—कन्या = दुहिता, हि = निश्चयेन, परकीय एव = परस्यैव, अर्थः = धनमस्ति। अद्य ताम् = शकुन्तलाम्, परिग्रहीतुः = परिणेतुः समीपे, सम्प्रेष्य = विसृज्य, मम = कण्वस्य, अयम् = एषः, अन्तरात्मा = मनः, प्रत्यर्पितन्यासः = प्रत्यर्पितः स्वामिने पुनर्रर्पितः न्यासः निक्षेपः येन स, इव = तद्वत्, प्रकामम् = अत्यधिकम्, विशदः = निर्मलः (प्रसन्नः इति भावः), जातः = अभवम् परधनरक्षणचिन्तया इयद्दिनमप्रसन्नं मनः अद्य प्रसन्नं जातम्।

काश्यप—(तुम्हारी) प्रेम की प्रवृत्ति ऐसा दिखला रही है। (सोच-विचारपूर्वक चारों ओर घूमकर) अहा, शकुन्तला को पति के घर भेजकर अब मुझे स्वस्थता (मानसिक शान्ति) प्राप्त हुई है। क्योंकि :—

वस्तुतः कन्या दूसरे का ही धन है। आज उसको उसके पति के समीप भेज कर मेरी यह अन्तरात्मा उसी प्रकार अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव कर रही है, जैसे धरोहर के लौटा देने पर (धरोहर रखने वाले व्यक्ति का अन्तरात्मा प्रसन्न हुआ करता है।)

(सब चले जाते हैं।)

चतुर्थ अंक समाप्त।

व्याकरण—**अन्तर्हिता** = अन्तर + धा + क्त + टाप्। यहाँ 'धा' के स्थान पर 'हि' हो जाता है। **सहचारिणी** = सह + चर् + णिनि। **निगृह्य** = नि + ग्रह् + ल्यप्। **एवंदर्शिनी** = एवम् + दृश् + णिच् + णिनि (ताच्छील्य अर्थ में)। ***समास आदि***—**सहचारिणी** = सह चरतीति। **स्नेहप्रवृत्तिः** = स्नेहस्य प्रवृत्तिः (तत्पुरुष)। **एवंदर्शिनी** = एवं दर्शयतीति। **स्वास्थ्यम्** = स्वस्थो निश्चिन्तस्तस्य भावः स्वास्थ्यम्। **प्रत्यर्पितन्यासः** = प्रत्यर्पितः न्यासः येन स (बहुव्रीहि)।

अलंकार—इस श्लोक में इव शब्द उत्प्रेक्षावाचक है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है। **छन्दः**—इसमें इन्द्रवज्रा वृत्त है।

टिप्पणियाँ—**अन्तर्हिता** = छिप गई, ओझल हो गई। **वनराज्या** = वन की पंक्तियों से अर्थात् वन में स्थित पेड़ों की ओट में आ जाने से। **सहचारिणी** = साथी, साथ रहने वाली—सखी। यहाँ पर कुछ संस्करणों में 'सहधर्मचारिणी' पाठ मिलता है जो कि अनुपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि सहधर्म-चारिणी का वास्तविक अर्थ 'पत्नी' होता है। **निगृह्य** = रोक कर। **शून्यमिव तपोवनम्** = शकुन्तला के न होने से खोखला सा हो गया है। प्रिय व्यक्ति के चले जाने

पर इसी प्रकार की अनुभूति हुआ करती है। स्नेहप्रवृत्तिः = स्नेह का भाव अथवा प्रेम का संचार। यह भाव ही वस्तुओं को ऐसा दिखलाता है कि उसके बिना सभी स्थान शून्य से प्रतीत हुआ करते हैं। हन्त = यह अव्यय इस स्थान पर हर्ष-सूचक अर्थ में प्रयुक्त है। स्वास्थ्यम् = निश्चिन्तता अथवा मानसिक शान्ति। परिग्रहीतुः = (यज्ञाग्नि) के चारों ओर ले जाने वाले। संस्कार के समय पति ही हाथ पकड़कर अग्नि के चारों ओर प्रदक्षिण करता है अतः वही परिग्रहीता हुआ। परिणेता शब्द का भी यही अर्थ होता है। अतः यहाँ 'पति के पास' अर्थ है। विशदः = निर्मल अर्थात् प्रसन्न। प्रत्यर्पितन्यासः = लौटा दी है धरोहर जिसने। वस्तुतः कन्या धरोहर के ही रूप में पिता के घर रहा करती है। वह तो दूसरे का ही धन होती है। जैसे धरोहर का रखनेवाला व्यक्ति धरोहर को उसके स्वामी को दे देने के पश्चात् शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव किया करता है (क्योंकि धरोहर की रक्षा रूप उत्तरदायित्व से वह मुक्त हो जाया करता है) वैसे ही कन्या को उसके पति के समीप भेज देने के पश्चात् उसके प्रति उत्तरदायी (पिता-माता आदि) व्यक्तियों को भी महान् शान्ति एवं प्रसन्नता का अनुभव हुआ करता है। यहाँ पर ऋषि कण्व (काश्यप) ऐसा अनुभव कर रहे हैं कि मानो उनके सिर से बहुत बड़ा बोझ उतर गया हो। तद्विषयक चिन्ता से वे अब मुक्त हो गये हैं।

इत्यभिज्ञानशाकुन्तलस्याचार्यसुरेन्द्रदेवकृतायां

'आशुबोधिनी' व्याख्यायां

चतुर्थोऽङ्कः समाप्तः ॥

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च ।)

विदूषकः—(कर्णं दत्वा) [भो वअस्स संगीतसालंतरे अवधाणं देहि । कलविसुद्धाए गीदीए सरसंजोओ सुणीअदि । जाणे तत्त होदी हंसवदिआ वण्णपरिअअं करेदित्ति ।] भो वयस्य संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि । कलविशुद्धायाः गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते । जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति ।

(तदनन्तर आसन पर स्थित राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं ।)

विदूषक—(कान लगाकर—सुनकर) हे मित्र ! संगीतशाला के अन्दर की ओर ध्यान दीजिये । सुन्दर (मधुर) और विशुद्ध गीति का स्वरालाप सुनाई दे रहा है । मैं समझता हूँ कि श्रीमती हंसपदिका (रानी) संगीत का अभ्यास कर रही हैं ।

राजा—तूष्णीं भव । यावदाकर्णयामि ।

राजा—चुप रहो, मैं भी सुनता हूँ ।

(आकाशे गीयते ।)

[अहिणवमहुलोलुवो [1]तुमं
तह परिचुंबिअ चूअमंजरिं ।
कमलवस इमेत्तणिव्वुदो
महुअर ! विम्हरिओ सि णं कहं ? ॥१॥]

अभिनवमधुलोलुपस्त्वं
तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम् ।
अमलवसतिमात्रनिर्वृतो
मधुकर ! विस्मृतोऽस्येनां कथम् ? ॥१॥

पाठभेद—१. भवान् [भवं] आप ।

अन्वयः—हे मधुकर ! अभिनवमधुलोलुपः त्वं चूतमञ्जरीं तथा परिचुम्ब्य कमलवसतिमात्रनिर्वृतः एनां कथं विस्मृतः असि ।

संस्कृत-व्याख्या—हे मधुकर ! = हे भ्रमर ! [भो राजन् ! इति व्यङ्ग्यार्थः], अभिनवमधुलोलुपः = अभिनवं नूतनं (अनास्वादितरसमित्यर्थः) यद् मधु पुष्परसः तस्य लोलुपः अभिलाषी [प्रणयरसस्य अभिलाषी इति व्यंग्यार्थः], त्वम्, चूतमञ्जरीम् = चूतस्य सहकारस्य आम्रस्य मञ्जरीं नवजात-वल्लरीम् [नवयौवनां मां इति व्यंग्यार्थः], तथा = तेन प्रकारेण, परिचुम्ब्य = परितः समन्तात् चुम्बित्वा रसास्वादनं कृत्वा, कमलवसतिमात्रनिर्वृतः = कमले विकसित पद्मे [गतप्राययौवनायां देव्यां वसुमत्यां इति व्यंग्यार्थः] वसतिः निवासः तन्मात्रेण [देवी साहचर्यमात्रेण इति व्यंग्यार्थः] निर्वृतः सन्तुष्टः सन्, एनाम् = आम्रमञ्जरीम् [माम् इति व्यंग्यार्थः], कथम् = केन कारणेन, विस्मृतोऽसि = न स्मरसि ।

(आकाश में गाया जाता है ।)

हे भ्रमर ! नवीन पुष्प-रस के लोभी तुम आम्र की मंजरी (बौर) का उस प्रकार चुम्बन (रसास्वादन) करके (अब) कमल में निवासमात्र से सन्तुष्ट होकर इसे (आम्रमंजरी को) किस कारण भूल गये हो ?

इस श्लोक का व्यंग्यार्थ यह है (हंसपदिका के गान का वास्तविक तात्पर्य) कि तुम अब महारानी वसुमती से प्रेम करने के कारण मुझ हंसपदिका को क्यों भूल गये हो ?

अलंकार—इसमें अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है । **छन्दः**—इसमें अपरवक्त्र वृत्त है ।

व्याकरण—लोलुपः = लुप् + यङ + अच् (कर्त्तरि) । **विस्मृतः** = वि + स्मृ + क्त । **समास आदिः**—संगीतशालान्तरे = संगीतं गीतादित्रयं तस्य शाला गृहं तस्यान्तरे । कलविशुद्धायाः = कला विशुद्धा च इति कलविशुद्धा तस्याः ।

टिप्पणियाँ—संगीतशालान्तरे = संगीतशाला के अन्दर । इसके द्वारा ज्ञात होता है कि उच्च परिवारों की स्त्रियाँ कालिदास के समय में संगीत सीखा करती थीं । कलविशुद्धायाः = 'कल' का अर्थ है मधुर और अस्पष्ट ध्वनि । 'विशुद्ध' शब्द का अर्थ है निर्दोष अथवा त्रुटिरहित अथवा विशुद्ध नामक गीतिका । गीति के पाँच प्रकारों में से यह भी एक प्रकार है । इसमें सरल तथा ललित स्वरों का संयोग रहता है । "गीतयः पञ्च शुद्धाख्या भिन्ना गौड़ा निवेसरा । साधारणी विशुद्धा स्यादवक्रैर्ललितैः स्वरैः ॥" संगीतरत्नाकर ॥ **स्वरसंयोगः** = (गाने के) स्वरों का [illegible] तान । स्वर सात माने गये हैं :—षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद । इन्हीं के प्रथम-प्रथम अक्षरों

को लेकर स, रे, ग, म, प, ध, नि स्वर कहे जाते हैं। **हंसपदिका** = राजा दुष्यन्त की एक रानी का नाम। **वर्णपरिचयम्** = स, रे, ग, म, इत्यादि वर्णों का आरोह, अवरोह, स्थायी तथा संचारी—इन चार रूपों में अभ्यास करना। (हंसपदिका उपर्युक्त प्रकारों से अभ्यास कर रही है।)

"गानक्रियोच्यते वर्णः स चतुर्धा निरूपितः।
स्थाय्यारोह्यवरोही च संचारी च...॥" संगीतरत्नाकर।
"स्थायी तथैव संचारी तथा रोहावरोहणौ।
वर्णाश्चत्वार एवैते कथिताः सर्वगीतिषु"॥ नाट्यशास्त्र।

अभिनवमधुलोलुपः = नये नये पुष्परस (मधु) का लोभी। **चूतमञ्जरीम्** = आम के बौर को। **परिचुम्ब्य** = चूमकर अर्थात् उसका रस लेकर अथवा उसका उपभोग करके। **कमलवसतिमात्रनिर्वृतः** = कमले वसतिमात्रेण निवृतः। कमल में रहने मात्र से (अर्थात् उसका उपभोग न करके) ही सन्तुष्ट।

विशेष द्रष्टव्य—यहाँ दुष्यन्त ही भ्रमर है, शकुन्तला आम्रमंजरी है। शकुन्तला का रसपान (अर्थात् संभोगादि करके) राजा अपनी राजधानी में वापिस आ गया है। यहाँ आकर वह अपने अन्तःपुर की स्त्रियों में मग्न हो गया है और शकुन्तला को भूल गया है। इस प्रकार यह ध्वनि भी उपर्युक्त श्लोक से प्रतिध्वनित हो रही है। अतः संभव है कि महाकवि ने शकुन्तला के स्मरण दिलाने हेतु उक्त श्लोक को रखा हो। यहाँ राजा द्वारा शकुन्तला का स्मरण न किया जाना दुर्वासा द्वारा दिये गये शाप के पूर्ण-प्रभाव का भी द्योतक है।

यहाँ पर 'क्षिप्ति' नामक 'गर्भसन्धि' का अंग है। लक्षण—"रहस्यार्थस्य तद्भेदः क्षिप्तिः स्यात्"॥ साहित्य द० ६।९९॥ दशरूपक के आधार पर यहाँ 'आक्षेप' नामक गर्भसन्धि का अंग भी है। "गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः॥" दशरूपक॥१।४२॥ यहाँ पर तृतीय पताका स्थानक है—लक्षण—"अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत्। श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते"॥ सा० द० ६।४८॥ इसके अतिरिक्त यहाँ लास्य का 'प्रच्छेदक' नामक अंग भी है।

लक्षण—"अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना।
वीणापुरःसरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः॥ सा० द० ६।२१८॥

राजा—अहो रागपरिवाहिनी गीतिः।

राजा—अहा, अनुराग बरसाने वाला (यह) गीत है।

विदूषकः—[किं दाव गीदीए, अवगओ अक्खरत्थो।] किं तावद् गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः।

विदूषक—क्या आपने गीत के (वास्तविक) अभिप्राय को समझ लिया ?

राजा——(स्मितं कृत्वा) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः । तदस्या देवीं वसुमतीमन्तरेण महदुपालम्भनं गतोऽस्मि । सखे माढव्य ! मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका——निपुणमुपालब्धोऽस्मीति ।

राजा——(मुस्कराकर) इस व्यक्ति (हंसपदिका) से मैंने केवल एक वार ही प्रणय किया था। अतः इसने महारानी वसुमती को लक्ष्य में करके मुझे बहुत बड़ा उलाहना (ताना) दिया है। मित्र माढव्य ! मेरी ओर से हंसपदिका से कहना कि उसने बड़ी चतुरता से मुझे उलाहना दिया है।

विदूषकः——[जं भवं आणवेदि । भो वअस्स ! गहीदस्स ताए परकीएहिं हत्थेहिं सिहण्डए ताडीअमाणस्स अच्छराए वीदराअस्स विअ णत्थि दाणिं मे मोक्खो ।] यद् भवानाज्ञापयति (उत्थाय) भो वयस्य ! गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके ताडचमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः ।

विदूषक——आपकी जैसी आज्ञा। (उठकर) हे मित्र ! किसी अप्सरा द्वारा पकड़े गये विरक्त (संन्यासी) के सदृश मेरा उस (हंसपदिका) के द्वारा दूसरों (अर्थात् सेविकाओं आदि) के हाथों से चोटी पकड़े जाने और पीटे जाने पर अब किसी भाँति छुटकारा नहीं होगा।

राजा——गच्छ, नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम् ।

राजा——जाओ, शिष्ट-व्यवहार द्वारा उसे यह वतला देना।

विदूषकः——[का गई ?] का गतिः ?

विदूषक——कोई चारा (मार्ग) नहीं है।

(इति निष्क्रान्तः)

(यह कहकर चला जाता है।)

व्याकरण——**प्रणयः**=प्र+नी+अच् (अ) । **नागरिक**=नगर+ठञ् (इक्) । **समास आदिः**——**रागपरिवाहिणी**=रागं परिवहतीति । **सकृत्कृतप्रणयः**——सकृत् कृतः प्रणयः यस्मिन् सः (बहुव्रीहि) । **नागरिकवृत्त्या**=नगरे भवः नागरिकः तस्य वृत्त्या (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ——**रागपरिवाहिणी**=राग अर्थात् अनुराग (प्रेम) को फैलाने वाला संगीत अथवा राग एवं स्वरों के प्रवाह से युक्त संगीत। **अक्षरार्थः**= कहे गये हुए अक्षरों का (अर्थात् इस पद्य का जिसे अभी हंसपदिका ने गाया है।)

भाव । **सकृत्कृतप्रणय**=एक वार ही किया गया है प्रेम जिसके प्रति (अर्थात् मैंने [राजा ने] जिससे एक वार ही प्रेम किया है।) **देवीं वसुमतीमन्तरेण**= अब मैं महारानी वसुमती से ही स्नेह करता हूँ, इसलिये इसने मुझे यह बहुत बड़ा उलाहना दिया है। यहाँ 'देवी' शब्द महारानी के लिये ही आया है क्योंकि विधि-विधान के अनुसार महारानी को 'देवी' शब्द से तथा अन्य रानियों को 'भट्टिनी' शब्द द्वारा ही कहा जाता था--"देवी कृताभिषेकायामितरासु च भट्टिनी" ॥ साहित्यदर्पण ॥ राजा के इन शब्दों से--राजा द्वारा दुर्वासा के शाप से प्रभावित होकर शकुन्तला का भूल जाना भी प्रतिध्वनित होता है। **निपुणम्**=बड़ी चतुरता से (मुझे उलाहना दिया गया है)। **परकीयैः हस्तैः**= दूसरों के हाथों से अर्थात् दासियों द्वारा। इस वाक्य में 'वीतरागस्य' तथा 'मोक्ष' शब्दों के दो-दो अर्थ हैं:--**वीतरागस्य**= (जैसे कोई अप्सरा किसी विरक्त संन्यासी को फँसा लेती है और परिणामस्वरूप फिर उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।) **वीतराग**= विदूषक के पक्ष में--प्रेमरहित। संन्यासी के पक्ष में-- विरक्त अथवा सांसारिक विषयों से निर्लिप्त। **मोक्ष**=विदूषक के पक्ष में-- छुटकारा। संन्यासी के पक्ष में--मुक्ति अथवा परमधाम (मोक्ष)। **शिखण्डक** =चोटी। **नागरिकवृत्त्या**=नागरिक शब्द का अर्थ है--नगर में निवास करने वाला। नगरनिवासी साधारणतया शिष्ट, चतुर तथा सभ्य माने जाते हैं। अतः नागरिक वृत्त्या का अर्थ है--शिष्ट पुरुषों के ढंग से अर्थात् शिष्टता के साथ। **का गतिः**= यह एक प्रकार का मुहावरा है। इसका अर्थ तथा भाव है--क्या किया जाय, अन्य कोई चारा नहीं है, मेरे लिये कोई अन्य रास्ता भी नहीं है। अतः विवश होकर यह तो करना ही होगा।

राजा--(आत्मगतम्) किं नु खलु गीतमेवं[१] विधार्थमाकर्ण्येष्ट-जनविरहाद् ऋतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि ।

अथवा--

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति[२] यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥२॥
(इति पर्याकुलस्तिष्ठति ।)

पाठभेद--१--गीतार्थम्=गीत के अर्थ को । पर्युत्सुकोभवति--उत्कण्ठित होता है।

अन्वयः— रम्याणि वीक्ष्य मधुरान् शब्दान् च निशम्य सुखितः अपि जन्तुः यत् पर्युत्सुकः भवति, तत् नूनं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि अबोधपूर्वं चेतसा स्मरति ।

संस्कृत-व्याख्या—रम्याणि = मनोहराणि, वस्तूनि, वीक्ष्य = दृष्ट्वा, मधुरान् = श्रुतिसुखदान्, शब्दान् = संगीतादीन् च, निशम्य = श्रुत्वा, सुखितः अपि = सुखयुक्तः अपि, जन्तुः = प्राणी, यत् पर्युत्सुकः भवति = उत्कण्ठितः क्षुब्धो वा भवति, तत् नूनम् = निस्सन्देहम्, भावस्थिराणि = भावैः संस्कारैः स्थिराणि दृढ़रूपेण विद्यमानानि (अथवा भावे हृदये स्थिराणि बद्धमूलानि), जननान्तर-सौहृदानि = जननान्तराणां पूर्वेषां जन्मनां सौहृदानि प्रियाणि, अबोधपूर्वम् = न बोधो ज्ञानं पूर्वं यथास्यात्तथा, चेतसा = मनसा, स्मरति = स्मृतिमात्रं भवति स्मृतेः विषयस्य बोधो न जायते ।

राजा—(मन में) इस प्रकार के भावपूर्ण गीत को सुनकर प्रिय जन के वियोग के बिना भी मैं क्यों अत्यधिक व्याकुल हो रहा हूँ ? अथवा—

सुन्दर वस्तुओं को देखकर तथा मधुर शब्दों का श्रवणकर एक सुखी प्राणी भी जो उत्कण्ठित (क्षुब्ध) हो जाता है, वह निस्संदेह (अपने हृदय में) संस्कार के रूप में स्थित पूर्वजन्मों के प्रेम-व्यवहारों को, ठीक-ठीक जाने बिना ही (अनजाने में ही) अपने मन से याद किया करता है ।

(व्याकुलता के साथ बैठता है ।)

अलंकार—यहाँ उत्तरार्ध में विद्यमान सामान्य अर्थ का पूर्वार्ध में स्थित विशेष के द्वारा समर्थन किये जाने के कारण 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार है । पूर्वार्ध के प्रति उत्तरार्ध के कारण होने से 'काव्यलिंग' अलंकार है । बोधरूपी कारण के न होने पर भी स्मरण रूपी कार्य के होने से इसमें 'विभावना' अलंकार भी है । **छन्द** :—इसमें वसन्ततिलका वृत्त है ।

व्याकरण—**आकर्ण्य** = आ + कर्ण + णिच् + ल्यप् । **सौहृदानि** = सौहृद रूप दो प्रकार से बनता है । (१) सुहृदय शब्द को मित्र अर्थ में "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" अष्टा० ५।४।१५० ॥ से सुहृद् आदेश हो जाने पर 'अण्' प्रत्यय करके प्रथम स्वर की वृद्धि हो जाने पर 'सौहृद' बनता है । सुहृद् शब्द के लाक्षणिक होने से "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" अष्टा० ७।३।१९ ॥ से उभय-पद-वृद्धि नहीं होगी । (२) सुहृदय शब्द से 'अण्' प्रत्यय होने पर "हृदयस्य हृल्लेखयदण्-लासेषु" अष्टा० ६।३।५०॥ से हृदय के स्थान पर हृद् आदेश हो जाता है । स्वतंत्र हृदयार्थक हृद् शब्द लेने पर सौहार्द बनता है । **समास आदि** :—**इष्टजनविर-हाद्** = इष्टजनस्य विरहाद् । **अबोधपूर्वम्** = बोधः पूर्वं यथा स्यात् तथा बोध-पूर्वम्, न बोधपूर्वम् इति अबोधपूर्वम् । **भावस्थिराणि** = भावैः स्थिराणि ।

जननान्तरसौहृदानि = अन्यत् जननं जननान्तरं, जननान्तरस्य सौहृदानि इति (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ = **इष्टजनविरहाद्०** = किसी प्रिय जन के विरह के बिना भी व्याकुल हो रहा हूँ। राजा के इस कथन से यह बात ध्वनित हो रही है कि राजा के मन पर दुर्वासा के शाप का पूर्ण प्रभाव हो चुका है। इसी कारण वह शकुन्तला को पूर्णतया भूल गया है। किन्तु संस्कार रूप में उसके हृदय में शकुन्तला की स्मृति विद्यमान है। अतः राजा का मन वियोग का अनुभव कर रहा है। **पर्युत्सुकः**—उत्कण्ठापूर्ण, खिन्न अथवा क्षुब्ध। सुधाकर में औत्सुक्य का **लक्षण** इस प्रकार वर्णित है—"कालाक्षमत्वमौत्सुक्यमिष्टवस्तुवियोगतः। तद्दर्शनाद् रम्यवस्तुदिदृक्षादेश्च" ॥ **चेतसा स्मरति** = मन से स्मरण करता है। वैसे, स्मरण तो मन से किया ही जाता है। किन्तु फिर भी यहाँ 'चेतसा' शब्द 'स्मरति' के साथ प्रयुक्त होने के कारण विशेष अभिप्राययुक्त प्रतीत होता है। वह अभिप्राय यही हो सकता है कि मनुष्य की इच्छा न होने पर भी वह मन से उसका स्मरण किया करता है। यहाँ पर 'मन' के कार्य पर विशेष रूप से जोर दिया गया है। **अबोधपूर्वम्** = बोध (ज्ञान) के बिना अर्थात् स्मरण सम्बन्धी वस्तु के विशेष विवरण के ज्ञान के बिना, अथवा उस वस्तु अथवा बात को ठीक-ठीक जाने बिना ही। मनुष्य का मन किस बात को लेकर उत्कण्ठित हो रहा है? इसका ज्ञान उसे ठीक रूप में नहीं हो पाता। **भावस्थिराणि** = यहाँ पर भाव शब्द का अर्थ संस्कार है। संस्काररूप में हृदय में स्थिर हुए प्रेम आदि को। मनुष्य संसार में जो कुछ भी देखता, सुनता आदि है, वे सम्पूर्ण कार्य सूक्ष्म संस्कारों के रूप में उसकी आत्मा में विद्यमान रहा करते हैं। समय आने पर जब भी वह किसी बीती हुई बात का स्मरण करता है तो उस समय वे संस्कार उद्बुद्ध हो जाया करते हैं और उसे अपने पूर्वकृत कर्म का ज्ञान हो जाता है। ये संस्कार अनेक जन्म जन्मान्तरों तक आत्मा में विद्यमान रहा करते हैं। **जननान्तरसौहृदानि** = दूसरे (अर्थात् पूर्व) जन्मों के स्नेह सम्बन्धी व्यापारों को। महाकवि ने इन भावों का चित्रण अपनी अन्य रचनाओं में भी किया है। जैसे—

"**मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्**" (रघुवंश ७।१५।)

तथा "**संस्काराः प्राक्तना इव**" (रघु० १।२० ॥)

(ततः प्रविशति कञ्चुकी ।)

(तदनन्तर कञ्चुकी प्रवेश करता है।)

कञ्चुकी—अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि ।
आचार इत्यवहितेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः ।

काले गते बहुतिथे मम सैव जाता

प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था ॥३॥

अन्वयः——या वेत्रयष्टिः मया 'राज्ञः अवरोध गृहेषु आचारः' इति अवहितेन गृहीता, सा एव बहुतिथे काले गते प्रस्थानविक्लवगतेः मम अवलम्बनार्था जाता।

संस्कृत-व्याख्या——या वेत्रयष्टिः = वेतस दण्डः, मया = कञ्चुकिना, 'राज्ञः = नृपस्य, अवरोधगृहेषु = अन्तःपुरेषु, आचारः = (रक्षाधिकारिणा वेत्र यष्टिः गृहीतव्या = इति आचारः) परम्परागता मर्यादा इति', अवहितेन = सावधानेन (सशक्तेनापि मया इत्यर्थः), गृहीता = धृता, सा एव = सैव वेत्रयष्टिः, बहुतिथे = बहुसंख्यके प्रभूते वा, काले = यौवनादिसमये, गते = व्यतीते, सति, प्रस्थानविक्लवगते = प्रस्थाने गमने विक्लवा स्खलिता गतिः पादक्षेपः यस्य तस्य मम = कंचुकिनः, अवलम्बनार्था = अवलम्बनं आश्रयः अर्थः प्रयोजनं यस्याः सा जाता = अभूत्।

कंचुकी आह, (आज) मैं इस अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ——

जिस बेंत की छड़ी (अथवा दण्ड) को मैंने "राजा के अन्तःपुर की यह परम्परा है" (इस मर्यादा-पालन की दृष्टि से) विचार करते हुए धारण किया था, वही वेत्रदण्ड आज बहुत समय बीत जाने पर ठीक चलने में समर्थ (अथवा चलते समय जिसकी चाल लड़खड़ा जाती है) मेरे लिये सहारे की वस्तु बन गई है।

अलंकार——इस श्लोक में लड़खड़ाने का कारण 'अधिक समय का बीतना' बतलाया गया है अतः काव्यलिंग अलंकार है। एक ही 'वेत्रदण्ड' अनेक स्थानों पर दृष्टिगोचर हो रहा है, अतः 'विशेष' अलंकार है। बुढ़ापा आने पर लाठी सहायक बन गई है——अतः 'समाधि' नामक अलंकार है। **छन्दः**——इसमें वसन्ततिलका वृत्त है।

व्याकरण——**अवरोध** = अव + रुध् + घञ्। **बहुतिथे** = बहु + तिथ् + अ। यहाँ "बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्" अष्टा० ५।२।५२॥ से तियुक् (तिथ्) तथा "तस्य पूरणे डट्" अष्टा० ५।२।४८॥ से डट् (अ) प्रत्यय होते हैं।

समास आदि——**अवरोधगृहेषु** = अवरुध्यन्ते राजदाराः यत्र इति अवरोधाः, तेषां गृहाणि तेषु (तत्पुरुष)। **प्रस्थानविक्लवगतेः** = प्रस्थाने विक्लवा गतिः यस्य तस्य (बहुव्रीहि)। **अवलम्बनार्था** = अवलम्बनम् अर्थः यस्याः सा (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ——**कञ्चुकी** = यह राजा के अन्तःपुर की देखभाल करने वाला एक वृद्ध ब्राह्मण होता था। यह लम्बा चोगा ('कंचुक') पहनता था, संभवतः इसी आधार पर इसको कंचुकी कहा जाता होगा। **कञ्चुकी का लक्षण**——"अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कंचुकीत्यभिधीयते" ॥ नाट्यशास्त्र ॥ "ये नित्यं सत्यसंपन्नाः कामदोषविवर्जिताः। ज्ञानविज्ञानकुशलाः कंचु-

कीयास्तु ते स्मृताः ।। मातृगुप्त ।। आचार इति = यह परम्परा थी कि कंचुकी हाथ में लाठी अथवा दंड लिये रहता था। वह रानियों का अंग-रक्षक होता था। अतः उसके हाथ में दंड का होना आवश्यक ही था। अवहितेन = सावधान होते हुए भी अथवा सशक्त होते हुए भी। उसके अन्दर शक्ति थी कि वह बिना दंड के भी किसी अनावश्यक व्यक्ति को जबरदस्ती अन्दर न जाने दे किन्तु फिर भी। **वेत्रयष्टिः** = लाठी वेतसवृक्ष की होती थी। उस पर नक्काशी से युक्त चाँदी की पत्ती चढ़ी होती थी और उसकी मूंठ सोने अथवा चाँदी की टोपी से मढ़ी होती थी। **अवरोधगृहेषु** = अन्तःपुर के घरों में अर्थात् अन्तःपुर में। **बहुतिथे** = बहुत लम्बा अथवा अधिक। **प्रस्थानविक्लवगतिः** = प्रस्थान अथवा चलने के समय लड़खड़ाती हुई है गति (चाल) जिसकी ऐसा। **अवलम्बनार्था** = सहारे के काम की अथवा सहारे को देने वाली।

कुछ संस्करणों में इस श्लोक के पश्चात निम्न पाठ अधिक प्राप्त होता है :—

यावदभ्यन्तरगताय देवाय स्वमनुष्ठेयमकालक्षेपार्हं निवेदयामि (स्तोकमन्तरं गत्वा) किं पुनस्तत् ? (विचिन्त्य) आं, ज्ञातम्। कण्वशिष्यास्तपस्विनो देवं द्रष्टुमिच्छन्ति। भोः चित्रमेतत्—

क्षणात् प्रबोधमायाति लंघ्यते तमसा पुनः ।
निर्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मतिः ।।

मैं अभ्यन्तर प्रविष्ट हुये महाराज को देर न किये जाने योग्य अपने कर्तव्य से सूचित करता हूँ। (कुछ दूर जाकर) वह क्या है ? [अर्थात् मुझे क्या कहना है ?] (विचारकर) अच्छा, समझ गया। कण्व (ऋषि) के शिष्य तपस्वी गण महाराज से मिलना चाहते हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि—

मुझ वृद्ध-पुरुष की बुद्धि बुझते हुए दीपक की ज्वाला के सदृश क्षण भर जागृत हो जाती है और फिर क्षण भर में अन्धकार (अज्ञान) से आवृत हो जाती है।

भोः कामं धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदयितुम्। अथवाऽविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः। कुतः—

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव
रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ।।४।।

अन्वयः—भानुः सकृत् युक्ततुरंग एव। गन्धवहः रात्रिन्दिवं प्रयाति। शेषः सदैव आहितभूमिभारः। षष्ठांशवृत्तेः अपि एषः धर्मः।

संस्कृत-व्याख्या—भानुः=दिवाकरः, सकृत्=एकवारम्, युक्ततुरंग एव =युक्ताः रथे संयोजिताः तुरंगाः अश्वाः यस्य तादृश एव अस्ति। निरन्तरं रथस्थ एव लोकान् स्वप्रभाभिः भासयति, क्षणमपि न विश्राम्यति । गन्धवहः=गन्धं वहतीति गन्धवहः पवनः, रात्रिन्दिवम्=रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवं अहोरात्रं, प्रयाति=प्रवहति । शेषः=शेषनागः, सदैव=अविरतमेव, आहितभूमिभारः =आहितः धृतः भूमेः पृथिव्याः भारः यस्मिन् तादृशोऽस्ति। षष्ठांशवृत्तेः अपि= प्रजाभिः उपार्जितस्य द्रव्यस्य यः षष्ठः अंशः भागः स वृत्तिः जीविका यस्य तस्य राज्ञः अपि, एषः=अयं रात्रिन्दिवं प्रजापालनरूपः धर्मः=कर्तव्यमस्ति ।

अरे ! यह ठीक है कि महाराज को धार्मिक-कार्यों के करने में विलम्ब नहीं करना चाहिये । फिर भी अभी-अभी धर्मासन (न्यायासन) से उठे हुए महाराज को फिर (विश्राम कार्य में) विघ्न डालने वाले ऋषि कण्व के शिष्यों के आगमन का समाचार कहने का उत्साह नहीं कर रहा हूँ । अथवा प्रजा के पालन का अधिकार विश्रामरहित है । क्योंकि--

सूर्य एक बार ही जुते हुए घोड़ों से युक्त है, वायु रात-दिन बहती है, शेषनाग निरन्तर पृथ्वी के भार को धारण किये हुए हैं। राजा का भी यही कर्तव्य है।

अलंकार--इस श्लोक में आये हुए 'सकृद् युक्त', 'रात्रिन्दिव' तथा 'सदैव' शब्द यहाँ 'अविश्रमः' के भाव को ही प्रकट करते हैं। अतः प्रतिवस्तूपमा अलंकार है। यहाँ विशेष--'दुष्यन्त' के स्थान पर सामान्य राजा-कथन किया गया है। अतः 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार है । **छन्दः**--इसमें 'इन्द्रवज्रा' वृत्त है ।

व्याकरण--**अनतिपात्यम्**=न+अति+पत्+णिच्+यत् (य) । **विश्रम**=वि+श्रम्+घञ् (अ), यहाँ "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्थानाचमेः" अष्टा० ७।३।३४। से श्रम् के अकार को वृद्धि नहीं होती है। **रात्रिन्दिवम्**= रात्रौ च दिवा च तयोः समाहारः, यहाँ "अचतुरविचतुर०. ..इत्यादि' अष्टा० ५।४।७७ । से 'रात्रिन्दिव' निपातन हो जाता है। *समास आदिः*--**अविश्रमः**= अविद्यमानो विश्रमो यस्मिन् सः । **लोकतन्त्राधिकारः**=लोकतन्त्रस्य अधिकारः (तत्पुरुष) । **सकृद्युक्ततुरंगः**= सकृद् युक्ताः तुरंगाः यस्य सः (बहुव्रीहि) । **गन्धवहः**= वहतीति वहः, गन्धस्य वहः गन्धवहः । **आहितभूमिभारः**=आहितः भूम्याः भारः यस्मिन् सः (बहुव्रीहि) । **षष्ठांशवृत्तेः**=षष्ठांशः वृत्तिः यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ--**कामम्** = यह एक अव्यय है । यह ठीक है कि अथवा माना कि । **धर्मकार्यम्**= राजा का यह कर्तव्य होता है कि वह धर्मसम्बन्धी कार्यों में देर न करे। विद्वानों तथा ऋषियों का आदर-सम्मान करना भी एक धार्मिक कर्तव्य है। ऋषि कण्व के आश्रम से ऋषि-मुनि आये हुए हैं, उनका स्वागत करना भी राजा का कर्तव्य था। **अनतिपात्यम्**=अधिक देर (विलम्ब) नहीं करना

चाहिये । अतिपात = विलम्ब करना । धर्मासनात् = न्याय के आसन से । जिस आसन पर आसीन होकर राजा न्याय का कार्य किया करता है वह आसन 'धर्मासन' शब्द द्वारा कहा जाता है । **अविश्रम** = विश्राम (आराम) से रहित । व्याकरण की दृष्टि से विश्रम शब्द ही शुद्ध है, विश्राम नहीं । **लोकतन्त्राधिकारः** = लोक--प्रजा, तन्त्र--पालन, अधिकार--कर्तव्य--अर्थात् प्रजा के पालन रूप कार्य में आराम नहीं मिलता है । यहाँ यह बात नोट करने योग्य है कि कालिदास के समय में प्रजा की सम्मति के आधार पर मन्त्रिमंडल का निर्वाचन हुआ करता था तथा राजा राज-प्रमुख के पद पर कार्य किया करता था । प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा राज्य-संचालन का कार्य होने के कारण उस समय लोकतन्त्र-सत्ता अथवा प्रजातन्त्र सत्ता ही रही होगी । वेदों में भी प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचन तथा लोकतन्त्रात्मक सत्ता का वर्णन उपलब्ध होता है "विशो न राजानं वृणाना"--इत्यादि--ऋग्वेद--१०।१२४।८ । (यहाँ 'न' शब्द 'इव' का वाचक है ।) अर्थात् जिस प्रकार से प्रजा राजा का निर्वाचन किया करती है । इससे प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचन की पद्धति प्राचीन काल में भी थी, ऐसा ज्ञात होता है । इसी प्रकार जनराज्य का वर्णन यजुर्वेद में भी प्राप्त होता है--"महते जानराज्याये-न्द्रस्येन्द्रियाय"...इत्यादि--यजुर्वेद--९।४० । तथा १०।१८ ॥ इसमें महान् जानराज्य अर्थात् जनता द्वारा संचालित राज्य का वर्णन आया है । **सकृद्युक्त-तुरंगः** = एक बार ही (सदा के लिये) जोते गये हैं घोड़े जिसके द्वारा (अपने रथ में) ऐसा सूर्य । उस समय से आज तक सूर्य को आराम नहीं मिला है । वह निरन्तर अपने कार्य में रत है । ऐतरेय ब्राह्मण में भी इसी प्रकार का वर्णन आया है--"सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥" **गन्धवहः** = गन्ध का वहन (ले जाना) करने वाली--वायु । **आहितभूमिभारः** = जिस (शेषनाग) के फण पर भूमि का भार रक्खा हुआ है । पुराणों के आधार पर पाताल में रहने वाले सहस्रफणों वाले सर्पराज को शेषनाग कहा गया है । ऐसा माना गया है कि इसी के फण पर पृथ्वी रक्खी हुई है । प्रलय-काल में, क्षीर सागर में भग-वान्-विष्णु की शय्या इसी के फण पर स्थित रहा करती है । **षष्ठांशवृत्तेः** = (प्रजा के द्वारा दिये जाने वाली भूमि की पैदावार के) छठे भाग पर ही निर्भर है जीविका जिसकी--अर्थात् राजा । राजा प्रजा से कर के रूप में कुल उपज का छठा भाग लिया करता था । इसी के द्वारा वह समस्त राज्य का संचालन आदि तथा अपनी जीविका भी प्राप्त किया करता था । अतः उसका कर्तव्य था कि वह महान् उत्तरदायित्व के साथ प्रजा का पालन करे ।

यावन्नियोगमनुतिष्ठामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) एष देवः—

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा

निषेवते श्रान्तमना[1] विविक्तम् ।

पाठभेद--१. निषेवतेऽशान्तमना--अशान्त-चित्त हुआ राजा सेवन करता है ।

यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः

शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ॥५॥

अन्वयः—स्वाः प्रजा इव प्रजाः तन्त्रयित्वा श्रान्तमनाः दिवा यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः द्विपेन्द्रः शीतं स्थानं इव विविक्तं निषेवते ।

संस्कृत-व्याख्या—एष देवः = राजा, स्वाः = स्वकीयाः, प्रजाः इव = अपत्यानि इव, प्रजाः = लोकान्, तन्त्रयित्वा = पालयित्वा, श्रान्तमनाः = क्लान्तमनाः खिन्नचेताः वा, दिवा = दिवसे, यूथानि = हस्तिसमूहान्, संचार्य = इतस्ततः क्षेत्रादिषु वृत्त्यर्थं संप्रेष्य, रविप्रतप्तः = आतपपीडितः, द्विपेन्द्रः = गजराजः, शीतम् = शीतलम्, स्थानम् = प्रदेशम्, इव = यथा, विविक्तम् = एकान्तम्, निषेवते = आश्रयते ।

मैं अपने कर्तव्य का पालन करता हूँ । (घूम कर और देखकर) यह महाराज—अपनी सन्तान के सदृश (अपनी) प्रजा का पालन करके थके हुए उसी भाँति एकान्त का सेवन कर रहे हैं जिस भाँति दिन में (जीविका के निमित्त) अपने हाथियों के समूह को इधर उधर खेतों में भेजकर धूप से संतप्त गजराज शीतल स्थान का सेवन किया करता है ।

(उपगम्य) जयतु जयतु देव । एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः काश्यपसन्देशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः संप्राप्ताः । श्रुत्वा देवः प्रमाणम् ।

(पास जाकर) जय हो, महाराज की जय हो । हिमालय की उपत्यका (तराई) के वनों में निवास करने वाले ये तपस्वीजन स्त्रियों के साथ (ऋषि) कण्व का संदेश लेकर आये हैं। (यह) सुनकर महाराज ही (आगे का) निश्चय करें (कि क्या किया जाना चाहिये ।)

अलंकार—इस श्लोक में इव के कारण उपमा तथा प्रजाः प्रजाः में यमक अलंकार हैं । **छन्द**:—इसमें उपजाति वृत्त है ।

व्याकरण—श्रान्त = श्रम् + क्त । विविक्तम् = वि + विच् + क्त । संचार्य = सम् + चर् + णिच् + ल्यप् । **उपत्यका** = उप + त्यकन् (त्यक)—यहाँ "उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः" अष्टा० ५।२।३४ । से समीप अर्थ में 'त्यकन्' प्रत्यय होता है । ***समास आदि***—श्रान्तमनाः = श्रान्तं मनः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **द्विपेन्द्रः** = द्वाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः, गजाः तेषां इन्द्रः (तत्पुरुष) । **उपत्यकारण्यवासिनः** = उपत्यका पर्वतासन्नभूमिः तस्याः यद्वनं तद्वासिनः । **हिमगिरिः** = हिमप्रधानो गिरिः ।

टिप्पणियाँ--**नियोगम्** = कर्तव्य । **अनुतिष्ठामि** = पालन करता हूँ । **स्वाः प्रजाः इव** = अपनी सन्तान के समान प्रजा का पालन करके । इस कथन से प्रतीत होता है कि कालिदास के समय में राजा एवं प्रजा का सम्बन्ध पिता-पुत्र जैसा था । प्रजा के कष्टों को दूर करने के निमित्त राजा सर्वदा तैयार रहा करता था । श्लोक की प्रथम पंक्ति में "प्रजाः" शब्द दो बार आया है । एक का अर्थ है सन्तान और और दूसरे का अर्थ है किसी राज्य में रहने वाले लोगों का समूह । **तन्त्रयित्वा** = पालन-पोषण करके । अथवा प्रजावर्ग की सुन्दर व्यवस्था आदि करके । **श्रान्तमनाः** = थके हुये मन वाला । **विविक्तम्** = एकान्त अथवा शान्त । **यूथानि** = झुण्डों को अथवा समूहों को । **संचार्य** = जिस भाँति गजराज अपने झुण्डों को इतस्ततः आहार के निमित्त प्रेषित कर विश्राम करता है । **रवि-प्रतप्तः** = सूर्य की धूप से व्याकुल । **दिवा** = दिन में । यहाँ दिन का ही वर्णन है । राजा तथा हाथी दोनों का ही वर्णन दिन के समय का है । **उपत्यका** = पहाड़ के नीचे की ओर की भूमि अथवा तराई । इसी प्रकार पहाड़ की ऊँची समतल भूमि (पठार) को 'अधित्यका' कहा जाता है । **श्रुत्वा देवः प्रमाणम्** = यह मुहावरा है । इस विषय में आप ही प्रमाण हैं अर्थात् सुनकर महाराज ही निर्णय करें कि आगे क्या किया जाना है ।

राजा--(सादरम्) किं काश्यपसन्देशहारिणः ?

राजा--(आदर के साथ) क्या (वे लोग) काश्यप (कण्व) का सन्देश लेकर आये हैं ?

कञ्चुकी--अथ किम् ?

कंचुकी--और क्या ? (अर्थात् आपका कथन ठीक है ।)

राजा--तेन हि, मद्वचनाद् विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः । अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हसीति । अहमप्यत्र तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि ।

राजा--तो मेरी ओर से उपाध्याय (गुरु) सोमरात से निवेदन करना कि इन आश्रमवासियों का वैदिक-विधि द्वारा सत्कार करके स्वयं ही (इनको) अन्दर ले आवें । मैं भी यहाँ तपस्वियों के दर्शन के योग्य स्थान पर बैठा हुआ (उनकी) प्रतीक्षा करता हूँ ।

कञ्चुकी--यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

कञ्चुकी--जैसी महाराज की आज्ञा । (बाहर चला जाता है ।)

राजा--(उत्थाय) वेत्रवति ! अग्निशरणमार्गमादेशय ।

राजा--(उठकर) वेत्रवती ! (हमें) यज्ञशाला का मार्ग बतलाओ।

प्रतीहारी--[इदो इदो देवो ।] इत इतो देवः ।

प्रतीहारी--महाराज इधर से आइये, इधर से ।

राजा--(परिक्रामति । अधिकारखेदं निरूप्य) सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः । राज्ञां तु चरितार्थता[1] दुःखोत्तरैव ।

> औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
> क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव[2] ।
> नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय[3]
> राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ।।६।।

अन्वयः--प्रतिष्ठा औत्सुक्यमात्रं अवसाययति । लब्धपरिपालनवृत्तिः क्लिश्नाति एव । राज्यं आतपत्रं इव स्वहस्तधृतदण्डं अतिश्रमापनयनाय न यथा श्रमाय ।

संस्कृत व्याख्या--प्रतिष्ठां = (राज्ञां तु...) महोच्चपदप्राप्तिः राज्यादौ स्थितिर्वा, औत्सुक्यमात्रम् = उत्कण्ठामात्रम्, अवसाययति = समाप्तिं नयति । लब्धपरिपालनवृत्तिः = लब्धस्य प्राप्तस्य यत्परितः सर्वतो भावेन पालनं रक्षणं तत्र या वृत्तिः व्यापारः, क्लिश्नाति एव = अत्यधिकं दुःखयति । राज्यम् = राजत्वम्, आतपत्रमिव = छत्रमिव, स्वहस्तधृतदण्डम् = स्वहस्ते स्वकरे धृतः गृहीतः दण्डः छत्रदण्डः यस्मिन् तत्, अतिश्रमापनयनाय = अत्यधिकं यः श्रमः विषादः खेदः वा तस्य अपनयनाय नाशाय, न = न भवति, यथा = येन प्रकारेण, श्रमाय = विषादाय खेदाय वा भवति ।

(चारों ओर घूमता है । अपने पद के प्रति खिन्नता का भाव प्रकट करता हुआ) सभी प्राणी (अपनी) अभीष्ट वस्तु को प्राप्त कर सुखी हो जाते हैं। किन्तु राजाओं की सफलता (चरितार्थता) तो (विशेष रूप से) दुःखबहुल ही होती है ।

पाठभेद--१. दुःखान्तरैव--दुःखान्त हो है ।

पाठभेद--२. रेनम--(एनम) इसको ।

३. न च श्रमाय--थकान् के लिए नहीं है, ऐसी बात नहीं । तात्पर्य यह है कि 'थकान' के निमित्त ही होता है ।

प्रतिष्ठा (उच्चपद अथवा राज्य आदि की प्राप्ति) केवल उत्सुकता को ही शान्त करती है, किन्तु प्राप्त हुए की रक्षा का कार्य उसको दुःखित ही कर देता है। राज्य एक छाते के सदृश है जिसका अपने हाथ में पकड़ा गया हुआ दण्ड (१—दण्डविधान अथवा न्याय की व्यवस्था, २—डण्डा) थकान को उतना अधिक दूर नहीं करता है जितना कि थकान को उत्पन्न करता है।

अलंकार——राज्य आदि की प्राप्ति की रक्षा ही क्लेश का कारण है, अतः 'काव्यलिंग' अलंकार है। इसके अतिरिक्त प्रतिष्ठा तथा दण्ड आदि शब्द श्लिष्ट हैं, अतः श्लेष अलंकार है। आपपत्रमिव में उपमा है। छन्दः——इसमें 'वसन्त-तिलका' वृत्त है।

व्याकरण—उपाध्याय = उप + अधि + इङ् (इ) + घञ्—यहाँ "इङश्च" अष्टा० ३।३।२१। से घञ् प्रत्यय होता है। **श्रौतेन** = श्रुति + अण् + तृतीया विभक्ति। **सत्कृत्य** + सत् + कृ + ल्यप्। यहाँ "आदरानादरयोः-स्सदसती" अष्टा० १।४।६३। से सत् की गतिसंज्ञा होने के कारण समास और क्त्वा को 'ल्यप्' आदेश हो जाता है। **अवसाययति** = अव + सो (सा) + णिच् + लट्——यहाँ णिच् होने पर "शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्" अष्टा० ७।३। ३७। से धातु के बाद युक् (य) हो जाता है। **प्रतिष्ठा** = प्रति + स्था + अङ् (अ)। **आतपत्रम्** = आतप + त्रा + क (अ)। *समास आदि*——**उपाध्याय** = उपेत्य अधीयते अस्मात्। **श्रौतेन** = श्रुतौ विहितः श्रौतः तेन। **चरितार्थता** = चरितः अर्थः येन स चरितार्थः तस्य भावः। **दुःखोत्तरा** = दुःखं उत्तरं प्रधानं यस्यां सा। पाठभेद——दुःखान्तरा——दुःखं अन्तरे मध्ये यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **औत्सुक्यमात्रम्** = औत्सुक्यमेव औत्सुक्यमात्रम् (यहाँ "मयूरव्यंसकादयश्च" अष्टा० २।१।७२। से 'एव' अर्थ में मात्र के साथ नित्य समास होता है।) **लब्धपरिपालन-वृत्तिः** = लब्धस्य परिपालने वृत्तिः (तत्पुरुष)। **स्वहस्तधृतदण्डम्** = स्वहस्ते स्व-हस्तेन वा धृतः दण्डः यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)। **आतपत्रम्** = आतपात् त्रायते इति।

टिप्पणियाँ—**सादरम्** = ऋषि का सन्देश लेकर आने के कारण राजा आदर प्रदर्शित करता है। **उपाध्याय** = अध्यापक अथवा गुरु। 'उपाध्याय का स्थान आचार्य से कुछ छोटा होता था तथा वह वेतन लेकर वेद के कुछ अंश और वेदांगों का अध्यापन कराया करता था' ऐसा मनु का कथन है।" एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः। योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते" ॥ मनु० २। १४१ ॥ **श्रौतेन विधिना** = श्रुति अर्थात् वेदों द्वारा बतलाई गई हुई विधि से। **चरितार्थता** = उद्देश्य पूरा कर लेने की दशा——सफलता अथवा अभीष्ट सिद्धि। **दुःखोत्तरा** = दुःख है उत्तर (प्रधान) रूप से जिसमें अर्थात् जिसमें दुःखों का आधिक्य है। **स्वयमेव** = स्वयं ही वे उनको अन्दर लावें। इससे राजा का तपस्वियों के प्रति विशेष आदरभाव सूचित होता है। **अग्निशरणमार्गम्** = यज्ञशाला का मार्ग। **अग्नि-शरण** = यज्ञशाला जहाँ पर

अग्निवेदी की स्थापना की हुई है। ऐसा विधान है कि राजा तपस्वियों आदि से यज्ञशाला में ही मिले--"अग्न्यागारतः कार्यं पश्येद् वैद्यतपस्विनाम्। पुरोहिताचार्यसखः प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ।।" अधिकारखेदम्=अधिकार की प्राप्ति से उत्पन्न कष्ट अथवा दुःख। निरूप्य=अभिनय अथवा नाट्य करके। औत्सुक्यमात्रम्=उत्सुकता अर्थात् उत्कण्ठा अथवा किसी वस्तु को प्राप्त कर लेने की अभिलाषा मात्र को। अवसाययति=नष्ट करती है। प्रतिष्ठा=गौरव तथा यश की प्राप्ति अथवा अभिलषित राज्य आदि की प्राप्ति। इन दोनों ही अर्थों में इसका प्रयोग उपलब्ध होता है। लब्धपरिपालन-वृत्तिः=प्राप्त किये हुए राज्य की देखभाल का कार्य। मनुष्य को जब तक कोई उच्चपद अथवा स्थान प्राप्त नहीं हुआ करता है तब तक वह उसके लिये उत्कण्ठित रहा करता है। किन्तु जब उसको यह स्थान प्राप्त हो जाता है तब उसका उत्तरदायित्व तथा कार्य का भार उसे दुःखी कर दिया करता है। राजा की दशा भी ऐसी ही है। नातिश्रमापनयनाय=प्रतिष्ठा मनुष्य के खेद को अवश्य दूर किया करती है किन्तु उसकी अपेक्षा खिन्नता अधिक प्रदान करती है। स्वहस्तधृतदण्डम् =यह छाता तथा राजा दोनों का विशेषण है। छाता के पक्ष में=अपने हाथ में धारण किया है दण्ड जिसका ऐसे छाते के सदृश। राजा के पक्ष में=अपने हाथ में ले रखी है राजव्यवस्था जिसने ऐसा राजा। दण्ड= (i) डंडा (छाते का)। (ii) दण्ड-व्यवस्था अथवा न्यायकार्य। आतपत्रम्=छाता। आत-पात् (धूप से) त्रायते (रक्षा करता है)।

(नेपथ्ये)

वैतालिकौ--विजयतां देवः।

(नेपथ्य में)

दो स्तुतिपाठक (भाट)--महाराज की जय हो।

प्रथमः--

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यते लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ।।७।।

अन्वयः--स्वसुखनिरभिलाषः लोकहेतोः प्रतिदिनं खिद्यसे। अथवा ते वृत्तिः एवंविधा एव। हि पादपः मूर्ध्ना तीव्रं उष्णं अनुभवति, छायया संश्रितानां परितापं शमयति।

संस्कृत-व्याख्या--स्वसुखनिरभिलाषः=स्वे निजे सुखे आनन्दानुभूतौ

निरभिलाषः निस्पृहः, (त्वम्) लोकहेतोः = लोकस्य प्रजायाः हेतोः सुखसम्पादनार्थम्, प्रतिदिनम् = प्रत्यहम् सर्वदैव इति तात्पर्यम्, खिद्यसे = खेदं कष्टं वा अनुभवसि। अथवा तव = राज्ञः, वृत्तिः = कार्यव्यापारः, एवं विधा एव = एतादृशी एवास्ति। हि = यतः पादपः = वृक्षः, मूर्ध्ना = स्वशिरसा, तीव्रम् = कठोरम्, उष्णम् = आतपम्, अनुभवति = स्वयं सहते। छायया = (किन्तु) स्वछायादानेन, संश्रितानाम् = आत्मानमाश्रितानां प्राणिनाम्, परितापम् = सन्तापम्, शमयति = निवारयति ॥

एक स्तुतिपाठक—आप अपने सुख से अपने को निरीह (इच्छाविहीन) रखते हुए (अपनी) प्रजा (जन साधारण) के लिये प्रतदिन कष्ट उठाते हैं। अथवा आपका कार्य-व्यापार ही इस प्रकार का है। वस्तुतः (अथवा क्योंकि) वृक्ष अपने सिर पर भयंकर धूप को सहन किया करता है (किन्तु) अपनी छाया के द्वारा अपने आश्रय को प्राप्त हुए प्राणियों के सन्ताप को शान्त (अथवा दूर) किया करता है।

अलंकार—श्लोक के उत्तरार्ध में दृष्टान्त होने के कारण विम्ब प्रतिविम्ब भाव स्पष्ट है। अतः यहाँ 'दृष्टान्त' अलंकार है। वृक्ष में सज्जन व्यक्ति का आरोप होने के कारण समासोक्ति अलंकार है। **छन्दः**—इसमें 'मालिनी' वृत्त है।

व्याकरण—**वैतालिकौ** = विविधः तालः वितालः, वितालः प्रयोजनमस्य, विताल—ठञ् (इक)- यहाँ "प्रयोजनम्" अष्टा० ५।१।१०९। से 'ठञ्' प्रत्यय होता है। अथवा लक्षणा शक्ति द्वारा विताल शब्द का विताल गान अर्थ लेकर वितालगानं शिल्पमस्य, विताल + ठक् (इक)। यहाँ "शिल्पम्" अष्टा० ४।४।५५। से ठक् प्रत्यय होता है। *समास आदि*—**स्वसुखनिरभिलाषः** = स्वस्य सुखे निरमलाषः (तत्पुरुष)। **पादपः** = पादैः पिबतीति (वृक्ष)। पादान् चरणभूताः प्रजाः पाति रक्षतीति (राजा)।

टिप्पणियाँ—**वैतालिकौ** = वैतालिक-भाट अथवा चारण लोग कहलाते हैं। ये प्रशंसा करने वाले अथवा स्तुतिपाठक होते हैं। ये निश्चित समय की सूचना दिया करते हैं तथा राजा की स्तुति का पाठ भी किया करते हैं। "तत्तत् प्रहरकयोग्यै रागैस्तत्कालवाचिभिः श्लोकैः। सरभसमेव वितालं गायन् वैतालिको भवति॥" भविष्यपुराण। **स्वसुखनिरभिलाषः** = अपने सुख के प्रति नहीं है अभिलाषा जिसकी। अर्थात् अपने सुखों की ओर से इच्छाविहीन होकर। **खिद्यसे** = कष्ट उठाते हो, दुःखी होते हो। **लोकहेतोः**—प्रजा की भलाई के निमित्त। **पादपः**—वृक्ष। यहाँ यह शब्द विशेष रूप से रखा गया है। इसका अर्थ राजा भी किया जा सकता है और वृक्ष भी। दोनों की व्युत्पत्ति समास में दे दी गई है। राजा के पक्ष में—चरणों के सदृश अपने अधीन प्रजा की रक्षा करने वाला।

चरण-शरीर के आधारभूत होते हैं, इसी भाँति प्रजा की रक्षा के लिये आधार-भूत है। वृक्ष के पक्ष में——वह पैरों अर्थात् जड़ों द्वारा जल अथवा रस का पान करता है। परितापम् = (राजा के पक्ष में)——प्रजा के कष्टों को। (वृक्ष के पक्ष में)——वृक्ष के नीचे बैठे हुए प्राणियों की गर्मी को।

द्वितीयः——

नियमयसि कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥८॥

अन्वयः——आत्तदण्डः कुमार्गप्रस्थितान् नियमयसि, विवादं प्रशमयसि, रक्षणाय कल्पसे। अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम। त्वयि तु प्रजानां बन्धुकृत्यं परिसमाप्तम्।

संस्कृत-व्याख्या——आत्तदण्डः = आत्तः गृहीतः दण्डः राजदण्डः येन सः, त्वम्, कुमार्गप्रस्थितान् = कुमार्गे प्रस्थितान् प्रचलितान् कुमार्गगामिनः जनान् इत्यर्थः, नियमयसि = सन्मार्गगामिनः करोषि। विवादम् = कलहम्, प्रशमयसि = निवारयसि। रक्षणाय = प्रजानां पालनाय, कल्पसे = प्रभवसि। विभवेषु = धनधान्यादिषु, अतनुषु = प्रभूतेषु सत्सु, ज्ञातयः = बान्धवाः, सन्तु नाम = भवन्तु नाम। त्वयि = राज्ञि दुष्यन्ते तु, प्रजानाम् = प्रकृतीनाम्, बन्धुकृत्यम् = बन्धुभिः करणीयं कार्यं = कुमार्गात् निवर्त्तनं, कलहशमनं, रक्षणं च, परिसमाप्तम् = पूर्णतया सम्पन्नं भवति।

दूसरा——

दण्ड (राजदण्ड) को हाथ में धारण किये हुए आप कुमार्ग पर चलने वाले प्रजा जनों को नियन्त्रित करते हो, विवादों (झगड़ों) को शान्त करते हो, प्रजा की रक्षा करने में समर्थ हो। विशाल सम्पत्ति अथवा ऐश्वर्य के होने पर भले ही बहुत से सम्बन्धी हो जायें, किन्तु आप में तो प्रजाओं का बन्धुजनों द्वारा किया जाने वाला कर्तव्य पूर्ण हो गया है।

अलंकार——बन्धुकृत्य के सम्पन्न होने में श्लोक का पूर्वार्ध भाग कारण है, अतः काव्यलिंग है। नियमयसि, प्रशमयसि तथा कल्पसे तीनों ही क्रियाओं का कर्त्ता एक 'त्वम्' है। अतः 'दीपक' अलंकार है। **छन्दः**——इसमें 'मालिनी' वृत्त है।

व्याकरण--**नियमयसि**=नि+यम्+णिच्+लट् । **मार्ग**=मृज्+घञ् (अ) । **आत्त**=आ+श्+क्त (त) । **प्रशमयसि**=प्र+शम्+णिच्+लट्। यहाँ णिच् के कारण शम् के अकार को वृद्धि होने पर "मितां ह्रस्वः" अष्टा० ६।४।९२ से ह्रस्व हो जाता है । **परिसमाप्तम्**=परि+सम्+आप्+क्त। *समास आदिः*--**कुमार्गप्रस्थितान्**=कुत्सितो मार्गः कुमार्गः, (कर्मधारय), तेन प्रस्थितान् (तत्पुरुष) । **आत्तदण्डः**=आत्तः दण्डः येन सः (बहुव्रीहि) । **परिसमाप्तम्**=परि साकल्येन समाप्तं सम्पन्नम् ।

टिप्पणियाँ--**नियमयसि**=नियन्त्रित करते हो अथवा अच्छे मार्ग पर लाते हो । **कुमार्गप्रस्थितान्**=शास्त्रविरुद्ध कार्य करने वालों को अथवा अनुचित कार्यों के करने वालों को । **आत्तदण्डः**=राजदण्ड को धारण किये हुए । 'राजदण्ड' को दण्ड एवं न्याय का प्रतीक माना गया है । **प्रशमयसि**=पूर्णतया शान्त करते हो । **कल्पसे**=रक्षा के कार्य में समर्थ हो । **अतनुषु**=अत्यधिक । तनु--कम, अतनु--अधिक । **अतनुषु--विभवेषु इत्यादि**=सम्पत्ति के होने पर जिसके पास धन बहुत है, उसके तो अनेक सम्बन्धी हो जाया करते हैं; किन्तु जो धनहीन होते हैं, उनके कोई सम्बन्धी नहीं दिखलाई पड़ते । जो सम्बन्धी होते हैं, वे भी पराये बन जाया करते हैं । किन्तु राजा प्रत्येक अवस्था में सम्पूर्ण प्रजा का सम्बन्धी होता है तथा उसके कार्यों को सम्पन्न किया करता है । अतः हे राजन् दुष्यन्त ! आप भी इसी प्रकार के हो । आप भी 'कुमार्ग से हटाना, पारस्परिक झगड़ों को निपटाना तथा उनकी सुरक्षा करना' ये सभी कार्य करते हैं । तात्पर्य यह है कि बन्धुजन तो समृद्धि के समय में ही साथ दे सकते हैं किन्तु राजा समृद्धि और आपत्ति दोनों ही प्रकार की स्थितियों में सहायता किया करता है । इस प्रकार बन्धुजनों का कार्य राजा दुष्यन्त द्वारा पूर्ण रूप से सम्पन्न किया जा रहा है । **ज्ञातयः**=सम्बन्धी जन । **परिसमाप्तम्**=वस्तुतः बन्धुत्व का कार्य आप में ही समाप्त (पूर्ण) हुआ है । पञ्चतन्त्र में बन्धु का लक्षण निम्न रूप में प्राप्त होता है--"उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्र-विप्लवे । राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥"

राजा--एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः ।

(इति परिक्रामति ।)

राजा--(वैतालिकों के इन कथनों को सुनकर) खिन्नमन वाला मैं पुनः उत्साहयुक्त हो गया हूँ । [यह कहकर चारों ओर घूमता है ।]

प्रतीहारी--[एसो अहिणवसम्मज्जणसस्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणू अग्गिसरणालिंदो । आरुहदु देवो ।] एषोऽभिनव-

समाजनसश्रीकः सन्निहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः। आरोहतु देवः।

प्रतीहारी—यह शीघ्र ही की गई सफाई के कारण सुन्दर, समीप में रखे हुए हवन के उपयोगी (घृतादि के निमित्त) गाय से युक्त यज्ञशाला का चबूतरा है। महाराज (इस पर) चढ़ें।

राजा—(आरुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठति।) वेत्रवति! किमुद्दिश्य भगवता काश्यपेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः।

किं तावद्व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपोदूषितं ?
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुतप्राणिष्वसच्चेष्टितम्।
आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः ॥९॥

अन्वयः—किं तावद् उपोढतपसां व्रतिनां तपः विघ्नैः दूषितम् ? उत धर्मारण्यचरेषु प्राणिषु केनचित् असत् चेष्टितम् ? आहोस्वित् मम अपचरितैः वीरुधां प्रसवः विष्टम्भितः। इति आरूढबहुप्रतर्कं मे मनः अपरिच्छेदाकुलम्।

संस्कृत-व्याख्या—किं तावत्, उपोढतपसाम् = उपोढं अतिशयेन वृद्धं तपः तपश्चर्या येषां तेषाम्, व्रतिनाम् = नियमधारिणां तपस्विनाम्, तपः = तपश्चरणम्, विघ्नैः = अन्तरायैः राक्षसादिभिः विघ्नकारिभिः, दूषितम् = व्याहतम् ? उत = अथवा, धर्मारण्यचरेषु = धर्मारण्यं तपोवनं तत्र चरन्तीति धर्मारण्यचराः तपोवनविहारिणः तेषु, प्राणिषु = हरिणादिजीवेषु विषये, केनचित् = केनचिज्जनेन, असत् = असाधु, चेष्टितम् = आचरितम् ? आहोस्वित् = अथवा, मम = दुष्यन्तस्य राज्ञः, अपचरितैः = असदाचरणैः पापैरित्यर्थः, वीरुधाम् = लतानाम्, प्रसवः = पुष्पफलाद्युद्गमः, विष्टम्भितः = प्रतिबन्धं प्रापितः ? ("पुष्पं फलं च पत्रं च वृक्षाणां प्रसवं विदुः" इति धरणिः।), इति = अनेन प्रकारेण, आरूढबहुप्रतर्कम् = आरूढाः समुत्पन्ना बहवः प्रतर्काः अनेके प्रतर्काः संशयाः यस्मिन् तत्, मे = मम, मनः = चित्तम्, अपरिच्छेदाकुलम् = अपरिच्छेदेन निर्णयाभावेन आकुलं व्याकुलमस्ति।

राजा—[उस पर (यज्ञशाला पर) चढ़कर सेवक के कंधे का सहारा लेकर खड़ा होता है।] वेत्रवति! ऐश्वर्यशाली काश्यप ने किस उद्देश्य से मेरे पास (इन) ऋषियों को भेजा होगा ?

क्या बढ़े हुए तप वाले व्रती ऋषियों की तपस्या विघ्नों के कारण दूषित हो गई है? अथवा तपोवन में घूमने वाले प्राणियों (मृग आदि) के प्रति किसी ने अनुचित चेष्टा की है? अथवा मेरे किन्हीं कुकृत्यों (पापों आदि से) के कारण लताओं में फल-फूल आदि का आना बन्द हो गया है? इस प्रकार की अनेक शंकाओं (अथवा संदेहों) से व्याप्त मेरा मन किसी निर्णय पर न पहुँच सकने के कारण व्याकुल हो रहा है।

अलंकार—"आरूढबहुप्रतर्कम्" राजा की व्याकुलता का कारण है। अतः काव्यलिंग अलंकार है। **छन्दः**—इसमें शार्दूलविक्रीडित वृत्त है।

व्याकरण—उपोढ = उप + वह् + क्त। संप्रसारण होने से 'व' के स्थान पर 'उ' तथा "होढः" अष्टा० ८।२।३१। से 'ह्' के स्थान पर 'ढ' हो जाता है। दूषितम् = दुष + णिच् + क्त। णिच् हो जाने के पश्चात् 'दोषो णौ' अष्टा० ६।४।९०। से उ के स्थान पर दीर्घ ऊ हो जाता है। *समास आदि*—**अभिनवसंमार्जनसश्रीकः** = अभिनवेन संमार्जनेन सश्रीकः (श्रिया सहितः)। **होमधेनुः** = होमार्था धेनुः इति। **उपोढतपसाम्** = उपोढः तपः येषां तेषाम् (बहुव्रीहि)। **आरूढबहुप्रतर्कम्** = आरूढाः बहवः प्रतर्काः यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**क्लान्तमनसः** = मेरा चित्त खिन्न था किन्तु इन स्तुतिपाठकों के कथनों को सुनकर पुनः उत्साहसम्पन्न हो गया है। **अभिनवसंमार्जनसश्रीकः** = अभी हाल में ही की गयी हुई सफाई के कारण मनोहर। **होमधेनुः** = यज्ञ के उपयोग में आने वाली गाय। घृत, दुग्ध आदि के निमित्त यज्ञशाला के समीप गाय बाँधी जाया करती थी। **अलिन्दः** = चबूतरा, बरामदा। **व्रतिनाम्** = नियमों का पालन करने वाले तपस्वीजनों का। **उपोढतपसाम्** = बढ़ी हुई है तपस्या जिनकी। **विघ्नैः** = राक्षसों आदि के द्वारा डाले गये हुए विघ्नों से। **दूषितम्** = विघ्नयुक्त हो गई है (तपस्या)। **असत्** = अनुचित, अशिष्ट। **अपचरितैः** = दुष्टाचरण अथवा पाप। ऐसा माना जाता था कि राजा के पापों के कारण ही प्रजा के ऊपर किसी प्रकार की आपत्ति आया करती है। जैसे—रघुवंश में—"राजन् प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्त्तते"। रघुवंश १५।४७॥ "न राजापचारमन्तरेण प्रजासु अकालमृत्युः संचरति"। उत्तररामचरित अंक २॥ "राजदोषैर्विपद्यन्ते प्रजा ह्यविधिपालिताः। असद्वृत्ते हि नृपतौ अकाले म्रियते जनः"॥ रामायण ७।७३॥ और भी—"राज्ञोऽपचारात् पृथिवी स्वल्पसस्या भवेत् किल। अल्पायुषः प्रजाः सर्वाः दरिद्रा व्याधिपीडिताः"॥ **वीरुधां प्रसवः**—लताओं की फल-फूल आदि की उत्पत्ति। **आरूढबहुप्रतर्कम्** = उत्पन्न हो गये हैं नाना प्रकार के सोच-विचार जिसमें ऐसा (मेरा मन)। **अपरिच्छेदाकुलम्** = कुछ निर्णय न कर सकने के कारण व्याकुल।

प्रतीहारी—[सुचरिदणन्दिणो इसीओ देव सभाजइदुं

आअदेत्ति तक्केमि ।] सुचरितनन्दिन ऋषयो देवं सभाजयितु-मागता इति तर्कयामि ।

प्रतीहारी—मेरा विचार है कि (आपके) पुण्य चरित से प्रसन्न हुए ऋषि लोग महाराज का अभिनन्दन करने के लिये आये हैं।

(ततः प्रविशन्ति गौतमीसहिताः शकुन्तलां पुरस्कृत्य मुनयः । पुरश्चैषां कञ्चुकी पुरोहितश्च ।)

कञ्चुकी—इत इतो भवन्तः ।

(तत्पश्चात् शकुन्तला को आगे करके गौतमी सहित मुनिगण प्रविष्ट होते हैं। उनके आगे-आगे कञ्चुकी और पुरोहित हैं।)

कञ्चुकी—आप लोग इधर से आइये, इधर से ।

शार्ङ्गरवः—शारद्वत !

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद् वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥१०॥

अन्वयः—कामं अभिन्नस्थितिः असौ नरपतिः महाभागः, वर्णानां अपकृष्टः अपि कश्चिद् अपथं न भजते । तथापि शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा जनाकीर्णं इदं हुतवहपरीतं गृहं इव मन्ये ।

संस्कृत-व्याख्या—कामम् = सम्यक्, अभिन्नस्थितिः = न भिन्ना परित्यक्ता स्थितिः मर्यादा येन सः = मर्यादापालकः इत्यर्थः, असौ = दुष्यन्तः, नरपतिः = राजा, महाभागः = प्रशस्तभाग्यशाली अस्ति । वर्णानाम् = ब्राह्मणक्षत्रियादीनां वर्णानां मध्ये, अपकृष्टः = निकृष्टः शूद्रः अपि, अपथम् = कुमार्गम्, न भजते = न सेवते । राज्येऽस्मिन् सर्वे खलु सदाचारसम्पन्ना इति भावः । तथापि = राजप्रजयोः ईदृक् शिष्टाचारे सत्यपि, शश्वत्परिचितविविक्तेन = शश्वत् सर्वदा परिचितं अभ्यस्तं विविक्तं विजनस्थानं एकान्तस्थानं वा येन तथोक्तेन, मनसा = चित्तेन, जनाकीर्णम् = जनैः नरैः आकीर्णं व्याप्तम्, इदम् = एतत् राजगृहम्, हुतवहपरीतम् = हुतवहेन अग्निना परीतं वेष्टितम्, गृहमिव = भवनमिव, मन्ये = संभावयामि । एतद्राजसदनप्रवेशं अग्निप्रवेशमिव सम्भावयामीत्यर्थः । इदं तु [illegible] ।

शार्ङ्गरव—शारद्वत !

भली भाँति मर्यादाओं का पालन करने वाले ये राजा दुष्यन्त महान् भाग्यशाली हैं और (इनके राज्य में) निकृष्ट (शूद्र) वर्ण का भी कोई व्यक्ति कुमार्गगामी (असद् आचरण करने वाला) नहीं है। फिर भी (इस प्रकार राजा एवं प्रजा दोनों के ही शिष्टाचार सम्पन्न होने पर भी) निरन्तर एकान्त सेवन के अभ्यास से अभ्यस्त मन से मैं लोगों से व्याप्त इस (राजसदन) के स्थान को अग्नि (की लपटों) से घिरे हुए घर के सदृश समझ रहा हूँ।

अलंकार—वस्तुतः इस स्थल पर अशान्ति का कोई कारण नहीं है किन्तु फिर भी घबड़ाहट हो रही है। अतः विभावना अलंकार है। पूर्णरूप से सदाचार एवं शिष्टाचार सम्पन्नता तथा शान्तिपूर्ण वातावरण के होने से राजा के भाग्यशाली एवं प्रजा की पवित्रता के होने पर भी शान्ति का अनुभव न हो सकने के कारण विशेषोक्ति अलंकार है। 'हुतवहपरीतं गृहमिव' में उपमा है। **छन्दः**—इसमें शिखरिणी वृत्त है।

व्याकरण—सुचरितनन्दिनः = सुचरित + नन्द + णिनि । **सभाजयितुम्** = सभाज् + णिच् + तुमुन् । *समास आदिः*—सुचरितनन्दिनः = शोभनं चरितं सुचरितम्, सुचरितेन साधु नन्दन्तीति । **महाभागः** = महान् भागः औदार्यादिगुणसमुदायो भाग्यं वा यस्य सः (बहुव्रीहि) । **अभिन्नस्थितिः** = अभिन्ना स्थितिः येन सः (बहुव्रीहि) । **अपथम्** = न पन्थाः इति । यहाँ "पथो विभाषा" अष्टा० ५।४।७२ । से समासान्त 'अ' प्रत्यय तथा "अपथं नपुंसकम्" अष्टा० २।४।३० । से नित्य नपुंसक लिंग हो जाता है । **शश्वत्परिचितविविक्तेन** = शश्वत् परिचितं विविक्तं यस्य तेन (बहुव्रीहि) । **हुतवहपरीतम्**—हुतवहेन परीतम् (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**सुचरितनन्दिन** = आपके शोभन चरित्र से प्रसन्न । **सभाजयितुम्** = अभिनन्दन करने के निमित्त । यहाँ सभाज् धातु चुरादिगणी है । इसका अर्थ है—स्वागत अथवा सत्कार (अभिनन्दन) करना । **महाभागः** = अत्यन्त भाग्यशाली अथवा महान् उदारता आदि गुणों से युक्त । अतिपवित्रात्मा और अतियशस्वी व्यक्ति को 'महाभाग' कहा जाता है । इसका लक्षण—आरभ्योत्पत्तिमामृत्योः कलंको यस्य नो भवेत् । स्याच्चैवानुपमा कीर्तिर्महाभागः स उच्यते ।। **कामम्**—भली भाँति, ठीक रूप से । यह अव्यय है । **अभिन्नस्थितिः** = नहीं तोड़ा है मर्यादाओं को जिसने ऐसा अर्थात् मर्यादापालक । यहाँ स्थिति शब्द मर्यादा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । **अपकृष्ट** = निकृष्ट । तात्पर्य यह है कि इनके राज्य में शूद्रादि निम्नवर्ग भी कुमार्ग पर चलने वाला नहीं है फिर अन्य वर्णों का तो कहना ही क्या ? **शश्वत्परिचितविविक्तेन** = सदा से अभ्यस्त है एकान्त स्थान में निवास जिसको (ऐसे मन से) । **हुतवहपरीतम्** = अग्नि से घिरा हुआ । ऋषियों अथवा मुनियों के निरन्तर एकान्त स्थान में रहने के अभ्यास से अभ्यस्त

मन को भीड़ से युक्त यह राजभवन ऐसा ही प्रतीत हो रहा है जैसे कि अग्नि की लपटों में जलता हुआ कोई मकान हो। तपस्वी जन पूर्णतया एकान्त और शान्त स्थान में रहने के अभ्यासी थे अतः वे भीड़-भाड़ देखकर कुछ अशान्त होते से प्रतीत हो रहे हैं।

शारद्वतः—स्थाने भवान् पुरप्रवेशादित्थंभूतः संवृत्तः। अहमपि—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्धं इव सुप्तम्।
वद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥११॥

अन्वयः—(अहमपि) इह सुखसंङ्गिनं जनं स्नातः अभ्यक्तं इव, शुचिः अशुचि इव, प्रबुद्धः सुप्तं इव, स्वैरगतिः वद्धं इव अवैमि।

संस्कृत-व्याख्या—अहमपि = शारद्वतः अपि, इह = नगरे राजगृहे वा, सुखसंङ्गिनम् = सुखेषु भौतिकसुखेषु सङ्गः आसक्तिः इति सुखसङ्गः सोऽस्यास्तीति तं, जनम् = मनुष्य-समूहम्, स्नातः = कृतस्नानः, अभ्यक्तमिव = कृततैलमर्दनमिव जनं यथा गणयति, शुचिः = पवित्रः जनः, अशुचिमिव = अपवित्रं जनमिव, प्रबुद्धः=जागरितः जनः, सुप्तमिव = शयितमिव, स्वैरगतिः=स्वैरा स्वच्छन्दा गतिः गमनं यस्य स, वद्धमिव = केनचित् कुत्रचित् निगडितमिव, अवैमि = जानामि।

शारद्वत यह ठीक ही है कि आप नगर में प्रवेश करने से इस प्रकार के हो गये हैं। मैं भी इस नगर में अथवा इस राजभवन में सुखों में (सांसारिक विषयोपभोगों आदि में) आसक्त लोगों को ऐसा ही समझ रहा हूँ जैसे नहाया हुआ व्यक्ति तैल-मर्दन किये हुए व्यक्ति को, पवित्र व्यक्ति अपवित्र को, जागा हुआ व्यक्ति सोये हुए को और स्वच्छन्द विचरण करने वाला व्यक्ति बँधे हुए को समझा करता है।

अलंकार—इस श्लोक में एक सुखसंगी के अनेक उपमान प्रस्तुत हुए हैं अतः यहाँ मालोपमा अलंकार है। **छन्दः**—इसमें आर्या छन्द है।

व्याकरण—अभ्यक्त = अभि + अञ्ज् + क्त। स्वैर + स्व + ईर्। यहाँ "स्वादीरेरिणोः" वार्तिक से वृद्धि हो जाती है। **समास आदि**—**स्वैरगतिः** = स्वैरा गतिः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **सुखसंगिनम्** = सुखे संगः यस्यास्तीति तम्।

टिप्पणियाँ—**स्थाने** = यह अव्यय है। इसका अर्थ है—यह ठीक ही है, उचित है। **अभ्यक्तमिव** = तैल मर्दन किये हुए को। जब तक मनुष्य तेल लगाकर स्नान नहीं कर लिया करता है तब तक वह अपवित्र ही माना जाया करता है। "तैलाभ्यंगे चिताधूमे मैथुने क्षौरकर्मणि। तावत् भवति चाण्डालो यावत् स्नानंनसमाचरेत्"॥ **प्रबुद्धः** = जगा हुआ अथवा तत्वज्ञानी पुरुष। तत्वज्ञानी

व्यक्ति को प्रबुद्ध कहा गया है और अज्ञान से ग्रसित व्यक्ति को सुप्त कहा गया है। "यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने:"। गीता २।६९ ॥ **स्वैरगतिः** = स्वतन्त्र रूप से घूमने वाला। विषयों में न फँसने वाला अथवा विरक्त पुरुष स्वतन्त्र होता है तथा विषयों में फँसा हुआ अथवा संलग्न व्यक्ति बद्ध अथवा परतन्त्र होता है। **सुखसंगितम्** = सांसारिक (भौतिक) सुखों में आसक्त व्यक्ति।

कुछ गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर प्रतीत होता है कि इस श्लोक के दो प्रकार के अर्थ किये जा सकते हैं (i) भौतिक अथवा स्थूल अर्थ और (२) पार-लौकिक अथवा सूक्ष्म अर्थ। (१) शारद्वत की दृष्टि में सांसारिक अथवा भौतिक सुखों को ही वास्तविक सुख समझने वाला व्यक्ति ऐसा ही है कि जैसे स्नान किया हुआ व्यक्ति स्नान न किये हुए व्यक्ति को समझा करता है अथवा पवित्रात्मा (शुद्ध अन्तःकरण वाला) पुरुष अपवित्रात्मा को समझा करता है अथवा जागा हुआ व्यक्ति शयन किये हुए व्यक्ति को और स्वतन्त्र पुरुष बँधे हुये व्यक्ति को समझा करता है। (२) इस श्लोक में मानव जीवन के लक्ष्यीभूत मोक्ष की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति की चार प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन संकेत रूप में किया गया है जिसको उसे क्रमशः पार करना होता है। ये चार अवस्थायें हैं:—(१) शरीरशुद्धि, (२) मनःशुद्धि, (३) ब्रह्मज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान द्वारा वैराग्य की उत्पत्ति, (४) माया के बन्धनों को नष्ट कर मोक्ष (परम धाम) की उपलब्धि। इनका इस श्लोक में क्रमिक वर्णन किया गया है (१) स्नान किया हुआ अर्थात् शरीर से शुद्ध व्यक्ति जिस प्रकार स्नान न किये हुए अथवा अशुद्ध शरीर वाले को समझा करता है। सांसारिक पुरुष भौतिक (अथवा सांसारिक) विषयों में फँसे हुए हैं, अतः उनका शरीर अशुद्ध ही है। (२) शुचि अर्थात् मन, वाणी और कर्म (यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति—अर्थात् मन, वाणी और कर्म से एक) से पवित्र व्यक्ति। जैसे इस प्रकार का पवित्र मन वाला पुरुष अपवित्र मन वाले प्राणी को समझा करता है। इस प्रकार यहाँ मानसिक शुद्धि की ओर संकेत किया गया है। प्रबुद्ध का भाव है कि जिसको तत्त्व ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान हो गया है, ऐसा व्यक्ति सांसारिक विषयोपभोगों में फँसे हुए व्यक्ति को सोये हुए रूप में देखा करता है। (कठोपनिषद् में इसीलिये तत्त्वज्ञान की उपलब्धि के बारे में निर्देश करते हुए कहा भी गया है "उत्तिष्ठत जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत"। कठो० तृतीयवल्ली—१४॥)। (४) स्वैरगति शब्द का भाव है कि जो माया के बन्धनों से अपने आपको पृथक् अथवा मुक्त कर चुका है तथा अब पूर्णतया स्वतन्त्र है। ऐसे व्यक्ति को सांसारिक (माया के चक्करों में फँसे हुए) व्यक्ति बद्ध ही प्रतीत हुआ करते हैं।

इस श्लोक से यह भी प्रतीत होता है कि शान्त वातावरण में रहने वाले तपस्वीजन सांसारिक पुरुषों को किस रूप में देखा करते हैं तथा उनके विषय में उनकी कैसी धारणायें हुआ करती हैं। यह भी ज्ञात होता है कि तपस्वी जन अशान्त वातावरण में आकर कितने व्यग्र एवं घबराहट युक्त हो जाया करते हैं।

शकुन्तला---(निमित्तं सूचयित्वा) [अम्महे ! किं मे वामेदरं अणं विप्फुरदि ।] अहो ! किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति ।

शकुन्तला---(अपशकुन का नाट्य करके) ओह ! मेरी दाहिनी आँख क्यों फड़क रही है ?

गौतमी---[जादे ! पडिहदं अमंगलं । सुहाइं दे भत्तुकुल-देवदाओ वितरन्दु ।] जाते ! प्रतिहतममंगलम् । सुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु ।

गौतमी---हे पुत्री ! अमंगल का नाश हो । तेरे पति-कुल के देवता तुझे सुख प्रदान करें ।

[इति परिक्रामति ।]

(यह कहकर घूमती है)

पुरोहित:---(राजानं निर्दिश्य) भो भोस्तपस्विन: ! असावत्रभवान् वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो व: प्रतिपालयति पश्यतैनम् ।

पुरोहित---(राजा की ओर संकेत करके) हे तपस्वियो ! (चारों) वर्णों और (चारों) आश्रमों के रक्षक महाराज पहले से ही अपना आसन छोड़कर आप लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं । इनकी ओर देखिये ।

शार्ङ्गरव:---भो महाब्राह्मण ! काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वयमत्र मध्यस्था: । कुत:---

भवन्ति नम्रास्तरव: फलागमै-
नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घना: ।
अनुद्धता: सत्पुरुषा: समृद्धिभि:
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥१२॥

अन्वय:---तरव: फलागमै: नम्रा: भवन्ति । घना: नवाम्बुभि: दूरविलम्बिन: (भवन्ति) । सत्पुरुषा: समृद्धिभि: अनुद्धता: भवन्ति । एष परोपकारिणां स्वभाव एव ।

संस्कृत-व्याख्या—तरवः = वृक्षाः, फलागमैः = फलानां आसमन्ताद् गमो गमनं प्राप्तिः तैः, नम्राः = अधोमुखा विनीताश्च भवन्ति। घनाः = मेघाः, नवाम्बुभिः = नवैः नूतनैः अम्बुभिः जलैः, दूरविलम्बिनः = दूरं भूतलसमीपं विलम्बन्ते समागच्छन्तीति दूरविलम्बिनः अतिशयवर्षणशीला भवन्तीत्यर्थः। सत्पुरुषाः = सज्जनाः, समृद्धिभिः = धनसम्पत्तिभिः ऐश्वर्योत्कर्षैः वा, अनुद्धताः = विनम्राः, भवन्ति। एषः = अयम् समृद्धौ सत्यां विनम्रत्वम्, परोपकारिणाम् = परहितरतानां, स्वभाव एव = प्रकृतिरेव।

शार्ङ्गरव—हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! यद्यपि यह (राजा का शिष्टाचार-प्रदर्शन) प्रशंसनीय है, फिर भी हम लोग इस विषय में उदासीन ही हैं। क्योंकि—

वृक्ष फलों के आने पर झुक (नम्र हो) जाया करते हैं, मेघ नवीन जलों से पूर्ण होने पर नीचे की ओर लटक जाते हैं। सज्जन पुरुष धन-धान्य एवं ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति होने पर (अधिक) नम्र हो जाते हैं। यह परोपकारियों का स्वभाव ही है।

अलंकार—यहाँ सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है। अप्रस्तुत सत्पुरुष सामान्य के वर्णन से प्रस्तुत दुष्यन्त रूप विशेष की प्रतीति होने से यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है। **छन्दः**—इसमें वंशस्थ वृत्त है।

व्याकरण—मध्यस्थाः = मध्य + स्था + क्त। दूरविलम्बिनः = दूर + वि + लम्ब + णिनि। *समास आदि*—वामेतरम् = वामं इतरत् यस्मात् (बहुव्रीहि) अथवा वामादितरत् (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—निमित्तम् = शकुन। शकुन शुभ तथा अशुभ दोनों ही प्रकार का होता है। अशुभ शकुन को अशकुन शब्द द्वारा भी कहा जाता है। **वामेतरम्** = दाहिनी। स्त्रियों का बायाँ अंग और पुरुषों का दाहिना अंग फड़कना शुभ माना जाता है। इसके विपरीत अंगों का फड़कना अशुभ माना जाता है। "पुंसां सदा दक्षिणदेहभागे स्त्रीणां तु वामावयवे प्रजातः। स्पन्दः फलाप्ति प्रदिशत्यवश्यं निहन्त्यनुक्तांगविपर्ययेण"॥ प्रतिहतममंगलम् = अमंगल नष्ट हो। संस्कृत में इस मुहावरे का प्रयोग अधिकमात्रा में पाया जाता है। **वर्णाश्रमाणां रक्षिता** = (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) वर्णों का तथा (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) आश्रमों का रक्षक। **महाब्राह्मण** = श्रेष्ठ ब्राह्मण। महाकवि के युग में इस शब्द का प्रयोग नीच-ब्राह्मण के अर्थ में नहीं होता था। साधारणतया ब्राह्मण, वैद्य आदि के साथ जुड़ा हुआ महा शब्द निन्दासूचक होता है। "शंखे तैले तथा मांसे वैद्ये ज्योतिषके द्विजे। यात्रायां पथि निद्रायां महच्छब्दो न दीयते"॥ **मध्यस्था** = उदासीन। अर्थात् हम लोग राजा के व्यवहार की प्रशंसा नहीं करते हैं। क्योंकि महान् पुरुषों का इस प्रकार का स्वभाव ही होता है। **दूरविलम्बिनः** = आकाश से दूर नीचे लटके हुए।

प्रतीहारी--[देव ! पसण्णमुहवण्णा दीसन्ति । जाणामि विस्सद्धकज्जा इसीओ ।] देव ! प्रसन्नमुखवर्णा दृश्यन्ते । जानामि विश्रब्धकार्या ऋषयः ।

प्रतीहारी–महाराज ! ये ऋषि लोग प्रसन्न मुख मुद्रा वाले दिखलाई पड़ रहे हैं। मैं समझती हूँ कि ये किसी शान्तिपूर्ण कार्य के निमित्त आये हैं।

राजा--[शकुन्तलां दृष्ट्वा] अथात्रभवती--

कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥१३॥

अन्वयः--पाण्डुपत्राणां मध्ये किसलयमिव तपोधनानां मध्ये अवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या का स्वित् ।

संस्कृत-व्याख्या--पाण्डुपत्राणाम् = पाण्डूनि पीतवर्णानि यानि पत्राणि तेषाम्, मध्ये = अन्तरे, किसलयमिव = नूतनपल्लवसदृशम्, तपोधनानाम् = तपस्विनाम्, मध्ये, अवगुण्ठनवती = अवगुण्ठनं सशिरोमुखप्रावरणं तद्वती, नाति परिस्फुटशरीरलावण्या = न अतिपरिस्फुटं अतिव्यक्तं शरीरस्य देहस्य लावण्यं सौन्दर्यं यस्याः सा, का स्वित् = का खलु एषा स्त्री ?

राजा--(शकुन्तला की ओर देखकर) किन्तु यह श्रीमती--

पीले पत्तों के बीच में नवीन किसलय (कोंपल) के सदृश, इन तपस्वियों के बीच में घूँघट किये हुए तथा जिसके शरीर का सौन्दर्य अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो पा रहा है, ऐसी यह स्त्री कौन है ?

अलंकार--इसमें उपमा अलंकार है । 'नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या' का कारण 'अवगुण्ठनवती' है। अतः इसमें 'काव्यलिंग' अलंकार भी है। **छन्दः**-इसमें आर्या छन्द है ।

व्याकरण--**विश्रब्ध** = वि + श्रम्भ् + क्त । ***समास आदि***--**प्रसन्नमुखवर्णा** = प्रसन्नाः मुखस्य वर्णाः कान्तयः येषां ते । **विश्रब्धकार्याः**--विश्रब्धं विश्वस्तं शान्तं वा कार्यं येषां ते । **नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या** = न अतिपरिस्फुटं शरीरस्य लावण्यं यस्याः सा अथवा–नाति परिस्फुटं शरीरं लावण्यं च यस्याः सा (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ--**प्रसन्नमुखवर्णाः** = जिनके मुख की कान्ति अथवा रंग प्रसन्नता से युक्त है। मुख पर विद्यमान प्रसन्नता की झलक से युक्त अर्थात् प्रसन्न । **विश्रब्धकार्याः** = विश्वासपूर्ण अथवा शान्तिपूर्ण कार्य है जिनका ऐसे ऋषि । ये ऋषि लोग प्रसन्नमन वाले दृष्टिगोचर होते हैं अतः यह स्पष्ट है कि ये किसी घबराहट से युक्त सन्देश को लेकर नहीं आये हैं । **अवगुण्ठनवती** = घूँघट को धारण किये हुए। इससे ज्ञात होता है कि कालिदास के समय में उच्च-परिवारों

तथा राज-कुलों की स्त्रियाँ घूँघट किया करती थीं। अथवा नव वधुओं के लिये इस प्रकार की प्रथा आवश्यक रही होगी। संभव है कि नवविवाहित युवतियाँ लज्जावश सौन्दर्य -प्रदर्शन करने में अपने को असमर्थ पाकर ऐसा करती रही हों। इससे पर्दा-प्रथा का समर्थन नहीं होता। उस समय विशेष रूप से आँखों का ही पर्दा रहा होगा अर्थात् घूँघट इसीलिये मारा जाता रहा होगा कि जिससे उनको परपुरुष का दर्शन न हो। भारतीय संस्कृति के आधार पर परपुरुष का दर्शन करना निषिद्ध था। क्योंकि प्राचीन समय में पर्दा-प्रथा का तो अभाव ही था। पाणिनि के "असूर्यललाटयोर्दृशितयोः" (अष्टा० ३।२।२६)। इस सूत्र से (सूर्य न पश्यन्तीति असूर्यम्पश्या राजदाराः।) यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारण रूप से राज-कुल की स्त्रियाँ अन्तःपुर में ही रहा करती थीं तथा वे बाहर जन-सम्पर्क में नहीं आया करती थीं। इस प्रकार की प्रथा राज-परिवारों में ही प्रचलित थी। जिस प्रकार से राजा के साथ अंगरक्षक रहा करते थे उसी प्रकार राज-कुल की स्त्रियों के साथ भी अंगरक्षक रहा करते थे। इस समय जैसी पर्दा-प्रथा प्रचलित है वह तो यवनों के समय से चली आ रही है। प्राचीन काल में केवल घूँघट की प्रथा थी और वह भी उच्च कुलों में ही प्रचलित थी, जनसाधारण में नहीं। कुछ अवसरों पर तो जैसे यज्ञ, विवाह आदि में युवतियाँ बिना घूँघट के ही बैठती थीं। भास ने अपने प्रतिमानाटक में एक स्थान पर लिखा है—"स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतद् वाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः। निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च।।" प्रतिमानाटक १।२०।। रामायण में भी—"व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे। न क्रतौ न विवाहे च दर्शनं दूष्यते स्त्रियाः"।। वा० रामा० युद्धकाण्ड ११४-२८।। महाभारत में—"अदृष्टपूर्वा या नार्यो भास्करेणापि वेश्मसु। ददृशुस्ता महाराज जना याताः पुरं प्रति।।" शल्यपर्व—२९।। **का स्वित्** = कौन ? "स्वित्" प्रश्न और शंका का सूचक है (स्विदिति प्रश्ने वितर्के च।)। **नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या** = जिसके शरीर का सौन्दर्य अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो रहा है। घूंघट तथा शार्ङ्गरव आदि ऋषियों के बीच में होने के कारण शकुन्तला के शरीर का सौन्दर्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। लावण्य का अर्थ है—सौन्दर्य। इसका लक्षण है—"मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं तदिहोच्यते।।" सुधाकर।। **पाण्डुपत्राणां मध्ये किसलयमिव** = शार्ङ्गरव आदि पके हुए पत्ते के सदृश हैं (अर्थात् अधिक आयुवाले रहे होंगे।) तथा शकुन्तला नव-किसलय के समान (शकुन्तला नवयुवती है।)।

प्रतीहारी—[देव ! कुदूहलगब्भोपहिदो ण मे तक्को पसरदि। णं दंसणीआ उण से आकिदी लक्खीअदि।] देव ! कुतूहलगर्भोपहितो न मे तर्कः प्रसरति। ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते।

[illegible] (किसी निश्चय पर) नहीं पहुँच रहा है। किन्तु इसकी आकृति वस्तुतः मनोहर दिखलाई पड़ती है।

राजा—भवतु। अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्।

राजा—होगा। पर-स्त्री की ओर देखना उचित नहीं है।

शकुन्तला—(हस्तमुरसि कृत्वा। आत्मगतम्।) [हिअअ ! किं एव्वं वेवसि। अज्जउत्तस्स भावं ओहारिअ धीरं दाव होहि।] हृदय ! किमेवं वेपसे। आर्यपुत्रस्य भावमवधार्य धीरं तावद् भव।

शकुन्तला—(छाती पर हाथ रखकर। मन में) हृदय ! तू इस भाँति क्यों कम्पन कर रहा है ? आर्यपुत्र के भाव को ठीक समझकर धैर्य धारण कर।

पुरोहितः—(पुरो गत्वा) एते विधिवदर्चितास्तपस्विनः। कश्चिदेषामुपाध्यायसन्देशः। तं देवः श्रोतुमर्हति।

पुरोहित—(आगे जाकर) विधिपूर्वक सत्कार किये गये ये तपस्वी उपस्थित हैं। ये (अपने) गुरु का सन्देश लेकर आये हैं। महाराज उसे सुन सकते हैं।

राजा—अवहितोऽस्मि।

राजा—मैं सावधानचित्त हूँ।

ऋषयः—(हस्तानुद्यम्य) विजयस्व राजन्।

ऋषि लोग—(हाथ ऊपर की ओर उठाकर) महाराज की जय हो।

राजा—सर्वानभिवादये।

राजा—मैं आप सभी का अभिवादन करता हूँ।

ऋषयः—इष्टेन युज्यस्व।

ऋषि लोग—(आप अपनी) अभीष्ट वस्तु से युक्त हों।

राजा—अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः ?

राजा—मुनि लोगों की तपस्या तो निर्विघ्न चल रही है ?

ऋषयः—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि ।
तपस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ।।१४।।

अन्वयः—सतां रक्षितरि त्वयि (सति) धर्मक्रियाविघ्नः कुतः ? घर्मांशौ तपति तमः कथं आविर्भविष्यति ।

संस्कृत-व्याख्या—सताम् = सज्जनानाम्, रक्षितरि = पालके, त्वयि = दुष्यन्ते विद्यमाने सति, धर्मक्रियाविघ्नः = धर्मक्रियासु यज्ञादिधार्मिककार्येषु विघ्नः अन्तरायः, कुतः = कथं संभवति ? घर्मांशौ = घर्माः उष्णाः अंशवः किरणाः यस्य सः घर्मांशुः सूर्यः तस्मिन्, तपति = भासमाने सति, तमः = अन्धकारः, कथम् = केन प्रकारेण, आविर्भविष्यति = प्रकटी भविष्यति ? न कथमपीत्यर्थः ।

ऋषि लोग—सज्जनों की रक्षा करने वाले आपके विद्यमान रहते हुए धर्म-सम्बन्धी यज्ञादि कर्मों में विघ्न कैसे पड़ सकता है ? उष्ण किरणों वाले सूर्य के तपते हुए होने पर अन्धकार कैसे प्रकट होगा ? अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं ।

अलंकारः—जैसे सूर्य के निकलने पर अन्धकार का अभाव हो जाता है, वैसे ही दुष्यन्त जैसे रक्षक के होने पर धार्मिक क्रियाओं का अभाव भी हो जाता है । अतः यहाँ दृष्टान्त अलंकार है । श्लोक की दोनों पंक्तियों में आये हुए 'कुतः' तथा 'कथम्' के द्वारा अर्थापत्ति है अर्थात् ऐसा होना संभव नहीं है, यह अर्थ होने पर 'अर्थापत्ति' अलंकार है । छन्दः—इसमें श्लोक नामक वृत्त है ।

समासः—कुतूहलगर्भः = कुतूहलं गर्भे यस्य सः (बहुव्रीहि) । निर्विघ्नतपसः = विघ्नेभ्यो निर्गतं निर्विघ्नम् , निर्विघ्नं तपो येषां ते । धर्मक्रियाविघ्नः = धर्मस्य क्रियासु विघ्नः (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—कुतूहलगर्भः इत्यादि = कुतूहल से भरा हुआ होने पर भी मेरा अनुमान काम नहीं कर रहा है । प्रतीहारी के कहने का तात्पर्य यह है कि वह अत्यधिक उत्सुकता से अपनी तर्कना शक्ति को प्रेरित कर रही है, फिर भी उसका अनुमान कुछ लग नहीं पा रहा है अर्थात् वह अपने को वस्तु-स्थिति के समझने में असमर्थ पा रही है । **अनिर्वर्णनीयम्** = (दूसरे की स्त्री को) ध्यानपूर्वक नहीं देखना चाहिये । यह कथन राजा के उच्च चरित्र का पोषक है । अनेक पत्नियों वाला होने पर भी दूसरे की विवाहित स्त्रियों को देखने की प्रवृत्ति उसमें नहीं है । **कलत्रम्** = स्त्री । यह शब्द 'स्त्री' अर्थ का बोधक है किन्तु है नपुंसकलिंग । **आर्यपुत्र** = नाटक में यह शब्द पति के लिये प्रयुक्त होता है । ऐसा विधान भी है । इसका अर्थ है—श्रेष्ठ व्यक्ति का पुत्र । **उपाध्याय** = यहाँ इस शब्द का प्रयोग 'गुरु' के अर्थ में हुआ है । **सतां रक्षितरि** = सज्जनों के पालक आपके रहते हुए । इसके द्वारा यह बात स्पष्ट होती है कि राजा दुष्यन्त सज्जनों का ही रक्षक था तथा दुष्टों का विनाशक अथवा उनको दण्ड देने वाला । **धर्मक्रियाविघ्नः** = धार्मिक

(यज्ञ इत्यादि) कार्यों में विघ्न । घर्मांशो = उष्ण (गरम) हैं किरणें जिसकी अर्थात् सूर्य ।

इस श्लोक में उदाहरण नामक नाटकीय लक्षण भी है । इसका लक्षण है– 'यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् । साध्यतेऽभिमतश्चार्थस्तदुदाहरणं मतम्' ।। साहित्यदर्पण ६।१७७ ।।

उपर्युक्त श्लोक के भाव का चित्रण महाकवि द्वारा रचित अन्य कृतियों में भी उपलब्ध होता है––"तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान् न याति यावदुदयाद्रिमौलिताम् " मालविकाग्निमित्र ।। "सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन् नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम् । सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा" ।। रघुवंश ५।१३ ।। महाकवि माघ ने भी कहा हैं—"ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः ।।" शिशुपालवध १।३८ ।।

राजा––अर्थवान् खलु मे राजशब्दः । अथ भगवांल्लोकानुग्रहाय कुशली काश्यपः ?

राजा—तब तो वस्तुतः (मेरे लिये प्रयुक्त) राजा शब्द सार्थक है। विश्व के कल्याण के लिये भगवान् काश्यप सकुशल तो हैं ?

शार्ङ्गरवः–––स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः । स भवन्तमनामय प्रश्नपूर्वकमिदमाह ।

शार्ङ्गरव––सिद्धियों को प्राप्त हुए महान् पुरुषों की कुशलता उनके अपने अधीन हुआ करती है । उन्होंने आपकी नीरोगता का प्रश्न पूँछते हुए यह (सन्देश) कहा है ।

राजा––किमाज्ञापयति भगवान् ?

राजा––भगवान् ने क्या आज्ञा प्रदान की है ?

शार्ङ्गरवः––यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवनुप्रायस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम् । कुतः––

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः
शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया ।
समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ।।१५।।

तदिदानीमापन्नसत्त्वेयं प्रतिगृह्यतां सहधर्मचारणायेति ।

अन्वयः—त्वम् नः अर्हतां प्राग्रसरः स्मृतः असि । शकुन्तला च मूर्तिमती सत्क्रिया । तुल्यगुणं वधूवरं समानयन् प्रजापतिः चिरस्य वाच्यं न गतः ।

संस्कृत-व्याख्या:—त्वम् = दुष्यन्तः, नः = अस्माकं, अर्हताम् = पूज्यानाम्, प्राग्रसरः = प्रकर्षेण अग्रसरः अग्रगण्यः, स्मृतः असि = अभिमतोऽसि । शकुन्तला च = मद्दुहिता च, मूर्तिमती = शरीरधारिणी, सत्क्रिया = सत्कारभूता पूजास्वरूपा वा अस्ति । तुल्यगुणम् = तुल्याः समानाः गुणा यस्य तादृशं समानगुणशालिनम्, वधूवरम् = वधूश्च वरश्च तयोः समाहारः इति वधूवरं वरवध्वौ मिथुनम्, समानयन् = विवाहविधिना संयोजयन्, प्रजापतिः = ब्रह्मा, चिरस्य = बहोः कालात्, वाच्यम् = निन्दाम्, न गतः = न प्राप्तः ।

शार्ङ्गरव—आपने आपस में शपथपूर्वक (गान्धर्व विधि से) इस मेरी पुत्री के साथ विवाह किया है । मैंने प्रसन्नता के साथ आप दोनों के उस कार्य की अनुमति दे दी है । क्योंकि—

आप हमारे लिये आदरणीयों में अग्रगण्य के रूप में स्मरण किये गये हैं और शकुन्तला (साक्षात्) शरीरधारिणी सत्क्रिया (पूजा) ही है । समान गुणगुणों वाले वर एवं वधू को मिलाते हुए ब्रह्मा बहुत समय के पश्चात् निन्दा को प्राप्त नहीं हुए । (अर्थात् बहुत समय के पश्चात् ऐसे दो योग्य व्यक्तियों का यह विवाह हुआ है कि जिसमें ब्रह्मा इस वर एवं वधू के जोड़े को गुणानुसार मिलाने में निन्दा के पात्र नहीं बन सके हैं ।)

तो अब आप इस गर्भवती को अपने साथ धर्माचरण के लिये स्वीकार करें ।

अलंकारः—यहाँ "शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया" में उत्प्रेक्षा अलंकार है । समान गुणों के आधार पर वर एवं वधू का सम्मिलन होने से यहाँ 'सम' अलंकार है । श्लोक का तृतीय चरण चतुर्थ चरण के प्रति कारण होने से 'काव्यलिंग' अलंकार है । **छन्दः**—इसमें वंशस्थ वृत्त है ।

व्याकरण:—**कुशल** = कुश + ला + क (अ) । **स्वाधीन** = स्व + अधि + ख (ईन) । **समय** = सम् + इ + अच् (अ) । **दुहितरम्** + दुह् + तृच् (तृ) । यह शब्द स्वस्रादि के अन्तर्गत है । अतः यहाँ 'न षट् स्वस्रादिभ्यः' अष्टा० ४।१।१० । से ङीप् का निषेध हो जाता है । **उपायंस्त** = उप = यम् (विवाह करने अर्थ में) यहाँ 'उपाद्यमः स्वकरणे' अष्टा० १।३।५६ । से आत्मनेपद हो जाता है। यह रूप लुङ् लकार का है । **अग्रसरः** = अग्र = सृ + ट (अ) यहाँ "पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्त्तेः" अष्टा० ३।२।१८ । से 'ट' प्रत्यय हो जाता है। **सत्क्रिया** = सत् + कृ + श (अ) + टाप् (आ) । *समास आदि*—**राजशब्दः** = दीप्त्यर्थक राज् धातु से कनिन् (अन्) प्रत्यय करने पर राजन् शब्द बनता है । इसका अर्थ होता है—प्रकाशमान, तेजोमय । कालिदास ने रञ्ज् धातु से भी राजन् शब्द की सिद्धि

को स्वीकार किया है। अतः राजते इति, रञ्जयति लोकान् इति वा राजा। प्रजा को प्रसन्न रखने वाला होने से राजा को राजा कहा जाता है। **कुशल**=कुशान् लाति इति। **स्वाधीनकुशलाः**=स्वस्मिन् अधि इति स्वाधीनम्, स्वाधीनं कुशलं येषां ते (बहुव्रीहि) । **अनामयप्रश्नपूर्वकम्**=अनामयस्य नीरोगतायाः प्रश्नः पूर्वमादौ यस्य तत्तथा। **मिथःसमयात्**=मिथः परस्परं यः समयः प्रतिज्ञानं शपथाचारो वा तस्मात्। **प्राग्रसरः**=प्रकर्षेण अग्रे सरतीति । **वधूवरम्**=वधूः वरश्च तयोः समाहारः (द्वन्द्व) । समाहार द्वन्द्व होने के कारण यहाँ एकवचन है।

टिप्पणियाँ—**अर्थवान्**=उचित अर्थ से युक्त अथवा सार्थक है । तात्पर्य यह है कि मैं वस्तुतः प्रजा का हितकारी हूँ। इसी भाव को लिये हुए महाकवि का दूसरा श्लोक भी है :—

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात् तपनो यथा ।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥ रघु० ४।१२।

मनुस्मृति में भी आता है :—"रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः" ॥ मनु० ७।३ ॥ **लोकानुग्रहाय**=समस्त विश्व पर कृपा करने के लिये। कण्व ऋषि जीवन्मुक्त थे। अतः वे अपने लिये जीवन धारण किये हुए नहीं थे, वे तो विश्वकल्याणार्थ जीवित थे। **कुशली**=कुशलपूर्वक तो हैं ? किस वर्ण वाले व्यक्ति से किस रूप में कुशल पूछना चाहिये, इसका विधान भृगु संहिता में प्राप्त होता है। "ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥" अर्थात् ब्राह्मण से कुशलता, क्षत्रिय से नीरोगता, वैश्य से क्षेम और शूद्र से आरोग्यता पूछना चाहिये। **भगवान्**=महर्षि कण्व एक सिद्ध पुरुष थे। उनको सभी सिद्धियाँ सिद्ध हो चुकी थीं। ऐश्वर्य आदि ६ गुणों को 'भग' कहा गया है (ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा ॥), भग से युक्त—भगवान् अर्थात् इन ६ गुणों से युक्त व्यक्ति को भगवान् कहा जाता है। **स्वाधीनकुशलाः**=जिनकी कुशलता स्वयं उनके अपने हाथों में है। **सिद्धिमन्तः**=सिद्धियों से युक्त। सिद्धियाँ ८ प्रकार की होती हैं जिनका विस्तृत वर्णन योगदर्शन में उपलब्ध होता है। वे आठ ये हैं:—"अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः"॥ **अनामयप्रश्नपूर्वकम्**=नीरोगता सम्बन्धी प्रश्न के साथ। **मिथःसमयात्**=एक दूसरे के प्रति शपथ के साथ। अभिप्राय यह है कि शकुन्तला तथा दुष्यन्त दोनों की परस्पर सम्मति से। **दुहितरम्**=पुत्री। निरुक्त में दुहिता की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है—दुहिता—दूरे हिता भवति। विवाह के पश्चात् वह दूर अर्थात् पति के घर चली जाया करती है। **उपायंस्त**=विवाह किया था। **प्रीतिमता**....इत्यादि—प्रसन्नतापूर्वक मैंने (इसको) स्वीकार कर लिया है। **अर्हणाय्**=पूज्य तथा आदरणीय पुरुषों में। **प्राग्रसरः**=अग्रगण्य, मुख्य । **मूर्तिमती सत्क्रिया**=साक्षात् शरीरधारिणी धर्मक्रिया अथवा सत्कार, पूजा के सदृश ।

चिरस्यवाच्यं न गतः = बहुत समय से चली आने वाली निन्दा को प्राप्त नहीं हुए। तात्पर्य यह है कि अब तक ब्रह्मा स्त्री तथा पुरुषों में जितने भी संयोग (विवाह) कराता था, उनमें स्त्री तथा पुरुष दोनों ही समान गुणों वाले नहीं हुआ करते थे। साधारणतया योग्य वर और अयोग्य पत्नी अथवा अयोग्य पति और योग्य पत्नी का जोड़ा मिल ज़ाने से ब्रह्मा की निन्दा हुआ करती थी; किन्तु इन दुष्यन्त और शकुन्तला का जोड़ा मिलाने में उसने ऐसे योग्य वर एवं वधू का संयोजन किया है कि जो दोनों ही समान गुणों को धारण किये हुए हैं। इस प्रकार ब्रह्मा प्रथम बार लोक-निन्दा से अपने को मुक्ति कर सका है। **सहधर्मचारणाय** = धार्मिक कार्यों में साथ-साथ मिलकर आचरण करने के लिये। वैदिक विधान के अनुसार धार्मिक क्रियाओं में पति के साथ पत्नी को भी भाग लेना आवश्यक है।

गौतमी—[अज्ज किंपि वत्तुकाम म्हि। ण मे वअणावसरो अत्थि। कहंत्ति—

णावेक्खिओ गुरुअणो इमाए तुए पुच्छिदो ण बन्धुअणो
एक्कक्कस्स च चरिए भणामि किं एक्कमेक्कस्स ॥१६॥]

आर्य! किमपि वक्तुकामास्मि। न मे वचनावसरोऽस्ति। कथमिति—

नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न बन्धुजनः।
एकैकस्य च चरिते भणामि किमेकैकम् ॥१६॥

अन्वयः—अनया गुरुजनः न अपेक्षितः त्वया बन्धुजनः न पृष्टः। एकैकस्य च चरिते एकैकं किं भणामि?

संस्कृत-व्याख्या—अनया = शकुन्तलया, गुरुजनः = पूज्यो जनः कण्वादिः, न अपेक्षितः अनुमतिग्रहणाय न गणितः। त्वया = दुष्यन्तेन, बन्धुजनः—स्व-सम्बन्धिवर्गः, न पृष्टः = न जिज्ञासितः। एकैकस्य च = एकस्य एकस्य च, चरिते = कृते—(ज्ञातिवर्गस्यानुमतिं विना स्वेच्छयैव कृते) विवाहकर्मणि, एकैकम् = एकमेकम्, किं भणामि। किं कथयामि?

गौतमी—आर्य! मैं कुछ कहना चाहती हूँ। (वैसे) मेरे कहने का अवसर नहीं है। क्योंकि—

इस शकुन्तला ने अपने पिता आदि गुरुजनों की अनुमति नहीं ली और तुमने भी अपने बन्धु-बान्धवों से नहीं पूछा। तुम दोनों द्वारा अपनी ही इच्छा से किये गये इस कार्य के सम्बन्ध में मैं तुम दोनों में से प्रत्येक को क्या कहूँ?

अलंकार:--इसमें 'अर्थापत्ति' अलंकार है। **छन्द**:—इसमें आर्या छन्द है। *समास आदि*--**वक्तुकामा**=वक्तुं कामः यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **एकैकस्य**= एकस्य-एकस्य। यहाँ वीप्सा अर्थ में "नित्यवीप्सयोः" अष्टा० ८।१।४। से द्वित्व तथा "एकं बहुव्रीहिवत्" अष्टा० ८।१।९। से बहुव्रीहि के समान होने से बीच वाली विभक्ति का लोप है। इसी प्रकार एकम् एकम् से एकैकम् बनता है।

टिप्पणियाँ—**किमपि वक्तुकामाऽस्मि। न मे वचनावसरोऽस्ति** =मैं कुछ कहना चाहती हूँ। परन्तु मेरे कहने का कोई अवसर नहीं है। गौतमी के इस कथन का अभिप्राय यह है कि तुम दोनों ने अपने-अपने सम्बन्धियों की अनुमति बिना प्राप्त किये ही परस्पर प्रेम किया और उसके परिणामस्वरूप गान्धर्व-विधि द्वारा विवाह भी कर लिया। इस प्रकार तुम दोनों के द्वारा स्वतन्त्रता और स्वेच्छा-पूर्वक किये गये कार्य के लिये मैं तुम दोनों के प्रति क्या कहूँ? अब यह तुम दोनों का कर्तव्य हो जाता है कि अपने किये हुए को स्वयं निभाओ। **नापेक्षित... इत्यादि**=इस शकुन्तला ने अपने गुरुजनों (पिता कण्व आदि) की प्रतीक्षा नहीं की तथा न उनकी कुछ गणना ही की। उसने अपनी इच्छा के अनुसार ही उसे स्वीकृति प्रदान कर दी। **त्वया...पृष्टः**=तुमने भी अपने इष्टजनों से इस बारे में कोई सम्मति आदि प्राप्त नहीं की। **भणामि किमेकैकम्**—मैं आप दोनों में से किसी एक से अर्थात् शकुन्तला से अथवा आपसे क्या कहूँ? आप लोग अपने किये हुए कार्य के विषय में स्वयं ही उत्तरदायी तथा अपने-अपने कर्तव्य को भली भाँति समझने वाले हैं। अतः क्या कहा जाय?

शकुन्तला--(आत्मगतम्) [किं णु क्खु अज्जउत्तो भणादि?] किं नु खल्वार्यपुत्रो भणति?

शकुन्तला—(मन में) देखें, आर्यपुत्र क्या कहते हैं?

राजा--किमिदमुपन्यस्तम्?

राजा—यह क्या कहा?

शकुन्तला--(आत्मगतम्) पावओ क्खु वअणोवण्णासो।] पावकः खलु वचनोपन्यासः।

शकुन्तला--(मन में) इनका यह कथन वस्तुतः अग्नि (के सदृश) है।

शार्ङ्गरव--कथमिदं नाम। भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाताः।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां

जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।

अत: समीपे परिणेतुरिष्यते
प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभि: ।।१७।।

अन्वय:—ज्ञातिकुलैकसंश्रयां भर्तृमतीं सतीमपि जन: अन्यथा विशङ्कते । अत: स्वबन्धुभि: प्रमदा प्रिया अप्रिया वा परिणेतु: समीपे इष्यते ।

संस्कृत-व्याख्या—ज्ञातिकुलैकसंश्रयाम् = ज्ञातीनां बान्धवानां कुलं गृहं (पितृगृहं वा) एक: एकमात्र: संश्रय: आश्रयस्थानं यस्या: ताम्, भर्तृमतीम् = भर्त्ता पति: अस्या अस्तीति भर्तृमती तां विद्यमानपतिकाम्, सतीमपि = पतिव्रतामपि, अन्यथा = अन्यप्रकारेण (पुंश्चलीत्वेन), विशंकते = संभावयति । अत: = अस्मादेव कारणात्, स्वबन्धुभि: = प्रमदाया: पित्रादिआत्मीयजनै:, प्रमदा = युवति:, प्रिया = भर्तुरभिमता, अप्रिया वा = भर्तुरनभिमता वा, परिणेतु: = पत्यु:, समीपे = पार्श्वे, इष्यते = वाञ्छ्यते ।

शार्ङ्गरव—यह कैसे ? आप स्वयं ही लोक-व्यवहार में भली भाँति चतुर हैं। पिता का कुल ही जिनका एक मात्र आश्रयस्थान रह गया है ऐसी सधवा स्त्री पूर्ण पतिव्रता होने पर भी लोगों की दृष्टि में शंका योग्य हो जाया करती है। (अर्थात् लोग उसके आचरण के विषय में दूसरे प्रकार से सोचने लगा करते हैं—उसके आचरण पर सन्देह करने लगते हैं।) । अत: युवती स्त्री के बन्धु-बान्धव यही चाहा करते हैं कि पति उसको चाहता हो अथवा न चाहता हो, पर वह (अपने) पति के समीप ही रहे ।

अलंकार:—शकुन्तला का तुम्हारे (दुष्यन्त के) पास ही रहना उचित है, इस विशेष के स्थान पर यहाँ सामान्य सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। अत: यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है। श्लोक का पूर्वार्ध उत्तरार्ध के प्रति कारण है। अत: काव्यलिंग अलंकार है। **छन्द:**—इसमें वंशस्थ वृत्त है।

व्याकरण:—**उपन्यस्तम्** = उप + नि + अस + क्त । उपन्यास: (वचनोपन्यास:) = उप + नि + अस् + घञ् । **सुतराम्** = सु + तर + आम् । यहाँ सु उपसर्ग से परे तरप् प्रत्यय करके "किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे" अष्टा० ५।४।११ । से अन्त में 'आम्' प्रत्यय होता है । **निष्णात** = नि + स्ना + क्त । "निनदीभ्यां स्नाते: कौशले" अष्टा० ८।३।८९। से कुशल अर्थ में स् के स्थान पर ष् हो जाता है ।

समास आदि:—**वचनोपन्यास:** = वचनस्य वाक्यस्य उपन्यास: आरम्भ: (तत्पुरुष) । **लोकवृत्तान्तनिष्णाता:** = लोकस्य वृत्तान्ते निष्णाता: कुशला: । **ज्ञातिकुलैकसंश्रयाम्** = ज्ञातीनां कुलम् एक: संश्रय: यस्या: ताम् (बहुव्रीहि) । **प्रमदा** = प्रकृष्टो मदो यस्या: सा ।

टिप्पणियाँ :—किमिदमुपन्यस्तम्—मेरे समक्ष यह क्या उपस्थित किया गया ? उपन्यस् का अर्थ है—(अपने कथन की सम्पुष्टि के निमित्त) किसी बात को उपस्थित करना । **वचनोपन्यासः** = वचन अथवा किसी बात का प्रारम्भ । **उपन्यास** = प्रस्तुत करना । **पावकः खलु** = राजा का कथन अग्नि के समान जला देने वाला है । **कथमिदं नाम** = आप यह क्या कह रहे हैं कि मेरे सामने यह क्या उपस्थित किया गया ? (किमिदमुपन्यस्तम् ।) । **सुतराम्** = अत्यधिक । **लोकवृत्तान्तनिष्णाताः** = लोक सम्बन्धी व्यवहारों में दक्ष, चतुर अथवा कुशल । **सतीमपि** = अच्छे आचरण करने वाली सती-साध्वी स्त्री के सम्बन्ध में भी । **ज्ञातिकुलैकसंश्रयाम्** = पिता आदि बन्धु-बान्धवों का कुल ही है एकमात्र आश्रय जिसका ऐसी स्त्री को । ज्ञाति—पिता -भाई आदि । **भर्तृमतीम्** = भर्ता (पति) से युक्त अर्थात् जिसका पति संसार में विद्यमान अथवा जीवित है । **अन्यथा विशङ्कते** = लोग (उसके बारे में) दूसरे ही प्रकार की शंकायें किया करते हैं कि यह आचरणहीन है इत्यादि-इत्यादि । इसी कारण यह अपने पति के गृह नहीं जाती है । **परिणेतुः** = परिणेता शब्द का अर्थ है कि जो व्यक्ति कन्या को (संस्कार के समय) अग्नि के चारों ओर परिक्रमा लगवाता है अर्थात् पति । **प्रियाऽप्रिया वा** = पति को वह स्त्री प्रिय लगती हो अथवा प्रिय न लगती हो ।

इस श्लोक से ज्ञात होता है कि कालिदास के समय में स्त्रियों की समाज में क्या स्थिति थी। पति के जीवित रहते हुए होने पर यदि स्त्री अपने पिता अथवा भाई आदि के समीप अधिक समय तक रहती थी तो इसको अनुचित माना जाता था। इस विषय में 'कामसूत्र' में उल्लेख आता है कि वह शोक अथवा उत्सवों के समयों पर ही कुछ काल के लिये अपने पिता के घर जाये—"ज्ञातिकुलस्यानभिगमनमन्यत्र व्यसनोत्सवाभ्याम् । तत्रापि नायकपरिजनाधिष्ठिताया नातिकालमवस्थानमपरिवर्तितप्रवासवेषता च ।।" कामसूत्र ३।१।४९-५० ।। पद्मपुराण में भी—कन्या पितृगृहे नैव सुचिरं वासमर्हति । लोकापवादः सुमहान् जायते पितृवेश्मनि ।।

इस श्लोक को 'साहित्यदर्पण' में 'अर्थविशेषण' नामक नाटकीय अलंकार के उदाहरण में उपस्थित किया गया है । इसमें राजा के "किमिदमुपन्यस्तम्" ? इस कथन पर व्यंग्य बतलाया गया है । इसका लक्षण है—"उक्तस्यार्थस्य यत्तु स्यादुत्कीर्तनमनेकधा । उपालम्भस्वरूपेण तत् स्यादर्थविशेषणम् ।। सा० द० ६।२०६ ।।

राजा—किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा ?

राजा—तो क्या यह श्रीमती (शकुन्तला) मेरे द्वारा पहले व्याही गई हैं ?

शकुन्तला—(सविषादम्, आत्मगतम्) [हिअअ ! सपदं दे आसङ्का ।] हृदय ! साम्प्रतं ते आशङ्का ।

शकुन्तला—(खेद के साथ, मन में) हे हृदय ! तेरी आशंका ठीक थी।

शार्ङ्गरवः—

किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा।

अन्वयः—किं कृतकार्यद्वेषः ? (किं) धर्मं प्रति विमुखता ? (किं) कृतावज्ञा ?

संस्कृत-व्याख्या—"किंचात्र" इत्यादिवचनेन राज्ञः दुष्यन्तस्य शकुन्तलायां वैमुख्यमस्तीति ज्ञात्वा शार्ङ्गरवः क्रोधसहितं भर्त्सयन् आह—"किम्, कृतकार्यद्वेषः—कृतं स्वेच्छया विहितं यत्कार्यं गान्धर्वविवाहरूपं तस्मिन् द्वेषः अप्रीतिः ? अथवा (किम्), धर्मं प्रति—स्वकर्तव्यं प्रति, विमुखता—परिणयानङ्गीकारात् पराङ्मुखता ? अथवा (किम्), कृतावज्ञा—कृतस्य कार्यस्य अवज्ञा अनादरः ?

शार्ङ्गरव—क्या (आपको अपने) किये हुये कर्म से द्वेष अथवा घृणा हो गई है ? अथवा (आप) धर्म की ओर से पराङ्मुख (विरुद्ध आचरण करने वाले) हो रहे हैं ? अथवा अपने द्वारा किये हुये कर्म का (जानते हुये भी) निरादर कर रहे हैं ?

राजा—कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः ?

राजा—यह असत्य कल्पना पर आधारित प्रश्न क्यों करते हैं ?

शार्ङ्गरवः—

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥१८॥

अन्वयः—ऐश्वर्यमत्तेषु प्रायेण अमी विकाराः मूर्च्छन्ति।

संस्कृत-व्याख्या—ऐश्वर्यमत्तेषु = ईश्वरस्य भावः ऐश्वर्यं धनादिवैभवं प्रभुत्वं वा तेन मत्तेषु गर्वितेषु जनेषु, प्रायेण—बहुधा, अमी = एते, विकाराः—कृत-कार्यद्वेषादिरूपाः मनोविकृतयः, मूर्च्छन्ति = बर्द्धन्ते।

शार्ङ्गरव—

धनादि वैभवों के कारण प्रमत्त व्यक्तियों में ये मानसिक विकार बढ़ जाया करते हैं।

अलंकारः—इस श्लोक में विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन किया गया है अतः 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है। छन्दः—इसमें आर्या छन्द है।

समास आदि—परिणीतपूर्वा = पूर्वं परिणीता इति। यहाँ 'भूतपूर्वे चरट्'

अष्टा० ५।३।५३। से पूर्व शब्द का पर-निपात हो जाता है । **असत्कल्पनाप्रश्नः =** असतः अविद्यमानस्य अर्थस्य कल्पनया प्रश्नः । अथवा—असती असाध्वी कल्पना, तन्मूलकः प्रश्नः ।

टिप्पणियाँ——**किं. . .परिणीतपूर्वा =** क्या मैंने पहले कभी इससे विवाह किया है ? **साम्प्रतम् =** ——ठीक अथवा उचित। यहाँ पर यह शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतः इस दृष्टि से यहाँ 'ठीक' अथवा 'उचित' अर्थ उचित प्रतीत होता है। **कृतकार्यद्वेषः =** (स्वयं) किये हुए कार्य के प्रति द्वेष अथवा घृणा अथवा अरुचि । यहाँ पर 'द्वेष शब्द 'वैर' अर्थ का वाचक नहीं है । इसका भाव है——अरुचि अथवा घृणा। स्वयं किये हुये काय को अनुचित समझ कर उससे घृणा अथवा अरुचि करना । शार्ङ्गरव के कथन का तात्पर्य है कि राजा ने पहले तो शकुन्तला से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित किया किन्तु बाद में विचार करने पर वह सम्बन्ध उसे प्रिय न प्रतीत हुआ होगा। अतः अब वह उसको छिपाना चाहता है । **धर्मप्रति विमुखता =** अथवा क्या आप अपने धर्म (कर्तव्य) से विमुख होना चाहते हो ? क्योंकि आप अपनी पत्नी को स्वीकार नहीं कर रहे हैं तथा न अपने उत्तरदायित्व का ही निर्वाह कर रहे हैं। **कृतावज्ञा =** अपने किये हुए का जान-बूझ कर अपमान। अर्थात् आपने स्वयं निश्चय करके जिस कार्य को किया था, अब उस कार्य अथवा अपने पूर्व निर्णय अथवा निश्चय से आप जान-बूझ कर हट रहे हो। **'कृतकार्य द्वेषः'** का जो भाव है वह किसी अंश में क्षमा कर देने योग्य है किन्तु 'कृतावज्ञा' में अन्तर्निहित भाव अनुचित होने के कारण अक्षम्य है। वस्तुतः जानबूझकर किया गया अपराध अक्षम्य ही होता है । **असत्कल्पनाप्रश्नः =** झूठी (असत्य) कल्पना पर आधारित यह प्रश्न सर्वथा अनुचित है। **मूर्च्छन्ति =** वृद्धि को प्राप्त होते हैं। 'मूर्च्छ्' धातु दो अर्थों में प्रयुक्त होता है (१) मूर्च्छित होना (२) वृद्धि को प्राप्त होना। यहाँ पर दूसरा अर्थ ही उपयुक्त है। महाकवि कालिदास ने इस अर्थ में मूर्च्छ् धातु का प्रयोग अन्यत्र भी किया है। "तमसां निशि मूर्च्छताम्" (विक्रमोर्वशीय ३।७।)। "शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य"।। रघुवंश २।३४।, "तूर्यस्वने मूर्च्छति मंगलार्थे" रघु० ६।१।।

यहाँ पर त्रोटक नामक गर्भसन्धि का अंग है, क्योंकि यहाँ क्रोधयुक्त वाणी का प्रयोग हुआ है। इसका लक्षण है :——"त्रोटकं पुनः संरब्धवाक्" सा० द० ६।९९।

राजा——विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि ।

राजा——(इस कथन के द्वारा) मैं विशेष रूप से अपमानित हुआ हूँ ।

गौतमी——[जादे ! मुहुत्तअं मा लज्ज । अवणइस्सं दाव दे ओउण्ठणं । तदो तुमं भट्टा अहिजाणिस्सदि ।] जाते !

मुहूर्त्तं मा लज्जस्व । अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम् । ततस्त्वां भर्त्ताभिज्ञास्यति ।

(इति यथोक्तं करोति ।)

गौतमी--बेटी! कुछ क्षणों के लिये लज्जा मत कर। मैं तेरे घूँघट को हटाती हूँ। तब तेरा पति तुझे पहचान लेगा।

(यह कहकर अपने कथनानुसार करती है)

राजा--(शकुन्तलां निर्वर्ण्य, आत्मगतम्)

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन् ।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥१९॥

(इति विचारयन् स्थितः ।)

अन्वयः--एवं उपनतं इदं अक्लिष्टकान्तिरूपं प्रथमपरिगृहीतं स्यात् वा इति अव्यवस्यन्, (अहम्) विभाते भ्रमरः अन्तस्तुषारं कुन्दमिव न खलु परिभोक्तुं शक्नोमि, नैव च हातुं शक्नोमि ।

संस्कृत-व्याख्या--एवम् = अनायासम्, उपनतम् = समीपे उपस्थितं प्राप्तं वा, इदम् = पुरो दृश्यमानम्, अक्लिष्टकान्ति = अक्लिष्टा अम्लाना निर्दोषा वा कान्तिः शोभा यस्य तथाभूतम्, रूपम् = सौन्दर्यम्, प्रथम परिगृहीतम् = प्रथमं पूर्वं परिगृहीतं गान्धर्वविधिना मया परिणीतम्, स्यात् न वा = भवेत् न वा भवेत् इति, अव्यवस्यन् = निर्णेतुं असमर्थः अहम्, विभाते = प्रातःकाले, भ्रमरः = षट्पदः, अन्तस्तुषारम् = अन्तः मध्ये तुषारः नीहारो यस्य तत्, कुन्दमिव = कुन्द-पुष्पं इव, न खलु = न हि, परिभोक्तुम् = स्वीकर्तुं उपभोक्तुं वा, शक्नोमि = समर्थः अस्मि, नैव = न च, हातुम् = त्यक्तुमपि, शक्नोमि = पारयामि ।

राजा--(शकुन्तला को ध्यानपूर्वक देखकर, मन में)

इस प्रकार अनायास ही प्राप्त हुए निर्मल कान्ति से सम्पन्न रूप को मैंने पहले (विवाह रूप में स्वीकार किया था अथवा नहीं ? इसका निर्णय न कर सकने के कारण, मैं प्रातःकाल के समय तुषार के कणों से युक्त कुन्द के पुष्प को भौंरे के सदृश न तो (इसका उपभोग ही कर सकता हूँ और न त्याग ही कर सकता हूँ। (तात्पर्य यह है कि ओस के कणों से परिपूर्ण कुन्द के पुष्प को प्रातः

काल के समय देखकर भौंरा न तो उसका रस-पान (उपभोग) ही कर पाता है और न उसे छोड़ ही पाता है। ठीक इसी भाँति स्वयं उपस्थित हुए सौन्दर्य युक्त (शकुन्तला) को देखकर दुष्यन्त न तो उसे स्वीकार कर उसका उपभोग ही कर सकता है और न उसका त्याग ही। इस भाँति उसका मन दुविधा में पड़ा हुआ है।) (विचार-मग्न होकर बैठता है।)

अलंकार—इस श्लोक में 'उपमा' अलंकार है। छन्दः—इसमें 'मालिनी' छन्द है।

***व्याकरण*—अव्यवस्यन्** = वि + अव + सो + शतृ + व्यवस्यन्। न व्यवस्यन् इति अव्यवस्यन्। ***समासआदिः*—अक्लिष्टकान्ति**=अक्लिष्टा कान्तिः यस्य तत बहुव्रीहि।

टिप्पणियाँ—**विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि** = मेरी बहुत अधिक भर्त्सना की गई है अथवा शार्ङ्गरव के उपर्युक्त कथन से मैं दोषी सिद्ध हो रहा हूँ तथा इस भाँति तिरस्कृत भी। यद्यपि शार्ङ्गरव का कथन लौकिक दृष्टि से सामान्य रूप में ही है किन्तु प्रसंग तो राजा का ही चल रहा है, अतः वह विशेष रूप से उसी पर लागू होता है। इस स्थल पर राजा का चरित्र दर्शनीय एवं प्रशंसनीय है। इस प्रकार की क्रोधोत्पादक बातों को सनकर भी उसके अन्दर क्रोध की उत्पत्ति नहीं होती तथा न किसी प्रकार की उत्तजना ही। अतः उसकी गंभीरता, धैर्य तथा शान्ति उसके चरित्र की पोषक ही सिद्ध होती हैं। **अवगुण्ठनम्** = घूंघट को। उस समय उच्च-कुलों की स्त्रियाँ बाहर निकलने पर घूंघट किया करती थीं। भास के नाटकों में भी घूंघट का वर्णन उपलब्ध होता है—"देव्यऽवगुण्ठनमपनयामि"॥ प्रतिमा नाटक॥ "संक्षिप्यताम् यवनिका"॥ स्वप्नवासवदत्तम्॥ **अभिज्ञास्यति** = पहचान लेगा। गौतमी को विश्वास था कि राजा शकुन्तला की आकृति देख कर उसे अवश्य पहचान लेगा। इस कारण वह शकुन्तला के घूंघट को हटाती है। **एवम् उपनतम्**—इस प्रकार अनायास ही (बिना प्रयत्न के ही) प्राप्त हुआ। एवम् शब्द का अर्थ 'इस अवस्था में विद्यमान' अर्थात् गर्भ में बच्चे को धारण किये हुए भी उचित प्रतीत होता है। ऐसा अर्थ करने पर 'अन्तस्तुषारम्' से इसका पूर्णरूपेण भाव प्रकट हो जाता है। अर्थात् जैसे कुन्द के पुष्प के अन्दर ओस की बूंदें विद्यमान हैं, उसी प्रकार शकुन्तला के उदर में 'गर्भावस्था में' विद्यमान बच्चा है। **अक्लिष्टकान्ति** = दोषरहित अथवा निर्मल कान्ति वाले। **अव्यवस्यन्** = निश्चय अथवा निर्णय करने में अपने को असमर्थ पाता हुआ। **विभाते** = प्रातःकाल के समय। कुन्द के फूल के अन्दर प्रातःकाल ही ओस के कण विद्यमान रहा करते हैं। जिस भाँति सूर्य की किरणों के द्वारा ओस के कणों के सूख जाने पर भ्रमर [illegible] होता है, उसी भाँति राजा भी अभिज्ञान (अँगूठी) के दर्शन से शाप की निवृत्ति हो जाने पर शकुन्तला को

स्वीकार कर उसकी उपमान करने में समर्थ हो सकता है। **अन्तस्तुषारम्** = जिसके उदर अर्थात् मध्य भाग में ओस की बूंदें विद्यमान हैं, ऐसा कुन्द का फूल। यहाँ शकुन्तला के लिये ओस की बूंदों से युक्त कुन्द के पुष्प की उपमा दी गई है। जैसे कुन्द के मध्य भाग (उदर) में ओस के कण विद्यमान हैं, वैसे ही शकुन्तला के उदर में भी बच्चा विद्यमान है। यहाँ दोनों की सुकुमारता, सौन्दर्य एवं गुणसम्पन्नता एक सी ही है।

राजा के "विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि" इस वाक्य से लेकर षष्ठ अंक की समाप्ति पर्यन्त विमर्शसन्धि है। यहाँ पर शाप से प्रभावित होने के कारण राजा द्वारा शकुन्तला के पहचानने में विघ्न उपस्थित हुआ है। **लक्षण** = "यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः। शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः"॥ सा० दर्पण ६।७९॥

इस श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा वास्तविकता को नहीं जान सका है अतः सन्देह में है। इस कारण यहाँ पर 'संशय' नामक नाटकीय लक्षण विद्यमान है। लक्षण—'संशयोऽज्ञाततत्त्वस्य वाक्ये स्याद् यदनिश्चयः॥ सा० दर्पण ६।१७९॥

प्रतीहारी—(स्वगतम्) [अहो धम्मावेक्खिआ भट्टिणो। ईदिसं णाम सुहोवणदं रूवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि।] अहो, धर्मापेक्षिता भर्त्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति।

प्रतीहारी—(मन में) ओह, स्वामी की कैसी धर्मनिष्ठता है! ऐसे अनायास ही प्राप्त हुये रूप को देखकर दूसरा कौन विचार करता है?

शार्ङ्गरव—भो राजन्! किमिति जोषमास्यते?

शार्ङ्गरव—हे राजन्! (आप इस भाँति) चुप क्यों बैठे हुए हैं?

राजा—भोस्तपोधनाः! चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि। तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्वलक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रिणमाशंकमानः प्रतिपत्स्ये?

राजा—हे तपस्वियो! विचार करने पर भी मैं श्रीमती के साथ विवाह करने की बात वस्तुतः स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ। तब गर्भिणी के लक्षणों से युक्त इसके प्रति अपने आप को पति (क्षेत्री) मानता हुआ मैं इसको कैसे स्वीकार करूँ?

शकुन्तला—(अपवार्य) [अज्जस्स परिणए एव्व संदेहो । कुदो दाणिं मे दूराहिरोहिणी आसा ।] आर्यस्य परिणय एव संदेहः । कुत इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा ?

शकुन्तला—(एक ओर मुख करके) आर्य को विवाह में भी सन्देह है । तब (ऐसी स्थिति में) मेरी दूर तक गई हुई आशा कैसे ? (पूर्ण हो सकती है ?)

शार्ङ्गरव—मा तावत् ।

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः
सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः ।
मुष्टं प्रतिग्राह्यता स्वमर्थं
पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥२०॥

अन्वय—कृताभिमर्शां सुतां अनुमन्यमानः मुनिः त्वया (मा तावत्) विमान्यः नाम । येन मुष्टं स्वं अर्थं प्रतिग्राह्यता दस्युः इव पात्रीकृतः असि ।

संस्कृत-व्याख्या—कृताभिमर्शाम् = कृतः विहितः अभिमर्शः बलादुपभोगः यस्याः ताम्, सुताम् = दुहितरं शकुन्तलाम्, अनुमन्यमानः = त्वत्कृतं गान्धर्व विवाहं अनुमोदमानः, मुनिः = ऋषिः कण्वः, त्वया = राज्ञा दुष्यन्तेन, मा तावत् विमान्यः नाम = न अवमाननीयः एवास्ति । येन = मुनिना, मुष्टम् = चोरितम्, स्वम् = निजम्, अर्थम् = धनं शकुन्तलारूपम्, प्रतिग्राहयता = चौराधीनं कुर्वता स्वीकारयता सता वा, दस्युः इव = चौर इव, त्वम्, पात्रीकृतः असि = पात्रतां नीतः असि ।

शार्ङ्गरव—(आप को) ऐसा नहीं चाहिये—

तुझ दुष्यन्त द्वारा जबरदस्ती उपभोग की गई हुई अपनी पुत्री शकुन्तला (के गान्धर्व विवाह) की अनुमति प्रदान करने वाले महर्षि कण्व का वस्तुतः तुम्हें अपमान नहीं करना चाहिये, जिसने चुराये हुए अपने धन (शकुन्तला) को तुम्हें समर्पित करते हुए चोर के सदृश तुमको ही एक योग्य पात्र के रूप में स्वीकार किया है ।

अलङ्कारः—इस श्लोक में 'उपमा' अलंकार है । **छन्दः**—इसमें उपजाति वृत्त है ।

समास आदि—धर्मापेक्षिणा = धर्मं अपेक्षते इति धर्मापेक्षी तस्य भावः । **अभिव्यक्त-सत्वलक्षणाम्** = अभिव्यक्तं प्रकटं सत्वस्य गर्भस्य लक्षणं चिह्नं यस्या-

स्ताम् (बहुव्रीहि) । क्षेत्रिणम् = क्षेत्रं पत्नी यस्यासौ क्षेत्री तं क्षेत्रिणम् । कृताभिमर्शाम्——कृतः अभिमर्शः यस्याः ताम् (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ——**धर्मापेक्षिता** इत्यादि = प्रतीहारी की इस उक्ति से राजा के चरित्र का पता चलता है कि उसे अपने सुख की अपेक्षा धर्म का कितना अधिक ध्यान है । **अभिव्यक्तसत्वलक्षणाम्** = जिसके गर्भ के लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहे हैं ऐसी स्त्री को । राजा के कहने का तात्पर्य यह है कि शकुन्तला गर्भिणी है तथा उसका गर्भ उसके द्वारा स्थापित नहीं है । अतः जो उससे बच्चा उत्पन्न होगा, वह किसी अन्य का होगा । ऐसी स्थिति में वह उसे कैसे स्वीकार कर ले । **क्षेत्रिणम्**——पति अथवा क्षेत्र का स्वामी । यहाँ क्षेत्र शब्द पत्नी के लिये प्रयुक्त है । जैसे कोई व्यक्ति किसी के खेत में बीज बो दे तो उस खेत में उत्पन्न अनाज उसका होगा कि जो खेत का मालिक है । इसी प्रकार स्त्री को क्षेत्र कहा गया है । दूसरे व्यक्ति के द्वारा उसमें गर्भाधान किया गया है । ऐसा होने पर भी सन्तान उसी की समझी जायगी कि जो उस स्त्री का वास्तविक पति है । ऐसी सन्तान औरस (अपनी निजी) न होकर क्षेत्रज ही कही जायगी । अतः दुष्यन्त के कथन का यही भाव है कि यह शकुन्तला किसी अन्य पुरुष से गर्भिणी है । ऐसी स्थिति में वह उसे अपनी स्त्री कैसे स्वीकार कर ले । **आर्यस्य** = श्रेष्ठ राजा अथवा महाराज को । यहाँ पर शकुन्तला ने जानबूझकर दुष्यन्त को आर्यपुत्र न कहकर आर्य ही कहा है । शकुन्तला ने जब राजा से यह सुन लिया कि वह उसकी विवाहिता पत्नी नहीं है तथा राजा को इस विषय में सन्देह है, तब उसने आर्यपुत्र कहना उचित न समझा होगा । आर्यपुत्र शब्द पति के लिये ही प्रयुक्त होता था । **दूराधिरोहिणी** = बहुत दूर तक पहुँचने वाली आशा अथवा महत्त्वाकांक्षा । शकुन्तला के मन में बड़ी-बड़ी आशायें विद्यमान थीं । उसे विश्वास था कि अब वह महारानी बनेगी । किन्तु जब राजा उसे पहचान ही न सका तो उसकी सम्पूर्ण आशाओं पर पानी फिर गया । **मा तावत्** = इसका अन्वय दो प्रकार से किया जा सकता है । (१) मा तावत् विमान्यः (अर्थात् विमान्यः के साथ)——आपके द्वारा मुनि कण्व का निरादर अथवा तिरस्कार नहीं किया जाना चाहिये । (२) अथवा इसका अन्वय श्लोक के साथ न करके इसे पृथक् रूप में ही रक्खा जाये । तब अर्थ होगा आप ऐसा न कहिये अथवा आप शकुन्तला को स्वीकार न करें । इस भाँति पृथक् रूप से ग्रहण करने से श्लोक की प्रथम पंक्ति व्यंग्यात्मक बन जाती है——"आपके द्वारा उपभोग की गई हुई पुत्री का अनुमोदन करने वाला मुनि वस्तुतः आपके द्वारा निरादृत होने योग्य ही है ।" **कृताभिमर्शाम्** = जिसके साथ तुमने छिपकर बलात्कार अथवा संभोग किया है । अभिमर्श——संभोग, स्पर्श अथवा बलात्कार । **अनुमन्यमानः** = अनुमोदन करने वाला अथवा स्वीकृति प्रदान करने वाला । तुम्हारे द्वारा किये गये हुए गान्धर्व-विवाह को स्वीकार कर लेने वाला । **विमान्यः** = अपमान किये जाने योग्य है । इसका व्यंग्यार्थ होगा——तुम ऐसे ऋषि का अपमान अवश्य करो । किन्तु इसका अन्वय जब 'मा तावत्' के साथ

किया जायगा तब यही अर्थ होगा कि ऐसे मुनि का अपमान तुम्हारे द्वारा नहीं किया जाना चाहिये। **मुष्टमर्थप्रतिग्राह्यता** = चुराये गये धन को पुनः तुम ही को ग्रहण कराते हुए। जैसे चोर को ही चोरी का सामान दे दिया जाए, ठीक उसी प्रकार चोरी का माल अर्थात् शकुन्तला को मुनि ने तुम (चोर) को ही प्रदान किया है। **दस्युरिव** = चोर के सदृश। अर्थात् तुम चोर हो, क्योंकि तुमने भी छिपकर ही ऋषि कण्व के धन (शकुन्तला) को फुसला-फुसला कर अपने अधीन किया था। **पात्रीकृतः** = फिर भी ऋषि कण्व ने तुमको सत्पात्र समझ कर ही शकुन्तला को तुम्हें प्रदान किया है।

शारद्वतः—शार्ङ्गरव ! विरम त्वमिदानीम्। शकुन्तले ! वक्तव्यमुक्तमस्माभिः। सोऽयमत्रभवानेवमाह। दीयतामस्मै प्रत्ययप्रति वचनम्।

शारद्वत—शार्ङ्गरव ! तुम अब रुक जाओ (चुप हो जाओ)। शकन्तला ! जो कहने योग्य बात थी, वह हमने कह दी। यह आदरणीय राजा इस प्रकार से कह रहे हैं। इन्हें विश्वास दिलाने वाला उत्तर दो।

शकुन्तला—(अपवार्य) [इमं अवत्थन्तरं गदे तारिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण ? अत्ता दाणिं मे सोअणीओ त्ति ववसिदं एदं ! (प्रकाशम्) अज्जउत्त ! (इत्यर्धोक्ते) ससइदे दाणिं परिणए ण एसो समुदाआरो। पोरव ! ण जुत्तं णाम दे तह पुरा अस्समपदे सहावुत्ताणहिअअं इमं जणं समअपुव्वं पतारिअ ईदिसेहिं अक्खरेहिं पच्चाचक्खिदु।] इदमवस्थान्तरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन। आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत्। (प्रकाशम्) आर्यपुत्र ! (इत्यर्धोक्ते) संशयित इदानीं परिणये नैष समुदाचारः। पौरव ! न युक्तं नाम ते तथा पुराश्रमपदे स्वभावोत्तानहृदयमिमं जनं समयपूर्वं प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम्।

शकुन्तला—(एक ओर मुख करके) उस प्रकार के प्रेम के ऐसी विपरीत अवस्था को प्राप्त हो जाने पर अब स्मरण दिलाने से क्या लाभ ? अब मैं ही शोचनीय हो गई हूँ, यह बात निश्चित है। (प्रकट रूप से) आर्यपुत्र ! (आधा ही कहकर) विवाह के सम्बन्ध में संदेहात्मकता हो जाने पर अब यह सम्बोधन करना

उचित नहीं है। हे पौरव ! आपके लिये यह उचित नहीं है कि उस प्रकार पहले आश्रम-भूमि में स्वभाव से ही छलरहित (अथवा सरल) हृदय वाले इस व्यक्ति को (मुझ शकुन्तला को) शपथपूर्वक ठगकर अब इस प्रकार के शब्दों से उसका निरादर करें।

राजा--(कर्णौं पिधाय) शान्तं पापम् ।

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम् ।

कूलंकषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च ॥२१॥

अन्वय—किं कूलंकषा सिन्धुः प्रसन्नं अम्भः तटतरुं च इव व्यपदेशं आविलयितुं इमं जनं च पातयितुं ईहसे ?

संस्कृत-व्याख्या—किम् = किमिति प्रश्ने, कूलंकषा = कूलं तटं कषति भिनत्ति इति कूलंकषा तटभंगकारिणी, सिन्धुः = नदी, प्रसन्नम् = स्वच्छं निर्मलं निर्दोषं वा, अम्भः = जलम्, आविलयितुं मलिनीकर्तुम्, तटतरुं च = तटस्थं वृक्षं च पातयितुम्, इव = सदृशं त्वम्, व्यपदेशम् = स्वकीयं वंशम्, अविलयितुम् = कलंकयितुम्, इमं जनं च = दुष्यन्तं च, पातयितुम् = पतितं कर्तुम्, ईहसे = इच्छसि ?

राजा—(दोनों कानों को ढककर) पाप शान्त हो ।

जैसे किनारों को तोड़ने वाली नदी निर्मल और स्वच्छ जल को गन्दा किया करती है तथा किनारे पर स्थित वृक्षों को गिरा दिया करती है, क्या (उसी प्रकार) तुम अपने वंश को कलंकित तथा इस व्यक्ति (दुष्यन्त) को पतित करना चाहती हो ।

अलंकार—इसमें 'उपमा' अलंकार है। *छन्दः*—इसमें आर्या छन्द है ।

व्याकरण—व्यपदेशम् = वि + अप + दिश् + घञ् । पातयितुम् = पत् + णिच् + तुमुन् । *समास आदि*—प्रत्ययप्रतिवचनम् = प्रत्ययजनकं विश्वासजनकं प्रतिवचनमुत्तरं इति प्रत्ययप्रतिवचनम् (मध्यमपदलोपी तत्पुरुष) । **स्वभावोत्तानहृदयम्** = स्वभावेन प्रकृत्या उत्तानं निश्छलं हृदयं यस्य तम् (जनम्) (बहुव्रीहि) । **समयपूर्वम्** = समयः शपथाचारः पूर्वमादौ यथा स्यात्तथा। **व्यपदेशम्** = व्यप दिश्यते अनेन इति व्यपदेशः तम्। **आविलयितुम्** = आविलं कर्त्तुम् । यहाँ 'तत्करोति तदाचष्टे' से 'णिच्' होता है। **कूलंकषा** = कूलं कषतीति । यहाँ "सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः–" अष्टा० ३।२।४२। से 'खच्' प्रत्यय तथा 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' अष्टा० ६।३।६७ । से 'मुम्' हो जाता है ।

टिप्पणियाँ—**प्रत्ययप्रतिवचनम्** = विश्वसनीय उत्तर । अब तुम ऐसी बात

कहो कि जिससे राजा तुमको सरलता पूर्वक पहचान सके और यह भी समझ सके कि वस्तुतः तुम उसकी पत्नी हो। **शोचनीयः**=सोच करने योग्य। मुझे अपने को ही धिक्कारना चाहिये। **पौरव**=शकुन्तला ने जब यह देखा कि राजा उसको पहचान नहीं रहा है तथा मेरे साथ किये हुए गान्धर्व विवाह आदि का भी उसे स्मरण नहीं आ रहा है तब उसे "आर्यपुत्र" शब्द द्वारा सम्बोधित करना भी उचित नहीं है (क्योंकि स्त्रियाँ अपने पति को 'आर्यपुत्र' कहा करती थीं)। ऐसी भावना के साथ शकुन्तला शिष्टाचार का पालन न कर सकी और उसने 'आर्यपुत्र' के स्थान पर 'पौरव' शब्द के द्वारा राजा को सम्बोधित किया। **स्वभावोत्तानहृदयम्**=स्वभाव से ही कपट-रहित हृदय वाली। **उत्तान**=ऊपर की ओर फैला हुआ, स्पष्ट अथवा कपटरहित। अर्थात् शीघ्र ही विश्वास कर लेने वाला। **समयपूर्वम्**=पहले प्रतिज्ञा करके अथवा शपथपूर्वक। **प्रत्याख्यातुम्**=अपने किये हुए कार्य अथवा अपनी की हुई प्रतिज्ञा अथवा शपथ आदि से मुकरना (विचलित होना)। **शान्तं पापम्**=पाप शान्त हो अर्थात् ऐसी बात न हो। **व्यपदेशम्**=कुल, वंश। जिसके द्वारा पुकारा जाया करता है। **आविलयितुम्**=गन्दा अथवा मलिन करने को। अर्थात् कलंकित करने को। **पातयितुम**=मुझे पतित करने के लिये अर्थात् मुझे पतित आचरण वाला कहे जाने के लिये। **कूलंकशा**=किनारों को तोड़ने वाली अर्थात् तटविनाशिनी। **सिन्धुः**—नदी।

शकुन्तला—[होदु। जइ परमत्थतो परपरिग्गहसंकिणा तुए एव्व वत्तुं पउत्त ता अहिण्णाणेण इमिणा तुह आसंकअवणइस्स।] भवतु। यदि परमार्थः परपरिग्रहशंकिना त्वयैवं वक्तुं प्रवृत्त तदभिज्ञानेनानेन तवाशंकामपनेष्यामि।

शकुन्तला—अच्छा। यदि वस्तुतः (मुझको) किसी अन्य की स्त्री समझ कर आप ऐसा कह रहे हो, तब मैं इस अभिज्ञान (चिह्नरूप में प्रदान की गई अँगूठी) के द्वारा आपके सन्देह को दूर कर दूंगी।

राजा—उदारः कल्पः।

राजा—(यह) प्रस्ताव उत्तम अथवा श्रेष्ठ है।

शकुन्तला—[मुद्रास्थानं परामृश्य] [हद्धी, अंगुली अअसुण्णा मे अंगुली]। हा धिक्। अंगुलीयकशून्या मेऽङ्गुलिः।

शकुन्तला—(अँगूठी के स्थान का स्पर्श करके) हाय, मेरी अँगुली अँगूठी से रहित है।

(इति सविषादं गौतमीमवेक्षते।)

(यह कहकर खेद के साथ गौतमी की ओर देखती है।)

गौतमी—[णूणं दे सक्कावदारब्भतरे सचीतित्थसलिलं वन्दमाणाए पब्भट्टं अंगुलीअअं ।] नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः भ्रष्टमङ्गुलीयकम् ।

गौतमी—निश्चय ही शक्रावतार तीर्थ में शचीतीर्थ के जल की वन्दना करते हुये तेरी अँगूठी गिर गई है ।

राजा—(सस्मितम्) इदं तत् प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते ।

राजा—(मुस्कराहट के साथ) यह तो वही बात हुई कि जिसके लिये कहा जाता है कि "स्त्रियाँ प्रत्युत्पन्नमति" (शीघ्र ही उत्पन्न होने वाली बुद्धि से युक्त) होती हैं ।

शकुन्तला—[एत्थ दाव विहिणा दं सिदं पहुत्तणं । अवरं दे कहिस्सं ।] अत्र तावद् विधिना दर्शितं प्रभुत्वम् । अपरं ते कथयिष्यामि ।

शकुन्तला—इसमें तो भाग्य ने अपना प्रभुत्व दिखला दिया । मैं दूसरी बात आपसे कहूंगी ।

राजा—श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम् ।

राजा—अब तो (यह) सुनने की बात हो गई ।

समास आदि—**परपरिग्रहशंकिना** = परस्य परिग्रहः कलत्रं तं शंङ्कते इति तेन । **प्रत्युत्पन्नमति** = प्रत्युत्पन्ना तात्कालिकी मतिः प्रतिभा यस्य तत् ["तात्कालिकी तु प्रतिभा प्रत्युत्पन्नमतिः स्मृता" ।] **स्त्रैणम्** = स्त्रीणां समूह इति स्त्रैणम् ।

टिप्पणियाँ—**परपरिग्रहशंकिना** = किसी अन्य की स्त्री होने की शंका से । **अभिज्ञानेन** = पहचान की अँगूठी को दिखलाकर । **उदारः कल्पः** = उत्तम विचार अथवा प्रस्ताव । उदार—श्रेष्ठ अथवा उत्तम । कल्प—प्रस्ताव अथवा विचार । यह एक मुहावरा है । यदि संकल्प शब्द पर ध्यान दिया जाय तो कल्प शब्द का अर्थ स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है । **शक्रावतार** = इन्द्र का घाट अथवा इन्द्र को प्रिय लगने वाला घाट । अवतार—शब्द का अर्थ है ढलवाँ स्थान—जहाँ से नदी आदि में सरलतापूर्वक उतरकर स्नानादि किया जा सकता है । हस्तिनापुर के समीप में किसी नदी के घाट का नाम 'शक्रावतार' रहा होगा । **शचीतीर्थः** = यह शक्रावतार के अन्दर ही एक ओर बना हुआ स्थल रहा होगा । अथवा

किसी जलाशय का भी नाम हो सकता है। सम्भव है कि उसी शक्रावतार के समीप 'शचीतीर्थ' नाम का कोई जलाशय उस समय रहा हो कि जिसमें शकुन्तला ने पूजा आदि की हो तथा वहीं पर जल का अर्घ देते समय उसकी अँगूठी जल में गिर गई हो। अङ्गुलीयकम् = अँगूठी। यहाँ "जिह्वामूलांगुलेश्छः" अष्टाध्यायी ४।६।३२। से छ (ईय) प्रत्यय होकर स्वार्थ में 'क' होता है। इदं तत् = यह वही बात है कि जिसको 'प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणम्' कहा जाता है। गौतमी द्वारा शकुन्तला को दिये गये उत्तर को राजा 'तुरन्त बनाई हुई बात' कहता है। प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणम् = स्त्रियाँ प्रत्युत्पन्नमति (हाजिर जवाब) अर्थात् तुरन्त बात बनाकर उत्तर देने वाली हुआ करती हैं। यह एक मुहावरा है। इसको दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि स्त्रियाँ बात बनाने में अत्यन्त चतुर हुआ करती हैं। स्त्रैणम् = स्त्रियों का समूह अथवा स्त्रीजाति। यहाँ स्त्री शब्द से समूह अथवा जाति अर्थ में "स्त्री पुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्" अष्टा० ४।१।८७। से नञ् प्रत्यय होता है। प्रभुत्वम् = (मेरे दुर्भाग्य ने अपना) बल अथवा प्रभाव दिखलाया है। श्रोतव्यम् = सुनने योग्य बात। अर्थात् जो प्रमाण शकुन्तला कुछ क्षण पूर्व देने जा रही थी वह देखने का विषय (द्रष्टव्य) था किन्तु अब सुनने का विषय (श्रोतव्य) हो गया है। यह राजा का शकुन्तला के प्रति किया गया एक व्यंग है। तात्पर्य यह है कि अँगूठी दिखलाने की बात तो समाप्त हो चुकी। अब कहानी सुनना शेष रह गया है।

शकुन्तला—[णं एक्कस्सिं दिअहे णोमालिआमण्डवे णलिणीपत्तभाअणगअं उअअं तुह हत्थे सण्णिहिदं आसि।] नन्वेकस्मिन् दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते सन्निहितमासीत्।

शकुन्तला—एक दिन चमेली के मण्डप में (जब हम दोनों वहाँ विद्यमान थे), कमलपत्र के दोने में रखा हुआ जल आपके हाथ में था।

राजा—शृणुमस्तावत्।

राजा—हम सुन रहे हैं।

शकुन्तला—[तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापंगो णाम मिअपोदओ उवट्ठिदो। तुए अअं दाव पढमं पिअउत्ति अणुअंपिणा उवच्छन्दिदो उअएण। ण उण दे अपरिच्चआदो हत्थब्भासं उवगदो। पच्छा तस्सिं एव्व मए गहिदे सलिले णेण किदो पणओ। तदा तुमं इत्थं पहसिदो सि। सव्वो सगन्धेसु विस्ससिदि। दुवेवि एत्थ आर-

णआ त्ति ।] तत्क्षणे मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः। त्वयायं तावत् प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन । न पुनस्तेऽपरिचयाद्धस्ताभ्याशमुपगतः । पश्चात् तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः । तदा त्वमित्थं प्रहसितोऽसि सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति । द्वावप्यत्रारण्यकाविति ।

शकुन्तला——उसी समय मेरे द्वारा पुत्रवत् पालित वह दीर्घापांग नामक मृग का बच्चा वहाँ आ गया । आपने 'यह पहले जल पी ले' इस भाव के साथ दया दिखलाते हुए उसे जल पीने के लिये फुसलाया । किन्तु आपसे अपरिचित होने के कारण (वह) आपके हाथ के पास नहीं आया । बाद में उसी जल को मेरे द्वारा अपने हाथ में ले लिये जाने पर उसने उसे पी लिया । उस समय आपने इस प्रकार उपहास किया था——"सभी अपने साथियों पर विश्वास करते हैं, तुम दोनों ही यहाँ वनवासी हो ।"

राजा——एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः ।

राजा——अपने स्वार्थ को सिद्ध करने वाली स्त्रियों के इस प्रकार के झूठ से भरे हुये मधु (शहद)- सदृश वचनों से विषयी लोग ही आकृष्ट हुआ करते हैं ।

गौतमी——[महाभाअ ! ण अरुहसि एव्वं मन्तिदुं । तवोवणसंवड्ढिदो अणभिण्णो अअं जणो कइदवस्स ।] महाभाग ! नार्हस्येवं मन्त्रयितुम् । तपोवन-संवर्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य ।

गौतमी——महाभाग ! आपको ऐसा कहना उचित नहीं है । तपोवन में पाला-पोसा गया यह व्यक्ति (शकुन्तला) छल-कपट से (सर्वथा) अपरिचित है ।

राजा——तापसवृद्धे !

स्त्रीणामशिक्षित-पटुत्वममानुषीषु
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात-
अन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥२२॥

अन्वय—स्त्रीणां अमानुषीषु (अपि) अशिक्षितपटुत्वं संदृश्यते । याः प्रतिबोधवत्यः (तासां) किमुत । परभृताः खलु अन्तरिक्षगमनात् प्राक् स्वं अपत्यजातं अन्यैः द्विजैः पोषयन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—स्त्रीणाम् = स्त्रीणां मध्ये, अमानुषीषु = वञ्चकवागादिव्यवहाररहितासु मनुष्येतरासु (पशुपक्षिणीनां स्त्रीषु इत्यर्थः) स्त्रीषु, अशिक्षितपटुत्वम् = शिक्षां विनापि नैसर्गिकं चातुर्यम्, संदृश्यते = संलक्ष्यते समवलोक्यते वा । याः = स्त्रियः पुनः, प्रतिबोधवत्यः = ज्ञानसंपन्नाः वागादिव्यवहारकुशलाः मानुष्यः सन्ति, तासाम् = स्त्रीणाम् विषयं, किमुत = किं वक्तव्यम् । परभृताः = कोकिलाः, खलु = निश्चयेन, अन्तरिक्षगमनात् = अन्तरिक्षे आकाशेन गमनात् उड्डयनात्, प्राक् = पूर्वम्, स्वम् = स्वकीयम्, अपत्यजातम् = सन्तानसामान्यम् (जातिजातञ्च सामान्यम् इत्यमरः), अन्यैः = इतरैः, द्विजैः = पक्षिभिः काकैरित्यर्थः, पोषयन्ति = पालयन्ति । कोकिलाः स्वानि अपत्यानि काककुलायेषु निक्षिपन्ति काकाश्च स्वापत्यबुद्धया तानि पोषयन्तीति लोकवार्त्ता । तथा पक्षित्वे सत्यपि कोकिलाया ईदृशचातुर्यदर्शनात् मानुषीरूपायाः शकुन्ततलायाः तपोवनवर्द्धितत्वेऽपि संगतानृतवादित्वरूपं पटुत्वं भविष्यतीत्यर्थे नास्ति सन्देहावसरः इति भावः ।

राजा—हे वृद्ध तपस्विनी !

मनुष्य जाति से भिन्न पशु-पक्षी आदि जाति की स्त्रियों में भी बिना शिक्षा के ही चतुरता देखी जाती है । फिर जो ज्ञानसम्पन्न (मनुष्य जाति की स्त्रियाँ) हैं उनका तो कहना ही क्या है ? कोयलें आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त होने तक अपने बच्चों का अन्य पक्षियों (कौओं) के द्वारा पालन-पोषण करा लेती हैं ।

अलंकार—उक्त श्लोक के उत्तरार्ध (विशेष) के द्वारा पूर्वार्ध (सामान्य) का समर्थन किये जाने से 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है । शकुन्तला के स्थान पर स्त्री-मात्र का वर्णन किये जाने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है । छन्दः—इसमें वसन्ततिलका वृत्त है ।

व्याकरण—संनिहितम् = सम् + नि + धा + क्त । प्रतिबोधवत्यः = प्रति + बुध् + घञ् । अन्तरिक्ष = अन्तर् + ईक्ष् + घञ् । *समास आदि*—नलिनीपत्रभाजनगतम् = नलिन्याः पत्रमेव भाजनं तत्र गतम् स्थितम् । पुत्रकृतकः = पुत्र इव कृतः पुत्रकृतः स पुत्रकृतकः (कृत्रिमपुत्रः) । अनुकम्पिना = अनुकम्पितवान् इति अनुकम्पी तेन । हस्ताभ्याशम् = हस्तस्य अभ्याशं समीपम् । सगन्धेषु = समानो गन्धः सम्बन्धो येषां ते सगन्धा बन्धवः स्वयूथ्या वा तेषु । यहाँ "समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु" अष्टा० ६।३।८४ से समानस्य के योगविभाग से समान के स्थान पर 'स' आदेश हो जाता है । किन्तु भट्टोजि दीक्षित

तथा हरदत्त के मतानुसार यहाँ पर 'सह' शब्द है और उसके स्थान पर अस्वपद-बहुव्रीहि समास करने पर 'वोपसर्जनस्य'' अष्टा० ६।३।८२ से 'स' आदेश हो जाता है। सदृशः गन्धो येषां ते सगन्धाः तेषु। **आरण्यकौ**=अरण्ये भवः आरण्यकः तौ। यहाँ ''अरण्यान्मनुष्ये'' अष्टा० ४।२।१२९। से वुञ् (अक) प्रत्यय होता है। **आत्मकार्यनिर्वर्तिनीनाम्**=आत्मनः कार्यं आत्मकार्यम् तस्य निर्वर्तिन्यः सा साधिकाः तासाम्। **अनृतमयवाङ्मधुभिः**=अनृतस्य प्राचुर्यमासु ता अनृपमय्यः ताश्च वाच इत्यनृतमयवाचः, ता एव मधूनि तैः। **तापसवृद्धे**= वृद्धा तापसी इति। यह कर्मधारय समास है। यहाँ पर ''कडाराः कर्मधारये'' अष्टा० २।२।३८ से 'वृद्ध' का विकल्प से परनिपात हो जाता है। **अशिक्षितपटुत्वम्**=अशिक्षितं च तत् पटुत्वम्। **अन्तरिक्ष**=अन्तः द्यावा पृथिव्योः मध्य ईक्ष्यते इति। अथवा अन्तः ऋक्षाणि यस्य तत् (जिसके मध्य में नक्षत्र हैं।) **परभृताः**=परैः अन्यैः (काकैः) भ्रियन्ते बाल्यकाले पुष्यन्ते इति परभृताः।

टिप्पणियाँ—**श्रृणुमस्तावत्**=राजा द्वारा कथित यह वाक्य राजा की उपेक्षा दृष्टि को सूचित करता है। क्योंकि शकुन्तला अपने कथनानुसार प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं दे सकी तथा अब घटनामात्र का वर्णन कर राजा को विश्वास दिलाना चाहती है। राजा तो शाप के वशीभूत है, इस कारण उसे कुछ भी स्मरण नहीं आ रहा है। इस कारण वह शकुन्तला द्वारा कही गई बात को केवल कल्पित ही मानता है। **पुत्रकृतकः**=पुत्र के सदृश पाला गया हुआ अथवा कृत्रिमपुत्र। **मृगपोतकः**=हिरण का बच्चा। **उपच्छन्दितः**=स्नेहपूर्वक बुलाया, प्रार्थना की अथवा आमन्त्रित किया। यहाँ यह तात्पर्य है कि राजा ने उसको जल पीने के लिये आमन्त्रित किया अथवा उसे जल पीने के लिये स्नेह के साथ बुलाया। **हस्ताभ्याशम्**=हाथ के पास। अभ्याश—समीप, पास। **कृतः प्रणयः**=प्रेम किया अर्थात् उस जल को पी लिया। **सगन्धेषु**=एक ही वर्ग के अथवा बन्धु-जन। गन्ध शब्द के अर्थ हैं—''गन्धो गन्धक आमोदे लेशे संबन्धवर्गयोः।'' इति विश्वः। एक सम्बन्ध वाले अथवा एक प्रकार के गुणों को धारण करने वाले। **आरण्यकौ**=वन में रहने वाले अथवा जंगली। **आत्मकार्यनिर्वर्तिनीनाम्**= अपने कार्य अथवा स्वार्थ को सिद्ध करने वाली स्त्रियों के। **अनृतमयवाङ्मधुभिः** =झूठे वचन रूपी मधु से। **विषयिणः**=विषयी अथवा कामुक पुरुष। इस प्रकार की बातों पर विषयी (कामुक) पुरुष ही विश्वास करते हैं। **तापसवृद्धे**=वृद्ध तपस्विनी। वैसे 'वृद्ध-तापसी' यह प्रयोग अधिक प्रचलित है। यह विशेषण राजा के क्रोध को बतलाने वाला है। **स्त्रीणाम्. . .अमानुषीषु**=मनुष्य जाति से भिन्न अर्थात् पशु-पक्षी आदि जाति की स्त्रियों में भी स्वाभाविक चतुरता देखी जाती है। **अशिक्षितपटुत्वम्**=बिना सीखे ही अर्थात् स्वाभाविक चतुरता अथवा चालाकी। इस सम्बन्ध का वर्णन मृच्छकटिक में भी उपलब्ध होता है:—''स्त्रियो हि नाम खल्वेताः निसर्गादेव पण्डिताः। पुरुषाणां तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते॥'' मृच्छ० ४।१९। मालविकाग्निमित्र में भी—''वयस्य निसर्गनिपुणाः स्त्रियः।

(अंक–३)। प्रतिबोधवत्यः = ज्ञानयुक्त—अथवा ज्ञान रखने वाली। 'प्रतिबोध' शब्द का अर्थ है—शिक्षा तथा अनुभव से प्राप्त ज्ञान। किमुत = ज्ञान-सम्पन्न (शिक्षित) स्त्रियों का तो फिर कहना ही क्या? अन्तरिक्षगमनात् = आकाश में उड़ने लायक शक्ति आ जाने के समय तक। अन्तरिक्ष = वह स्थान जो कि द्युलोक और पृथिवी-लोक के मध्य में है। अपत्यजातम् = बच्चों को। अन्यैः द्विजैः = दूसरे पक्षियों (कौओं) के द्वारा। परभृताः = दूसरों के द्वारा पालित-पोषित अर्थात् कौओं के द्वारा पाली गई हुई। ऐसी लोकश्रुति है कि कोयल अपने बच्चों को कौए के घोंसलें में जाकर छोड़ दिया करती है और कौये उन्हें अपना बच्चा समझ कर उनका पालन-पोषण किया करते हैं। जब वे आकाश में उड़ने योग्य हो जाते हैं तब वे वहाँ से उड़कर चले जाया करते हैं।

इस श्लोक के उत्तरार्ध भाग का सीधा अर्थ तो कोयल के पक्ष में है। किन्तु व्यंग्यार्थ की दृष्टि से विचार करने पर उसमें शकुन्तला की उत्पत्ति की कथा का भान होता है। 'परभृताः' शब्द यहाँ मेनका के लिये प्रयुक्त है। यह भी अप्सरा थी तथा इसका सम्बन्ध अनेक व्यक्तियों से होने के कारण यह भी दूसरों द्वारा पोषित थी। 'स्वमपत्यजातम्' यह शब्द मेनका की पुत्री शकुन्तला का सूचक है। 'अन्यैः द्विजैः'—यह पद ऋषि कण्व का व्यञ्जक है। 'अन्तरिक्षगमनात् प्राक्'—यह शकुन्तला को जन्म देकर आकाश में उड़कर चले जाने के पूर्व के काल का बोधक है। संभव है कि इस श्लोक को सुनकर व्यंगयार्थ द्वारा शकुन्तला ने अपने जन्म का सम्बन्ध समझा हो। अतः इस आधार पर उसने यही धारणा बनाई होगी कि राजा मुझे पहचानते हुये होने पर भी न पहचानने जैसा अभिनय कर रहा है। ऐसा भान होने पर शकुन्तला के अन्दर क्रोध की उत्पत्ति हो जाना स्वाभाविक ही था। इसके अतिरिक्त यह ज्ञात होने पर कि राजा उसे एक परभृता की पुत्री समझता है, उसका क्रोध अन्तिम सीमा तक पहुँच गया होगा। इसी कारण अपने पिता कण्व द्वारा दी गई शिक्षा "भर्त्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः" को भुलाकर उसने अपने पति दुष्यन्त को 'अनार्य' तथा 'धोखेबाज़' शब्दों द्वारा भी अभिप्रेत किया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह श्लोक आगे आने वाली कथा का भी सूचक है। जिसमें 'परभृताः' शब्द शकुन्तला का सूचक है। 'स्वमपत्यजातं' शब्द 'सर्वदमन' का सूचक है। 'अन्यैर्द्विजैः' यह मारीच के आश्रम में निवास करने वाले ऋषियों का द्योतक है। 'प्रागन्तरिक्षगमनात्'—यह देवलोक से वापिस आते समय राजा का शकुन्तला से मिलन होने से पूर्व के समय का सूचक है। इस मिलन के पूर्व तक तो 'सर्वदमन' के पालन-पोषण का भार मारीच आश्रम के ऋषियों पर ही था। किन्तु यह कल्पना एक क्लिष्ट-कल्पना ही प्रतीत होती है। शकुन्तला-आश्रम में ही अपने पुत्र के समीप ही विद्यमान है। वह स्वयं ही अपने पुत्र का पालन-पोषण करती होगी। हाँ, यह अवश्य संभव हो सकता है कि उसके पालन-पोषण का भार अथवा उत्तरदायित्व ऋषियों पर अवलम्बित रहा हो। किन्तु कोयल तो अपने बच्चों के अन्तरिक्ष में उड़ने लायक

होने तक उनको अपना दर्शन तक नहीं देती है। अतः इस प्रकार की दुरूह कल्पना कल्पना-मात्र ही कही जा सकती है। इसी प्रकार यहाँ दी हुई प्रथम कल्पना भी अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होती है। राजा ने व्यंग्य में इस प्रकार से जानबूझ कर शकुन्तला से कहा हो, यह बात भी कुछ समझ में नहीं आती क्योंकि राजा तो शाप के कारण उसके विषय में सब कुछ भूल चुका है। यदि उसके स्मरण में कुछ भी होता तब तो वह शकुन्तला को पहचान ही सकता था। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसके शब्दों से शकुन्तला ने व्यंग्यार्थ ग्रहण कर लिया हो। क्योंकि उसको शाप का ज्ञान था ही नहीं।

शकुन्तला—[अणज्ज ! अत्तणो हिअआणुमाणेण पेक्खसि। को दाणिं अण्णो धम्मकञ्चुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदिं पडिवदिस्सदि।] (सरोषम्) अनार्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि। क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृण-च्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते।

शकुन्तला—(क्रोध के साथ) अनार्य ! तू अपने हृदय के समान ही सब को देख रहा है। धर्म के चोग़े को धारण किये हुये तिनकों से ढके हुये कुयें के सदृश तुम्हारे जैसा और कौन (दूसरा) हो सकता है कि जो तेरा अनुकरण कर सके।

राजा—(आत्मगतम्) सन्दिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते। तथा ह्यनया—

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥२३॥

अन्वय—विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ मयि एव रहः वृत्तं प्रणयं अप्रतिपद्य-माने अतिरुषा अतिलोहिताक्ष्या अनया कुटिलयोः भ्रुवोः भेदात् स्मरस्य शरासनं भग्नं इव।

संस्कृत-व्याख्या—विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ = विस्मरणेन विस्मृत्या दारुणा अतिकर्कशा चित्तवृत्तिः मनोवृत्तिः यस्य तस्मिन्, मयि एव = दुष्यन्ते एव, रहः = एकान्ते, वृत्तम् = संजातम्, प्रणयम् = स्नेहम्, अप्रतिपद्यमाने = अस्वी-कुर्वाणे सति, अतिरुषा = प्रबलेन कोपेन, अतिलोहिताक्ष्या = अतिलोहिते अति-

रक्तवर्णे अक्षिणी नेत्रे यस्याः तया, अनया = शकुन्तलया, कुटिलयोः = वक्रयोः, भ्रुवोः भेदात् = भ्रूभंगात् (भ्रुवोः भङ्गं विधाय इत्यर्थः) स्मरस्य = कामस्य, शरासनम्—धनुः, भग्नं इव—त्रोटितमिव ।

राजा—(मन में) मुझे संदेहयुक्त बुद्धि वाला बनाता हुआ इसका (शकुन्तला का) यह क्रोध छलरहित (अकृत्रिम अथवा यथार्थ) सा ही प्रतीत हो रहा है । क्योंकि—

विस्मृति के कारण कर्कश मनोवृत्ति वाले मेरे द्वारा ही एकान्त में किये गये हुये स्नेह-बन्धन को स्वीकार न करने पर, अत्यधिक क्रोध के कारण लाल नेत्रों वाली इस (शकुन्तला) ने अपनी तिरछी भौंहों को चढ़ाकर (मानों) कामदेव के धनुष को ही तोड़ दिया है ।

(प्रकाशम्) भद्रे ! प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम् । तथापीदं न लक्षये ।

(प्रकट रूप से) भद्रे ! दुष्यन्त का चरित (आचरण) सर्वत्र प्रसिद्ध है । फिर भी मैं यह (वंचकता) अपने में नहीं देख रहा हूँ ।

अलंकारः—उपर्युक्त श्लोक में 'इव' के द्वारा उत्प्रेक्षा की गई है । (अर्थात् क्रोध के कारण भौंहों के चढ़ जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कामदेव का धनुष ही टूट गया हो ।) अतः उत्प्रेक्षा अलंकार हैं । अतिलोहित नेत्रों के होने का कारण अति-क्रोध ही है अतः काव्यलिंग अलंकार भी है । *छन्दः*—इसमें वसन्ततिलका वृत्त है ।

समास आदिः—**धर्मकञ्चुकप्रवेशिनः**—धर्मस्य कञ्चुकं प्रविशतीति तस्य । यहाँ तच्छील अर्थ में णिनि होता है । **अकैतवः** = अविद्यमानं कैतवं यस्मिन् सः (एतादृशः कोपः) । **विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ** = विस्मरणेन दारुणा चित्तवृत्तिः यस्य तस्मिन् (बहुव्रीहि) । **तृणच्छन्नकूपोपमस्य** = तृणैः छन्नः यः कूपः सः उपमा यस्य तस्य (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**सरोषम्** = क्रोध के साथ । राजा ने गौतमी के कथन पर आपत्ति प्रकट की तथा व्यंग्य भी किया । इस भाँति उन्होंने गौतमी का अपमान किया । शकुन्तला को 'परभृता' की पुत्री कहकर उसका भी व्यंग्य किया । परिणामतः उसके मन में क्रोध उत्पन्न हो गया । **अनार्य** = आर्य के गुणों के विरुद्ध आचरण करने वाले अथवा दुष्ट, नीच । क्रोध में आकर मनुष्य की बुद्धि ही विकृत हो जाती है । ऐसी स्थिति में वह अपने कर्तव्य को भूलकर अकर्तव्य भी कर सकता है । ऐसी ही स्थिति शकुन्तला की भी हो गई थी । अतः इसमें उसका कोई अपना दोष नहीं है । गीता में भी आता है:—

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

धर्मकञ्चुकप्रवेशिनः—धर्म के चोगे में प्रवेश करने वाला अथवा उस चोगे के नीचे अपने शरीर को छिपाने वाला। भाव यह है कि धर्म का चोगा पहिन कर अपने को धार्मिक कहने वाले। **तृणच्छन्नकूपोपमस्य**=तिनकों अथवा घास से ढके हुये कुयें के सदृश अर्थात् धोखेबाज़। घास से ढके हुये कुयें की भूमि समझकर यदि कोई उसके ऊपर पैर रखेगा तो नीचे गिर जायगा। शकुन्तला ने सज्जन पुरुष समझ कर ही राजा से अपना सम्बन्ध किया था किन्तु वह धोखेबाज़ निकला। **त्वानुकृतिम् प्रतिपत्स्यते**=कौन तुम्हारा अनुकरण कर सकता है अर्थात् कोई नहीं। इस वाक्य में क्रोध से भरे वचनों के होने से 'संफेट' नामक विमर्श सन्धि का अंग विद्यमान है। उसका लक्षण है:—"संफेटो रोषभाषणम्"। सा० दर्पण ६।१०२॥ **संदिग्धबुद्धि...इत्यादि**= मेरे निश्चय को सन्देह-युक्त करता हुआ। **अकैतव इव**=अकृत्रिम जैसा। अर्थात् इस शकुन्तला का क्रोध स्वाभाविक है। **विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ**=विस्मृत (भूल) हो जाने के कारण कठोर मनोवृत्ति वाले। हो सकता है कि मुझे वह घटना विस्मृत हो गई हो। इसी कारण मैं कठोर हो रहा हूँ। **रहः वृत्तं प्रणयम्**=एकान्त में हुये प्रेम को! मैंने एकान्त स्थान में प्रेम किया और इस समय मैं उसे स्वीकार नहीं कर रहा हूँ। **भ्रुवोः भेदात् इत्यादि**=भौंहों के चढ़ा लेने से। अति क्रोध के कारण अत्यधिक लाल आँखों वाली इस रमणी ने टेढ़ी भौंहों के मध्य भाग से पृथक् हो जाने के कारण मानो कामदेव का धनुष ही तोड़ डाला है। जब दोनों भौंहों अत्यधिक चढ़ने के कारण टेढ़ी हो जाया करती हैं तो वे बीच से अलग हुई सी प्रतीत होती हैं। ऐसी दशा में ऐसा प्रतीत होने लगा करता है कि मानो प्रत्यञ्चा को अत्यधिक तान देने के कारण धनुष बीच से ही टूट गया हो। **इदं न लक्षये**=(तुमने जो वंचकता सम्बन्धी दोष मेरे ऊपर लगा दिया है) वह मुझे अपने में नहीं दिखलाई पड़ रहा है। मैंने अपने इतने जीवन में आज तक किसी को भी कभी भी धोखा नहीं दिया है।

शकुन्तला—[सुट्ठु दाव अत्त स्वच्छन्दचारिणी किदम्हि। जा अहं इमस्स पुरुवंसप्पच्चएण मुहमधो हिअअट्ठिअविसस्स हत्थब्भासं उवगदा।] सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृतास्मि। याऽहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोहृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता।

(इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति।)

शकुन्तला—अच्छा, तो अब मैं चरित्रहीन सिद्ध कर दी गई हूँ, जो मैं पुरुकुल के विश्वास पर मुख में मधु एवं हृदय में अन्दर विष भरे (इस राजा) के हाथ में पड़ी।

(यह कहकर आंचल से मुख ढककर रोती है ।)

शार्ङ्गरवः—इत्थमात्मकृतमप्रतिहतं चापलं दहति ।
अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेव वैरीभवति सौहृदम् ॥२४॥

अन्वय—अतः रहः संगतं विशेषात् परीक्ष्य कर्तव्यम् । अज्ञातहृदयेषु सौहृदं एवं वैरीभवति ।

संस्कृत-व्याख्या—अतः=अस्मात् कारणात्, रहः=एकान्ते, संगतम्=समागमः प्रणयसम्बन्धादिकं वा, विशेषात्=विशेषरूपेण, परीक्ष्य=स्वभावादिकं सम्यक् विमृश्य, कर्तव्यम्=विधेयम् । अज्ञातहृदयेषु=न ज्ञातं हृदयं मनो येषां तेषु (परस्परं अज्ञातचित्तेषु जनेषु इत्यर्थः), सौहृदम्=मैत्री, एवम्=अनेन प्रकारेण (शकुन्तला-दुष्यन्तगतरीत्या), वैरीभवति=शत्रुतामापद्यते ।

शार्ङ्गरवः—इस भाँति अपने आप की गई नियन्त्रण रहित चंचलता दुःख देती है ।

अतः एकान्त में किया गया समागम (मैत्री, गुप्त विवाहादि सम्बन्ध) विशेष रूप से परीक्षा करने के पश्चात् ही करना चाहिये । परस्पर अज्ञात-हृदय वाले व्यक्तियों के प्रति किया गया प्रेम इसी प्रकार वैर (शत्रुता) रूप में बदल जाया करता है ।

अलंकार—यहाँ श्लोक की प्रथम पंक्ति में वर्णित विशेष का द्वितीय पंक्ति में वर्णित सामान्य के द्वारा वैधर्म्य से समर्थन किये जाने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है । श्लोक के पूर्वार्ध के प्रति उत्तरार्ध के कारण होने से 'काव्यलिंग' अलंकार है । **छन्दः**—इसमें श्लोक नामक वृत्त है ।

समास आदि—**मुखमधोः**=मुखे मधु यस्य सः तस्य (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**स्वच्छन्दचारिणी**=अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करने वाली । परिणाम के बिना सोचे-समझे अपनी इच्छा से विवाह-सम्बन्ध आदि कर लेने के ही कारण शकुन्तला अपने को 'स्वच्छन्दचारिणी' कह रही है । अब उसे पश्चात्ताप हो रहा है कि उसने अपने पिता आदि की विना अनुमति के ही अपनी इच्छानुसार दुष्यन्त से विवाह क्यों कर लिया ? अनियन्त्रित होने (अर्थात् किसी के नियन्त्रण में न रहने) के कारण इसका अर्थ आचरणहीन भी किया जा सकता है । **मुखमधोः**—मुख में शहद वाले अर्थात् मुख से मधुरभाषी । **हृदयस्थित-विषस्य**=जिसके हृदय में विष भरा हुआ है । इस प्रकार के दुर्जनों से मित्रता न करने का विधान भी है "वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्" । **अप्रतिहतम्**=नियन्त्रणविहीन । **दहति**=जलाती है अर्थात् दुःखदायी होती है ।

अप्रतिहतम् चापलं दहति—नियन्त्रणरहित चंचलता परिणाम में दुःखदायी हुआ करती है। भारवि ने अपने महाकाव्य किरातार्जुनीय में ठीक ही कहा है— "सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्" ॥ (किरात० २।३०)। **अतः परीक्ष्य कर्तव्यम्...इत्यादि**—किसी भी प्रकार की मित्रता अथवा सम्बन्ध भलीभाँति एक दूसरे की परीक्षा करके ही करना चाहिये। गुप्त मैत्री अथवा एकान्त में किया गया विवाह सम्बन्ध आदि विशेष रूप से एक दूसरे के हृदयों की भलीभाँति परीक्षा कर लेने तथा एक दूसरे से भलीभाँति परिचित हो जाने पर ही किया जाना चाहिये। नहीं तो इस प्रकार किया गया सम्बन्ध बाद में शत्रुता में परिणत हो जाया करता है। जैसे दुष्यन्त और शकुन्तला का एकान्त में किया गया यह प्रेम-विवाह अथवा गान्धर्व विवाह दुःख तथा पारस्परिक अप्रीति का कारण बना है। इस भाँति आधुनिक युग में प्रचलित प्रेम-विवाह अथवा कालिदास-कालीन गान्धर्व-विवाहों का होना अनुचित ही है। इससे यह भी विदित होता है कि कालिदास के युग में गान्धर्व-विवाह पद्धति को समाज में एक अच्छा स्थान प्राप्त न था तथा इस प्रकार के विवाहों को अच्छा नहीं समझा जाता था। इस भाँति कालिदास ने शार्ङ्गरव के शब्दों में अपना मत अभिव्यक्त किया है। शार्ङ्गरव के कथन से तथा उद्धरण रूप में विद्यमान दुष्यन्त और शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह रूप सम्बन्ध से गान्धर्व-विवाह के दोषों का भी स्पष्टीकरण हो जाता है।

राजा—अयि भोः। किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान् संयुत-दोषाक्षरैः क्षिणुथ ?

क्षिणुथ - scold

राजा—हे महानुभावो ! इन (शकुन्तला) पर विश्वास के कारण ही दोषयुक्त वाक्यों के द्वारा मुझे क्यों दुःखित कर रहे हो ?

शार्ङ्गरवः—(सासूयम्) श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम्।

आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो य-
स्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।
cheating of others
परातिसन्धानमधीयते यै-
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥२५॥

अन्वयः—यः आजन्मनः शाठ्यं अशिक्षितः, तस्य जनस्य वचनं अप्रमाणम्। यैः परातिसन्धानं विद्या इति अधीयते ते किल आप्तवाचः सन्तु।

संस्कृत-व्याख्या—यः = जनः (शकुन्तलारूपः), आजन्मनः = जन्मनः आरभ्य, शाठ्यम् = शठतां परवञ्चनम् वा, अशिक्षितः = स्वेनान्यैर्वाननशिक्षितः,

तस्य जनस्य=अशाठ्यवत: जनस्य शकुन्तलाया: इत्यर्थ:, वचनम्=कथनम्, अप्रमाणम्=असत्यं भवतु। यै:=जनै: नृपादिभि: प्रकृते दुष्यन्तेनेत्यर्थ:, परातिसन्धानम्=परेषां अन्येषां अतिसन्धानं वञ्चनम्, विद्या इति=विद्यारूपेण, अधीयते=नियमपूर्वकं पठ्यते, ते किल=जना:, आप्तवाच:=आप्ता: विश्वासयोग्या: वाच: वाक्यानि येषां ते तादृशा:, सन्तु=भवन्तु।

शार्ङ्गरव—(ईर्ष्या के भाव के साथ) आप लोगों ने निकृष्ट उत्तर (अथवा उलटी बात) सुन ली ?

जिसने जन्म से लेकर (आज तक) धूर्तता नहीं सीखी, उस व्यक्ति का वचन तो अप्रामाणिक है। और जो दूसरों को धोखा देना विद्या समझकर सीखते हैं वे पूर्ण सत्यवादी मान लिये जायें ?

अलंकार:—इस श्लोक में वर्णित शकुन्तला तथा दुष्यन्त के कथन के स्थान पर सामान्य वर्णन प्रस्तुत होने के करण 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार है। 'परातिसन्धान' पर विद्या का आरोप होने से 'रूपक' अलंकार है। छन्द:—इसमें उपजाति वृत्त है।

व्याकरण:—**आजन्मन:**=यहाँ 'आङ्मर्यादावचने' अष्टा० १।४।८९। से कर्मप्रवचनीय तथा 'पञ्चम्यपाङ्परिभि:' अष्टा० २।३।१०। से आ के योग में पंचमी विभक्ति होती है। **अतिसन्धानम्**=अति+सम्+धा+ल्युट् (अन)।

समास आदि:—**अत्रभवतीप्रत्ययात्**=अत्र भवत्या : पूज्याया: प्रत्ययाद् विश्वासात् (तत्पुरुष)। **संयुतदोषाक्षरै:**=संयुत: संपृक्तो दोषो येषु तानि-तानि चाक्षराणि तै: (तत्पुरुष)। **अधरोत्तरम्**=अधरं च उत्तरं च (द्वन्द्व-समास) "विभाषा वृक्षमृगतृणधान्य..." अष्टा० २।४।१२। से एकवचन हो जाता है। अथवा – अधरं च तत् उत्तरम् (कर्मधारय)। **परातिसन्धानम्**=परेषां अतिसन्धानम् (तत्पुरुष)। **आप्तवाच:**=आप्ता: वाच: येषां ते (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ:—**संयुतदोषाक्षरै:**=दोष पूर्ण वाक्यों के द्वारा। संयुत–संयुक्त अथवा पूर्ण। **क्षिणुथ**—दु:खित करते हो, पीड़ित करते हो। **सासूयम्**=ईर्ष्या के साथ। गुणों में दोष निकालना, छिद्रान्वेषण करना अथवा बुराई निकालना, इत्यादि असूया के अर्थ हो सकते हैं। ईर्ष्या–शब्द का अर्थ डाह भी है। **अधरोत्तरम**=इसके यहाँ पर दो अर्थ किये जा सकते हैं—(१) निकृष्ट उत्तर [अधरे च तत् उत्तरम्।] (२) उलटी ही बात (अधरं च उत्तरं च अथवा अधरं च तत् उत्तरम्) यहाँ 'अधर' शब्द का अर्थ है नीचा और उत्तर का अर्थ है ऊँचा। नीचे को ऊँचा अथवा ऊँचे को नीचा करना अर्थात् यथार्थ क्रम का उलटा अथवा उलटी बात, विपरीत बात। शार्ङ्गरव के कथन का अभिप्राय यह है जिस (शकुन्तला) के कथन पर विश्वास किया जाना चाहिये, उसको आप असत्य-

वादिनी बतला रहे हैं तथा आप जो वस्तुतः असत्य बोल रहे हैं, अपने को सत्य बतला रहे हैं। यही उलटी बात है। यह बात शार्ङ्गरव ने पुरोहित तथा अपने साथियों को सम्बोधन करके कही है। सम्पूर्ण वाक्य व्यंग्य से परिपूर्ण है। **आजन्मनः**=जन्म के समय से लेकर अब तक। **परातिसन्धानम्**—दूसरों को ठग लेना। राजा लोग राजनीति सम्बन्धी विद्या के रूप में अन्य लोगों को धोखा देकर अपने कार्य अथवा स्वार्थ को सिद्ध करने की विद्या भी सीखा करते हैं। **आप्त-वाचः**=विश्वास योग्य व्यक्तियों के वचनों के सदृश बात वाले। आप्त वह पुरुष कहलाता है कि जिसका कथन विश्वास योग्य हो, जो यथार्थ वक्ता हो। अथवा जो किसी प्रकार के लोभ आदि में न पड़ कर सदा सत्य ही बोला करता है वह आप्त समझा जाता है।

यहाँ शकुन्तला के कथन "सुष्ठु तावत्..." इत्यादि से यहाँ तक क्रोधपूर्ण वचन होने के कारण 'द्रव' नामक विमर्श सन्धि का अंग है। लक्षण—"द्रवो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादिसंभवा ॥" साहित्य दर्पण ६।१०३ ॥

यह सम्पूर्ण श्लोक ही व्यंग्यार्थ से ओत-प्रोत है। अतः इसका भाव यही निकलता है कि शकुन्तला का कथन सत्य है तथा तुम वस्तुतः असत्यवादी हो।

राजा—भोः सत्यवादिन्! अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवम्। किं पुनरिमामतिसन्धाय लभ्यते।

राजा—हे सत्यवादी! मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं ऐसा ही हूँ। किन्तु इस स्त्री (शकुन्तला) को ठगकर मुझे क्या मिलना है?

शार्ङ्गरवः—विनिपातः।

शार्ङ्गरव—अधः पतन (मिलेगा)।

राजा—विनिपातः पौरवैः प्रार्थ्यत इति न श्रद्धेयमेतत्।

राजा—पुरुवंशी राजा अपना पतन चाहते हैं यह (बात) विश्वास योग्य नहीं है।

what is the use of reply

शारद्वतः—शार्ङ्गरव! किमुत्तरेण। अनुष्ठितो गुरोः सन्देशः। प्रतिनिवर्तामहे वयम्। (राजानं प्रति-)

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥२६॥

गौतमि! गच्छाग्रतः।

(इति प्रस्थिताः।)

अन्वयः—तत् एषा भवतः कान्ता, एनां त्यज वा गृहाण वा। हि दारेषु सर्वतोमुखी प्रभुता उपपन्ना।

संस्कृत-व्याख्या—तत्—इत्युपसंहारः (अथवा—वयमनुष्ठितगुरुनियोगा गमनोत्सुकाश्च तस्मादित्यर्थः), एषा—शकुन्तला, भवतः—दुष्यन्तस्य, कान्ता—स्त्री (गान्धर्वविधिना परिणीता स्त्री) वर्तते; एनाम्—शकुन्तलां, त्यज वा—परित्यागं कुरु, गृहाण वा—अथवा स्वीकुरु। हि—यतो हि, दारेषु—पत्नीषु, सर्वतोमुखी—सर्वविधा त्याग-स्वीकारादिरूपा, प्रभुता—स्वामित्वम् उपपन्ना—युक्ता।

शारद्वत—शार्ङ्गरव ! उत्तर देने से क्या लाभ ? हमने गुरु की आज्ञा का पालन कर दिया। अब हम वापस जाते हैं। (राजा के प्रति)

यह आपकी (गान्धर्व-विवाह विधि द्वारा विवाहित) स्त्री है, चाहे इसको आप छोड़िये चाहे अपने समीप रखिये। क्योंकि पत्नियों पर सब प्रकार की प्रभुता (पति की ही) स्वीकार की गई है।

गौतमी ! आगे आगे चलो।

(सब प्रस्थान करते हैं।)

अलंकारः—इस श्लोक के उत्तरार्ध भाग में विद्यमान सामान्य द्वारा पूर्वार्ध भाग में वर्णित विशेष का समर्थन किया गया है। अतः 'अर्थान्तर न्यास' अलंकार है। **छन्दः**—इसमें पथ्यावक्त्र नामक वृत्त है।

व्याकरणः—अतिसंधाय = अति + सम् + धा। **उपपन्ना** = उप + पद् + क्त + टाप्। *समास आदिः*—**सर्वतोमुखी** = सर्वतः मुखानि यस्याः सा।

टिप्पणियाँ—**अभ्युपगतम्** = मैं स्वीकार करता हूँ। **अतिसन्धाय** = ठग कर। **विनिपातः** = पतन, विनाश, अवनति को प्राप्त होना। राजा द्वारा यह पूछे जाने पर कि इस स्त्री को ठग कर मुझे क्या मिलेगा ? शार्ङ्गरव ने उत्तर दिया—कि तुमको पतन अथवा अधः पतन मिलेगा। **न श्रद्धेयम्** = यह उत्तर विश्वास योग्य नहीं है कि हम अपना अधःपतन चाहें। **कान्ता** = इसका शाब्दिक अर्थ है—कामना की गई हुई—प्रिया। गान्धर्व-विवाह द्वारा विवाहित स्त्री के लिये कान्ता शब्द अधिक उचित प्रतीत होता है। यज्ञाग्नि को साक्षी रख कर किये गये विवाह वाली स्त्री के लिये पत्नी शब्द का प्रयोग अधिक समुचित प्रतीत होता है। संभवतः इसी कारण शार्ङ्गरव ने भी यहाँ पर शकुन्तला के लिये पत्नी शब्द का प्रयोग नहीं किया है क्योंकि वे जानते थे कि राजा ने उसको यज्ञाग्नि को साक्षी करके स्वीकार नहीं किया था। अतः यहाँ पर प्रयुक्त कान्ता शब्द की पूर्ण सार्थकता है। **उपपन्ना** = ठीक है, उचित है अथवा सब लोगों द्वारा मानी गयी है। **प्रभुता** = प्रभुत्व अथवा अधिकार। **सर्वतोमुखी** = सब प्रकार की।

इसका शाब्दिक अर्थ है—सब ओर को मुख रखने वाली । अर्थात् स्त्रियों के विषय में पति का पूर्ण अधिकार है । इस कथन से यह विदित होता है कि कालिदास के समय में समाज में स्त्रियों की क्या स्थिति थी । अग्नि पुराण में कहा गया है—"भर्ता हि दैवतं स्त्रीणां भर्त्ता हि गतिरुच्यते" । भासकृत प्रतिमा-नाटक में भी—"भर्तृनाथा हि नार्यः" प्र० ना० १.२५ ॥

शकुन्तला—[कहं इमिणा किदवेण विप्पलद्धम्हि । तुम्हे वि मं परिच्चअह ।] कथमनेन कितवेन विप्रलब्धाऽस्मि । यूयमपि मां परित्यजथ ।

(इत्यनुतिष्ठते)

शकुन्तला—इस धूर्त के द्वारा कैसी ठगी गई हूँ । आप लोग भी मुझको छोड़ रहे हैं ।

(शकुन्तला उनके पीछे-पीछे चल पड़ती है ।)

गौतमी—(स्थित्वा) [वच्छ संगरव ! अणुगच्छदि इअं क्खु णो करुणपरिदेविणी सउन्दला । पच्चादेसपरुसे भत्तुणि किं वा मे पुत्तिआ करेदु ।] वत्स शार्ङ्गरव ! अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला । प्रत्यादेशपरुषे भर्त्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु ।

गौतमी—(ठहर कर) पुत्र शार्ङ्गरव ! करुण विलाप करती हुई इस शकुन्तला हमारे पीछे-पीछे चली आ रही है । पति द्वारा निर्दयता पूर्वक परित्याग कर दिये जाने पर मेरी बेचारी पुत्री क्या करे ?

शार्ङ्गरवः—(सरोषं निवृत्य) किं पुरोभागे ! स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ?

(शकुन्तला भीता वेपते ।)

शार्ङ्गरव—(क्रोध के साथ घूमकर) ओ दुष्टा ! क्या तू स्वच्छन्दता ग्रहण कर रही है ?

(शकुन्तला भयभीत होकर काँपने लगती है ।)

शार्ङ्गरवः—शकुन्तले !

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया ।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥२७॥

तिष्ठ । साधयामो वयम् ।

अन्वयः—क्षितिपः यथा वदति, यदि त्वं तथा असि, उत्कुलया त्वया पितुः किम्? अथ तु आत्मनः व्रतं शुचि वेत्सि, पतिकुले तव दास्यं अपि क्षमम् ।

संस्कृत-व्याख्या—क्षितिपः—क्षितिं पातीति क्षितिपः नृपः, यथा—यादृग्, वदति—भाषते यत् न इयं मया परिणीतपूर्वा इति, यदि त्वम्—शकुन्तला, तथा—तादृशी एव असि तदा, उत्कुलया—कुलमर्यादाभ्रष्टया, त्वया—शकुन्तलया, पितुः—कण्वस्य, किम्—प्रयोजनमस्ति, न किमपीत्यर्थः । अथ तु—यदि च, आत्मनः—स्वस्य, व्रतम्—नियमं पातिव्रत्यम्, शुचि—पवित्रम्, वेत्सि—जानासि तर्हि, पतिकुले—भर्तृगृहे, तव दास्यमपि—दासत्वमपि, क्षमम्—उचितमस्ति ।

शार्ङ्गरव—शकुन्तले !

राजा जैसा कहते हैं, यदि तू वैसी ही है, तो कुलमर्यादा का उल्लंघन करने वाली तुझ से पिता (कण्व) को क्या ? (प्रयोजन) यदि तू अपने व्रत (पातिव्रत धर्म) को पवित्र समझती है तब तो तेरा पति के कुल में दासी के रूप में रहना भी उचित है ।

तू (यहीं) ठहर । हम लोग जाते हैं ।

अलंकार:—इस श्लोक में द्वितीय चरण के प्रति प्रथम तथा चतुर्थ चरण के प्रति तृतीय चरण कारण हैं अतः 'काव्यलिंग' अलंकार है । **छन्दः**—इसमें 'द्रुतविलम्बित' वृत्त है ।

व्याकरण:—**विप्रलब्धा** = वि + प्र + लभ् (ठगना अर्थ में) । **अनुप्रतिष्ठते** = प्र + स्था को "समवप्रविभ्यः स्थः" अष्टा० १।३।२२ । से आत्मनेपद होता है । **परिदेविनी** = परि + दिव् का अर्थ रोना है । *समास आदि*—**करुणपरिदेविनी** = करुणं यथास्यात्तथा परिदेविनी विलपन्ती । **प्रत्यादेशपरुषे**—प्रत्यादेशेन परुषे (निष्ठुरे) । **पुरोभागे** = पुरो भागः यस्याः सा । **स्वातन्त्र्यम्**—स्व आत्मा तन्त्रं प्रधानं यस्य सः स्वतन्त्रः तस्य भावः । **उत्कुलया** = कुलात् उत्क्रान्ता सा (तत्पुरुष) [illegible] तया । **पतिकुले** = पत्युः कुलं इति पतिकुलम् (तत्पुरुष) तस्मिन् ।

टिप्पणियाँ—विप्रलब्धा—ठगी गई हूँ । अनुप्रतिष्ठते—पीछे-पीछे चलती है । करुणपरिदेविनी—करुण स्वर से विलाप करती हुई । प्रत्यादेशपरुषे—परित्याग के कारण कठोर हो जाने पर । प्रत्यादेश—परित्याग, निरादर, तिरस्कार अथवा निराकरण । पुत्रिका—बेचारी पुत्री । पुरोभागे—दुष्ट, नीच । सबसे पहले अपना हिस्सा माँगने वाली अर्थात् झगड़ा करने वाली । अथवा प्रत्येक कार्य में आगे आने वाली अर्थात् निर्लज्ज । स्वातन्त्र्यं अवलम्बसे—तू स्वतन्त्रता का आश्रय लेना चाहती है । तात्पर्य यह है कि वह इस समय अपने पति के घर पर है, अतः उसे स्वतन्त्रतापूर्वक आचरण नहीं करना चाहिये । उसे तो अपने आपको अपने पति के ऊपर ही छोड़ देना चाहिये । मनु आदि का यह विचार है कि स्त्री को सदा किसी के निरीक्षण अथवा नियन्त्रण में ही रहना उचित है । "पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने । रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" ।। मनुस्मृति ९।३।। इसी प्रकार के भाव मनुस्मृति ५।१४८, याज्ञवल्क्यस्मृति १।८५ तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण १७ में भी प्राप्त होते हैं । उत्कुलया—कुल की मर्यादा का उल्लंघन करने वाली, कुलटा । यहाँ पर कुल का भाव कुलमर्यादा से है । पितुः किम्—पिता को तुझसे क्या प्रयोजन ? व्रतम्—आचरण, पातिव्रत धर्म । क्षमम्—योग्य है, ठीक है, उचित है । यहाँ पर शार्ङ्गरव द्वारा शकुन्तला के समक्ष दोनों ही बातें कह दी गई हैं (१) यदि वह कुल-मर्यादा का उल्लंघन करने वाली है तो भी वह उसके (शार्ङ्गरव के) साथ गमन न करे (२) और यदि वह पतिव्रता एवं सती साध्वी है तो पति के समीप ही रहकर उसकी दासता को ही स्वीकार करे । साधयामः—जाते हैं । नाटकों में साधि धातु का प्रयोग जाने अर्थ में किया जाता है ।

इस स्थल पर एक प्रसंग की समाप्ति हुई है, अतः यहाँ पर प्ररोचना नामक विमर्श-सन्धि का अंग विद्यमान है । उसका लक्षण है :—"प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थप्रदर्शिनी" । साहित्यदर्पण ६।१०६ ।।

राजा—भोस्तपस्विन् ! किमत्रभवतीं विप्रलभसे ?

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव ।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ।।२८।।

अन्वयः—शशांकः कुमुदानि एव बोधयति, सविता पंकजानि एव (बोधयति) । हि वशिनां वृत्तिः परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी (भवति) ।

संस्कृत-व्याख्या—शशांकः = चन्द्रः, कुमुदानि = कैरवाणि एव, बोधयति —उन्मीलयति विकासयतीति वा न तु कमलानि । सविता = सूर्यः, पंकजानि एव = कमलानि एव, बोधयति = प्रकाशयति, न पुनः कुमुदानि । हि = यतः, वशिनाम् = जितेन्द्रियाणां जनानां धार्मिकाणां वा, वृत्तिः = मनोवृत्तिः, परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी = परेषां अन्येषां परिग्रहाणां कलत्राणां संश्लेषे सम्पर्के

पराङ्मुखी विमुखी भवति । ममापि प्रवृत्तिः परकलत्रभूतायाः शकुन्तलायाः संस्पर्शे पराङ्मुखी इति भावः ।

राजा—चन्द्रमा कुमुदों को ही विकसित करता है तथा सूर्य केवल कमलों को ही । क्योंकि जितेन्द्रिय धार्मिक पुरुषों की मनोवृत्ति दूसरों की स्त्रियों के संपर्क से विमुख ही हुआ करती है ।

अलंकारः—यहाँ पर प्रस्तुत शकुन्तला तथा दुष्यन्त के स्थान पर तत्सम कुमुद तथा शशांक आदि अप्रस्तुतों का उल्लेख किया गया है, अतः 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' अलंकार है । श्लोक के उत्तरार्ध भाग में स्थित सामान्य द्वारा पूर्वार्ध भाग में स्थित विशेष का समर्थन भी हो रहा है, अतः 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है । शशांक तथा सविता दोनों ही अप्रस्तुत हैं । इन दोनों का संबन्ध एक ही क्रिया 'बोधयति' से दिखलाया गया है, अतः तुल्ययोगिता अलंकार भी है । **छन्दः**—इसमें आर्या छन्द है ।

शार्ङ्गरवः—यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गाद् विस्मृतो भवांस्तदा कथमधर्मभीरुः ?

शार्ङ्गरव :—यदि आप पूर्व घटित घटना को अन्य (कार्य अथवा स्त्री) के प्रति उत्पन्न हुई आसक्ति के कारण भूल गये हैं तो आप अधर्म से डरने वाले कैसे कहे जा सकते हैं ?

राजा—(पुरोहितं प्रति) भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि—

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये ।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः ॥२९॥

अन्वयः—अहं मूढः स्याम्, वा एषा मिथ्या वदेत्, इति संशये दारत्यागी भवामि, आहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः (भवामि) ।

संस्कृत-व्याख्या—अहम् = दुष्यन्तः, मूढः = मोहितबुद्धिः (अज्ञानयुक्त बुद्धि वाला), स्याम् = भवेयम्, वा = अथवा, एषा = शकुन्तला, मिथ्या = अनृतम् असत्यं वा, वदेत् = भाषेत्, इति संशये = संदेहे, दारत्यागी = दारान् त्यक्तवान् इति दारत्यागी पत्नीपरित्यागी, भवामि, आहो = अथवा, परस्त्री-स्पर्शपांसुलः = परस्य अन्यस्य स्त्रियाः स्पर्शेन संसर्गेण पांसुलः दूषितः, भवामि ।

राजा—(पुरोहित से) मैं इस विषय में आपसे ही पूछता हूँ कि क्या कार्य ठीक है और क्या बुरा ?

मेरी बुद्धि अज्ञानयुक्त हो रही है अथवा यह (शकुन्तला) असत्य बोल रही है; इस सन्देह में पड़ा हुआ मैं पत्नी का परित्याग कर देने वाला बनूँ अथवा पर-स्त्री के स्पर्श से (अपने को) दूषित करने वाला होऊँ ?

छन्दः—इसमें अनुष्टुप् छन्द है। ***समास***—**अन्यसंगात्**=अन्यस्मिन् संगात् प्रसक्तेः। **विस्मृतः**=विस्मृतं विद्यते अस्य इति विस्मृतः।

टिप्पणियाँ—**किमत्रभवतीं विप्रलभसे**=इन श्रीमती को क्यों धोखा दे रहे हो ? राजा के कहने का तात्पर्य यह है कि यदि आप यह सोच रहे हों कि आप लोगों के द्वारा यहाँ छोड़ दिये जाने से मैं किसी बहाने से स्वयं इसको अपने यहाँ रख लूँगा तो यह आपकी भूल तथा अज्ञान ही होगा। मैं एक जितेन्द्रिय पुरुष हूँ, अतः मुझसे यह कभी भी संभव नहीं हो सकता है कि मैं पर-स्त्री से संपर्क स्थापित करूँ। ऐसी स्थिति में शकुन्तला को यहाँ छोड़ना उसे धोखा देना ही है। राजा ने अपनी इस भावना का स्पष्टीकरण अगले श्लोक में कर दिया है। **कुमुदान्येव**=कुमुदों को ही, अन्य पुष्पों को नहीं। इसी भाँति सूर्य कमलों को ही विकसित करता है, कुमुदों को नहीं। कहने का तात्पर्य है कि जिसका जिससे सम्बन्ध स्थापित हो चुका है वह उसी को विकसित करने में समर्थ है, अन्यों को नहीं। **परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखो**=दूसरे की स्त्री के सम्पर्क से विमुख। परिग्रह—स्त्री। संश्लेष—सम्पर्क, आलिंगन। **अन्यसंगात्**=अन्य वसुमती आदि रानियों के प्रति आसक्त होने के कारण अथवा अन्य राजकीय कार्यों के प्रति ही आसक्त हो जाने के कारण। अथवा अन्य अर्थात् शाप के संग अर्थात् प्रभाव से प्रभावित होने के कारण (आप पूर्व घटित घटनाओं को पूर्णरूपेण भूल चुके हों।) **पुरोहितं प्रति**=यहाँ यह बात स्पष्ट है कि राजा ने शार्ङ्गरव के कथन का कोई उत्तर नहीं दिया है और विशेष रूप से अपने पुरोहित जी से शकुन्तला के ग्रहण करने अथवा न ग्रहण करने के सम्बन्ध में उचित परामर्श माँगा है। कुछ संस्करणों में इसका पाठ उपलब्ध नहीं होता है। किन्तु इस स्थल पर इसकी अपनी एक विशेष उपयोगिता है। अतः यहाँ पर इस पाठ का होना आवश्यक है। **गुरुलाघवम्**=क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित है ? गुरु—भारीपन अर्थात् श्रेष्ठ, उत्तम, उचित। लघु—हल्कापन, क्षुद्रता से भरा, निकृष्ट, बुरा अथवा अनुचित। तात्पर्य यह है कि राजा यह जानना चाहता कि 'अपनी स्त्री को स्वीकार न करना' तथा 'दूसरे की पत्नी को स्वीकार करना' इन दोनों मार्गों में से कौन सा मार्ग अपनाना ठीक है। राजा का प्रश्न बड़ा ही विचित्र एवं गम्भीर है। वह दुविधा में पड़ गया है जैसा कि उसके द्वारा कथित आगामी श्लोक से स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः 'गुरुलाघवम्' प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से विचार करने पर कुछ अनियमित-सा प्रतीत होता है। गुरु च लघु च गुरुलघु—यहाँ "विप्रतिषिद्धञ्चानधिकरणवाचि" अष्टा० २।४।१३। से एकवचन हो जाता है। पुनः गुरुलघुनोः भावः—यहाँ अण् प्रत्यय का विधान करने पर गौरवलाघवम् रूप बनना चाहिये था। किन्तु भाष्यप्रयोग के कारण उत्तरपद की ही वृद्धि होती

है। पतंजलि आदि आचार्यों ने इसका प्रयोग किया है, अतः यह प्रयोग शुद्ध ही कहा जा सकता है। उदाहरण--"पर्यायशब्दानां गुरुलाघवचिन्ता नास्ति" (महाभाष्य) तथा "विमृश्य गुरुलाघवम्" (वाल्मीकि-रामायण ४।२।४, ४।३२।२।) इत्यादि ॥ दारत्यागी=स्त्री का परित्याग कर देने के कारण दोषी। परस्त्रीस्पर्शपांसुलः--किसी अन्य की स्त्री का स्पर्श करने के कारण कलंकित। पांसु का अर्थ धूल और पांसुल का धूल से युक्त अर्थात् दूषित, कलंकयुक्त अथवा पापी अर्थ भी हो सकता है।

यहाँ पर राजा के "भोः सत्यवादिन् ! अभ्युपगतं तावत्" इत्यादि कथन से लेकर यहाँ तक उत्तर-प्रत्युत्तर से युक्त वाक्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अतः यहाँ 'विरोध' नामक अंग है। लक्षण--"उत्तरोत्तरवाक्यं तु विरोध इति संज्ञितः"।

पुरोहितः--(विचार्य) यदि तावदेवं क्रियताम्।

पुरोहित--(सोचकर) यदि ऐसा है तो इस प्रकार कीजिये।

राजा--अनुशास्तु मां भवान्।

राजा--आप मुझे आज्ञा प्रदान कीजिये।

पुरोहितः--अत्रभवती तावदाप्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु। कुत इदमुच्यते इति चेत्--त्वं साधुभिरादिष्टपूर्वः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति। स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति, अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि। विपर्यये तु पितुरस्याः समीपनयनमवस्थितमेव।

पुरोहित--यह श्रीमती (शकुन्तला) प्रसव होने के समय तक हमारे घर रहें। यह क्यों कहा जा रहा है ? यदि यह प्रश्न (हो तो) मेरा उत्तर है कि आपको (ज्योतिर्विद्) महात्माओं ने पहले ही बतलाया है कि आप प्रथम बार ही चक्रवर्ती पुत्र को उत्पन्न करोगे। यह वह मुनि (कण्व) का धेवता उन (चक्रवर्त्ती के) लक्षणों से युक्त होगा तब तो आप इनका अभिनन्दन करके (इनको) अपने अन्तःपुर में प्रविष्ट करायेंगे अन्यथा इनको इनके पिता के समीप भेजना निश्चित ही है।

राजा--यथा गुरुभ्यो रोचते।

राजा--गुरुजी को जैसा अच्छा लगे।

पुरोहितः--वत्से, अनुगच्छ माम्।

पुरोहित--पुत्री ! मेरे पीछे-पीछे आओ।

शकुन्तला—[भअवदि वसुहे ! देहि मे विवरं ।] भगवति वसुधे ! देहि मे विवरम् ।

(इति रुदती प्रस्थिता । निष्क्रान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च ।)

(राजा शापव्यवहितस्मृतिः शकुन्तलागतमेव चिन्तयति ।)

शकुन्तला—ऐश्वर्यशालिनी पृथिवी ! मुझे (अपने अन्दर) स्थान दो (कहने का अभिप्राय यह है कि हे पृथिवी ! तू फट जा और मैं उसके अन्दर समा जाऊँ ।)

(यह कहकर शकुन्तला रुदन करती हुई चल देती है। और इस प्रकार वह पुरोहित तथा तपस्वियों के साथ निकल जाती है ।)

(शाप के कारण लुप्त हुई स्मृति वाला राजा शकुन्तला के विषय में ही सोचता रहता है ।)

(नेपथ्ये)

आश्चर्यमाश्चर्यम् ।

(नेपथ्य में)

आश्चर्य है ! आश्चर्य !

राजा —(आकर्ण्य) किं नु खलु स्यात् ?

राजा—(सुनकर) ऐसी क्या बात हो सकती है ?

(प्रविश्य)

पुरोहितः—(सविस्मयम्) देव ! अद्भुतं खलु संवृत्तम् ।

(प्रविष्ट होकर)

पुरोहित—(आश्चर्य के साथ) महाराज ! सचमुच महान् आश्चर्य की बात हो गई है ।

राजा—किमिव ?

राजा—क्या हुआ ?

पुरोहितः—देव ! परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु—

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला

बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता ।

पुरोहित—महाराज ! कण्व के शिष्यों के लौट जाने पर—

जैसे ही अपने भाग्य की निन्दा करती हुई वह युवती अपने हाथ उठा-उठाकर विलाप करने लगी—

राजा—किं च ?

राजा—और (फिर) क्या हुआ ?

पुरोहित:—

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारा-
दुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ॥३०॥

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति ।)

पुरोहित—वैसे ही अप्सरातीर्थ के समीप स्त्री के समान आकृति वाली एक तेजोमयी मूर्ति इसे (शकुन्तला को) उठाकर चली गई (अदृष्ट हो गई)।

(सब लोग आश्चर्य का अभिनय करते हैं ।)

अन्वयः—सा बाला स्वानि भाग्यानि निन्दन्ती बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं प्रवृत्ता च । अप्सरस्तीर्थं आरात् स्त्रीसंस्थानं एकं ज्योतिः एनां उत्क्षिप्य जगाम च ।

संस्कृत-व्याख्या—सा = पत्या बन्धुभिश्च परित्यक्तत्वादशरणा इत्यर्थः, बाला = कर्तव्यमजानन्तीत्यर्थः शकुन्तला, स्वानि = स्वकीयानि, भाग्यानि = अदृष्टानि भागधेयानि, निन्दन्ती = अधिक्षिपन्ती सती, बाहूत्क्षेपम् = बाहू भुजद्वयं उत्क्षिप्य ऊर्ध्वं क्षिप्त्वा, क्रन्दितुम् = उच्चैः विलपितुं रोदितुं वा, प्रवृत्ता = आरब्धवती । अप्सरस्तीर्थम् = अप्सरस्तीर्थनाम्नः स्थानस्य, आरात् = समीप एव, स्त्रीसंस्थानम् = स्त्रियाः संस्थानम् आकृतिरिव संस्थानं आकृतिः यस्य तत् ललनाकारमित्यर्थः, एकं ज्योतिः = काचिद् तेजोमयी मूर्तिः, एनाम् = शकुन्तलाम्, उत्क्षिप्य = उत्थाप्य, जगाम = तिरोबभूव । इदमतीवाश्चर्यं सञ्जातमिति भावः ।

अलंकारः—श्लोक के पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध दोनों में दो चकारों द्वारा क्रियाओं के संग्रह के कारण 'क्रियासमुच्चय' अलंकार है । 'स्त्रीसंस्थानम्' में 'लुप्तोपमा' अलंकार है । **छन्दः**—इसमें शालिनी नामक वृत्त है । **लक्षण**—"मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः" ॥

व्याकरण:—**आप्रसवात्** = यहाँ आङ के योग में "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" अष्टा० २।३।१० । से पंचमी विभक्ति होती है । **बाहूत्क्षेपम्** = बाहु + उत् + क्षिप् + णमुल् (अम्) यहाँ पर "स्वांगेऽध्रु वे" अष्टा० ३।४।५५ । से अपने शरीर का अंग—बाहु पहले विद्यमान होने के कारण णमुल् (अम्) प्रत्यय होता

है। *समास आदि:*—**मुनिदौहित्रः**=दुहितुः अपत्यं पुमान् दौहित्रः, मुनेः दौहित्रः इति (तत्पुरुष)। **तल्लक्षणोपपन्नः**—तैः लक्षणैः उपपन्नः इति तल्लक्षणोपपन्नः चक्रवर्तिलक्षणयुक्तः इत्यर्थः। **शापव्यवहितस्मृतिः**=शापेन दुर्वाससः वचनेन व्यवहिता प्रतिरुद्धा स्मृतिः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **आदिष्टपूर्वः**=पूर्वं आदिष्टः इति आदिष्टपूर्वः यहाँ "भूतपूर्वे चरट्" अष्टा० ५।३।५३। से पूर्व शब्द का परनिपात हो जाता है। **स्त्रीसंस्थानम्**=स्त्रियाः संस्थानमिव संस्थानं यस्य तत्। **अप्सरस्तीर्थम्**=अप्सरसां तीर्थमिति (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**आप्रसवात्**=प्रसव काल पर्यन्त अर्थात् जब तक बच्चे का जन्म होता है उस समय तक। **कुत इदमुच्यते इति चेत्**=यदि आप यह जानना चाहते हैं कि मैं ऐसा क्यों कहता हूँ तो इसका उत्तर यह है कि...। इस उक्ति की पद्धति में दार्शनिक-पद्धति का स्पष्ट दर्शन हो रहा है। इसका कारण यही हो सकता है कि पुरोहित दार्शनिक विद्वान् रहा होगा। इसी कारण उसने इस प्रकार की उक्ति का प्रयोग किया है। **साधुभिः**=सज्जनों के द्वारा। यहाँ सज्जनों से अभिप्राय भविष्यवक्ता ज्योतिषी महात्माओं से है। **आदिष्टपूर्वः**=पहले ही कहा जा चुका है अथवा भविष्यवाणी की जा चुकी है। **दौहित्रः**=दुहिता अर्थात् लड़की का पुत्र, धेवता। **तल्लक्षणोपपन्नः**=उस (चक्रवर्ती राजा) के लक्षणों से युक्त। चक्रवर्ती पुरुष के हाथ इत्यादि में जो चिह्न हुआ करते हैं वे चिह्न ये हैं—"अतिरिक्तः करो यस्य ग्रथितांगुलको मृदुः। चापाङ्कुशांकितः सोऽपि चक्रवर्ती भवेद् ध्रुवम्।" और भी—"यस्य पादतले पद्मं चक्रं वाप्यथ तोरणम्। अंकुशं कुलिशं चापि स सम्राट् भवति ध्रुवम्॥" **विपर्यये**—इसके (चक्रवर्ती के लक्षणों से) विपरीत होने पर। अर्थात् शकुन्तला से उत्पन्न हुए बच्चे के हाथ आदि में यदि चक्रवर्ती के लक्षण विद्यमान न हों तो। **देहि मे विवरम्**=भूमि फट जाये और मैं उसके अन्दर समा जाऊँ। जब किसी व्यक्ति को अपना जीवन भार प्रतीत होने लगा करता है और वह अपने जीवन से निराशप्राय हो जाता है तब इस प्रकार की भावनायें उसके हृदय में उद्भूत हुआ करती हैं। **शापव्यवहितस्मृतिः**=शाप के कारण रुकी हुई है स्मृति जिसकी ऐसा। अर्थात् राजा के अन्दर स्मृति का अंश तो अवश्य था किन्तु उस स्मृति तथा राजा के मन के मध्य में शाप का परदा (व्यवधान) पड़ा हुआ था। **स्वानि भाग्यानि**=अपने भाग्यों को। अर्थात् पूर्वजन्म अथवा इस जन्म कृत कर्मों (अदृष्ट) को। शकुन्तला अपने दुर्भाग्य की ही निन्दा करती है। राजा के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं कहती है। यह भारतीय संस्कृति के अनुकूल बात है। **बाहूत्क्षेपम्**=हाथों को इधर-उधर फेंककर अथवा उठाकर। **स्त्री-संस्थानम्**=स्त्री के आकार (आकृति) के सदृश आकार है जिसका ऐसी। **आरात्**=पास, समीप, निकट। यहाँ आरात् के योग्य में द्वितीया विभक्ति हुई है। **अप्सरस्तीर्थम्**=यह स्थल गंगा के किनारे पर था कि जहाँ पर अप्सरायें आकर गंगा में स्नान किया करती थीं। यह शचीतीर्थ के पास ही कोई स्थान रहा होगा

अथवा शचीतीर्थ का ही दूसरा नाम अप्सरस्तीर्थ कहा जाता होगा। **जगाम**= चली गई अथवा लुप्त हो गई। यहाँ पर परोक्ष लिट् का प्रयोग वैदिक-प्रयोग ही प्रतीत होता है। यहाँ पाठभेद में 'तिरोऽभूत्' आता है। जगाम की अपेक्षा यह अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि इसमें परोक्ष लिट् वाला दोष भी नहीं आता है।

इस श्लोक के उत्तरार्ध भाग की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न रूप से की है। (१) अप्सरस्तीर्थ के समीप तेजोमयी स्त्री की आकृति की एक मूर्ति प्रकट हुई इसे (शकुन्तला को) गोद में लेकर अदृश्य हो गई। (२) एक तेजोमयी मूर्ति दूर से ही शकुन्तला को उठाकर शचीतीर्थ की ओर चली गई, इत्यादि। यहाँ प्रथम अर्थ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि इसकी पुष्टि सप्तम अंक में विद्यमान मारीच ऋषि के "यदैवाप्सरस्तीर्थवितरणात्...इत्यादि" कथन से हो जाती है।

'नेपथ्ये' से लेकर इस स्थान तक विरोध की शान्ति हो जाने के कारण 'शक्ति' नामक विमर्श-सन्धि का अंग है। **लक्षण**—शक्तिः पुनर्भवेत्। विरोधस्य प्रशमनम्॥ साहित्यदर्पण ६।१०४॥

इस श्लोक सं० ३० में 'अद्भुत रस' की प्रतीति भी हो रही है। किसी स्त्री के आकार जैसी तेजोमयी मूर्ति के द्वारा शकुन्तला को गोद में लेकर अदृश्य हो जाने में अद्भुत रस है ही।

राजा—भगवन्! प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव। किं वृथा तर्केणान्विष्यते। विश्राम्यतु भवान्।

राजा—भगवन्! हमने पहले ही उस वस्तु को त्याग दिया है। अब व्यर्थ के तर्क से (सोच-विचार से) क्या मिलेगा। आप विश्राम कीजिये।

पुरोहितः—(विलोक्य) विजयस्व।

(इति निष्क्रान्तः।)

पुरोहित—(राजा की ओर देखकर) (आप की) जय हो। (यह कहकर निकल जाता है।)

राजा—वेत्रवति! पर्याकुलोऽस्मि। शयनभूमिमार्गमादेशय।

राजा—वेत्रवती! मैं व्याकुल हो गया हूँ। शयन-कक्ष का मार्ग दिखलाओ।

प्रतीहारी—[इदो, इदो देवो।] इत इतो देवः॥

(इति प्रस्थिता।)

प्रतीहारी—महाराज! इधर से आइये॥

(प्रस्थान करती है।)

राजा—

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मां हृदयम् ॥३१॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ पञ्चमोऽङ्कः ॥

अन्वयः—कामं प्रत्यादिष्टां मुनेः तनयां परिग्रहं न स्मरामि । तु बलवत् दूयमानं हृदयं मां प्रत्याययति इव ।

संस्कृत-व्याख्याः—कामम्—यद्यपि, प्रत्यादिष्टाम्—सम्प्रति एव निराकृतां परित्यक्तां वा, मुनेः—कण्वस्य, तनयाम्—पुत्रीं शकुन्तलाम्, परिग्रहम्—पत्नीरूपेण परिगृहीताम्, न स्मरामि—न विभावयामि । तु—किन्तु, बलवत्—अत्यधिकम्, दूयमानम्—क्लिश्यमानम्, हृदयम्—मम चेतः, माम्—दुष्यन्तम् प्रत्याययति इव—विश्वासमुत्पादयति इव यद् एषा मया परिणीतपूर्वा इति ।

राजा—यद्यपि मैं (अपने द्वारा) परित्यक्त (इस) मुनि-कन्या (शकुन्तला) को विवाहिता स्त्री के रूप में स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ । किन्तु अत्यधिक व्याकुल होता हुआ मेरा हृदय मुझ को (यह) विश्वास सा दिला रहा है (कि यह मेरी विवाहिता स्त्री है) ।

(सब निकल जाते हैं ।)

पञ्चम अंक समाप्त ।

अलंकारः—इस श्लोक में 'प्रत्याययतीव' में 'इव' के द्वारा उत्प्रेक्षा अलंकार है । दुष्यन्त के हृदय में शकुन्तला के विवाहिता स्त्री होने के सम्बन्ध में जो विश्वास-सा उत्पन्न हो रहा है, उसका कारण है दुष्यन्त के हृदय में उद्भूत हुई व्याकुलता । अतः यहाँ अनुमान अलंकार है । हृदय की व्याकुलता के कारण स्मृति के न होने पर भी व्याकुलता होने से विभावना अलंकार हैं । **छन्दः**—इसमें आर्या छन्द है ।

व्याकरणः—**प्रत्याययति**=प्रति—इ+णिच्+लट् । प्रति उपसर्गपूर्वक 'इ' धातु का अर्थ 'जानना' होता है । यहाँ पर यह णिजन्तरूप है । जानना (बोधन) अर्थ होने के कारण "णौ गमिरबोधने" अष्टा० २।४।४६ । से यहाँ इ के स्थान पर गम् आदेश नहीं होता है । "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ" अष्टा० १।४।५२ । से माम् में द्वितीया विभक्ति होती है ।

टिप्पणियाँ:—**सः—अर्थः**=वह वस्तु अर्थात् शकुन्तला । **किं वृथा तर्केणान्विष्यते**=व्यर्थ के संकल्प विकल्प द्वारा उसे क्यों खोजेंगे ? अर्थात् शकुन्तला कहाँ गई, उसे कौन उठाकर ले गया ? इत्यादि [illegible] से क्या लेना-देना

है ? अतः यह सब व्यर्थ है। राजा के इस कथन से शकुन्तला के प्रति उसका उपेक्षा भाव पूर्णतया स्पष्ट हो रहा है। काममू = यद्यपि माना कि यह सत्य है कि। परिग्रहम् = यह मेरी परिणीता (विवाहिता) पत्नी है । मां प्रत्याययतीव = (दुःखित अथवा व्याकुलता से भरा हुआ मेरा हृदय) मुझे विश्वास-सा दिला रहा है कि (यह मेरी विवाहिता पत्नी है।) राजा को अपनी मनो-दशा के बारे में विश्वास सा हो रहा है कि कदाचित् उसने शकुन्तला के साथ विवाह किया है। प्रथम अंक में कथित राजा के "सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः-करणप्रवृत्तयः" इस कथन के आधार पर राजा के इस स्थान पर कथित उक्त वाक्य से तुलना कीजिये। यहाँ पर इतना अवश्य है कि राजा के पास पहले की तरह अपना सन्देह दूर करने का कोई साधन नहीं है।

यहाँ "कण्व की पुत्री" शब्दों के द्वारा गुरु कण्व का उल्लेख किये जाने के कारण 'प्रसंग' नामक विमर्श-सन्धि का अंग है। **लक्षण**--"प्रसंगो गुरुकीर्तनम्"। सा० दर्पण ६।१०४।। यद्यपि यहाँ शकुन्तला के परित्याग से कथा की समाप्ति हो जाती है; किन्तु राजा दुष्यन्त का मनःक्षोभ शकुन्तला की पुनः प्राप्ति के निमित्त उसके मन को विश्वास सा दिला रहा है अतः यही बिन्दु है कि जिसके द्वारा विच्छिन्न हुई कथा पुनः आगे बढ़ती है।

इत्यभिज्ञानशाकुन्तलस्याचार्यसुरेन्द्रदेवकृतायां 'आशुबोधिनी' व्याख्यायां पञ्चमोऽङ्कः समाप्तः ।

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद् बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च।)

(तदनन्तर राजा के साले कोतवाल तथा पीछे बँधे हुए पुरुष को लेकर दो सिपाही प्रवेश करते हैं।)

रक्षिणौ—(ताडयित्वा) [अले कुम्भीलआ, कहेहि कहिं तुए एशे मणिबन्धणुक्किण्णणामहेए लाअकीअए अंगुलीअए शमाशादिए।]अरे कुम्भीरक ! कथय कुत्र त्वयैतन्मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमङ्गुलीयकं समासादितम् ?

दोनों सिपाही—(पीट कर) अरे चोर ! बतला, तुझे यह राजा की अँगूठी जिस पर मणि के जड़ाव पर (राजा का) नाम खुदा हुआ है, कहाँ मिली ?

पुरुषः—(भीतिनाटितकेन) [पशीदन्तु भावमिश्शे। हगे ण ईदिशकम्मकाली।] प्रसीदन्तु भावमिश्राः। अहं नेदृशकर्मकारी ?

पुरुष—(भयभीत होने का नाटच करता हुआ) महानुभावो ! आप कृपा करें। मैं ऐसा कार्य करने वाला नहीं हूँ।

प्रथमः—[किं शोहणे बम्हणेत्ति कलिअ रण्णा पडिग्गहे दिण्णे ?]किं शोभनो ब्राह्मण इति कलयित्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्तः!

पहला सिपाही—तो क्या सुयोग्य ब्राह्मण समझकर राजा ने (तुझ को) उपहार दिया है ?

पुरुषः—[शुणध दाणिं। हगे शक्कावदालब्भंतरालवाशी धीवले।] श्रृणुतेदानीम्। अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः।

पुरुषः—अब (आप) सुनिये। मैं शक्रावतार (नामक तीर्थ) में रहने वाला धीवर हूँ।

द्वितीयः—[पाडच्चला ! किं अम्हेहिं जादी पुच्छिदा ?] पाटच्चर ! किमस्माभिर्जातिः पृष्टा ?

दूसरा सिपाही--चोर, क्या हमने तेरी जाति पूछी है ?

श्यालः—[सूअअ ! कहेदु शव्वं अणुक्कमेण । मा णं अन्तरा पडिबन्धह ।] सूचक ! कथयतु सर्वमनुक्रमेण । मैनमन्तरा प्रतिबधान ।

कोतवाल—सूचक ! इसे सारी बात क्रमशः कहने दो। इसे बीच में न टोको।

उभौ—[जं आवुत्ते आणवेदि। कहेहि।] यदावुत्त आज्ञापयति। कथय।

दोनों सिपाही--जैसी आपकी आज्ञा। तू (अपनी बात) कह।

व्याकरण:—**नागरिकः**=नगर+ठक् (इक) यहाँ रक्षा अर्थ में "रक्षति" अष्टा० ४।४।३३। से ठक् प्रत्यय होता है अथवा नियुक्त अर्थ में "तत्र नियुक्तः" अष्टा० ४।४।६९। से ठक् प्रत्यय होता है। **अवतार**=अव+तॄ+घञ् (अ) यहाँ "अवे तॄस्त्रोर्घञ्" अष्टा० ३।३।१२०। से घञ् प्रत्यय होता है। **मा प्रतिबधान**=यहाँ पर मा निषेधार्थक है। माङ नहीं है। इस कारण यहाँ लोट् लकार ही है। *समास आदि:*--**नागरिकः**=नगरं रक्षति अथवा नगरे नियुक्तः। **मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयम्**=मणेर्बन्धनं यत्र तत्र उत्कीर्णं लिखितं नामधेयं यस्मिन् तत् अथवा मणिबन्धनं च तत् उत्कीर्णं नामधेयम्--(कर्मधारय)। **अवतारः**=अवतरति अस्मिन् इति। **शक्रावतारः**=शक्रस्य अवतारः (तत्पुरुष)। **शक्रावताराभ्यन्तरालवासी**= शक्रावतारो नाम तीर्थं तत्समीपस्थो ग्रामोऽपि शक्रावतारः तस्याभ्यन्तराले मध्ये वसतीति तच्छीलः। **पाटच्चरः**=पाटयन् चरतीति--पाटयच्चरः--यहाँ पृषोदरादि होने से 'य' का लोप हो जाता है। अथवा पटयन् चरतीति पटच्चरः, पटच्चर एव पाटच्चरः--यहाँ स्वार्थ में अण् हो जाता है।

टिप्पणियाँ—**नागरिकः**=नगर का रक्षाधिकारी अर्थात् नगर की पुलिस का अध्यक्ष--कोतवाल। **श्यालः**=साला, पत्नी का भाई। यह संस्कृत नाटकों में एक पात्र होता है जिसको नगर की रक्षा में नियुक्त पुलिस के अध्यक्ष के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसको प्रायः राजश्याल, राष्ट्रिय, राष्ट्रियश्याल /अथवा शकार नाम से भी कहा जाता है। यह नीच कुलोत्पन्न स्त्री से उत्पन्न हुआ व्यक्ति हुआ करता था। शकार की बहुलता से परिपूर्ण बोली का प्रयोग करने के कारण इसका नाम भी 'शकार' पड़ गया था। **लक्षण**="मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः। सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः।" सा० दर्पण ३।४४॥ नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी राजा का साला होने के कारण वह कोतवाल जैसे उच्च अधिकारी के पद को प्राप्त कर लिया करता था। मृच्छकटिक नामक नाटक में तो यह पात्र शकार के ही नाम से प्रस्तुत किया गया

है । इसकी भाषा में शकार की प्रधानता होती थी—"शकारबाहुल्यत्वात् शकारो राष्ट्रियः स्मृतः" ।। **कुम्भीरकः** = चोर । इस शब्द का निर्माण दो प्रकार से किया जा सकता है—(१) कु + भिद् । कु अर्थात् पृथ्वी । यहाँ पर इसका भाव दीवाल से ही लिया जायगा—इस दीवाल को तोड़ने वाला अर्थात् दीवाल को तोड़कर गृह में प्रवेश कर जाने वाला—चोर । (२) कुम्भिनं हस्तिनं ईरयति इति कुम्भीरः—कुम्भिन् + ईर् + अण् (अ), फिर कुम्भीर शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है । अर्थात् जो जल के अन्दर ही विद्यमान रहते हुए हाथी को भगा दिया करता हैं, मगर । इसका स्वभाव चोरी का होता है अतः गौण रूप से चोर का नाम भी कुम्भीरक पड़ गया । **मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयम्** = मणि के जड़ाव अर्थात् मणिबन्धन पर खुदे हुए नाम वाली अँगूठी । अथवा जिस में मणि जड़ी हुई है तथा राजा का नाम भी खुदा हुआ है ऐसी अँगूठी । **पुरुषः** = धीवर । यह अपने कथन में मागधी बोली का प्रयोग करता है । **नाटितकम्**—नाटच अथवा अभिनय करना । **भावमिश्राः**—भाव का अर्थ है मान्य ("मान्यो भावस्तु वक्तव्यः ।") तथा मिश्र शब्द आदरार्थक अथवा आदर के भाव का द्योतक है । अतः अर्थ हुआ आदरणीय सज्जनो ! **ईदृशकर्मकारी** = इस प्रकार के कर्म को करने वाला । भावार्थ यह है कि मैं चोरी जैसा दुष्कर्म नहीं करता हूँ । **कलयित्वा** = मन में विचार करके । प्राकृत भाषा में प्रयुक्त "कलिअ" शब्द के संस्कृत में कलयित्वा तथा कृत्वा दोनों ही रूप हो सकते हैं । **प्रतिग्रहः** = भेंट, उपहार अथवा दान । **शक्रावताराभ्यन्तरालवासी** = शक्रावतार नामक तीर्थ अवतार शब्द का अर्थ तीर्थ और घाट दोनों ही हैं । अथवा घाट के समीप ही रहने वाला । **धीवरः** = मल्लाह । "कैवर्त्ते दाशधीवरौ" इत्यमरः । **पाटच्चर** = चोर । यह शब्द दो प्रकार से बन सकता है (१) पाटयन् चरति अर्थात् जो दीवाल आदि में सेंध लगाता हुआ विचरण किया करता है । पटयन् चरति—जो वस्त्रादि के द्वारा अपने मुखादि अंगों को ढककर रात्रि के समय विचरण किया करता है । **सूचक** = यह एक सिपाही का नाम है । **मा प्रतिबधान** = बीच में मत रोको अथवा टोको । **आवुत्तः** = जीजा, भगिनीपति । यह शब्द यहाँ पर अपने से मान्य के अर्थ में प्रयुक्त है । अतः भाव में इसका अर्थ 'आप' भी किया जा सकता है ।

पुरुषः—[अहके जालुग्गालादिहिं मच्छबन्धनोवाएहिं कुडुम्बभलणं कलेमि ।] अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि ।

पुरुष—मैं जाल और काँटे आदि मछली पकड़ने के साधनों द्वारा अपने कुटुम्ब का पालन करता हूँ ।

श्यालः—(विहस्य) [विसुद्धो दाणिं आजीवो ।] विशुद्ध इदानीमाजीवः ।

कोतवाल—(हँसकर) तब तो बड़ी पवित्र (तुम्हारी) आजीविका है।

पुरुष:—[1] [शहजे किल जे विणिन्दिए णहु दे कम्म विवज्जणीअए।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकम्पामिदु एव्व शोत्तिए॥]
सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥१॥

अन्वयः—सहजं यत् कर्म विनिन्दितं किल, तत् खलु न विवर्जनीयम्। पशुमारणकर्मदारुणः श्रोत्रियः अनुकम्पामृदुः एव।

संस्कृत-व्याख्या—सहजम्=स्वाभाविकं कुलक्रमागतं वंशपरम्परागतमित्यर्थः, यत् कर्म—कार्यम्, विनिन्दितम् किल=निश्चयेन लोकेषु विगर्हितमपि, तत्—तत् कर्म, खलु=अवश्यम्, न विवर्जनीयम्=नैव त्याज्यम्। पशुमारणकर्मदारुणः=पशूनां यज्ञीयपशूनां मारणरूपं हननरूपं यत् कर्म कार्यं तेन दारुणः निष्ठुरः अपि ('अग्निषोमीयं पशुमालभेत्। इति श्रुतेः।), श्रोत्रियः=वेदविद् ब्राह्मणः, अनुकम्पामृदुः=अनुकम्पया सर्वजीवेषु दयया मृदुः कोमलः एव भवति।

पुरुष—जो कार्य वंशपरम्परा से चला आ रहा है, वह निश्चित रूप से निन्दित होते हुए भी नहीं छोड़ना चाहिये। पशु की हत्या रूपी कर्म में कठोर होने पर भी वेदज्ञ ब्राह्मण दया के भाव से युक्त होने के कारण कोमलहृदय ही होता है।

अलंकारः—विशिष्ट धीवर के वर्णन के प्रस्तुत होने पर श्लोक के पूर्वार्ध में सामान्य वर्णन होने के कारण यहाँ 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार है। श्लोक के उत्तरार्ध में वर्णित विशेष द्वारा पूर्वार्ध में वर्णित सामान्य का समर्थन किये जाने से यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है। दया के कारण कोमलहृदय वाले वेदज्ञ ब्राह्मण के द्वारा पशुहत्या रूप निष्ठुर कार्य के किये जाने के कारण 'विषम' अलंकार भी है। छन्दः—इसमें सुन्दरी नामक वृत्त है। **लक्षण**—"अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः समरालगौ यदि सुन्दरी मता" ॥

व्याकरणः—उद्गाल=उद्+गॄ+घञ् (अ)। यहाँ पर "उन्न्योर्ग्रः"-अष्टा० ३।३।२९। से घञ् प्रत्यय होता है तथा "अचि विभाषा" अष्टा० ८।२।२१। से 'र' के स्थान पर विकल्प से 'ल' हो जाता है। **सहजम्**=सह+जन्

पाठभेद—१. [भट्टक मा एवं भण] भट्टः मा एवं भण। (स्वामी ! ऐसा न कहिये।) अधिक पाठ है।

+ड (अ) । श्रोत्रियः—छन्दोऽधीते इति श्रोत्रियः । "श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते" अष्टा० ५।२।८४। से श्रोत्रिय निपातन हो जाता है। अथवा इस सूत्र से छन्दस् के स्थान पर श्रोत्र आदेश तथा 'घ' प्रत्यय होकर श्रोत्र+घ (इय)=श्रोत्रिय—बनता है । ***समास आदि***:—**जालोद्गालादिभिः**=जालानि च उद्गालाश्च जालोद्गालम् (समाहार द्वन्द्व), यहाँ "जातिरप्राणिनाम्" अष्टा० २।४।६। से एकवचन होकर जालोद्गालम् आदिर्येषां तैः (बहुव्रीहि) । **मत्स्यबन्धनोपायैः**=मत्स्यानां बन्धनस्य उपायैः (तत्पुरुष) । **पशुमारणकर्मदारुणः**=पशूनां मारणं यत् कर्म तेन दारुणः (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**जालोद्गालादिभिः**=जाल, काँटा इत्यादि के द्वारा । उद्गाल का अर्थ है—काँटा, जिसके द्वारा मछली फँसाई जाया करती है। **विशुद्धः**=वह व्यंग्य रूप में कथन किया गया है क्योंकि जीव-हत्या के कारण धीवर की गणना नीच जाति में की गई है । **सहजम्**=स्वाभाविक, कुलक्रम अथवा वंशपरम्परा से प्राप्त । अपने जन्मसिद्ध कार्य को निन्दित होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिये । इससे सम्बन्धित कुछ कथन ये हैं :—"सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्" ।। गीता १८।४८ ।। "वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः । परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः" ।। मनुस्मृति १०।९७ ।। **विनिन्दितम्**=जीवहिंसा आदि के कारण निन्दित होने पर भी । **न विवर्जनीयम्**=नहीं छोड़ना चाहिये, वरन् उन कार्यों को करना ही चाहिये । इस बारे में कही गई सूक्तियाँ ये हैं :—"येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः । तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न दुष्यति ।।" गीता में भी—"सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् । सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।" स्मृति में भी—"देशानुशिष्टं कुलधर्ममग्र्यं स्वगोत्रधर्मं न हि संत्यजेत ।।" **श्रोत्रियः**=वेदज्ञ ब्राह्मण । जैसा कि देवल ने कहा है—"एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य वा । षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित्" । पद्मपुराण में भी—"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैः द्विज उच्यते । विद्याभ्यासी भवेद् विप्रः श्रोत्रियस्त्रिभिरेव हि ।।" प०पु० उत्तरकाण्ड अ० ११६ ।।

विशेष-द्रष्टव्य—धीवर के उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि कालिदास के समय में यज्ञों में बलि के रूप में पशुओं का हनन किया जाता था। किन्तु यह बात कुछ उचित प्रतीत नहीं होती है क्योंकि यज्ञ को हिंसा से रहित होने के कारण ही अध्वर (अ—नहीं, ध्वर—हिंसा—अर्थात् जिसमें हिंसन कार्य नहीं किया जाता है) कहा जाता है । इससे प्रतीत होता है कि पशु-बलि का यह कार्य वेद-विरुद्ध था । "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादि उक्तियाँ पशु-पालन और उनके रक्षण की ही सूचक हैं, उनके हिंसन की नहीं । अतः उपर्युक्त श्लोक का भाव इस रूप में लिया जा सकता है कि—जिस प्रकार पशु का हनन करने वाला भी ब्राह्मण घृणित दृष्टि से लोक में नहीं देखा जाया करता है, उसी भाँति मैं धीवर मछलियों की हत्या करने पर भी अपने इस दोष के लिये क्षम्य ही हूँ ।

श्याल:--[तदो तदो] ततस्ततः ।

कोतवाल--इसके पश्चात् ।

पुरुष:--[एक्कश्शि दिअशे खण्डशो लोहिअमच्छे, मए कप्पिदे जाव । तश्श उदलब्भन्तले एदं लदणभाशुलं अंगुलीअअं देक्खिअं। पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअंते गहिदे भावमिश्शेहिं । मालेह वा मुंचेह वा । अअं शे आअमवुत्तंते] एकस्मिन् दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत्तस्योदराभ्यन्तर इदं रत्नभासुरमङ्गुलीयकं दृष्टम् । पश्चादहं तस्य विक्रयाय दर्शयन् गृहीतो भावमिश्रैः । मारयत वा मुञ्च वा । अयमस्यागमवृत्तान्तः ।

पुरुष--एक दिन मैंने जैसे ही रोहित मछली के टुकड़े-टुकड़े किये, उसके पेट के अन्दर रत्नों से चमकने वाली यह अँगूठी मैंने देखी । इसके पश्चात् बिक्री के निमित्त उसको दिखलाता हुआ मैं आप लोगों के द्वारा पकड़ लिया गया । (अब मुझे) आप मारिये अथवा छोड़िये । यह इस (अँगूठी) की प्राप्ति की कहानी है ।

श्याल:--[जाणुअ ! विस्सगन्धी गोहादी मच्छबन्धो एव्व णिंस्संसअं । अंगुलीअअदंसणं से विमरिसिदव्वं । राअउलं एव्व गच्छामो ।] जानुक ! विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव निःसंशयम् अङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम् । राजकुलमेव गच्छामः ।

कोतवाल--जानुक ! कच्चे मांस की गन्धवाला (यह) निस्सन्देह गोह खाने वाला धीवर (मछियारा) ही है । इसको अँगूठी कैसे प्राप्त हुई, यही विचारणीय है । (अतः) राजकुल को ही हम चलते हैं ।

रक्षिणौ--[तह । गच्छ अले गंडभेदअ ।) तथा । गच्छ अरे गण्डभेदक !

दोनों सिपाही--जैसी आपकी आज्ञा । अरे गिरहकट ! चल ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

(सब घूमते हैं ।)

श्याल:--(सूअअ ! इमं गोपुरदुआले अप्पमत्ता पडिवालह जाव इमं अगुलीअअं जहागमणं भट्टिणो णिवेदिअ तदो सासणं पडि-

च्छिअ णिक्कमामि ।] सूचक ! इमं गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयतं यावदिदमङ्गुलीयकं यथागमनं भर्त्तुर्निवेद्य ततः शासनं प्रतीक्ष्य निष्क्रमामि ।

कोतवाल—सूचक ! इस नगर-द्वार पर सावधान होकर इस (धीवर) की देखभाल करना । जब तक मैं इस अँगूठी के मिलने का पूरा विवरण महाराज को बतलाकर और उनकी आज्ञा लेकर बाहर आता हूँ ।

उभौ—[पविशदु आवुत्ते शामिपशादश्श ।] प्रविशत्वावुत्तः स्वामिप्रसादाय ।

(इति निष्क्रान्तः श्यालः ।)

दोनों सिपाही—महाराज का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये आप अन्दर **प्रवेश कीजिये** (जाइये) ।

(कोतवाल बाहर चला जाता है ।)

व्याकरण:—कल्पितः = क्लृप्—क्त (त) । **गोधादी** = पौनःपुन्येन गोधां अत्ति इति गोधादी—गोधा + अद् + णिनि । यहाँ पर "बहुलमाभीक्ष्ण्ये" अष्टा० ३।२।८१ । से पौन-पुन्य अर्थात् बार-बार अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है यह सूत्र जाति वाचक शब्द के पूर्व में होने पर भी 'णिनि' करता है। कुछ टीका-कारों ने इसको अपाणिनीय प्रयोग माना है क्योंकि गोधा शब्द के जातिवाचक होने के कारण ताच्छील्य अर्थ में "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" अष्टा० ३।२।७८ । से णिनि प्रत्यय नहीं हो सकता है। अतः उन्होंने 'गोधादी' शब्द के स्थान पर 'गोघाती' पाठ स्वीकार किया है। इसका अर्थ है गाय की हत्या करने वाला। परन्तु धीवर लोग गोघाती नहीं होते हैं। अतः यह पाठ उचित प्रतीत नहीं होता है। 'गोधादी' पाठ ही ठीक है। उसकी सिद्धि भी उपर्युक्त रूप से हो ही जाती है। **मत्स्यबन्धः** = मत्स्य + बन्ध् + अण् (अ) । **गोपुर** = गुप् + उरच् (उर) । **अप्रमत्तौ** = न प्रमत्तौ अप्रमत्तौ । प्रमत्त = प्र + मद् + क्त । यहां पर "न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम्" अष्टा० ८।२।५७ । सूत्र में वर्णित नियम के अनुसार 'त' के स्थान पर 'न' नहीं होता है । **प्रतीक्ष्य** = प्रति + ईक्ष् + ल्यप् । **स्वामि-प्रसादाय** = यहाँ "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" अष्टा० २।३।१४ । से चतुर्थी विभक्ति होती है । *समास आदिः*—**आगमवृत्तान्तः** = आगमस्य वृत्तान्तः (तत्पुरुष) । **विस्रगन्धी** = विस्रस्य अपक्वमांसस्य गन्धोऽस्यास्तीति विस्र-गन्धी । यहाँ मत्वर्थ में इनि होता है। **गोधादी** = गोधां अत्तुं शीलमस्य गोधादी । **मत्स्यबन्धः** = मत्स्यान् बध्नाति असौ मत्स्यबन्धः धीवरः । **गोपुरद्वारे** = गोपुरं नगरद्वारं तच्च द्वारमिति गोपुरद्वारम् तस्मिन् । (पुरद्वारं तु गोपुरम्—इत्यमरः) ।

यथागमनम् = आगमनमतिक्रम्य इति यथागमनम् (अव्ययीभाव)। **स्वामिप्रसादाय** = स्वामिनः प्रसादाय (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**रोहितमत्स्यः** = रोहू नाम की मछली विशेष। **कल्पितः** = (टुकड़ों में विभक्त) किया। **आगमवृत्तान्तः**—(अँगूठी के मेरे समीप) आने (प्राप्त होने) की कहानी अथवा विवरण। **जानुक** = दूसरे सिपाही का नाम है। **विस्रगन्धी** = कच्चे मांस की गन्ध वाला। "विस्रं स्यादामगन्धि यत्" (अमरकोश) के आधार पर केवल विस्र शब्द का ही अर्थ है—कच्चे मांस की गन्ध वाला। अतः उपर्युक्त 'विस्रगन्धी' शब्द में गन्ध शब्द की निरर्थकता-सी प्रतीत होने लगती है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कालिदास के युग में विस्र शब्द केवल कच्चे मांस के ही अर्थ में प्रयुक्त होता रहा होगा तथा अमरसिंह के समय में उसका अर्थ उपर्युक्त रूप में होने लगा होगा। इसी कारण कालिदास ने विस्र शब्द के साथ गन्ध शब्द का भी प्रयोग किया है। उनकी तो शैली की ही यह महान् विशेषता है कि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव को भर देना। ऐसी स्थिति में वे निरर्थक शब्द का प्रयोग कैसे कर सकते थे? अतः कालिदास का प्रयोग उचित ही है। **गोधादी** = गोह को खाने वाला। **मत्स्यबन्धः** = मछलियों को जाल में बाँधने (फँसाने) वाला। मछुआ अथवा धीवर। **विमर्शयितव्यम्** = विचार करने योग्य है। **गण्डभेदक** = गिरहकट अथवा चोर। गण्ड अर्थात् गाँठ को काटने वाला। यहाँ पाठभेद में 'ग्रन्थिभेदक' शब्द भी है। इसका भी अर्थ वही है। **गोपुरद्वारे** = नगर के मुख्य दरवाज़े पर। गोपुर का अर्थ है नगर का मुख्य द्वार (पुरद्वारं तु गोपुरम्—इत्यमरः)। रत्नकोष के आधार पर—"पुरमात्रेऽपि गोपुरम्"। गोपुर शब्द का अर्थ केवल नगर भी है। **अप्रमत्तो** = प्रमाद रहित होकर अर्थात् सावधानी के साथ। **प्रतिपालयतम्** = प्रतीक्षा करो। प्रति उपसर्गपूर्वक पाल का अर्थ प्रतीक्षा करना है। **प्रतीक्ष्य**=प्रतीक्षा करके अथवा प्राप्त करके। **स्वामिप्रसादाय** = स्वामी अर्थात् राजा की कृपा अथवा अनुग्रह प्राप्त करने के लिये। यहाँ पर दोनों सिपाहियों द्वारा यह सोचना स्वाभाविक था कि श्याल (कोतवाल) द्वारा अँगूठी की प्राप्ति हो जाने से राजा उससे अत्यधिक प्रसन्न होगा तथा उसके लिये उसको उचित पुरस्कार आदि भी देगा।

प्रथमः—[जाणुअ! चिलाअदि क्खु आवुत्ते।] जानुक! चिरायते खल्वावुत्तः।

पहला सिपाही—जानुक! कोतवाल महोदय तो देर कर रहे हैं।

द्वितीयः—[णं अवशलोवशप्पणीआ लाआणो।] नन्ववसरोपसर्पणीया राजानः।

दूसरा सिपाही—अरे, राजाओं के समीप अवसर देखकर ही जाया जाता है।

प्रथमः—[जाणुअ ! फुल्लन्ति मे हत्था इमश्श वहश्श शुमणा पिणद्धुं ।] जानुक ! स्फुरतो मम हस्तावस्य वधार्थं सुमनसः पिनद्धुम् ।

पहला सिपाही—जानुक ! इसके वध के लिये मेरे हाथ इसको फूलों की माला पहनाने के लिये फड़क रहे हैं ।

(इति पुरुषं निर्दिशति ।)

(यह कहते हुए पुरुष की ओर संकेत करता है)

पुरुषः—[ण अलुहदि भावे अकालणमालणं भाविदुं ।] नार्हति भावोऽकारणमारणं भावयितुम् ।

पुरुष—महानुभाव विना कारण ही मुझे मारने का विचार करने योग्य नहीं हैं ।

द्वितीयः—(विलोक्य) [एशे अम्हाण शामी पत्तहत्थे लाअशाशणं पडिच्छिअ इदोमुहे देक्खीअदि । गिद्धबली भविश्शशि, शुणो मुहं वा देक्खिश्शशि ।] एष नः स्वामी पत्रहस्तो राजशासनं प्रतीक्ष्येतोमुखो दृश्यते । गृध्रबलिर्भविष्यसि, शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि ।

दूसरा सिपाही—(देखकर) यह हमारे स्वामी हाथ में पत्र लिये हुए, राजा की आज्ञा प्राप्त करके, इस ओर ही मुख किये हुए दिखलाई पड़ रहे हैं । (अब) तू या तो गिद्धों की बलि बनेगा अथवा कुत्ते का मुख देखेगा ।

(प्रविश्य)

श्यालः—[सूअअ ! मुंचेदु एसो जालोअजीवी । उववण्णो क्खु अङ्गुलीअअरस्स आअमो ।] सूचक ! मुच्यतामेष जालोपजीवी ! उपपन्नः खल्वस्याङ्गुलीयकस्यागमः ।

(प्रविष्ट होकर)

कोतवाल—सूचक ! जाल से अपने जीविका चलाने वाले इस (धीवर) को छोड़ दो । इसके द्वारा अँगूठी मिलने की बात उचित मान ली गई है ।

सूचकः—[जह आवुत्ते भणादि ।] यथावुत्तो भणति ।

सूचक—जैसे आप कहते हैं (अर्थात् जैसी आपकी आज्ञा) ।

द्वितीयः—[एशे जमशदणं पविशिअ पडिणिवुत्ते ।] एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः ।

दूसरा सिपाही—यह तो यमराज के घर में प्रवेश करके (फिर) लौट आया।

(इति पुरुषं परिमुक्तबन्धनं करोति ।)

(यह कहकर पुरुष को बन्धन से मुक्त करता है ।)

पुरुषः—(श्यालं प्रणम्य) [भट्टा ! अह कीलिशे मे आ-जीवे ।] भर्त्तः ! अथ कीदृशो मे आजीवः ?

पुरुष—(कोतवाल को प्रणाम करके) स्वामी ! मेरी आजीविका कैसी है ?

श्यालः—[एसो भट्टिणा अंगुलीअअमुल्लसंमिदो पसादो विदा-विदो ।] एष भर्त्राङ्गुलीयकमूल्यसंमितः प्रसादोऽपि दापितः ।

(इति पुरुषाय स्वं प्रयच्छति ।)

कोतवाल—स्वामी ने अँगूठी के मूल्य के बराबर यह उपहार (पुरस्कार) भी दिया है ।

(पुरुष को धन देता है ।)

पुरुषः—(सप्रणामं प्रतिगृह्य) [भट्टा ! अणुग्गहिद म्हि ।] भर्त्तः ! अनुगृहीतोऽस्मि ।

पुरुष—(प्रणामपूर्वक लेकर) स्वामी ! मैं (आपका) अनुग्रहीत हूँ ।

सूचकः—[एशे णाम अणुग्गहे जे शूलादो अवदालिअ हत्थि-क्कन्धे पडिट्ठाविदे ।]एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कान्धे प्रतिष्ठापितः ।

सूचक—यह वस्तुतः अनुग्रह है कि (इसको) शूली (फाँसी के तख्ते) पर से उतार कर हाथी के कन्धे (पीठ) पर बैठा दिया है ।

जानुकः—[आवुत्त ! पालिदोशिअं कहेदि, तेण अंगुलीअएण भट्टिणो शम्मदेण होदव्वं ।] आवुत्त ! पारितोषिकं कथयति, तेना-ङ्गुलीयकेन भर्त्तुः संमतेन भवितव्यम् ।

जानुक—श्रीमन् ! यह पुरस्कार (ही) बतला रहा है कि वह अँगूठी महा-राज को प्रिय होगी ।

व्याकरण—**चिरायते**=चिर इव आचरतीति—चिर+क्यङ+लट् । **मारणः**=मृ+णिच्+ल्युट् । **उपपन्नः**=उप+पद्+क्त । **मूल्य**=मूल+यत् (य)—यहाँ "नौवयोधर्मविषमूलमूल...इत्यादि" अष्टा० ४।४।९१ । सूत्र से यत् प्रत्यय होता है । **प्रसादः**=प्र+सद्+घञ् । **दापितः**=दा+णिच्+क्त । **पारितोषिक**=परितोष+ठञ् (इक) । यहाँ "प्रयोजनम्" अष्टा० ५।१।१०९ । से ठञ् प्रत्यय हुआ है । *समास आदि*—**अकारणमारणम्**=न कारणं यस्य तदकारणं तच्च मारणम्—अथवा मारयतीति मारणः, अकारणे मारणः इति अकारणमारणः (सुप्सुपा समास) । **इतोमुखः**=इतोऽस्यां दिशि मुखं यस्य सः (बहुव्रीहि) । **जालोपजीवी**=जालेन उपजीवति इति । **यमसदनम्**=यमस्य सदनम् (तत्पुरुष) । **परिमुक्तबन्धनम्**=परिमुक्तानि बन्धनानि यस्य तम् (बहुव्रीहि) । **अंगुलीयकमूल्यसंमितः**=अंगुलीयकस्य मूल्येन संमितः । **हस्तिस्कन्धे**=हस्तिनः स्कन्धे (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**चिरायते**=देर कर रहा है अथवा देर लगा रहा है । **सुमनसः पिनद्धुम्**=फूलों की माला को बाँधने (पहिनाने) के लिये । प्राचीन काल में ऐसा प्रचलन था कि जिस व्यक्ति को मृत्युदण्ड दिया जाता था उस व्यक्ति के गले में करवीर आदि पुष्पों की अथवा केवल रक्तवर्ण (लाल) के पुष्पों की माला पहनाई जाया करती थी । इसी कारण 'सुमनोबन्धन' मृत्यु का चिह्न होता था । रक्षकों को यह पूर्ण विश्वास था कि इस मछुये (धीवर) को राजा द्वारा अवश्य ही मृत्युदण्ड दिया जायगा । इस प्रकार के मृत्यु-चिह्न का वर्णन मालतीमाधव, मृच्छकटिक एवं नागानन्द आदि अन्य नाटकों में भी प्राप्त होता है । यथा—"दत्तकरवीरदामा" इत्यादि (मृच्छ० १०।२) तथा "पितृवनसुमनोभिर्वेष्टितं..." इत्यादि (मृच्छ० १०।३।) । **अकारणमारणम्**=बिना कारण के ही मारने वाला । मारण का अर्थ है मारने वाला अर्थात् हत्यारा । **गृध्रबलिः**=गिद्धों को (तेरी) बलि दी जायगी अथवा तुझको गिद्ध खायेंगे । कालिदास के युग में इस प्रकार की प्रथा रही होगी कि मृत्यु-दण्ड प्राप्त व्यक्ति को फाँसी पर लटका देने के पश्चात् उसके शव को गिद्ध खाते होंगे । अथवा **शुनो मुखं द्रक्ष्यसि**=कुत्ते का मुख देखेगा अर्थात् तुझे कुत्ते खायेंगे । उस समय ऐसी प्रथा रही होगी कि मृत्यु-दण्ड-प्राप्त व्यक्ति को आधा ज़मीन में गाड़ दिया जाता रहा होगा तथा उसको खाने के लिये उसके ऊपर शिकारी कुत्ते छोड़े जाते होंगे । वे उसे जीवित ही खा जाते होंगे । इस भाँति वह व्यक्ति मर जाता होगा । **उपपन्नः**=सत्य सिद्ध हुई है । **यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः**=ऐसा प्रतीत होता है कि मानों यह व्यक्ति यमलोक में पहुँचकर फिर वापिस आ गया । अर्थात् आशा तो ऐसी ही थी कि इसको अवश्य ही मृत्यु-दण्ड प्राप्त होगा, किन्तु यह तो एकदम निर्दोष ही छूट गया है । **अथ कीदृशो म आजीवः**=इसी प्रसंग में पहले कोतवाल ने धीवर की जीविका के बारे में व्यंग करते हुए कहा था कि उसकी आजीविका बहुत पवित्र है । अब धीवर ... ... है अतः वह उस व्यंग्य के उत्तर

में कोतवाल महोदय से स्वयं ही प्रश्न करते हुए पूछता है कि अब बतलाइये--"मेरी आजीविका कैसी है ?" इस प्रकार यह कोतवाल महोदय द्वारा किये गये व्यंग्य पर व्यंग्य है। **अङ्गुलीयकमूल्यसंमित** = अँगूठी के मूल्य के बराबर मूल्य वाला। **मूल्य** = मूलेन आनाम्यं मूल्यम् अर्थात् मूल (लागत) से बढ़ा हुआ। मूल्य लागत की अपेक्षा कुछ अधिक ही रक्खा जाता है। **संमितं** = समान, बराबर। **प्रसादः** = पुरस्कार अथवा पारितोषिक। **दापितः** = (मेरे द्वारा) दिलवाया है। **एष नामानुग्रहः** = वस्तुतः यह तो अनुग्रह ही है। **हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः** = हाथी के कन्धे पर बैठा दिया। अभिप्राय यह है कि उसका अत्यधिक सम्मान किया। **पारितोषिकं कथयति** = पुरस्कार ही कहता है अथवा बतलाता है। अर्थात् पुरस्कार की प्राप्ति से ही प्रतीत होता है। पारितोषिक शब्द का अर्थ है हृदय को सन्तोष देने वाला। **संमतेन भवितव्यम्** = संमत अर्थात् प्रिय होगी।

श्यालः---[ण तस्सि महारुहं रदणं भट्टिणो बहुमदं त्ति तक्केमि तस्स दंसणेण भट्टिणो अभिमदो जणो सुमराविदो। मुहुत्तअं पकिदिगम्भीरो वि पज्जस्सुणअणो आसी।] न तस्मिन् महार्हं रत्नं भर्त्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि। तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः। मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्यश्रुनयन आसीत्।

कोतवाल---मैं विचार करता हूँ कि उस (अँगूठी) में संलग्न बहुमूल्य मणि महाराज को अधिक प्रिय नहीं है। उसके दर्शन ने महाराज को किसी प्रिय व्यक्ति का स्मरण दिला दिया है। स्वभाव से ही गम्भीर होने पर भी क्षण-भर के लिये उनके नेत्रों में अश्रु आ गये थे।

सूचकः---[शेविदं णाम आवुत्तेण।] सेवितं नाम आवुत्तेन।

सूचक--(तब तो) आपने वस्तुतः (महाराज की) सेवा की है।

जानुकः---[णं भणाहि इमश्श कए मच्छिआभत्तुणो त्ति।] ननु भण। अस्य कृते मात्स्यिकभर्त्तुरिति।

(इति पुरुषमसूयया पश्यति।)

जानुक---यह कहो कि इस मछिआरों के स्वामी के लिय (महाराज की सेवा की है।)

(यह कहकर धीवर को ईर्ष्याभरी दृष्टि से देखता है।)

पुरुषः---[भट्टालक! इदो अद्धं तुम्हाणं सुमणोमुल्लं होदु।] भट्टारक! इतोऽर्धं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु।

पुरुष—स्वामी ! इसमें से आधा आप लोगों के लिये (पूजा के निमित) फूलों का मूल्य रहे ।

जानुक:—[एत्तके जुज्जइ ।] एतावद् युज्यते ।

जानुक—इतना ठीक है ।

श्याल:—[धीवर ! महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणिं मे संवुत्तो । कादम्बरीसक्खिअं अम्हाण पढमसोहिमदं इच्छीअदि । तंसोंडिआपणं एव्व गच्छामो ।] धीवर ! महत्तरस्त्वं प्रियवयस्क इदानीं मे संवृत्त: । कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते । तच्छौण्डिकापणमेव गच्छाम: ।

कोतवाल—धीवर ! तुम अब हमारे बहुत बड़े प्रिय मित्र हो गये हो । हमारी प्रथम मित्रता शराब को साक्षी करके होनी चाहिये । अत: हम सब शराब बेचने वाले की दूकान पर चलें ।

(इति निष्क्रान्ता: सर्वे ।)

(इति प्रवेशक: ।)

(सब चले जाते हैं ।)

(प्रवेशक समाप्त ।)

व्याकरण:—**अभिमत:** = अभि + मन् + क्त । यहाँ "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" अष्टा० ३।२।१८८ । से वर्त्तमान अर्थ में क्त प्रत्यय होता है । इसके पश्चात् भर्तु: में "क्तस्य च वर्तमाने" अष्टा० २।३।६७ । से षष्ठी विभक्ति होती है । **स्मारित:** = स्मृ + णिच् + क्त । **मात्स्यिक** = मत्स्य + ठक् (इक्) यहाँ "पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति" अष्टा० ४।४।३५ । से ठक् प्रत्यय होता है । **महत्तर:** = अतिशयेन महान्—महत् + तरप् । **कादम्बरी** = कदम्बर + अण् + ङीप् । **शौण्डिक** = शुण्डा—ठक् (इक) । *समास आदि:*—(बहुव्रीहि) । **पर्युत्सुकनयन:**–(पाठभेद) पर्युत्सुके उत्कण्ठिते नयने यस्य स: (बहुव्रीहि) । **पर्यश्रुनयन:** = परिगतानि अश्रूणि ययो: ते पर्यश्रुणी, पर्यश्रुणी नयने यस्य स: **मात्स्यिकभर्त्तु:** = मत्स्यान् हन्ति असौ **मात्स्यिक:**, मात्स्यिकानां धीवराणां भर्त्तु: (तत्पुरुष) । **सुमनोमूल्यम्** = सुमनसां पुष्पाणां मूल्यं सुमनोमूल्यम् (तत्पुरुष) । **कादम्बरी** = कुत्सितं अम्बरं वस्त्रं यस्य स: कदम्बर: बलराम:, तस्य इयम् । **कादम्बरी-साक्षिकम्** = कादम्बरी मदिरा साक्षी यस्य तत् (बहुव्रीहि) । **प्रथमसौहृदम्** = प्रथमं च तत्सौहृदं इति । **शौण्डिकापणम्** = शुण्डा सुरा पण्यं अस्य स: । अथवा शुण्डा मदिरा [illegible] तस्य आपणम् ।

टिप्पणियाँ—**दर्शनेन...स्मारितः** = अँगूठी के दर्शन-मात्र से ही राजा को किसी व्यक्ति-विशेष का स्मरण हो आया। यहाँ पर यह प्रेरणार्थक प्रयोग है। अप्रेरणार्थक (सामान्य) प्रयोग होगा—अभिमतः जनः स्मृतः। **अभिमतः** = इष्ट, प्रिय। **पर्यश्रुनयनः** = अश्रु धारा से परिपूर्ण नेत्रों वाला। **पर्युत्सुकनयनः** = खिन्न मन वाला। **मात्स्यिकभर्तुः कृते** = मछियारों के स्वामी के लिये। तात्पर्य यह है—वस्तुतः इस धीवर के लिये ही आपने राजा की सेवा की है, क्योंकि पुरस्कार तो इसी को प्राप्त हुआ है। पाठभेद—**मत्स्यशत्रोः** = मछली मारने वाले के लिये। **असूयया पश्यति** = पारितोषिक तो धीवर को ही प्राप्त हुआ है। अतः अन्य व्यक्तियों (जो उसको पकड़ कर लाये थे) के अन्दर ईर्ष्या का भाव होना स्वाभाविक ही था। **सुमनोमूल्यम्** = फूलों का मूल्य। धीवर के कहने का भाव है कि आप लोगों ने मेरे जीवन की रक्षा की है। अतः आप पूज्य अथवा आदरणीय हैं। आपकी पूजा अथवा आदर-सत्कार के निमित्त फूल इत्यादि चाहिये। पुष्प तो यहाँ पर हैं नहीं, अतः उनके स्थान पर पुष्पों के मूल्य के रूप में मैं अपने धन में से आधा धन आपको भेंट करता हूँ। अथवा यहाँ पर सुमनस् शब्द का अर्थ अच्छा मन, सुन्दर भावनाओं से युक्त मन अथवा दयालुता भी हो सकता है। मैं आप की दया का (कृपा का) यह मूल्य दे रहा हूँ। पाठभेद—**सुरामूल्यम्** = शराब के लिये मूल्य। **महत्तरः** = अत्यधिक महान्, बहुत बड़ा। औरों की अपेक्षा महान्। **कादम्बरीसाक्षिकम्** = मदिरा को साक्षी रखकर। पाठभेद—**कादम्बरीसखित्वमस्माकं प्रथमशोऽभिकत्तमिष्यते** = हमारी यह प्रथम बार की मित्रता मदिरा के साथ प्रारम्भ हो। **कादम्बरी** = यह एक प्रकार की मदिरा का भी नाम है जो कदम्ब के फूलों अथवा इसी के रस से निकाली जाया करती है। **शौण्डिकापणम्** = शराब बेचने वाले की दूकान पर। शौण्डिक—शराब बेचने वाला।

प्रवेशक—विष्कम्भक के सदृश प्रवेशक भी बीते हुए अथवा भावी कथा के अंशों का संक्षिप्त रूप में दिग्दर्शन कराने वाला होता है। किन्तु विष्कम्भक तथा प्रवेशक में विशेष रूप से निम्न अन्तर हुआ करते हैं—(१) विष्कम्भक दो प्रकार का होता है (i) शुद्ध, (ii) संकीर्ण। शुद्ध विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी के पात्र भाग लिया करते हैं तथा संकीर्ण विष्कम्भक में मध्यम तथा निम्न श्रेणी के पात्रों का सम्मिश्रण रहा करता है। किन्तु प्रवेशक में इस प्रकार का कोई भेद-भाव नहीं होता है क्योंकि उसमें सभी पात्र निम्न कोटि के ही हुआ करते हैं। (२) विष्कम्भक की भाषा में संस्कृत का अथवा संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं का प्रयोग हो सकता है किन्तु प्रवेशक में सदैव प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया जाना आवश्यक होता है। (३) विष्कम्भक किसी अंक के प्रारम्भ में आता है। अर्थात् उसका प्रयोग प्रथम अंक के प्रारम्भ में भी हो सकता है किन्तु प्रवेशक दो अंकों के बीच में ही आता है। इसका लक्षण—

"प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अंकद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा॥" सा० दर्पण ६।५७॥

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन सानुमती नामाप्सराः ।)

सानुमती—[णिव्वत्तिदं मए पच्चाअणिव्वत्तणिज्जं अच्छरातित्थसण्णिज्झं जाव साहुजणस्स अभिसेअकालो त्ति । संपदं इमस्स राएसिणो उदन्तं पच्चक्खीकरिस्सं । मेणआसंबन्धेण सरीरभूदा मे सउन्दला । ताए अ दुहिदुणिमित्तं आदिट्ठपुव्व म्हि । किं णु क्खु उदुच्छवे वि णिरुच्छवारम्भं विअ राउदलं दीसइ । अत्थि मे विहवो पणिधाणेण सव्वं परिण्णादुं किं दु सहीए आदरो मए माणइदव्वो । होदु, इमाणं एव्व उज्जाणपालिआणं तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पस्सवत्तिणी भविअ उअलहिस्सं ।] निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वर्तनीयमप्सरस्तीर्थसांनिध्यं यावत् साधुजनस्याभिषेककाल इति । साम्प्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि । मेनकासम्बन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला । तया च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वाऽस्मि । (समन्तादवलोक्य) किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते । अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं परिज्ञातुम् । किन्तु सख्या आदरो मया मानयितव्यः । भवतु, अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये ।

(इति नाट्येनावतीर्य स्थिता ।)

(तदनन्तर आकाशमार्ग से विमान द्वारा सानुमती नाम की अप्सरा प्रवेश करती है ।)

सानुमती—जब तक सज्जनों के स्नान का समय है, उस समय तक अप्सरा तीर्थ पर क्रमशः बारी-बारी से जो वहाँ उपस्थित रहने का नियम है, वह मैंने समाप्त (पूरा) कर लिया है । (अतः) अब इस राजर्षि (दुष्यन्त) का हाल-चाल मैं स्वयं अपनी आँखों से देखूँगी । मेनका के साथ उसका सम्बन्ध होने के कारण शकुन्तला मेरा अपना शरीर हो गई है और उस (मेनका) ने भी अपनी पुत्री के बारे में मुझसे पहले से ही कहा हुआ है । (चारों ओर देखकर) क्या बात है कि (वसन्त) ऋतु का उत्सव उपस्थित होने पर भी राजकुल

उत्सव की तैयारी से शून्य-सा दिखलाई पड़ रहा है। (यद्यपि) मेरे अन्दर योग द्वारा सब कुछ जान लेने की सामर्थ्य विद्यमान है, किन्तु मुझे अपनी सखी की अभिलाषा का आदर करना चाहिये। अच्छा, तिरस्करिणी विद्या के प्रभाव से अदृश्य रहती हुई मैं इन दोनों उद्यानपालिकाओं के समीप जाकर (सब आवश्यक समाचार का) पता लगाऊँगी।

(विमान से उतरने का अभिनय करके वहाँ खड़ी हो जाती है।)

व्याकरण:—**यान**=याति अनेन इति या+ल्युट् (अन)। **पर्याय**= परि+इ+घञ्। यहाँ "परावनुपात्यय इण:" अष्टा० ३।३।३८। से घञ् प्रत्यय होता है। **प्रत्यक्ष**=अक्ष्णोः प्रति, प्रति+अक्षि+टच् (अ)—यहाँ "प्रति-परसम..." इत्यादि (गणसूत्र)से समासान्त टच् प्रत्यय होता है। **आदरः**— आ+दृ+अप् (अ)। **तिरस्करिणी**=तिरस्+कृ+णिनि कर्तरि स्त्रियाम्। *समास आदि:*—**पर्यायनिर्वर्तनीयम्**=पर्यायेण क्रमेण निर्वर्तनीयं सम्पादनीयम् (तत्पुरुष)। **अप्सरस्तीर्थसन्निध्यम्**=अप्सरस्तीर्थसनाम तीर्थस्थानं तत्र सान्निध्यं उपस्थितिः। **उदन्तम्**=उद्गतः अन्तः यस्य सः तम्। **प्रत्यक्षीकरिष्यामि**=अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षं करिष्यामि इति। यहाँ अभूततद्भाव अर्थ में 'च्वि' प्रत्यय होता है। **शरीरभूता**=अशरीरं शरीरं भूता इति। यहाँपर च्वि प्रत्यय का अर्थ मानकर "श्रेण्यादयः कृतादिभिः" अष्टा० २।१।५९। से समास होता है। श्रेण्यादि आकृतिगण है। अथवा शरीरस्य भूता इति—यहाँ पर भूत शब्द को तुल्यार्थक मानकर समास हुआ है। **आदिष्टपूर्वा**=पूर्वमादिष्टा इति। **ऋतूत्सवे**=ऋतोः वसन्तस्य यः उत्सवः तस्मिन्। **निरुत्सवारम्भम्**—उत्सवस्य आरम्भ उत्सवारम्भः (तत्पुरुष), निर्गतः उत्सवारम्भो यस्मात्तत्। **तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना**=तिरस्करिणी नाम अदृश्यकारिणी विद्या तया प्रतिच्छन्ना अन्तर्हिता इति (तत्पुरुष)। **तिरस्करिणी**=तिरस्करोतीति [स्त्रीलिंग में]।

टिप्पणियाँ—**आकाशयानेन**=आकाश मार्ग से। अप्सराओं में इस प्रकार की शक्ति हुआ करती थी कि वे आकाश में पक्षियों के सदृश उड़कर गमन कर सकें। इसका दूसरा अर्थ 'विमान द्वारा' भी हो सकता है। **यान**=जिसके द्वारा जाया जाता है वह सवारी। **पर्यायनिर्वर्तनीयम्**=बारी–बारी से (अप्सरस्तीर्थ पर) उपस्थित रहने का नियम। अप्सरस्तीर्थ की रक्षा का भार अप्सराओं पर था, अतः उनकी उपस्थिति वहाँ अनिवार्य थी। इसके निमित्त बारी बारी से वहाँ रहने की ड्यूटी लगा करती थी कि वे वहाँ देखभाल करें ताकि सज्जनों के स्नान के समय कोई दुर्घटना आदि न होने पावे अथवा किसी अन्य प्रकार का कोई विघ्न उपस्थित न होने पावे। **सांनिध्यम्**=समीपता। किन्तु यहाँ पर इसका अर्थ 'उपस्थिति' है। **उदन्तम्**=समाचार, वृत्तान्त, हाल। **मेनकासम्बन्धेन**= मेनका के साथ सम्बन्ध होने के कारण। शकुन्तला मेनका नाम की अप्सरा

की पुत्री थी। सानुमती भी अप्सरा है। अतः परस्पर सम्बन्ध हो सकता है। अथवा सम्बन्ध का भाव मैत्री भी लिया जा सकता है। **शरीरभूता**=मेरी शरीर-स्वरूप अर्थात् मेरी देह के एक भाग के सदृश। अथवा मेरे शरीर के सदृश। **ऋतूत्सवे**=ऋतूत्सव से तात्पर्य वसन्तोत्सव से है। **निरुत्सवारम्भम्**=निकल गया है वसन्तोत्सव की तैयारियों का आरम्भ जिससे ऐसा राजकुल। प्राचीन काल में वसन्तऋतु के समय चैत्र के महीने की पूर्णिमा के दिन एक आनन्दोत्सव मनाया जाता था जिसको वसन्तोत्सव कहा जाता था। आजकल फाल्गुन मास की पूर्णिमा को मनाया जाने वाला वसन्तोत्सव उसी का अवशेष रूप है। **प्रणिधानेन**=ध्यान अथवा योगशक्ति के द्वारा। देवताओं तथा अप्सराओं को वे सिद्धियाँ प्राप्त हैं कि जिनकी सहायता से ध्यान अथवा योग के द्वारा वे भूत तथा भावी विषयों का साक्षात्कार कर सकते तथा सकती हैं। **तिरस्करिणी**=अपने आपको दूसरों की दृष्टि से बचाये (अथवा गुप्त) रखने की विद्या। इस प्रकार की विद्या का ज्ञान अप्सराओं को रहा करता है। इसके द्वारा वे तो दूसरों को देख सकती हैं, किन्तु दूसरे उनको नहीं देख पाते हैं।

(ततः प्रविशति चूताङ्कुरमवलोकयन्ती चेटी
अपरा च पृष्ठतस्तस्याः।)

प्रथमा—[आतम्महरिअपण्डुर जीविद सत्तं वसंतमासस्स।
दिट्ठो सि चूदकोरअ उदुमंगल तुमं पसाएमि ॥२॥]

आताम्रहरितपाण्डुर जीवित सत्यं वसन्तमासस्य।
दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमङ्गल त्वां प्रसादयामि ॥२॥

अन्वयः—आताम्रहरितपाण्डुर, सत्यं वसन्तमासस्य जीवित, ऋतुमंगल, चूतकोरक, दृष्टः असि, त्वां प्रसादयामि।

संस्कृत-व्याख्या—आताम्रहरितपाण्डुर=ताम्रो लोहितः हरितः हरिद्वर्णः पाण्डुरः पीतशुक्लः इति ताम्रहरितपाण्डुरः, आ ईषत् ताम्रहरितपाण्डुरः आताम्रहरितपाण्डुरस्तत्सम्बुद्धौ, हे लोहितहरितपीतशुक्लवर्णैः किंचित् समन्वितं, सत्यम्=वस्तुतः, वसन्तमासस्य=मधुमासस्य चैत्रमासस्य वा, जीवित प्राणस्वरूप, ऋतुमंगल=ऋतोः वसन्तकालस्य मंगल मंगलस्वरूप, चूतकोरक=आम्रमुकुल! दृष्टः असि=त्वं दर्शनपथं प्राप्तोऽसि। त्वाम् प्रसादयामि=अहं तव प्रसादनं करोमि, प्रीणयामि वा।

अलंकार—"आताम्रहरितपाण्डुर" में स्वभावोक्ति अलंकार है। **छन्दः**—इसमें आर्या जाति है।

(तत्पश्चात् आम्रमञ्जरी को देखती हुई एक दासी प्रवेश करती है
और दूसरी दासी उसके पीछे-पीछे।)

पहली—कुछ लाल, हरे तथा पीतश्वेत वर्ण से सुशोभित, वस्तुतः वसन्तमास (चैत्रमास) का प्राणस्वरूप, वसन्तऋतु की मंगलरूप, हे आम्र मञ्जरी ! मैंने आज तुमको देख लिया है। तुम को प्रसन्न करने के लिये मैं प्रणाम करती हूँ।

द्वितीया—[परहुदिए ! किं एआइणी मन्तेसि ?] परभृतिके ! किमेकाकिनी मन्त्रयसे ?

दूसरी—परभृतिके ! अकेली क्या सोच रही हो ?

प्रथमा—[महुअरिए ! चूदकलिअं देक्खिअ उन्मत्तिआ परहुदिआ होदि ।] मधुकरिके ! चूतकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति ।

पहली—मधुकरिके ! परभृतिका (कोयल) आम्र की मञ्जरी को देखकर मतवाली हो जाती है।

द्वितीया—(सहर्षं त्वरयोपगम्य) [कहं उवट्ठिदो महुमासो ।] कथमुपस्थितो मधुमासः ?

दूसरी—(हर्ष के साथ, शीघ्रतापूर्वक पास जाकर) तो क्या मधुमास (चैत्रमास) आ गया ?

प्रथमा—[महुअरिए ! तव दाणिं कालो एसो मदविब्भमगीदाणं ।] मधुकरिके ! तवेदानीं काल एष मदविभ्रमगीतानाम् ।

पहली—मधुकरिके ! अब तेरा यह मद से मस्त होकर गीतों के गाने का समय है। (तुझ भ्रमरी के मदसम्पन्न विलासों तथा गीतों के गान का यही समय है।)

द्वितीया—[सहि ! अवलम्ब मं जाव अग्गपादट्ठिआ भविअ चूदकलिअं गेण्हिअ कामदेवच्चणं करेमि ।] सखि ! अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि ।

दूसरी—हे सखी ! मुझे थोड़ा सहारा दो, मैं पैरों के अग्रभाग (पंजों) पर खड़ी होकर आम की मञ्जरी को तोड़कर कामदेव की पूजा करूँ।

व्याकरणः—पाण्डुर = पाण्डु + र । यहाँ "नगपांसुपाण्डुभ्यश्च" वार्तिक से मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय होता है। ***समास आदि***—परभृतिका = परभृत एव परभृतकः (स्त्रीलिंग—परभृतिका) । यहाँ स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होता है। मधु-

करिका = मधुकर एवं मधुकरिका: (सखीकिण्ण मधुकरिका) । मदविभ्रमगीता-नाम् = मदेन पुष्परसपानेन यानि विभ्रमयुतानि विलासयुक्तानि गीतानि तेषाम् (तत्पुरुष) । **अग्रपादस्थिता** = अग्रौ च तौ पादौ अग्रपादौ (कर्मधारय), अग्र-पादयोः स्थिता (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**चूताङ्कुरम्** = चूत–आम, अंकुर-मञ्जरी, आम की मञ्जरी (बौर) को । **आताम्रहरितपाण्डुर** = यहाँ 'आ' का अर्थ है कुछ थोड़ा-सा। इसका सम्बन्ध तीनों रंगों (ताम्र, हरित और पाण्डुर) से है—अतः अर्थ हुआ —कुछ कुछ लाल, हरे तथा पीले एवं श्वेत वर्ण से युक्त । पाण्डुर—थोड़ा सा पीलापन लिये हुए श्वेत रंग का ("पाण्डुरः शुक्लपीतकः" ।) **जीवित** = प्राण-स्वरूप अथवा जीवनस्वरूप । **वसन्तमासस्य** = वसन्त के महीने का । "मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू" (यजुर्वेद १३।२५) तथा "चैत्रवैशाखो वसन्तः" के आधारों पर चैत्र एवं वैशाख इन दो महीनों का नाम ही वसन्त ऋतु माना गया है । अतः यहाँ वसन्त ऋतु का प्रथम मास मानने पर वसन्त शब्द से चैत्र के महीने का ही ग्रहण किया जाना उचित है । **कोरक** = कली, बौर अथवा मंजरी । **प्रसा-दयामि** = तुम को प्रसन्न करने के लिये मैं प्रणाम करती हूँ, जिससे वसन्त मेरे लिये शुभ एवं कल्याणप्रदायक हो । **परभृतिके** तथा **मधुकरिके** = ये दोनों नाम दासियों के हैं । ये दोनों एक दूसरे की सखी हैं । कालिदास ने इन सखियों के ये दोनों नाम अभिप्राय-विशेष के साथ रखे हैं । परभृतिका का अर्थ 'कोयल' तथा "मधुकरिका" का अर्थ 'भ्रमरी' है । इन दोनों का वसन्त ऋतु के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है । ये दोनों इस ऋतु में अत्यधिक हर्ष एवं उल्लास से परिपूर्ण एवं आनन्द का अनुभव करने वाली होती हैं । इस प्रकार यहाँ पर यह दोनों शब्द श्लिष्ठ हैं । प्रथमा—इस वाक्य को बोलने वाली परभृतिका है । वह अपने नाम को ही ध्यान में रखती हुई व्यंग्य करती है कि आम्र मञ्जरी को देखकर मैं तथा कोयल दोनों ही उन्मत्त से हो रहे हैं । **मदविभ्रमगीतानाम्** = मद (मस्ती) से उत्पन्न होने वाले विभ्रमों (विलासों) से युक्त गानों का । भ्रमरी के पक्ष में अर्थ होगा—मँडराना अथवा चक्कर काटना । कुछ टीकाकारों ने इसके दूसरे ही प्रकार के अर्थ किये हैं । वे हैं :—(१) मदयुक्त विलास और मदयुक्त गीत । यहाँ पर मद शब्द का सम्बन्ध विलास तथा गीत दोनों के साथ दिखलाया गया है । (२) मद, विलास और गीतों के गाये जाने का । **अग्रपादस्थिता** = पैरों के अग्रभागों (पंजों) पर खड़ी होकर । यहाँ महाकवि का यह वैशिष्टय है कि उसने दो भिन्न स्वभाव वाली सखियों का चित्रण प्रस्तुत किया है । पर भृतिका हास्यप्रिय तथा अधिक बात करने वाली प्रतीत होती है तथा मधुकरिका शान्त प्रकृति की । **चूतकलिकाम्** = आम की कली, बौर अथवा मंजरी को । **अर्चनम्** = पूजन ।

प्रथमा—[जइ मम वि खु अद्धं अच्चणफलस्स ।] यदि ममापि खल्वर्धमर्चनफलस्य ।

पहली—यदि पूजा के फल का आधा भाग मुझे भी प्राप्त हो तो।

द्वितीया—[अकहिदे वि एदं संपज्जइ। जदो एक्कं एव्व णो जीविदं दुधा ट्ठिदं सरीरं। अए अप्पडिवुद्धो वि चूदप्पसवो एत्थ बन्धण-भंगसुरभी होदि।

तुमं सि मए चूदंकुर दिण्णो कामस्स गहीदधणुअस्स।
पहिअजणजुवइलक्खो पंजाब्भहिओ सरो होहि ॥३॥

अकथितेऽप्येतत्संपद्यते, यत एकमेव नौ जीवितं द्विधा स्थितं शरीरम्। (सखीमवलम्ब्य स्थिता चूताङ्कुरं गृह्णाति।) अये, अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसवोऽत्र बन्धनभङ्गसुरभिर्भवति। (इति कपोतहस्तकं कृत्वा)

त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्तः कामाय गृहीतधनुषे।
पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरो भव ॥३॥

(इति चूताङ्कुरं क्षिपति।)

दूसरी—तुम्हारे न कहने पर भी ऐसा ही होता। क्योंकि हम दोनों का प्राण एक ही है, केवल शरीर दो भागों में स्थित है। (सखी का सहारा लेकर खड़ी होकर आम्र-मञ्जरी को तोड़ती है।) अरे! यहाँ (वसन्त के आरम्भ में) पूर्णरूप से विकसित न होने पर भी (यह) आम्र-मञ्जरी डंठल से टूटने पर सुगन्धयुक्त हो रही है। (यह कहकर कपोताकार रूप में दोनों हाथों को जोड़कर)।

अन्वय—हे चूतांकुर! मया त्वं गृहीतधनुषे कामाय दत्तः असि। पथिक-जनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरः भव।

संस्कृत-व्याख्या—हे चूतांकुर! = हे आम्रमुकुल! हे सहकारप्रसव! मया = मधुकरिकया, त्वम्—आम्रमञ्जरी, गृहीतधनुषे—गृहीतं धृतं धनुर्येन तस्मै, कामाय—मदनाय, दत्तः असि = समर्पितः असि। पथिकजनयुवतिलक्ष्यः = पथिकजनानां पान्थानां प्रोषितजनानां वा युवतयः तरुण्यः लक्ष्यं शरव्यं यस्य सः, पञ्चाभ्यधिकः = पंचानां बाणानां अभ्यधिकः श्रेष्ठः, शरः = बाणः, भव = एधि।

हे आम्रमञ्जरी (आम के बौर)! मेरे द्वारा तू धनुष को धारण करने वाले कामदेव को समर्पण की जा रही है। पथिकों (राहगीरों) की तरुण

युवतियाँ (स्त्रियाँ) तुम्हारा लक्ष्य हों और तुम पाँचों बाणों में सर्वश्रेष्ठ बाण बनो ।

(यह कहकर आम्रमञ्जरी को फेंकती है ।)

छन्दः—इसमें आर्या छन्द है ।

व्याकरण:—**अप्रतिबुद्धः** = प्रतिबुद्धः—प्रति + बुध् + क्त । न प्रतिबुद्धः अप्रतिबुद्धः । **पथिक** = पथिन् + ष्कन् (क) । यहाँ "पथः ष्कन्" अष्टा० ५।१।७५ । से 'ष्कन्' प्रत्यय होता है। *समास आदिः*—**बन्धनभंगसुरभिः** = बन्धनात् भंगेन सुरभिः सुगन्धिः (तत्पुरुष) ("संदाने च तथा वृन्ते मायायां बन्धनं स्मृतम्" इति रुद्रः ।) **कपोतहस्तकम्** = कपोत इव हस्तः कपोतहस्तः स एव कपोतहस्तकः तम् । **गृहीतधनुषे** = गृहीतं धनुः येन तस्मै (बहुव्रीहि) । **पथिक** = पन्थानं गच्छति इति । **पञ्चाभ्यधिकः** = पञ्चानां अभ्यधिकः ।

टिप्पणियाँ—**अप्रतिबुद्धः** = पूर्णरूप से न खिला हुआ (अविकसित), जो इस समय तक पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सका है। **बन्धनभंगसुरभिः** = डंठल से टूटने पर सुगन्धियुक्त हो रहा है। **कपोतहस्तकं कृत्वा** = हाथ जोड़कर। प्रणामादि के समय दोनों हाथों को जोड़ने का यह एक प्रकार है। ये दोनों हाथ इस प्रकार मिले हुए होने चाहिये कि जिससे दोनों हाथों के मध्य के भाग में कुछ स्थान खाली रहे तथा दोनों हाथों का शेष भाग एक दूसरे से मिला हो। इस भाँति दोनों के मध्यभाग में उठे हुए होने के कारण इसकी आकृति कबूतर जैसी प्रतीत हुआ करती है, इसी कारण इसे कपोतहस्त कहा जाता है। लक्षण—"कपोतोऽसौ करौ यत्र शिष्टमूलाग्रपार्श्वकौ । प्रणामे गुरुसंभाषे०" ॥ संगीतरत्नाकर ॥ भरतमुनि ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है:—सर्वपार्श्वसमाश्लेषात् कपोतः सर्वशीर्षकः । भीतौ विज्ञापने चैव विनये च प्रयुज्यते ॥ **पथिकजनयुवतिलक्ष्यः** = पथिकों की युवा स्त्रियाँ हैं लक्ष्य जिसकी । ऐसा माना गया है कि आम का बौर विरहिणी स्त्रियों के अन्दर और भी अधिक उत्कण्ठा उत्पन्न कर दिया करता है। **पञ्चाभ्यधिकः** = (कामदेव के) पाँचों (बाणों) में सर्वश्रेष्ठ। कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार से भी किया है—"पञ्चभ्यः अरविन्दादिभ्यः पञ्चसंख्यकेभ्यः शरेभ्यः अभ्यधिकः अतिरिक्तः षष्ठः" । अर्थात् अरविन्द आदि पाँच बाणों के अतिरिक्त छठे बाण से युक्त (हो जाओ) ॥ कामदेव के पाँच बाण हैं:—"अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका । नीलोत्पलं च पंचैते पंचबाणस्य सायकाः" ॥ इनके कार्य हैं "संमोहनोन्मादनौ शोषणस्तापनस्तथा । स्तम्भनश्चेति कामस्य पंच बाणाः प्रकीर्तिताः" ॥

(प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपितः ।)

कञ्चुकी—मा तावत् अनात्मज्ञे ! देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभङ्गं किमारभसे ?

(बिना पर्दा उठे क्रोध के साथ एकाएक प्रविष्ट होकर ।)

कंचुकी—अरी मूर्खा, ऐसा मत कर । महाराज (दुष्यन्त) द्वारा वसन्तोत्सव के (मनाने के सम्बन्ध में) मना कर दिये जाने पर भी तूने आम्रमञ्जरी को तोड़ना क्यों आरम्भ कर दिया है ?

उभे—(भीते) [पसीददु अज्जो । अग्गहीदत्थाओ वअं ।]

प्रसीदत्वार्यः । अगृहीतार्थे आवाम् ।

दोनों—(भयभीत हुईं) आर्य कृपा करें । हम दोनों को यह बात ज्ञात नहीं थी ।

कञ्चुकी—न किल श्रुतं युवाभ्यां यद् वासन्तिकैस्तरुभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणीकृतं तदाश्रयिभिः पत्रिभिश्च । तथाहि—

चूतानां चिरनिर्गताऽपि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
संनद्धं यदपि स्थितं कुरवकं तत्कोरकावस्थया ।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शंङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्ट शरम् ।।४।।

अन्वय—चूतानां चिरनिर्गता अपि कलिका स्वं रजः न बध्नाति ।यद् अपि कुरबकं सन्नद्धम् तत् कोरकावस्थया स्थितम् । शिशिरे गते अपि पुंस्कोकिलानां रुतं कण्ठेषु स्खलितम् । शंके स्मरः अपि चकितः (सन्) तूणार्द्धकृष्टं शरं संहरति ।

संस्कृत-व्याख्या—चूतानाम् = आम्राणाम्, चिरनिर्गता अपि = बहुकालपूर्वं निःसृता अपि शिशिरावसाने एव प्रोद्भिन्नापीत्यर्थः, कलिका = मञ्जरी, स्वम्—स्वकीयम्, रजः = परागम्, न बध्नाति = न धारयति न आविष्करोतीत्यर्थः । यदपि, कुरबकम् = शोणकुरण्टपुष्पमुकुलम् कुरबक पुष्पं वा, सन्नद्धम्—विकासोन्मुखमासीत्, तत् = तदपि, कोरकावस्थया = कलिकारूपेण, स्थितम् = अविकसितमेव रुद्धमित्यर्थः । शिशिरे—शीतकाले, गते अपि = अतीतेऽपि वसन्ताविर्भावेऽपीत्यर्थः, पुंस्कोकिलानाम् = पुमांसः कोकिलाः पुंस्कोकिलाः पिकाः तेषां कोकिलयूनाम् (न तु कोकिलसामान्यानाम्; कोकिलयुवतीनां स्वत एव स्वरस्खलनसम्भवादिति भावः ।), रुतम् = कूजितम्, कण्ठेषु = गलनालेषु एव, स्खलितम् = निर्गमनकाले रुद्धम् किञ्चिन्निर्गत्यैव कण्ठेषु एव विस्रस्तमित्यर्थः । शंके = अतः (अहम्) सम्भावयामि, स्मरः अपि = कामोऽपि, चकितः = भीतः सन्, तूणार्धकृष्टम् = तूणात् तूणीरात् अर्धकृष्टं अर्धं निष्कासितमपि, शरम् = बाणम्, संहरति = पुनः तूणीरे एव स्थापयति ।

कञ्चुकी—क्या तुम दोनों ने नहीं सुना है कि वसन्त ऋतु में फूलने वाले वृक्षों ने तथा उन पर रहने वाले पक्षियों ने भी महाराज की आज्ञा को मान लिया है। क्योंकि :—

बहुत समय से निकली हुई होने पर भी आम की मञ्जरी अपने पराग को धारण नहीं कर रही है। जो कुरबक का फूल खिलने के लिये तैयार हो गया था, वह भी कली के ही रूप में स्थित है। शिशिर ऋतु के बीत जाने (तथा वसन्त का आगमन हो जाने) पर भी कोयल पक्षियों का शब्द उनके कण्ठ तक ही रुककर रह गया है। मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि भयभीत होकर कामदेव ने भी तूणीर से आधे निकाले हुए अपने बाण को पुनः भीतर कर लिया है। (अर्थात् चढ़ाया तो किन्तु चलाया नहीं।)

अलङ्कार—इस श्लोक में 'शंके' के द्वारा 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है। इसके चतुर्थ चरण में वर्णित कामदेव के बाण संहार के प्रति प्रथम तीन चरणों में वर्णित वाक्य कारण है, अतः 'काव्यलिंग' अलंकार है। छन्दः—इसमें 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त है।

व्याकरण—**वासन्तिकैः** + वसन्त + ठञ् (इक) यहाँ 'वसन्ताच्च' अष्टा० ४।३।२०। से ठञ् होता है। यह 'ठञ्' वेद में ही होता है। इसका लौकिक रूप तो 'वासन्तः' है। यहाँ "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण" से 'अण्' होता है। कालिदास ने जिन वैदिक प्रयोगों को अपने ग्रन्थों में अपनाया है, उनमें एक यह भी है। ***समासः***—**अनात्मज्ञे** = आत्मानं न जानातीति अनात्मज्ञा तत्सम्बोधने। **अगृहीतार्थे** = न गृहीतः अर्थः अस्मात् (बहुव्रीहि)। **वासन्तिकैः** = वसन्ते जातः वासन्तिकः तैः। **प्रमाणीकृतम्** = अप्रमाणं प्रमाणं कृतमिति प्रमाणीकृतम्।

टिप्पणियाँ—**कुपितः**—क्रोधित। इसी कारण वह एकाएक पर्दा हटाकर प्रवेश करता है। **अनात्मज्ञे** = अपने को न पहिचानने वाली अर्थात् मूर्ख, जिसे अपने का ही ज्ञान नहीं है। क्या तुम नहीं जानती हो कि तुम दासियाँ हो ? तुम दोनों को राजा के आदेश के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिये। राजा का आदेश है कि वसन्तोत्सव न मनाया जाय। फिर भी तुम दोनों उसकी तैयारी में संलग्न हो। यही अनात्मज्ञता है। **वसन्तोत्सव** = होली का त्यौहार। इस त्यौहार पर सभी प्राणी अत्यन्त प्रसन्न दृष्टिगोचर होते हैं। पारस्परिक भेद-भाव एवं वैमनस्य आदि का त्यागकर वे प्रसन्नतापूर्वक एक दूसरे से मिला करते हैं। इस समय आम्र वृक्षों पर बौर भी होता है तथा कोयलों का सुमधुर कूजन भी। शीताधिक्य भी इस समय नहीं रहता है। प्रसन्नता में विभोर होने के कारण प्राणी परस्पर रंग भी खेला करते हैं। वसन्तोत्सव का अन्य अर्थ वसन्तपंचमी का उत्सव भी किया जा सकता है। किन्तु शास्त्रीय एवं ऋतुविभाजन सम्बन्धी मासों

की गणना की दृष्टि से वसन्त पंचमी का उत्सव 'वसन्त ऋतु' के अन्तर्गत नहीं मनाया जाया करता है। यह उत्सव तो वसन्त ऋतु (ऋतुराज) के आगमन के स्वागत में वसन्त ऋतु के प्रारम्भ होने से पूर्व ही मनाया जाता है। **अगृहीतार्थे आवाम्** = नहीं ज्ञात है यह बात जिनको ऐसी हम दोनों। अर्थात् हम दोनों को इस बात का ज्ञान नहीं था। अर्थ—विषय, बात। **वासन्तिकैः** = वसन्त के समय (विकसित) होने वाले (वृक्षों) द्वारा। (वसन्ते पुष्यन्ति इति वासन्तिकाः)। **पत्रिभिः** = पक्षियों ने। **चिरनिर्गता** = बहुत समय से निकली हुई। **न बध्नाति** = धारण नहीं करती हैं। **कोरकावस्थया** = कली की अवस्था में ही। **कण्ठेषु स्खलितम्** = गले में ही रुक गई, बाहर न निकल पाई। **चकितः** = डरा हुआ अथवा भयभीत।

उभे—[णत्थि संदेहो। महाप्पहाओ राएसी।] नास्ति सन्देहः। महाप्रभावो राजर्षिः।

दोनों—इसमें कोई सन्देह नहीं है। (ये) राजर्षि महान् प्रभावशाली हैं।

प्रथमा—[अज्ज ! कदि दिअहाइं अम्हाणं मित्तावसुणा रट्ठिएण भट्टिणीपाअमूलं पेसिदाणं। इत्थं अ णो पमदवणस्स पालणकम्म समप्पिदं। ता आ अन्तुअदाये अस्सुदपुव्वो अम्हेहिं एसो वुत्तन्तो।] आर्य ! कति दिवसान्यावयोर्मित्रावसुना राष्ट्रियेण भट्टिनीपादमूलं प्रेषितयोः। इत्थं च नौ प्रमदवनस्य पालनकर्म समर्पितम्। तदागन्तुकतयाऽश्रुतपूर्वं आवाभ्यामेषवृत्तान्तः।

पहली—आर्य ! मित्रावसु नामक राजा के साले के द्वारा महारानी के चरणों में भेजे हुए हम दोनों को कितने दिन हुए हैं और अब इस प्रमदवन की सुरक्षा का कार्य हम को सौंपा गया है। अतः नये आये हुए होने के कारण हमने यह समाचार पहले नहीं सुना था।

कञ्चुकी—भवतु। न पुनरेव प्रवर्तितव्यम्।

कञ्चुकी—अच्छा (जो हुआ वह हुआ)। अब फिर ऐसा न करना।

उभे—[अज्ज ! कोदूहलं णो। जइ इमिणा जणेण सोदव्वं कहेदु अज्जो किंणिमित्तं भट्टिणा वसन्तुस्सवो पडिसिद्धो।] आर्य ! कौतूहलं नौ। यद्यनेन जनेन श्रोतव्यं कथयत्वार्यः किंनिमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवः प्रतिषिद्धः ?

दोनों—आर्य ! हमें उत्सुकता है । यदि इस व्यक्ति के सुनने योग्य हो तो आप बतलाइये कि महाराज ने वसन्तोत्सव के बारे में मना क्यों किया है ।

सानुमती—[उस्सवपिआ क्खु मणुस्सा । गुरुणा कारणेण होदव्वं ।] उत्सव-प्रियाः खलु मनुष्याः । गुरुणा कारणेन भवितव्यम् ।

सानुमती—निश्चय ही मनुष्य उत्सव-प्रिय होते हैं । (अतः इस मना करने में) कोई बड़ा कारण होना चाहिये ।

कञ्चुकी—बहुलीभूतमेतत् किं न कथ्यते । किमत्र भवत्योः कर्णपथं नायातं शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम् ?

कञ्चुकी—यह बात तो सर्वत्र फैल चुकी है, तब कही क्यों नहीं जा सकती है ? क्या आप दोनों ने शकुन्तला के परित्याग के कारण (उत्पन्न) लोकापवाद की बात नहीं सुनी है ?

उभे—[सुदं रट्ठि अमुहादो जाव अंगुलीअदसणं । (श्रुतं राष्ट्रियमुखाद् यावदङ्गुलीयकदर्शनम् ।

दोनों—राजा के साले के मुख से हमने अँगूठी के मिलने तक का समाचार सुना है ।

व्याकरण:—कति = किम् + डति (अति)—किम् में 'इम्' का लोप हो जाता है । **राष्ट्रियः** = राष्ट्रे अधिकृतः—राष्ट्र + घ (इय) यहाँ "राष्ट्रावारपाराद् घखौ" अष्टा० ४।२।९३ । से 'घ' प्रत्यय होता है । **उत्सव** = उत् + सू + अप् । **कौलीनम्** = कुल + ख (ईन) - कुलीन—कुलीनस्य भावः कौलीनम्—कुलीन + अण् ।

समास आदिः—**महाप्रभावः** = महान् प्रभावो यस्य तादृशः । **राष्ट्रियः** = राष्ट्रे अधिकृतः । **उत्सवप्रियाः** = उत्सवः प्रियः एषां ते (बहुव्रीहि) । 'वाप्रियस्य' वार्तिक से समास में प्रिय शब्द का प्रयोग पहले भी हो सकता है । **बहुलीभूतम्**—अबहुलं भूतमिति बहुलीभूतम् (सर्वत्र प्रसिद्धि प्राप्तमित्यर्थः ।) । **शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम्** = शकुन्तलायाः प्रत्यादेशः प्रत्याख्यानं परित्यागः तत्सम्बन्धि कौलीनं लोकवादः ("स्यात्कौलीनं लोकवादे" इत्यमरः ।)

टिप्पणियाँ—"नास्ति सन्देहः । महाप्रभावो राजर्षिः" यह उक्ति सानुमती नाम की अप्सरा की है, ऐसा कुछ संस्करणों में दिया हुआ है । इसमें प्रयोग किया गया हुआ राजर्षि शब्द भी इस बात की ही पुष्टि करता है । वही राजा के लिये राजर्षि शब्द का प्रयोग करती है । दासी इत्यादि पात्रों द्वारा तो राजा को भर्ता अथवा देव कहा गया है । **महाप्रभावः** = महान् प्रभावशाली है । महा-

भारत में तो राजा को काल का बनाने वाला कहा गया है :—"राजा कालस्य कारणम्" ॥ म० भा० शान्तिपर्व ॥ कति दिवसानि = कितने दिन व्यतीत हुए हैं ? मित्रावसुः = सम्भवतः यह महारानी वसुमती के भाई का नाम है अर्थात् राजा का साला। राष्ट्रियः = राजा का साला—"राजश्यालस्तु राष्ट्रियः" इत्यमरः। यह राष्ट्र की शान्ति तथा सुरक्षा के निमित्त नियुक्त किया गया व्यक्ति होता था अर्थात् पुलिस का सर्वोच्च अधिकारी। साधारणतया इस पद पर राजा का साला ही नियुक्त किया जाता था, ऐसी परिपाटी थी, अतः 'राष्ट्रिय' शब्द राजा के साले का पर्याय ही बन गया। यद्यनेन जनेन श्रोतव्यम् = यदि हम लोगों के सुनने योग्य हो तो अर्थात् यदि हम लोग इस बात को सुन सकती हों तो। किं निमित्तम् = "निमित्तपर्यायप्रयोगे..." वार्तिक में वर्णित नियम के आधार पर निमित्तवाचक शब्दों के साथ प्रायः सभी विभक्तियों का प्रयोग हो जाता है। बहुलीभूतम् = बहुत लोगों में फैला हुआ अथवा सर्वत्र फैला हुआ—सर्वविदित। अत्रभवत्योः कर्णपथं नायातम् = (क्या) आप दोनों के कानों तक नहीं आया है अर्थात् क्या आप दोनों ने नहीं सुना है ? प्रत्यादेश = परित्याग, प्रत्याख्यान। कौलीनम् = लोकनिन्दा, लोकवाद, लोकापवाद।

कञ्चुकी—(आत्मगतम्) तेन ह्यल्पं कथयितव्यम्। (प्रकाशम्) यदैव खलु स्वाङ्गुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात् प्रत्यादिष्टेति तदाप्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः। तथा हि—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो तदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम् ॥५

अन्वय—रम्यं द्वेष्टि। पुरा यथा प्रकृतिभिः प्रत्यहं न सेव्यते। उन्निद्रः एव शय्याप्रान्तविवर्तनैः क्षपाः विगमयति। यदा दाक्षिण्येन अन्तःपुरेभ्यः उचितां वाचं ददाति तदा गोत्रेषु स्खलितः चिरं व्रीडाविलक्षः च भवति।

संस्कृत-व्याख्या—राजा दुष्यन्तः, रम्यम् = सर्वं रमणीयं वस्तु स्रक्चन्दनादिकं, द्वेष्टि = नाभिनन्दति। पुरा यथा = पूर्ववत्, प्रकृतिभिः = अमात्यादिभिः, प्रत्यहम् = अहन्यहनीति प्रत्यहं प्रतिदिनम्, न सेव्यते = राजकार्यसम्पादनार्थं नोपास्यते = राजकार्यं सम्यक् न पश्यतीति भावः। उन्निद्रः एव = उत्सृष्टा निद्रा येन स तथाभूतः = जागरित एवेत्यर्थः, शय्याप्रान्तविवर्तनैः = शय्यायाः शयनीयस्य प्रान्तयोः पर्यन्तभागयोः (नतु मध्ये) विवर्तनैः = विलुण्ठनैः (न तु

निद्रया), क्षपाः = निशाः, विगमयति = अतिवाहयति । यदा, दाक्षिण्येन = औदार्येण, अन्तःपुरेभ्यः = अन्तःपुरवासिनीभ्यः महिलाभ्यः,, उचिताम् = तत्काल-योग्यां अभ्यस्तां वा, वाचम् = वाक्यम् (उत्तरम्), ददाति = प्रयच्छति, तदा गोत्रेषु = नामसु "गोत्रं तु नाम्नि च" इत्यमरः, स्खलितः = प्रभ्रष्टः शकुन्तला-मयचित्तत्वाद् अन्यनामोच्चारणसमये शकुन्तलानामोच्चारणात्, चिरम् = बहु-कालम्, यावत्, व्रीडाविलक्षः = लज्जाविकलः च, भवति = संजायते ।

कञ्चुकी—(मन में) तब तो थोड़ा ही कहना (बतलाना) पड़ेगा। (प्रकट रूप से) जैसे ही अपनी अँगूठी को देखने से महाराज को यह स्मरण हो आया कि वस्तुतः श्रीमती शकुन्तला मेरी एकान्त में पूर्व विवाहित (पत्नी) थी और अज्ञान के कारण (उसका) परित्याग कर दिया है, तब से लेकर ही महाराज को पश्चात्ताप हो रहा है । क्योंकि—

(वे) सभी सुन्दर वस्तुओं से घृणा करने लगे हैं। पहले के समान मन्त्रियों से प्रतिदिन नहीं मिलते हैं। बिस्तर के किनारों पर (ही) करवटें बदल-बदल कर जागते हुए ही रातों को व्यतीत करते हैं। जब उदारता के कारण अन्तःपुर की स्त्रियों को उचित (अवसर के योग्य) उत्तर देते हैं तब नामोच्चारण मे त्रुटि (शकुन्तला के नाम का उच्चारण) कर जाते हैं और (परिणामस्वरूप) बहुत समय तक लज्जा के कारण व्याकुल रहते हैं ।

अलंकार :—इस श्लोक में 'पश्चात्ताप' इत्यादि के कारणभूत स्थानों पर रम्य वस्तुओं से घृणा इत्यादि कार्यों के उल्लेख होने के कारण 'पर्यायोक्त' अलंकार है । 'व्रीडाविलक्षः' का कारण "गोत्रेषु स्खलितः" होने से इसमें 'काव्य-लिंग' अलंकार है । **छन्दः**—इसमें शार्दूलविक्रीडित वृत्त है ।

व्याकरण :—**विगमयति** = वि + इ + णिच् + लट् । यहाँ "णौगमिरबोधने" अष्टा० २।४।४६ । से इ धातु के स्थान पर गम् आदेश हो जाता है । ***समास आदि*** :—**ऊढपूर्वा** = पूर्वं ऊढा परिणीता इति ऊढपूर्वा (सुप्सुपा समास) । **शय्याप्रान्तविवर्तनैः** = शय्यायाः प्रान्तयोः विवर्तनैः (तत्पुरुष) । **दाक्षिण्येन** = दक्षिण उदारः सर्वानुकूलो वा तस्य भावः दाक्षिण्यं तेन । **व्रीडा-विलक्षः** = व्रीडया विलक्षः इति (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**अल्पं कथयितव्यम्** = थोड़ा ही बतलाना शेष है । **ऊढपूर्वा** = पहले विवाहित—अर्थात् जिसके साथ पहले विवाह किया जा चुका है। **रम्यं द्वेष्टि** = सभी मनोहर वस्तुओं (माला, चन्दन इत्यादि) से घृणा करता है । **प्रकृतिभिः** = प्रकृति शब्द प्रायः दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—मन्त्रिवर्ग और प्रजा वर्ग । यहाँ दोनों ही प्रकार के अर्थों की संभावना की जा सकती है । वह मन्त्रियों तथा प्रजाजनों से पहले के समान नहीं मिलते हैं । **पुरा यथा** = पहले के समान

मन्त्री आदि कर्मचारियों अथवा प्रजाजनों से राजा नहीं मिलता है। कारण—शकुन्तला के वियोग में दुःखी होने के कारण राजा उनसे मिलना नहीं चाहता। अभिप्राय यह है कि आजकल राजा राज-कार्य की ओर ध्यान नहीं दे रहा है। **शय्याप्रान्तविवर्तनैः** = वह बिस्तर के दोनों ओर के किनारों पर करवटें ही बदलता रहता है तथा उसे सम्पूर्ण रात्रि निद्रा नहीं आती है। **विगमयति** = व्यतीत करता है। **दाक्षिण्येन** = नम्रता, उदारता अथवा शिष्टता के कारण । तात्पर्य यह है कि जब राजा अन्य रानियों के प्रति अपने प्रेम को प्रकट करने के लिये उदारतापूर्वक उत्तर देता है। दक्षिण नायक का लक्षण विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में इस प्रकार किया है—"एषु त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः"। अर्थात् अनेक स्त्रियों से समान रूप में प्रेम करने वाला। समान प्रेम के कारण वह (राजा) अपने अन्तःपुर की सभी स्त्रियों की बातों का उत्तर बड़ी नम्रता के साथ देता था। **अन्तःपुरेभ्यः** = अन्तःपुर में स्थित रानियाँ। यह अर्थ लक्षणा-शक्ति द्वारा स्पष्ट होता है। **गोत्रेषु स्खलितः** = नाम की ग़लती करने पर। जब कोई पुरुष किसी स्त्री के प्रति अपने छिपे हुए प्रेम को प्रकट किया करता है तथा रात-दिन उसी का चिन्तन किया करता है तो ऐसी स्थिति में अपनी अन्य स्त्रियों के साथ वार्तालाप करते समय उसके मुख से एकाएक अपनी प्रेमिका का नाम निकल जाया करता है। नाम की इसी त्रुटि को 'गोत्रस्खलन' कहा जाता है। ऐसी स्थिति दोनों ही पक्षों में संभव है। राजा दुष्यन्त शकुन्तला से अत्यधिक प्रेम करता था। किन्तु वह चाहता था कि उसके इस प्रेम का पता अन्य रानियों को न चलने पावे। अतः वह जब रानियों के साथ वार्त्तालाप करता था तब वह उन्हें बड़े प्रेम तथा आदर के साथ उत्तर दिया करता था। यही उसका दाक्षिण्य था। किन्तु फिर भी कभी-कभी उसके मुख से गलत नाम निकल जाता था अर्थात् वह किसी को 'शकुन्तला' कहकर ही पुकार बैठता था। ऐसी स्थिति में उसे लज्जित होना पड़ता था। इस गोत्रस्खलन का वर्णन संस्कृत साहित्य की अन्य कृतियों में भी उपलब्ध होता है—"गोत्रस्खलितेषुवन्धनम्" कुमारसंभव ६।८ ॥ "गोत्रस्खलन-मनिशम्...इत्यादि" ॥ उद्धवदूत ॥ **"जगादगोत्रस्खलितम"** ॥ नैषध—१।३० ॥ **व्रीडाविलक्षः** = लज्जा से व्याकुल अथवा खिसियाया हुआ अथवा किंकर्तव्य-विमूढ।

सानुमती—[पिअं मे ।] प्रियं मे ।

सानुमती—यह बात मुझे प्रिय है।

कञ्चुकी—अस्मात् प्रभवतो वैमनस्यादुत्सवः प्रत्याख्यातः ।

कञ्चुकी—इस तीव्र मानसिक ग्लानि के कारण (महाराज ने) उत्सव का निषेध कर दिया है।

उभे—[जुज्जइ ।] युज्यते ।

दोनों—ठीक ही है।

(नेपथ्ये)

[एदु एदु भवं ।] एतु एतु भवान् ।

(नेपथ्य में)

महाराज ! इधर से आइये।

कञ्चुकी—[कर्णं दत्त्वा] अये ! इत एवाभिवर्तते देवः । स्वकर्मानुष्ठीयताम् ।

कञ्चुकी—(कान लगाकर अर्थात् सुनकर) अरे ! महाराज इधर ही आ रहे हैं। (जाओ) अपना काम करो।

उभे—[तह ।] तथा। (इति निष्क्रान्ते ।)

दोनों—अच्छा। (दोनो चली जाती हैं।)

(ततः प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेषो राजा विदूषकः प्रतीहारी च।)

(तदनन्तर पश्चात्ताप के अनुकूल वेष को धारण किए हुए राजा, विदूषक और प्रतीहारी (के साथ) प्रवेश करता है।)

कञ्चुकी—(राजानमवलोक्य) अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम् । एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः । तथा हि—

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं
विभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः[1] ।
चिन्ताजागरणप्रताम्र[2]नयनस्तेजो गुणादात्मनः-
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥६॥

पाठभेद—१. श्वासापरक्ताधरः—श्वासैः निश्वासमारुतैः अपरक्तः अपगतरागः मलिनः अधरः यस्य तादृशः (निश्वास वायुओं द्वारा लालिमारहित हो गया है अधरोष्ठ जिसका।)

२. प्रताम्रनयनः—प्रताम्रे लोहिते नयने यस्य सः (ताम्रवर्ण अर्थात् लाल रंग के हो गये हैं दोनों नेत्र जिसके।)

अन्वयः— प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः वामप्रकोष्ठार्पितं एकं एव काञ्चनं वलयं बिभ्रत् श्वासोपरक्ताधरः चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनः (देवः) क्षीणः अपि संस्कारोल्लिखितः महामणिः इव आत्मनः तेजोगुणात् न आलक्ष्यते ।

संस्कृत-व्याख्या—प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः = प्रत्यादिष्टः परित्यक्तः विशेषेण मण्डनस्य हारकेयूरकुण्डलादिभिः अलंकरणस्य विधिः अनुष्ठानं येन सः, वामप्रकोष्ठार्पितम् = वामे दक्षिणेतरे प्रकोष्ठे मणिबन्धोर्ध्वभागे अर्पितं न्यस्तम्, एकमेव = न तु द्वितीयम् तस्य वहनासामर्थ्यात्, काञ्चनम् = हिरण्मयं सुवर्णनिर्मितं वा, वलयम् = कटकम्, बिभ्रत् = धारयन्. श्वासोपरक्ताधरः = श्वासैः उष्णनिश्वासवायुभिः उपरक्तः अतिरक्ततामापन्न अधरः अधरोष्ठः यस्य सः, चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनः = चिन्तया शकुन्तलाविषयकचिन्तया यत् जागरणं रात्रौ अनिद्रा तेन प्रतान्ते अतिखिन्ने म्लाने वा नयने नेत्रे यस्य सः, देवः = महाराजः, क्षीण अपि = कृशः सन्नपि, संस्कारोल्लिखितः = संस्कारार्थं परिष्कारार्थं उल्लिखितः उत्कीर्णः अतएव शाणघर्षणकृशः, महामणिः इव = बहुमूल्यं रत्नं इव, आत्मनः = स्वस्य, तेजोगुणात् = तेजसः गुणात् प्रभावात् तेजस्वितया इत्यर्थः, न आलक्ष्यते = क्षीणतया न परिज्ञायते ।

कंचुकी—(राजा की ओर देखकर) अहो, मनोहर आकृति वालों में सभी अवस्थाओं में रमणीयता विद्यमान रहा करती है। इस भाँति (प्रिया शकुन्तला के वियोग के कारण) खिन्न होने पर भी महाराज देखने में सुन्दर ही हैं । क्योंकि उन्होंने विशेष रूप से अलंकारों को धारण करने का कार्य बन्द कर दिया है; बायीं कलाई में पहने हुए एक ही सुवर्ण के कंकण को धारण किये हुए हैं; उनका निचला ओठ (उष्ण) श्वासों के कारण अधिक लाल हो गया है; (शकुन्तला विषयक) चिन्तन के कारण (रात भर) जागते रहने के कारण उनकी आँखें अधिक भारी हो रही हैं; अतएव कृश होने पर भी कसौटी पर घिसे हुए बहुमूल्य रत्न के सदृश (घिसने से उसमें भी कृशता आ जाती है किन्तु फिर भी वह अपनी देदीप्यमान कान्ति से अधिक सुन्दर ही प्रतीत हुआ करता है, इसी भाँति राजा भी) अपनी शारीरिक कान्ति अथवा तेजस्विता के कारण दुर्बल (कृश) नहीं दिखलाई पड़ रहे हैं ।

अलंकारः—इसमें 'संस्कारोल्लिखितः महामणिः इव' के द्वारा उपमा अलंकार है । राजा का स्वाभाविक वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार है । **छन्दः**—इसमें शार्दूलविक्रीडित वृत्त है ।

व्याकरण:—**वैमनस्यात्** = विमनस् + ष्यञ् (य) । **प्रत्याख्यातः** = प्रति + आ + चक्ष् + क्त । यहाँ चक्ष् को ख्या आदेश हो जाता है । रमणीय =

रम् + णिच् + अनीयर् । प्रत्यादिष्ट = प्रति + आ + दिश् + क्त । प्रतान्त = प्र + तम् + क्त । *समास आदि* :—वैमनस्यात् = विकृतं मनः यस्य स विमनाः, विमनसः भावः वैमनस्यम् तस्मात् । **पश्चात्तापसदृशवेषः** = पश्चातापस्य सदृशः वेषो यस्य सः (बहुव्रीहि) । **प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः** = प्रत्यादिष्टः विशेषेण मण्डनस्य विधिः येन सः (बहुव्रीहि) । **वामप्रकोष्ठार्पितम्** = वामे प्रकोष्ठे अर्पितम् (तत्पुरुष) । **श्वासोपरक्ताधरः** = श्वासैः उपरक्तः अधरः यस्य सः (बहुव्रीहि) । **चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनः** = चिन्तया जागरणेन प्रतान्ते नयने यस्य सः (बहुव्रीहि) । **काञ्चनम्** = काञ्चनस्य इदं काञ्चनम् । **संस्कारोल्लिखितः** = संस्कारे उल्लिखितः ।

टिप्पणियाँ—**प्रियं मे** = यह मेरे लिये प्रिय है अर्थात् जिस समाचार का ज्ञान मुझे कंचुकी के कथनों से मिला है वह मेरे लिये शुभ है । **प्रभवतो वैमनस्यात्** = वृद्धि को प्राप्त हुए अथवा महान् मानसिक सन्ताप अथवा उद्विग्नता के कारण । **प्रत्याख्यातः** = रोक दिया है अथवा मना कर दिया है । **कर्णं दत्वा** यह मुहावरा है । इसका अर्थ है कान लगाकर; भाव है—सुनकर । कञ्चुकी के प्रविष्ट होने अर्थात् "प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपितः" से लेकर दोनों दासियों के प्रस्थान अर्थात् "इति निष्क्रान्ते" तक 'द्युति' नामक विमर्श सन्धि का अंग विद्यमान है क्योंकि इस स्थल पर दोनों दासियों को धमकाया तथा भयभीत भी किया गया है । इसका लक्षण है :—"तर्जनोद्वेजने प्रोक्ता द्युतिः" ।। सा० दर्पण ६।१०४ ।। **सर्वास्ववस्थासु. . . .विशेषाणाम्** = इस वाक्य में वर्णित भाव का चित्रण कालिदास ने अपनी रचना मालविकाग्निमित्र में भी किया है—"अहो सर्वास्ववस्थासु अनवद्यता रूपस्य" माल० अंक २ ।। इसी अ० शा० में भी "किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्" । अ० शा० १।२० ।। **उत्सुकः** = खिन्न, व्याकुल । शकुन्तला की प्राप्ति की चिन्ता से आकुल । **प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः** = जिसने विशेष रूप से हारादि अलंकारों का पहनना बन्द कर दिया है । प्रत्यादेश का अर्थ होता है—रोकना, त्याग करना, खण्डन करना । विधि—क्रिया अथवा अनुष्ठान । वामप्रकोष्ठार्पितम् = बायीं कलाई में पड़े हुए । कोहनी से लेकर मणिबन्ध (कलाई) तक के भाग को प्रकोष्ठ कहा जाता है । केवल बायें हाथ में कड़े का धारण किया जाना पुरुष की दृष्टि से अमंगलकारक है; क्योंकि पुरुषों का दाहिना अंग ही प्रधान माना गया है । राजा का चित्त अव्यवस्थित था इस कारण यह संभव है कि उसका दाहिने हाथ का कड़ा कहीं निकलकर गिर गया हो और अव्यवस्थित चित्तता के कारण उसका ध्यान उस ओर न गया हो । अथवा उस समय पुरुषों में एक ही कड़े के पहिनने की प्रथा रही होगी । किन्तु फिर उसे दाहिने हाथ में पहिनना चाहिये था । चित्त की अस्वस्थता के कारण उसने भूल से बायें हाथ में ही पहिन लिया हो, ऐसा हो सकता है । अथवा विरहावस्था में अलंकरण (प्रसाधन करना) उचित नहीं है तथा प्रथा की दृष्टि से कड़ा पहिनना आवश्यक भी है, इस दृष्टि से संभव है कि राजा

ने बायें हाथ [illegible] [illegible] = अधिक लाल रंग के। **श्वासोपरक्ताधरः** = (उष्ण) श्वासों के कारण अधिक लाल रंग का हो गया है नीचे का ओष्ठ जिसका ऐसा। **एकमेव काञ्चनं वलयम्** = केवल सोने का एक कड़ा। वह रत्नजटित भी नहीं होगा क्योंकि राजा ने विशष अलंकारों द्वारा अपने को सजाना छोड़ दिया था। **तेजोगुणात्** = तेजस्विता (तेजसम्पन्न होने) के कारण। **संस्कारोल्लिखितः** = सान अथवा कसौटी पर चढ़े हुए। सान आदि के द्वारा परिष्कार के निमित्त खरादा गया हुआ। **न आलक्ष्यते** = नहीं दिखलाई पड़ रहे हैं। यद्यपि इन निद्रानाशादि के कारण राजा बहुत दुर्बल हो गया है किन्तु फिर भी वह अपने तेज के कारण निष्प्रभ अथवा कान्तिहीन अथवा क्षीण नहीं दिखलाई पड़ रहा है। शास्त्रीय दृष्टि से जिन दस प्रकार की कामदशाओं ("नयनप्रीतिः प्रथमं चिन्तासंगस्ततोऽथ संकल्पः। निद्राच्छेदस्तनुता विषय-निवृत्तिस्त्रपानाशः। उन्मादो मूर्च्छा इत्येताः स्मरदशा दशैव स्युरित्याचक्षते॥" उज्ज्वलनीलमणि॥) का वर्णन उपलब्ध होता है उनमें से चार प्रकार की काम-दशाओं का वर्णन इस श्लोक में भी विद्यमान है :—"प्रत्यादिष्ट०"...इत्यादि के द्वारा (१) विषयनिवृत्ति, 'चिन्ता०' के द्वारा (२) चिन्ता, 'जागरण०' के द्वारा (३) निद्रानाश तथा 'क्षीणः' के द्वारा तनुता नामक कामदशाओं का वर्णन प्राप्त हो रहा है।

सानुमती—(राजानं दृष्ट्वा) [ठाणे क्खु पच्चादेसविमाणिदा वि इमस्स किदे सउन्दला किलम्मदि त्ति।] स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति।

सानुमती—(राजा को देखकर) यह वस्तुतः उचित ही है कि परित्याग के कारण तिरस्कृत होन पर भी शकुन्तला इसके (राजा के) लिये दुःखित रहती है।

राजा—(ध्यानमन्दं परिक्रम्य)

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम्॥७॥

अन्वयः—प्रथमं सारंगाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानं अपि सुप्तम्, इदं हत-हृदयं सम्प्रति अनुशयदुःखाय विबुद्धम्॥

संस्कृत-व्याख्या—प्रथमम् = पूर्वम्, सारंगाक्ष्या = सारंगः हरिणः तस्य अक्षिणी नेत्रे इव अक्षिणी यस्याः सा तया मृगलोचनया, प्रियया = अतिहृद्यया शकुन्तलया, प्रतिबोध्यमानमपि = स्मर्यमाणमपि, सुप्तम् = निद्रितं अज्ञानं मोहं वा उपगतमित्यर्थः; इदम् = एतादृशमेतत् मम, हतहृदयम् = दुष्टं हृदयम्,

सम्प्रति = अधुना, अनुशयदुःखाय = अनुशयः पश्चात्तापः तेन यद् दुःखं तस्मै—पश्चात्ताप दुःखानुभवाय, विबुद्धम् = जागरितम् ।

राजा—(ध्यान में मग्न धीरे धीरे चारों ओर घूमकर)

पहले तो हरिण-सदृश नत्रों वाली प्रिया द्वारा जगाये जाने पर भी सोता रहा; अब यह (मेरा) दुष्ट हृदय पश्चात्ताप के दुःख (का अनुभव करने) के लिय जागा है ।

अलंकार:—इस श्लोक के पूर्वार्ध भाग में कारण की विद्यमानता होने पर भी कार्य न होने के कारण 'विशेषोक्ति' तथा उत्तरार्ध भाग में कारण के न होने पर भी कार्य की उत्पत्ति होने के कारण विभावना अलंकार है। **छन्दः**—इसमें आर्या छन्द है ।

***व्याकरणः*—सारंगाक्ष्या** = सारंग + अक्षिन् + षच् (अ) । यहाँ "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाँगात्षच" अष्टा० ५।४।११३ । से समास के अन्त में षच् प्रत्यय होता है । तदनन्तर षित् होने के कारण "षिद्गौरादिभ्यश्च" अष्टा० ४।१।४१ । से ङीष् (ई) हो जाता है । *समास आदि*:—**प्रत्यादेशविमानिता** = प्रत्यादेशेन निराकरणेन परित्यागेन वा विमानिता तिरस्कृता (तत्पुरुष) । **ध्यानमन्दम्** = ध्यानेन मन्दम् (तत्पुरुष) । **सारंगाक्ष्या** = सारंगस्य अक्षिणी इव अक्षिणी यस्याः सा तया (बहुव्रीहि) ।

***टिप्पणियाँ*:—स्थाने खलु**—राजा दुष्यन्त के लिये शकुन्तला दुःखित रहती है, यह ठीक ही है । क्योंकि अब यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि राजा वस्तुतः शकुन्तला से प्रेम करता है तथा उसके परित्याग के कारण उसे महान् पश्चात्ताप भी है । अतः राजा के सत्य एवं वास्तविक स्नेह एवं सहृदयता आदि के कारण शकुन्तला द्वारा उसका स्मरण किया जाना उचित ही है । यहाँ स्थाने शब्द का अर्थ है—उचित । यह एक अव्यय है । **प्रत्यादेश** = परित्याग । **विमानिता** = अपमानिता, तिरस्कृता । **क्लाम्यति** = दुखी होती है । **ध्यानमन्दम्** = (शकुन्तला के) ध्यान में निमग्न होने के कारण शनैः शनैः घूमकर । **प्रथमम्** = पहले जब कि स्वयं उपस्थित हुई शकुन्तला का त्याग मैंने स्वयं ही किया था उस समय । **सारंगाक्ष्या** = हरिण के सदृश नेत्रों वाली अर्थात् मृगनयनी के द्वारा । **प्रतिबोध्यमानम्** = जगाया जाता हुआ भी, स्मरण कराया जाता हुआ भी । **सुप्तम्** = सोता रहा अर्थात् इस मेरे हृदय को उस समय उस (शकुन्तला) का स्मरण नहीं आया । **अनुशयदुःखाय** = पश्चात्ताप के दुःख का अनुभव करने के निमित्त । **हतहृदयम्** = दुष्ट अथवा नीच हृदय । हत शब्द का प्रयोग नीच, अधम, दुष्ट अथवा निकृष्ट अर्थों में होता है । यथा – "कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन्' ॥ रघुवंश १४।६५॥ "हतविधिलसितानां हि विचित्रो विपाकः" ॥ शिशुपालवध ११।६४ ॥ **विबुद्धम्** = जागा है अर्थात् अब इसे वास्तविक ज्ञान की अनुभूति अथवा स्मरण हो सका है ।

सानुमती—[ण इदिसाणि तवस्सिणीए भाअहेआणि] नन्वीदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि।

सानुमती—सचमुच उस तपस्विनी (बेचारी शकुन्तला) का भाग्य ही ऐसा था।

विदूषकः—(अपवार्य)] लंघिदो एषो भूओ वि सउन्दलावाहिणा। ण आणे कहं चिकिच्छिदव्वो भविस्सदि त्ति।) लंघित एष भूयोऽपि शकुन्तलाव्याधिना। न जाने कथं चिकित्सितव्यो भविष्यतीति।

विदूषक—(एक ओर होकर) यह पुनः शकुन्तला की व्याधि से आक्रान्त हो गया। न जाने किस भाँति (यह) चिकित्सा के योग्य होगा।

कञ्चुकी—(उपगम्य) जयतु जयतु देवः। महाराज! प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः। यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि महाराजः।

कञ्चुकी—(समीप जाकर) जय हो, महाराज की जय हो। महाराज! प्रमदवन के सभी स्थानों का (मैंने) पूर्ण रूप से निरीक्षण कर लिया है। महाराज अपनी इच्छानुसार मनोरञ्जन (आमोद-प्रमोद) के स्थानों पर बैठें।

राजा—वेत्रवति! मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति।

राजा—वेत्रवती! मेरे आदेशानुसार मन्त्री आर्यपिशुन से कहो—"आज देर से उठने के कारण धर्मासन पर बैठना, हमारे लिये संभव नहीं है। आपने जो नागरिकों का कार्य देखा हो, उसे पत्र पर चढ़ाकर भेज दें।"

प्रतीहारी—[जं देवो आणवेदि।] यद्देव आज्ञापयति।

(इति निष्क्रान्ता।)

प्रतीहारी—जो महाराज की आज्ञा।

(ऐसा कहकर प्रतीहारी चली जाती है।)

राजा—वातायन! त्वमपि स्वं नियोगमशून्य कुरु।

राजा—वातायन ! तुम भी अपने [illegible] (अर्थात् तुम भी अपने काम पर जाओ ।)

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः ।

(इति निष्क्रान्तः ।)

कंचुकी—जो महाराज की आज्ञा ।

(यह कहकर चला जाता है ।)

विदूषकः—[किदं भवदा णिम्मच्छिअ । संपदं सिसिरातव-च्छेअरमणीए इमस्सिं पमदवणुद्देसे अत्ताणं रमइस्ससि ।] कृतं भवता निर्मक्षिकम् । साम्प्रतं शिशिरातपच्छेदरमणीयेऽस्मिन् प्रमद-वनोद्देश आत्मानं रमयिष्यसि ।

विदूषक—आपने (इस स्थान को) मक्खियों से रहित कर दिया (अर्थात् आपने इस स्थान को पूर्णतया निर्जन अथवा एकान्त बना दिया है ।) । अब शीत तथा गर्मी के अभाव के कारण रमणीय इस प्रमदवन के स्थान में आप अपना मन-बहलाव कीजिये ।

राजा—वयस्य ! रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति यदुच्यते तद-व्यभिचारि वचः । कुतः—

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना
मम च मुक्तमिदं तमसा मनः ।
मनसिजेन सखे ! प्रहरिष्यता
धनुषि चूतशरश्च निवेशितः ॥८॥

अन्वयः—हे सखे ! मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना तमसा इदं मम मनः मुक्तं च, प्रहरिष्यता मनसिजेन धनुषि चूतशरः निवेशितः च ।

संस्कृत-व्याख्या—हे सखे ! = हे मित्र !, मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना = मुनेः कण्वस्य सुतायां पुत्र्यां शकुन्तलायां यः प्रणयः प्रेम तस्य स्मृतिं स्मरणं रुणद्धि आवृणोति इति तेन शकुन्तलाविषयकप्रेमस्मृतिलोपिना, तमसा—मोहेन, इदं मम मनः—एतत् मदीयं हृदयम् मुक्तं च = त्यक्तं च; प्रहरिष्यता = प्रहारं करिष्यता, मनसिजेन = [illegible], धनुषि = [illegible], चूतशरः = आम्र-मञ्जरीबाणः, निवेशितश्च = आरोपितश्च । मम तद्वियोगो वसन्तस्य च प्रादुर्भाव इति युगपत् सम्प्रवृत्तमित्यर्थः । अत्र चकारद्वयं यौगपद्यं सूचयति ।

राजा–हे मित्र ! यह जो कहा जाता है कि दुःख के समय विपत्तियाँ एक साथ आ जाया करती हैं, वह सर्वथा सत्य है। क्योंकि :—

हे मित्र ! (अब) मुनि (कण्व) की पुत्री के प्रति किये गये प्रेम की स्मृति को रोकने वाले अज्ञान ने मेरे इस मन को मुक्त कर दिया है। और मुझ पर प्रहार करने की इच्छा रखने वाले कामदेव ने अपने धनुष पर आम्रमञ्जरी का बाण चढ़ा लिया है।

अलंकार:—इस श्लोक में वर्णित "मन का अज्ञानरहित हो जाना" कारण है तथा "कामदेव का धनुष पर बाण चढ़ा लेना" कार्य है। दोनों की उपस्थिति एक साथ हुई है। अतः "अतिशयोक्ति" अलंकार है। दो चकारों के द्वारा युगपत् अर्थ की प्रतीति का बोध कराया गया है। इस कारण 'समुच्चय' अलंकार है। ऐसी स्थिति में अतिशयोक्तिमूलक 'समुच्चय' कहा जा सकता है। भोज ने अपने "सरस्वतीकण्ठाभरण" (३।४२) में इस श्लोक को स्मरण अलंकार के उदाहरण में उदवृत किया है। उनका कथन है :—अदृष्टादपि स्मरणे स्मरणालंकारः। मुनिसुता· · ·इत्यदृष्टकृतं स्मरणमिदम्। **छन्द**—इसमें द्रुतविलम्बित वृत्त है।

व्याकरण—**चिकित्सितव्यः** = कित् + सन् + तव्य। यहाँ कित् धातु से व्याधि-प्रतिकार अर्थ में "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" अष्टा० ३।१।५। से 'सन्' प्रत्यय होता है। यहाँ सन्—इच्छा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। **अमात्यम्** = अमा सह भवः, अमा + त्यप् (त्य)—यहाँ "अव्ययात्त्यप्" अष्टा० ४।२।१०४। से 'त्यप्' प्रत्यय होता है। **संभावितम्** = सम् + भू + णिच् + क्त। **आत्मानम्** = यहाँ पर "गतिबुद्धिप्रत्ययवसानार्थ· · ·इत्यादि" अष्टा० १।४।५२। से कर्म तथा द्वितीया विभक्ति हुई है। **प्रहरिष्यता** = प्र + हृ + लृट् + शतृ।

समास आदि—**शकुन्तलाव्याधिना** = शकुन्तला एव व्याधिः तेन। अथवा शकुन्तलायाः सकाशाद् यो व्याधिस्तेन। **प्रमदवनभूमयः**—प्रमदार्थं प्रमदोचितं वा वनं प्रमदवनं तस्य भूमयः। **यथाकामम्** = काममनतिक्रम्य यथाकामम् यथेच्छम् (अव्ययीभाव)। **चिरप्रबोधात्** = चिरं बहुकालं प्रबोधात् जागरणात्। **निर्मक्षिकम्** = मक्षिकाणामभावः (अव्ययीभाव)। **शिशिरातपच्छेदरमणीये** = शिशिरश्च आतपश्च शिशिरातपौ (द्वन्द्व)। तयोः छेदेन रमणीये (तत्पुरुष)। **प्रमदवनोद्देशे** = प्रमदवनस्य उद्देशे भूमौ (तत्पुरुष)। **रन्ध्रोपनिपातिनः** = रन्ध्रेषु छिद्रेषु उपनिपन्ति सम्भूय आगच्छन्तीति रन्ध्रोपनिपातिनः। **अव्यभिचारि** = व्यभिचरति स्खलतीति व्यभिचारि न व्यभिचारीति अव्यभिचारि। **मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना** = मुनेः सुतायां प्रणयस्य स्मृतेः रोधिना (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**ईदृशानि· · ·भागधेयानि** = इस प्रकार का अपने से विपरीत भाग्य। उस बेचारी (शकुन्तला) का यह दुर्भाग्य ही था कि राजा उस समय

उसे (शकुन्तला को) नहीं पहचान सका था। यहाँ पर 'तपस्विन्याः' शब्द 'बेचारी का' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द दयनीय अथवा बेचारी अर्थ में भी आता है—"तपस्वी चानुकम्पार्हः", इत्यमरः। "तपस्वी तापसे चानुकम्प्ये त्रिषु", इति मेदिनी। "तपस्वी तापसे दीने" इति हैमः। **भूयोऽपि लंघितः**=इस राजा के सिर पर शकुन्तला रूपी वायु फिर चढ़ी है। **न जाने**··इत्यादि—नहीं कहा जा सकता कि इसकी चिकित्सा कैसे होगी। यहाँ "लंघितः" शब्द का अर्थ है—आक्रान्त हुआ है। **चिकित्सितव्यः**=चिकित्सा करने योग्य। **प्रत्यवेक्षिताः**=भली भाँति देख लिया गया है। राजा जब कभी किसी एकान्त स्थान में अथवा उद्यान आदि में जाता था तो उसकी सुरक्षा के निमित्त यह आवश्यक था कि उस स्थान का निरीक्षण पहले ही कर लिया जाये कि वहाँ कोई शत्रु अथवा चोर आदि तो छिपे हुए रूप में नहीं हैं अथवा कोई किसी प्रकार का विघ्न आदि तो उपस्थित नहीं होने को है। **प्रमदवन**=अन्तःपुर का रानियों के लिये पृथक् रूप से निर्मित आमोद-प्रमोद का स्थान। यहाँ पर राजा उनके साथ भ्रमण किया करता था। **आर्यपिशुनम्**=पिशुन–यह मन्त्री का नाम है तथा यहाँ पर आर्य शब्द आदर-सूचक है। **चिरप्रबोधात्**=रात्रि में देर तक जागते रहने के कारण अथवा प्रातः-काल देर में उठने के कारण। **न संभावितम्**=संभव नहीं है। **पत्रमारोप्य दीयताम्**=कागज पर चढ़ाकर भेज दे। इस वाक्य के आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि मन्त्री जाँच आदि का कार्य स्वयं कर लिया करता था और फिर निर्णय के लिये उसे राजा के पास भेज दिया जाया करता था। **वातायन**=यह कंचुकी का नाम है। **निर्मक्षिकम्**=मक्खियों तक से रहित अर्थात् निर्जन। जहाँ पर कोई अनावश्यक व्यक्ति विद्यमान नहीं रहा है। **शिशिरातपच्छेदरमणीये**=ठंड तथा गर्मी के अधिक न होने से रमणीय स्थान में। वह ऐसा स्थान था कि जहाँ पर न तो शीत का ही आधिक्य था तथा न उष्णता का ही। कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है :—शिशिर तथा ग्रीष्म के मध्य में विद्यमान वसन्त ऋतु के कारण मनोहर। इस भाँति उन्होंने 'छेद' का अर्थ मध्यभाग किया है। **रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्थाः**=विपत्ति में विपत्तियाँ आया करती हैं। यह एक लोकोक्ति है। रन्ध्र–छेद, निर्बल स्थान, दुःख का समय। छिद्र में अर्थात् दुःख के समय अथवा विपत्ति में अनर्थ आकर पड़ा करते हैं। न अर्थाः अनर्थाः—दुःख अथवा विपत्ति। इस भाव से सम्बन्धित संस्कृत-साहित्य में अनेक सूक्तियाँ उपलब्ध होती हैं :—(१) छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति (पंचतन्त्र) (२) प्रायो गच्छति यत्र भाग्यहतकस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥ नीतिशतक–८६॥ (३) तथा मनुष्यस्य विपत्तिकाले छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति (मृच्छकटिक) इत्यादि इत्यादि। **अव्यभिचारि**=जो उससे हटे नहीं अथवा जो ठीक निर्णय पर पहुँचने में त्रुटि न करे—अर्थात् सर्वथा सत्य या अपवादरहित। **व्यभिचार**=दोष अथवा अपवाद। **तमसा**—मोह अथवा अज्ञान ने। **मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना** (तमसा)=कण्वमुनि की पुत्री के प्रति किये गये प्रेम की स्मृति को रोकने वाले (मति-विभ्रम)

द्वारा। **प्रहरिष्यता मनसिजेन**=प्रहार करने के निमित्त तैयार कामदेव के द्वारा।

विदूषकः—[चिट्ठ दाव। इमिणा दण्डकट्ठेण कन्दप्पबाणं णासइस्सं।] तिष्ठ तावत्। अनेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्पबाणं नाशयिष्यामि।

(इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य चूताङ्कुरं पातयितुमिच्छति।)

विदूषक—आप कुछ ठहरिये। मैं इस काठ के डंडे से कामदेव के बाण को नष्ट किये देता हूँ।

(यह कहकर काठ के डंडे को उठाकर आम के बौर को तोड़ना चाहता है।)

राजा—(सस्मितम्) भवतु। दृष्ट ब्रह्मवर्चसम्। सखे! क्वोपविष्टः प्रियायाः किंचिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टिं विलोभयामि।

राजा—(मुस्कराहट के साथ) रहने दो। मैंने (तुम्हारा) ब्रह्मतेज देख लिया। हे मित्र! किस स्थान पर बैठकर मैं प्रिया का कुछ अनुकरण करने वाली इन लताओं को देखकर अपनी दृष्टि को बहलाऊँ?

विदूषकः—[णं आसण्णपरिआरिआ चदुरिआ भवदा संदिट्ठा। माहवीमण्डवे इमं वेलं अदिवाहिस्सं। तहिं मे चित्तफलअगदं सहत्थलिहिदं तत्तहोदीए सउन्दलाए पडिकिदिं आणेहि त्ति।] नन्वासन्नपरिचारिका चतुरिका भवता सन्दिष्टा। माधवीमण्डप इमां वेलामतिवाहयिष्ये। तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति।

विदूषक—आपने समीप में रहने वाली दासी चतुरिका से कहा ही था—कि मैं यह समय माधवीलता-मण्डप में बिताऊँगा। तू चित्रपट पर मेरे अपने हाथों से बनाये हुए श्रीमती शकुन्तला के चित्र को मेरे पास वहाँ लेकर आना।

राजा—ईदृशं हृदयविनोदस्थानम्। तत्त्वमेव मार्गमादेशय।

राजा—ऐसा मन बहलाने के लिये स्थान है। तो (फिर) उसी रास्ते को बतलाओ।

विदूषकः—[इदो इदो भवं।] इत इतो भवान्।

(उभौ परिक्रामतः। सानुमत्यनुगच्छति।)

विदूषक—इधर से आप इधर से (चलिये)

(दोनों चारों ओर घूमते हैं । सानुमती पीछे-पीछे चलती है) ।

विदूषकः—[एसो मणिसिलापट्टअसणाहो माहवीमण्डवो उवहाररमणिज्जदाए णिस्ससअं साअदेण विअ णो पडिच्छदि । ता पविसिअ णिसीददु भवं । (एष मणिशिलापट्टक सनाथो माधवी-मण्डप उपहाररमणीयतया निःसंशयं स्वागतेनेव नौ प्रतीच्छति । तत् प्रविश्य निषीदतु भवान् ।

(उभौ प्रवेशं कृत्वोपविष्टौ ।)

विदूषक—यह मणिनिर्मित शिलापट्ट (संगमर्मर की चौकी) से युक्त माधवी लता का कुञ्ज (पुष्पों के) उपहारों से रमणीय होने के कारण निःसन्देह स्वागत करता हुआ सा हम लोगों को बुला रहा है । तो (इसमें) प्रवेशकर आप बैठिये ।

(दोनों प्रविष्ट होकर बैठते हैं ।)

सानुमती—[लदासंस्सिदा देक्खिस्सं दाव सहीए पडिकिदिं तदो से भत्तुणो बहुमुहं अणुराअं णिवेदइस्सं ।]लतासंश्रिता द्रक्ष्यामि तावत् सख्याः प्रतिकृतिम् । ततोऽस्या भर्त्तुर्बहुमुखमनुरागं निवेदयिष्यामि ।

(इति तथा कृत्वा स्थिता ।)

सानुमती—लता का सहारा लेकर मैं सखी का चित्र देखूंगी । तब उसको उसके पति के विविध प्रकार से प्रकट हुए प्रेम को बतलाऊँगी ।

(वैसा करके खड़ी होती है ।)

राजा—सखे ! सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमवृत्ता-न्तम् । कथितवानस्मि भवते च । स भवान् प्रत्यादेशवेलायां मत्समीप-गतो नासीत् । पूर्वमपि न त्वया कदाचित् सकीर्तितं तत्रभवत्या नाम कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम् ।

राजा—हे मित्र ! अब मुझे शकुन्तला का पहला वृत्तान्त पूर्णतया स्मरण आ रहा है । और (मैंने) तुमको बतलाया भी था । किन्तु प्रत्याख्यान (परि-

त्याग) के समय आप मेरे पास नहीं थे। तुमने पहले भी कभी उसका नाम मुझे स्मरण नहीं दिलाया था। क्या मेरी तरह तुम भी भूल गये थे ?

विदूषकः—[ण विसुमरामि किंतु सव्वं कहिअ अवसाणे उण तुए परिहास-विअप्पओ एसो ण भूदत्थो त्ति आचक्खिदं। मए वि मिप्पिण्डबुद्धिणा तह एव्वगहीदं। अहवा भविदव्वदा क्खु बलवदी।] न विस्मरामि किन्तु सर्वं कथयित्वाऽवसाने पुनस्त्वया परिहास-विजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम्। मयाऽपि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम्। अथवा भवितव्यता खलु बलवती।

विदूषक—मैं भूला नहीं था। किन्तु सब कहकर अन्त में आपने फिर कहा था "यह हँसी की बात है, सत्य नहीं"। मिट्टी के पिण्ड के सदृश बुद्धि वाले मैंने भी वैसा ही समझ लिया। अथवा होनहार बलवती होती है।

सानुमती—[एव्वं णेदं] एवमेवैतत्।

सानुमती—यह ऐसा ही है। (अर्थात् यही बात है।)

व्याकरण—**विलोभयामि**+वि+लुभ्+णिच्+लट्। **अतिवाहयिष्ये**=यहाँ "णिचश्च" अष्टा० १।३।७४। से आत्मनेपद होता है। **प्रतीच्छति**=प्रति=इष+का अर्थ स्वागतपूर्वक बुलाना अथवा स्वागत करना है। **भवितव्यता**+भू+तव्य+ता। *समासः*—**दण्डकाष्ठेन**=दण्डाकारं काष्ठं दण्डकाष्ठं तेन। **ब्रह्मवर्चसम्**=ब्रह्मणः वर्चः तेजः तत् (तत्पुरुष)। यहाँ ब्रह्म-हस्तिभ्यां वर्चसः" अष्टा० ५।४।७८। से समासान्त अच् प्रत्यय होता है। **अनुकारिणीषु**=अनुकुर्वन्ति यास्ताः अनुकारिण्यः तासु। **आसन्नपरिचारिका**=आसन्ना चासौ परिचारिका इति। **चित्रफलकगताम्**=चित्रफलके गतामङ्किताम् (तत्पुरुष)। **मणिशिलापट्टकसनाथः**=मणिशिलायाः पट्टकेन सनाथः युक्तः (तत्पुरुष)। **हृदयविनोदस्थानम्**=हृदयस्य विनोदनं तस्य स्थानम् (तत्पुरुष)। **उपहाररमणीयतया**=उपहारेण रमणीयः उपहाररमणीयः तस्य भावः तेन। **निःसंशयम्**=निर्गतः संशयः यस्मात्तद् यथास्यात्तथा। **लतासंश्रिता**=लतां संश्रिता। **बहुमुखम्**=बहूनि मुखानि यस्य तम् (बहुव्रीहि)। **प्रत्यादेशवेलायाम्**=प्रत्यादेशस्य वेला इति प्रत्यादेशवेला (तत्पुरुष) तस्याम्। **मृत्पिण्डबुद्धिना**=मृदः पिण्डः मृत्पिण्डः स इव बुद्धिर्यस्य तेन।

टिप्पणियाँ—**कन्दर्पबाणम्**=कामदेव के बाण को अर्थात् आम्रमंजरी को। यहाँ पर पाठभेद में 'कन्दर्पव्याधिम्' कामदेव रूपी व्याधि को अथवा कामदेव द्वारा प्रदत्त दुःख को अथवा कामदेव रूपी व्याधि (रोग) के कारण को अर्थात्

आम्रमञ्जरी की। इन दोनों पाठों में प्रथम पाठ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। **ब्रह्मवर्चसम्**=ब्रह्मतेज अथवा ब्राह्मण का तेज। **विलोभयामि**=आनन्दित करूँ, बहलाऊँ। यहाँ पाठभेद में 'विनोदयामि' है। विरह अथवा वियोग की अवस्था में मन बहलाने के चार प्रकार के उपायों का वर्णन उपलब्ध होता है—(१) उसके समान वस्तुओं को देखना। (२) उसके चित्र को अंकित करना (बनाना)। (३) उसके द्वारा स्पर्श की गई हुई वस्तुओं का स्पर्श करना। (४) स्वप्न में उसका दर्शन करना। टीकाकार मल्लिनाथ ने रघुवंश ८।९२। की टीका में एतद् विषयक एक श्लोक भी उद्धृत किया है और वह है:—"वियोगावस्थासु प्रियजनसदृशानुभवनं, ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि। तदङ्गस्पृष्टानामुपगतवतां स्पर्शनमपि, प्रतीकार: कामव्यथितमनसां कोऽपि गदित:॥" **अतिवाहयिष्ये**=व्यतीत करूँगा अथवा बिताऊँगा। **प्रतिकृतिमानय**=चित्र को लाना। इसके द्वारा दूसरा उपाय—चित्रकर्म का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। **ईदृशम्**=यहाँ पर यह माधवीलतामण्डप के लिये आया है। **मणिशिलापट्टकसनाथ:**=मणिजटित पत्थर की चौकी अथवा संगमरमर पत्थर की बनी चौकी से युक्त। **उपहाररमणीयतया**=फूलों से लदी हुई लताओं के उपहारों से मनोहर होने के कारण। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह हमको फूलों के गुच्छों को भेंट करके आमन्त्रित कर रही है। **प्रतीच्छति**=आमन्त्रित कर रही है अथवा स्वागतपूर्वक बुला रही है। **बहुमुखम्**=नाना प्रकार से प्रकट। **प्रथमवृत्तान्तम्**=पहले घटित हुई घटनाओं को। **कथितवानस्मि भवते च**=राजा ने शकुन्तला सम्बन्धी बातों का उल्लेख द्वितीय अंक में विदूषक से किया था। किन्तु विदूषक तो शकुन्तला को देखने से पूर्व ही हस्तिनापुर को वापिस हो गया था। इसी प्रकार पंचम अंक में भी जिस समय शकुन्तला का आगमन राजा के समक्ष हुआ था, उससे पूर्व ही राजा द्वारा विदूषक को हंसपदिका के समीप प्रेषित कर दिया गया था। अत: वह परित्याग के समय भी वहाँ उपस्थित न था। **कच्चित्**=यहाँ पर यह अव्यय प्रश्नवाचक अर्थ में प्रयुक्त है; क्या तुम भी मेरे ही समान···। **मृत्पिण्डबुद्धिना**=मिट्टी के ढेले के सदृश बुद्धि वाला अर्थात् अत्यधिक मन्द बुद्धि अथवा महामूर्ख। **परिहासविजल्प:**=हँसी की बात अथवा हास्य में कही गई बात। विदूषक कहता है कि वह शकुन्तला सम्बन्धी वृत्तान्त को भूला नहीं था। किन्तु उसने उस बात को हास्य ही समझा था। क्योंकि सब कुछ बतला देने के पश्चात् अन्त में राजा ने उससे कहा था कि "मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ उसे सत्य मत समझ लेना, मैंने हास्य में ही कहा है।" परिहासविजल्पितं सखे! परमार्थेन न गृह्यतां वच:(॥अ० शा० २।१८॥)। **भवितव्यता खलु बलवती**=होनहार बड़ी प्रबल हुआ करती है। इसी भाव का कुछ अन्य सूक्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं:—(१) "यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं क: क्षम: ?" (हितोपदेश)। (२) "नियति: केन वार्यते"। (३) "सर्वंकषा भगवती भवितव्यतैव" (मालती० १।२३)। (४) "भवितव्यं भवत्येव नारिकेलफलाम्बुवत्"।

राजा—(ध्यात्वा) सखे ! त्रायस्व माम् ।

राजा—(सोचकर) हे मित्र ! मुझे बचाओ ।

विदूषकः—[भो ! किं एदं । अणुववण्णं क्खु ईदिसं तुइ । कदा वि सप्पुरिसा सोअवत्तव्वा ण होन्ति । णं पवादे वि णिक्कपा गिरीओ ।] भोः ! किमेतत् ? अनुपपन्नं खल्वीदृशं त्वयि । कदापि सत्पुरुषाः शोकवास्तव्या न भवन्ति । ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः ।

विदूषक—अरे ! यह क्या ? सचमुच ऐसा (आचरण) आपके लिये उचित नहीं है । सज्जन पुरुष कभी भी शोक के पात्र नहीं हुआ करते हैं । भयंकर वायु (आँधी) में भी पहाड विचलित नहीं होते हैं ।

राजा—वयस्य ! निराकरणविक्लवायाः प्रियायाः समवस्थामनुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि । सा हि—

इतः प्रत्यादेशात् स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे ।
पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत् सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥९

अन्वयः—इतः प्रत्यादेशात् स्वजनं अनुगन्तुं व्यवसिता, गुरुसमे गुरुशिष्ये तिष्ठ इति उच्चैः वदति (सति) स्थिता । पुनः मयि क्रूरे वाष्पप्रसरकलुषां दृष्टिं अर्पितवती (इति) यत् तत् सविषं शल्यं इव मां दहति ।

संस्कृत-व्याख्या—(यदा सा—शकुन्तला) इतः = मत्सकाशात् अस्मात् स्थानाद्वा, प्रत्यादेशात = निराकरणहेतोः, स्वजनम् = शार्ङ्गरवादिकं स्वबन्धुवर्गम्, अनुगन्तुम् = अनुयातुं अनुसर्तुं वा, व्यवसिता = उद्युक्ता, तदा गुरुसमे = गुरुणा पित्रा कण्वेन (कण्वस्य) समे तुल्ये, गुरुशिष्ये = गुरोः शिष्ये छात्रे शार्ङ्गरवे तिष्ठ = अत्रैव विरम अनुगमनात्, इति उच्चैः = तारस्वरेण, वदति सति = भाषमाणे सति, स्थिता = गमनात् विरता । पुनः = भूयोऽपि, मयि क्रूरे = नृशंसे निष्ठुरे वा मयि दुष्यन्ते, वाष्पप्रसरकलुषाम् = वाष्पाणां अश्रूणां नेत्रजलानां वा यः प्रसरः प्रवृत्तिः तेन कलुषां मलिनाम्, दृष्टिम् = लोचनम्, अर्पितवती = (मामशरणां प्रति सानुक्रोशः भव इति जिज्ञासया) निक्षिप्तवती पातितवती वा, इति यत् तत् = तत् सर्वमेव वृत्तम्, सविषम् = विषदग्धम्, शल्यमिव = बाणाग्रभाग इव माम् = दुष्यन्तम्, दहति = सन्तापयति । अयमाशयः—सा (शकुन्तला)

मत्तश्च्युता स्वात् गता; तैरपि त्यक्ता पुनर्मामेव प्राप्ता; तथापि अहं क्रूरस्तु विमुख एव आसम् । अद्य पुनः तत्सर्वं स्मृत्वा अत्यर्थमशरणोऽस्मि ।

राजा—हे मित्र ! परित्याग के कारण व्याकुल हुई प्रियतमा की उस दशा का स्मरण करके मैं अत्यधिक अधीर हो गया हूँ ।

क्योंकि वह—

यहाँ से (मेरे द्वारा) परित्यक्त हो जाने के कारण अपने घरवालों के पीछे-पीछे जाने के लिये प्रवृत्त हुई । किन्तु पिता के तुल्य पिता कण्व के शिष्य शार्ङ्ग-गरव के द्वारा जोर से यह कहने पर कि "यहीं रुक" वह रुक गई और मुझ क्रूर पर अश्रुधारा के प्रवाह से मलिन दृष्टि डाली । वह सम्पूर्ण (घटना) विष से बुझे हुए बाण के अग्रभाग के सदृश मुझे संतप्त कर रही है ।

अलंकारः—इस श्लोक में उपमा अलंकार है । *छन्द*—इसमें शिखरिणी वृत्त है । *व्याकरण*—व्यवसिता = वि + अव + सो + क्त । यहाँ "द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति" अष्टा० ७।४।४० । से सो धातु के आ के स्थान पर इ हो जाता है । **वदति** = वद + शतृ—सप्तमी विभक्ति के एकवचन का रूप है । *समास आदि*—**शोकवास्तव्या** = शोकस्य वास्तव्याः (तत्पुरुष) । पाठ-भेद—'शोकवक्तव्याः' होने पर शोके (दुःखे संजातेऽन्येन) वक्तव्या उपदेष्टव्याः ।। (सोअपत्तप्पाणो) शोकपात्रात्मानः पाठ होने पर—शोकस्य पात्रमात्मा येषां ते । **निराकरणविक्लवायाः**—निराकरणेन विक्लवायाः (तत्पुरुष) । **वाष्पप्रसरकलुषाम्**—वाष्पाणां प्रसरेण कलुषाम् (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**शोकवास्तव्याः** = शोक के निवासस्थान अथवा आधार । **शोकवक्तव्याः** (पाठभेद मे)—शोक में अन्य लोगों के द्वारा समझाने योग्य । **निराकरणविक्लवायाः** = परित्याग के कारण व्याकुल । **समवस्थाम्** = यह प्रयोग 'अवस्था' अर्थ में ही है । **अशरण** = असहाय । **इतः** = इस स्थान से अथवा यहाँ से । **प्रत्यादेशात्** = परित्यक्ता होने के कारण । **व्यवसिता** = प्रवृत्त हुई अथवा प्रयत्न किया । **अनुगन्तुं व्यवसिता** = पीछे-पीछे जाने को प्रवृत्त हुई अथवा जाना चाहा । **स्थिता** = रुक गई । पाठभेद—**मुहुः** = बार बार । इस "मुहुः" शब्द का पाठ रखना उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि फिर अर्थ होगा कि "पिता के सदृश गुरुशिष्य शार्ङ्गरव द्वारा बारबार कहे जाने पर उसने रोती हुई दृष्टि से राजा की ओर देखा" । इस प्रकार के कथन से यह सिद्ध होता है कि शकुन्तला में भी बारबार बच्चों के सदृश हठ करने की प्रवृत्ति विद्यमान थी । परन्तु तपोवन में रहने वाली तथा पूर्णयुवावस्था को प्राप्त शकुन्तला के अन्दर इस प्रकार का बच्चों जैसा हठ रहा हो यह पूर्णतया अनुचित प्रतीत होता है । यह एक प्रकार से उसके चरित्र का दोष ही समझा जा सकता है । "स्थिता" पाठ रखने से केवल

एक ही बार 'तिष्ठ' कह देने पर वह रुक जाती है, ऐसा अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इस भाँति उसका आज्ञाकारिणी होना भी सिद्ध हो जाता है। अतः स्थिता पाठ अधिक उचित प्रतीत होता है। **वदति** = कहने पर। **बाष्पप्रसरकलुषाम्** = अश्रु-धारा के प्रवाह अथवा विस्तार के कारण मलिन अथवा कलुषित (धुंधली) दृष्टि से। **शल्यम्** = बाण का अग्रभाग अथवा बाण की नोंक। संस्कृत भाषा में भाला, बर्छी, साँग, बाण का फलक, आदि अस्त्रों को तथा शरीर में चुभनेवाली काँटा, कील आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं को 'शल्य' कहा गया है। इस स्थल पर भी 'शल्य' शब्द का भाव संभवतः 'बाण की नोंक' ही करना उचित प्रतीत होता है। **दहति** = जला रहा है, संतप्त कर रहा है अर्थात् महान् दुःख दे रहा है।

सानुमती—[अम्महे, ईदिसी स्वकज्जपरदा। इमस्स सदावेण अहं रमामि।] अहो, ईदृशीस्वकार्यपरता। अस्य संतापेनाहं रमे।

सानुमती—ओह, अपने स्वार्थ के प्रति तत्परता (प्रेम) ऐसी ही होती है कि मैं इसके संताप से प्रसन्न हो रही हूँ।

विदूषकः—[भो! अत्थि मे तक्को केण वि तत्तहोदी आआसंचारिणा णीदेत्ति।] भो! अस्ति मे तर्कः केनापि तत्रभवत्याकाशचारिणा नीतेति।

विदूषक—हे मित्र! मेरा अनुमान है कि उस श्रीमती (शकुन्तला) को कोई आकाश में विचरण करने वाला (देव) उठा ले गया है।

राजा—कः पतिदेवतामन्यः परामष्टुमुत्सहेत। मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति श्रुतवानस्मि। तत्सहचारिणीभिः सखी ते हृतेति मे हृदयमाशङ्कते।

राजा—उस पतिव्रता को दूसरा कौन छूने का साहस कर सकता है? तुम्हारी सखी (शकुन्तला) की जन्मदात्री मेनका (नामक अप्सरा) है। उसकी सखियाँ तुम्हारी सखी (शकुन्तला) को ले गई हैं, ऐसी मेरे हृदय की आशंका है।

सानुमती—(संमोहो क्खु विम्हअणिज्जो ण पडिबोहो।] संमोहः खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोधः।

सानुमती—(इस राजा द्वारा शकुन्तला को) भूल जाना ही आश्चर्य की बात है, पुनः स्मरण करना (आश्चर्य की बात) नहीं है।

विदूषकः—(जइ एव्व अत्थि क्खु समाअमो कालेण तत्त-होदीए । (यद्येवमस्ति खलु समागमः कालेन तत्रभवत्या ।

विदूषक—यदि ऐसी बात है तो निश्चय ही आपका (उन) श्रीमती जी से समय आने पर मिलन होगा ।

राजा—कथमिव ?

राजा—कैसे ?

विदूषकः—[ण क्खु मादापिदरा भत्तुविओअदुक्खिअं दुहिदरं चिरं देक्खिदु पारेन्ति । [न खलु मातापितरौ भर्तृवियोग-दुखितां दुहितरं चिरं द्रष्टुं पारयतः ।

विदूषक—निश्चय ही माता-पिता पति के वियोग से दुःखित अपनी पुत्री को अधिक समय तक नहीं देख सकते हैं ।

व्याकरण:—**प्रतिष्ठा** = प्रति + स्था + अङ (अ) । **'कालेन'** में "अपवर्गे तृतीया" अष्टा० २।३।६ । से तृतीया विभक्ति हुई है । **देवता** = देव शब्द से स्वार्थ में "देवात्तल्" अष्टा० ५।४।२७ से तल् (ता) प्रत्यय हुआ है । *समास आदि*:—**स्वकार्यपरता** = स्वस्य कार्य-स्वकार्यं, तत् परं यस्याः सा स्वकार्यपरा, तस्याः भावः । **पतिदेवताम्** = पतिः देवता यस्याः ताम् (बहुव्रीहि) । **जन्मप्रतिष्ठा**—जन्मनः प्रतिष्ठा (तत्पुरुष) । **मातापितरौ** = माता च पिता च—द्वन्द । यहाँ "आनङ ऋतो द्वन्द्वे" अष्टा० ६।३।२५ । आनङ होने से मातृ को माता हो जाता है ।

टिप्पणियाँ—**स्वकार्यपरता** = अपने कार्य के प्रति तत्परता (प्रेम) अर्थात् अपने ही स्वार्थ की धुन, स्वार्थनिष्ठता । सानुमती को इस कारण भेजा गया था कि वह जाकर देखे कि शकुन्तला के परित्याग के कारण राजा की मानसिक अवस्था कैसी चल रही है । सानुमती शकुन्तला के विरह से पीडित राजा को जितना अधिक संतप्त देखती थी, उसे उतना ही अधिक आनन्द मिलता था क्योंकि राजा का वह सन्ताप ही शकुन्तला के प्रति उसके प्रेम का साक्षी था तथा सानुमती चाहती भी थी कि राजा शकुन्तला से प्रेम करे । इस भाँति यह सानुमती की स्वार्थपरता ही कही जायगी । इस शकुन्तला के विरह से संतप्त राजा की मनोदशा का वर्णन सुनने से शकुन्तला का दुःख दूर होगा । यही सानुमती का विशेष स्वार्थ है । साथ ही उसे स्वयं भी प्रसन्नता है । **केनापि नीतेति** = विदूषक के इस कथन से यह संकेत भी प्राप्त होता है कि शकुन्तला का जीवन इस ब्रह्माण्ड में कहीं न कहीं विद्यमान है अतः उससे मिलन संभव है । **पतिदेवताम्** = पति ही है देवता जिसका अर्थात् पतिव्रता । पतिव्रता स्त्री के अन्दर एक विशिष्ट प्रकार का तेज रहा करता है तथा इसी तेज के कारण किसी भी दुष्ट के द्वारा

उसको कभी भी कोई हानि आदि नहीं पहुँचायी जा सकती है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में पतिव्रता स्त्री के महत्त्व का वर्णन करते हुए लिखा गया है :—

स्वतेजसा समर्था सा महापुण्यवती सदा।
न हि तस्या भयं किञ्चिद् यमादपि···॥

इसी प्रकार वाल्मीकि-रामायण में भी सीता के पातिव्रत के सम्बन्ध में निम्न उल्लेख मिलता है :—

"रक्षितां स्वेन तेजसा···। न च शक्तः स दुष्टात्मा मनसापि हि मैथिलीम्। प्रधर्षयितुम्···॥" परामर्ष्टुम् = छूने का, स्पर्श कर सकने का। जन्मप्रतिष्ठा = जन्मदात्री, माता, जन्मस्थान। तत्सहचारिणीभिः ··इत्यादि—उस मेनका की सहचारिणी··इत्यादि। किन्तु आगे सप्तम अंक में विद्यमान मारीच ऋषि के "यदैव··शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता"··इत्यादि कथन से स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं मेनका ही अपनी पुत्री शकुन्तला को उठाकर ले गयी थी। कालेन = समय के अनुसार अथवा समय आने पर। मातापितरौ··न पारयतः = माता-पिता अधिक समय तक अपनी पुत्री के दुःख के देखने में समर्थ नहीं हुआ करते हैं, अतः यह निश्चित है कि शकुन्तला की माता भी अपनी पुत्री को अधिक समय तक न रख सकेगी क्योंकि वह उसके कष्टों को सहन करने में असमर्थ होगी। इस कारण वह शीघ्र ही उसे पुनः राजा के पास भेज देगी।

राजा—वयस्य !

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु
क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम्।
असन्निवृत्त्यै तदतीतमेते
मनोरथा नाम तटप्रपाताः ॥१०॥

अन्वयः—(तत्) स्वप्नः नु, माया नु, मतिभ्रमः नु, तावत्फलमेव क्लिष्टं पुण्यं नु ? तत् असन्निवृत्त्यै अतीतम्। एते मनोरथाः नाम तटप्रपाताः।

संस्कृत-व्याख्या—(तत् = शकुन्तलासंमेलनरूपं वस्तु), स्वप्नः नु— स्वाप्नः वस्तु किम्; निद्रावस्थायां विषयानुभवः किमित्यर्थः?, माया नु = केनापि मायिकेन प्रयुक्तं इन्द्रजालं किम् ?, मतिभ्रमो नु = किं वा मम बुद्धिविपर्ययो जातः ?, तावत्फलमेव = तन्मात्रमेव फलं यस्य तत्, क्लिष्टम् = अत्यल्पम्, पुण्यम् नु = सुकृतं किम ? तत् = शकुन्तलारूपं वस्तु, असन्निवृत्त्यै = अपुनरावर्तनाय, अतीतम् = गतम्। एते = इमे त्वयोच्यमानाः शकुन्तलायाः पुनःप्राप्तिरूपाः, मनोरथाः = ममाभिलाषाः, नाम = इत्यलीके, तटप्रपाताः = तटस्य तीरस्य प्रपातः पतनमिव प्रपातः येषां तादृशाः सन्ति।

राजा—हे मित्र !

(वह शकुन्तला का मिलन) क्या स्वप्न था ? क्या वह इन्द्रजाल (जादू) था ? क्या (वह मेरी) बुद्धि का भ्रम था ? क्या (वह) उतने ही फल वाला (मेरा) अत्यल्प पुण्य था ? वह कभी न लौटने के लिये चला गया। ये (तुम्हारे द्वारा कथित शकुन्तला की पुनःप्राप्ति रूप) मेरी अभिलाषायें नदी के किनारे के पतन के सदृश हैं (जो कभी उठकर सत्य नहीं हो सकेंगे।) ।

अलंकार—इस श्लोक में वर्णित असंन्निवृत्ति के प्रति प्रथम दो पंक्तियाँ कारण हैं, अतः काव्यलिंग अलंकार है। श्लोक की प्रथम दो पंक्तियों में संदेह का वर्णन होने के कारण 'संदेह' अलंकार है। छन्दः—इसमें 'उपजाति' वृत्त है।

टिप्पणियाँ—स्वप्नो नु · · · इत्यादि = व्याकुलता की अवस्था में राजा शकुन्तला के साथ हुए मिलन के सम्बन्ध में चार प्रकार के विकल्प करता है। एक विकल्प को क्रमशः सोच-सोचकर पुनः उसका निराकरण कर अन्य-अन्य विकल्प की स्थापना करता है :—(१) क्या वह शकुन्तला का मिलन स्वप्न था ? नहीं, मैं उस समय सोया हुआ था ही नहीं, फिर स्वप्न कहाँ से होता। मेरी स्मृति मुझे निश्चित रूप से बतलाती है कि मैंने शकुन्तला के मिलन का अनुभव किया था। अतः उसे स्वप्न तो कहा ही नहीं जा सकता है। तो फिर (२) क्या वह किसी मायावी (अथवा जादूगर) द्वारा प्रयुक्त माया (अथवा जादू) थी (था)। यह भी बात ठीक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि मैं तो सभी का प्रिय हूँ तथा मेरा कोई शत्रु भी नहीं है कि जो मेरे ऊपर माया अथवा जादू का प्रयोग करे। दूसरी बात यह है कि माया अथवा जादू का प्रभाव अधिक समय तक न चलकर स्वल्पकाल में भी समाप्त हो जाता है। किन्तु अँगूठी के मिलने तक के लम्बे समय में भी मुझे उसका स्मरण नहीं आ सका। अतः यह माया का प्रभाव नहीं था। तो फिर (३) क्या यह मेरी बुद्धि का भ्रम था ? नहीं, नहीं। क्योंकि मुझे तो उस समय की सभी बातें ठीक-ठीक याद हैं। यदि बुद्धि में किसी प्रकार की भ्रान्ति होती तो वे सब बातें मुझे किस भाँति स्मरण रह सकती थीं ? अतः यह मानना ठीक ही है कि मेरी बुद्धि में किसी प्रकार की भ्रान्ति भी नहीं थी। तब (४) क्या यह मेरा अत्यल्प (थोड़ा) पुण्य ही था कि जिसके परिणामस्वरूप उतने थोड़े से समय के लिये उस शकुन्तला के साथ मिलन हो सका ? अतः राजा इसी अल्प पुण्य को स्वीकार करता है। इसी अल्प पुण्य के फलस्वरूप स्वल्प-काल तक मिलन रह सका। **क्लिष्टम्** = नष्टप्राय, जो लगभग समाप्त हो चुका था अथवा जो नाम के लिये ही शेष था अर्थात् अत्यन्त थोड़ा। **तावत्फलम्** = जिसका फल भी उतना ही (थोड़ा ही) होना था—तावत् एव फलं यस्य तत्। **असन्निवृत्यै** = फिर कभी लौटकर न आने के लिये (वह शकुन्तला चली गई।) राजा की धारणा है कि शकुन्तला सदा के लिये चली गई है। अब उसका मिलन

असम्भव है। **एते मनोरथाः**=ये अभिलाषायें। अर्थात् उस शकुन्तला का पुनः शीघ्र ही मिलन होगा, मेनका अपनी पुत्री को शीघ्र ही पुनः मेरे समीप भेजेगी—इत्यादि अभिलाषायें। **तटप्रपाताः**=नदी के किनारों के पतन (गिरना)। तात्पर्य यह है कि जिस भाँति नदी के जल के आवेगों से किनारे टूट-टूट कर गिर पड़ते हैं तथा वे टूटे हुए किनारे पुनः अपने पूर्व स्थान को प्राप्त कर नहीं जुड़ा करते हैं उसी भाँति शकुन्तला सम्बन्धी मेरे मनोरथ भी हैं। ये भंग हो चुके हैं अतः यह पुनः सत्य होने वाले नहीं। **पाठभेद=मनोरथानामतटप्रपाताः** (मनोरथानाम्-अतटप्रपाताः)—पहाड़ की उच्च चोटी से पतन (गिरना)। यहाँ 'अतट' शब्द का अर्थ है—पहाड़ की ऊँची चोटी अथवा ऊँची चट्टान तथा प्रपात का अर्थ है—पतन. गिरना। राजा कहता है कि हमारी अभिलाषाओं का अतटप्रपात हो गया अर्थात् जिस भाँति कोई व्यक्ति उच्च चोटी अथवा चट्टान से गिरकर जीवनशून्य (मृत्यु को प्राप्त) हो जाता है, उसी भाँति शकुन्तला के मिलन से सम्बन्धित मेरी उच्च अभिलाषायें भी नष्ट हो चुकी हैं।

विदूषक के "यद्येवमस्ति" इत्यादि से लेकर यहाँ तक सिद्धों के वचनों के सदृश आगे होने वाली घटना की सूचक होने के कारण प्ररोचना नामक विमर्श सन्धि का अग है। इसका लक्षण है :—"सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात् प्ररोचना।" दशरूबक १।४७॥

यहाँ संदेह का स्पष्ट वर्णन हुआ है, अतः संशय नामक नाटकीय लक्षण भी है। इसका लक्षण है :—"संशयोऽज्ञाततत्वस्य वाक्ये स्याद् यदनिश्चयः। साहित्य दर्पण ६॥१७९॥

[विदूषकः— मा एव्वं। ण अंगुलीअअं एव्व णिदसणं अवस्सं-भावी अचिन्तणिज्जो समाअमो होदित्ति। मैवम्। नन्वङ्गुलीय] निदर्शनमवश्यंभाव्यचिन्तनीयः समागमो भवतीति।

विदूषक—ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः यह अँगूठी ही इस बात का उदाहरण है कि अवश्यंभावी मिलन अचिन्तनीय अर्थात् अचानक ही हो जाता है।

राजा—(अङ्गुलीयकं विलोक्य) अये! इदं तावदसुलभ-स्थानभ्रंशि शोचनीयम्।

तव सुचरितमङ्गुलीय नूनं
प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन।
अरुणनखमनोहरासु तस्या-
श्च्युतमसि लब्धपदं यदङ्गुलीषु ॥११॥

अन्वयः—हे अंगुलीय ! नूनं मम इव तव (अपि) सुचरितं फलेन प्रतनु विभाव्यते; यत् तस्याः अरुणनखमनोहरासु अंगुलीषु लब्धपदं च्युतमसि ।

संस्कृत-व्याख्याः—हे अंगुलीय ! हे मुद्रिके !, नूनम् = निश्चितम्, मम = दुष्यन्तस्य, इव = सदृशम्, तव अपि = त्वदीयमपि, सुचरितम् = पुण्यम्, फलेन = त्वया अनुभूतेन परिणामेन, प्रतनु = अत्यल्पम्. विभाव्यते = प्रतीयते । यत् तस्याः = शकुन्तलायाः, अरुण नख मनोहरासु = अरुणैः आरक्तैः नखैः मनोहरासु रमणीयासु, अंगुलीषु, लब्धपदम्—लब्धं प्राप्तं पदं स्थानं येन तादृशं सदपि, च्युतमसि = पतितमसि । ते चरितं पुण्यमासीत् तेन तत्र पदमवाः । परन्तु स्वल्पं तत् पुण्यं ततः च्युतमसि । अहमपि पुण्येन शकुन्तलया मिलितः, किन्तु क्षीणे पुण्ये त्वमिवाधुना तया हीनः शोच्यः ।

राजा—(अँगूटी की ओर देखकर) ओह ! दुर्लभ स्थान से गिर जाने वाली यह (अँगूठी) अब शोचनीय हो गई है ।

हे अँगूठी ! निश्चय ही मेरे समान तेरा पुण्य भी फल की अपेक्षा अत्यल्प ही प्रतीत होता है जो कि तू उस (शकुन्तला) की लाल नखों से सुन्दर अँगुलियों में स्थान पाकर भी गिर गई थी ।

अलंकार—इस श्लोक में अल्प-फल के द्वारा अल्प-पुण्य का अनुमान किया गया है, अतः अनुमान अलंकार है । फलेन० अल्प-पुण्य के प्रति कारण है, अतः काव्यलिंग अलंकार है । ममेव = मेरे सदृश (अर्थात् जैसे मेरा पुण्य अत्यल्प है वैसे तुम्हारा भी पुण्य अत्यल्प ही है—यह भाव है ।) में उपमा अलंकार है । **छन्दः**—इसमें पुष्पिताग्रा वृत्त है ।

व्याकरण—निदर्शनम् = नि + दृश + ल्युट् (अन) । **अवश्यंभावी** = अवश्यं भवतीति + अवश्यम् + भू + णिनि । यहाँ आवश्यक अर्थ में "आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः" अष्टा० ३।३।१७० । से णिनि होता है । **समागमः** = सम् + आ + गम् + अप् (अ) । यहाँ "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च" अष्टा० ३।३।५८ से अप् प्रत्यय होता है । असुलभ = नञ् + सु + लभ् + खल् (अ) । **समास आदिः**—निदर्शनम् = निदर्श्यते अनेन इति । **असुलभस्थानभ्रंशि** = न सुलभं असुलभं यत् स्थानं तस्माद भ्रंशः अस्यास्तीति असुलभस्थानभ्रंशि । **अरुणनखमनोहरासु** = अरुणैः नखैः मनोहरासु (तत्पुरुष) । **लब्धपदम्** = लब्धं पदं येन तत् (बहुब्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**निदर्शनम्** = उदाहरण । इसका अभिप्राय है:—प्रमाण अथवा सबूत । अँगूठी ही इस बात का प्रमाण है कि अवश्यंभावी मिलन भी अवश्य ही होगा । जिस प्रकार से कि यह अँगूठी भी अचानक ही मिली है उसी प्रकार शकुन्तला की प्राप्ति भी अचानक ही होगी । **अवश्यंभावी** = होनहार । **समागमः** = सम्मिलन, मिलना, मेल । **असुलभस्थानभ्रंशि** = सरलतापूर्वक प्राप्त न होने वाले

स्थान से गिरने वाली अथवा दुर्लभ स्थान से गिरने वाली । शकुन्तला की अँगुलियों में स्थान प्राप्त करना दुर्लभ था । यहाँ पर शकुन्तला की अँगुलियों के लिये स्थान शब्द का प्रयोग हुआ है । **सुचरितम्** = शोभनचरित अर्थात् पुण्य । **प्रतनु** = अत्यल्प, बहुत थोड़ा । जैसे मेरे पुण्य बहुत कम थे, उसी प्रकार तुम्हारे भी पुण्य स्वल्प ही थे । **फलेन विभाव्यते** = फल के द्वारा प्रतीत होता है । अर्थात् जो फल अथवा परिणाम तुझको प्राप्त हुआ है उससे तेरे अल्पपुण्यशाली होने का पता चलता है । **अरुणनखमनोहरासु** = रक्त (लाल) वर्ण के नाखूनों से सुन्दर । लाल रंग के नाखूनों का होना सौन्दर्य का सूचक माना गया है । राघव भट्ट ने इस स्थल पर सामुद्रिकशास्त्र का निम्न श्लोक भी उद्धृत किया है—नाति ह्रस्वा नातिदीर्घा न स्थूला न कृशा अपि । अवक्राः सरला रक्तनखा रक्ततला अपि । कोमलाः सितविन्द्वाढ्या भंगुरा दीप्तिमन्नखाः । तादृगंगुलयो यस्याः सा भवेद् राजवल्लभा ॥ **लब्धपदम्** = प्राप्त कर लिया है स्थान जिसने अर्थात् जिसको स्थान प्राप्त हो गया है ।

सानुमती—[जइ अण्णहत्थगदं भवे सच्चं एव्व सोअणिज्जं भवे ।] यद्यन्यहस्तगतं भवेत् सत्यमेव शोचनीयं भवेत् ।

सानुमती—यदि यह (अँगूठी) किसी दूसरे के हाथ में पड़ जाती तो वस्तुतः शोचनीय (शोक की बात) हो जाती ।

विदूषकः—[भो ! इअ णाममुद्दा केण उग्घादेण तत्तहोदीए हत्थाब्भासं पाविदा ।] भोः ! इयं नाममुद्रा केनोद्घातेन तत्र भवत्या हस्ताभ्याशं प्रापिता ।

विदूषक—हे मित्र ! आपने यह नामाक्षरों से युक्त अँगूठी किस प्रसंग में श्रीमती (शकुन्तला) के हाथ में पहनाई थी ?

सानुमती—[मम वि कोदूहलेण आआरिदो एसो ।] ममापि कौतूहलेनाकारित एषः ।

सानुमती—मेरी उत्सुकता से यह भी प्रेरित हुआ है ।

राजा—श्रूयताम् । स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमाह कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यतीति ।

राजा—सुनो । अपने नगर की ओर प्रस्थान करते समय मुझसे प्रिया ने आँखों में आँसू भरकर कहा था "आर्यपुत्र (आप) कितने समय में मुझे (अपना) समाचार भेजेंगे ?"

विदूषकः—[तदा तदा] ततस्ततः ।

विदूषक—इसके पश्चात् (क्या हुआ ?)

राजा—पश्चादिमां मुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम् ।
तावत् प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं
नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥१२॥

तच्च दारुणात्मना मया मोहान्नानुष्ठितम् ।

अन्वयः—हे प्रिये ! अत्र दिवसे दिवसे एकैकं मदीयं नामाक्षरं गणय । यावत् अन्तं गच्छसि, तावत् मदवरोधगृहप्रवेशं नेता जनः तव समीपं उपैष्यति इति ।

संस्कृत-व्याख्या—हे प्रिये ! = हे कान्ते शकुन्तले !, अत्र = अस्मिन् अंगुलीयके, दिवसे दिवसे = प्रतिदिनम्, एकैकम् = एकम् एकम्, मदीयम् = मम, नामाक्षरम् = नाम्नः अक्षरम्, गणय = गणनां कुरु । यावत् = यस्मिन्नेव काले, अन्तम् = अक्षराणां अवसानं समाप्ति वा, गच्छसि = प्राप्नोषि, तावत् = तस्मिन्नेव समये, मदवरोधगृहप्रवेशम् = मम दुष्यन्तस्य अवरोधगृहे अन्तःपुरभवने प्रवेशं प्रवेशनम्, नेता = प्रापयिता, जनः = नरः, तव = शकुन्तलायाः, समीपम् = अन्तिकम्, उपैष्यति इति = अभिगमिष्यति प्राप्स्यतीति वा ।

राजा—तदनन्तर इस अँगूठी को उस (शकुन्तला) की अँगुली में पहनाते हुए मैंने उत्तर में कहा था—

हे प्रिये ! इस (अँगूठी) में (स्थित) प्रतिदिन मेरे नाम के एक-एक अक्षर को गिनना । जब तक तुम उसकी समाप्ति तक पहुँचोगी तब तक (तुम्हारा) मेरे अन्तःपुर में प्रवेश कराने वाले लोग तुम्हारे समीप पहुँच जायेंगे । और वह कार्य निष्ठुर (कठोर) हृदय वाले मैंने अज्ञानवश नहीं किया ।

अलंकार—इस श्लोक में स्पष्ट रूप से पाँच दिन अथवा पाँचवें दिन का उल्लेख न करके अप्रत्यक्ष रूप से उसका वर्णन किये जाने के कारण पर्यायोक्त अलंकार है । छन्द :—इसमें वसन्ततिलका वृत्त है ।

समास आदि—नाममुद्रा = नाम्ना अंकिता मुद्रा इति । **मदवरोधगृहप्रवेशम्** = मम अवरोधगृहे प्रवेशम् (तत्पुरुष) । **दारुणात्मना** = दारुणः आत्मा यस्य तेन (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—केन उद्घातेन = किस प्रसंग अथवा प्रकरण में। यहाँ विदूषक जानना चाहता है कि राजा ने किस प्रसंग में शकुन्तला को अँगूठी प्रदान की थी। **आकारितः** = प्रेरित हुआ है, कहलवाया है। आ + कारि का अर्थ प्रेरणा होता है। इस विदूषक के हृदय में भी मेरे हृदय में विद्यमान उत्सकुता के समान ही उत्सुकता उत्पन्न हुई है। यह भी उसी बात को जानना चाहता है। **प्रतिपत्ति दास्यति** = समाचार देंगे अथवा समाचार भेजेंगे। **एकैकम्** = एकम् एकम्। यहाँ वीप्सा अर्थ न होने के कारण "स्वार्थे अवधार्यमाणे एकस्मिन द्वे..." इत्यादि वार्तिक से द्वित्व होता है और तत्पश्चात् "एकं बहुव्रीहिवत्" अष्टा० ८।१।९। से सुप् का लोप हो जाता है। **दिवसे दिवसे** = प्रतिदिन "नित्यवीप्सयोः" अष्टा० ८।१।४। से वीप्सा अर्थात् द्विरुक्ति अर्थ में द्वित्व हो जाता है। **नामाक्षरं गणय** = 'दुष्यन्त' शब्द में अक्षरों की गणना करने पर पाँच अक्षर होते हैं। पाँचवें अक्षर तक जब तक तुम पहुँचोगी अथवा पाँच दिन के अन्दर कोई व्यक्ति तुम्हारे समीप पहुँच जायगा। **गच्छसि** = यहाँ भविष्यत् अर्थ में लट् लकार का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ है—प्राप्त करोगी अथवा पहुँचोगी। यहाँ यावत् के कारण "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" अष्टा० ३।३।४। से भविष्यत् अर्थ में लट् लकार का प्रयोग हुआ है। **मदवरोधगृहप्रवेशम्** = मेरे अन्तःपुर में प्रवेश कराने के निमित्त (नेता =) ले जाने वाला (जनः =) व्यक्ति।

सानुमती—[रमणीओ क्खु अवही विहिणा विसंवादिदो।] रमणीयः खल्ववधिर्विधिना विसंवादितः।

सानुमती—वस्तुतः (यह) बहुत सुन्दर अवधि थी, (किन्तु) भाग्य ने (इसको) असत्य कर दिया।

विदूषकः—[कहं धीवलकप्पिअस्स लोहिअमच्छस्स उदलब्भन्तले आसि।] कथं धीवरकल्पितस्य रोहितमत्स्यस्योदराभ्यन्तर आसीत्?

विदूषक—धीवर द्वारा काटी गई हुई रोहू मछली के पेट के अन्दर यह (अँगूठी) किस प्रकार पहुँची?

राजा—शचीतीर्थं वन्दमानायाः सख्यास्ते हस्ताद् गङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम्।

राजा—शचीतीर्थ की वन्दना करती हुई तुम्हारी सखी के हाथ से (यह) गंगा की धारा में गिर गई थी।

विदूषकः—[जुज्जइ।] युज्यते।

विदूषक—(यह) ठीक है। (...)

सानुमती—[अदो एव्व तवस्सिणीए सउन्दलाए अधम्मभीरुणो इमस्स राएसिणो परिणए संदेहो आसि। अहवा ईदिसो अणुराओ अहिण्णाणं अवेक्खदि। कहं विअ एदं।] अतएव तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षेः परिणये सन्देह आसीत्। अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते। कथमिवैतत् ?

सानुमती—इसीलिये अधर्म से डरने वाले राजर्षि को बेचारी शकुन्तला के साथ विवाह के विषय में सन्देह हो गया था। अथवा इस प्रकार का प्रेम अभिज्ञान (चिह्न, पहिचान) की अपेक्षा करता है। यह कैसे ? (अर्थात् यह कहाँ तक ठीक है ?)

राजा—उपालप्स्ये तावदिदमङ्गुलीयकम्।

राजा—तो अब मैं इस अँगूठी को उलाहना दूँगा।

विदूषकः—(आत्मगतम्) [गहीदो णेण पन्था उम्मत्तआणं।] गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम्।

विदूषक—(मन में) इन्होंने अब पागलों का रास्ता स्वीकार किया है।

राजा—(अङ्गुलीयकं विलोक्य) मुद्रिके !

कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं
करं विहायासि निमग्नमम्भसि।

अथवा—

अचेतनं नाम गुणं न लक्षये-
न्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥१३॥

अन्वय—(हे मुद्रिके !) बन्धुरकोमलांगुलिं तं करं विहाय कथं नु अम्भसि निमग्नं असि। (अथवा) अचेतन् नाम गुणं न लक्षयेत्। मया एव कस्मात् प्रिया अवधीरिता ?

संस्कृत-व्याख्या—(हे मुद्रिके ! = हे अँगुरीय !) बन्धुरकोमलांगुलिम् = बन्धुराः सुन्दराः कोमलाः मृदवः अँगुलयः यत्र तादृशम्, तं करम् = शकुन्तलायाः हस्तम्, विहाय = त्यक्त्वा, कथं नु = केन कारणेन्, अम्भसि = जले, निमग्नमसि = नितरां मग्नमसि। (अथवा) अचेतनम् नाम = चेतनारहितं वस्तु,

गुणम् = वैशिष्ट्यम् सौन्दर्यादिकं प्रेमादिकं वा, न लक्षयेत् = न द्रष्टुं शक्नुयात्। मया एव = मया सचेतनेन दुष्यन्तेनैव, कस्मात् = केन कारणेन, प्रिया = शकुन्तला, अवधीरिता = तिरस्कृता। अचेतनेन तु गुणवतो वस्तुन उपेक्षा कथमपि क्षम्या, न चेतनेनेत्यर्थः।

राजा—(अँगूठी को देखकर) हे अँगूठी!

(तुम) सुन्दर और कोमल अँगुलियों वाले उस (शकुन्तला के) हाथ को छोड़कर कैसे जल में गिर गई?

अथवा—

जड़ वस्तु गुणों को नहीं देख सकती है; मैंने ही (चैतन्य होते हुए भी) प्रिया (शकुन्तला) का अपमान क्यों किया?

अलंकार—इस श्लोक में जड़ पदार्थ अँगूठी में चेतन व्यक्ति का आरोप करके उसके डूब जाने का वर्णन किया गया है। अतः समासोक्ति अलंकार है। इसमें शकुन्तला का तिरस्कार किये जाने का वर्णन है किन्तु तिरस्कार के कारण का वर्णन नहीं किया गया है। अतः कारण के विना ही कार्य का वर्णन किये जाने से विभावना अलंकार है। श्लोक के तृतीय चरण में सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन किया गया है। अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है। **छन्दः**—इसमें वंशस्थ वृत्त है।

व्याकरण:—**विसंवादित** = वि + सम् + वद् + णिच् + क्त। **बन्धुर** = बन्ध् + उरच्। **समास आदि**:—**बन्धुरकोमलांगुलिम्**—बन्धुराः कोमलाः अंगुलयः यत्र तम् (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ:—**विसंवादितः** = असत्य कर दिया, विफल कर दिया अथवा बिगाड़ दिया। **उन्मत्तानाम्** = पागलों का। काम की जिन दस प्रकार की दशाओं का वर्णन किया गया है, उनमें उन्मत्तता आठवीं काम की दशा है:—"अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः। अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः॥ मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह॥ सा० दर्पण ३।२०५-२०६॥ कामी पुरुषों के सम्बन्ध में इस प्रकार की दशा का वर्णन मेघदूत में भी प्राप्त होता है "कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु"॥ मेघदूत १।५। **बन्धुर** = सुन्दर। "बन्धुरं तून्नतानतम्"। जो वस्तु उचित रूप से यथास्थान उठी हुई तथा यथास्थान दबी हुई हो। अर्थात् जिसका रूप जैसा चाहिये, उस प्रकार का हो। **न लक्षयेत्** = न देख सके अथवा देखने में समर्थ न हो सके। **अवधीरिता** = अपमान किया, तिरस्कार किया। अभिप्राय यह है कि मैंने शकुन्तला का परित्याग किया। यही उसका अपमान अथवा तिरस्कार है। मैं तो चेतन हूँ अतः चेतन होते हुए मुझे ऐसा नहीं करना चाहिये था। किन्तु मैंने ऐसा किया है। ऐसा मैंने क्यों किया? यह समझ में नहीं आता।

विदूषकः—[कहं बुभुक्खाए खादिदव्वो म्हि ।] (आत्म-गतम्) कथं बुभुक्षया खादितव्योऽस्मि ।

विदूषक—(मन में) मैं (न जाने) किस भाँति भूख का खाद्य बन गया हूँ ।

राजा—प्रिये ! अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनु-कम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन ।

राजा—प्रिये ! निष्कारण किये गये परित्याग से उत्पन्न पश्चात्ताप के कारण संतप्त-(दुखी) हृदय इस व्यक्ति (दुष्यन्त) को पुनः दर्शन देकर अनुगृहीत करो ।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता)

चतुरिका—[इअं चित्तगदा भट्टिणी ।] इयं चित्रगता भट्टिनी ।

(इति चित्रफलकं दर्शयति ।)

(चित्रपट हाथ में लिये हुए चतुरिका का पर्दा हटाकर प्रवेश)

चतुरिका—यह चित्र में बनाई गई हुई स्वामिनी (महारानी) हैं ।

(यह कहकर चित्रपट दिखलाती है ।)

विदूषकः—(विलोक्य) [साहु वअस्स ! महुरावत्थाण-दंसणिज्जो भावाणुप्पवेसो । क्खलदि विअ मे दिट्ठी णिण्णुण्णअ-प्पदेसेसु ।] साधु वयस्य ! मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः । स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु ।

विदूषक—(देखकर) हे मित्र ! बहुत अच्छा है । (इसमें) भावों की व्यञ्जना मधुर चित्रण के कारण देखने योग्य है । ऊँचे-नीचे स्थानों में मेरी दृष्टि लड़खड़ाती-सी है ।

सानुमती—[अम्मो, एसा राएसिणो णिउणदा । जाणे सही अग्गदो मे वट्टदि त्ति ।] अहो, एषा राजर्षेर्निपुणता । जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति ।

सानुमती—अहो, राजर्षि की यह निपुणता ! ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मेरी सखी (शकुन्तला) मेरे सामने विद्यमान है ।

राजा--

यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम् ॥१४॥

अन्वय:--चित्रे यत् यत् साधु न स्यात्, तत् तत् अन्यथा क्रियते। तथापि तस्याः लावण्यं रेखया किंचित् अन्वितम् ।

संस्कृत-व्याख्या--चित्रे--मत्कृते आलेख्ये, यत् यत् = यदेवाङ्गमवस्थानं वा, साधु = शोभनम्, न स्यात् = चित्रितं न भवेत्, तत् तत् = तत्सर्वम्. अन्यथा = अन्यप्रकारेण संशोध्य, क्रियते = विन्यस्यते । तथापि = कृतेऽपि महति श्रमे, तस्याः = शकुन्तलायाः, लावण्यम् = सौन्दर्यम्, रेखया = आलेख्येन, किंचित् = अल्पमात्रमेव, अन्वितम्--युक्तमस्ति ।

राजा--चित्र में जो-जो अच्छा नहीं है (अर्थात् जो त्रुटिपूर्ण है), उस-उस को ठीक करता हूँ । फिर भी उस (शकुन्तला) का सौन्दर्य रेखाओं (अथवा चित्र) के द्वारा कुछ थोड़ा ही प्रकट हो पाया है । **छन्द**:--इसमें पथ्यावक्त्र वृत्त है ।

समास आदि--**अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयः** = अकारणं यः परित्यागः तेन अनुशयः पश्चात्तापः तेन तप्तं हृदयं यस्य सः (बहुव्रीहि) । **चित्रफलकहस्ता** = चित्रफलकं हस्ते यस्याः सा (बहुव्रीहि) । **मधुरावस्थानदर्शनीयः** = मधुरं यादवस्थानं तया दर्शनीयः (तत्पुरुष) । **भावानुप्रवेशः** = भावानां अनुप्रवेशः चित्रणम् (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ:--**अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयः** = बिना कारण ही परित्याग कर देने के पश्चात्ताप से दुःखी है हृदय जिसका । चित्र को संबोधित करते हुए राजा कह रहा है कि वह निष्कारण किये गये परित्याग से उत्पन्न पश्चात्ताप के कारण अत्यधिक दुःखी अथवा खिन्न है । **अनुकम्प्यतामयं जन.** = अतः तुम (शकुन्तला) मुझ (दुष्यन्त) पर दया (कृपा) करो । **मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः** = इस चित्रपट पर अंकित शकुन्तला के चित्र में भावों का चित्रण अत्यधिक सुन्दर ढंग से किया गया है, (भावों से तात्पर्य है--हर्ष, भय आदि भावों का) अतएव (यह चित्र) दर्शनीय है । **स्खलति** = राजा द्वारा चित्र का निर्माण बड़ी सावधानी के साथ किया गया था । अतः उसमें ऊँचे और नीचे स्थानों का चित्रण बड़े कौशल के साथ चित्रित किया गया था। इस कारण विदूषक की दृष्टि उन उन स्थानों पर रुकती जाती थी । **साधु**--अच्छा अथवा ठीक रूप में अंकित किया हुआ । **यत् यत् साधु न** इत्यादि = चित्र में चित्रकार की कमी के कारण जो जो अंग स्पष्ट रूप से नहीं बन पाते हैं उन उन अंगों को चित्रकार बार-बार कूँची फेर फेर कर वास्तविक रूप की भाँति सुन्दर बनाने का प्रयास किया करता है । मैंने (राजा ने) भी वैसा ही किया । किन्तु बहुत प्रयत्न

करने पर भी मैं उस (शकुन्तला) के सौन्दर्य को पूर्ण रूप से यथावत् रूप में चित्रित नहीं कर सका हूँ। अतः उसका चित्र अत्यल्प रूप में ही सौन्दर्य से युक्त कर पाया हूँ। रेखया किंचिदन्वितम् = शकुन्तला का सौन्दर्य रेखाओं द्वारा अत्यल्प मात्रा में ही प्रकट हो सका है। राजा के कहने का भाव यह है कि शकुन्तला इतनी अधिक सुन्दर है कि उसकी पूर्ण सुन्दरता चित्र में किसी भी प्रकार से दिखलाया जाना संभव नहीं है। अथवा शकुन्तला के चित्र में जो कुछ भी सुन्दर नहीं है वह मेरे द्वारा किये गये चित्रण का ही दोष है।

सानुमती—[सरिसं एदं पच्छादावगुरुणो सिणेहस्स अणवलेवस्स अ।] सदृशमेतत् पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्यानवलेपस्य च।

सानुमती—पश्चात्ताप के कारण बड़े हुए प्रेम तथा निरभिमान के योग्य ही यह (कथन) है।

विदूषकः—[भो ! दाणिं तिण्हिओ तत्तहोदीओ दीसंति। सव्वाओ अ दंसणीआओ। कदमा एत्थ तत्तहोदी सउन्दला?] भोः! इदानीं तिस्रस्तत्रभवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः। कतमाऽत्र तत्रभवती शकुन्तला ?

विदूषक—हे मित्र ! इस (चित्र) में तीन श्रीमतियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। ये सभी सुन्दर हैं। इनमें से श्रीमती शकुन्तला कौन-सी हैं ?

सानुमती—[अणभिण्णो क्खु ईदिसस्स रूवस्स मोहदिट्ठी अअं जणो।] अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य मोघदृष्टिरयं जनः।

सानुमती—ऐसे रूप से अपरिचित यह व्यक्ति वस्तुतः निष्फल दृष्टि वाला ही है।

राजा—त्वं तावत् कतमां तर्कयसि ?

राजा—अच्छा, तो तुम किसको (शकुन्तला) समझते हो ?

विदूषकः—[तक्केमि जाएसा सिढिलबंधणुव्वंतकुसुमेण केसंतेण उब्भिण्णस्सेअबिन्दुणा वअणेण विसेसदो ओसरिआहिं बाहाहिं अवसेअसिणिद्धतरुणपल्लवस्स चूअपाअवस्स पासे इसिपरिस्सन्ता विअ आलिहिदा सा सउन्दला। इदराओ सहीओत्ति।] तर्कयामि यैषा शिथिलबन्धनोद्वान्तकुसुमेन केशान्तेनोद्भिन्नस्वेदबिन्दुना वदनेन विशेषतोऽपसृताभ्यां बाहुभ्यामवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य

चूतपादपस्य पार्श्वे ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला । इतरे सख्याविति ।

विदूषक—मैं समझता हूँ कि जिसकी शिथिल हुई वेणी से फूल गिर गये हैं ऐसे केशसमूह से युक्त, प्रकट हुई पसीने की बूँदों वाले मुख से युक्त, अत्यधिक झुकी हुई भुजाओं से युक्त (तथा जो) जल देने के कारण हरे-भरे और नवीन पत्तों से युक्त, आम्र वृक्ष के पास कुछ थकी हुई-सी चित्रित की गई है, वह शकुन्तला है । दूसरी दो (उसकी) सखियाँ हैं ।

राजा—निपुणो भवान् । अस्त्यत्र मे भावचिह्नम् ।

स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः ।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्णिकोच्छ्वासात् ॥१५॥

चतुरिके ! अर्धलिखितमेतद् विनोदस्थानम् । गच्छ, वर्तिकां तावदानय ।

अन्वयः—रेखाप्रान्तेषु मलिनः स्विन्नांगुलिविनिवेशः दृश्यते । वर्णिकोच्छ्वासात् इदं च कपोलपतितं अश्रु दृश्यम् ।

संस्कृत-व्याख्या—रेखाप्रान्तेषु = चित्रपटस्य पर्यन्तभागेषु, मलिनः = कृष्णवर्णः, स्विन्नांगुलिविनिवेशः = स्विन्नानां स्वेदयुक्तानां अंगुलीनां विनिवेशः संस्थापनं विन्यासः, दृश्यते = लक्ष्यते । वर्णिकोच्छ्वासात् = वर्णिकायाः चित्रसाधनीभूतलेपस्य उच्छ्वासात् स्फीतताहेतोः, इदं च = एतच्च, कपोलपतितम् = कपोले चित्रगतायाः शकुन्तलायाः गण्डस्थले पतितम्, अश्रु = मदीयं नेत्रजलम्, दृश्यम् = द्रष्टुं शक्यम् ।

राजा—आप चतुर हैं । इस (चित्र) में मेरे भावों का संकेत है ।

चित्र के किनारों पर पसीने से युक्त अँगुलियों के रखने से मैला चिह्न दृष्टिगोचर हो रहा है । रंग के फूल जाने के कारण (चित्रगत शकुन्तला) के गालों पर पड़ा हुआ (मेरा) आँसू देखा जा सकता है ।

चतुरिका ! यह मनोरंजन का साधन अभी अधूरा ही चित्रित किया गया है । जा, कूँची लेकर आ ।

विशेष—इस श्लोक में चित्रकर्म के समय दुष्यन्त के नेत्रों से चित्र के ऊपर गिरा हुआ (दुष्यन्त का) अश्रु रंग के फूल जाने के कारण स्पष्ट रूप से प्रतीयमान हो रहा है । इस प्रकार उसका यह अश्रु सात्त्विकभाव का द्योतक है ।

अलंकार—उक्त श्लोक में सात्त्विक स्वेद से युक्त अँगुलियों के द्वारा राजा दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति भाव-विह्वलता का अनुमान सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है, अतः इसमें अनुमान अलंकार है। **छन्द**—इसमें आर्या छन्द है।

समास आदि—मोघदृष्टिः = मोघा दृष्टिः यस्य सः (बहुव्रीहि)। 'मोहदृष्टि' पाठ होने पर मोहयुक्ता दृष्टिः इति। **शिथिलबन्धनोदवान्तकुसमेन** = शिथिलं यत् बन्धनं तस्मात् उद्वान्तानि कुसुमानि यस्मात् तेन। **उद्भिन्नस्वेदबिन्दुना** = उद्भिन्नाः स्वेदस्य बिन्दवः यस्मिन् तेन (बहुव्रीहि)। **अवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य** = अवसेकेन स्निग्धानि तरुणानि (नूतनानि) पल्लवानि यस्य तस्य। **भावचिह्नम्** = भावस्य चिह्नम् (तत्पुरुष)। **स्विन्नांगुलिविनिवेशः** = स्विन्नानां अंगुलीनां विनिवेशः (तत्पुरुष)। **रेखाप्रान्तेषु** = रेखाणां प्रान्तेषु (तत्पुरुष)। **वर्णिकोच्छ्वासात्** = वर्णिकायाः उच्छ्वासात् (तत्पुरुष) **अर्धलिखितम्** = अर्धं यथा स्यात्तथा लिखितम्। **विनोदस्थानम्** = विनोदस्य स्थानम् (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—पश्चात्तापगुरोः = पश्चात्ताप के कारण वृद्धि को प्राप्त हुए। **अनवलेपस्य** = अभिमानहीनता के। पश्चात्ताप के कारण राजा का प्रेम शकुन्तला के प्रति और भी बढ़ गया है तथा उसका अभिमान भी समाप्त हो चुका है। इसी कारण शकुन्तला के प्रति वह अपने उच्च भावों को अभिव्यक्त कर रहा है। **मोघदृष्टिः** = निरर्थक है दृष्टि जिसकी (ऐसा यह विदूषक है।) **शिथिलबन्धनोद्वान्तकुसुमेन** = बन्धन के ढीले हो जाने के कारण जिसकी वेणी से फूल टपक रहे हैं (नीचे गिर रहे हैं) ऐसे केश-पाश वाली। **उद्भिन्नस्वेदबिन्दुना** = प्रकट हो गई हैं पसीने की बूंदें जिस पर ऐसा (शकुन्तला का) मुख। **विशेषतः** = विशेष रूप से। **अपसृत** = झुकी हुई अथवा अवनत। **निपुणः** = चतुर। तुमने चित्र से ही पहले कभी न देखी गई हुई शकुन्तला को पहचान लिया है, अतः तुम चतुर हो। **भावचिह्नम्** = भावों का संकेत। शकुन्तला के इस चित्र में मेरे भावों का संकेत है। **भाव** = सात्त्विक-भाव। **चिह्न** = संकेत। **स्विन्नांगुलिविनिवेशः** = पसीने से युक्त अँगुलियों का रक्खा जाना अर्थात् स्वेदयुक्त अँगुलियों की छाप। **रेखाप्रान्तेषु** = चित्रपट के किनारों पर। यहाँ पर 'रेखा' शब्द का भाव चित्र अथवा चित्रपट से है। **कपोलपतितम् अश्रु** = (चित्र में विद्यमान शकुन्तला के) गाल पर गिरा हुआ आँसू। जिस समय राजा चित्रफलक पर शकुन्तला के चित्र को खींच रहा था उस समय शोक-विह्वल राजा की आँखों में आँसू भर आये थे। उन आँसुओं में से एक अश्रु चित्रगत शकुन्तला के गाल पर भी गिर गया था। **वर्णिकोच्छ्वासात्** = रंग के उभर आने से। जिस स्थान पर राजा का अश्रु गिर गया था, वह स्थान अपनी सतह से कुछ ऊँचा उठ गया था तथा वहाँ का रंग भी कुछ फैल गया था। (**पाठभेद—वर्तिकोच्छ्वासात्** = चित्रपट के लेप के फूल जाने के कारण। **वर्णकोच्छ्वासात्** = रंग के फैल जाने से। वर्णिका तथा वर्णक दोनों का अर्थ 'रंग' है)। **वर्तिकाम्** = चित्र में रंग के भरने के कार्य में काम आने वाली कूँची।

चतुरिका—[अज्ज माढव्व ! अवलम्ब चित्तफलअं जाव आअच्छामि ।] आर्य माढव्य ! अवलम्बस्व चित्रफलकं यावदागच्छामि ।

चतुरिका—आर्य माढव्य ! ज़रा इस चित्रपट को पकड़ लीजिये, तब तक मैं लौटकर आती हूँ ।

राजा—अहमेवैतदवलम्बे (इति यथोक्तं करोति ।)

(निष्क्रान्ता चेटी ।)

राजा—मैं ही इसे पकड़ लेता हूँ । (कथनानुसार करता है ।)

(चेटी चली जाती है ।)

राजा—(निःश्वस्य) अहं हि—

साक्षात् प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं
चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः ।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य
जातः सखे ! प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम् ॥१६॥

अन्वयः—हे सखे ! पूर्वं साक्षात् उपगतां प्रियां अपहाय पुनः चित्रार्पितां इमां बहुमन्यमानः (अहम्) पथि निकामजलां स्रोतोवहां अतीत्य मृगतृष्णिकायां प्रणयवान् जातः ।

संस्कृत-व्याख्या—हे सखे ! = हे मित्र !, पूर्वम् = प्राक्, साक्षात् = प्रत्यक्षं स्वयम्, उपगताम् = उप-समीपे गतां—प्राप्ताम्, प्रियाम् = शकुन्तलाम्, अपहाय = उपेक्षया अतिक्रम्य परित्यज्य वा, पुनः = अधुना, चित्रार्पिताम् = चित्रे आलेख्ये अर्पिताम् अंकिताम्, इमाम् = शकुन्तलाम्, बहुमन्यमानः = अत्यादरेण अवलोकमानः सन्, पथि = मार्गे, निकामजलाम् = निकामं प्रभूतं जलं यस्यां तादृशीम्, स्रोतोवहाम् = नदीम्, अतीत्य = अतिक्रम्य परित्यज्य वा, मृगतृष्णिकायाम् = नदीवदाभासमानायां मरुमरीचिकायाम्, प्रणयवान् = प्रीतियुक्तः साभिलाषो वा, जातः = संवृत्तोऽस्मि । मार्गे प्राप्तां स्वादूदकां नदीं त्यक्त्वा मृगमरीचिकानुसरणं यथा हास्यकरम्, स्वयमागतां शकुन्तलां विहाय काल्पनिके तच्चित्रे समादरोऽपि तथैव इति भावः ।

राजा—(लम्बी साँस लेकर) मैं तो—

हे मित्र ! पहले साक्षात् रूप से समीप में आई हुई प्रिया (शकुन्तला) को

छोड़कर, अब चित्रगत इसको बहुत मानता हुआ (मैं) मार्ग में स्थित पर्याप्त जल से परिपूर्ण नदी को छोड़कर मृगमरीचिका का अभिलाषी हो गया हूँ।

अलंकार:—इस श्लोक में असम्भवद् वस्तुसम्बन्धरूपा (असंभव के सदृश वस्तु के साथ सम्बन्ध का वर्णन किये जाने से) निदर्शना अलंकार है। इसका लक्षण है :—

"सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ॥"

छन्द—इसमें वसन्ततिलका वृत्त है।

व्याकरण:—**अतीत्य** = अति + इ + ल्यप्। **प्रणयवान्** = 'प्रणय' शब्द 'सुखादि' गण के अन्तर्गत आता है। अतः मत्वर्थ में "सुखादिभ्यश्च" अष्टा० ५।२।१३१। से 'इनि' प्रत्यय होकर 'प्रणयी' रूप बनता है। कालिदास द्वारा प्रयुक्त 'प्रणयवान्' शब्द आर्ष प्रयोग ही हो सकता है। उन्होंने प्रणयिन् और प्रणयवत् दोनों ही शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है—"अंकाश्रयप्रणयिनः" (अभिज्ञानशा० ७।१७।), "प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं···इत्यादि" (रघुवंश ९।३१।) तथा "सा हि प्रणयवती"...(रघुवंश—११।५७।)।

समास आदि—**स्रोतोवहाम्** = वहतीति वहा, स्रोतसो वहा स्रोतोवहा। **निकामजलाम्** = निकामं जलं यस्यां ताम् (बहुव्रीहि)। **मृगतृष्णिका** = मृगाणां तृष्णा मृगतृष्णा, सा अस्ति अस्मिन् इति मृगतृष्णा सैव मृगतृष्णिका।

टिप्पणियाँ—**स्रोतोवहाम्** = नदी को। **निकामजलाम्** = यथेष्ट, पर्याप्त जल-वाली अथवा विपुल जल से परिपूर्ण। **अतीत्य** = पार करके, अतिक्रमण करके अथवा बीच में ही छोड़कर। **प्रणयवान्** = प्रीतियुक्त अथवा अभिलाषा से युक्त। **मृगतृष्णिका**—मरुस्थल प्रदेश सूर्य की किरणों के सहयोग से दूर से ही जल के रूप में दृष्टिगोचर हुआ करते हैं। मृग इसको वस्तुतः जल समझ कर अपनी प्यास बुझाने के निमित्त उधर दौड़कर जाता है किन्तु उसे वहाँ जल की प्राप्ति नहीं होती है, परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो जाया करती है। दूसरे शब्दों में इसी को मरुमरीचिका भी कहा जाता है। इस श्लोक में वर्णित राजा की दशा भी ऐसी ही है कि उसने अपने समक्ष स्वयं उपस्थित हुई शकुन्तला का परित्याग कर दिया है और अब वह मृगतृष्णा के सदृश शकुन्तला के चित्र को बहुत मान रहा है। उसको अत्यधिक आदर प्रदान कर रहा है।

विदूषकः—(आत्मगतम्) [एसो अत्तभवं णदिं अदिक्कमिअ मिअतिण्हिआं संकन्तो। भो! अवरं किं एत्थ लिहिदव्वम्।] एषोऽत्रभवान् नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां संक्रान्तः। (प्रकाशम्) भोः! अपरं किमत्र लेखितव्यम्?

विदूषक—(मन में) यह महाराज तो नदी को पार करके मृगतृष्णा में फँस गये हैं। (प्रकट रूप से) अरे! इसमें (अब आपको) और क्या लिखना (बनाना) है ?

सानुमती—[जो जो पदेसो सहीए मे अहिरूवो तं तं आलिहिदुकामो भवे।] यो यः प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालेखितुकामो भवेत्।

सानुमती—मेरी सखी को जो-जो स्थान पसन्द हैं उनको यह अंकित करना चाहते होंगे।

राजा—श्रूयताम्—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥१७॥

अन्वयः—सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी (नाम) स्रोतोवहा कार्या। ताम् अभितः निषण्णहरिणाः गौरीगुरोः पावनाः पादाः (कार्याः)। शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोः अधः कृष्णमृगस्य शृंगे वामनयनं कण्डूयमानां मृगीं निर्मातुं इच्छामि।

संस्कृत-व्याख्या—सैकतलीनहंसमिथुना = सैकतेषु बालुकामयपुलिनेषु लीनानि सुखोपविष्टानि हंसमिथुनानि हंसानां द्वन्द्वानि यस्याः सा, मालिनी = तन्नाम्नी, स्रोतोवहा = नदी, कार्या = आलेख्या चित्रयितव्या वा। ताम् = मालिनीम्, अभितः = उभयतः पार्श्वतः वा, निषण्णहरिणाः = निषण्णाः उपविष्टाः हरिणाः मृगाः येषु ते, गौरीगुरोः = गौर्याः शिवायाः गुरोः पितुः हिमालयस्येत्यर्थः, पावनाः = पवित्राः, पादाः = चरणाः प्रत्यन्त-पर्वता इत्यर्थः, कार्याः = आलेख्याः। शाखालम्बितवल्कलस्य = शाखासु लम्बितानि अवसक्तानि वल्कलानि वृक्षत्वचः अथवा तपस्विनां वल्कलवस्त्राणि यस्य तादृशस्य, तरोः = कस्यचिद् वृक्षस्य, अधः = तले, कृष्णमृगस्य = कृष्णसाराख्यहरिणविशेषस्य, शृंगे = विषाणे, वामनयनम् = निजं वामचक्षुः, कण्डूयमानाम् = कण्डूं खर्जनं कुर्वतीं, मृगीं च = हरिणीं च, निर्मातुम् = चित्रयितुं आलेखितुं वा, इच्छामि = वाञ्छामि।

राजा—सुनो

जिसके रेतीले किनारे पर हंसों के जोड़े बैठे हुए हैं ऐसी मालिनी नदी बनानी

(चित्रित करना) है। उसके दोनों ओर हिमालय की पवित्र पहाड़ियों का चित्र अंकित करना है (कि) जिन पर हरिण बैठे हों। जिसकी शाखाओं पर वल्कल अथवा तपस्वियों के वल्कल वस्त्र लटके हुए हैं ऐसे एक वृक्ष के नीचे काले हरिण के सींग पर बाईं आँख को खुजलाती हुई हरिणी को बनाना चाहता हूँ।

अलंकार:—इस श्लोक में "कार्या" इस एक क्रिया से ही अप्रस्तुत "मालिनी" तथा "पादा:" दोनों का सम्बन्ध होने के कारण 'तुल्ययोगिता' अलंकार है। सूक्ष्म रूप से वस्तु का स्वाभाविक कथन किये जाने से 'स्वभावोक्ति' अलंकार है। **छन्द**:—इसमें शार्दूलविक्रीडित वृत्त है।

व्याकरण:—**लेखितव्यम्** = लिख् + तव्य। **सैकत** = सिकता: सन्त्यत्र इति, सिकता + अण्। **निषण्ण** = नि + सद् + क्त। *समास आदि*:—**आलेखितुकामः** = आलेखितुं कामः यस्य सः। यहाँ 'तुं काम मनसोरपि'—नियम से म् का लोप हो जाता है। **सैकतलीनहंसमिथुना** = सैकते लीनानि हंसमिथुनानि यत्र सा (बहुव्रीहि)। **निषण्णहरिणाः**—निषण्णाः हरिणाः येषु ते (बहुव्रीहि)। **शाखालम्बितवल्कलस्य** = शाखासु लम्बितानि वल्कलानि यस्य तस्य (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**अभिरूपः** = पसन्द, रुचिकर। यहाँ पर यही अर्थ है। वैसे अभिरूप शब्द का अर्थ विद्वान् भी होता है। **आलेखितुकामः** = बनाने अथवा चित्रित करने का इच्छुक। **कार्या** = (चित्रित) किया जाना है। **सैकतलीनहंसमिथुना** = बालुकामय अथवा रेतीले किनारे पर बैठे हुए हैं हंसों के जोड़े जिसमें (ऐसी नदी)। **गौरीगुरोः पादाः** = पार्वती के पिता (अर्थात् हिमालय पर्वत) की तलहटियाँ अथवा हिमालय के नीचे की ओर स्थित छोटी पहाड़ियाँ। **निषण्णहरिणाः** = बैठे हुए हरिणों से युक्त। **तामभितः** = उस (नदी) के दोनों ओर। **शाखालम्बितवल्कलस्य** = शाखाओं पर लटके हुए हैं वल्कल अथवा वल्कलवस्त्र जिसकी (ऐसे वृक्ष के)। **कृष्णमृगस्य** = काले हरिण के। काला हरिण स्थान की पवित्रता का द्योतक होता है।

विदूषक:—(आत्मगतम्) [जह अहं देक्खामि पूरिदव्वं णेण चित्तफलअं लम्बकुच्चाणं तावसाणं कदम्बेहिं।] यथा अहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलकं लम्बकूर्चानां तापसानां कदम्बैः।

विदूषक—(मन में) (इनकी बातों से) मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि ये इस चित्रपट को लम्बी दाढ़ी वाले तपस्वियों के समूह से भर देंगे।

राजा—वयस्य ! अन्यच्च। शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्र विस्मृतमस्माभिः।

राजा—मित्र ! और हमें शकुन्तला को अलंकृत करना भी अभीष्ट है जिसे कि हम भूल गये हैं।

विदूषकः—[किं विअ ?] किमिव ?

विदूषक—वह क्या ?

सानुमती—[वणवासस्स सोउमारस्स विणअस्स अ जं सरिसं भविस्सदि ।] वनवासस्य सौकुमार्यस्य विनयस्य च यत्सदृशं भविष्यति ।

सानुमती—जो उसके वनवास, सुकुमारता तथा विनय के अनुकूल होगा।

राजा—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे !
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ।।१८।।

अन्वयः—हे सखे ! कर्णार्पितबन्धनं आगण्डविलम्बिकेसरं शिरीषं न कृतम् । स्तनान्तरे शरच्चन्द्रमरीचि-कोमलं मृणालसूत्रं न रचितं वा ।

संस्कृत-व्याख्याः—हे सखे ! = हे मित्र !, कर्णार्पितबन्धनम् = कर्णयोः श्रोत्रयोः अर्पितं निवेशितं बन्धनं वृन्तं यस्य तादृशम्, आगण्डविलम्बिकेसरम् = आगण्डं कपोलपर्यन्तं विलम्बिनः लम्बमानाः केसराः किञ्जल्काः यस्य तत् तथोक्तम्, शिरीषम् = तदाख्यपुष्पम्, न कृतम् = न चित्रितम् विस्मरणादिति भावः । तथा स्तनान्तरे = स्तनयोः अन्तरे मध्ये, शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम् = शरच्चन्द्रस्य शरदिन्दोः मरीचिवत् किरणवत् कोमलं सुकुमारम्, मृणालसूत्रम् = मृणालमयो हारः, न रचितं वा = विस्मरणान्न वा चित्रितम् । एतदुभयं विस्मरणवशात् न चित्रितं सम्प्रति तच्चित्रयितुमिच्छामीति भावः ।

राजा—हे मित्र ! कानों में संलग्न डंठलों वाला और गालों तक फैले हुए पराग से युक्त शिरीष का फूल नहीं बनाया है। तथा उसके स्तनों के बीच में शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों के सदृश (श्वेत) मृणाल (कमल-नाल) का हार (भी) नहीं बनाया है।

अलंकारः—इस श्लोक में दो क्रियाओं के संग्रह के कारण 'समुच्चय' अलंकार है । "शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम्" में लुप्तोपमा अलंकार है । **छन्दः**—इसमें वंशस्थ वृत्त है ।

समास आदि—**लम्बकूर्चानाम्**=लम्बाः कूर्चाः येषां ते (बहुव्रीहि) तेषाम् (तापसानाम्)। **कर्णार्पितबन्धनम्**=कर्णयोः अर्पितं बन्धनं यस्य तत् (बहुव्रीहि)। **आगण्डविलम्बिकेसरम्**=आगण्डं विलम्बिनः केसराः यस्य तत् (बहुव्रीहि)। **शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम्**=शरच्चन्द्रस्य मरीचिवत् कोमलम् (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**यथाहं पश्यामि**=जैसा कि मैं देखता हूँ। अभिप्राय यह है—राजा के कथन से ज्ञात होता है कि **लम्बकूर्चानाम्**=लम्बी दाढ़ी वाले। **कदम्बैः**=समूह से, झुण्ड से। कदम्ब शब्द का अर्थ है समूह। **अभिप्रेतम्**=इस स्थल पर प्रसंगवशात् दो अर्थ किये जा सकते हैं (१) जो अलंकारों आदि के द्वारा प्रसाधन (सजावट) शकुन्तला को रुचिकर था। अथवा (२) शकुन्तला का जो प्रसाधन करना मुझे अभिलषित था। **वनवासस्य···यत्सदृशं भविष्यति**=जो वनवास, सुकुमारता तथा विनय के अनुरूप होगा। सानुमती ने इस स्थल पर यह भाव प्रकट किया है कि राजा शकुन्तला का वन-सुलभ (पुष्प आदि) वस्तुओं के द्वारा हल्का-सा प्रसाधन करना चाहेगा जो उसके (शकुन्तला के) वन-वास, कोमलता तथा लज्जाशीलता के अनुकूल ही होगा। यहाँ विनय से भाव "लज्जाशील होना" है। इस स्थान पर निर्णयसागर संस्करण में—'अविनयस्य' पाठ पूर्णतया अनुपयुक्त ही प्रतीत होता है। **कर्णार्पितबन्धनम्**=कान में लगा हुआ है डंठल जिसका ऐसा शिरीष का फूल। कहने का भाव यह है कि शिरीष के फूल का डंठल कान में फँसाया जायगा तथा उसका अवशिष्ट भाग गालों पर लटकता हुआ रहेगा। **आगण्डविलम्बिकेसरम्**=गाल तक लटके हुए हैं पराग के भाग जिसके। यहाँ केसर शब्द का अर्थ है :—पराग तथा फूल का नीचे की ओर लटकने वाला भाग। **शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम्**=शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों के सदृश सुकोमल (कमलनाल)। यहाँ पर 'कोमल' शब्द के श्वेत तथा मृदु दोनों ही अर्थ लिये जा सकते हैं। **मृणालसूत्रम्**=कमलनाल (कमलदण्ड) से निर्मित हार।

विदूषकः—[भो ! किं णु तत्तहोदी रक्तकुवलअपल्लवसोहिणा अग्गहत्थेण मुहं आवारिअ चइदचइदा विअ ट्ठिआ। आ, एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए वअणकमलं अहिलंगेदि महुअरो।] भोः ! किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमावार्य चकितचकितेव स्थिता। (सावधानं निरूप्य दृष्ट्वा) आः, एषा दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्या वदनकमलमभिलङ्घते मधुकरः।

विदूषक—अरे, यह श्रीमती लाल कमल के पत्ते के सदृश सुशोभित हाथ

के अगले भाग (अंगुलियों) से मुख को ढककर बहुत घबराई हुई-सी (अथवा डरी हुई-सी) क्यों खड़ी हैं ? (सावधानता से विचार कर देखकर) ओह, यह दासी का पुत्र (अर्थात् नीच), फूलों के रस को चुराने वाला भ्रमर इन देवी जी के मुख-कमल पर आक्रमण कर रहा है ।

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः ।

राजा—तो इस उद्दण्ड को रोको ।

विदूषकः—[भवं एव्व अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सदि ।] भवानेवाविनीतानां शासिताऽस्य वारणे प्रभविष्यति ।

विदूषक—उद्दण्ड लोगों को दण्ड देने वाले आप ही इसको रोकने में समर्थ हो सकेंगे ।

राजा—युज्यते । अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे ! किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि ?

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता ।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥१९॥

अन्वयः—अनुरक्ता एषा मधुकरी तृषिता कुसुमनिषण्णा सती अपि भवन्तं प्रतिपालयति । त्वया विना न खलु मधु पिबति ।

संस्कृत-व्याख्या—अनुरक्ता = अनुरागवती, एषा = पुरःस्थिता, मधुकरी = भ्रमरी, तृषिता = पिपासिता, कुसुमनिषण्णा = कुसुमे पुष्पे निषण्णा उपविष्टा, सत्यपि = भवन्त्यपि, भवन्तम् = मधुकरम्, प्रतिपालयति = प्रतीक्षते, त्वया = त्वया पत्या, विना = विरहिता, न खलु = नैव मधु = पुष्परसं, न, पिबति = गृह्णाति ।

राजा—ठीक है । अरे ओ पुष्पों वाली लता के प्रिय अतिथि ! यहाँ आने का कष्ट क्यों उठा रहे हो ? (अर्थात् तुम इस शकुन्तला के चारों ओर चक्कर काटने का कष्ट क्यों उठा रहे हो ?)

तुमसे प्रेम करने वाली यह भ्रमरी प्यासी होने पर (भी), फूल पर बैठी हुई होने पर भी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है । तुझ (पति के) बिना यह पुष्परस (मधु) का पान नहीं कर रही है ।

अलंकार—यहाँ प्रस्तुत भ्रमरी एवं भ्रमर के वृत्तान्त से अप्रस्तुत नायक-नायिका के व्यवहार की प्रतीति होने से समासोक्ति अलंकार है । छन्द—इसमें आर्या छन्द है ।

व्याकरण—प्रतिपालयति = प्रति + पा + णिच् + लट् । *समास आदि*—रक्तकुवलयपल्लवशोभिना—रक्तकुवलयस्य पल्लवः (तत्पुरुष) । तद्वत् शोभिना । **चकितचकिता** = चकितात् चकिता । ('सहसुपा' से समास) **कुसुमरसपाटच्चरः** = कुसुमरसस्य पाटच्चरः चौरः (तत्पुरुष) । **कुसुमलताप्रियातिथे** = कुसुमैः सन्नद्धा लता, कुसुमलता तस्याः प्रियः अतिथिः तत्सम्बोधने । **कुसुमनिषण्णा** = कुसुमे निषण्णा (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**रक्तकुवलयपल्लवशोभिना** = लाल कमल के पत्तों के सदृश सुन्दर (अँगुलियों से) । 'कुवलय' शब्द का अर्थ होता है—नीलकमल । अतः यहाँ पर इस शब्द का प्रयोग उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है । यदि 'रक्तपल्लवशोभिना' पाठ रक्खा जाये तो वह अधिक उपयुक्त होगा । **मुखमावार्य** = मुख को ढककर । इससे विदित होता है कि शकुन्तला के चित्र में भ्रमर का आक्रमण भी चित्रित किया गया था । **चकितचकिता** = अत्यधिक भयभीत हुई । यहाँ पर "प्रकारे गुणवचनस्य" अष्टा० ८।१।१२ । से द्वित्व नहीं होता है क्योंकि 'प्रकार' से तात्पर्य है सादृश्य तथा सादृश्य अर्थ 'इव' के द्वारा प्रकट होता है । अतः 'सामान्ये नपुंसकम्' से नपुंसकलिंग करके चकितम् (भयभीत) तथा चकितात् चकिता—'सहसुपा' से समास होता है । **दास्याः पुत्रः** = दासी का पुत्र अर्थात् नीच अथवा दुष्ट । संस्कृत भाषा में इस शब्द का प्रयोग गाली के रूप में किया गया है । जब गाली देना अभीष्ट हुआ करता है तब दासी शब्द से षष्ठी-समास होने पर भी विभक्ति का लोप नहीं होता है । **पाटच्चरः** = चोर । **अविनीतानां शासिता** = उद्धत लोगों को दण्ड देने वाला । **वारणे** = हटाने में । **परिपतनखेदम्** = चारों ओर चक्कर काटने का कष्ट । **कुसुमनिषण्णा** = फूल पर बैठी हुई । प्यासी होने के कारण भ्रमरी फूल पर बैठी हुई है । **भवन्तम्**—इस शब्द का सम्बन्ध 'अनुरक्ता' तथा 'प्रतिपालयति' दोनों ही शब्दों के साथ किया जा सकता है । 'अनुरक्ता' के साथ सम्बन्ध करने पर अर्थ होगा—"आप पर आसक्त" । तथा 'प्रतिपालयति' के साथ सम्बन्ध करने पर "आपकी प्रतीक्षा कर रही है" अर्थ होगा । **प्रतिपालयति** = प्रतीक्षा कर रही है ।

सानुमती—[अज्ज अभिजादं खु एसो वारिदो ।] अद्याभिजात खल्वेष वारितः ।

सानुमती—इस समय इन्होंने बड़े शिष्ट ढंग से इसको रोका है ।

विदूषकः—[पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी ।] प्रतिषिद्धाऽपि वामैषा जातिः ।

विदूषक—रोके जाने पर भी यह जाति उल्टा ही काम करती है ।

राजा—एवं भोः, न मे शासने तिष्ठसि । श्रूयतां र्ताह सम्प्रति—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु ।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद् भ्रमर प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥२०॥

अन्वयः—हे भ्रमर ! अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं मया रतोत्सवेषु सदयं एव पीतं प्रियायाः बिम्बाधरं स्पृशसि चेत्, त्वां कमलोदरबन्धनस्थं कारयामि ।

संस्कृत-व्याख्या—हे भ्रमर ! = हे मधुकर !, अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयम् = अक्लिष्टः अमृदितः अशुष्क इति वा यो बालः नूतनः अभिनवोदितः वा तरुपल्लवः वृक्षपत्रं तदिव लोभनीयं चित्ताकर्षकम्, मया = दुष्यन्तेन, रतोत्सवेषु = सुरतोत्सवेषु. सदयमेव = सानुकम्पमेव, पीतम् = आस्वादितं चुम्बितं वा, प्रियायाः = शकुन्तलायाः, बिम्बाधरम् = पक्वबिम्बफलसदृशमोष्ठम्, स्पृशसि = दशसि स्पर्शेन दूषयसि वा, चेत्तर्हि, त्वाम् = भ्रमरम्, कमलोदरबन्धनस्थम् = कमलस्य पद्मस्य उदररूपं मध्यभागरूपं यद् बन्धनं कारागृहं तत्र तिष्ठति यस्तादृशम्, कारयामि ।

राजा—अरे ! अच्छा ऐसी बात है । तू मेरी आज्ञा नहीं मानेगा तो अब यह सुन—

हे भ्रमर ! न मुरझाये हुए और नवीन तरुपल्लव के सदृश मनोहर तथा मेरे द्वारा रति-समय में दयापूर्वक पान किये गये प्रिया के बिम्बाफल के समान अधर का यदि तू स्पर्श करता है तो मैं तुझे कमल के मध्य भाग रूपी कारागृह में बन्द करा दूंगा ।

अलङ्कार—भ्रमर तो स्वयं ही कमल में बन्द हो जाया करता है, यह उसका स्वाभाविक बन्धन है । किन्तु राजा ने इस बन्धन को अपने प्रयोजन का विषय बना लिया है । अतः अतिशयोक्ति अलंकार है । इसके अतिरिक्त यहाँ भ्रमर में प्रतिनायक के व्यवहार का आरोप भी किया गया है । अतः 'समासोक्ति' अलंकार है । *छन्दः*—इस श्लोक में वसन्ततिलका वृत्त है ।

समास आदि—**अक्लिष्टबालतरुपल्लवशोभनीयम्** = अक्लिष्टः बालश्च यः तरुपल्लवः तद्वत् लोभनीयम् (कर्मधारय) । **बिम्बाधरम्** = बिम्बाकारः बिम्बसदृशो वा अधरः बिम्बाधरः । **कमलोदरबन्धनस्थम्** = कमलस्य उदररूपं यद् बन्धनं तत्र तिष्ठतीति ।

टिप्पणियाँ—**अभिजातम्** = अभिजात शब्द का अर्थ होता है कुलीन। उचित प्रकार से, 'शिष्ट ढंग से अथवा शिष्टतापूर्वक। (राजा के पूर्वोक्त कथन में) राजा ने भ्रमर को कुलीन व्यक्ति की भाँति ही शिष्टतापूर्वक रोकने का प्रयास किया है। **वामा** = विपरीत, उलटी। जिस काम को करने के लिये मना किया जाता है, उसी को यह बार-बार कर रहा है। **न मे शासने तिष्ठसि** = मेरे शासन (आज्ञा) में स्थित नहीं रहते हो अर्थात् मेरी आज्ञा को नहीं मानते हो। **अक्लिष्टबालतरु०** इत्यादि में 'अक्लिष्ट' शब्द के दो प्रकार के अर्थ किये जा सकते हैं (१) न मुरझाया हुआ अथवा न सूखा हुआ। (२) न तोड़ा गया हुआ अथवा न विगाड़ा गया हुआ। इस शब्द के द्वारा निम्न ओष्ठ की रक्तिमा (ललामी) तथा कोमलता का भाव स्पष्ट हो जाता है। **सदयम्** = मैंने (दुष्यन्त ने) दयापूर्वक उस (शकुन्तला) के अधर का चुम्बन किया। इसके द्वारा भी अधर के कोमल होने का भाव ही सूचित होता है। **बिम्बाधरम्** = बिम्बाफल के सदृश रक्तवर्ण का अधर। नवयुवतियों के अधरोष्ठ की तुलना बिम्बाफल से की जाती है। यह एक रक्त (लाल) वर्ण का फल हुआ करता है। **कमलोदरबन्धनस्थम्** = कमल के पुष्प के मध्यभागरूपी कारागृह में निवास करने वाला।

विशेष—राजा की स्थिति उदासीन है। अतः इस श्लोक में वर्णित चित्रगत भ्रमर को वह वास्तविक भ्रमर समझ कर ही उसे कारागृह में बन्द कर देने आदि की बात को कह रहा है।

इस श्लोक में राजा द्वारा भ्रमर के सम्बन्ध में जो घोषणा की जा रही है, इसके कारण यहाँ व्यवसाय नामक विमर्श-सन्धि का अंग विद्यमान है।

विदूषकः—[एव्वं तिक्खणदण्डस्स किं ण भाइस्सदि ? एसो। दाव उम्मत्तो। अहं पि एदस्स संगेण ईदिसवण्णो विअ संवुत्तो। भो ! चित्तं क्खु एदं।] एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति ? (प्रहस्य। आत्मगतम्) एष तावदुन्मत्तः। अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव संवृत्तः। (प्रकाशम्) भोः ! चित्रं खल्वेतत्।

विदूषक—इस प्रकार कठोर दण्ड देने वाले तुमसे यह क्यों न डरेगा ? (हँस कर। मन में) यह तो पागल से हो गये हैं। मैं भी इनके साथ के कारण इसी प्रकार का हो गया हूँ। (प्रकट में) अरे ! यह तो चित्र है।

राजा—कथं चित्रम् ?

राजा—क्या (यह) चित्र है ?

सानुमती—[अहं पि दाणिं अवगदत्था। किं उण जहालिहि-

दाणुभावी एसो ।] अहमपीदानीमवगतार्था । किं पुनर्यथालिखिता-नुभाव्येषः ।

सानुमती—मैंने भी अब वास्तविकता को समझा है । जैसा चित्र में लिखा है, उसी प्रकार का अनुभव करने वाले इस (राजा) का तो कहना ही क्या ?

राजा—वयस्य ! किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् ?

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन ।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥२१॥

(इति बाष्पं विहरति ।)

अन्वयः—तन्मयेन हृदयेन साक्षात् इव दर्शनसुखम् अनुभवतः मे स्मृति-कारिणा त्वया कान्ता पुनरपि चित्रीकृता ।

संस्कृत-व्याख्या—तन्मयेन = शकुन्तलामयेन, हृदयेन = मनसा, इयमेव प्रिया शकुन्तला इति बुद्ध्वा, साक्षात् इव = प्रत्यक्षत इव 'साक्षात् प्रत्यक्ष-तुल्ययोः' इत्यमरः । दर्शनसुखम् = प्रियावलोकनानन्दम्, अनुभवतः = विभाव-यतः, मे = मम, स्मृतिकारिणा = चित्रमिदमिति स्मरणं जनयता, त्वया = विदू-षकेन, कान्ता = प्रिया, पुनरपि = भूयोऽपि, चित्रीकृता = चित्रत्वेन परिणमिता ।

राजा—हे मित्र ! तुमने यह कैसी धृष्टता कर दी ?

तन्मय हृदय से मानो प्रत्यक्ष (शकुन्तला के) दर्शन के सुख का अनुभव करने वाले मुझ को स्मरण करा देने वाले तुमने प्रिया (शकुन्तला) को पुनः चित्र बना दिया ।

(यह कहकर आँसू बहाता है ।)

अलङ्कार—इस श्लोक में 'इव' उत्प्रेक्षावाचक है, अतः उत्प्रेक्षा अलंकार है । **छन्द**—इसमें आर्या छन्द है ।

व्याकरण—स्मृतिकारिणा = स्मृति + कृ + णिनि । ***समास आदि***—**ईदृश-वर्णः** = ईदृशो वर्णो यस्य सः (बहुव्रीहि) । **अवगतार्था** = अवगतः अर्थः यया सा (बहुव्रीहि) । **यथालिखितानुभावी** = लिखितमनतिक्रम्य यथालिखितं तथाऽनुभवतीति यथालिखितानुभावी । **पौरोभाग्यम्** = पुरोभागी दोषैकदृक् तस्य भावः पौरोभाग्यम्—छिद्रान्वेषित्वं धार्ष्ट्यं मौर्ख्यं वा । **स्मृतिकारिणा** = स्मृतिं करोतीति, तेन ।

टिप्पणियाँ—**तीक्ष्णदण्डस्य** = तीक्ष्ण (भयंकर) दण्ड देने वाले (आपसे) । **प्रहस्य** = (हँसकर) राजा की उन्मत्ततापूर्ण दशा का अवलोकन कर विदूषक हँसता है । **ईदृशवर्णः** = इसी वर्ण अथवा रंग का । भाव यह है कि इसी प्रकार

का । अहमपादानानिवर्तीया = मैं अब वास्तविकता [illegible] कि यह चित्र है । इस समय तक सानुमती समझ रही थी कि वस्तुतः कोई भौंरा चित्र पर वैठा हुआ है जिसे राजा उड़ाना चाहता है । किन्तु विदूषक द्वारा यह कथन किये जाने पर कि "यह चित्र है" से भी स्मरण होता है कि भौंरा चित्र का ही है । यथालिखितानुभावी = जैसा चित्रित किया था, उसी प्रकार का अनुभव करने वाला (राजा)। अर्थात् राजा ने जिस प्रकार की भावनाओं का (शकुन्तला के) चित्र में चित्रण किया था, उसी प्रकार की अनुभूतियाँ भी उसे हो रही थीं । पौरोभाग्यम् = पुरोभागी का अर्थ है दोषों को देखने वाला अथवा बुराइयों को ढूंढ़ने वाला । "दोषैकदृक् पुरोभागी" इत्यमरः । पुरोभागी का भाव है पौरोभाग्य अर्थात् धृष्टता, मूर्खता, दुष्टता, अविनयशीलता। विदूषक ने चित्र को चित्र बतलाकर धृष्टता की है कि जिसके कारण राजा को वास्तविकता का ज्ञान होकर कष्ट की अनुभूति हुई है। अतएव राजा विदूषक से कह रहा है कि तुमने यह अच्छा नहीं किया। इस समय तक मैं तन्मय अर्थात् एकरस होकर प्रिया के साहचर्य का आनन्द ले रहा था। किन्तु वह (प्रिया) अब पुनः चित्र हो गई। तन्मयेन हृदयेन = शकुन्तला में लीन हृदय से। स्मृतिकारिणा = स्मरण दिलाने वाले तुमने। चित्रीकृता = चित्र बना दी गयी। अर्थात् तुमने वास्तविक शकुन्तला को (पुनः) चित्ररूप में परिणत करा दिया है।

सानुमती—[पुव्वावरविरोही अपुव्वो एसो विरहमग्गो ।

पूर्वापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः ।

सानुमती—पहले तथा इस समय की घटनाओं में विरोध की प्रतीति कराने वाला यह विरह का मार्ग (प्रदर्शन) अपूर्व ही है।

राजा—वयस्य ! कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि ?

प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः ।
वाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥२२॥

अन्वयः—प्रजागरात् स्वप्ने तस्याः समागमः खिलीभूतः । वाष्पः तु चित्रगतां अपि एनां द्रष्टुं न ददाति ।

संस्कृत-व्याख्या—प्रजागरात् = अत्यधिकं रात्रिजागरणाद् हेतोः, स्वप्ने = स्वप्नावस्थायामपि, तस्याः = प्रियायाः शकुन्तलायाः, समागमः = संगमः सम्मेलनं वा. खिलीभूतः = निरुद्धः । वाष्पः तु = अश्रुप्रवाहस्तु, चित्रगतामपि = चित्रलिखितामपि, एनाम् = शकुन्तलाम्, द्रष्टुं न ददाति = दर्शनयोग्यां न करोति ।

राजा—हे मित्र ! मैं इस प्रकार निरन्तर चलने वाले दुःख का अनुभव क्यों कर रहा हूँ ?

रात्रि-जागरण के कारण स्वप्न में भी उस शकुन्तला का मिलना रुक गया है। और आँसू चित्रलिखित इस (शकुन्तला) को भी नहीं देखने देते हैं।

अलंकार—इस श्लोक में वर्णित रात्रि-जागरण तथा वाष्पसंचार इन दोनों कारणों का अपने कार्य अनिद्रा और अदर्शन के साथ अभेदरूप से वर्णन किये जाने के कारण 'हेतु' अलंकार है। **छन्द**—इसमें पथ्यावक्त्र वृत्त है।

समास आदि—पूर्वापरविरोधी=पूर्वश्च अपरश्च तयोर्विरोधः, सोऽस्यास्तीति ।

टिप्पणियाँ—**पूर्वापरविरोधी**=पहले और पिछले (बाद वाले) में (अर्थात् राजा के पहले आचरण में तथा बाद के आचरण में) विरोध रखने वाला। कहने का अभिप्राय यह है कि जब शकुन्तला स्वयं ही उसके समक्ष आकर उपस्थित हुई थी, उस समय तो उसने (राजा ने) उसे अस्वीकार कर दिया था और अब जब कि वह चली गई तब उसको प्राप्त करने का उत्कट अभिलाषी है। यहाँ तक कि उसके चित्र को भी बहुत मानता तथा उसके वियोग में अश्रु भी बहा रहा है। सानुमती को राजा के इस व्यवहार में असंगति प्रतीत होती है। यही उपर्युक्त दोनों घटनाओं का विरोध पूर्वापरविरोध है। राघवभट्ट ने इसका अर्थ इस भाँति किया है—राजा पहले चित्र को चित्र ही मानता है, फिर उन्मादावस्था में उसे वास्तविक शकुन्तला समझता है और अब अन्त में पुनः उसे चित्र समझ रहा है। यही पूर्वापर विरोध है। **अविश्रान्तदुःखम्**=न रुकने वाले दुःख को। राजा के कहने का अभिप्राय है कि "मेरे दुःख का अन्त नहीं है", अर्थात् मुझे किसी प्रकार भी शान्ति नहीं मिल पा रही है। **प्रजागरात्**=अत्यधिक जागने से। मैं सम्पूर्ण रात्रि जागता रहता हूँ, दिन में मुझे नींद आती नहीं है। अतः किसी भी समय नींद न आने के कारण मैं स्वप्न में भी शकुन्तला का दर्शन नहीं कर पाता हूँ। **खिलीभूतः**—रुक गया है। 'खिल' शब्द का मौलिक अर्थ है—'बंजर अथवा बेकार पड़ी हुई भूमि का टुकड़ा'। अतः खिलीभूत का अर्थ है—निष्फल, निरर्थक अथवा रुका हुआ। 'खिल' शब्द के साथ 'भू' धातु का प्रयोग निष्फल होने अथवा रुकने अर्थ में भी पाया जाता है। **वाष्पस्तु इत्यादि**—जाग्रत अवस्था में सदा मेरी आँखों में अश्रु भरे रहा करते हैं अतः मैं उसे चित्र में भी नहीं देख पाता हूँ।

दर्शनसुखम्० से लेकर यहाँ तक सुखानुभव में विघ्न उपस्थित होने के कारण विरोधन नामक विमर्श-सन्धि का अंग है। इसका लक्षण है:—"कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम्"। सा० दर्पण ६।१०६ ॥

इस श्लोक में वर्णित भाव की कुछ अन्य सूक्तियाँ जो कालिदास के अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं :—

(१) मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रामाकाङक्षन्तीं...

इत्यादि ।। मेघदूत–उत्तरमेघ—२२ ।। (२) त्वामालिख्य ... ।। अस्रैस्ता-वन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे .... ।। मेघदूत–उत्तरमेघ—४७ ।। (३) कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम् ... इत्यादि ।। विक्रमोर्वशीय–२।१० ।। इत्यादि ।।

सानुमती—[सव्वहा पमज्जिदं तुए पच्चादेसदुक्खं सउन्दलाए ।] सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःख शकुन्तलायाः ।

सानुमती—तुमने शकुन्तला के परित्याग के दुःख को सर्वथा दूर कर दिया है।

(प्रविश्य)

चतुरिका—[जेदु जेदु भट्टा ! वट्टिआकरण्डअ गेण्हिअ इदोमुहं पत्थिद म्हि ।] जयतु जयतु भर्ता । वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थितास्मि ।

(प्रविष्ट होकर)

चतुरिका—महाराज की जय हो । मैं कूंचियों की पेटी लेकर इधर आ रही थी ।

राजा—किं च ?

राजा—और क्या (हुआ) ?

चतुरिका—[सो मे हत्थादो अन्तरा तरलिआदुदीआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउत्तस्स उवणइस्सं त्ति सबलक्कारं गहीदो।] स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्यपुत्र-स्योपनेष्यामीति सबलात्कारं गृहीतः ।

चतुरिका—बीच में (ही) देवी वसुमती ने, जिनके साथ तरलिका भी थीं, यह कहकर कि मैं ही आर्यपुत्र के पास ले जाऊँगी, उसे मेरे हाथ से जबरदस्ती छीन लिया ।

विदूषकः—[दिट्ठिआ तुमं मुक्का ।] दिष्टया त्वं मुक्ता ।

विदूषक—भाग्य से तू छूट गई ।

चतुरिका—[जाव देवीए विडवलग्गं उत्तरीअं तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता ।] यावद् देव्या विटपलग्न-मुत्तरीयं तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा ।

चतुरिका—जब तक वृक्ष की शाखा में फँसे हुये महारानी के उत्तरीय (दुपट्टे) को तरलिका छुड़ाने लगी, तब तक मैं बचकर चली आयी।

राजा—वयस्य ! उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च। भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु।

राजा—हे मित्र ! महारानी आ रही हैं। अत्यधिक स्वाभिमान के कारण उसे बहुत गर्व है। आप इस चित्र की रक्षा करें।

विदूषकः—[अत्ताणं त्ति भणाहि। जइ भवं अन्तेउरकूडवागुरादो मुञ्चीअदि तदो मं मेहप्पडिच्छन्दे पासादे सद्दावहि।] आत्मानमिति भण। (चित्रफलकमादायोत्थाय च) यदि भवानन्तःपुरकूटवागुरातो मोक्ष्यते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय।

(इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः)

विदूषक—यह कहो कि 'मेरी रक्षा करना'। (चित्रपट लेकर और उठकर) यदि आप अन्तःपुर के कठिन जाल से मुक्त हो जायें तो मुझे मेघप्रतिच्छन्द नामक महल पर पुकार लें।

(यह कहकर जल्दी-जल्दी पग उठाते हुए चला जाता है।)

सानुमती—[अण्णसंकन्तहिअओ वि पढमसंभावणं अवेक्खदि सिढिलसोहदो दाणिं एसो।] अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसंभावनामपेक्षते शिथिलसौहार्द इदानीमेषः।

सानुमती—(यद्यपि) इसका प्रेम (रानी वसुमती के प्रति) अब कम हो गया है तथा इसका मन दूसरी (अर्थात् शकुन्तला की) ओर लगा हुआ है, फिर भी यह पुराने प्रेम का पूरा ध्यान रखता है।

***समास आदि*—वर्तिकाकरण्डकम्** = वर्तिकायाः तूलिकाया वर्णकस्य वा करण्डको मञ्जूषा इति, तम् (तत्पुरुष)। **बहुमान-गर्विता** = बहुमानेन गर्विता (तत्पुरुष)। **अन्तःपुर-कूटवागुरातः** = अन्तःपुरस्य अन्तःपुरवर्तिन्या देव्याः कूटं माया तद्रूपा या वागुरा जालं तत इति। **अन्यसंक्रान्तहृदयः** = अन्यस्यां संक्रान्तं हृदयं यस्य सः (बहुव्रीहि)। **प्रथमसम्भावनाम्** = प्रथमा चासौ संभावना इति प्रथमसंभावना ताम् (कर्मधारय)। **शिथिलसौहार्दः** = शिथिलं मन्दं सौहार्दं प्रेम यस्य सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—प्रमार्जितम् = शकुन्तला को जो तुम्हारे द्वारा किये गये परित्याग का दुःख था, वह अब तुमने दूर कर दिया। **वर्तिकाकरण्डकम्** = कूंचियों अथवा रंगों की (बाँस की बनी) पेटी। **अन्तरा** = मध्य में, बीच में। मार्ग के बीच में ही। **दिष्ट्या** = भाग्य से। यह तेरा भाग्य ही है जिसके कारण तू बच आई। **मया निर्वाहित आत्मा** = मैंने अपने आपको बचाया (अथवा छुड़ाया)। 'निर्' उपसर्ग पूर्वक 'वह्' धातु का अर्थ बाहर निकालना अथवा छुड़ाना भी है। **उपस्थिता** = उपस्थित है अर्थात् आ ही रही है। **बहुमानगर्विता** = इसके कई अर्थ किये जा सकते हैं (१) स्वाभिमान के कारण गर्वयुक्त (रानी वसुमती में स्वाभिमान अधिक है अतः वह घमण्ड युक्त है)। (२) अत्यधिक प्रणय-कोप (मान) के कारण गर्वित (अर्थात् फूली हुई)। (३) अत्यधिक बढ़ी हुई ईर्ष्या (मान) से भरी हुई। (जब रानी वसुमती को ज्ञात हुआ कि राजा शकुन्तला के विरह के कारण अत्यधिक दुःखी है तो उसके मन में सपत्नी (शकुन्तला) के प्रति ईर्ष्याभाव उत्पन्न हो गया। अतः वह ईर्ष्याजन्य क्रोध से भरी थी।) **आत्मानं (रक्षतु) इति भण** = यहाँ पर 'आत्मानम्" शब्द का प्रयोग राजा तथा विदूषक दोनों के लिये हो सकता है। (१) विदूषक, जो कि राजा के प्रेम-व्यापारों में उसका विश्वस्त सहायक था, महारानी के क्रोध का भाजन (पात्र) बन सकता था। अतः उसने अपने आपको बचाने के बारे में सोचा होगा। अथवा उसने सोचा होगा कि राजा ने उसे शकुन्तला के चित्र को छिपाने का आदेश दिया है। अतः चित्र के साथ उसे अपनी भी तो रक्षा (बचाव) करनी होगी। (२) शकुन्तला के चित्र द्वारा अपने मन को बहलाते हुए राजा को देखकर महारानी वसुमती के क्रुद्ध होने की संभावना थी। अतः विदूषक हास्य में राजा से यह कह सकता है कि चित्र को छिपाने से उसके द्वारा राजा की भी तो रक्षा होगी। अर्थात् यदि महारानी वसुमती शकुन्तला का चित्र देख लेंगी तो वे राजा से क्रुद्ध हो सकती है। अतः विदूषक द्वारा चित्र को हटा लेने से राजा महारानी के क्रोध का पात्र न बनेगा। **कूटवागुरातः** = गूढ़ छल अथवा प्रपंच अथवा गूढ़ जाल से। स्त्रियों के जाल से बड़ी कठिनाई के साथ मनुष्य अपना पीछा छुड़ा पाता है। अतः हो सकता है कि यहाँ उसी की ओर संकेत किया गया हो। वागुरा शब्द का अर्थ जाल है। **मेघप्रतिच्छन्द** = यह राजा के एक महल का नाम है। 'प्रतिच्छन्द' शब्द के अर्थ हैं:—समानता, चित्र अथवा मूर्ति आदि। वर्ण तथा आकृति में यह महल मेघ से कुछ समानता रखता होगा। इसी कारण इस महल का नाम 'मेघप्रतिच्छन्द' पड़ा होगा। (मेघस्य प्रतिच्छन्दः साम्यं यस्य।)। **अन्यसंक्रान्तहृदयः** = अन्य (अर्थात् शकुन्तला) की ओर चला गया है मन जिसका (ऐसा राजा)। **प्रथमसंभावनामपेक्षते** = पहले किये हुए आदर की अथवा पहले किये हुए प्रेम की रक्षा करता है। **संभावना** = आदर। यह राजा शकुन्तला के प्रति प्रेम हो जाने पर भी रानी वसुमती के प्रति किये हुए अपने पूर्व प्रेम का आदर करता ही है। यह उसके चातुर्य का द्योतक है। **शिथिलसौहार्दः** = शिथिल (कम) हो गया है प्रेम

जिसका (ऐसा राजा)। अब राजा दुष्यन्त का वसुमती के प्रति प्रेम कम हो गया है ।

(प्रविश्य पत्रहस्ता)

प्रतीहारी—[जेदु जेदु देवो ।] जयतु जयतु देवः ।

(पत्र हाथ में लिये हुए प्रवेश करके)

प्रतीहारी—महाराज की जय हो ।

राजा—वेत्रवति ! न खल्वन्तरा दृष्टा त्वया देवी ?

राजा—वेत्रवती, क्या तुमने रास्ते में देवी (वसुमती) को नहीं देखा ?

प्रतीहारी—[अह इं । पत्तहत्थं मं देक्खिअ पडिणिउत्ता ।] अथ किम् । पत्रहस्तां मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता ।

प्रतीहारी—और क्या ? (किन्तु) पत्र हाथ में लिये हुए मुझे देखकर वे लौट गईं ।

राजा—कार्यज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति ।

राजा—कार्य को जानने वाली (महारानी) मेरे कार्यों में विघ्न को नहीं डालती हैं ।

प्रतीहारी—[देव ! अमच्चो विण्णवेदि । अत्थजादस्स गणणाबहुलदाए एक्कं एव पोरकज्जं अवेक्खिदं तं देवो पत्तारूढं पच्चक्खीकरेदु त्ति ।] देव ! अमात्यो विज्ञापयति—अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद् देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोतु—इति ।

प्रतीहारी—महाराज, मन्त्री जी निवेदन करते हैं कि (राजकीय) धनसंग्रह के कार्य में गिनती करने का कार्य अधिक होने के कारण केवल एक ही नागरिक कार्य की (मैंने) जाँच की है । पत्र पर चढ़ाये गये (लिखे गये) उस (कार्य) को महाराज देख लें ।

राजा—इतः पत्रं दर्शय ।

(प्रतिहार्युपनयति ।)

राजा—पत्र इधर दिखलाओ ।

(प्रतीहारी (पत्र को) समीप ले जाती है ।)

राजा—(अनुवाच्य) कथम् ? समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी । राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम् । (सविषादम्) कष्टं खल्वनपत्यता। वेत्रवति ! बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम् । विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्वा तस्य भार्यासु स्यात् ।

राजा—(बाँचकर=पढ़कर) कैसे ? समुद्र के द्वारा व्यापार करने वाला व्यापारियों के संघ का मुखिया धनमित्र जहाज के टूट जाने से मर गया है। उस बेचारे के कोई सन्तान नहीं है। उसका धन सग्रह राजकीय वस्तु होती है, ऐसा मन्त्री ने लिखा है। (दुःख के साथ) सन्तानहीनता वस्तुतः कष्ट की बात है। वेत्रवती ! बहुत धनी होने के कारण उसके अनेक पत्नियाँ होनी चाहिये। विचारो, संभवतः उसकी पत्नियों में से कोई गर्भवती हो ।

प्रतीहारी—[देव ! दाणिं एव्व साकेदअस्स सेट्ठिणो दुहिआ णिव्वुत्तपुंसवणा जाआ से सुणीअदि] देव ! इदानीमेव साकेतकस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्त पुंसवना जायाऽस्य श्रूयते ।

प्रतीहारी—महाराज ! सुना है कि उसकी एक स्त्री का, जो कि अयोध्या के सेठ की पुत्री है, अभी पुंसवन-संस्कार हुआ है।

राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। गच्छ, एवममात्यं ब्रूहि।

राजा—तब तो गर्भस्थ बालक पिता के धन का अधिकारी है। जाओ, ऐसा मन्त्री से कह देना।

प्रतीहारी—[जं देवो आणवेदि।] यद् देव आज्ञापयति।

(इति प्रस्थिता।)

प्रतीहारी—जो महाराज की आज्ञा ।

(ऐसा कहकर चल पड़ती है।)

राजा—एहि तावत् ।

राजा—आओ तो ।

प्रतीहारी—[इअं म्हि ।] इयमस्मि ।

प्रतीहारी—मैं यह आ गई हूँ ।

राजा—किमनेन सन्ततिरस्ति नास्तीति ।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥२३॥

sinful relationship

अन्वयः—प्रजाः येन येन स्निग्धेन बन्धुना वियुज्यन्ते, पापाद् ऋते दुष्यन्तः तासां स स इति घुष्यताम् ।

संस्कृत-व्याख्या—प्रजाः = मदीयाः प्रकृतयः जनाः वा (प्रजा स्यात् सन्ततौ जने – इत्यमरः), येन येन स्निग्धेन = प्रियेण, बन्धुना = बान्धवेन पुत्रादिस्वजनेन, वियुज्यन्ते = वियुक्ता भवन्ति, पापाद् ऋते = पापिनं वर्जयित्वा, दुष्यन्तः = राजा, तासाम् = प्रजानाम्, स स बन्धु = बन्धुस्थाने स्थितः इति एतत् घुष्यताम् = घोषणा क्रियताम् । यो यो मृत दुष्यन्तस्तस्य तस्य स्थाने आस्ते । तत् मृते वा स्थिते वा फलं तु तुल्यमेव । किन्तु यदि कोऽपि पापी म्रियते तदा तस्य स्थाने दुष्यन्तः न स्थास्यति इति भावः ।

राजा—इससे क्या कि 'सन्तान है अथवा नहीं है' ।

प्रजा-जन जिस जिस प्रेमी सम्बन्धी से वियुक्त होते हैं, पापी को छोड़कर दुष्यन्त उन सबका वह-वह सम्बन्धी है, ऐसी घोषणा कर दी जाय ।

अलंकार—इस श्लोक में दुष्यन्त का उन उन बन्धुओं के साथ अभेदात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है । अतः यहाँ 'रूपक' अलंकार है । **छन्द**—इसमें श्लोक नामक वृत्त है ।

व्याकरण—**प्रत्यक्षीकरोतु** = प्रत्यक्ष + च्वि + कृ + लोट् । **साकेतकस्य** = साकेते भवः वसति वा, साकेत = वुञ् (अक्), **समास आदि**—**कार्यज्ञा** = कार्यं जानातीति । **कार्योपरोधम्** = कार्यस्योपरोधः तम् (तत्पुरुष) । **समुद्रव्यवहारी** = समुद्रेण व्यवहरति यः सः । **सार्थवाहः** = सार्थं वणिक् समूहं वाहयति चालयति यः सः । **निर्वृत्तपुंसवना** = निर्वृत्तं पुंसवनं यस्याः सा (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**कार्यज्ञा** = काम को जानने वाली । अर्थात् वह मेरे सरकारी कार्य के महत्त्व को भली भाँति समझती है । **कार्योपरोधम्** = मेरे कार्यों में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं करती । यहाँ महाकवि का चातुर्य दर्शनीय है । वह जानता है कि इस स्थल पर महारानी का रंगमंच पर आना नाटक की प्रगति की दृष्टि से कोई लाभप्रद नहीं था अपितु निरर्थक ही था । अतः उन्होंने उसे बीच में ही आने से रोक दिया है । **अर्थजातस्य** = राजकीय कर का रुपया अधिक संख्या में प्राप्त हुआ है । इस कारण उसकी गणना में अधिक समय लग गया है । **अवेक्षितम्** = देखा है । अभिप्राय यह है कि नगर के कार्यों में एक ही कार्य देखा जा सकता है । **पत्रारूढम्** = पत्र पर चढ़ाकर (लिखकर) । **प्रत्यक्षीकरोतु** = देख लीजिये । **समुद्रव्यवहारी** = समुद्र के द्वारा व्यापार करने

वाला अर्थात् समुद्री जहाजों के द्वारा विदेशों से व्यापार कर धन को कमाने वाला। इस वर्णन से विदित होता है कि उस समय समुद्री मार्ग द्वारा अन्य देशों से व्यापार भी हुआ करता था। **सार्थवाहः** = प्रमुख व्यापारी। 'सार्थ' शब्द का अर्थ है—झुण्ड, समूह अर्थात् व्यापारियों का समूह। 'वाह' शब्द का अर्थ है :—मुख्य अथवा प्रमुख। **नौव्यसने** = जहाज के टूट जाने से। **विपन्नः** = मर गया। **तपस्वी** = बेचारा। **राजगामी** = राजा को जाने वाला। अर्थात् उसकी सम्पत्ति राजकीय हो जाती है। जो लोग अपने पुत्रादि उत्तराधिकारी के न होने की अवस्था में मर जाते थे अर्थात् सन्तानहीन ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे उनकी सम्पत्ति का अधिकारी राजा होता था। धनमित्र नामक व्यापारी के भी कोई सन्तान न थी। अतः राजा ही उसका अधिकारी होता था। मनु का विधान है कि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य वर्णों के किसी भी व्यक्ति के सन्तानहीन मर जाने पर उसके धन का अधिकारी राजा होता था—"अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः। इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः॥)" मनु० ९।१८९॥ इससे ज्ञात होता है कि कालिदास के समय में किसी मृत व्यक्ति की विधवा पत्नी को उसकी सम्पत्ति का अधिकार नहीं होता था। **आपन्नसत्वा** = गर्भिणी। **साकेतकस्य** = अयोध्या का रहने वाला। **निर्वृत्तपुंसवना** = संपन्न किया गया है पुंसवन नामक संस्कार जिसका ऐसी। पुंसवन नामक संस्कार धर्मशास्त्रों में वर्णित १६ संस्कारों में से द्वितीय संस्कार है। पुत्र ही उत्पन्न हो—इस दृष्टि से यह संस्कार तीसरे अथवा चतुर्थ महीने में किया जाता है। **गर्भः** = गर्भ में स्थित बालक। **पित्र्यं रिक्थमर्हति** = पिता के धन (अर्थात् सम्पत्ति) का अधिकारी है। रिक्थ—धन, सम्पत्ति। राजा को ऐसा विश्वास था कि गर्भस्थ बच्चा पुत्र ही होगा क्योंकि पुंसवन-संस्कार किया गया है। इस प्रकार इस स्थल पर यह स्पष्ट हो गया है कि उस समय गर्भस्थ बालक भी पिता की सम्पत्ति का अधिकारी समझा जाता था। **बन्धुना** = अपने सम्बन्धी से। **पापादृते** = इसके दो प्रकार के अर्थ किये जा सकते हैं—(१) पापकर्म को छोड़कर अर्थात् ऐसे सम्बन्ध को छोड़कर कि जिसमें पाप हो। जैसे—विधवा स्त्री का पति होना अर्थात् राजा परस्त्री-सम्पर्क नहीं करेगा। अथवा—(२) पापी व्यक्ति को छोड़कर राजा अन्यों का ही बन्धु होगा। अर्थात् यदि मृत व्यक्ति पापी था तो उस मृत पापी व्यक्ति के स्थान पर राजा बन्धु नहीं होगा। संभव है कि किसी व्यक्ति ने चोरी आदि के द्वारा अत्यधिक धनराशि एकत्रित की हो। अतः वह अपने सम्बन्धियों का प्रिय-जन अवश्य हो सकता है। किन्तु ऐसे व्यक्ति के मरने पर दुष्यन्त उन सम्बन्धियों के प्रति वैसा आचरण नहीं करेगा। इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में राजा एवं प्रजा का सम्बन्ध पिता-पुत्र जैसा सम्बन्ध था।

प्रतीहारी—[एव्वं णाम घोसइदव्वं। काले पवुट्ठं विअ अहिणन्दिदं देवस्स सासणम्।] एवं नाम घोषयितव्यम्। (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) काले प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम्।

प्रतिहारी—ऐसी ही घोषणा की जानी चाहिये। (निकलकर तथा पुनः प्रविष्ट होकर) समय पर हुई वर्षा के सदृश महाराज की घोषणा का (जनता द्वारा) अभिनन्दन किया गया है।

राजा—(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य) एव भोः, सन्ततिच्छेदनिरवलम्बानां कुलानां मूलपुरुषावसाने सम्पदः परमुपतिष्ठन्ते। ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एष एव वृत्तान्तः।

राजा—(लम्बा तथा गर्म श्वास लेकर) ओह, इस प्रकार संतान के अभाव के कारण निराश्रित कुलों की सम्पत्ति मूल पुरुष (वंश के प्रतिनिधि अन्तिम व्यक्ति) की मृत्यु हो जाने पर दूसरों के पास चली जाती है। मेरे मरने पर भी पुरुवंश की लक्ष्मी की यही दशा होगी।

प्रतीहारी—[पडिहदं, अमंगलं।] प्रतिहतममङ्गलम्।

प्रतीहारी—अमंगल का नाश हो।

राजा—धिङ् मामुपस्थितश्रेयोऽवमानिनम्।

राजा—समीप में आये हुए मंगल (शकुन्तला) का तिरस्कार करने वाले मुझ को धिक्कार है।

सानुमती—[असंसअं सहिं एव्व हिअए करिअ णिन्दिदो णेण अप्पा।] असंशयं सखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा।

सानुमती—निस्संदेह सखी (शकुन्तला) का ही हृदय में विचार करके इसने अपने को धिक्कारा है।

राजा—

संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी
त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय
वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा ॥२४॥

अन्वयः—काले उप्तबीजा महते फलाय कल्पिष्यमाणा वसुन्धरा इव कुलप्रतिष्ठा धर्मपत्नी आत्मनि संरोपिते अपि मया त्यक्ता नाम।

संस्कृत-व्याख्या—काले = यथासमयं, उप्तबीजा = उप्तं आहितं बीजं यस्यां सा, महते = विपुलाय, फलाय = शस्याय (पत्नीपक्षे पुत्रफलाय), कल्पि-

ष्यमाणा = प्रभविष्यन्ती, वसुन्धरा इव = रत्नधात्री भूमिरिव, कुलप्रतिष्ठा = कुलस्य पुरुवंशस्य प्रतिष्ठा आलम्बनस्वरूपा ("द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे। समुद्ररशना चोर्वी सखी च युवयोरियम्" ॥ इति प्रागुक्तेः।), धर्मपत्नी = धर्मानुसारे परिगृहीता पत्नी स्त्री शकुन्तला, आत्मनि = स्वस्मिन् (गर्भस्थे पुत्रे), संरोपिते अपि = "आत्मा वै जायते पुत्रः" "आत्मा प्रविश्य जायायां पुत्ररूपेण जायते" इत्यादि-श्रुतिस्मृतिभ्यां गर्भरूपेण तदुदरे आहितेऽपि (बीजे निषिक्तेऽपीत्यर्थः।), मया = दुष्यन्तेन, त्यक्ता नाम = सा परित्यक्ता।

राजा—समय पर बो दिये गये हुए बीज से युक्त, महान् फल को देने वाली पृथ्वी के समान (अपने) वंश की प्रतिष्ठास्वरूप तथा धर्मपत्नी (शकुन्तला) का, उसमें (गर्भ रूप में) पुत्र का आधान कर देने पर भी, मैंने परित्याग कर दिया है।

अलंकार—यहाँ शकुन्तला का सादृश्य पृथ्वी के साथ दिखलाया गया है अतः 'उपमा' अलंकार है। समय पर बीज का बो दिया जाना अच्छे फल का कारण है अतः 'काव्यलिंग' अलंकार है। **छन्द**—इसमें उपजाति वृत्त है।

व्याकरण--**उपतिष्ठन्ते** = इसमें "उपाद् देवपूजा" इत्यादि वार्तिक से संगतिकरण अर्थ में आत्मनेपद हो जाता है। **संरोपिते** = सम् + रुह + णिच् + क्त। **कल्पिष्यमाणा** = क्लृप् (कृप्) + लृट् + शानच्। ***समास आदि***:—**संततिच्छेदनिरवलम्बानाम्** = सन्ततीनां छेदाद् विरहान्निरवलम्बाः तेषाम् (तत्पुरुष)। **मूलपुरुषावसाने** = मूलभूतः पुरुषः मूलपुरुषः (वंशधरः) तस्य अवसाने (मृत्यौ) (तत्पुरुष)। **उपस्थितश्रेयोऽवमानिनम्** = उपस्थितं श्रेयः (सगर्भशकुन्तलारूपं कल्याणम्) अवमानितवान् यः सः उपस्थितश्रेयोवमानी तम्। **कुलप्रतिष्ठा** = कुलस्य प्रतिष्ठा (तत्पुरुष)। **धर्मपत्नी** = धर्मेण धर्माय वा पत्नी इति।

टिप्पणियाँ—**काले प्रवृष्टमिव** = समय पर हुई वृष्टि के सदृश। **देवस्य शासनम्**—महाराज की घोषणा को। **सन्ततिच्छेदनिरवलम्बानाम्** = सन्तान के न होने से आश्रयविहीन हुए वंशों का। सन्तान न होने के कारण आगे वंश नहीं चलेगा। **मूलपुरुषावसाने** = मूल पुरुष का अन्त (मृत्यु) हो जाने पर। सन्तान के न होने पर मूल पुरुष के मर जाने पर सम्पत्ति दूसरे के पास चली जाती है। वंश का संस्थापक पुरुष मूल पुरुष कहा जाता है। यहाँ पर उस वंश के अन्तिम प्रतिनिधि से तात्पर्य है। **समाप्स्यन्ते**··**वृत्तान्तः** = मेरे मरने के पश्चात् पुरुवंश की लक्ष्मी का भी यही हाल होगा। **पाठभेद** = "पुरुवंशश्रीरकाल इवोप्तबीजा भूरेव वृत्ता" = जिस भूमि में असमय में बीज बोया गया है ऐसी पृथ्वी के सदृश पुरुवंश की लक्ष्मी हो गई है। इस स्थल पर यह उपमा अनुचित-सी है अतः यह पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। **प्रतिहतम्** = नष्ट हो, दूर हो। **उपस्थितश्रेयोऽवमानिनम्** = स्वयं उपस्थित हुए कल्याण का तिरस्कार करने वाले (मुझ

को) । राजा के कहने का अभिप्राय यह है कि गान्धर्व विधि से विवाहित मेरी पत्नी शकुन्तला गर्भिणी थी । मैंने अज्ञान के कारण उसका परित्याग कर दिया । अब मैं सन्तान के लिये रुदन कर रहा हूँ । अतः ऐसे मुझको धिक्कार है । **संरोपितेऽप्यात्मनि** = अपने आपको उसमें संरोपित कर देने (डाल देने) पर भी । "आत्मा वै जायते पुत्रः" इस सिद्धान्त के अनुसार पुरुष गर्भ के रूप में स्त्री के उदर में अपने को ही संरोपित किया करता है । पुत्र पिता की आत्मा माना गया है '"आत्मा वै पुत्रनामासि"', अतः पुत्र को गर्भ में रखना अपनी आत्मा को ही गर्भ में रखना है । इस कथन का सम्बन्ध वस्तुतः उस धारणा से है कि जिसके अनुसार यह माना जाता है कि पति अपनी पत्नी में प्रविष्ट होकर पुत्र के रूप में पुनः उत्पन्न होता है । इसी कारण पत्नी का जाया शब्द द्वारा कथन भी किया गया है । "पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते । जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः" ॥ मनुस्मृति ९।८ ॥ **त्यक्ता नाम** = यहाँ नाम शब्द खेदसूचक है । **कुलप्रतिष्ठा** = वंश की गौरवस्वरूप अथवा आधारभूत । **कल्पिष्यमाणा** = भविष्य में होने वाली । **उप्तबीजा** = जिसमें बीज बो दिया गया है अथवा जिसमें गर्भरूपी बीज का आरोपण किया जा चुका है ।

सानुमती—[अपरिच्छिण्णा दाणिं दे संददी भविस्सदि ।] अपरिच्छिन्नेदानीं ते सन्ततिर्भविष्यति ।

सानुमती—अब तुम्हारी संतति (वंश-परम्परा) अपरिच्छिन्ना रहेगी ।

चतुरिका—(जनान्तिकम्) [अए ! इमिणा सत्थवाहवुत्तन्तेण दिउणुव्वेओ भट्टा । णं अस्सासिदुं मेहप्पडिच्छन्दादो अज्जं माढव्वं गेण्हिअ आअच्छेहि ।] अये ! अनेन सार्थवाहवृत्तान्तेन द्विगुणोद्वेगो भर्त्ता । एनमाश्वासयितुं मेघप्रतिच्छन्दादार्यं माढव्यं गृहीत्वागच्छ ।

चतुरिका—(चुपके से) ओह, व्यापारियों के संघ के प्रमुख-व्यापारी के इस वृत्तान्त से महाराज का दुःख दूना हो गया है । इनको सान्त्वना प्रदान करने के लिये मेघप्रतिच्छन्द नामक महल से आर्य माढव्य को बुला लाओ ।

प्रतीहारी—[सुट्ठु भणासि ।] सुष्ठु भणसि ।

(इति निष्क्रान्ता ।)

प्रतीहारी—ठीक कहती हो ।

(यह कहकर चली जाती है ।)

राजा——अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः । कुतः——

अस्मात्परं वत यथाश्रुति संभृतानि
को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति ।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ॥२५॥

(इति मोहमुपगतः ।)

अन्वयः——बत अस्मात् परं नः कुले यथाश्रुति संभृतानि निवपनानि कः नियच्छति ? इति नूनं पितरः प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं उदकं धौताश्रुशेषं पिबन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या——बत = खेदे, अस्मात् = दुष्यन्तात्, परम् = पश्चात् (मते दुष्यन्ते इत्यर्थः), नः = अस्माकम्, कुले = वंशे पुरुवंशे इत्यर्थः, यथाश्रुति = वेदोक्तविधानेन, संभृतानि = संपादितानि, निवपनानि = पितृदानरूपाणि पिण्ड-श्राद्धतर्पणादीनि, कः = पुरुषः, नियच्छति = ददाति, इति = एवं चिन्तयित्वा, नूनम् = निश्चयेन, पितरः = मम पूर्वपुरुषाः, प्रसूतिविकलेन = प्रसूत्या सन्तत्या विकलेन रहितेन पुत्रहीनेनेत्यर्थः, मया = दुष्यन्तेन, प्रसिक्तम् = तेभ्यो दत्तम्, उदकम् = तर्पणजलम्, धौताश्रुशेषम् = धौतानि प्रक्षालितानि अश्रूणि नेत्र-जलानि येन तस्मात् शेषं अवशिष्टं यथा स्यात्तथा, पिबन्ति = आचामन्ति ।

राजा——ओह, दुष्यन्त के पिण्डभागी पितृगण संदेह में पड़ गये हैं । क्योंकि——

खेद की बात है कि इस (दुष्यन्त) के पश्चात् (मरने के बाद) हमारे वंश में वैदिकविधि से तैयार किये गये श्राद्ध और तर्पण आदि को कौन देगा ? ऐसा विचारकर निश्चय ही मेरे पितृगण सन्तानहीन मेरे द्वारा दिये गये और अश्रुधाराओं को धोने से बचे हुए तर्पण के जल का पान करेंगे ।

(ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाता है ।)

अलंकार——यहाँ 'नूनम्' शब्द उत्प्रेक्षावाचक है, अतः 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है । श्लोक का पूर्वार्ध भाग उत्तरार्ध भाग के प्रति कारण है, अतः 'काव्यलिंग' अलंकार है । **छन्दः**——इसमें वसन्ततिलका नामक वृत्त है ।

व्याकरण——परिच्छिन्ना = परि + छिद् + क्त । **निवपनानि** = नि + वप् + ल्युट् । **धौत** = धाव् + क्त । ***समास आदि***——**पिण्डभाजः** = पिण्डं भजन्त इति पिण्डभाजः । यथाश्रुति = श्रुतिमनतिक्रम्य यथाश्रुति (अव्ययीभाव) । **धौताश्रुशेषमुदकम्** = धौतानि अश्रूणि येन तस्मात् शेषम् (तत्पुरुष) । अथवा धौतानि अश्रूणि येन तद् धौताश्रु तस्मात् शेषं यथास्यात्तथा ।

टिप्पणियाँ—**अपरिच्छिन्ना** = अटूट, अविच्छिन्न। सानुमती का यह कथन ठीक ही है। वह जानती है कि राजा दुष्यन्त का ही पुत्र सर्वदमन है। **संशयमारूढाः** = संदेह में पड़ गये हैं। दुष्यन्त के पितरों को सन्देह है कि उनको, दुष्यन्त के पश्चात्, श्राद्ध-तर्पणादि प्राप्त होगा अथवा नहीं। **पिण्डभाजः** = श्राद्ध में दिये गये पिण्ड के अधिकारी पितृगण। केवल तीन पूर्वज (पिता, पितामह, प्रपितामह) ही पिण्ड ग्रहण करने के अधिकारी माने गये हैं तथा उनके आगे की तीन पीढ़ियों के पूर्वज (पिता के प्रपितामह, पितामह के प्रपितामह और प्रपितामह के प्रपितामह) लेपभागी (अर्थात् पिण्ड देने के अनन्तर हाथ में लगे हुए अंशों के अधिकारी) होते हैं—"लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः। पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥" मत्स्यपुराण १८।२९ ॥ चावल, आटे आदि के गोल लौंदे को 'पिण्ड' कहते हैं। **निवपनानि** = पितरों को दिया जाने वाला श्राद्ध और तर्पण आदि। **यथाश्रुति** = वेद में बतलाये गये हुए विधान के अनुसार। **सम्भृतानि** = तैयार किये गये हुए, आयोजित। **प्रसूतिविकलेन** = सन्तानहीन, पुत्रहीन। **धौताश्रुशेषम्** = आँसुओं के धोने से बचे हुए (जल) को। पितरों को दुष्यन्त के मरने के पश्चात् श्राद्ध-तर्पणादि के मिलने में सन्देह है, इस कारण वे रुदन करते हैं और वे तर्पण में प्राप्त हुए जल से पहले अपने अश्रुधारा से युक्त मुख को धोते हैं। तदनन्तर उससे बचे हुए जल का पान करते हैं।

इस श्लोक में वर्णित दुष्यन्त के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उसके (दुष्यन्त के) सन्तान न होने के कारण उसके (दुष्यन्त के) मरने के पश्चात् उसके पितरों को पिण्ड देने वाला कोई भी व्यक्ति उसके वंश में न रहेगा।

राजा के (दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य) एवं भोः, इत्यादि कथन से लेकर इस स्थान तक हार्दिक-खेद होने के कारण 'छलन' नामक विमर्श-सन्धि का अंग है। **लक्षणः**—"आत्मावसादनं यत्तु छलनं तदुदाहृतम् ॥"

चतुरिका—(ससंभ्रममवलोक्य) [समस्ससदु समस्ससदु भट्टा।] समाश्वसितु समाश्वसितु भर्त्ता।

चतुरिका–(घबराहट के साथ देखकर) महाराज ! धैर्य धारण कीजिये, धैर्य धारण कीजिये।

सानुमती—[हद्धी हद्धी। सदि क्खु दीवे ववधाणदोसेण एसो अन्धआरदोसं अणुहोदि। अहं दाणिं एव्व णिव्वुदं करेमि। अहवा सुदं मए सउन्दलं समस्सासअन्तीए महेन्दजणणीए मुहादो जण्णभा-

ओस्सुआ देवा एव्व तह अणुचिट्ठिस्सन्ति जह अइरेण धम्मपदिणिं भट्टा अहिणन्दिस्सदित्ति । ता जुत्तं एदं कालं पडिपालिदुं। जावइमिणा वुत्तन्तेण पिअसहिं समस्सासेमि ।] हा धिक् हा धिक् । सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोषमनुभवति । अहमिदानीमेव निर्वृतं करोमि । अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखाद् यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथाऽनुष्ठास्यन्ति यथाचिरेण धर्मपत्नीं भर्त्ताभिनन्दिष्यतीति । तद् युक्तमेतं काल प्रतिपालयितुम् । यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि ।

(इत्युद्भ्रान्तकेन निष्क्रान्ता ।)

सानुमती--हाय ! हाय ! दीपक (अर्थात् पुत्र) के रहते हुए भी बीच में पर्दा पड़ जाने के कारण ये राजर्षि इस समय अन्धकार के दोष का अनुभव कर रहे हैं । मैं अभी इनको शान्त-चित्त करती हूँ। अथवा, शकुन्तला को सान्त्वना प्रदान करती हुई इन्द्र की माता (अदिति) के मुख से मैंने यह सुना था कि यज्ञभाग के लिये उत्सुक देव ही वैसा ढंग करेंगे, जिससे शीघ्र ही पति (दुष्यन्त) अपनी पत्नी (शकुन्तला) का अभिनन्दन करेगा । अतः उस समय तक प्रतीक्षा करना उचित ही है । जब तक मैं इस समाचार से अपनी प्रिय सखी (शकुन्तला) को धैर्य बँधाती हूँ ।

(ऐसा कहकर उद्भ्रान्तक-नृत्य के साथ चली जाती है ।)

टिप्पणियाँ--**दीपे सति**=दीपक के होने पर भी । पुत्र कुल का दीपक होता है । अतः यहाँ पर दीप शब्द पुत्र के लिये ही प्रयुक्त हुआ है । इस स्थल पर 'दीप' शब्द से शकुन्तला के पुत्र 'सर्वदमन' की ओर संकेत किया गया है। कालिदास ने रघुवंश में इसी भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है :—"सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोऽपहम्" ।। रघु० ।१०।२ ।। **व्यवधानदोषेण**= पर्दे के दोष से । व्यवधान शब्द का अर्थ है बीच में (पर्दा आदि) किसी चीज़ का आ जाना । यहाँ निराशारूपी पर्दा ही बीच में पड़ा है । तात्पर्य यह है कि राजा के पुत्र तो है किन्तु उसको इसका ज्ञान इसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार कोई व्यक्ति पर्दे के पीछे दीपक के छिपे रहने पर अन्धकार का अनुभव किया करता है। ऐसी अवस्था में वह अपने को पुत्रहीन समझकर अपनी अवस्था पर विलाप कर रहा है । **अन्धकारदोषमनुभवति**=अन्धकार का अनुभव करता है अर्थात् अपने को पुत्रहीन समझ रहा है । **निर्वृतं करोमि**=शान्त-चित्त करती हूँ । यह

बतलाकर कि तुम्हारा पुत्र 'सर्वदमन' है, शान्त करती हूँ। अथवा इस वाक्य द्वारा सानुमती यह भाव प्रकट करती है कि अभी इस समाचार को बतलाने का अवसर नहीं आया है। समय आने पर यह बात स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगी। **महेन्द्रजननी**=इन्द्र की माता अदिति। वेदों में भी देवताओं की माता का नाम 'अदिति' आया है। **यज्ञभागोत्सुकाः**=यज्ञों के द्वारा अपना भाग प्राप्त करने के लिये उत्सुक। देवताओं को यज्ञ का भाग प्राप्त हुआ करता है। ऐसा ज्ञात होता है कि शकुन्तला के परित्याग के पश्चात्ताप से संतप्त दुष्यन्त ने वसन्तोत्सव के समान ही यज्ञों के अनुष्ठान आदि में भी अपनी उदासीनता रक्खी होगी। परिणामतः देवताओं को अपना यज्ञीय भाग प्राप्त न हो पाता होगा। अतः अपना भाग प्राप्त करने के उद्देश्य-से देवगण दुष्यन्त का शकुन्तला से मिलन कराने के लिये उत्सुक रहे होंगे। **तद् युक्तमेतं कालं प्रतिपालयितुम्**=इस कारण इस समय प्रतीक्षा करना ही उचित है। अर्थात् मुझ दुष्यन्त को वास्तविकता बतलाने की आवश्यकता नहीं है। **उद्भ्रान्तकेन**=नृत्य करते हुए ऊपर आकाश की ओर उड़ जाने का एक प्रकार। सानुमती अत्यधिक प्रसन्न है, अतः वह नृत्य करती हुई ऊपर की ओर गमन करती है। उद्भ्रान्तक-नृत्य का लक्षण :—"पूर्वं दक्षिणमुत्थाप्य पश्चादाकुञ्चयन् पदम्। वामं शीघ्रं भवेद् वामावर्त्तमुद्भ्रान्तकं विदुः" ॥ संगीत-सुधानिधि ॥

(नेपथ्ये)

[अब्बम्हण्णं।] अब्रह्मण्यम्।

(नेपथ्य में)

ब्राह्मण का अशुभ हुआ! ब्राह्मण का अशुभ हुआ।

राजा—(प्रत्यागतचेतनः कर्णं दत्त्वा) अये, माढव्यस्येवार्त्तस्वरः। कः कोऽत्र भोः ?

राजा—(चेतना आने पर, कान लगाकर) ओह! यह माढव्य का सा चीत्कार है। अरे, यहाँ कोई है ?

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—(ससंभ्रमम्) [परित्ताअदु देवो संसअगदं वअस्सम्।] परित्रायतां देवः संशयगतं वयस्यम्।

(प्रवेश करके)

प्रतीहारी—(घबराहट के साथ) महाराज संकट में पड़े हुए अपने मित्र की रक्षा कीजिये।

राजा—केनात्तगन्धो माणवकः ?

राजा—उस बेचारे को किसने अपमानित किया है ?

प्रतीहारी—[अदिट्ठरूवेण केनवि सत्तेण अदिक्कमिअ मेह-प्पडिच्छन्दस्स पासादस्स अग्गभूमिं आरोविदो ।] अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रासादस्याग्रभूमिमारोपितः ।

प्रतीहारी—किसी अदृश्य प्राणी (भूत) के द्वारा आक्रमण करके मेघप्रतिच्छन्द नामक महल की ऊपर की मंजिल पर ले जाया गया है by spirits

राजा—(उत्थाय) मा तावत् । ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः । अथवा— bad behaviour or ignorance

अहन्यहन्यात्मन एव ताव-
ज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ।
प्रजासु कः केन पथा प्रयाती-
त्यशेषता वेदितुमस्ति शक्तिः ? ॥२६॥

अन्वय—अहनि अहनि आत्मन एव प्रमादस्खलितं तावत ज्ञातुं न शक्यम् । प्रजासु कः केन पथा प्रयाति इति अशेषतः वेदितुं शक्तिः अस्ति ?

संस्कृत व्याख्या—अहनि अहनि = प्रतिदिनम्, आत्मन एव = स्वस्य एव, प्रमादस्खलितं = प्रमादेन अनवधानेन यत्स्खलितं धर्माद् विच्युतिः, तावत् = साकल्येन, ज्ञातुम् = वेदितुम् न शक्यम् = न संभाव्यते । प्रजासु = प्रकृतिषु, कः = कः जनः, केन पथा = केन मार्गेण, प्रयाति = गच्छति, इति अशेषतः = साकल्येन पूर्णतया वा, वेदितुम् = ज्ञातुम् शक्तिः = सामर्थ्यमस्ति किम् इति शेषः, नास्ति इत्यर्थः ।

राजा—(उठकर) ऐसा न हो । क्या मेरे घर भी भूतों के द्वारा तिरस्कृत होते हैं ? अथवा—

प्रतिदिन अपने ही प्रमाद के कारण उत्पन्न होने वाली त्रुटियों को पूर्ण रूप से जानना संभव नहीं है । फिर प्रजाओं में कौन किस मार्ग पर चल रहा है, यह पूर्णतया जानना कैसे संभव है ?

अलङ्कार—श्लोक के चतुर्थ चरण में काकु द्वारा व्यंग्यार्थ निकल रहा है अतः अर्थापत्ति अलंकार है । सामान्य के द्वारा विशेष की प्रतीति होने से यहाँ

अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है। राजा के कहने का तात्पर्य यह है कि उसे स्वयं अपने द्वारा की गई हुई त्रुटियों का ही ध्यान नहीं है अन्यथा वह शकुन्तला का परित्याग क्यों करता ? मनुष्य अपने किये हुए कर्मों के फल को भोगा करता है। इसने भी कोई त्रुटि अथवा पाप किया है, उसी का फल यह भोग रहा है। छन्दः— इसमें उपजाति वृत्त है।

समास आदि—**आर्त्तस्वरः**=आर्त्तस्य स्वरः क्रन्दनमिति (तत्पुरुष)। **आत्तगन्धः**=आत्तः गन्धः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **प्रमादस्खलितम्**=प्रमादेन स्खलितम् (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**अब्रह्मण्यम्**=(ब्रह्मणि साधु ब्रह्मण्यम्, न ब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम्) जो ब्राह्मण के लिये उचित अथवा अच्छा न हों अर्थात् ब्राह्मण के प्रति अनुचित आचरण। जब कोई ब्राह्मण पीड़ित अवस्था में हुआ करता था तो वह अपनी रक्षा के निमित्त इस शब्द का प्रयोग किया करता था। **आत्तगन्धः**= यहाँ गन्ध शब्द का अर्थ है अभिमान। जिसका घमण्ड अथवा अभिमान हर लिया गया है—अर्थात् किसी ने उसे तिरस्कृत किया है। **माणवकः**=बेचारा बालक ! पुत्र के अर्थ में जब मानव शब्द प्रयुक्त होता है तब मानव के स्थान पर माणव हो जाता है। इसके पश्चात् अनुकम्पा अर्थ में 'कन्' प्रत्यय होने पर माणवक शब्द बनता है। **सत्त्वेन**=यहाँ सत्त्व शब्द भूत अथवा प्रेत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **अग्रभूमिम्**=महल की ऊपरी मंजिल। **मा तावत्**=इस स्थल पर इसके दो अर्थ किये जा सकते हैं। (१) ऐसा मत कहो (केनापि सत्वेन इत्यादि) क्योंकि मैंने अपना पवित्र जीवन बिताया है अतः मेरे महल में भूत-प्रेत आदि प्रवेश नहीं कर सकते। अथवा (२) यह नहीं होने देना चाहिये, मित्र विदूषक की रक्षा अवश्य की जानी चाहिये। **प्रमादस्खलितम्**=प्रमाद अर्थात् लापरवाही से की गयी भूल अथवा त्रुटि। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर दुष्यन्त का अभिप्राय अपने द्वारा भूल से शकुन्तला को अस्वीकृत कर दिये जाने की ओर है। **वेदितुमस्ति शक्तिः**=जानने की शक्ति है क्या ? अर्थात् "नहीं है"। यह अर्थ यहाँ पर काकु (ध्वनि-परिवर्त्तन) द्वारा निकलता है।

(नेपथ्ये)

[भो वअस्स ! अविहा अविहा।] भो वयस्य ! अविहा अविहा।

(नेपथ्य में)

हे मित्र ! बचाओ, बचाओ।

राजा—(गतिभेदेन परिक्रामन्) सखे ! न भेतव्यं, न भेतव्यम्।

राजा—(चाल बदल कर, घूमता हुआ) हे मित्र ! मत डरो, मत डरो।

(नेपथ्ये)

(पुनस्तदेव पठित्वा) [कहं ण भाइस्सं ? एस मं को वि पच्चवणदसिरोहरं इक्खुं विअ तिण्णभंगं करेदि ।] कथं न भेष्यामि ? एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति ।

(नेपथ्य में)

(फिर उसी वचन को दुहराकर) कैसे न डरूँ ? यह कोई पीछे की ओर मेरी गर्दन झुकाकर ईख के सदृश तीन टुकड़े कर दे रहा है ।

राजा—(सदृष्टिक्षेपम्) धनुस्तावत् ।

राजा—(चारों ओर देखकर) (मेरा) धनुष तो (लाना) ।

(प्रविश्य शार्ङ्गहस्ता)

यवनी—[भट्टा ! एदं हत्थावावसहिदं ससरं सरासणं ।] भर्त्तः ! एतद्धस्तावापसहितं सशरं शरासनम् ।

(राजा सशरं धनुरादत्ते ।)

(हाथ में धनुष लिये प्रवेश करके)

यवनी—स्वामी ! यह दस्ताने और वाण सहित धनुष है ।

(राजा वाण सहित धनुष लेता है ।)

(नेपथ्ये)

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी
शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।
आर्त्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा
दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ।।२७।।

अन्वयः—अभिनवकण्ठशोणितार्थी एषः (अहम्) शार्दूलः पशुमिव चेष्टमानं त्वां हन्मि । आर्त्तानां भयं अपनेतुं आत्तधन्वा दुष्यन्तः इदानीं तव शरणं भवतु ।

संस्कृत व्याख्या—अभिनवकण्ठशोणितार्थी=अभिनवं नूतनं (उष्णमित्यर्थः) यत्कण्ठशोणितं गलरुधिरं तस्य अर्थी अभिलाषी, एषः=अयम्, अहम्=मातलिः, शार्दूलः=व्याघ्रः पशुमिव=मृगादिकमिव, चेष्टमानम्=आत्मत्राणाय यतमानम्, त्वाम्=विदूषकम्, हन्मि=व्यापादयामि । आर्त्तानाम्=पीडितानाम्, भयम्, अपनेतुम्=दूरीकर्तुम्, आत्तधन्वा=गृहीतचापः, दुष्यन्तः, इदानीम्=अधुना, तव, शरणम्=रक्षकः, भवतु ।

(नेपथ्य में)

ताजे गले के रक्त (खून) का अभिलाषी मैं, व्याघ्र जिस प्रकार (छटपटाते हुए) पशु को मारता है उसी प्रकार, अपनी रक्षा के निमित्त छटपटाते हुए तुझको मारता हूँ । दुखियों के भय को दूर करने के निमित्त धनुष धारण करनेवाला दुष्यन्त अब तुझको बचा सकता हो तो बचावे ।

अलंकार:—"शार्दूलः पशुं इव चेष्टमानं एषः (अहं) त्वाम्" में उपमा अलंकार है । **छन्द**—इसमें प्रहर्षिणी वृत्त है ।

व्याकरण—**शरासनम्** = शर + अस् + ल्युट् । *समास आदि*—**प्रत्यवनतशिरोधरम्** = प्रत्यवनता शिरोधरा यस्य तम् (बहुव्रीहि) । **शार्ङ्गहस्ता** = शार्ङ्गं हस्ते यस्याः सा (बहुव्रीहि) । **हस्तावापः** = हस्तं आवपति रक्षति इति हस्तावापः (यहाँ "कर्मण्यण्" सूत्र से 'अण्' हो जाता है ।) **शरासनम्** = शराः अस्यन्ते क्षिप्यन्ते अनेन इति । **अभिनवकण्ठशोणितार्थी** = अभिनवस्य कण्ठशोणितस्य अर्थी (तत्पुरुष) । **आत्तधन्वा** = आत्तं धनुः येन सः (बहुव्रीहि) यहाँ "धनुषश्च" (अष्टा० ५।४।१३२) सूत्र से समासान्त अनङ् (अन्) हो जाता है ।

टिप्पणियाँ—**अविहा** = यह अव्यय है । इसका प्रयोग कठिनाई में पड़े हुए होने पर अपनी सहायता अथवा अपनी रक्षा के निमित्त पुकारते समय किया जाता है । इसका भाव है—बचाओ । इसमें दो शब्द हैं (१) अव् = बचाओ, (२) इह = यहाँ पर । **गतिभेदेन** = चाल बदल कर अर्थात् शीघ्रता के साथ । **प्रत्यवनतशिरोधरम्** = मोड़ दी गयी है पीछे की ओर गर्दन जिसकी ऐसे को । **हस्तावाप** = दस्ताना—हाथ को बचाने के लिये हाथ में पहना जाने वाला चमड़े का दस्ताना । **चेष्टमानम्** = छटपटाते हुए—इसका अन्वय विदूषक तथा पशु दोनों के साथ किया जायगा । [**भावार्थ**—अपनी रक्षा (बचाव) के निमित्त इधर-उधर हाथ-पैर फेंकते हुए] । **आत्तधन्वा** = धनुष को धारण करने वाला ।

राजा—(सरोषम्) कथं मामेवोद्दिशति । तिष्ठ कुणपाशन ! त्वमिदानीं न भविष्यसि । (शार्ङ्गमारोप्य) वेत्रवति ! सोपानमार्गमादेशय ।

राजा—(क्रोध के साथ) क्या मुझे ही लक्ष्य करके कह रहा है ? ऐ राक्षस ! ठहर । तू अब नहीं बचेगा । (धनुष चढ़ाकर) वेत्रवती, सीढ़ियों का रास्ता बतलाओ ।

प्रतीहारी—[इदो इदो देवो ।] इत इतो देवः ।

(सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति ।)

प्रतीहारी—महाराज ! इधर से आइये, इधर से ।

(सभी शीघ्रता के साथ पास जाते हैं।)

राजा—(समन्ताद् विलोक्य) शून्यं खल्विदम्।

राजा—(चारों ओर देखकर) यह (स्थान) तो खाली पड़ा है।

(नेपथ्ये)

[अविहा अविहा ! अहं अत्तभवंतं पेक्खामि। तुमं मं ण पेक्खसि ? विडालग्गहीदो मूसओ विअ णिरासो म्हि जीविदे संवुत्तो।]
अविहा अविहा ! अहमत्रभवन्तं पश्यामि। त्वं मां न पश्यसि ? विडाल-गृहीतो मूषकः इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः।

(नेपथ्य में)

बचाओ-बचाओ! मैं आपको देख रहा हूँ। आप मुझे नहीं देख रहे हैं क्या ? बिल्ली द्वारा पकड़े गये चूहे के सदृश मैं अपने जीवन से निराश हो गया हूँ।

राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित ! मदीयं शस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति। एष तमिषुं सन्दधे—

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥२८॥

(इत्यस्त्रं सन्धत्ते।)

अन्वयः—यः वध्यं त्वां हनिष्यति, रक्ष्यं द्विजं रक्षिष्यति। हि हंसः क्षीरं आदत्ते, तन्मिश्राः अपः वर्जयति।

संस्कृत-व्याख्या—यः = बाणः, वध्यम् = वधार्हम्, त्वाम् = राक्षसम्, हनिष्यति = प्रहरिष्यति, रक्ष्यम् = रक्षायोग्यम्, द्विजम् = ब्राह्मणं विदूषकम्, रक्षिष्यति = त्रास्यते। हि = यतः, हंसः = मरालः, क्षीरम् = दुग्धम्, आदत्ते = गृह्णाति, तन्मिश्राः = तेन दुग्धेन मिश्राः सम्मिश्रिताः, अपः = जलानि, वर्जयति = त्यजति।

राजा—ऐ तिरस्करिणी विद्या से गर्वयुक्त ! मेरा शस्त्र तुझे देख लेगा। यह मैं उसी बाण को चढ़ाता हूँ—

जो मारने योग्य तुझ को मारेगा और रक्षा के योग्य ब्राह्मण (विदूषक) की रक्षा करेगा। क्योंकि हंस दूध को ग्रहण कर लेता है और उसमें मिले हुए पानी को छोड़ देता है।

(यह कहकर उस बाण को चढ़ाता है।)

अलंकार––इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार है। छन्द: – इसमें श्लोक नामक वृत्त है।

व्याकरण––**वध्यम्** = हन्+यत् (यहाँ "हनो वा यद् वधश्च वक्तव्य:" इस वार्तिक सूत्र से हन् के स्थान पर वध् आदेश हो जाता है।) वधं अर्हति वध्य: तम्। *समास आदि*––**कुणपाशन** = कुणपं अश्नाति (यहाँ कर्त्ता में युच् (अन) प्रत्यय होता है।) 'कुणप' शब्द का अर्थ है शव। शव को खाने वाला अर्थात् राक्षस। **भो: तिरस्करिणीगर्वित** = हे तिरस्करिणी विद्या को जानने के कारण गर्वयुक्त। तिरस्करिणी वह विद्या है जिसके प्रभाव से मनुष्य स्वयं तो सब को देख सकता है किन्तु उस व्यक्ति को कोई अन्य नहीं देख पाता है। **तमिषुम्** = मैं उस बाण को चढ़ाता हूँ कि जो केवल तेरा ही हनन करेगा और विदूषक को छोड़ देगा। **सन्दधे** = चढ़ाता हूँ। सन्धान शब्द का अर्थ है चढ़ाना। **रक्षिष्यति** = रक्षा करेगा। यहाँ पर पाठभेद 'रक्षति' है = रक्षा करता है। इस स्थल पर साम्य की दृष्टि से हनिष्यति के साथ रक्षिष्यति का ही प्रयोग अधिक समीचीन प्रतीत होता है। **हंसो हि क्षीरमादत्ते आदि** = हंस में दूध एवं पानी को पृथक् पृथक कर देने की सामर्थ्य स्वीकार की जाती है। इसकी सत्यता यह है कि हंस सरोवर में विद्यमान कमलनाल का दूध पी लिया करता है तथा साथ के जल को त्याग दिया करता है। इसी कारण इसको नीर-क्षीर-विवेकी भी कहा गया है।

(तत: प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य मातलि: ।)

मातलि:—राजन् !

कृता: शरव्यं हरिणा तवासुरा:
शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम् ।
प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने
पतन्ति चक्षूंषि न दारुणा: शरा: ।।२९।।

अन्वय:––हरिणा असुरा: तव शरव्यं कृता: इदं शरासनं तेषु विकृष्यताम्। सतां सुहृज्जने प्रसाद सौम्यानि चक्षूंषि पतन्ति, दारुणा: शरा: न।

संस्कृतव्याख्या––हरिणा = इन्द्रेण, असुरा: = दैत्या:, तव = दुष्यन्तस्य, शरव्यम् = लक्ष्यम्, कृता: = विहिता:; इदम् = एतद्, शरासनम् = धनु:, तेषु = दैत्येषु, विकृष्यताम् = आकृष्यताम्। सताम् = सत्पुरुषाणाम्, सुहृज्जने = मित्रवर्गे, प्रसादसौम्यानि = प्रसादेन अनुग्रहेण प्रेम्णा वा सौम्यानि मनोहराणि, चक्षूंषि = नेत्राणि, पतन्ति, निपतन्ति, दारुणा: = कठोरा:, शरा: = बाणा: न पतन्ति।

(तत्पश्चात् विदूषक को छोड़कर मातलि प्रवेश करता है।)

मातलि—हे राजन् !

इन्द्र ने राक्षसों को तुम्हारे बाणों का लक्ष्य (निशाना) बनाया है; (अपने) इस धनुष को उन पर खींचिये (प्रयोग कीजिये)। सज्जनों की अपने मित्र-समूह पर प्रेम से मनोहर दृष्टि ही पड़ती है, कठोर बाण नहीं।

अलंकार:—इस श्लोक में उत्तरार्ध सामान्य के द्वारा पूर्वार्ध विशेष का समर्थन किया गया है अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'तव मयि' इस विशेष के स्थान पर 'सतां सुहृज्जने' इस सामान्य उक्ति का कथन किये जाने के कारण यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। श्लोक का प्रथम चरण द्वितीय चरण के प्रति कारण है, अतः काव्यलिंग अलंकार भी है। **छन्दः**—इस श्लोक में वंशस्थ वृत्त है।

व्याकरण:—**शरव्यम्** = शृणाति इति शरुः, तस्यै हितम् शरव्यम् (लक्ष्य अथवा निशाना बनाया है)। यहाँ शरु + यत् (य) —"उगवादिभ्यो यत्" (अष्टा० ५।१।२।) सूत्र से हित अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। **सौम्य** = सोम + ट्यण् (यहाँ "सोमाट्ट्यण्"—अष्टा० ४।२।३०। से 'ट्यण्' (य) प्रत्यय होता है। ऐसी स्थिति में समास होगा—सोमः देवता अस्य सः। अथवा सोम इव सोमः (यहाँ पर 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' वार्तिक से स्वार्थ में ष्यञ् (य) प्रत्यय होता है।)। **समास आदिः**—**प्रसादसौम्यानि** = प्रसादेन सौम्यानि (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**मातलिः** = यह इन्द्र का सारथि है। साथ ही यह इन्द्र के ऐरावत नामक हाथी का चालक भी है। **प्रसाद-सौम्यानि** = अनुग्रह अथवा प्रेम के कारण मनोहर। प्रसाद शब्द के अर्थ हैं—कृपा, अनुग्रह, प्रेम अथवा शान्ति। सौम्य अर्थात् सुन्दर।

राजा—(ससंभ्रममस्त्रमुपसंहरन्) अये, मातलिः! स्वागतं महेन्द्र-सारथेः।

राजा—(शीघ्रता के साथ अस्त्र को वापस लौटाता हुआ) ओह, (आप) मातलि हैं। हे इन्द्र के सारथि, (आपका) स्वागत है।

(प्रविश्य)

विदूषकः—[अहं जेण इट्ठिपसुमारं मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि।] अहं येनेष्टिपशुमारं मारितः सोऽनेन स्वागतेनाभिनन्द्यते।

(प्रवेश करके)

विदूषक—जिसने मुझे यज्ञीय पशु की मार मारा है उसका यह स्वागत के द्वारा अभिनन्दन कर रहे हैं।

मातलिः——(सस्मितम्) आयुष्मन् ! श्रूयतां यदर्थमस्मि हरिणा भवत्सकाशं प्रेषितः ।

मातलि——(मुस्कराते हुए) आयुष्मन् ! जिस कार्य के निमित्त इन्द्र ने (मुझे) आपके पास भेजा है, उसे सुनिये ।

राजा——अवहितोऽस्मि ।

राजा——मैं सावधान हूँ ।

मातलिः——अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दुर्जयो नाम दानवगणः ।

मातलि——कालनेमि की सन्तान दुर्जय नामक दानवों का समुदाय है ।

राजा——अस्ति । श्रुतपूर्वं मया नारदात् ।

राजा——हाँ, है । मैंने नारद से उनके विषय में पहले सुना है ।

मातलिः——

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्य-
स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता ।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्ति-
स्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥३०॥

सभवानात्तशस्त्र एव इदानी मैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम् ।

अन्वयः——स किल ते सख्युः शतक्रतोः अजय्यः, रणशिरसि त्वं तस्य निहन्ता स्मृतः । यत् नैशं तिमिरं सप्तसप्तिः उच्छेत्तुं न प्रभवति, तत् चन्द्रः अपाकरोति ।

संस्कृतव्याख्या——सः = दानवगणः, किल = निश्चयेन, ते = तव दुष्यन्तस्य, सख्युः = मित्रस्य, शतक्रतोः = इन्द्रस्य, अजय्यः = जेतुमशक्यः । रणशिरसि = समरांगणे, त्वम् = दुष्यन्तः, तस्य = दानवगणस्य, निहन्ता = नाशयिता, स्मृतः = मतोऽसि । यत् नैशम् = निशायाः सम्बन्धि, तिमिरम् = अन्धकारम्, सप्तसप्तिः = सूर्यः, उच्छेत्तुम् = विनाशयितुम्, न प्रभवति = न शक्नोति, तत् = नैशं तमः, चन्द्रः = विधुः , अपाकरोति = नाशयति ।

मातलि——

वह (दानवसमूह) वस्तुतः तुम्हारे मित्र इन्द्र द्वारा नहीं जीता जा सकता है । युद्ध के मैदान में आप ही उसके मारने वाले माने गये हैं । रात्रि के जिस

अन्धकार को सूर्य नष्ट करने में समर्थ नहीं है उस (अन्धकार) को चन्द्रमा ही दूर करता है ।

(अतः) वह आप हथियार लिये हुए ही अब इन्द्र के इस रथ पर सवार होकर विजय के लिये प्रस्थान कीजिये ।

अलंकार:—इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार है जो स्पष्ट ही है । छन्दः—इसमें प्रहर्षिणी वृत्त है ।

व्याकरण:—**इष्टिपशुमारम्**=यज्ञिय पशु के सदृश मारा है । इष्टिपशुरिव मारितः । इष्टि+मृ+णिच्+णमुल् (यहाँ पर "उपमाने कर्मणि च" (अष्टा० ३।४।४५) सूत्र से णमुल् (अम्) प्रत्यय होता है ।) । **इष्टि**=यज्+क्तिन् । **अजय्यः**=यहाँ "क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे" (अष्टा० ६।१।८१)से 'जेय' के स्थान पर 'जय्य' निपातन हो जाता है । न जीतने योग्य । *समास आदि*:—**अजय्य**—जेतुं अशक्यः । **शतक्रतुः**=शतं क्रतवो यस्य सः (बहुव्रीहि) । जिसने सौ यज्ञ कर लिये हैं । पुराणों के आधार पर यह माना गया है कि इन्द्र ने अपने पद को सौ अश्वमेध यज्ञ करके प्राप्त किया था । इसी कारण उसे शतक्रतु कहा जाता है । **सप्तसप्तिः**—सप्त सप्तयः अश्वाः यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ:—**उपसंहरन्**=लौटाना, वापिस लेना । उपसंहार का अर्थ है विशेष शक्तियों के आधार पर अस्त्र को वापिस लेना । **आयुष्मन्**=वृद्ध होने के कारण मातलि ने राजा को 'आयुष्मन्' शब्द द्वारा सम्बोधित किया है । **कालनेमिप्रसूतिः**=कालनेमि नाम के राक्षस की सन्तान । कालनेमि हिरण्यकशिपु नाम के राक्षस का पुत्र था । उसके सौ शिर तथा सौ भुजायें थीं । विष्णु ने उसे मारा था । **दानव**=दनु नामक राक्षसी के पुत्र । दनु दक्ष की पुत्री और कश्यप की स्त्री थी । **नारद**=एक प्रसिद्ध मुनि । ये ब्रह्मा के दस मानस-पुत्रों में से एक हैं । ये सदैव वीणा धारण किये घूमा करते थे । देवताओं और मनुष्यों के बीच ये देवदूत का कार्य किया करते थे । **सः**=वह अर्थात् दुर्जय नाम का दानवों का समूह । **रणशिरसि**—लड़ाई के मैदान में । **सप्तसप्तिः**—सूर्य । **सप्तिः**—घोड़े । सूर्य की सात रंग की किरणों को ही सूर्य के सात घोड़े माना गया है । सात हैं घोड़े जिसके ऐसा—सूर्य । देवतोपाख्यान के अनुसार सूर्य के रथ में सात घोड़े जुते हुए हैं । उसके रथ में एक ही पहिया है तथा उसके सारथि अरुण के पैर टूटे हुए हैं । **नैशम्**—रात्रि-सम्बन्धी अथवा रात्रि के ।

विशेष—उपर्युक्त श्लोक में इन्द्र को सूर्य तथा दुष्यन्त को चन्द्रमा स्वीकार किया गया है । जिस भाँति सूर्य जिस रात्रि के अन्धकार को दूर नहीं कर पाता है, उस रात्रि के अन्धकार को चन्द्रमा दूर करता है, उसी भाँति इन्द्र जिस राक्षस-समूह पर विजय नहीं प्राप्त कर पाते हैं, उस राक्षस-समूह पर राजा दुष्यन्त ही विजय प्राप्त करने योग्य हैं ।

राजा—अनुगृहीतोऽहमनया मघवतः संभावनया। अथ माधव्यं प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तम् ?

राजा—इन्द्र द्वारा दिये गये इस सम्मान से मैं अनुगृहीत हूँ। किन्तु माधव्य के प्रति आपने ऐसा व्यवहार क्यों किया ?

मातलिः—तदपि कथ्यते । किंचिन्निमित्तादपि मनःसंतापादायुष्मान् मया विक्लवो दृष्टः। पश्चात् कोपयितुमायुष्मन्तं तथा कृतवानस्मि ।

कुतः—

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते ।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते हि जनः ॥३१॥

अन्वयः—चलितेन्धनः अग्निः प्रज्वलति, विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते । हि प्रायः जनः क्षोभात् स्वं महिमानं प्रतिपद्यते ।

संस्कृतव्याख्या—चलितेन्धनः = चलितानि संघट्टितानि इंधनानि काष्ठानि यस्य तथाविधः एव, अग्निः = वह्निः, ज्वलति = प्रदीप्तो भवति । विप्रकृतः = कोपितः, पन्नगः = सर्पः, फणाम् = फटाम्, कुरुते = विस्तारयति । हि = तथाहि, प्रायः = प्रायेण, जनः = नरः, क्षोभात् = उत्तेजनात्, स्वम् = स्वकीयम्, महिमानम् = पराक्रमम्, प्रतिपद्यते = प्राप्नोति ।

मातलि—वह भी बतलाता हूँ। मैंने आयुष्मान को (आपको) किसी भी कारण से हुए मानसिक सन्ताप के कारण खिन्न देखा। तदनन्तर आपको क्रुद्ध करने के लिये मैंने वैसा किया था। क्योंकि—

ईंधन को हिलाने-डुलाने से ही अग्नि प्रज्वलित हुआ करती है, छेड़ा गया हुआ (ही) सर्प (अपने) फन को फैलाता है। इसी प्रकार मनुष्य (भी) प्रायः उत्तेजित होने पर (ही) अपने पराक्रम को प्राप्त होता है।

अलंकारः—इस श्लोक में 'भवान' के स्थान पर साधारण 'जनः' का प्रयोग होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। अग्नि एवं सर्प इन दो के साथ साधर्म्य वर्णित होने से यहाँ मालादृष्टान्त नामक अलंकार है। श्लोक के उत्तरार्ध सामान्य के द्वारा पूर्वार्ध विशेष का समर्थन किये जाने से यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार भी है। **छन्दः**—इस श्लोक में आर्या जाति है।

व्याकरणः—**मघवतः** = यह मघवन् शब्द का षष्ठी विभक्ति का एकवचन का रूप है। यहाँ पर 'मघवा बहुलम्' (अष्टा० ६।४।१२८) सूत्र से 'मघवन्'

को विकल्प करके 'मघवत्' हो जाता है। अतः "मघवतः" और "मघोनः" दो रूप बन जाते हैं। मघवतः का अर्थ है—इन्द्र का। **सम्भावनया** = सम्+भू+णिच्+युच् (अन)+टाप्। **कोपयितुम्** = कुप्+णिच्+तुमुन्। **महिमानम्** = महत्+इमनिच् = महिमन्। *समास आदि*—**चलितेन्धनः** = चलितानि इन्धनानि यस्य सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**सम्भावनया** = आदर अथवा सम्मान के द्वारा। **किमेवं प्रयुक्तम्** = आपने ऐसा क्यों किया? **तदपि कथ्यते** = राजा शकुन्तला के विरह के कारण खिन्न था। उस दशा में यह संभव था कि वह युद्ध करने न जाता। अतः मातलि ने उसे क्रोध दिलाने के निमित्त ही विदूषक को परेशान किया था। **विक्लवः** = व्याकुल, खिन्न। **कोपयितुम्** = क्रुद्ध करने के निमित्त। **चलितेन्धनः** = चला दिया गया है (हिला डुला दिया गया है) ईंधन जिसका (ऐसी अग्नि)। **विप्रकृतः** = छेड़ा गया हुआ अथवा उत्तेजित किया गया हुआ। फणां कुरुते—फन को फैलाता है अथवा दिखलाता है। फणा तथा फण दोनों ही शब्द हैं। **महिमानम्** = पराक्रम को।

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य ! अनतिक्रमणीया दिवस्पतेराज्ञा। तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि—

त्वन्मतिः केवला तावत् परिपालयतु प्रजाः।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृतं धनुः ॥३२॥

अन्वयः—केवला त्वत् मतिः तावत् प्रजाः परिपालयतु। इदं अधिज्यं धनुः अन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृतम्।

संस्कृतव्याख्या—केवला = एकाकिनी, त्वन्मतिः = त्वदीया बुद्धिः, तावत् = मदागमनपर्यन्तम्, प्रजाः = प्रकृतीः, परिपालयतु = रक्षतु। इदं, अधिज्यम् = धृतमौर्वीकम्, धनुः = कार्मुकम्, अन्यस्मिन् = दानववधरूपे, कर्मणि = देवकार्ये, व्यापृतम् = संलग्नम्।

राजा—(चुपके से, विदूषक से) प्रिय मित्र ! स्वर्गाधिपति इन्द्र की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। अतः इस विषय में वस्तुस्थिति को बतलाकर मेरी ओर से मन्त्री पिशुन से कहना—कि—

(अब) अकेली तुम्हारी बुद्धि ही प्रजा का पालन करे। प्रत्यञ्चा चढ़ा हुआ यह (मेरा) धनुष दूसरे कार्य में (अर्थात् राक्षसों के वध करने रूप कार्य में) लग गया है।

विदूषकः—(जं भवं आणवेदि।) यद् भवानाज्ञापयति।

विदूषक—को महाराज की आज्ञा।

(ऐसा कहकर चला जाता है।)

अलंकार:—उपर्युक्त श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है। **छन्दः**—इसमें श्लोक नामक वृत्त है।

व्याकरण:—**दिवस्पतेः** = इन्द्र की। इस शब्द का निर्माण दो प्रकार से किया जा सकता है:—(१) दिवः पति = इस स्थिति में "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" अष्टा० ६।३।१४। से षष्ठी विभक्ति का लोप न होकर "कस्कादिषु च" (अष्टा० ८।३।४८।) से कस्कादि को आकृतिगण मानकर विसर्ग के स्थान पर 'स' होकर 'दिवस्पति' शब्द बन जाता है। (२) यह 'दिवस्पति' शब्द वैदिक भी हो सकता है। अतः वैदिक प्रयोग में दिवः + पतिः—में "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इत्यादि (अष्टा० ८।३।५३।) से षष्ठी विभक्ति का अलुक् तथा विसर्ग को 'स्' होकर दिवस्पति शब्द बन जाता है। *समास आदि*—दिवस्पतिः = दिवः पतिः (तत्पुरुष)। **अधिज्यम्**—अधिगता ज्या येन तद्।

टिप्पणियाँ—**परिगतार्थम्** = इस समाचार से अवगत कराके। **केवला** = अकेली। इसका तात्पर्य यह है कि अब तक मन्त्री की बुद्धि तथा राजा का धनुष दोनों ही मिल कर राज्य का पालन तथा संचालन करते थे। अब राजा का धनुष तो राक्षसों के वध के निमित्त जा रहा है। अतः अब मन्त्री की बुद्धि ही अकेली राज्य के पालन आदि के निमित्त अवशिष्ट रह गई है। यह मन्त्री की बुद्धि ही अब अकेली राज्य का भार सँभाले।

मातलिः—आयुष्मान् रथमारोहतु।

(राजा रथाधिरोहणं नाटयति।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

मातलि—आयुष्मान् (आप) रथ पर चढ़िये।

(राजा रथ पर चढ़ने का अभिनय करता है।)

(सब निकल जाते हैं।)

षष्ठ अंक समाप्त।

इत्यभिज्ञानशाकुन्तलस्याचार्यसुरेन्द्रदेवकृतायां 'आशुबोधिनी' व्याख्यायां षष्ठोऽङ्कः समाप्तः॥

सप्तमोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्याकाशयानेन रथाधिरूढो राजा मातलिश्च ।]

राजा——मातले ! अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये ।

सप्तम अङ्क आरम्भ ।

(तदनन्तर आकाशमार्ग से रथ में बैठा हुआ राजा तथा मातलि प्रवेश करता है ।)

राजा——हे मातलि ! आज्ञा का पालन कर देने पर भी मैं इन्द्र के द्वारा दिये गये अत्यधिक आदर के कारण अपने आपको अनुपयुक्त (इन्द्र के काम में न आया हुआ) सा समझता हूँ ।

मातलिः——(सस्मितम्) आयुष्मन् ! उभयमप्यपरितोषं समर्थये ।

प्रथमोपकृतं मरुत्वतः
प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान् ।
गणयत्यवदानविस्मितो
भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान् ॥१॥

अन्वयः——भवान् मरुत्वतः प्रतिपत्त्या प्रथमोपकृतं लघु मन्यते । सः अपि भवतः अवदानविस्मितः सत्क्रियागुणान् न गणयति ।

संस्कृतव्याख्या——भवान्——दुष्यन्तः, मरुत्वतः——इन्द्रस्य, प्रतिपत्त्या——तत्कृतेन सत्कारेण, प्रथमोपकृतम्——प्रथमं पूर्वं उपकृतं उपकारं, लघु——स्वल्पं तुच्छं वा, मन्यते——सम्भावयति । सः——इन्द्रः अपि, भवतः——दुष्यन्तस्य, अवदानविस्मितः——अवदानैः पराक्रमैः पुण्यकर्मभिर्वा विस्मितः आश्चर्यान्वितः सन्, सत्क्रियागुणान्——सत्क्रियायाः स्वकृतसत्कारस्य गुणान् विनयादिमहत्त्वम्, न गणयति——न मन्यते ।

मातलि——(मुस्कराते हुए) आयुष्मन् ! मैं तो आप दोनों को ही असन्तुष्ट समझता हूँ ।

आप इन्द्र द्वारा किये गये सत्कार के कारण पहले अपने द्वारा किये गये उपकार को तुच्छ समझते हैं । वह (इन्द्र) भी आपके पराक्रमशील कार्यों से

आश्चर्यान्वित होकर (अपने द्वारा किये गये) सत्कार के महत्त्व को कुछ नहीं समझते हैं ।

अलंकार:—इस श्लोक में सत्काररूपी कारण की स्थिति होने पर भी गणनारूप कार्य के उपस्थित न होने के कारण विशेषोक्ति अलंकार है। गणना के न होने रूपी कार्य का कारण न होने के कारण विभावना अलंकार है। **छन्दः**— इसमें सुन्दरी नामक वृत्त है ।

व्याकरण:—प्रतिपत्या —प्रतिपत्तिः = प्रति + पद् + क्तिन् । **अवदान** = अव + दै (दा) + ल्युट् (अन)। *समास आदि*:—**अनुष्ठितनिदेशः** = अनुष्ठितः निदेशः येन सः (बहुव्रीहि) । **अपरितोषम्** = अविद्यमानः परितोषः यस्य तम् **प्रथमोपकृतम्** = प्रथमं यत् उपकृतं तत् (कर्मधारय) । **अवदानविस्मितः** = अवदानेन विस्मितः (तत्पुरुष) । **सत्क्रियागुणान्** = सत्क्रियायाः गुणान् (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**ततः प्रविशति आकाशयानेन** इत्यादि—राजा राक्षसों का हनन कर वापिस लौट रहा है। राक्षसों के साथ हुये राजा के युद्ध को नाटक में नहीं दिखलाया गया है क्योंकि कलात्मक दृष्टि से युद्ध आदि का नाटक में दिखलाना मना है। किसी अन्य पात्र द्वारा भी उसका वर्णन नहीं कराया गया है क्योंकि युद्ध मुख्य कथा का अंग नहीं है । इस अंक के प्रारम्भ में हुए राजा एवं मातलि के वार्त्तालाप से उसका भान होता है। **आकाशयानेन** = आकाशमार्ग से । इस स्थल पर 'यान' शब्द का अर्थ मार्ग है। **मघवतः**—इस शब्द का सम्बन्ध "अनुष्ठितनिदेशोऽपि" तथा "सत्क्रियाविशेषात्" दोनों से ही दिखलाया जा सकता है। **प्रथम सम्बन्ध में** अर्थ होगा—स्वर्गाधिपति इन्द्र की आज्ञा का पालन करने पर भी । **दूसरे में**—इन्द्र के सत्कार-विशेष से । **अनुपयुक्तमिव** = इसके भी दो अर्थ किये जा सकते हैं (१) अनुपयुक्त जैसा—अर्थात् जैसे मैंने कुछ काम किया ही न हो अथवा अयोग्य सा । वास्तविकता तो यह है कि राजा की दृष्टि में इन्द्र के द्वारा किये गये सत्कार के सामने उसका (राजा का) कार्य नगण्य के सदृश है। **प्रथमोपकृतम्** = पहले किये गये उपकार को। राक्षसों का वध करके राजा ने इन्द्र को राक्षसों की ओर से भयहीन कर दिया था। राजा द्वारा इन्द्र का यही उपकार किया गया था । **मरुत्वतः** = इन्द्र के । मरुत्वत् वैदिक शब्द है—इसका अर्थ है इन्द्र । वैदिक साहित्य में 'मरुत्' वायु देवताओं के रूप में है। इन मरुतों की सहायता से ही इन्द्र ने वृत्र का वध किया था । अतः मरुतों के सहायक होने के कारण इन्द्र को मरुत्वान् कहा गया है। **प्रतिपत्या** = सम्मान, आदर अथवा सत्कार से । **अवदानविस्मितः** = पराक्रम अथवा वीरतापूर्ण कार्य से आश्चर्य में पड़े हुए । (रघुवंश के "नैऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः" (रघु० ११।२१।।) इत्यादि श्लोक की व्याख्या में टीकाकार मल्लिनाथ ने लिखा है "अवदानं पराक्रमः" । "पराक्रमोऽवदानं स्यात्" इति भागुरिः ।) अव+दै का अर्थ है शुद्ध करना,

उज्ज्वल करना। अतः अवदान शब्द का मौलिक अर्थ होगा--जिससे किसी व्यक्ति का नाम उज्ज्वल हो (ऐसा कार्य)। **सत्क्रियागुणान्**=सत्कार के महत्व को।

इस स्थल से लेकर अंक की समाप्ति-पर्यन्त 'निर्वहण' सन्धि है।

लक्षण:--बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्। एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्॥ साहित्यदर्पण ६।८०॥ मुखसन्ध्यादयो यत्र विकीर्णा बीजसंयुताः॥ महाप्रयोजनं यान्ति तन्निर्वहणमुच्यते॥ सुधाकर॥ इसी भाँति दशरूपक में भी १-४८॥

राजा--मातले ! मा मैवम्। स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः। मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य--

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं
जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का
मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा॥२॥

अन्वयः--अन्तर्गतप्रार्थनं अन्तिकस्थं जयन्तं उद्वीक्ष्य कृतस्मितेन हरिणा आमृष्टवक्षोहरिचन्दनांका मन्दारमाला (मम कण्ठे) पिनद्धा।

संस्कृतव्याख्या--अन्तर्गतप्रार्थनम्=अन्तर्गता हृदयस्थिता प्रार्थना मन्दारमालाविषयिणी अभिलाषा यस्य तम्, अन्तिकस्थम्=समीपे स्थितम्, जयन्तम्=स्वपुत्रम्, उद्वीक्ष्य=दृष्ट्वा, कृतस्मितेन--कृतं विहितं स्मितं मन्दहासं येन तेन, हरिणा=इन्द्रेण, आमृष्टवक्षोहरिचन्दनांका=आमृष्टं घर्षणेन अपहृतं यद् वक्षसः उरसः हरिचन्दनं हरिचन्दनानुलेपः तस्य अंकः चिह्नं यस्याः सा, मन्दारमाला--मन्दारपुष्पाणां माला स्रक्, (मम=दुष्यन्तस्य, कण्ठे) पिनद्धा--स्वयं परिधापिता।

राजा--मातलि ! ऐसा न कहो। मेरी विदाई के समय उन्होंने (इन्द्र ने) जो सत्कार किया था वह सचमुच मेरे मनोरथ अथवा कल्पना से भी परे की वस्तु है। क्योंकि देवताओं के समक्ष अपने आधे आसन पर बैठाये हुए मुझ को--

(माला के निमित्त) हृदय में विद्यमान इच्छा से युक्त, समीप में स्थित अपने पुत्र जयन्त की ओर देखकर मुस्कराते हुए इन्द्र ने वक्षस्थल पर पोंछे हुए हरिचन्दन के चिह्न से चिह्नित मन्दार के फूलों की माला (स्वयं अपने गले से उतार कर) पहना दी।

अलंकारः--इस श्लोक में विशेषणों के साभिप्राय होने के कारण परिकर

अलंकार है। तथा गौरव के [illegible] इसमें उदात्त नामक अलंकार है। छन्दः——इसमें उपजाति नामक वृत्त है।

व्याकरणः——पिनद्धा = अपि + नह् + क्त + टाप्। यहाँ पर "वष्टि भागुरिरल्लोपम्०" इस नियम के अनुसार 'अपि' के अकार का लोप हो जाता है।

समास आदिः——**विसर्जनावसरसत्कारः** = विसर्जनस्य अवसरे सत्कारः (तत्पुरुष)। **दिवौकसाम्** = द्यौः ओकः गृहं येषां ते (बहुव्रीहि) तेषाम्। **समक्षम्** = अक्ष्णोः नेत्रयोः अभिमुखं समक्षम् (अव्ययीभाव)। **अर्धासनोपवेशितस्य** = आसनस्यार्धमर्धासनं तत्र उपवेशितस्य। **अन्तर्गतप्रार्थनम्** = अन्तर्गता प्रार्थना यस्य तम् (बहुव्रीहि)। **आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का** = आमृष्टस्य वक्षोहरिचन्दनस्य अंकः यस्याः सा (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ——**मनोरथानामभूमिः** = इच्छाओं का अस्थान अथवा अपात्र अथवा अविषय। अभिप्राय यह है कि जैसा राजा का सत्कार हुआ वह कल्पनातीत अथवा आशातीत था। राजा ऐसा सोच भी नहीं सकता था कि उसका ऐसा सत्कार होगा। **विसर्जनावसरसत्कारः** = विदाई के समय किया गया (मेरा) सत्कार। **दिवौकसाम्** = द्यु लोक ही है निवास-स्थान जिनका अर्थात् देवता। **अर्धासनोपवेशितस्य** = अपने आधे आसन पर बैठाये हुए (मुझ को)। राजा दुष्यन्त ने इन्द्रपुरी (स्वर्गलोक) में जाकर देवासुर-संग्राम में इन्द्र की सहायता की थी तथा दुर्जय नामक दानवसमूह को पूर्णतया नष्ट कर दिया था। इन्द्र दुष्यन्त की वीरता तथा पराक्रम से इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि उसने उसका अत्यधिक सम्मान किया। यहाँ तक कि विदाई के समय देवताओं के सामने ही उसने राजा को अपने आसन का आधा भाग देकर बैठाया था। साथ ही अपने गले से उतारकर अपने हाथों से ही मन्दारमाला को उसे पहना दिया था। हिन्दू विचार-धारा के अनुसार इन्द्र के आधे आसन को प्राप्त कर लेना सर्वाधिक गौरव की बात है। **अन्तर्गतप्रार्थनम्**——हृदय में विद्यमान है (मन्दारमाला पहनने की) अभिलाषा जिसके ऐसे (जयन्त) को। इन्द्र का पुत्र मन ही मन चाह रहा था कि यह माला इन्द्र उसे पहना दें। इन्द्र अपने पुत्र की इस अभिलाषा को समझ रहे थे और इसी कारण वे मुस्कराकर उसकी ओर देख रहे थे। **उद्वीक्ष्य**——ऊपर की ओर देखकर। इससे प्रतीत होता है कि वहाँ इन्द्र एवं दुष्यन्त दोनों ही बैठे रहे होंगे। जयन्त तथा अन्य देवता खड़े रहे होंगे। इसी कारण इन्द्र को ऊपर की ओर देखना पड़ा होगा। **आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का** = पोंछे गये हुए चन्दन के चिह्न से चिह्नित। इन्द्र के वक्षस्थल पर हरिचन्दन का लेप लगा हुआ था तथा वे स्वयं इस मन्दारमाला को धारण किये हुये थे। अतएव उस माला के वक्षस्थल पर रगड़ने से माला में उस लेप के चिह्न लग गये थे। देवलोक में जो चन्दन का वृक्ष है वह इन्द्र को अधिक प्रिय है। उसी कारण उसका नाम हरि (इन्द्र) चन्दन पड़ गया। देवलोक के पांच प्रसिद्ध वृक्षों में से हरिचन्दन भी एक वृक्ष है :—
"पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरि-

चन्दनम् ॥" अमरकोश। इसी हरिचन्दन का लेप हरि (इन्द्र) के वक्षस्थल पर किया जाता था। पद्मपुराण के अनुसार हरिचन्दन एक विशेष प्रकार का लेप है। उसको बनाने की विधि है :—घृष्टं च तुलसीकाष्ठं कर्पूरागुरुयोगतः। अथवा केसरैः योज्यं हरिचन्दनमुच्यते ॥ प० पु० १२।७ ॥ मन्दारमाला=स्वर्ग के प्रसिद्ध पांच वृक्षों (जिनका विवरण अभी ऊपर दिया जा चुका है।) में से एक मन्दार भी है। इसी वृक्ष के पुष्पों से निर्मित माला मन्दारमाला कही गई है। पिनद्धा=बाँध दी अथवा पहिना दी।

मातलिः—किमिव नामायुष्मानमरेश्वरान्नार्हति। पश्य—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं
त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम्
तव शरैरधुना नतपर्वभिः
पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः ॥३॥

अन्वयः—अधुना नतपर्वभिः तव शरैः, पुरा च (नतपर्वभिः) पुरुषकेसरिणः नखैः, उभयैः सुखपरस्य हरेः त्रिदिवं उद्धृतदानवकण्टकं कृतम्।

संस्कृतव्याख्या—अधुना=इदानीम्, नतपर्वभिः=नतानि आकुञ्चितानि पर्वाणि ग्रन्थयः येषां तैः, तव=दुष्यन्तस्य, शरैः=बाणैः, पुरा च=पुराकाले कृतयुगे च, नतपर्वभिः=नतं नमनं पर्वणः सकाशाद् येषां तैः=अंगुलिपर्वभागादारभ्य ईषदाकुञ्चितैः, पुरुषकेसरिणः=पुरुषश्चासौ केसरी चेति पुरुषकेसरी नृसिंहः तस्य, नखैः=कराग्ररुहैः, उभयैः=शरैः नखैश्च, सुखपरस्य=सुखं परं प्रधानं यस्य तस्य भोगेष्वासक्तस्य, हरेः=इन्द्रस्य, त्रिदिवम्=स्वर्गः, उद्धृतदानवकण्टकम्=उद्धृताः समूलं विनाशिताः दानवाः दैत्या एव कण्टकाः यस्मात् तत्, कृतम्=विहितम्। पूर्वं हिरण्यकशिपोर्वधात् या शान्तिः स्वर्गस्य आसीत् अद्य दुर्जयजयात् सैव भवता भूयोऽपि कृता। तत् इत्थमुपकृतवतो भवतः किमदेयमस्ति इन्द्रस्य इति भावः।

मातलि—ऐसी कौन सी वस्तु है जिसे आप इन्द्र से नहीं प्राप्त कर सकते हैं ? देखिये :—

इस समय गाँठों पर से झुके हुए आपके बाणों ने और पहले (प्राचीन समय में) नृसिंह के अग्रभागों में झुके हुए नाखूनों ने, इन दोनों ने सुख में लीन अथवा भोगों में आसक्त इन्द्र के स्वर्ग को दानवरूपी काँटों से रहित कर दिया है।

अलंकारः—इस श्लोक में 'कृतम्' इस एक ही क्रिया का सम्बन्ध प्रस्तुत दुष्यन्त के बाणों तथा अप्रस्तुत नृसिंह के नाखूनों के साथ दिखलाया गया है, अतः इसमें दीपक अलंकार है। छन्द—इसमें द्रुतविलम्बित वृत्त है।

अलंकार है। तथा गौरव के [illegible] उदात्त नामक अलंकार है। छन्दः—इसमें उपजाति नामक वृत्त है।

व्याकरणः—पिनद्धा = अपि + नह् + क्त + टाप्। यहाँ पर "वष्टि भागुरिरल्लोपम्०" इस नियम के अनुसार 'अपि' के अकार का लोप हो जाता है।

समास आदिः—**विसर्जनावसरसत्कारः** = विसर्जनस्य अवसरे सत्कारः (तत्पुरुष)। **दिवौकसाम्** = द्यौः ओकः गृहं येषां ते (बहुव्रीहि) तेषाम्। **समक्षम्** = अक्ष्णोः नेत्रयोः अभिमुखं समक्षम् (अव्ययीभाव)। **अर्धासनोपवेशितस्य** = आसनस्यार्धमर्धासनं तत्र उपवेशितस्य। **अन्तर्गतप्रार्थनम्** = अन्तर्गता प्रार्थना यस्य तम् (बहुव्रीहि)। **आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का** = आमृष्टस्य वक्षोहरिचन्दनस्य अंकः यस्याः सा (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**मनोरथानामभूमिः** = इच्छाओं का अस्थान अथवा अपात्र अथवा अविषय। अभिप्राय यह है कि जैसा राजा का सत्कार हुआ वह कल्पनातीत अथवा आशातीत था। राजा ऐसा सोच भी नहीं सकता था कि उसका ऐसा सत्कार होगा। **विसर्जनावसरसत्कारः** = विदाई के समय किया गया (मेरा) सत्कार। **दिवौकसाम्** = द्यु लोक ही है निवास-स्थान जिनका अर्थात् देवता। **अर्धासनोपवेशितस्य** = अपने आधे आसन पर बैठाये हुए (मुझ को)। राजा दुष्यन्त ने इन्द्रपुरी (स्वर्गलोक) में जाकर देवासुर-संग्राम में इन्द्र की सहायता की थी तथा दुर्जय नामक दानवसमूह को पूर्णतया नष्ट कर दिया था। इन्द्र दुष्यन्त की वीरता तथा पराक्रम से इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि उसने उसका अत्यधिक सम्मान किया। यहाँ तक कि विदाई के समय देवताओं के सामने ही उसने राजा को अपने आसन का आधा भाग देकर बैठाया था। साथ ही अपने गले से उतारकर अपने हाथों से ही मन्दारमाला को उसे पहना दिया था। हिन्दू विचार-धारा के अनुसार इन्द्र के आधे आसन को प्राप्त कर लेना सर्वाधिक गौरव की बात है। **अन्तर्गतप्रार्थनम्**—हृदय में विद्यमान है (मन्दारमाला पहनने की) अभिलाषा जिसके ऐसे (जयन्त) को। इन्द्र का पुत्र मन ही मन चाह रहा था कि यह माला इन्द्र उसे पहना दें। इन्द्र अपने पुत्र की इस अभिलाषा को समझ रहे थे और इसी कारण वे मुस्कराकर उसकी ओर देख रहे थे। **उद्वीक्ष्य**—ऊपर की ओर देखकर। इससे प्रतीत होता है कि वहाँ इन्द्र एवं दुष्यन्त दोनों ही बैठे रहे होंगे। जयन्त तथा अन्य देवता खड़े रहे होंगे। इसी कारण इन्द्र को ऊपर की ओर देखना पड़ा होगा। **आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का** = पोंछे गये हुए चन्दन के चिह्न से चिह्नित। इन्द्र के वक्षस्थल पर हरिचन्दन का लेप लगा हुआ था तथा वे स्वयं इस मन्दारमाला को धारण किये हुये थे। अतएव उस माला के वक्षस्थल पर रगड़ने से माला में उस लेप के चिह्न लग गये थे। देवलोक में जो चन्दन का वृक्ष है वह इन्द्र को अधिक प्रिय है। उसी कारण उसका नाम हरि (इन्द्र) चन्दन पड़ गया। देवलोक के पांच प्रसिद्ध वृक्षों में से हरिचन्दन भी एक वृक्ष है :—
"पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरि-

चन्दनम् (अमरकोष)। इसी हरिचन्दन का लेप हरि (इन्द्र) के वक्षस्थल पर किया जाता था। पद्मपुराण के अनुसार हरिचन्दन एक विशेष प्रकार का लेप है। उसको बनाने की विधि है:—घृष्टं च तुलसीकाष्ठं कर्पूरागुरुयोगतः। अथवा केसरैः योज्यं हरिचन्दनमुच्यते ॥ प० पु० १२।७ ॥ मन्दारमाला=स्वर्ग के प्रसिद्ध पांच वृक्षों (जिनका विवरण अभी ऊपर दिया जा चुका है।) में से एक मन्दार भी है। इसी वृक्ष के पुष्पों से निर्मित माला मन्दारमाला कही गई है। पिनद्धा=बांध दी अथवा पहिना दी।

मातलिः—किमिव नामायुष्मानमरेश्वरान्नार्हति। पश्य—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं
त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम्
तव शरैरधुना नतपर्वभिः
पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः ॥३॥

अन्वयः—अधुना नतपर्वभिः तव शरैः, पुरा च (नतपर्वभिः) पुरुषकेसरिणः नखैः, उभयैः सुखपरस्य हरेः त्रिदिवं उद्धृतदानवकण्टकं कृतम्।

संस्कृतव्याख्या—अधुना=इदानीम्, नतपर्वभिः=नतानि आकुञ्चितानि पर्वाणि ग्रन्थयः येषां तैः, तव=दुष्यन्तस्य, शरैः=बाणैः, पुरा च=पुराकाले कृतयुगे च, नतपर्वभिः=नतं नमनं पर्वणः सकाशाद् येषां तैः=अंगुलिपर्वभागादारभ्य ईषदाकुञ्चितैः, पुरुषकेसरिणः=पुरुषश्चासौ केसरी चेति पुरुषकेसरी नृसिंहः तस्य, नखैः=कराग्ररुहैः, उभयैः=शरैः नखैश्च, सुखपरस्य=सुखं परं प्रधानं यस्य तस्य भोगेष्वासक्तस्य, हरेः=इन्द्रस्य, त्रिदिवम्=स्वर्गः, उद्धृतदानवकण्टकम्=उद्धृताः समूलं विनाशिताः दानवाः दैत्या एव कण्टकाः यस्मात् तत्, कृतम्=विहितम्। पूर्वं हिरण्यकशिपोर्वधात् या शान्तिः स्वर्गस्य आसीत् अद्य दुर्जयजयात् सैव भवता भूयोऽपि कृता। तत् इत्थमुपकृतवतो भवतः किमदेयमस्ति इन्द्रस्य इति भावः।

मातलि—ऐसी कौन सी वस्तु है जिसे आप इन्द्र से नहीं प्राप्त कर सकते हैं? देखिये:—

इस समय गाँठों पर से झुके हुए आपके बाणों ने और पहले (प्राचीन समय में) नृसिंह के अग्रभागों में झुके हुए नाखूनों ने, इन दोनों ने सुख में लीन अथवा भोगों में आसक्त इन्द्र के स्वर्ग को दानवरूपी काँटों से रहित कर दिया है।

अलंकारः—इस श्लोक में 'कृतम्' इस एक ही क्रिया का सम्बन्ध प्रस्तुत दुष्यन्त के बाणों तथा अप्रस्तुत नृसिंह के नाखूनों के साथ दिखलाया गया है, अतः इसमें दीपक अलंकार है। छन्दः—इसमें द्रुतविलम्बित वृत्त है।

व्याकरण— त्रिदिवम् [illegible] सकता है (१) त्रिविधं दीव्यति इति त्रि—दिव्—क (अ)। यहाँ पर "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" (अष्टा० ३।१।१३५) से 'क' प्रत्यय हो जाता है। (२) तृतीयं दिवम्—त्रिदिवम्। *समास आदि*—अमरेश्वरात्—अमराणां ईश्वरात् (तत्पुरुष)। **उद्धृतदानवकण्टकम्**— उद्धृताः दानवकण्टकाः यस्मात् तत् (बहुव्रीहि)। **नतपर्वभिः**—नतानि पर्वाणि येषां तैः।

टिप्पणियाँ—**सुखपरस्य हरेः**—सुख ही है प्रधान जिसका ऐसे इन्द्र का। इससे यह प्रकट किया गया है कि इन्द्र सदैव सुखों तथा भोगों में लिप्त रहने वाला है। **उभयैः**—दोनों अर्थात् दुष्यन्त के बाणों ने तथा नृसिंह के नाखूनों ने। 'उभ' और 'उभय' इन शब्दों का अर्थ 'दो' होता है। इनमें से उभ शब्द द्विवचन में और उभय शब्द एकवचन तथा बहुवचन में प्रयुक्त होता है। यह कैयट का मत है—"उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति"—इति कैयटः, अस्ति इति हरदत्तः (सिद्धांत कौमुदी। सूत्र सं० २१७ में)। हरदत्त के मतानुसार 'उभय' शब्द का प्रयोग तीनों वचनों में होता है। **उद्धृतदानवकण्टकम्**—नष्ट कर दिया गया है राक्षसरूपी काँटों को जहाँ से। **नतपर्वभिः**—इसका बाणों तथा नाखूनों दोनों के साथ अन्वय है। बाण के पक्ष में अर्थ होगा—जो गाँठ पर से झुके हुए हैं अथवा जो गाँठ पर से चिकने या नम्र हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि राजा दुष्यन्त के बाण बहुत लम्बे तथा वेग से फेंके जाने के कारण झुके हुये चलते थे। नाखून के पक्ष में—अँगुलियों के जोड़ पर से मुड़े हुए अर्थात् झुके हुए। **पुरुषकेसरिणः**—पुरुष एवं सिंह अर्थात् नृसिंह अवतार के। यह विष्णु का चौथा अवतार था। इसने हिरण्यकशिपु नाम के दानव को (जिसके अत्याचारों से तीनों लोक आतंकित थे) अपने नाखूनों से फाड़ डाला था और इस भाँति देवों और मनुष्यों का दुःख दूर किया था।

राजा—अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्यः।

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्।
किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
तं चेत् सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥४॥

अन्वय—महत्सु अपि कर्मसु नियोज्याः सिध्यन्ति (इति) यत् तम् ईश्वराणां संभावनागुणं अवेहि। किं वा अरुणः तमसां विभेत्ता अभविष्यत् चेत् सहस्रकिरणः तं धुरि न अकरिष्यत् ?

संस्कृत-व्याख्या—महत्सु अपि=गुरुषु अपि, कर्मसु=कार्येषु, नियोज्याः =सेवकाः अधीनस्थाः [illegible] इति यत्, तम्

ईश्वराणाम् = प्रभूणाम्, संभावनागुणम् = संभावनायाः अयमेतद् कार्यं कर्तुं प्रभवति इति गौरवस्य महिम्ना वा गुणं प्रभावम्, अवेहि = जानीहि । किं वा = किमिति, अरुणः = सूर्यसारथिः, तमसाम् = अन्धकाराणाम्, विभेत्ता = नाशकः, अभविष्यत् = न अभविष्यदित्यर्थः, चेत् = यदि, सहस्रकिरणः = सूर्यः, तम् = अरुणम्, धुरि = अग्रे, न अकरिष्यत् = न अस्थापयिष्यत् ।

राजा—इस विषय में इन्द्र का ही प्रभाव प्रशंसनीय है ।

बड़े-बड़े कार्यों में भी अधीनस्थ व्यक्ति जो सफल हो जाते हैं उसको आप उनके स्वामियों की महिमा (अथवा प्रभाव) का ही फल समझिये । क्या अरुण (सूर्य का सारथि) कभी अन्धकार का नाशक हो सकता था, यदि सूर्य उसको अपनी धुरा में (अग्रभाग में) न लगाता ?

अलंकारः—यहाँ पर इन्द्र तथा दुष्यन्त इन प्रस्तुतों के स्थान पर क्रमशः प्रभु और नियोज्य इन अप्रस्तुतों का कथन किया गया है । अतएव यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है । श्लोक के उत्तरार्ध (विशेष) का पूर्वार्ध (सामान्य) द्वारा समर्थन किये जाने के कारण यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है । छन्दः—इसमें वसन्ततिलका वृत्त है ।

व्याकरण—**विभेत्ता** = वि + भिद् + तृच् (कर्त्तरि) । ***समास आदि***—**संभावनागुणम्** = संभावनायाः गुणम् (तत्पुरुष) । **सहस्रकिरणः** = सहस्राणि किरणाः यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**अत्र** = इसमें, इस विषय में अर्थात् मेरी विजय के बारे में **सिध्यन्ति**—सफल होते हैं । **महत्सु अपि** = महत्वपूर्ण (कार्यों) में भी । **नियोज्याः** = सेवक । यद्यपि शब्दार्थ तो यही है किन्तु यहाँ पर अभिप्राय है—अपने अधीन रहने वाला व्यक्ति । **संभावनागुणम्** = बहुमान का गुण अथवा प्रभाव की महिमा या महत्ता । अर्थात् (स्वामियों की महिमा अथवा महत्ता का प्रभाव ।) राजा के कहने का तात्पर्य यह है कि जब स्वामी अपने सेवक पर विश्वास करके उसे कोई बड़ा काम सौंपकर उसे आगे कर देता है तो उसका उत्साह बढ़ जाता है और परिणामस्वरूप वह बड़े से बड़े कार्यों को करने में सफलता प्राप्त किया करता है । अथवा—सेवक बड़े से बड़े कार्यों के करने में जो सफलता प्राप्त किया करता है उसका कारण स्वामी का प्रभाव ही होता है । इसी भाव को बतलाने वाली ये अन्य सूक्तियाँ भी हैं (i) त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिणः (विक्रमोर्वशीय १-५) (ii) ननु वज्रिणः एव वीर्यमेतद् विजयन्ते द्विषदो यदस्य पक्ष्याः । (विक्रमो० १-१५) । (iii) तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव० (कुमारसंभव ३।१० ॥ (iv) तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् । किरातार्जुनीयम् १-६ ॥ **अरुणः** = यह सूर्य के सारथि का नाम है । **सहस्रकिरणः** = सहस्रों (हज़ारों) किरणों वाला अर्थात् सूर्य । सहस्र शब्द का

प्रयोग 'असंख्य' के अर्थ में भी होता है। सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्—इस यजुर्वेदीय (३१-१) मन्त्र में सहस्र शब्द असंख्य अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। **धुरि**—आगे अर्थात् अग्रभाग में।

मातलिः—सदृशमेवैतत् । (स्तोकमन्तरमतीत्य) आयुष्मन् !
इतः पश्य नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य सौभाग्यमात्मयशसः ।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां
वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु ।
विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं
दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति ।।५।।

अन्वयः—अमी दिवौकसः गीतक्षमं अर्थजातं विचिन्त्य सुरसुन्दरीणां विच्छित्तिशेषैः वर्णैः कल्पलतांशुकेषु त्वच्चरितं लिखन्ति ।

संस्कृतव्याख्या—अमी = दूरे दृश्यमानाः, दिवौकसः = दिवः स्वर्गं ओको निवासो येषां ते देवा इत्यर्थः, गीतक्षमम् = गीतस्य गानस्य क्षमं योग्यं, गेयमित्यर्थः, अर्थजातम् = अर्थानां वस्तूनां जातं समूहं पदावलीमित्यर्थः, विचिन्त्य = विचार्य, सुरसुन्दरीणाम् = देवांगनानाम्, विच्छित्तिशेषैः = विच्छित्त्याः अंगरागात् शेषैः अवशिष्टैः, वर्णैः = रागैः, कल्पलतांशुकेषु = कल्पलताभ्यः उत्पन्नेषु वस्त्रेषु, त्वच्चरितम् = त्वदीयं पराक्रमादिचरितम्, लिखन्ति ।

मातलि—यह कथन आपके अनुकूल ही है। (कुछ दूर आगे चलकर) आयुष्मन् ! इधर स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित अपने यश के सौभाग्य को देखिये :—

ये स्वर्गलोकनिवासी देवगण गाने के योग्य अर्थों को सोचकर (अर्थात् गानयोग्य पदों का निर्माणकर) देव-स्त्रियों के प्रसाधन से अवशिष्ट रंगों से कल्पवृक्ष के वस्त्रों पर आपका चरित (पराक्रमादि) लिख रहे हैं।

अलंकार—इस श्लोक में कर्त्ता, करण एवं अधिकरण तीनों के विशिष्ट निर्देश के द्वारा चरित-लेखन का वर्णन किये जाने से उदात्त अलंकार है। तथा विच्छित्ति से अवशिष्ट अंगराग का लेखन में उपयोग किये जाने से परिणाम अलंकार है। छन्दः—इसमें उपजाति वृत्त है।

समासः—**नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य** = नाकपृष्ठे प्रतिष्ठितस्य (तत्पुरुष)। **विच्छित्तिशेषैः** = विच्छित्त्याः शेषैः (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य** = स्वर्गलोक में स्थित (विद्यमान)। अभिप्राय यह है कि राजा का यश समस्त स्वर्गलोक में फैला हुआ है। नाक शब्द की व्युत्पत्ति—कं सुखं तद्विरुद्धम् अकं दुःखम्, नास्ति अकं अत्र इति नाकः। सौभा-

ग्यम् = प्रतिष्ठा, महत्व, गौरव । [illegible] विच्छित्ति शब्द का मौलिक अर्थ है—टुकड़े टुकड़े करके काटना अथवा चित्रादि खींचना । अतः इसका भाव हो जाता है—अंगराग से रंगबिरंगी आकृतियाँ अथवा चित्र बनाने की क्रिया । अथवा विभिन्न प्रकार के रंगों आदि के द्वारा अपने शरीर पर फूल, बूटे आदि बनाकर अपने अंगों को सजाना । जैसे-आजकल भी स्त्रियाँ मेंहदी आदि के द्वारा अपने हाथों पर फूल आदि के चित्र बनाया करती हैं । स्वर्ग की सुन्दरियों के अंगराग से जो रंग आदि अवशिष्ट बच गया है उससे देवगण तुम्हारे चरित को लिख रहे हैं । **वर्णैः** = लाल-पीले आदि रंगों के द्वारा । ये रंग कस्तूरी, केशर आदि पदार्थों से निर्मित होते हैं । कुछ टीकाकारों ने 'वर्णैः' का अर्थ किया है 'यक्षकर्दमादिभिः' । यक्षकर्दम अनेक सुगन्धित द्रव्यों को मिलाकर बनाया गया हुआ एक प्रकार का कल्क है । "कुंकुमागुरुकस्तूरी कर्पूरं चन्दनं तथा । महासुगन्धमित्युक्तं नामतो यक्षकर्दमः ।।" धन्वन्तरि । **कल्पलतांशुकेषु** = कल्पलताओं से उत्पन्न हुए वस्त्रों पर । कल्पवृक्ष सभी प्रकार के वस्त्रादि भी देता है । **गीतक्षमम्** = गेय अथवा गाने के योग्य—(अर्थ-समूह को सोचकर) । अर्थात् गाने के योग्य सुन्दर पदों की रचनाकर । **अर्थजातम्** = इस शब्द की व्याख्या दो प्रकार से संभव है (१) अर्थानां जातं समूहः यत्र—जहाँ पर अर्थों का अर्थात् अर्थपूर्ण पदों का समूह है । (२) अर्थानां वस्तूनां त्वच्चरितवृत्तान्तानामित्यर्थः जातं समूहः तम्—(आपके) जीवन की घटनाओं के समूह को । तात्पर्य यह है कि देवगण पहले यह विचार करते हैं कि दुष्यन्त के जीवन की किन घटनाओं को गाया जा सकता है । और तदनन्तर वे लिखते हैं । **चरितम्** = तुम्हारा चरित । अर्थात् तुमने जो दुर्जय राक्षसों को मारा है, उस पराक्रम को ये देवगण पद्यरूप में लिख रहे हैं । यह बात ध्यान देने योग्य है कि चरित शब्द का अर्थ है जीवन-चरित अथवा जीवन की घटनायें । चरित शब्द चरित्र अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता है । चरित्र का अर्थ है आचरण और चरित का अर्थ है जीवन-चरित ।

राजा—मातले ! असुरसंप्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता मया न लक्षितः स्वर्गमार्गः । कतमस्मिन् मरुतां पथि वर्त्तामहे ?

राजा—मातलि ! असुरों के साथ युद्ध की उत्सुकता के कारण मैंने पहले दिन स्वर्ग को जाते हुए स्वर्ग के मार्ग को देखा नहीं था (अर्थात् स्वर्ग के मार्ग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था ।) । बताओ कि हम लोग वायु के किस मार्ग में चल रहे हैं ।

मातलिः—

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां
ज्योतींषि वर्त्तयति च प्रविभक्तरश्मिः ।

तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं
वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम् ॥६॥

अन्वयः—यः गगनप्रतिष्ठां त्रिस्रोतसं वहति, प्रविभक्तरश्मिः ज्योतींषि वर्त्तयति च, तस्य परिवहस्य वायोः द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं इमं मार्गं वदन्ति।

संस्कृत-व्याख्या—यः = परिवहनामको वायुः, गगनप्रतिष्ठाम् = गगने आकाशे प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्याः ताम्, त्रिस्रोतसम् = त्रीणि स्रोतांसि यस्यास्तां त्रिमार्गगां आकाशगंगामित्यर्थः, वहति = धारयति । प्रविभक्तरश्मिः = प्रविभक्ताः समन्ततो विस्तृताः रश्मयः वायुरूपाः किरणाः यस्य सः, ज्योतींषि = नक्षत्राणि, वर्तयति च = भ्रमयति च । तस्य परिवहस्य = परिवहनामकस्य, वायोः = पवनस्य, द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम् = द्वितीयेन हरेः विष्णोः विक्रमेण पादप्रक्षेपेण निर्गतं नष्टं तमः शोकः पापं च यस्मात् तम्, इमं मार्गम्—एतं पन्थानम्, वदन्ति = कथयन्ति ।

मातलि—

जो आकाश में स्थित आकाश-गंगा को धारण करता है, जो (अपनी) वायुरूपी किरणों को चारों ओर फैलाकर नक्षत्रों को (यथास्थान) चलाता है, उस परिवह नामक वायु का, वामनरूपधारी विष्णु के द्वितीय चरणप्रक्षेप से अन्धकार-रहित (अर्थात् पवित्र), यह मार्ग कहलाता है ।

अलंकार—इसमें उदात्त नामक अलंकार है । **छन्दः**—इसमें वसन्ततिलका वृत्त है ।

व्याकरण—**संप्रहार** = सम् + प्र + हृ + घञ् । **पूर्वेद्युः** = यहाँ पूर्वस्मिन् अहनि इस अर्थ में "सद्यः परुत्०" (अष्टा० ५।३।२२) से पूर्वेद्यु निपातन हो जाता है । ***समास आदि***—**असुरसंप्रहारोत्सुकेन** = असुरैः संप्रहारे उत्सुकेन (तत्पुरुष) । **त्रिस्रोतसम्** = त्रीणि स्रोतांसि यस्याः ताम् (बहुव्रीहि) । **द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम्** = द्वितीयेन हरेः विक्रमेण निस्तमस्कम् (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**पूर्वेद्युः** = पहले दिन । यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस स्थल पर इस शब्द का अर्थ 'बीता हुआ कल' नहीं है क्योंकि छठे अंक के अन्तिम भाग की तथा सप्तम अंक के प्रारम्भ की घटनाओं के बीच पर्याप्त समय अवश्य लगा होगा । यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह समय एक सप्ताह अथवा १० दस दिन तक हो सकता है । **मरुतां कतमस्मिन् पथि** = वायुओं के किस मार्ग में ? **पाठभेदः**—कतरस्मिन् । दो की तुलना में कतर का तथा बहुतों की तुलना में कतम का प्रयोग किया जाता है । आकाशीय वायु सात प्रकार की मानी गई हैं । अतः कतमस्मिन् पाठ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । हिन्दू विचारधारा के अनुसार आकाश के सात भाग स्वीकार किये गये हैं तथा प्रत्येक

भाग में एक-एक प्रकार की वायु मानी गई है। इस प्रकार निम्नलिखित ७ वायुएँ स्वीकार की गई हैं :—"भूवायुरावह इह प्रवहस्तदूर्ध्वं स्याद्बहस्तदनु संवहसंज्ञकश्च। अन्यस्ततोऽपि सुवहः परिपूर्वकोऽस्माद् बाह्यः परावह इमे पवनाः प्रसिद्धाः ॥ सिद्धान्तशिरोमणि॥ अर्थात् आवह, प्रवह, उद्वह, संवह, सुवह, परिवह, परावह—ये सात प्रकार की वायुओं के नाम हैं। सर्वप्रथम भूलोक है जो कि पृथ्वी और पाताल से लेकर सूर्य तक फैला हुआ है। इसके वायु का नाम आवह है। यह वायुमण्डल बादलों तथा विद्युत् आदि को धारण किये रहता है। दूसरा सूर्य का मार्ग है। इसके वायु का नाम प्रवह है। इसका कार्य सूर्य को घुमाना है। तीसरा चन्द्रमा का मार्ग है। इसके वायु का नाम संवह है। यह चन्द्रमा को प्रेरित करता है। चतुर्थ नक्षत्रों का मार्ग है। इसमें उद्वह नामक वायु रहती है जो कि नक्षत्रों को घूमने के लिये प्रेरित करती है। पंचम मार्ग ग्रहों का है। इसके वायु का नाम विवह है। इसका कार्य ग्रहों को चलाना है। छठा सप्तऋषियों का मार्ग है। इसमें परिवह नामक वायु रहती है। यह सात तारों तथा स्वर्गंगा को धारण करती है। सप्तम ध्रुवतारे का मार्ग है जो कि सम्पूर्ण ग्रहसमूह का केन्द्रबिन्दु के रूप में है। इस मार्ग में परावह नामक वायु है जो कि सूर्य, चन्द्र तथा तारे आदि सभी प्रकाश-पुञ्जों को धारण किये हुए है। प्रथम मार्ग को छोड़कर शेष सभी मार्ग स्वर्गलोक के अन्तर्गत आते हैं। ब्रह्माण्ड-पुराण में इन सातों का वर्णन इस प्रकार आता है :— "आवहः प्रवहश्चैव संवहश्चोद्वहस्तथा। विवहाख्यः परिवहः परावह इति क्रमात् ॥ सप्तैते मारुतस्कन्धा महर्षिभिरुदीरिताः ॥ **त्रिस्रोतसम्** = तीन स्रोतों वाली गंगा को। गंगा के तीन स्रोत अथवा मार्ग माने गये हैं (१) स्वर्ग में प्रवाहित होने वाला स्रोत जिसको 'मन्दाकिनी' अथवा आकाशगंगा कहते हैं। (२) पृथ्वी पर प्रवाहित पृथ्वी पर प्रवाहित होने वाला स्रोत जिसे 'भागीरथी' कहते हैं तथा (३) पाताल में प्रवाहित होने वाला स्रोत जिसे 'भोगवती' कहते हैं। 'परिवह' नामक वायु के अन्तर्गत सप्तर्षि नक्षत्र तथा आकाशगंगा है। "सप्तर्षिचक्रं स्वर्गंगा षष्ठः परिवहस्तथा ॥" ब्रह्माण्डपुराण ॥ इसीलिये इन दोनों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है। वायुपुराण में भी (५१-४६, ४७) आता है :—"श्रेष्ठः परिवहो नाम तेषां वायुरपाश्रयः। योऽसौ बिभर्त्ति भगवान् गंगामाकाशगोचराम् ॥" **ज्योतींषि** = नक्षत्रों को। इस स्थल पर नक्षत्रों से तात्पर्य सप्तर्षि नक्षत्रों से है। **प्रविभक्तरश्मिः** = विभक्त कर दी हैं (प्रकाश-पुञ्जों की) रश्मियाँ जिसने ऐसा वायु अथवा विभक्त हो गई हैं वायुरूपी किरणें जिसकी। **द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम्** = विष्णु के दूसरे चरण के रखने के कारण अन्धकार (पापों) से रहित (अर्थात् पवित्र)। यहाँ पर विष्णु के वामनावतार की ओर संकेत है। हिरण्यकशिपु के वंशज बलि नामक राक्षस को मारने के निमित्त विष्णु वामन अवतार के रूप में उत्पन्न हुए। उन्होंने तीनों लोकों के अधिपति बलि से तीन पग भूमि दान में माँगी। उसने अपनी स्वीकृति दे दी। वामन ने अपना विराट् रूप धारण कर लिया और एक ही पग में समस्त पृथ्वी नाप ली और दूसरे पग में स्वर्ग

को नाप डाला। इसके पश्चात् उन्होंने अपना तीसरा पग रखने के निमित्त बलि से स्थान माँगा। ऐसी स्थिति में बलि ने उनके तीसरे पग को अपने सिर पर रखने की आज्ञा दे दी। वामनरूप विष्णु ने उस बलि के सिर पर पैर रखकर उसे पाताल पहुँचा दिया। वस्तुतः यह कथा वैदिक आख्यान का विकृत रूप ही है। विष्णु सूर्य है। इसके उदय, मध्याह्न और अस्त रूपी तीन पग हैं कि जिनके द्वारा वह तीनों लोकों को नाप लिया करता है। **पाठभेद**—"तस्य व्यपेतरजसः प्रवहस्य वायोर्मार्गो द्वितीयहरिविक्रमपूत एषः।" इस पाठ में प्रवह वायु का वर्णन उपलब्ध होता है। किन्तु प्रवह वायु से ज्योतींषि (सप्तर्षि) का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता है। अतः यहाँ पर सप्तर्षियों से सम्बन्धित परिवह वायु का पाठ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

राजा—मातले ! अतः खलु सबाह्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति। (रथाङ्गमवलोक्य) मेघपदवीमवतीर्णौ स्वः।

राजा—हे मातलि ! इसीलिये मेरी अन्तरात्मा बाह्य (चक्षु इत्यादि) इन्द्रियों तथा अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) सहित प्रसन्न हो रही है। (पहिये की ओर देखकर) (इस समय) हम लोग मेघों के मार्ग पर उतर आये हैं।

मातलिः—कथमवगम्यते ?

मातलि—(आपने यह) कैसे समझा ?

राजा—

अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि-
हँरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां
पिशुनयति रथस्ते सीकरक्लिन्ननेमिः ॥७॥

अन्वयः—अयं ते सीकरक्लिन्ननेमिः रथः अरविवरेभ्यः निष्पतद्भिः चातकैः अचिरभासां तेजसा अनुलिप्तैः हरिभिः च वारिगर्भोदराणां घनानां उपरि गतं पिशुनयति।

संस्कृत-व्याख्या—अयं ते = तव (मातलेः)—त्वत्परिचालित इत्यर्थः, सीकरक्लिन्ननेमिः = सीकरैः जलकणैः क्लिन्ना आर्द्राः नेमयः चक्रप्रान्तभागाः यस्य सः, रथः = स्यन्दनः, अरविवरेभ्यः = अराणां चक्राङ्गविशेषाणां विवरेभ्यः अन्तरालेभ्यः, निष्पतद्भिः = उड्डीय बहिरागच्छद्भिः, चातकैः = मेघप्रियैः पक्षिविशेषैः, अचिरभासाम् = अचिरा क्षणिका भाः दीप्तिः यासां तासां

विद्युतामित्यर्थः, तेजसा = कान्त्या, अनुरञ्जितैः = रञ्जितैः, हरिभिः च = अश्वैश्च, वारिगर्भोदराणाम् = वारि जलं गर्भे मध्ये येषां तानि वारिगर्भाणि तथाविधानि उदराणि मध्यभागा येषां तेषाम्, घनानाम् = मेघानाम्, उपरि = ऊर्ध्वभागे, गतम् = गमनम्, पिशुनयति = सूचयति ।

राजा—यह तुम्हारा जल-कणों से गीले पहिये की परिधि वाला रथ, अरों के बीच में से निकलते हुए चातकों और विद्युत् के प्रकाश से रंजित घोड़ों के द्वारा, जल से परिपूर्ण मध्य भागों वाले मेघों के ऊपर चलने को सूचित कर रहा है।

अलंकार:—इस श्लोक में रथ के मेघ-पथ पर गमन करने के दो कारण श्लोक के पूर्वार्ध भाग में वर्णित हैं। अतः समुच्चय अलंकार हैं। "सीकरक्लिन्ननेमिः" मेघ-पथ पर जाने का कारण है, अतः काव्यलिंग अलंकार है। कारणों के द्वारा मेघ-पथ पर गमन करने का अनुमान किये जाने से यहाँ अनुमान अलंकार भी है। **छन्दः**—इसमें मालिनी वृत्त है।

व्याकरण:—अवतीर्णौ = अव + तृ + क्त। **पिशुनयति** — = पिशुन + णिच्। **समासः**—**सबाह्यान्तःकरणः** = बाह्यानि करणानि अन्तःकरणानि च तैः सह—(बहुव्रीहि)। **अरविवरेभ्यः** = अराणां विवरेभ्यः (तत्पुरुष)। **अचिरभासाम्** = न चिरा भाः यासां तासाम् (बहुव्रीहि)। **वारिगर्भोदरायणम्** = वारि गर्भे येषां तानि वारिगर्भाणि उदराणि येषां तेषाम् (बहुव्रीहि)। **सीकरक्लिन्ननेमिः** = सीकरैः क्लिन्नाः नेमयः यस्य सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ:—**सबाह्यान्तःकरणः** = बाह्य इन्द्रिय और अन्तःकरणों के साथ। करण—इन्द्रियाँ। ये बाह्य इन्द्रियाँ दस हैं: (१) पाँच ज्ञानेन्द्रिय। (२) पाँच कर्मेन्द्रिय। (१) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ये हैं:—चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, जिह्वा, नासिका। (२) पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाणी, हाथ, पैर, गुदा (मलेन्द्रिय), उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय)। "श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पंचमी। पायूपस्थं पाणि-पादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥" अन्तःकरण के अन्तर्गत ४ वस्तुयें आती हैं: (१)-मन, (२) बुद्धि, (३) चित्त, (४) अहंकार। **मेघपदवीम्** = मेघों अथवा बादलों के मार्ग पर। पृथ्वी से लेकर बादलों तक 'आवह' नामक वायु है। "भूमेर्बहिर्द्वादश योजनानि भूवायुरत्राम्बुदविद्युदाद्यम्"। (भास्कराचार्य—सिद्धान्तशिरोमणि में)॥ **अरविवरेभ्यः** = अरों के (बिवर में विद्यमान) छिद्रों अथवा स्थानों से। पहिये के बीच में तिरछे लगे हुए डंडों को अर अथवा अरा कहा जाता है। **चातकैः** चातक एक पक्षी होता है। इसके बारे में ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह बादलों के जल को ही पीता है, पृथ्वी पर पड़े हुए जल को नहीं। हिन्दी में इसको 'पपीहा' शब्द द्वारा भी कहा जाता है। इसके बारे में नीतिशतक में आता है:—"सूक्ष्मा एव पतन्ति चातकमुखे द्वित्राः पयोविन्दवः॥" **अचिरभासांतेजसा** = जिसकी चमक अधिक समय तक नहीं ठहरती, ऐसी विद्युतों के प्रकाश से। **वारि-गर्भोदराणाम्** = जल से परिपूर्ण हैं मध्यभाग जिनके ऐसे (बादलों का)। **पिशु-**

नयति—सूचित करता है। सीकरक्लिन्ननेमिः = जल की बूँदों से गीली है हाल (नेमि—पहिये की परिधि) जिसकी (ऐसा रथ)।

मातलिः—क्षणादायुष्मान् स्वाधिकारभूमौ वर्तिष्यते ।

राजा—(अधोऽवलोक्य) वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः । तथा हि—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णस्वान्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः ।
सन्तानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥८॥

अन्वय—मेदिनी उन्मज्जतां शैलानां शिखराद् अवरोहति इव । पादपाः स्कन्धोदयात् पर्णस्वान्तरलीनतां विजहति । तनुभावनष्टसलिलाः आपगाः सन्तानैः व्यक्तिं भजन्ति । पश्य केन अपि उत्क्षिपता इव भुवनं मत्पार्श्वं आनीयते ।

संस्कृत-व्याख्या = मेदिनी = भूमिः, उन्मज्जताम् = सहसा उत्प्लुत्य इव प्रकटीभवतां शैलानाम् = पर्वतानाम्, शिखरात् = शृंगात्, अवरोहति इव = अधोगच्छतीव । पादपाः = वृक्षाः, स्कन्धोदयात् = स्कन्धानां प्रकाण्डानां उदयात् आविर्भावात्, पर्णस्वान्तरलीनताम् = पर्णेषु पत्रेषु स्वस्य आत्मनः अन्तरे मध्ये लीनतां निगूढत्वम् विजहति = त्यजन्ति । तनुभावनष्टसलिलाः = तनुभावेन दूरात् क्षीणतया दृश्यमानत्वात् नष्टानि अलक्षितानि सलिलानि जलानि यासां ताः, आपगाः = नद्यः, सन्तानैः = विस्तारैः, व्यक्तिम् = प्रकटताम्, भजन्ति = यान्ति । पश्य = अवलोकय, केनापि = अदृश्येन केनापि पाणिना, उत्क्षिपता इव = ऊर्ध्वं प्रेरयता इव, भुवनम् = भूलोकः, मत्पार्श्वम् = मम समीपम्, आनीयते = प्राप्यते ।

राजा—(नीचे की ओर देखकर) वेग के साथ उतरने के कारण (यह) पृथिवी आश्चर्यजनक दिखलाई पड़ रही है । क्योंकि—

ऊपर उठते हुए (अथवा प्रकट होते हुए) पर्वतों की चोटियों से पृथ्वी मानों नीचे उतर रही है। वृक्ष तनों के प्रकट होने से पत्तों में अपने छिपे हुए होने की दशा को छोड़ रहे हैं। (दूर से) सूक्ष्म होने के कारण जिनका जल दिखाई नहीं पड़ रहा था, ऐसी नदियाँ (अब) विस्तार के कारण प्रकट हो रही हैं । देखिये,

---

पाठभेदः—१. पर्णाभ्यन्तरलीनताम्—पत्तों के अन्दर छिपना ।

किसी ऊपर की ओर [illegible] या जा रहा है।

अलंकार:—इस श्लोक में ऊपर से नीचे की ओर उतरने के अनुभव का स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अतः स्वभावोक्ति अलंकार है। चतुर्थ चरण के प्रति शेष तीनों चरण कारण हैं। अतः काव्यलिंग अलंकार है। 'इव' के द्वारा उत्प्रेक्षा अलंकार है। **छन्दः**—इसमें शार्दूलविक्रीडित वृत्त है।

व्याकरण:—विजहति = वि + हा + लट् (प्रथम पुरुष का बहुवचन का रूप है।) *समासः*—**पर्णाभ्यन्तरलीनताम्** (पाठ भेद में) = पर्णानां अभ्यन्तरे लीनताम् (तत्पुरुष) । **तनुभावनष्टसलिलाः** = तनुभावेन नष्टानि सलिलानि यासां ताः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**स्वाधिकारभूमौ** = अपने अधिकार की भूमि पर। अभिप्राय—ऐसी भूमि अथवा स्थल कि जिस पर दुष्यन्त का अधिकार था। **अवरोहति इव** = उतरती सी है। पहले जब राजा पृथ्वी से अधिक दूरी पर था, उस समय राजा को पृथ्वी और पर्वत समतल दृष्टिगोचर हो रहे थे किन्तु जब उनका रथ तीव्र गति से नीचे की ओर उतरने लगा तो राजा को पृथ्वी पहाड़ों की चोटियों से नीचे की ओर उतरती हुई सी दिखलाई पड़ रही थी। **उन्मज्जताम्** = प्रकट होते हुए अथवा ऊपर की ओर उठे हुये पर्वतों के। **मेदिनी** = पृथ्वी। पुराणों के अनुसार मेदिनी शब्द की व्युत्पत्ति मेदस् अर्थात् चर्बी से स्वीकार की गई है। जब विष्णु ने मधु तथा कैटभ नामक राक्षसों को मारा तब उनकी चर्बी (मेदस्) से पृथ्वी भर गई। इसी कारण पृथ्वी को मेदिनी कहा गया। "मधुकैटभयोरासीन्मेदसैव परिप्लुता। तेनेयं मेदिनी देवी प्रोच्यते ब्रह्मवादिभिः"॥ **पर्णस्वान्तरलीनताम्** = पत्तों के अन्दर अपने छिपे हुए होने की दशा को। रथ के दूर होने के कारण वृक्ष ऐसे प्रतीत हो रहे थे कि मानो वे पत्ते से ढके हुए हों। समीप आने पर उनके तने आदि दृष्टिगोचर होने लगे। **सन्तानैः** = विस्तार के कारण पाठभेद—**सन्तानात्** = विस्तार के कारण। अर्थ में अन्तर नहीं है। **तनुभावनष्टसलिलाः** = क्षीण होने के कारण नहीं दिखलाई पड़ रहे हैं जल जिनके ऐसी नदियाँ। रथ की दूरी के कारण नदियाँ बहुत पतली सी दृष्टिगोचर हो रही थीं तथा ऐसा प्रतीत हो रहा था कि इनमें जल नहीं है। समीप आने पर उनमें जल दिखलाई पड़ने लगा। **व्यक्तिम्** = प्रकटता को। **भजन्ति** = प्राप्त होती हैं। **उत्क्षिप्ता** = ऊपर की ओर फेकने वाले किसी व्यक्ति के द्वारा।

मातलिः—साधु दृष्टम्। (सबहुमानमवलोक्य) अहो, उदाररमणीया पृथ्वी।

मातलि—(ठीक देखा। (अधिक आदर के साथ देखकर) अहो, (यह) पृथ्वी कैसी विस्तृत और मनोहर (दिखलाई पड़ रही) है।

राजा—मातले ! कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरस-निस्यन्दी सान्ध्य इव मेघपरिघः सानुमानालोक्यते ?

राजा—मातलि, पूर्व और पश्चिम समुद्रपर्यन्त फैला हुआ, सुवर्ण के रस को बहाने वाला, सायंकालीन मेघों की अर्गला के सदृश, यह कौन-सा पर्वत दृष्टि-गोचर हो रहा है ?

मातलिः—आयुष्मन् ! एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुषपर्वत-स्तपःसंसिद्धिक्षेत्रम् । पश्य—

> स्वायंभुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः ।
> सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति ॥९॥

अन्वयः—स्वायंभुवात् मरीचेः यः प्रजापतिः प्रबभूव, सुरासुरगुरुः स सपत्नीकः अत्र तपस्यति ।

संस्कृत-व्याख्या—स्वायम्भुवात् = स्वयं भवतीति स्वयम्भूः ब्रह्मा तस्यापत्यं पुमान् स्वायंभुवः = ब्रह्मणः मानसः पुत्रः = तस्मात्, मरीचेः = मरीचिनाम्नः मुनेः, यः प्रजापतिः = लोकस्रष्टा । कश्यप इति नाम, प्रबभूव = जज्ञे । सुरासुरगुरुः = सुराणां देवानां असुराणां दैत्यानां च गुरुः पिता, सः = कश्यपः, सपत्नीकः = पत्न्या भार्यया अदित्या सहितः, अत्र = अस्मिन् पर्वते (हेमकूट-पर्वते), तपस्यति—तपः आचरति ।

मातलि—आयुष्मन् ! यह हेमकूट नाम का किंपुरुषों (किन्नरों) का पर्वत है जो तपस्या की सफलता के लिये सर्वोत्तम स्थान है । देखिये :—

ब्रह्मा के पुत्र मरीचि से जो प्रजापति उत्पन्न हुए हैं, देवों और दानवों के पिता वह (कश्यप) अपनी पत्नी सहित यहाँ पर तपस्या करते हैं ।

छन्दः—इसमें श्लोक नामक वृत्त है ।

व्याकरणः—तपस्यति = यहाँ "कर्मणो रोमन्थ..." (अष्टा० ३।१।१५) से क्यङ् (य) और "तपसः परस्मैपदं च" इस वार्तिक से परस्मैपद हो जाता है ।
समास आदिः—उदाररमणीया = उदारा चासौ रमणीया इति (कर्मधारय) । **पूर्वापरसमुद्रावगाढः**—पूर्वं अपरं च समुद्रं अवगाढः (तत्पुरुष) । **कनकरसनिस्यन्दी** = कनकरसस्य निस्यन्दः, स अस्यास्तीति । यहाँ पर मत्वर्थ में 'इन्' हो जाता है । इस शब्द के दो रूप प्रयुक्त होते हैं : (१) निस्यन्द, (२) निष्यन्द । क्योंकि यहाँ पर "अनुविसर्ज..." इत्यादि ([illegible]) से विकल्प करके 'स्' के स्थान पर 'ष्' हो जाता है । पाठभेदः—**कनकरसनिस्यन्दः** = कनकरसस्य

निस्यन्दः यत्र तादृशः इति (व्यधिकरण बहुव्रीहिः) । तपःसंसिद्धिक्षेत्रम्—तपसः संसिद्धिः इति, तस्याः क्षेत्रम् (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**पूर्वापरसमुद्रावगाढः**=पूर्व और पश्चिम के समुद्र तक फैला हुआ अथवा में प्रविष्ट। अर्थात् पूर्व के समुद्र से लेकर पश्चिम के समुद्र तक स्थित। छः वर्षपर्वत स्वीकार किये गये हैं, जो पूर्व से लेकर पश्चिम समुद्र-पर्यन्त फैले हुए हैं। उन छः में से यह भी एक है। "प्रागायता महाराज षडेते वर्षपर्वताः। अवगाढा ह्युभयतः समुद्रौ पूर्वपश्चिमौ ।।" **कनकरसनिस्यन्दी**=सोने के रस को फैलाने वाला। **हेमकूटः**=सुनहरी चोटियों वाला पर्वत। यह वर्षपर्वतों में से एक है। यह पर्वत हिमालय के उत्तर में कैलास के समीप अवस्थित माना गया है। **किंपुरुषपर्वतः**=किंपुरुष (किन्नर) नाम के देश का पर्वत अथवा किंपुरुषों (किन्नरों) का पर्वत। किन्नरों का शरीर मनुष्य का और सिर घोड़े का होता है। ये कुबेर के नौकर माने जाते हैं। पुराणों के अनुसार समस्त संसार 'जम्बु, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर' इन सात द्वीपों में विभक्त था। इनमें से प्रत्येक द्वीप सात-सात वर्षों (देशों) में विभक्त था, जिनके अपने अपने पर्वत थे और जो समुद्रों से घिरे होते थे। जम्बुद्वीप के ये नौ वर्ष (देश) निम्न हैं :—कुरु, हिरण्मय, रम्यक, इलावृत, हरि, केतुमाल, भद्राश्व, किंपुरुष अथवा किन्नर, भारत। वर्षपर्वत वे कहलाते थे कि जो एक वर्ष (देश) को दूसरे वर्ष (देश) से पृथक् किया करते थे। **तपःसंसिद्धिक्षेत्रम्**=तपस्या की पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने का स्थान। **स्वायंभुवात्**=स्वयं उत्पन्न होने वाले अर्थात् ब्रह्मा (स्वयंभू) के पुत्र (मरीचि) से। **प्रजापतिः**=यहाँ कश्यप ऋषि से तात्पर्य है। ये मानव सृष्टि के स्वामी थे। कश्यप मरीचि के पुत्र थे, इस कारण उनको मारीच भी कहा जाता है। इनकी एक स्त्री का नाम अदिति था। ये देवताओं और राक्षसों के पिता माने गये हैं। महाभारत के आदिपर्व ६६१ के सात प्रजापतियों तथा विष्णु-पुराण के नव प्रजापतियों में इनका नाम उपलब्ध नहीं होता है। वायुपुराण में इनको प्रजापति कहा गया है। इनकी स्त्रियाँ दिति, अदिति तथा दक्ष की ग्यारह पुत्रियाँ हैं। दिति से दैत्यों (राक्षसों) की तथा अदिति से देवताओं की उत्पत्ति हुई। इसी कारण इनको **सुरासुरगुरु** भी कहा गया है।

राजा—तेन ह्यनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि । प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि ।

राजा—तब तो कल्याणों को छोड़कर नहीं जाना चाहिये। (मैं) भगवान् (कश्यप) की प्रदक्षिणा करके ही जाना चाहता हूँ।

मातलिः—प्रथमः कल्पः ।

(नाट्येनावतीर्णौ ।)

मातलि—(यह आपका) उत्तम विचार है।

(दोनों उतरने का अभिनय करते हैं।)

राजा—(सविस्मयम्)

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः

प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः ।

अभूतलस्पर्शतयानिरुद्धत-

स्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥१०॥

अन्वयः—अभूतलस्पर्शतया रथांगनेमयः उपोढशब्दाः न। रजः च प्रवर्त्तमानं न दृश्यते। अनिरुद्धतः तव रथः अवतीर्णः अपि न लक्ष्यते।

संस्कृत-व्याख्या—अभूतलस्पर्शतया—न विद्यते भूतलस्य स्पर्शो यस्य सः अभूतलस्पर्शः तस्य भावः तेन—पृथिव्याः स्पर्शाभावेन इत्यर्थः, रथांगनेमयः—रथांगानां चक्राणां नेमयः प्रान्तभागा, उपोढशब्दाः—उपोढाः प्रारब्धाः शब्दाः स्वनाः यैः ते तथाविधाः, न—न सन्ति। रजः च—धूलयश्च, प्रवर्तमानम्—चक्रैः अश्वखुरैश्च उत्क्षिप्तम्, न दृश्यते—नावलोक्यते। निरुद्धतः—निर्गतं उद्धतं प्रतिघातजः क्षोभः यस्मात् तथाविधः, तव—मातले, रथः—स्पन्दनः, अवतीर्णः अपि—हेमकूटशिखरमागतोऽपि, न लक्ष्यते—अवतीर्ण इति न ज्ञायते।

राजा—(आश्चर्य के साथ)

पृथ्वी का स्पर्श न होने के कारण रथ के पहियों के अग्रभागों ने शब्द नहीं किया। धूलि भी उठती हुई नहीं दिखलाई पड़ रही है। झटका न लगने के कारण तुम्हारा रथ (पृथ्वी पर) उतरा हुआ होने पर भी वैसा (उतरा हुआ) ज्ञात नहीं हो रहा है।

अलंकारः—इस श्लोक में रथ के उतरने रूपी कारण के होने पर भी शब्द इत्यादि कार्यों के न होने के कारण विशेषोक्ति अलंकार है। उतरना ज्ञात न होने के प्रति अन्य पूर्वकथित वाक्य कारण हैं अतः यहाँ काव्यलिंग अलंकार है।

छन्दः—इसमें वंशस्थ वृत्त है।

समासः—उपोढशब्दाः—उपोढाः शब्दाः यैस्ते (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**अनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि**—कल्याण अथवा श्रेयस्कर अवसरों का उल्लंघन अथवा त्याग नहीं करना चाहिये। इसीलिये महाकवि ने रघुवंश में कहा है—"प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः" (रघु० १।७९॥)। **श्रेयांसि**—कल्याण। यहाँ शुभ आशीर्वाद देने वाले ऋषि से ही तात्पर्य है। **प्रदक्षिणी-**

कृत्य—प्रदक्षिणा करने के पश्चात् । मनु ने प्रदक्षिणा के सम्बन्ध में निर्देश देते

हुए लिखा है:—"मृदंगं दैवतं विप्रं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत विज्ञातांश्च वनस्पतीन्" ।। मनु० ४।३९ ।। **प्रथमः**—मुख्य, श्रेष्ठ, उत्तम । **कल्पः**—विचार । **उपोढशब्दाः**—धारण किये गये शब्दों (ध्वनियों) से युक्त । **रथांगनेमयः**—पहियों की परिधियाँ अथवा अग्रभाग । **निरुद्धतः**—झटका न लगने से । पाठभेदः—**अनिरुद्ध**—न रोकना । लगाम न खींचे जाने से । इनमें 'निरुद्धतिः' (निर्गता उद्धतिः यस्मात्) पाठ अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है ।

मातलिः—एतावानेव शतक्रतोरायुष्मतश्च विशेषः ।

मातलि—आयुष्मान् (आप) के और इन्द्र के रथ में इतना ही अन्तर है ।

राजा—मातले ! कतमस्मिन् प्रदेशे मारीचाश्रमः ?

राजा—मातलि, मारीच का आश्रम किस स्थान पर है ?

मातलिः—हस्तेन दर्शयन्

वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा सन्दष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः ।
अंसव्यापिशकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः ।।१।।

अन्वयः—यत्र वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिः, सन्दष्टसर्पत्वचा उरसा (उपलक्षितः), जीर्णलताप्रतानवलयेन कण्ठे अत्यर्थसंपीडितः अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं जटामण्डलं बिभ्रत् असौ मुनिः स्थाणु इव अचलः अभ्यर्कबिम्बं स्थितः ।

संस्कृत-व्याख्या—यत्र—यस्मिन् स्थाने, वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिः—वल्मीके पिपीलिकाकृतस्तूपे अर्धनिमग्ना मूर्तिः शरीरं यस्य सः तथाविधः, संदष्टसर्पत्वचा—संदष्टा सम्यक् लग्ना सर्पत्वक् निर्मोको यस्मिन् तथाविधेन, उरसा—वक्षसा उपलक्षितः, जीर्णलताप्रतानवलयेन—जीर्णानां शुष्काणां लतानां वल्लीनां प्रतानानां तन्तूनां वलयेन, कण्ठे—गलप्रदेशे, अत्यर्थसंपीडितः—अत्यर्थं अत्यधिकं संपीडितः दृढं निबद्धः, अंसव्यापि—अंसौ स्कन्धौ व्याप्नोति इति तत्, शकुन्तनीडनिचितम्—शकुन्तानां पक्षिणां नीडैः कुलायैः निचितं व्याप्तम्, जटामण्डलम्—जटासमूहम् बिभ्रत्—धारयन्, असौ—दूरे दृश्यमानः, मुनिः—ऋषिः, स्थाणुः इव—वृक्षकाण्ड इव, अचलः—निश्चलः, अभ्यर्कबिम्बम्—अर्कस्य सूर्यस्य बिम्बं मण्डलं तत् अभि (अव्ययीभावः) सूर्यमण्डलमभिलक्ष्य इत्यर्थः, स्थितः—तिष्ठति ।

मातलि—(हाथ से दिखाते हुए)

जहाँ वामी में दबे हुए आधे शरीर वाले, सर्प की केंचुली से संलग्न वक्षस्थल (छाती) वाले, जीर्णलता-तन्तु-समूह से अत्यधिक पीड़ित कण्ठ-प्रदेश से युक्त, कन्धों तक फैली हुई और पक्षियों के घोंसलों से व्याप्त जटा-समूह को धारण करने वाले वह मुनि स्थाणु (ठूंठ) के सदृश निश्चल होकर सूर्यमण्डल की ओर मुख करके स्थित हैं।

अलंकारः——इस श्लोक में विशेषणों के साभिप्राय होने के कारण परिकर अलंकार है। 'स्थाणु इव' के द्वारा उपमा अलंकार है। **छन्दः**——इसमें शार्दूल-बिक्रीडित वृत्त है।

व्याकरण——**अभ्यर्कबिम्बम्**——इसमें 'अभिरभागे' (अष्टा० १।४।९१।] में अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर "कर्मप्रवचनीय०" इत्यादि (अष्टा० २।३।८) से द्वितीया विभक्ति हो जाती है। 'अभ्यर्कबिम्बम्' को एक ही शब्द भी माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में "लक्षणेनाभिप्रती०" इत्यादि (अष्टा० २।१-१।४) से अव्ययीभाव समास होता है। *समासः*——**वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिः**——वल्मीके अर्धनिमग्ना मूर्तिः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **सन्दष्टसर्पत्वचा**——सन्दष्टा सर्पस्य त्वक् यत्र तेन (बहुव्रीहि)। **जीर्णलताप्रतानवलयेन**——जीर्णानां लताप्रतानानां वलयेन (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ——**एतावानेव इत्यादि**——आपके तथा इन्द्र के रथ में यही अन्तर है कि आपका रथ पृथ्वी को छूकर चलता है अतः उसके साथ सभी बातें हुआ करती हैं जिनका उल्लेख "उपोढशब्दाः" इत्यादि श्लोक में किया गया है। किन्तु इन्द्र का रथ पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता, अतः उसमें वे सब बातें नहीं हुआ करती हैं। **वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिः**——दीमक द्वारा जो मिट्टी का ऊँचा-सा ढेर बना लिया जाया करता है उसी को वल्मीक अथवा वामी कहा जाया करता है। इसी ढेर में दबा अथवा छिपा हुआ है शरीर जिसका ऐसा। **संदष्टसर्पत्वचा उरसा**——लिपटी (अथवा लगी) हुई हैं सर्प की केंचुलियाँ वक्षस्थल पर जिसके ऐसा। संदष्टः——लिपटी हुई अथवा लगी हुई। **स्थाणु के पक्ष में**——जिसके मध्यभाग में केंचुली लगी हुई है। **जीर्णलताप्रतानवलयेन**——पुरानी (सूखी) लताओं के तन्तुओं से जिसका गला अत्यन्त जकड़ गया है। **अंसव्यापि**=कन्धों तक फैली हुई। **शकुन्तनीडनिचितम्**=पक्षियों के घोंसलों से युक्त (जटासमूह को धारण किये हुए)। उपर्युक्त वर्णन से यह ध्वनि निकलती है कि वह ऋषि कई वर्षों से तपस्या कर रहा था। **अभ्यर्कबिम्बम्** = सूर्यमण्डल की ओर लक्ष्य करके अर्थात् सूर्य-मंडल की ओर अपने मुख को किये हुए।

विशेष——इस श्लोक में महाकवि ने समाधिस्थ योगी का अत्यन्त सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। [illegible] का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है।

राजा—नमस्ते कष्टतपसे ।

राजा—कठोर तप करने वाले ऋषि को प्रणाम है ।

मातलिः—(संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा) एतावदितिपरिर्वाधितमन्दार-वृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः ।

मातलि—(रथ को नियन्त्रित लगाम वाला करके) जहाँ पर अदिति नें मन्दार नामक वृक्ष को पाला है, ऐसे प्रजापति के आश्रम में हम दोनों पहुँच गये हैं ।

राजा—स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम् । अमृतह्रदमिवाव-गाढोऽस्मि ।

राजा—यह स्थान स्वर्ग से भी अधिक सुख-शान्तिप्रद है । (यहाँ पर) मैं मानों अमृत के तालाब में गोता लगा रहा हूँ ।

मातलिः—(रथं स्थापयित्वा) अवतरत्वायुष्मान् ।

मातलि—(रथ को रोककर) आयुष्मान् उतरिये ।

राजा—(अवतीर्य) मातले ! भवान् कथमिदानीम् ?

राजा—(उतरकर) अब आप क्या करेंगे ?

मातलिः—संयन्त्रितो मया रथः । वयमप्यवतरामः । (तथा कृत्वा) इत आयुष्मन् ! (परिक्रम्य) दृश्यन्तामत्रभवतामृषीणां तपोवनभूमयः ।

मातलि—मैंने (इस) रथ को रोक दिया है । मैं भी उतरता हूँ । (वैसा करके) आप इधर से (आइये) । (घूमकर) आप माननीय ऋषियों की (इस) तपोवन-भूमि का दर्शन कीजिये ।

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि ।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया ।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यत् काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥१२॥

अन्वयः—सत्कल्पवृक्षे वने अनिलेन प्राणानां वृत्तिः उचिता । काञ्चनपद्म-रेणुकपिशे तोये धर्माभिषेकक्रिया । रत्नशिलातलेषु ध्यानम् । विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमः । अन्यमुनयः तपोभिः यत् कांक्षन्ति, तस्मिन् अमी (मुनयः) तपस्यन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—सत्कल्पवृक्षे—सन्तः विद्यमानाः कल्पवृक्षाः यत्र तस्मिन्, वने—कल्पतरुकानने, अनिलेन—वायुभक्षणेन इव, प्राणानां वृत्तिः—जीवन-धारणम्, उचिता—अभ्यस्ता। काञ्चनपद्मरेणुकपिशे—काञ्चनपद्मानां सुवर्ण-कमलानां रेणुभिः परागैः कपिशे पिंगलवर्णे, तोये—जले, धर्माभिषेकक्रिया—धर्मार्थं अभिषेकक्रिया स्नानविधिः क्रियते। रत्नशिलातलेषु—रत्नानां मणीनां शिलातलेषु शिलापट्टेषु, ध्यानम्—ईश्वरचिन्तनं क्रियते। विबुधस्त्रीसंनिधौ—विबुधानां देवानां स्त्रियः अंगना अप्सरस इति यावत्, तासां संनिधौ समीपे, संयमः—इन्द्रियनिग्रहः क्रियते। अन्यमुनयः—अन्ये अपरे मुनयः तपस्विनः, तपोभिः—तपश्चरणैः, यत्—वस्तु, काङ्क्षन्ति—प्राप्तुमिच्छन्ति, तस्मिन्—वस्तुनि सति, अमी—दृश्यमाना मारीचाश्रमगता, (मुनयः) तपस्यन्ति—तपश्चरन्ति।

राजा—वस्तुतः मैं आश्चर्य से देख रहा हूँ।

जिसमें कल्पवृक्ष विद्यमान हैं, ऐसे वन में भी ये केवल वायु-भक्षण करके जीवन व्यतीत करने का अभ्यास करते हैं। सुवर्ण-कमलों के पराग से पीतवर्ण के जल में (ये) धार्मिक स्नान किया करते हैं। रत्नजटित प्रस्तरखण्डों पर ध्यान लगाते हैं (तथा) देवांगनाओं के समीप रहकर संयम (इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास) करते हैं। अन्य मुनिगण तपों के द्वारा जिन वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा किया करते हैं, उन (वस्तुओं) के मध्य में रहकर ये तपस्या किया करते हैं।

अलंकारः—इस श्लोक में कारणों के उपस्थित रहने पर भी कार्य न होने के कारण विशेषोक्ति अलंकार है। छन्दः—इसमें शार्दूलविक्रीडित वृत्त है।

मातलिः—उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना। (परिक्रम्य, आकाशे) अये वृद्धशाकल्य! किमनुतिष्ठति भगवान् मारीचः? किं ब्रवीषि? दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति।

मातलि—महान् पुरुषों की इच्छा ऊर्ध्वगामिनी हुआ करती है अर्थात् उनका उद्देश्य उच्च ही रहा करता है। (चारों ओर घूमकर, आकाश में) हे वृद्ध शाकल्य! भगवान् मारीच क्या कर रहे हैं? क्या कह रहे हो? दक्ष की पुत्री (अदिति) द्वारा पतिव्रता स्त्रियों के धर्म के विषय में पूछे जाने पर मह॰र्षियों की पत्नियों सहित उनको उपदेश दे रहे हैं।

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये! प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः।

राजा—(कान लगाकर) अरे ! यह (पतिव्रता धर्म वर्णन का) प्रसंग ऐसा है (कि जिसके लिये) हमें अवसर की प्रतीक्षा करनी ही चाहिये। (तात्पर्य–उपदेश-समाप्ति-पर्यन्त हमको प्रतीक्षा करनी चाहिये ।)

मातलिः—(राजानमवलोक्य) अस्मिन्नशोकवृक्षमूले ताव-दास्तामायुष्मान् यावत्त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि ।

मातलि—(राजा की ओर देखकर) आयुष्मान् तब तक इस अशोकवृक्ष की जड़ में बैठिये, जब तक मैं इन्द्र के पिता जी (मारीच) को आपके आगमन की सूचना देने के लिये ठीक अवसर निकालूँ ।

राजा—यथा भवान् मन्यते । (इति स्थितः)

राजा—जैसा आप उचित समझें । (बैठ जाता है ।)

मातलिः—आयुष्मन् ! साधयाम्यहम् ।

(इति निष्क्रान्तः)

मातलि—आयुष्मान् ! मैं जाता हूँ ।

(चला जाता है ।)

टिप्पणियाँ—**कष्टतपसे**—कष्टप्रद है तप जिसका ऐसे के लिये (कष्टं तपः यस्य सः तस्मै)। **संयतप्रग्रहम्**—नियन्त्रित की गई है लगाम जिसकी ऐसा (रथ) । **निर्वृतिस्थानम्**—निर्वृति शब्द के दो अर्थ हैं, सुख और शान्ति । अतः अर्थ होगा—सुख अथवा शान्ति का स्थान । **अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि**—अमृत के कुण्ड (ह्रद) में स्नान किया हुआ अथवा डुबकी लगाया हुआ (अवगाढ) सा हो गया हूँ। राजा के कहने का तात्पर्य यह है कि "यह स्थान ऐसा ही सुख एवं शान्तिप्रद है कि जैसे अमृत के तालाब में स्नान करना।" **भवान् कथमिदानीम्**—अब आप कैसे अथवा क्या करेंगे ? राजा के कहने का तात्पर्य यह है कि आप भी उतरेंगे अथवा रथ की रक्षा के निमित्त यहीं पर रहेंगे। **संयन्त्रितः**—रथ को उचित ढंग से रोक दिया गया है अतः अब घोड़े कहीं जा नहीं सकते हैं। **प्राणानां उचिता वृत्तिः अनिलेन**—प्राणों को धारण करने का कार्य वायु द्वारा होता है अथवा वायु-भक्षण से ही जीवन-निर्वाह किया जाता है। **सत्कल्पवृक्षे**—विद्यमान है कल्पवृक्ष जहाँ पर ऐसे (वन) में। यहाँ सत् शब्द का अर्थ 'विद्य-मान' है। भाव यह है कि इस तपोवन में मुनिगण केवल प्राणों की वायु का आहार करते हैं अथवा वायु से प्राणों को धारण किया करते हैं। वायु भी उतनी ही मात्रा में ग्रहण करते हैं जितनी प्राणों को धारण करने के निमित्त आवश्यक (उचित) हो और वह भी ऐसे स्थान पर कि जहाँ पर कल्पवृक्षों का आधिक्य है कि जिनसे सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ सरलतापूर्वक प्राप्त किये जा सकते

हैं। **काञ्चनपद्मरेणुकपिशे**—सुनहरी कमलों के पराग से सुनहरे (जल) में। **धर्माभिषेकक्रिया**—धर्म के लिये अथवा धार्मिक कार्यों की विधियों के आचरण के लिये स्नान की क्रिया। सुवर्णकमलों के पराग से सुनहरे वर्ण का जल प्राणियों को जल-विहार हेतु अपनी ओर आकर्षित कर सकता था किन्तु मुनि लोग ऐसा नहीं करते हैं। वे तो धार्मिक कार्यों के ही निमित्त किये जाने वाले स्नान के उपयोग में उस जल का प्रयोग करते हैं। **विबुधस्त्रीसंनिधौ**—देव-स्त्रियों अथवा अप्सराओं के संसर्ग में अथवा सामीप्य में। **यत्**—जो अर्थात् वह स्थल अथवा वे सम्पूर्ण वस्तुयें कि जिनका वर्णन श्लोक की प्रथम तीन पंक्तियों में किया जा चुका है। राजा को तपोवन के इस दृश्य को देखकर आश्चर्य होता है और वह कहता है कि यहाँ पर तपस्वी-जन उन वस्तुओं की समीपता को प्राप्त करने पर भी तपस्या में संलग्न हैं जिन वस्तुओं की प्राप्ति के निमित्त अन्य मुनि-जन तपस्या किया करते हैं। **उत्सर्पिणी**—ऊपर की ओर जाने वाली (उच्च लक्ष्य से युक्त)। **महताम्**—महान् व्यक्तियों की। यहाँ यह शब्द उस आश्रम में रहने वाले तपस्वियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। **प्रार्थना**—अभिलाषा, इच्छा। महान् व्यक्तियों की इच्छा ऊपर की ओर जाने वाली अथवा उच्च से उच्च लक्ष्य वाली हुआ करती है। **दाक्षायणी**—दक्ष की पुत्री (अदिति)। **पतिव्रताधर्मम्**—उसी तपोवन में शकुन्तला भी पतिव्रता के रूप में निवास कर रही थी, इसी कारण महाकवि ने इस प्रसंग को यहाँ प्रस्तुत किया होगा। **महर्षि**—रत्नकोष के आधार पर ऋषियों की (क्रमशः उन्नत) निम्न सात कोटियाँ स्वीकार की गई हैं :—ऋषि, महर्षि, परमर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, काण्डर्षि, श्रुतर्षि। **प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः**—प्रस्ताव ऐसा है कि हमें मिलने के अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिये। राजा के कहने का अभिप्राय यह है कि जब महर्षि मारीच ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय को समझाने में संलग्न हैं तो हमको बीच में ही वहाँ पहुँचकर विघ्न उपस्थित नहीं करना चाहिये। इसकी अपेक्षा यही उचित होगा कि हम ही अपने आपको प्रकट करने के लिये अवसर की प्रतीक्षा करें। **अन्तरान्वेषी**—अन्तर अर्थात् (उचित) अवसर को खोजने वाला।

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा)

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ॥१३॥

अन्वयः—मनोरथाय न आशंसे। हे बाहो! वृथा किं स्पन्दसे ? हि पूर्वावधीरितं श्रेयः दुःखं परिवर्तते।

संस्कृत-व्याख्या—मनोरथाय—अभीष्टप्राप्तये शकुन्तलाप्राप्तये इत्यर्थः, न आशंसे—न समभिवाञ्छामि। हे बाहो!—हे दक्षिणभुज!, वृथा—मुधा, किम्—किमर्थम्, स्पन्दसे—स्फुरसि ? हि—यतः, पूर्वावधीरितम्—पूर्वं प्रथमं अव-

धीरितं तिरस्कृतम्, श्रेयः—मंगलमिदं वा, दुर्लभम्—कष्टेन परिवर्तते—पुनरायाति ।

राजा—(शुभ शकुन को सूचित करके)

(मुझे अपनी) इच्छा की (पूर्ति की) आशा नहीं है। हे भुजा ! तू व्यर्थ ही क्यों फड़क रही है ? क्योंकि पहले तिरस्कार किया गया हुआ कल्याण बड़ी कठिनता से ही पुनः प्राप्त हुआ करता है ।

अलंकारः—इस श्लोक के उत्तरार्ध (सामान्य) द्वारा पूर्वार्ध (विशेष) का समर्थन किय जाने से यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है। वस्तुतः शकुन्तला राजा के मनोरथ का विषय है, साक्षात् मनोरथ नहीं। किन्तु उसका कथन साक्षात् मनोरथ शब्द द्वारा किया गया है अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है। **छन्दः**—इसमें श्लोक नामक वृत्त है ।

(नेपथ्ये)

(मा क्खु चावलं करेहि। कहं गदो एव्व अत्तणो पकिदिं ।)

मा खलु चापलं कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम् ।

(नेपथ्य में)

चंचलता मत कर। कैसे ? यह तो पुनः अपने स्वभाव पर आ गया है ।

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अभूमिरियमविनयस्य। को नु खल्वेष निषिध्यते। (शब्दानुसारेणावलोक्य। सविस्मयम्) अये ! को नु खल्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीभ्यामबालसत्त्वो बालः ।

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम् ।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति ॥१४॥

अन्वयः—(कः नु खलु अयं बालः) मातुः अर्धपीतस्तनं आमर्दक्लिष्टकेसरं सिंहशिशुं प्रक्रीडितुं बलात्कारेण कर्षति ।

संस्कृत-व्याख्या—को नु खलु अयं बालः ? मातुः—जनन्याः सकाशाद्, अर्धपीतस्तनम्—अर्धं असम्पूर्णं पीतः स्तनः येन तम्, आमर्दक्लिष्टकेसरम्—आमर्दन आकर्षणेन क्लिष्टा विक्षिप्ताः केसराः सटाः स्कन्धकेशाः यस्य तम्, सिंहशिशुम्—सिंहस्य कस्यचित् आश्रमकेसरिणः शिशुं शावकम्, प्रक्रीडितुम्—क्रीडां कर्तुम्, बलात्कारेण—प्रसह्य बलप्रयोगपूर्वकम्, कर्षति—अपनयति ।

राजा—(कान लगाकर) यह उद्दण्डता का स्थान नहीं है। यह कौन है, जिसे मना किया जा रहा है ? (ध्वनि का अनुसरण करते हुए, देखकर।

आश्चर्य के साथ) ओह, दो तपस्विनियों द्वारा पीछा किया जाता हुआ यह कौन वालक है कि जिसका बल बालक के सदृश नहीं है।

(जो अपनी) माता के पास से आधा स्तन-पान किये हुए (तथा) खींचने से बिखरे हुए गर्दन के बालों वाले सिंह के बच्चे को खेलने के लिये बलात् (जबर-दस्ती) खींच रहा है।

अलंकार:—इसमें स्वभावोक्ति अलंकार है। **छन्दः**—श्लोक नामक वृत्त है। *समासः*—**अर्धपीतस्तनम्**—अर्धं पीतः स्तनः येन तम् (बहुव्रीहि)। **आमर्दक्लिष्टकेसरम्**—आमर्देन क्लिष्टाः केसराः यस्य तम् (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**मनोरथाय**—मनोरथ अर्थात् शकुन्तला की प्राप्ति के लिये। **श्रेयः**—कल्याणकारी वस्तु। यहाँ शकुन्तला से अभिप्राय है। **पूर्वावधीरितम्**—मेरे द्वारा पहले उसका तिरस्कार किया गया है। **दुःखं हि परिवर्तते**—पहले तिरस्कार की गई हुई वस्तु महान् दुःख से पुनः प्राप्त होती है। अथवा—पूर्वतिरस्कृत कल्याण दुःखरूप में ही लौटा करता है। अथवा—मेरे द्वारा पहले कल्याणकारी वस्तु शकुन्तला का तिरस्कार किया गया है, अब सब ओर से दुःख मुझे घेर रहा है। **प्रकृतिम्**—स्वभाव को। यह अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया है अर्थात् चंचलता करने लगा है। (बच्चों का चंचल होना स्वाभाविक हुआ करता है।) **अभूमिः**—अस्थान। **अविनयस्य**—धृष्टता अथवा चंचलता का। **अनुबध्यमानः**—अनुगमन किया जाता हुआ। जिसके पीछे-पीछे दो तपस्विनियाँ चल रही हैं। **अबालसत्त्व**—जिसका बल साधारण बालक जैसा नहीं है अर्थात् असाधारण शक्ति-सम्पन्न। **अर्धपीतस्तनम्**—जिसने अपनी माता के स्तनों से आधा ही दुग्ध-पान किया है। **आमर्दक्लिष्टकेसरम्**—खींचने के कारण तितर-बितर हो गये हैं केसर (गर्दन के बाल) जिसके ऐसे (सिंह के बच्चे को)। आमर्द—खींचना अथवा रगड़ना।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तपस्विनीभ्यां बालः।)

बाल :—(जिम्भ सिंघ, दंत्ताइं दे गणइस्सं।) जृम्भस्व सिंह ! दन्तांस्ते गणयिष्ये।

(तत्पश्चात् पूर्वोक्त कर्म करता हुआ बालक दो तपस्विनियों के साथ प्रवेश करता है।)

बालक—ओ सिंह ! जँभाई ले। मैं तेरे दाँत गिनूंगा।

प्रथमा—(अविणीद ! किं णो अपच्चणिव्विसेसाणि सत्ताणि विप्पअरेसि ? हन्त, वड्ढइ दे संरम्भो। ठाणे क्खु इसिजणेण सव्वदमणो

त्ति किदणामहेश्रो सि ।(अविनीत ! किं नोऽपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि ? हन्त, वर्धते ते संरम्भः । स्थाने खलु ऋषि-जनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि ।

पहली तपस्विनी—अरे उद्दण्ड ! हमारे पुत्र सदृश प्रिय इन जन्तुओं को तू क्यों छेड़ रहा है ? हाय, तेरा क्रोध बढ़ता ही जा रहा है । वस्तुतः ऋषियों ने तेरा 'सर्वदमन' नाम ठीक ही रखा है ।

राजा—किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः ? नूनमनपत्यता मां वत्सलयति ।

राजा—मेरा मन इस बालक पर अपने पुत्र के सदृश क्यों स्नेह कर रहा है ? निश्चय ही सन्तान का अभाव मुझसे इस प्रकार का प्रेम करा रहा है ।

द्वितीया—(एसा क्खु केसरिणी तुमं लंघेदि जइ से पुत्तग्रं ण मुंचेसि ।) एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयति यद्यस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि ।

दूसरी तपस्विनी—यह सिंहिनी तुझ पर अवश्य ही आक्रमण कर देगी यदि तू इसके बच्चे को नहीं छोड़ेगा ।

बालः—(सस्मितम्) (अम्हहे, बलिग्रं क्खु भीदो म्हि !) अहो, बलीयः खलु भीतोऽस्मि !

(इत्यधरं दर्शयति)

बालक—(मुस्कराकर) ओह, मैं बहुत डर गया हूँ !

(यह कहकर अपना निचला ओष्ठ दिखलाता है ।)

राजा—

महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे ।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः ॥१५॥

अन्वयः—महतः तेजसः बीजं अयं बालः मे स्फुलिंगावस्थया एधापेक्षः स्थितः वह्निः इव प्रतिभाति ।

संस्कृत-व्याख्या—महतः = प्रबलस्य, तेजसः = प्रतापस्य, बीजम् = मूल-पुत्पत्तिस्थानं वा, अयं बालः = शिशुरयम्, मे = मम, स्फुलिंगावस्थया = स्फु-

लिंगस्य अग्निकणस्य या अवस्था तया अतएव, एधापेक्षः = एधान् काष्ठानि अपेक्षते स्वरूपलाभार्थं यस्तादृशः, स्थितः = विद्यमानः, वह्निः इव = अग्निः इव, प्रतिभाति = प्रतीयते ।

राजा—महान् तेज का बीजस्वरूप यह बच्चा मुझे चिनगारी की दशा में विद्यमान, लकड़ी की अपेक्षा करती हुई अग्नि के सदृश प्रतीत होता है ।

अलंकार—इस श्लोक में उपमा अलंकार है । **छन्दः**—इसमें श्लोक नामक वृत्त है ।

समास आदिः—**अपत्यनिर्विशेषाणि**—निर्गतो विशेषो येभ्यस्तानि निर्विशेषाणि, अपत्येभ्यः निर्विशेषाणि इति । **कृतनामधेयः** = कृतं नामधेयं यस्य सः । **औरसः**—उरसः जातः । **स्फुलिंगावस्थया**—स्फुलिंगस्य अवस्थया (तत्पुरुष)

टिप्पणियाँ—**सिंह** = इस स्थल पर यह शब्द शेर के बच्चे के लिये आया है । **जृम्भस्व**—जँभाई ले अर्थात् (अपने) मुख को खोल । **अपत्यनिर्विशेषाणि** = जो सन्तान से भिन्न नहीं है अर्थात् सन्तान (पुत्र) के सदृश । **विप्रकरोषि** = तंग कर रहा है । **संरम्भः**—क्रोध । **स्थाने** = यह अव्यय है । इसका अर्थ है—उचित । **औरसः** = अपने हृदय से उत्पन्न । मनुस्मृति में औरस, क्षेत्रज, दत्त इत्यादि बारह प्रकार के पुत्रों का उल्लेख आता है । इनमें 'औरस' सर्वोत्तम पुत्र स्वीकार किया गया है । (स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम् । तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥९-१६६॥) **स्निह्यति** = स्नेह (प्रेम) करता है । राजा का हृदय उसे अपने पुत्र के रूप में स्वीकार कर रहा है । **अधरं दर्शयति** = निन्दा अथवा घृणा के अर्थ में ओष्ठ दिखलाया जाता है । **प्रतिभाति मे** = मुझे प्रतीत होता है । **स्फुलिङ्गापेक्षया** = चिनगारी की अवस्था में विद्यमान । मानो आग चिनगारी की दशा में शेष रह गई हो और लकड़ी की प्रतीक्षा कर रही हो । जैसे ही उसे लकड़ी मिल जायगी वैसे ही वह चिनगारी अग्नि के रूप में परिणत हो जायगी । उसी भाँति यह बच्चा भी समय आते ही महान् प्रतापी राजा बनेगा । **एधापेक्षः**—ईंधन की अपेक्षा रखने वाला ।

प्रथमा—(वच्छ ! एदं बालमिइन्दअं मुञ्च । अवरं दे कीलणअं दाइस्सं ।) वत्स ! एनं बालमृगेन्द्रं मुञ्च । अपरं ते क्रीडनकं दास्यामि ।

पहली तपस्विनी—बच्चे ! तू इस सिंह के बच्चे को छोड़ दे । मैं तुझे दूसरा खिलौना दूँगी ।

बालः—(कहिं ? देहि णं ।) कुत्र ? देह्येतत् ।

(इति हस्तं प्रसारयति ।)

बालक—कहाँ है ? तो इसे दे ।

(ऐसा कहकर अपना हाथ फैलाता है ।)

राजा—(बालस्य हस्तमवलोक्य) कथं चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते । तथा ह्यस्य—

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो
विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः ।
अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया
नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम् ।।१६।।

अन्वयः—प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितः जालग्रथिताङ्गुलिः (अस्य) करः इद्धरागया नवोषसा भिन्नं अलक्ष्यपत्रान्तरं एकपंकजं इव विभाति ।

संस्कृत-व्याख्या—प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितः = प्रलोभ्यं लोभनीयं यद् वस्तु क्रीडनकरूपं तत्र प्रणयेन अभिलाषेण प्रसारितः विस्तृतः, जालग्रथिताङ्गुलिः = जालवत् ग्रथिताः संश्लिष्टाः अङ्गुलयः यस्मिन् तादृशः, अस्य = बालकस्य, करः = हस्तः, इद्धरागया = इद्धः दीप्तः वर्द्धित इत्यर्थः रागः लौहित्यं यस्याः तया, नवोषसा = नवया नूतनया उषसा प्रभातसंध्यया, भिन्नम् = विकासितम्, अलक्ष्यपत्रान्तरम् = न लक्ष्याणि न दृश्यानि पत्राणां दलानां अन्तराणि सन्धिविभागा यस्य तत्, एकपङ्कजम् = एकं मुख्यं पंकजं कमलं पद्मम्, इव, विभाति = शोभते ।

राजा—(बालक के हाथ को देखकर) कैसे ? यह तो चक्रवर्ती राजा के लक्षणों को भी धारण किये हुए है । क्योंकि—

लुभावनी वस्तु (खिलौने) के प्रति अभिलाषा के कारण फैलाया हुआ और जाल के सदृश मिली हुई अँगुलियों से युक्त इसका हाथ बढ़ी हुई लालिमा से युक्त उषाकाल के द्वारा विकसित एवं जिसके पत्रों का मध्यभाग स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं हो पा रहा है, ऐसे अद्वितीय कमल के सदृश सुशोभित हो रहा है।

अलंकार:—इसमें उपमा तथा काव्यलिंग अलंकार हैं। *छन्दः*—इसमें वंशस्थ वृत्त है । *समासः*—**प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितः** = प्रलोभ्ये वस्तुनि प्रणयेन प्रसारितः (तत्पुरुष) । **जालग्रथिताङ्गुलिः** = जालवद् ग्रथिता अङ्गुलयः यस्य सः (बहुव्रीहि) । **अलक्ष्यपत्रान्तरम्** = अलक्ष्याणि पत्राणां अन्तराणि यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**चक्रवर्तिलक्षणमपि** = चक्रवर्ती राजा के चिह्नों से सम्पन्न । चक्रवर्ती के लक्षण—(१) अतिरिक्तः करो यस्य ग्रथिताङ्गुलिको मृदुः । चापाङ्कुशाङ्कितः सोऽपि चक्रवर्ती भवेद् ध्रुवम् ।। (२) अंगुष्ठमूले चक्रं यस्य पाणितले भवेत् । चक्रवर्ती भवेन्नित्यं सामुद्रकवचो यथा ।। **प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितः**

=प्रलोभन के योग्य वस्तु की प्राप्ति की इच्छा अथवा प्रेम से फैलाया गया हुआ। **जालग्रथिताङ्गुलिः**=जाल के सदृश परस्पर गुँथी हुई (मिली हुई) हैं अंगुलियाँ जिसमें (ऐसा हाथ)। जाल से यहाँ तात्पर्य है मकड़ी का जाला। जाल के सदृश अंगुलियों का होना महापराक्रमी होने का द्योतक है। बुद्धचरित में आता है :—"चक्राङ्कपादं स तथा महर्षिर्जालावनद्धाङ्गुलिपाणिपादम् । सोर्णभ्रुवं वारणवस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं ददर्श ॥" बु० च० १।६५ ॥ **अलक्ष्यपत्रान्तरम्**=नहीं दिखलाई पड़ रहा है पंखुड़ियों के बीच का अन्तर जिसमें (ऐसा कमल)। उषाकाल का समय है इस कारण कमल पूर्ण रूप से नहीं खिल सका है। अतः पंखुड़ियों के बीच का अन्तर दिखलाई न पड़ सकना स्वाभाविक ही है। इसी भाँति उस बालक का हाथ भी पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं हो सका है। **इद्धरागया**=बढ़ी हुई है लालिमा जिसकी ऐसी (उषा) से। **भिन्नम्**=खिलाया गया हुआ=विकासित। **एकपङ्कजम्**=एक कमल। यहाँ 'एक' शब्द अद्वितीय होने का द्योतक है। उस बालक का हाथ एक अद्वितीय कमल के सदृश था।

द्वितीया—(सुव्वदे ! ण सक्को एसो वाआमेत्तेण विरमाविदुं। गच्छ तुमं। ममकेरए उडये मक्कंडेअस्स इसिकुमारअस्स वण्णचित्तिदो मित्तिआमोरओ चिट्ठिदि। तं से उवहर।) सुव्रते ! न शक्य एष वाचामात्रेण विरमयितुम्। गच्छ त्वम्। मदीये उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति। तमस्योपहर।

दूसरी तपस्विनी—सुव्रते ! केवल कहने-मात्र से इसे नहीं रोका जा सकता है। तू जा। मेरी कुटिया में ऋषिकुमार मार्कण्डेय का रंगों से चित्रित मिट्टी का मोर रक्खा है। उसको लाकर इसको दे दो।

प्रथमा—(तह।) तथा।

(इति निष्क्रान्ता।)

पहली तपस्विनी—अच्छा।

(चली जाती है)

बालः—(इमिणा एव्व दाव कीलिस्सं) अनेनैव तावत् क्रीडिष्यामि।

(इति तापसीं विलोक्य हसति।)

(चली जाती है।)

बालक—तब तक इसी से खेलूँगा।

(तपस्विनी को देखकर हँसता है।)

राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै ।

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥१७॥

अन्वयः—धन्याः अनिमित्तहासैः आलक्ष्यदन्तमुकुलान् अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् अङ्काश्रयप्रणयिनः तनयान् वहन्तः तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—धन्याः = सुकृतिनः जनाः (एव), अनिमित्तहासैः = अनिमित्ताः अकारणाः ये हासाः तैः, आलक्ष्यदन्तमुकुलान् = आलक्ष्या ईषद् दृश्याः दन्तानां मुकुलाः कोरकाः = नवोद्गता दन्ता इत्यर्थः = येषां तान्, अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् = अव्यक्तैः अपरिस्फुटैः वर्णैः अक्षरैः रमणीयाः मनोहारिण्यः वचसां प्रवृत्तयः वाक्योच्चारणानि येषां तान्, अङ्काश्रयप्रणयिनः = अङ्के क्रोडे य आश्रयः स्थितिः तत्र प्रणयः प्रीतिर्येषां तान्, तनयान् = पुत्रान्, वहन्तः = अंके धारयन्तः, तदङ्गरजसा = तेषां तनयानां अंगे अवयवे यद् रजः धूलिः तेन, मलिनीभवन्ति = अमलिना मलिना भवन्ति (धूसरिता भवन्ति) ।

राजा—वस्तुतः मैं इस दुलारे बालक को बहुत पसन्द करता हूँ ।

पुण्यात्मा पुरुष ही, अकारण हँसने से कुछ-कुछ दृष्टिगोचर होने वाले दाँतों रूपी कलियों से युक्त, अस्पष्ट अक्षरों (तोतली बोली) के कारण मनोहर वाणी वाले और गोद में बैठने की इच्छा रखने वाले पुत्रों को गोद में धारण करते हुए बच्चों के शरीर की धूलि से मलिन होते हैं ।

अलंकारः—इस श्लोक में बच्चे के स्वाभाविक वर्णन के वर्णित होने के कारण स्वभावोक्ति अलंकार है । सर्वदमन (विशिष्ट) के स्थान पर सामान्य बालकों का वर्णन किया गया है अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भी है । **छन्दः**—इसमें वसन्ततिलका वृत्त है ।

व्याकरणः—**स्पृहयामि** = स्पृह् धातु के योग में "स्पृहेरीप्सितः" (अष्टा० १।४।३६) से 'दुर्ललिताय' में चतुर्थी विभक्ति हुई है । ***समासः***—**दुर्ललिताय** = दुष्टं ललितं यस्य सः (बहुव्रीहि) । **आलक्ष्यदन्तमुकुलान्**—आलक्ष्याः दन्तमुकुलाः येषां तान् (बहुव्रीहि) । **अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्** = अव्यक्तैः वर्णैः रमणीयाः वचःप्रवृत्तयः येषां तान् (बहुव्रीहि) । **अङ्काश्रयप्रणयिनः** = अंके आश्रयः तस्मिन् प्रणयिनः (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**वर्णचित्रितः** = रंगों से रंगा हुआ अर्थात् रंग-विरंगा । **मृत्तिकामयूरः** = मिट्टी का बना हुआ मोर । मिट्टी के खिलौनों का प्रचार तो अब

भी सर्वत्र विद्यमान है। कालिदास के समय में भी इनका विशेष प्रचलन रहा होगा। उन्होंने विक्रमोर्वशीय (५।१३) में भी मिट्टी के मयूर का वर्णन किया है। **दुर्ललिताय** = जिसको मनाया जाना अथवा प्रसन्न करना कठिन है। **आलक्ष्य-दन्तमुकुलान्** = थोड़े-थोड़े दिखलाई पड़ते हैं कलियों के सदृश दाँत जिनके ऐसे (पुत्रों) को। **अनिमित्तहासैः** = बच्चे प्रायः निष्कारण भी हँसा करते हैं। **अव्यक्त-वर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्** = अव्यक्त अक्षरों से (तोतली बोली से) युक्त तथा मनोहर वाग्व्यापार वाले (पुत्रों) को। तोतली बोली के कारण बच्चों की बोली प्रिय लगा ही करती है। **अङ्काश्रयप्रणयिनः** = गोदी में बैठने के इच्छुक। बच्चों का यह स्वभाव होता है कि वे गोदी में चढ़ने व गोदी में ही खेलने के अभिलाषी हुआ करते हैं। **धन्याः** = पुण्यात्मा अथवा भाग्यशाली पुरुष। **तदङ्गरजसा** = बच्चों के शरीर के अंगों में लगी हुई धूलि से।

विशेष द्रष्टव्य :—इस श्लोक में बच्चे के स्वभाव का कितना सुन्दर और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। यह महाकवि के मानव-प्रकृति सम्बन्धी अध्ययन का एक उत्तम उदाहरण है। वात्सल्य-रस का भी यह उदाहरण है।

तापसी—(होदु। ण मं अअं गणेदि। को एत्थ इसिकुमाराणं? भद्दमुह! एहि दाव। मोएहि इमिणा दुम्मोअहत्थग्गहेण डिंभलीलाए बाहीअमाणं बालमिइंदअं।) भवतु। न मामयं गणयति। (पार्श्वमवलोक्य) कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम्। (राजानमवलोक्य) भद्रमुख! एहि तावत्। मोचयानेन दुर्मोकहस्तग्रहेण डिम्भलीलया बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम्।

तपस्विनी—अच्छा। यह मुझे नहीं गिनता है। (अर्थात् मेरी बात नहीं मानता है।) (इधर-उधर देखकर) ऋषिकुमारों में से कोई यहाँ है? (राजा की ओर देखकर) हे भद्रमुख! आइये तो, जिसकी हाथ की पकड़ छुड़ाना कठिन है ऐसे इस बालक के हाथ से बाल-क्रीडा के द्वारा तंग किये जाते हुए इस सिंह के बच्चे को छुड़ाइये।

राजा—(उपगम्य, सस्मितम्) अयि भो महर्षिपुत्र!

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना
संयमः किमिति जन्मतस्त्वया।
सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते
कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनः ॥१८॥

अन्वय:—एवं आश्रमविरुद्धवृत्तिना त्वया जन्मतः सत्त्वसंश्रयसुखः अपि संयमः कृष्णसर्पशिशुना चन्दनः इव किमिति दूष्यते ?

संस्कृत-व्याख्या—एवम् = अनेन प्रकारेण, आश्रमविरुद्धवृत्तिना = आश्रमस्य तपोवनस्य विरुद्धा प्रतिकूला वृत्तिः आचरणं यस्य तेन, त्वया = ऋषिकुमारेण, जन्मतः = जन्मनः प्रारभ्य (एव), सत्त्वसंश्रयसुखः = सत्त्वानां प्राणिनां संश्रयः सम्यक् रक्षणं तेन सुखयतीति सुखकर इति, अपि, संयमः = अहिंसादिव्रतं शमः वा, कृष्णसर्प-शिशुना = कृष्णसर्पस्य शिशुना अर्भकेण चन्दन इव चन्दन वृक्ष इव, किमिति = केन कारणेन, दूष्यते = कलुषीक्रियते ।

राजा—(समीप जाकर, मुस्कराते हुए) हे महर्षिपुत्र !

इस प्रकार आश्रम के विपरीत आचरण से तुम जन्म-कालसे ही प्राणियों को आश्रय प्रदान करने से सुखप्रद संयम (सहनशीलता, शान्ति अथवा अहिंसा आदि व्रतों के आचरण) को, क्यों दूषित कर रहे हो जैसे काले साँप का वच्चा चन्दन के वृक्ष को(दूषित करता है)?

अलंकार:—इसमें उपमा अलंकार है जो कि स्पष्ट ही है। **छन्दः**—इसमें रथोद्धता नामक वृत्त है ।

व्याकरणः—**दुर्मोच** = दुर् + मुच् + खल् (अ) यहाँ "ईषद्दुःसुषु..." इत्यादि (अष्टा० ३।३।१२६) से 'खल्' हो जाता है । ***समासः***—**दुर्मोचहस्तग्रहेण** = दुःखेन मुञ्चति एतम् इति दुर्मोचः, दुर्मोचः हस्तग्रहः यस्य तेन (बहुव्रीहि) । **डिम्भलीलया** = डिम्भस्य बालस्य लीलया क्रीडया (तत्पुरुष) । **आश्रमविरुद्धवृत्तिना** = आश्रमस्य विरुद्धा वृत्तिः यस्य तेन (बहुव्रीहि) । **सत्त्वसंश्रयसुखः** = सत्वानां संश्रयः तेन सुखयतीति सुखः (तत्पुरुष) । **कृष्णसर्पः** = कृष्णः सर्पः (कर्मधारय) । कृष्णसर्पस्य शिशुना (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ—**दुर्मोचहस्तग्रहेण** = बड़ी कठिनता से छुड़ाई जा सकती है, हाथ की पकड़ जिसकी ऐसे (इस बालक) से । **डिम्भलीलया** = डिम्भ अर्थात् बालक के खेल द्वारा । **आश्रमविरुद्धवृत्तिना** = आश्रम के विपरीत है क्रिया (हिंसा इत्यादि व्यापार) जिसकी ऐसे तेरे द्वारा । आश्रम में प्राणियों को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना आश्रम के आचरण के विपरीत कार्य है । **संयमः** = सहनशीलता, शान्ति । अहिंसा इत्यादि नियमों का पालन करना । **जन्मतः** = जन्म के समय से ही जिसका अभ्यास किया जाना चाहिये ऐसे संयम को । **सत्वसंश्रयसुखः** = प्राणियों को आश्रय देने अथवा उनका संरक्षण करने के कारण सुखकर । संश्रय शब्द का अर्थ है—आश्रय देना, रक्षा करना अथवा अभयदान देना । इसका अन्वय संयम तथा चन्दन दोनों के साथ किया जा सकता है । दोनों ही प्राणियों को आश्रय प्रदान करने वाले हैं । **कृष्णसर्पशिशुना** = काले साँप के बच्चे के द्वारा चन्दन के वृक्ष के सदृश । यहाँ पर बच्चे के लिये जो काले साँप से उपमा दी गई है वह कुछ अधिक

उपयुक्त प्रतीत नहीं होती है। दोनों में केवल इतनी ही समता है कि दोनों ही अपने-अपने निवास-स्थान को दूषित कर रहे हैं।

तापसी—(भद्दमुह ! ण क्खु अग्रं इसिकुमारओ ।) भद्रमुख ! न खल्वयमृषिकुमारः ।

तपस्विनी—हे भद्रमुख ! वस्तुतः यह ऋषि-पुत्र नहीं है।

राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति । स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवंतर्किणः । (यथाभ्यर्थितमनुतिष्ठन् बालस्पर्शमुपलभ्य । आत्मगतम्)

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण
स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम् ।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद्
यस्यायमङ्कात् कृतिनः प्ररूढः ॥१६॥

अन्वयः—कस्य अपि कुलाङ्कुरेण अनेन गात्रेषु स्पृष्टस्य मम एवं सुखम् । यस्य कृतिनः अङ्कात् अयं प्ररूढः तस्य चेतसि कां निर्वृतिं कुर्यात् ।

संस्कृत-व्याख्या—कस्य अपि = मयाऽसम्बद्धस्य जनस्य, कुलाङ्कुरेण = कुलस्य वंशस्य अङ्कुरेण प्ररोहेण, अनेन = बालकेन, गात्रेषु = केष्वपि अंगेषु, स्पृष्टस्य = स्पर्शं प्राप्तस्य, मम = दुष्यन्तस्य, एवम् = अवर्णनीयम्, सुखम् = आनन्दः भवति । तर्हि यस्य कृतिनः = पुण्यशालिनः, अङ्कात् = क्रोडात्, अयम् = बालः, प्ररूढः = संजातः, तस्य = जनस्य, चेतसि = हृदये, कां निर्वृतिम् = कीदृशमनिर्वचनीयं सुखम्, कुर्यात् = विदध्यात् इति न ज्ञायते इति भावः ।

राजा—आकृति के अनुरूप इसकी चेष्टा ही यह कह रही है (कि यह ऋषिकुमार नहीं है) । इस स्थान के विश्वास के कारण ही मैंने ऐसा सोचा था । (तापसी की प्रार्थना के अनुसार कार्य करते हुए बालक के स्पर्श को प्राप्त करके, मन ही मन)

(जब) किसी भी वंश के अंकुरस्वरूप इस बच्चे से मेरे अंगों का स्पर्श होने पर मुझे ऐसा (अनिर्वचनीय) सुख प्राप्त हो रहा है तो जिस पुण्यात्मा की गोद से यह उत्पन्न हुआ है, उसके चित्त में कितनी शान्ति अथवा आनन्द उत्पन्न करता होगा ?

अलंकार:—इस श्लोक में 'कुलाङ्कुर' में रूपक अलंकार है। 'कां निर्वृतिम्' में अर्थापत्ति अलंकार है जिससे ज्ञात होता है—उस व्यक्ति को अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। **छन्द**:—इसमें उपजाति वृत्त है।

व्याकरण:—**प्ररूढः** = प्र + रुह् + क्त।

टिप्पणियाँ—**चेष्टितमेवास्य** = आकार के सदृश इस बालक की चेष्टायें ही यह वतला रही हैं कि यह ऋषि-बालक नहीं है। अर्थात् इसकी चेष्टाओं में शैतानी भरी हुई है कि जो एक ऋषिपुत्र में नहीं होनी चाहिये। **स्थानप्रत्ययात्** = स्थान के विश्वास से अर्थात् इस विश्वास से कि यहाँ पर ऋषि लोग ही रहते हैं अतः वह बालक ऋषि-पुत्र ही होगा। इस प्रकार स्थान के आधार पर मेरे द्वारा ऐसी कल्पना की गई थी। **कस्यापि** = इस शब्द से प्रतीत होता है कि राजा उस बालक को किसी अन्य का पुत्र मानता है। **कां निर्वृतिम्** = किसी अनिर्वचनीय आनन्द को। क्या ही अनिर्वचनीय आनन्द उस व्यक्ति के हृदय में यह उत्पन्न करता होगा कि जिसका यह पुत्र है। **कृतिनः** = पुण्यशाली अथवा भाग्यवान् व्यक्ति के। यहाँ पर यह भी ध्वनित होता है कि राजा अपने आपको अभाग्यशाली मानता है। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति के पुत्र नहीं होता है वह अभागा होता है। **प्ररूढः** = उत्पन्न हुआ है। इसी भाव से सम्बन्वित सूक्तियाँ कालिदास के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती हैं—(१) उत्संगवर्धितानां गुरुषु भवेत् कीदृशः स्नेहः॥ विक्रमोर्वशीय ५।१०॥ (२) तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषञ्चन्तमिवामृतं त्वचि॥ रघुवंश ३।२६॥

तापसी—(उभौ निर्वर्ण्य) (अच्छरिअं अच्छरिअं।) आश्चर्यमाश्चर्यम्।

तपस्विनी—(दोनों की ओर देखकर) आश्चर्य है, आश्चर्य है।

राजा—आर्ये! किमिव?

राजा—आर्ये! क्या (आश्चर्य की बात) है?

तापसी—(इमस्स बालअस्स दे वि संवादिणी आकदीत्ति विम्हिद म्हि। अपरिइदस्स वि दे अप्पडिलोमो संवुत्तो त्ति।) अस्य बालकस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिरिति विस्मिताऽस्मि। अपरिचितस्यापि तेऽप्रतिलोमः संवृत्त इति।

तपस्विनी—इस बालक की और आपकी आकृति मिलती-जुलती है। इसने मुझे आश्चर्य में डाल दिया है। यद्यपि आप अपरिचित हैं फिर भी यह आपके अनुकूल हो गया है।

राजा——(बालकमुपलालयन्) न चेन्मुनिकुमारोऽयम्, अथकोऽस्य व्यपदेशः ?

राजा——(बालक को प्यार करते हुए) यदि यह ऋषि-पुत्र नहीं है तो इसका वंश क्या है ?

तापसी——(पुरुवंसो ।) पुरुवंशः ।

तपस्विनी——पुरुवंश ।

राजा——(आत्मगतम्) कथमेकान्वयो मम ? अतः खलु मदनुकारिणमेनमत्रभवती मन्यते । अस्त्येतत् पौरवाणामन्त्यकुलव्रतम् ।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं
क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम् ।
नियतैकयतिव्रतानि पश्चात्
तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥२०॥

(प्रकाशम्) न पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषयः ।

अन्वयः—पूर्वं ये क्षितिरक्षार्थं रसाधिकेषु भवनेषु निवासं उशन्ति । पश्चात् तेषां नियतैकयतिव्रतानि तरुमूलानि गृहीभवन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—पूर्वम् = यौवने, ये = पौरवाः नृपाः, क्षितिरक्षार्थम् = क्षित्याः पृथिव्याः रक्षार्थं रक्षणाय, रसाधिकेषु = रसाः मधुरादयः शृङ्गारादयश्च भोगा इत्यर्थः ते अधिका अतिशयिता येषु तेषु, भवनेषु = प्रासादेषु, निवासम् = स्थितिम्, उशन्ति = वाञ्छन्ति । पश्चात् = वार्धके, तेषाम् = नृपाणाम्, नियतैकयतिव्रतानि = नियतं व्यवस्थितं एकं केवलं यतिव्रतं वानप्रस्थव्रतं येषु तानि, तरुमूलानि = तरूणां वृक्षाणां मूलानि तलानि, गृहीभवन्ति = गृहाणि भवन्ति ।

राजा——(मन में) यह कैसे ? मेरा और इसका वंश एक ही है। इसी कारण यह तपस्विनी इसको मेरे सदृश आकृति वाला मान रही है। (किन्तु) पुरुवंशी राजाओं का यह अन्तिम कुलव्रत है कि——

पहले (युवावस्था में) जो पृथ्वी की रक्षा के निमित्त भोगों से परिपूर्ण भवनों में निवास करना चाहते हैं और बाद में (वृद्धावस्था में) जहाँ पर नियमित रूप से वानप्रस्थ जीवन बिताया करते हैं, ऐसे वृक्षों के तल-प्रदेश उनके घर हो जाते हैं।

(प्रकट में) किन्तु मनुष्य अपनी स्वाभाविक शक्ति द्वारा इस स्थान को नहीं पहुँच सकते हैं।

अलंकारः—उपर्युक्त श्लोक में तरुमूलों का उपयोग किये जाने से परिणाम अलंकार है। **छन्दः**—इसमें मालभारिणी वृत्त है।

व्याकरण:—संवादिनी = संवदतीति—सम् + वद् + णिनि। अप्रतिलोमः = न प्रतिलोमः—प्रति + लोमन् + अच्। *समास आदिः*—अप्रतिलोमः = प्रतिगतः लोमानि प्रतिलोमः, न प्रतिलोमः इति (प्रतिलोम का अर्थ है प्रतिकूल और अप्रतिलोम का अनुकूल)। **व्यपदेशः** = व्यपदिश्यते अनेन इति। **रसाधिकेषु** = रसैः अधिकेषु (तत्पुरुष)। **नियतैकयतिव्रतानि** = नियतं एकं यतिव्रतं येषु तानि (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ:—**संवादिनी** = मिलती-जुलती (एक-सी)। **उपलालयन्** = लाड़-प्यार करते हुए। यह रूप चुरादिगणी लल् धातु का है। **व्यपदेशः** = वंश, कुल। **एकान्वयः** = एक ही वंश (खानदान) से सम्बद्ध। **कुलव्रतम्** = वंश अथवा कुल की परम्परा। भारतीय संस्कृति के अनुसार पुरुवंशी राजा ५० वर्ष की आयु के पश्चात् वन में जाकर वानप्रस्थ का जीवन यापन किया करते थे। **रसाधिकेषु** = इन्द्रिय सम्बन्धी सुखों (भोग-विलासों) की वस्तुयें जिनमें अधिक हैं ऐसे (भवनों में)। यहाँ पाठभेद में 'सुधासितेषु' है जिसका अर्थ है—सफ़ेदी (कलई) से पुते हुए। यह पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। **नियतैकयतिव्रतानि** = नियमित रूप से धारण किया जाता है केवल यतियों (तपस्वियों अथवा वानप्रस्थियों) का व्रत (तपस्या का व्रत) जहाँ पर ऐसे, (वृक्षों के तले)। भारतीय संस्कृति के अनुसार प्राचीन काल में अनेक धार्मिक राजाओं में इस प्रकार की परम्परा थी कि वे लोग बहुत काल-पर्यन्त शासन करने के अनन्तर राज्य का भार पुत्रों को सौंप दिया करते थ तथा स्वयं पत्नी को साथ लेकर अथवा अकेले ही तपस्या करने के निमित्त वन को चले जाया करते थे। **पाठभेद**—नियतैकपतिव्रतानि—संयमी एकपतिव्रता स्त्री जिनके साथ विद्यमान है, ऐसे। यह पाठ भी कुछ अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। **गृहीभवन्ति** = घर हो जाया करते हैं। अगृहाणि गृहाणि भवन्ति इति। यहाँ 'च्वि' प्रत्यय होता है। **आत्मगत्या** = अपनी ही शक्ति के द्वारा। **विषयः** = जहाँ पहुँच सकें ऐसा स्थान। **न पुनरात्मगत्या... इत्यादि** = अभिप्राय यह है कि कोई भी व्यक्ति स्वयं अपनी शक्ति से इस प्रदेश में नहीं आ सकता है।

तापसी—(जह भद्दसुहो भणादि। अच्छरासंबन्धेण इमस्स जणणी एत्थ देवगुरुणो तपोवणे प्पसुदा।) यथा भद्रमुखो भणति। अप्सरःसंबन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता।

तपस्विनी––भद्रमुख ठीक कहते हैं। अप्सरा (मेनका) के सम्बन्ध से इसकी माता ने इस देवगुरु (मारीच) के आश्रम में इसको जन्म दिया है।

राजा––(अपवार्य) हन्त, द्वितीयमिदमाशाजननम् । (प्रकाशम्) अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?

राजा––(एक ओर मुख करके) ओह, यह दूसरी आशा उत्पन्न करने वाली बात है। (प्रकट में) अच्छा, तो वह श्रीमती किस नाम के राजर्षि की पत्नी हैं ?

तापसी––(को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णाम संकीतिदुं चिन्तिस्सदि ।) कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम संकीर्तयितुं चिंतयिष्यति ?

तपस्विनी––अपनी धर्मपत्नी का परित्याग करने वाले उस (राजा) का नाम लेने का भी कौन विचार कर सकता है ?

राजा––(स्वगतम्) इयं खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति । यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि । अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः ।

राजा––(मन में) यह कथा (बात) तो वस्तुतः मुझको ही लक्ष्य करती है। तब तो इस बालक की माता का नाम पूछता हूँ। अथवा दूसरे की स्त्री के विषय में बात करना अनुचित है।

(प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता)

तापसी––(सव्वदमण ! सउन्दलावण्णं पेक्ख ।) सर्वदमन ! शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व ।

(हाथ में मिट्टी का मोर लिये तपस्विनी का प्रवेश)

तपस्विनी––सर्वदमन ! शकुन्त (पक्षी) के लावण्य (सौन्दर्य) को देख। (अथवा–शकुन्तलावर्णम्––शकुन्तला के रूप को देख।)

बालः––(सदृष्टिक्षेपम्) (कहिं वा मे अज्जू ?) कुत्र वा मम माता ?

बालक––(दृष्टि डालकर) कहाँ है मेरी माता ?

उभे--(णामसारिस्सेण वंचिदो माउवच्छलो ।) नामसादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सलः ।

दोनों--नाम की समानता के कारण मातृभक्त यह (बच्चा) ठगा गया है।

द्वितीया--(वच्छ ! इमस्स मित्तिआमोरअस्स रम्मत्तणं पेक्ख त्ति भणिदो सि ।) वत्स ! अस्य मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्वं पश्येति भणितोऽसि ।

दूसरी तपस्विनी--पुत्र ! तुझसे यह कहा था कि इस मिट्टी के मयूर की सुन्दरता को देख ।

राजा--(आत्मगतम्) किं वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या ? सन्ति पुनर्नामधेयसादृश्यानि । अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते ?

राजा--(मन में) तो क्या इसकी माता का नाम शकुन्तला है ? किन्तु नाम में भी समानतायें हो जाया करती हैं। कहीं मृगतृष्णिका के सदृश (शकुन्तला) नाम का आ जाना मेरे लिये दुःख का कारण न हो जाय ?

बालः--(अज्जुए ! रोअदि मे एसो भद्दमोरओ ।) मातः ! रोचते म एष भद्रमयूरः ।

(इति क्रीडनकमादत्ते)

बालक--माता ! यह सुन्दर मोर मुझे अच्छा लग रहा है।

(यह कहकर वह खिलौने को ले लेता है।)

समासः--**मृण्मयूरहस्ता** = मृदः मयूरः मृण्मयूरः स हस्ते यस्याः सा (बहुव्रीहि) । **शकुन्तलावण्यम्** = शकुन्तस्य लावण्यम् (तत्पुरुष) ।

टिप्पणियाँ--**अप्सरःसम्बन्धेन** = इस (बच्चे) की माता का सम्बन्ध एक अप्सरा से है। उसी के द्वारा इसकी माँ यहाँ आई होगी। **प्रसूता** = उत्पन्न किया है। यहीं पर इस बालक का जन्म भी हुआ है। **द्वितीयमिदमाशाजननम्** = यह दूसरी आशाजनक बात है। एक ही वंश का होना (एकान्वयः)--यह प्रथम बात थी। इस बच्चे की माता का सम्बन्ध अप्सरा से है अर्थात् मेनका से है--यह दूसरी बात है। राजा को कण्व ऋषि के आश्रम में ही शकुन्तला के प्रथम दर्शन के पश्चात् ही ज्ञात हो गया था कि शकुन्तला की माता का नाम मेनका है। **नाम संकीर्तयितुम्** = नाम लेना। धर्मपत्नी का त्याग करना पाप है। ऐसे व्यक्ति का

नाम लेने से भी पाप लगता है। "स्पर्शनाद् भाषणाद् वापि परस्य स्तवनादपि। दशांशं पुण्यपापानां नित्यं प्राप्नोति मानवः॥" गरुड़पुराण॥ ऐसे व्यक्ति का नाम सोचने से भी पाप लगता है। फिर ऐसी स्थिति में नाम का उच्चारण करना तो दूर की ही बात है। **मामेव लक्ष्यीकरोति**—यह बात तो मुझ को ही लक्ष्य करती है अर्थात् इस बात का (अपनी पत्नी का त्याग करने का) सम्बन्ध मुझ से ही है। **अनार्यः** = अशिष्टता अथवा असभ्यता है। दूसरे की स्त्री के बारे में बात करना अशिष्टता ही है। राजा के इस कथन से ज्ञात होता है कि कालिदास के समय में "परस्त्री के विषय में बातचीत करना भी" अशिष्टता समझी जाती थी। इससे राजा के चरित्र की उत्कृष्टता का भी भान होता है। **शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व**—तपस्विनी के इस कथन से राजा की (बच्चे की माता का नाम जानने की) उत्सुकता पूर्ण हो जाती है। इस वाक्य का संस्कृत में रूपान्तर दो प्रकार से किया जा सकता है—(१) शकुन्तलावण्यम्—पक्षी का सौन्दर्य देख। यहाँ शकुन्त शब्द का अर्थ पक्षी है। (२) शकुन्तलावर्णम्—शकुन्तला के रूप को देख। प्रसंग के आधार पर यहाँ प्रथम अर्थ ही अपेक्षित है। किन्तु बच्चे ने उसका दूसरा अर्थ ले लिया है तथा उसी आधार पर उसने प्रश्न भी किया है कि मेरी माँ कहाँ है? यहाँ महाकवि की प्राकृत भाषा सम्बन्धी योग्यता का भी परिचय मिल जाता है। उसने ऐसे शब्द का प्रयोग किया है जिससे दोनों बातों का उल्लेख स्पष्ट हो गया है (१) मोर का प्रसंग भी चल रहा है और (२) उससे राजा को भी बिना बतलाये हुए ही बच्चे की माँ का नाम (शकुन्तला) ज्ञात हो जाता है। **मातृवत्सलः** = माता है प्रिय जिसको ऐसा बालक। **नाममात्रप्रस्तावः** = नाममात्र का कथन। यहाँ राजा को सन्देह हुआ है कि कहीं यह सम्पूर्ण बात मरुमरीचिका के सदृश केवल भ्रममात्र ही निकले और उसके परिणामस्वरूप उसे दुःखित भी होना पड़े। **अज्जुए** (अज्जुके ?) = यह प्राकृत भाषा में प्रयुक्त शब्द 'माता' का वाचक है। **भद्रमयूरः** = सुन्दर मोर। यहाँ पर भद्र शब्द का अर्थ सुन्दर है।

प्रथमा—(विलोक्य, सोद्वेगम्) [अम्हहे, रक्खाकरंडअं से मणिबन्धे ण दीसदि।] अहो, रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते।

पहली तपस्विनी—(देखकर, घबराहट के साथ) ओह, इसकी कलाई पर रक्षासूत्र नहीं दिखलाई पड़ रहा है।

राजा—अलमावेगेन। नन्विदमस्य सिंहशावकविमर्दात् परिभ्रष्टम्। (इत्यादातुमिच्छति।)

राजा—घबराहट से बस (अर्थात् घबराइये नहीं)। सिंह के बच्चे के साथ इसका संघर्ष होने के कारण यह (रक्षासूत्र) यहाँ गिर गया है।

(यह कहकर उठाना चाहता है।)

उभे—(मा क्खु एदं अवलम्बिअ । कहं, गहीदं णेण ?) मा खल्विदमवलम्ब्य । कथम्, गृहीतमनेन ?

(इति विस्मयादुरोनिहितहस्ते परस्परमवलोकयतः ।)

दोनों—इसे न उठाइये । (अब) कैसे (करें) ? इन्होंने तो उठा लिया ।

(वे दोनों आश्चर्य के साथ छाती पर हाथ रखकर एक दूसरी की ओर देखती हैं ।)

राजा—किमर्थं प्रतिषिद्धाः स्मः ?

राजा—(आपने हमको) क्यों मना किया था ?

प्रथमा—(सुणादु महाराओ । एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा । एदं किल मादा-पिदरो अप्पाणं च वज्जिअ अवरो भूमिपडिदं ण गेण्हादि ।) शृणोतु महाराजः । एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता । एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति ।

पहली—महाराज, सुनिये । यह अपराजिता नाम की औषधि भगवान् मारीच ने जातकर्म संस्कार के समय इसको दी थी । भूमि पर गिरी हुई इसको (इसके) माता-पिता और स्वयं को छोड़कर कोई नहीं उठाता है ।

राजा—अथ गृह्णाति ?

राजा—यदि उठा लेता है तो ?

प्रथमा—(तदो तं सप्पो भविअ दसइ ।) ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति ।

पहली—तब यह उसे साँप बनकर काट लेती है ।

राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया ।

राजा—क्या आप दोनों ने इसका सर्प बनना कभी (स्वयं) देखा है ?

उभे—(अणेअसो ।) अनेकशः ।

दोनों—अनेक बार ।

राजा—(सहर्षम्, आत्मगतम्) कथमिव सम्पूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि । (इति बालं परिष्वजते ।)

राजा--(हर्ष के साथ, मन ही मन) पूर्ण हुए अपने मनोरथ का अभिनन्दन मैं क्यों न करूँ ?

(यह कहकर बालक का आलिंगन करता है ।)

द्वितीया--(सुव्वदे ! एहि । इमं वुत्तन्तं णिअ्रमव्वावुडाए सउन्दलाए णिवेदेम्ह ।) सुव्रते ! एहि । इमं वृत्तान्तं नियमव्यापृतायै शकुन्तलायै निवेदयावः ।

(इति निष्क्रान्ते ।)

दूसरी--सुव्रता ! आ । यह समाचार नियम-पालन में संलग्न शकुन्तला को बतला दें ।

(दोनों चली जाती हैं ।)

टिप्पणियाँ :--**रक्षाकरण्डम्** = रक्षा के लिये पहिना हुआ यन्त्र । रक्षा-सूत्र । यह रक्षासूत्र बच्चों के हाथ में उनकी रक्षा के लिये अथवा उन्हें कुप्रभाव से बचाने के लिये बाँधा जाता है । **एतद् अवलम्ब्य** = यह वाक्य अधूरा ही रह गया है क्योंकि दोनों तपस्विनियाँ जब तक इस पूरे वाक्य को कहने जा रही थीं कि तब तक (अर्थात् उनके वाक्य के पूरे होने से पूर्व ही) राजा उस रक्षासूत्र को उठा लेता है। पूरा वाक्य इस प्रकार से होगा = "एतदवलम्ब्य मरिष्यसि" अर्थात् इसको छूने से मृत्यु को प्राप्त करोगे । **गृहीतमनेन** = उस रक्षासूत्र को राजा ने उठा लिया तथा उसने सर्प बनकर काटा भी नहीं । इसी कारण दोनों तपस्विनियाँ आश्चर्यान्वित हैं । **उरोनिहितहस्ते** = छाती पर रखा हुआ है हाथ जिनका ऐसी (दोनों तपस्विनियाँ) । **जातकर्मसमये** = जातकर्म-संस्कार के अवसर पर । सोलह संस्कारों में से यह चतुर्थ संस्कार है । यह बालक के जन्म के तुरन्त पश्चात् किया जाता है । इस संस्कार में पिता द्वारा नवजात शिशु की जिह्वा पर सोने की शलाका से 'ओ३म्' लिखा जाता है और उसे घृत तथा शहद चटाया जाया करता है । पिता की अनुपस्थिति में कोई अन्य व्यक्ति भी इस कार्य को कर सकता है । "प्राङ नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते । मन्त्रवत् प्राशनं चास्य हिरण्य-मधुसर्पिषाम्" ॥ मनुस्मृति २।२९ ॥ **विक्रिया** = विकार अर्थात् सर्प के रूप में बदल जाना । **सहर्षम्** = राजा को अब यह स्पष्ट हो गया है कि वह बालक उसी का पुत्र है । महाकवि ने इसके निमित्त निम्न तीन प्रकारों को अपनाया है :--
(i) मानसिक विचारों के आधार पर = "किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः", "महतस्तेजसो बीजं" इत्यादि श्लोक, "स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै", "बालस्पर्शमुपलभ्य । आत्मगतम्" ॥ (ii) अप्रत्यक्ष रूप से--"कथं चक्रवर्ति लक्षणमपि अनेन धार्यते", "एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना" इत्यादि श्लोक, "अस्य बालकस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिरिति विस्मितास्मि" ॥ (iii) प्रत्यक्षरूप से--

बालक का पुरुवंशी होना, इसकी माता का (मेनका नामक) अप्सरा से सम्बन्ध होना, 'शकुन्तलावण्य' का उच्चारण एवं इस पर बालक का कथन, इसके अतिरिक्त रक्षासूत्र के स्पर्श से सर्प होकर न काटने का वृत्तान्त। इस प्रकार अब राजा को पूर्ण विश्वास हो गया है कि वह बालक उसी का पुत्र है।

बाल:—(मुंच मं। जाव अज्जुए सआसं गमिस्सं।) मुञ्च माम्। यावन्मातुः सकाशं गमिष्यामि।

बालक—मुझे छोड़ दो। मैं अब माता के पास जाऊँगा।

राजा—पुत्रक! मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यसि।

राजा—पुत्र, मेरे साथ ही (तुम) माता का अभिनन्दन करोगे।

बाल:—(मम क्खु तादो दुस्सन्दो। ण तुमं।) मम खलु तातो दुष्यन्तः। न त्वम्।

बालक—मेरे पिता तो दुष्यन्त हैं, आप नहीं।

राजा—(सस्मितम्) एष विवाद एव प्रत्याययति।

राजा—(मुस्कराकर) यह विवाद ही मुझे विश्वास दिलाता है (कि मैं तेरा पिता हूँ।)

(ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला)

शकुन्तला—[विआरकाले वि पकिदित्थं सव्वदमणस्स ओसहिं सुणिअ ण मे आसा आसि अत्तणो भाअहेएसु। अहवा जह साणुमदीए आचक्खिदं तह संभावीअदि एदं।] विकारकालेऽपि प्रकृतिस्थां सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न म आशाऽऽसीदात्मनो भागधेयेषु। अथवा यथा सानुमत्याऽऽख्यातं तथा संभाव्यत एतत्।

(तत्पश्चात् एक वेणी धारण किये हुए शकुन्तला प्रवेश करती है।)

शकुन्तला—विकार के समय में भी सर्वदमन की औषधि के अविकृत (स्वाभाविक अवस्था में विद्यमान) रहने के समाचार को सुनकर मुझे अपने भाग्य पर ऐसी आशा न थी (कि वे स्वयं यहाँ आवेंगे)। अथवा सानुमती ने जैसा कहा है वह वैसा होना संभव ही है।

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य) अये! सेयमत्रभवती शकुन्तला। यैषा—

वसने परिधूसरे वसाना
नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला
मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥२१॥

अन्वयः—परिधूसरे वसने वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः शुद्धशीला अतिनिष्करुणस्य मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—परिधूसरे = परितः सर्वतः धूसरे मलिने, वसने = द्वे वस्त्रे, वसाना = धारयन्ती, नियमक्षाममुखी = नियमेन चान्द्रायणादिव्रतानुष्ठानेन क्षामं कृशं मुखमाननं यस्याः सा, धृतैकवेणिः = धृता एका केवला वेणिर्यया सा, शुद्धशीला = शुद्धं पवित्रं शीलमाचरणं यस्याः सा (एषा शकुन्तला), अतिनिष्करुणस्य = अतिनिष्ठुरस्य, मम = दुष्यन्तस्य, दीर्घम् = बहुकालीनम्, विरहव्रतम् = वियोगनियमम्, बिभर्ति = धारयति ।

राजा—(शकुन्तला को देखकर) ओह, वही यह आदरणीया शकुन्तला है जो कि —

दो मलिन वस्त्रों को पहने हुए, व्रत-पालन के कारण क्षीणमुखवाली, एक वेणी को धारण किये हुए, पवित्र आचरण वाली, यह मुझ अतिनिष्ठुर पति के लिये इतने लम्बे विरह-व्रत को धारण कर रही है ।

अलंकारः—पूरे श्लोक में शकुन्तला का स्वाभाविक वर्णन होने से "स्वभावोक्ति" अलंकार है । "नियमक्षाममुखी" में 'काव्यलिंग' अलंकार है । **छन्दः**—इसमें मालभारिणी वृत्त है ।

व्याकरणः—**वसाना** = वस् (अदादिगणी धातु) = शानच् । *समासः*—**एकवेणीधरा** = धरतीति धरा, एकावेणी तस्याः धरा (तत्पुरुष) । **नियमक्षाममुखी**—नियमेन क्षामं मुखं यस्याः सा (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**नियमव्यापृतायै** = अपने नियमों के पालन में संलग्न । **प्रत्याययति** = विश्वास दिला रहा है । तेरे द्वारा किया गया यह विवाद ही इस बात का प्रमाण है कि मैं तेरा पिता हूँ क्योंकि मैं ही दुष्यन्त हूँ । अतः तू मेरा ही पुत्र है, यह निश्चित है । **एकवेणीधरा** = एक वेणी को धारण करने वाली । 'एक वेणी' के दो प्रकार से अर्थ किये जा सकते हैं : (i) बालों को गूँथी गई एक चोटी (उस काल में ऐसी स्त्रियाँ, जो अपने पतियों से वियुक्त हो जाया करती थीं, एक ही चोटी धारण किया करती थीं तथा अन्य किसी प्रकार का कोई शृंगार आदि नहीं किया करती थीं) । (ii) एक ही बार बाँधी गई हुई चोटी । विरह से पूर्व जो चोटी बाँधी गई थी, वही ज्यों की त्यों चली आ रही है । उसके पश्चात्

पुनः चोटी नहीं बाँधी गई। इसके बारे में विधान हैं :—"मण्डनं वर्जयेत् नारी तथा प्रोषितभर्तृका।" (विष्णुधर्मोत्तर)। "न प्रोषिते तु संस्कुर्यान्न वेणीं च प्रमोचयेत्॥" (हारीतस्मृति)॥ वाल्मीकि रामायण में एक वेणी का वर्णन आता है :—"एकवेणीधरा हित्वा नगरी संप्रतीक्षते"॥ वा० रा० २।१०८॥ मेघदूत में भी—"आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा।" इत्यादि श्लोक। मेघदूत=उत्तरमेघ-श्लोक सं० ३२॥ **विकारकाले**=ऐसे समय पर जब कि इसमें परिवर्तन हो जाना चाहिये था अर्थात् इसे सर्ल बन जाना चाहिये था। **भागधेयेषु**=अपने भाग्यों पर। शकुन्तला के कथन का अभिप्राय यह है कि उसे अपने भाग्य पर ऐसा विश्वास न था कि उसे इस जीवन में अपने पति का पुनः दर्शन प्राप्त होगा और वह भी उसी आश्रम में। **अथवा यथा सानुमत्याऽऽख्यातम्**=अथवा सानुमती ने जैसा बतलाया था। इससे प्रतीत होता है कि सानुमती ने शकुन्तला को बतला दिया था कि राजा उसके वियोग के कारण अत्यधिक दुःखी है। **वसने**=दो वस्त्र। एक तो साड़ी और दूसरा उत्तरीय वस्त्र अर्थात् ब्लाउज रहा होगा। **परिधूसरे**=चारों ओर से मलिन। वियोगिनी स्त्रियाँ मलिन वस्त्र ही धारण किया करती थीं। **नियमक्षाममुखी**=नियम अर्थात् व्रत आदि करने से दुर्बल मुख वाली। **धृतैकवेणिः**=धारण की हुई है एक चोटी जिसने ऐसी। **अतिनिष्करुणस्य**=अत्यन्त निष्ठुर (मैं)। वस्तुतः मैं ही अत्यन्त कठोर हूँ जिसने अपनी गर्भिणी पत्नी का परित्याग किया। **दीर्घम्**=लम्बा। वियोग के कारण बहुत लम्बा अनुभव होने वाला।

शकुन्तला—[पश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा) [ण क्खु अज्जउत्तो विअ। तदो को एसो दाणिं किदरक्खामंगलं दारअं मे गत्तसंसग्गेण दूसेदि ?] न खल्वार्यपुत्र इव। ततः क एष इदानीं कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति ?

शकुन्तला—(पश्चात्ताप के कारण मलिन कान्ति वाले राजा को देखकर) यह आर्यपुत्र जैसे तो नहीं दीखते हैं। तब यह कौन है कि जो रक्षासूत्रधारी मेरे पुत्र को अपने शरीर के स्पर्श से दूषित कर रहा है ?

बालः—(मातरमुपेत्य) [अज्जुए ! एसो को वि पुरिसो मं पुत्त त्ति आलिंगदि।) मातः ! एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिङ्गति।

बालक—(माता के पास आकर) माता ! यह कोई पुरुष मुझे (अपना) पुत्र कहकर (मेरा) आलिंगन कर रहा है।

राजा--प्रिये ! क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तं यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि ।

राजा--प्रिये ! (मेरे द्वारा) तेरे प्रति की गई क्रूरता भी अनुकूल परिणाम वाली हो गई है क्योंकि मैं अब अपने आपको तुम्हारे द्वारा पहचाना गया देख रहा हूँ अर्थात् तुमने मुझे अब पहिचान लिया है ।

शकुन्तला--(आत्मगतम्) (हिअअ ! अस्ससस अस्ससस । परिच्चत्तमच्छरेण अणुअप्पिअम्हि देव्वेण ।] हृदय ! आश्वसिहि आश्वसिहि । परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पितास्मि दैवेन । आर्यपुत्र: खल्वेष: ।

शकुन्तला--(मन ही मन) हे हृदय ! धैर्य रख, धैर्य रख । द्वेष-भाव को त्याग कर भाग्य ने अब मेरे ऊपर दया की है । सचमुच, यह आर्यपुत्र ही हैं ।

राजा--प्रिये !

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थितासि मे सुमुखि !
उपरागान्ते शशिन: समुपगता रोहिणी योगम् ।।२२।।

अन्वय:--हे सुमुखि ! दिष्ट्या स्मृतिभिन्नमोहतमस: मे प्रमुखे स्थिता असि । उपरागान्ते रोहिणी शशिन: योगं समुपगता ।

संस्कृत-व्याख्या--हे सुमुखि ! = हे शोभनानने; दिष्ट्या = भाग्येन, स्मृति-भिन्नमोहतमस:--स्मृत्या = पूर्ववृत्तस्मरणेन भिन्नं नष्टं मोहरूपं अज्ञानरूपं तम: अन्धकार: यस्य तस्य, मे = मम दुष्यन्तस्य, प्रमुखे = अग्रे, स्थिता असि = उपस्थिता असि । उपरागान्ते = उपराग: राहुग्रास: तस्य अन्ते अवसाने, रोहिणी = शशिन: प्रिया भार्या, शशिन: = चन्द्रस्य, योगम् = भर्तृसन्निधिं, समुपगता = प्राप्ता ।

राजा--प्रिये !

हे सुमुखी ! सौभाग्य से (पूर्व वृत्तान्त के) स्मरण आ जाने से मेरा अज्ञान-रूपी अन्धकार नष्ट हो गया है और तुम मेरे समक्ष (उसी प्रकार से) उपस्थित हो गई हो कि जैसे ग्रहण के समाप्त हो जाने पर रोहिणी चन्द्रमा से मिल जाया करती है ।

अलंकार:--इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार है जोकि स्पष्ट ही है। *छन्द:*--इसमें आर्या जाति है ।

शकुन्तला——(जेदु जेदु अज्जउत्तो ।) जयतु जयत्वार्यपुत्रः ।
(इत्यर्धोक्ते वाष्पकण्ठी विरमति ।)

शकुन्तला——जय हो, आर्यपुत्र की जय हो ।
(आधी बात कहकर आँसुओं से गला भर आने के कारण चुप हो जाती है ।)

राजा——सुन्दरि !

वाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया ।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम् ॥२३॥

अन्वयः——जयशब्दे वाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि मया जितम् । यत् असंस्कारपाट-लोष्ठपुटं ते मुखं दृष्टम् ।

संस्कृत-व्याख्या——जयशब्दे = जयतु जयतु इत्यादिशब्दे, वाष्पेण = अश्रु-प्रवाहेण, प्रतिषिद्धे अपि = निरुद्धे अपि, मया = दुष्यन्तेन, जितम् = जयलाभः प्राप्तः । यत् = यतो हि, असंस्कारपाटलोष्ठपुटम् = असंस्कारेण प्रसाधनेन विना-ऽपि पाटलं श्वेतरक्तं ओष्ठपुटं यस्य तत् (एतादृशम्), ते = तव शकुन्तलायाः, मुखम् = आननम्, दृष्टम् = अवलोकितम् ।

राजा——हे सुन्दरी !

आँसुओं द्वारा 'जय' शब्द के रोक दिये जाने पर भी मैंने जय प्राप्त कर ली है, क्योंकि सजावट न होने के कारण गुलाबी रंग के होठों से युक्त तुम्हारे मुख को मैंने देख लिया है ।

अलंकारः——यहाँ राजा की जय के प्रति श्लोक का उत्तरार्ध भाग कारण है अतः इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है। तथा 'जय' शब्द के रोक दिये जाने पर भी राजा की जय होने से यहाँ विरोधाभास अलंकार है। **छन्दः**——इसमें श्लोक नामक वृत्त है ।

समासः——**स्मृतिभिन्नमोहतमसः** = स्मृत्या भिन्नं मोहरूपं तमः यस्य तस्य (बहुव्रीहि) । **बाष्पकण्ठी**——वाष्पैः पूर्णः कण्ठः यस्याः सा (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ——**पश्चात्तापविवर्णम्** = पश्चात्ताप के कारण राजा दुष्यन्त का मुख पीत वर्ण का हो रहा था । साथ ही उसमें पहले जैसी कान्ति भी न थी । इस कारण शकुन्तला राजा (अपने पति दुष्यन्त) को नहीं पहिचान सकी । विवर्ण शब्द से अभिप्राय है = पीला, फीका, उदास । **अनुकूलपरिणामम्** = अनुकूल अर्थात् सुखप्रद है परिणाम जिसका ऐसी क्रूरता । इस समय दुष्यन्त के मन की दशा बड़ी व्याकुलतापूर्ण है । उसको यह सन्देह था कि शकुन्तला संभवतः उसे न पहिचान सकेगी अथवा यदि पहिचान भी ले तो उसे स्वीकार न करेगी । इस कारण

वह यह कहता हुआ वार्त्तालाप प्रारम्भ करता है कि मेरी क्रूरता का परिणाम अनुकूल ही हुआ। दुष्यन्त की क्रूरता शकुन्तला का परित्याग कर देने में हुई थी और उसका परिणाम दुष्यन्त के अनुकूल ही रहा कि शकुन्तला ने उसको अस्वीकार नहीं किया। **प्रत्यभिज्ञातम्** = तुम ने स्वयं ही मुझ को पहचान लिया है। **परित्यक्तमत्सरेण** = छोड़ दी गयी है ईर्ष्या अथवा जलन जिसके द्वारा ऐसे भाग्य से। **स्मृतिभिन्नमोहतमसः** = पूर्व वृत्तान्त के स्मरण हो आने से अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो गया है जिसका ऐसा मैं। **उपरागान्ते** = उपराग अर्थात् ग्रहण के पश्चात्। **रोहिणी** = यह दक्ष की २७ पुत्रियों में चतुर्थ पुत्री थी तथा चन्द्रमा की सर्वाधिक प्रिय स्त्री भी थी। **योगम्** = सम्मिलन अथवा मिलना। इतने समय के वियोग के पश्चात् हम दोनों का मिलन ग्रहण के पश्चात् चन्द्रमा से रोहिणी के मिलन के जैसा ही है। **बाष्पेण** = आँसुओं के कारण तुम्हारा गला भर आया और तुम जिस जय शब्द का उच्चारण करना चाहती थीं, वह पूर्ण रूप से न निकल सका। **प्रतिषिद्धेऽपि** = रुक जाने पर भी। **जितम्** = फिर भी मेरी जय हो गई। क्योंकि मेरी प्रबल इच्छा तुम्हारे दर्शनों की थी, वह दर्शन मुझे प्राप्त हो गया। **असंस्कारपाटलोष्ठपुटम्** = प्रसाधन (सजावट) न करने के कारण गुलाबी होठों वाले (मुख) को। विरहिणी स्त्रियाँ सजावट आदि नहीं करती हैं, साथ ही विरह के कारण उनके शरीर अत्यन्त कृश और दुर्बल हो जाया करते हैं। ऐसी स्थिति में होठों का गुलाबी अथवा पीतवर्ण का हो जाना स्वाभाविक ही है।

बालः—(अज्जुए ! को एसो ?) मातः ! क एषः ?

बालक—माता जी ! ये कौन हैं ?

शकुन्तला—(वच्छ ! दे भाअहेआइं पुच्छेहि।) वत्स ! ते भागधेयानि पृच्छ।

शकुन्तला—बेटे ! अपने भाग्य से पूछो।

राजा—(शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य)

सुतनु हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥२४॥

अन्वयः—हे सुतनु ! ते हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकं अपैतु। तदा मे मनसः किमपि बलवान् संमोहः अभूत्। हि शुभेषु प्रबलतमसां वृत्तयः एवंप्रायाः। अन्धः शिरसि क्षिप्तां स्रजं अपि अहिशंकया धुनोति।

संस्कृत-व्याख्या—हे सुतनु ! = शोभना तनूः शरीरं यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ—हे सुन्दरि ! ते = तव शकुन्तलायाः, हृदयात् = चेतसः, प्रत्यादेशव्यलीकम् = प्रत्यादेशेन मत्कृतेन निराकरणेन यद् व्यलीकं दुःखं तत्, अपैतु = दूरीभवतु । तदा = निराकरणकाले प्रत्याख्यानसमये वा, मे = मम दुष्यन्तस्य, मनसः = चित्तस्य, किमपि = अनिर्वचनीयं यथा स्यात्तथा, बलवान् = प्रबलः, संमोहः = अज्ञानम्, अभूत् = जातः । हि = यतो हि, शुभेषु = मंगलेषु विषयेषु, प्रबलतमसाम् = प्रबलं घोरं तमः मोहः अन्धकारश्च येषां तेषाम्, वृत्तयः = व्यापाराः, एवंप्रायाः = एवंविधाः भवन्ति । अन्धः = नेत्रहीनः, शिरसि = निजमस्तके, क्षिप्ताम् = अन्येन स्थापिताम्, स्रजमपि = पुष्पमालामपि, अहिशंकया = अहेः सर्पस्य शंकया भ्रान्त्या, धुनोति = दूरं क्षिपति ।

राजा—(शकुन्तला के पैरों पर पड़कर)

हे सुन्दरि ! तेरे हृदय से मेरे द्वारा किये गये परित्याग का दुःख दूर हो जाय । उस समय मेरे मन में किसी प्रकार का प्रबल अज्ञान उत्पन्न हो गया था, क्योंकि कल्याणकारी विषयों के प्रति प्रबल तमोगुण वालों की प्रवृत्तियाँ प्रायः ऐसी ही होती हैं । अन्धा व्यक्ति अपने सिर पर (किसी अन्य के द्वारा) डाली गई फूलों की माला को भी सर्प समझकर फेंक देता है ।

अलंकारः—श्लोक का द्वितीय चरण प्रथम चरण के प्रति कारण है अतः काव्यलिंग अलंकार है । तृतीय चरण में सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन हुआ है, अतः अर्थान्तरन्यास है । चतुर्थ चरण में उपमेय एवं उपमानगत साधर्म्य के प्रतिबिम्बन से दृष्टान्त अलंकार है । "अहिशंकया" में भ्रान्तिमान् है । छन्दः—इस श्लोक में हरिणी नामक वृत्त है ।

शकुन्तला—[उट्ठेदु अज्जउत्तो । णूणं मे सुअरिअप्पडिबन्धअं पुरा किदं तेसु दिअहेसु परिणामाहिमुहं आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जउत्तो मइ विरसो संवुत्तो ।] उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः । नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामाभिमुखमासीद् येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः ।

(राजोत्तिष्ठति)

शकुन्तला—आर्यपुत्र, उठिये । अवश्य ही, उन दिनों शुभ-फल में विघ्नकारी मेरा पूर्वजन्म में किया हुआ कोई पाप उदय हो गया था, जिसके कारण दयालु होते हुए भी आर्यपुत्र मेरे प्रति (उस समय) उदासीन (अथवा निर्दयी) हो गये थे ।

(राजा उठता है ।)

शकुन्तला—(अह कहं अज्जउत्तेण सुमरिदो दुक्खभाई अअं जणो ?) अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःखभाग्ययं जनः ?

शकुन्तला—तो अब आर्यपुत्र ने इस दुःखभागी व्यक्ति को कैसे याद किया ?

राजा—उद्धृतविषादशल्यः कथयिष्यामि ।

मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते
यो बाष्पविन्दुरधरं परिबाधमानः ।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य
कान्ते प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ।।२५।।

(इति यथोक्तमनुतिष्ठति ।)

अन्वयः—हे सुतनु कान्ते ! यः बाष्पविन्दुः पूर्वं ते अधरं परिबाधमानः मया मोहात् उपेक्षितः, अद्य आकुटिलपक्ष्मविलग्नं तं प्रमृज्य विगतानुशयः भवेयं तावत् ।

संस्कृत-व्याख्याः—हे सुतनु ! हे वरगात्रि ! कान्ते, प्रिये शकुन्तले ! यः बाष्पविन्दुः = यः बाष्पस्य नेत्रजलस्य विन्दुः अश्रुकण इत्यर्थः, पूर्वम् = प्रत्याख्यान-काले, ते = तव, अधरम् = अधरोष्ठम्, परिबाधमानः = परितः बाधमानः पीडयन्, मया = दुष्यन्तेन, मोहात् = अज्ञानात्, उपेक्षितः = न गणितः, अद्य = अधुना, आकुटिल-पक्ष्मविलग्नम् = आकुटिलेषु ईषद्वक्रेषु पक्ष्मसु नेत्रलोमसु विलग्नं संसक्तमेव, तम् = अश्रुजलम्, प्रमृज्य = अपनीय, विगतानुशयः = विगतः नष्टः अनुशयः पश्चात्तापः यस्य सः तथाविधः, भवेयं तावत् = यथा भवेयं तथा इच्छामि ।

राजा—संतापरूपी बाण के निकल जाने पर बतलाऊँगा ।

हे सुन्दर शरीर वाली प्रिये ! जो अश्रुकण पहले तेरे अधर को पीड़ित कर रहे थे (तथा) जिनकी मैंने अज्ञानवश (उस समय) उपेक्षा कर दी थी, आज कुछ तिरछी पलकों में संलग्न उस अश्रुजल को पोंछ कर मैं पश्चात्ताप से रहित होना चाहता हूँ ।

(यह कहकर कथनानुसार करता है अर्थात् अश्रु पोंछता है ।)

छन्दः—इस श्लोक में वसन्ततिलका नामक वृत्त है।

व्याकरणः—**सुतनु**—शोभना तनूः यस्या सा सुतनूः। संबोधन में दीर्घ ऊ के स्थान पर ह्रस्व उ हो जाता है। इस स्थल पर तनू शब्द दीर्घ ऊकारान्त है। यहाँ पर समासान्त विधि के अनित्य होने से कप् प्रत्यय नहीं होता है। तनु शब्द को ह्रस्व उकारान्त लेने पर सम्बोधन में 'सुतनो' रूप बनेगा।

टिप्पणियाँ—**वत्स** = बेटा, पुत्र। हमारी प्राचीन परम्परा यह रही है कि ज्येष्ठ पुत्र, स्त्री, गुरु, पति आदि का नाम न लिया जाये। "आत्मनाम गुरोर्नाम नामाति-कृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥" इसी कारण शकुन्तला ने सर्वदमन का नाम न लिया होगा। **भागधेयानि** = सर्वदमन ने अपनी माँ से दुष्यन्त के बारे में पूछा था कि ये कौन हैं? उसी के उत्तर में शकुन्तला ने कहा कि अपने भाग्य से पूछो। इसका अभिप्राय है कि यदि भाग्य हम लोगों के अनुकूल है और तदनुसार इन्होंने हम लोगों को स्वीकार कर लिया तब तुम इनके पुत्र हो और इनके पश्चात् राज्य के उत्तराधिकारी बनोगे। अन्यथा हम दोनों यहीं तपोवन में रहेंगे और ये दुष्यन्त तुम्हारे लिये साधारण राजा के सदृश ही होंगे। इसके अतिरिक्त इस वाक्य का यह भी अर्थ हो सकता है कि तुम अपने भाग्य को पूछो। तुम्हारा यह सौभाग्य है कि तुम अपने पिता को अपने समक्ष देख रहे हो। **प्रत्यादेशव्यलीकम्** = त्यागने के कारण उत्पन्न हुआ दुःख अथवा पीड़ा। **व्यलीक**—पीड़ा, दुःख। **अपैतु** = दूर कर दो। अपने मन से निकाल दो। **प्रबलतमसाम्** = प्रबल अज्ञान में पड़े व्यक्तियों की। **तम**—अज्ञान, अन्धकार। **एवंप्रायाः** = अधिकतर ऐसी (एवं प्रायः अधिकतरो भागः यासां ताः)। **वृत्तयः** = व्यवहार अथवा प्रवृत्तियाँ। **अहिशंकया** = सर्प की शंका से। सर्प समझकर फेंक दिया करता है। **सुचरितप्रतिबन्धकम्** = पुण्य को (फल प्रदान करने से) रोकने वाला। **पुराकृतम्** = पूर्व-जन्म में किया हुआ कार्य। यहाँ शकुन्तला अपने पूर्व-जन्मकृत पापों (कार्यों) को ही दोष देती है, राजा द्वारा किये गये परित्याग का दोषी उनको नहीं ठहराती है। यह शकुन्तला की साधुता है। **परिणाममुखम्** = फलोन्मुख, फल की ओर ले जाने वाला। पाप फलोन्मुख था अर्थात् पूर्वजन्मकृत पाप का उदय उस समय हो गया था। **अनुक्रोशः** = दया, अनुग्रह। **विरसः** = रसहीन अर्थात् नीरस, उदासीन अथवा उपेक्षाभाव से युक्त। **उदधृतविषादशल्यः** = निकल गया है विषाद रूपी शल्य (बाण का अग्रभाग) जिसके हृदय से ऐसा मैं (उदधृतं विषाद एवं शल्यं यस्मात्)। अर्थात् जब मेरे हृदय से दुःख दूर हो जायगा तभी मैं तुम से कुछ कह सकूंगा। **पूर्वम्** = पहले अर्थात् परित्याग के समय पर। **उपेक्षितः** = उपेक्षा कर दिया गया था। **आकुटिलपक्ष्मविलग्नम्** = कुछ टेढ़ी बरौनियों (पलकों के बालों) में संलग्न। भाव यह है कि पहले (परित्याग के समय) जब तुम्हारे आँसू होठों तक बहकर आ गये थे तब मैंने उनकी परवाह न की थी। अब तुम्हारे पलकों तक आये हुए अश्रुओं को ही पोंछ कर अपने पश्चात्ताप को दूर करना चाहता हूँ। **विगतानुशयः** = पश्चात्ताप से रहित।

शकुन्तला—(नाममुद्रां दृष्ट्वा) (अज्जउत्त ! एदं तं अंगुली-अअं।) आर्यपुत्र ! इदं तदङ्गुलीयकम्।

शकुन्तला—(नामांकित अँगूठी को देखकर) आर्यपुत्र ! यही वह अँगूठी है।

राजा—अस्मादङ्गुलीयोपलम्भात् खलु स्मृतिरुपलब्धा ।

राजा—इस अँगूठी के मिलने से ही वस्तुतः मुझे तुम्हारा स्मरण आया है।

शकुन्तला—(विसमं किदं णेण जं तदा अज्जउत्तस्स पच्चअकाले दुल्लहं आसि ।) विषमं कृतमनेन यत्तदार्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत् ।

शकुन्तला—इसने बुरा किया कि यह तब आर्यपुत्र को विश्वास दिलाने के समय दुर्लभ हो गई थी ।

राजा—तेन हि ऋतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां लता कुसुमम् ।

राजा—तब तो लता (शकुन्तला) ही ऋतु (दुष्यन्त) के समागम के चिह्नस्वरूप इस पुष्प (अँगूठी) को धारण करे ।

शकुन्तला—(ण से विस्ससामि । अज्जउत्तो एव्व णं धारदु ।) नास्य विश्वसिमि । आर्यपुत्र एवैतद् धारयतु ।

शकुन्तला—मुझे इसका (अँगूठी का) विश्वास नहीं है। आर्यपुत्र ही इसे धारण करें।

(ततः प्रविशति मातलिः)

मातलिः—दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान् वर्धते ।

(तदनन्तर मातलि प्रवेश करता है।)

मातलि—सौभाग्य से आयुष्मान् धर्मपत्नी के मिलन और पुत्र-मुख के दर्शन से वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं।

राजा—अभूत् सम्पादितस्वादुफलो मे मनोरथः । मातले ! न खलु विदितोऽयमाखण्डलेन वृत्तान्तः स्यात् ।

राजा—मेरे मनोरथ ने स्वादिष्ट फल प्राप्त कर लिया है। मातलि ! यह समाचार इन्द्र को तो ज्ञात नहीं हुआ होगा।

मातलिः—(सस्मितम्) किमीश्वराणां परोक्षम् । एत्वायुष्मान् । भगवान् मारीचस्ते दर्शनं वितरति ।

मातलि—(मुस्कराते हुए) स्वामियों के लिये कौनसी बात परोक्ष (छिपी

हुई) है ? आइये । भगवान मारीच ने आपको दर्शन देना स्वीकार कर लिया है।

राजा—शकुन्तले ! अवलम्ब्यतां पुत्रः । त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि ।

राजा—शकुन्तला, पुत्र को सम्हालो । मैं तुमको आगे करके भगवान् (मारीच) का दर्शन करना चाहता हूँ ।

शकुन्तला—(हिरिआमि अज्जउत्तेण सह गुरुसमीवं गन्तुं ।) जह्लेमि आर्यपुत्रेण सह गुरुसमीपे गन्तुम् ।

शकुन्तला—आर्यपुत्र के साथ गुरुजनों के समीप जाने में मुझे लज्जा आती

राजा—अप्याचरितव्यमभ्युदयकालेषु । एह्येहि ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

राजा—अभ्युदय के समय पर तो यही उचित आचार है । आओ, आओ ।

(सब चल पड़ते हैं ।)

(ततः प्रविशत्यदित्या सार्धमासनस्थो मारीचः ।)

मारीचः—(राजानमवलोक्य) दाक्षायणि !

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी
दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्त्ता ।
चापेन यस्य विनिर्वर्तितकर्म जातं
तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः ॥२६॥

अन्वयः—हे दाक्षायणि ! अयं ते पुत्रस्य रणशिरसि अग्रयायी दुष्यन्तः इति अभिहितः भुवनस्य भर्ता (अस्ति), यस्य चापेन विनिर्वर्तितकर्म कोटिमत् तत् कुलिशं मघोनः आभरणं जातम् ।

संस्कृत व्याख्या—हे दाक्षायणि ! अयम्=पुरो दृश्यमानः, ते=तव, पुत्रस्य=इन्द्रस्य, रणशिरसि=रणाः समराः तेषां शिरसि समरमूर्द्धनि युद्धक्षेत्रे वा, अग्रयायी=पुरोगामी, दुष्यन्त इति अभिहितः=विख्यातः दुष्यन्तनामधेयकः इत्यर्थः, भुवनस्य=भुवः भर्ता=पालकः अस्ति; यस्य=दुष्यन्तस्य, चापेन=धनुषा, विनिर्वर्तितकर्म=विनिर्वर्तितं सुसम्पादितं कर्म शत्रुहननरूपं

यस्य तथाविध सत्, कोटिमत् = तीक्ष्णाग्रम्, तत् = तत्प्रसिद्धम्, कुलिशम् - वज्रम्, मघोनः = इन्द्रस्य, आभरणम् = आभूषणमात्रम्, जातम् = सम्पन्नम्।

(तत्पश्चात् अदिति के साथ आसन पर बैठे हुए मारीच प्रवेश करते हैं।)

मारीच--(राजा को देखकर) हे दाक्षायणि !

यह तुम्हारे पुत्र (इन्द्र) के युद्धों में सबसे आगे चलने वाला, 'दुष्यन्त' नाम से कथित पृथ्वी का रक्षक अथवा स्वामी है; जिस (दुष्यन्त) के धनुषसे, जिस का सब कार्य पूरा हो गया है, ऐसा वह तीक्ष्ण धारा वाला वज्र इन्द्र के लिए (अब) केवल आभूषण-मात्र रह गया है।

अलंकारः—इस श्लोक में राजा दुष्यन्त के लोकातिशय पराक्रम का वर्णन होने से उदात्त नामक अलंकार है। आभरणमात्रम् के प्रति विनिर्वर्तितकर्म के कारण होने से यहाँ काव्यलिंग अलंकार है। **छन्द**—इसमें वसन्ततिलका वृत्त है।

व्याकरणः—**दाक्षायणि** (दक्ष की पुत्री) दक्ष + फिञ् + ङीष्। दक्षस्यापत्यं स्त्री—यहाँ "वा नामधेयस्य"..इत्यादि वार्तिक (अष्टा० १।१।७५) द्वारा वृद्धसंज्ञा होने से "उदीचांवृद्धाद. . .इत्यादि" (अष्टा० ४।१।१५७।) से फिञ् (आयन) प्रत्यय होकर "षिद्गौरादिभ्यश्च" (अष्टा० ४।१।४१) से ङीष (ई) होकर दाक्षायणी रूप बनता है। **कुलिशम्** = (वज्र) कुलि शब्द का अर्थ है हाथ। कुलौ शेते इति। कुलि + शी + उ -यहाँ "अन्येष्वपि दृश्यते" (अष्टा० ३।२।१०१।) से 'ड' होता है। अथवा—कुलिनः पर्वतान् श्यति नाशयति इति कुलिशः। कुलि + शो + क। यहाँ पर "आतोऽनुपसर्गे कः" (अष्टा० ३।२।३।) से 'क' होता है। *समास*--**अङ्गुलीयोपलम्भात् = अङ्गुलीयोस्य उपलम्भात्**(तत्पुरुष)--अंगूठी के मिलने से। **विनिर्वर्तितकर्म** = विनिर्वर्तितं कर्म यस्य तत (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ:—**नाममुद्राम**--राजा (दुष्यन्त) के नाम से अंकित अँगूठी। **इदम् तत्**=यही वह अँगूठी है जो मेरे द्वारा दिखलाने के लिये कहे जाने पर नहीं मिली थी। **विषमं कृतमनेन** = इस (अँगूठी) ने अनुचित किया था कि जो उस समय नहीं मिली थी। **प्रत्ययकाले** = मेरे (शकुन्तला के) द्वारा विश्वास दिलाने के समय। **ऋतुसमवायचिह्नम्** = ऋतु (वसन्त) से मिलने के चिह्न को। यहाँ ऋतु राजा है, लता शकुन्तला है तथा कुसुम अँगूठी है। लता पर पुष्प होना चाहिये अतः शकुन्तला के समीप अँगूठी का होना आवश्यक है। **नास्य विश्वसिमि** = मुझे इसका विश्वास नहीं है। इसने मुझे विश्वास दिलाते समय धोखा दिया था अतः मैं इसको नहीं पहनूँगी। **सम्पादितस्वादुफलः** = प्राप्त कर लिया है मधुर फल जिसने ऐसा (सम्पादितं स्वादुफलं येन)। **आखण्डलेन** = इन्द्र के द्वारा। (आखण्डयति शत्रून् पर्वतान् वा--शत्रुओं अथवा पर्वतों का विनाशक।) **किमीश्वराणां परोक्षम्** = स्वामियों के लिये क्या परोक्ष है ? अर्थात्

कुछ नहीं (वे सब कुछ जानते हैं) । **अदिति**=मारीच ऋषि की पत्नी का नाम अदिति है। ऋग्वेद में अदिति को इन्द्र तथा अन्य देवताओं की माता माना है। अदिति के पुत्र १२ हैं जो आदित्य कहलाते हैं। **पुत्रस्य ते**=इन शब्दों का प्रयोग इसलिये किया गया है जिससे अदिति की उत्सुकता बढ़े क्योंकि वह उसके पुत्र इन्द्र का मित्र है। **रणशिरसि**=युद्ध के अग्रभाग में। **इति अभिहितः**=यह कहा जाने वाला अर्थात् इस नाम से प्रसिद्ध । **विनिर्वर्तितकर्म**=समाप्त हो गया है कर्म जिसका ऐसा (कुलिश--वज्र) । जिस इन्द्र का सम्पूर्ण कार्य दुष्यन्त के धनुष ने ही पूरा कर दिया था। **कोटिमत्**—तीक्ष्ण—तेज, अग्रभाग (नोंक) वाला। **आभरणम्**=वह (वज्र) इन्द्र के लिये केवल आभूषण के रूप में ही रह गया है क्योंकि उसके प्रयोग की अब उसे आवश्यकता ही नहीं रह गई है ।

अदितिः—(संभावणीआणुभावा से आकिदी ।) संभावनीयानुभावाऽस्याकृतिः ।

अदिति—इसकी आकृति से ही इसके प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है।

मातलिः—आयुष्मन् ! एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावायुष्मन्तमवलोकयतः । तावुपसर्प ।

मातलि—आयुष्मन् ! ये देवताओं के माता-पिता आपको पुत्र-प्रेम की सूचक दृष्टि से देख रहे हैं। उनके पास चलिये।

राजा—मातले !

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भर्त्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम् ।
यस्मिन्नात्मभवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसंभवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम् ॥२७॥

अन्वयः—मुनयः यत् द्वादशधा स्थितस्य तेजसः कारणं प्राहुः, यत् भुवनत्रयस्य भर्तारं यज्ञभागेश्वरं सुषुवे, यस्मिन् आत्मभवः परः पुरुषः अपि भवाय आस्पदं चक्रे, दक्षमरीचिसंभवं स्रष्टुः एकान्तरं तत् इदं द्वन्द्वम् ।

संस्कृत-व्याख्याः—मुनयः—वेदनिष्णाताः व्यासादयः महर्षयः, यत्=द्वन्द्वम्, द्वादशधा=द्वादशरूपेण स्थितस्य=वर्त्तमानस्य (आदित्या द्वादश स्मृता इति पुराणेषु प्रसिद्धम् । द्वादशसु मासेषु द्वादशमूर्तिधरो वा सूर्यः), तेजसः=सूर्यस्य, कारणम्=जनकं, प्राहुः=कथयन्ति । यत्=द्वन्द्वम्, भुवनत्रयस्य=भुवनानां त्रयं भुवनत्रयं भूर्भुवःस्वर्लक्षणात्मकं तस्य, भर्त्तारम्=पालकम् यज्ञ-

भागेश्वरम् = यज्ञे भागो येषां ते यज्ञभागाः देवाः तेषामीश्वरं स्वामिनमिन्द्रम्, सुषवे = उत्पादयामास । यस्मिन् = द्वन्द्वे, आत्मभवः = आत्मना भवतीति आत्मभूः स्वयंभूः ब्रह्मा तस्मात्, परः पुरुषः = विष्णुः, अपि, भवाय = वामनरूपेण जन्मने, आस्पदम् = स्थानम्, चक्रे = कृतवान् । दक्षमरीचिसंभवम् = दक्षः मरीचिश्च संभवः उत्पत्तिस्थानं यस्य तत्, स्रष्टुः = ब्रह्मणः; एकान्तरम् = एकं एकमात्रम् अन्तरं व्यवधानं यस्य तत्, तत् इदं द्वन्द्वम् = युगलमस्ति ।

राजा—मातलि,

मुनिगण जिस (जोड़े) को बारह प्रकारों में स्थित तेज (सूर्य) का कारण कहते हैं, जिसने तीनों लोकों के स्वामी और यज्ञभाग के अधिकारी देवताओं के स्वामी (इन्द्र) को जन्म दिया है और जिसको स्वयंभू (ब्रह्मा) से भी महान् पुरुष (विष्णु) ने वामन रूप में जन्म लेने के लिये आश्रय बनाया, (वही) दक्ष और मरीचि से उत्पन्न तथा ब्रह्मा से केवल एक पुरुष के अन्तर वाला यह जोड़ा है ।

अलंकारः—'आत्मभवः भवाय' इनकी परस्पर विरुद्ध के सदृश प्रतीति होने के कारण विरोधाभास अलंकार है। महर्षि के चरित का वर्णन किये जाने के कारण इसमें उदात्त अलंकार है । छन्दः—इसमें शार्दूलविक्रीडित वृत्त है ।

व्याकरणः—**द्वन्द्वम्** = (जोड़ा) द्वौ द्वौ इति द्वन्दम्—यहाँ "द्वन्द्वं रहस्य... इत्यादि" (अष्टा० ८।१।१५) से 'द्वन्द्वं' निपातन हो जाता है। ***समास आदि***—**संभावनीयानुभवा** = संभावनीयः अनुभावः यस्याः सा (बहुव्रीहि) । **पुत्रप्रीतिपिशुनेन** = पुत्रे प्रीतिः तस्याः पिशुनं सूचकम् (तत्पुरुष) इति तेन । **यज्ञभागेश्वरम्**—यज्ञे भागः येषां ते यज्ञभागाः, तेषामीश्वरः तम् (तत्पुरुष) । **पुरुषः** = इस शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्तियाँ होती हैं (१) पुरि शेते इति पुरुषः [शरीररूपी नगरी में शयन करने (निवास करने) वाला-जीवात्मा] (२) पूरयति विश्वं तस्मिन् शेते इति [जो समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है ऐसा परमात्मा]।

टिप्पणियाँ—**संभावनीयानुभावा** = संभावनीय अर्थात् अनुमान करने योग्य है प्रभाव जिसका ऐसी आकृति। **पुत्रप्रीतिपिशुनेन** = पुत्रप्रेम की सूचक (दृष्टि) से। **पिशुन** = सूचक, बताने वाली। **द्वादशधा स्थितस्य तेजसः** = बारह प्रकार से स्थित तेज (सूर्य) का। यहाँ पर वर्ष के बारह महीनों में सूर्य के प्रतिनिधि के रूप में माने जाने वाले बारह प्रकार के आदित्यों की ओर संकेत है जिनको अदिति और कश्यप का पुत्र माना गया है। विष्णुपुराण (१।२५) में इनका वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है :—"मारीचात् कश्यपाज्जातास्तेऽदित्या दक्षकन्यया । तत्र विष्णुश्च शुक्रश्च जज्ञाते पुनरेव हि । अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च । विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च । अंशुर्भगश्चादितिजा आदित्या द्वादश स्मृताः ॥" महाभारत में—"अदित्यां द्वादशादित्याः संभूता

भुवनेश्वराः। धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंशुरेव च ॥ भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा। एकादश तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते ॥" द्वादशधा का अर्थ सूर्य की बारह कलायें भी किया जा सकता है। ये १२ कलायें हैं:— "तपिनी तापिनी धूम्रा मरीचिर्ज्वालिनी रुचिः। सुषुम्णा भोगदा विश्वा बोधिनी धारिणी क्षमा ॥" **तेजसः**=तेज का अर्थात् तेजसम्पन्न सूर्य का। **भुवनत्रय**= तीन लोक या भुवन। उनके नाम——भूः, भुवः, स्वः। **यज्ञभागेश्वरम्**=यज्ञ में भाग हैं जिनका अर्थात् देवता। यज्ञ के हव्य में देवताओं का भाग होता है अतः देवताओं को यज्ञभाग भी कहा जाता है। उन देवताओं के स्वामी (इन्द्र)। **आत्मभुवः अपि परः पुरुषः**=स्वयं उत्पन्न होने वाले (ब्रह्म) से भी उत्तम पुरुष। यहाँ पर विष्णु भगवान् के वामन के रूप में अवतरित होने की ओर निर्देश है। वामन के रूप में उत्पन्न हुए विष्णु के अदिति और कश्यप ही माता-पिता माने गये हैं:— "मन्वन्तरे च सम्प्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज। वामनः कश्यपाद् विष्णुरदित्यां संबभूव ह ॥" (विष्णुपुराण) ॥ **दक्षमरीचिसम्भवम्**=दक्ष और मरीचि से उत्पन्न (इन्द्र)। दक्ष की पुत्री अदिति थी और कश्यप मरीचि का पुत्र था। **स्रष्टुरेकान्तरम्**——ब्रह्मा से केवल एक पुरुष (पीढ़ी) के व्यवधान वाला। अदिति और कश्यप के पिता (दक्ष और मरीचि) ब्रह्मा के मानस पुत्र थे ॥

मातलिः—अथ किम् ?

मातलि——और क्या ? (अर्थात् आप का कथन ठीक ही है।)

राजा—(उपगम्य) उभाभ्यामपि वासवनियोज्यो दुष्यन्तः प्रणमति ।

राजा——(समीप जाकर) आप दोनों को इन्द्र का सेवक दुष्यन्त प्रणाम करता है।

मारीचः—वत्स ! चिरं जीव । पृथिवीं पालय ।

मारीच—पुत्र, चिरंजीवी होओ। पृथिवी का पालन करो।

अदितिः—(वच्छ ! अप्पडिरहो होहि ।) वत्स ! अप्रतिरथो भव ।)

अदिति——पुत्र, अद्वितीय महारथी होओ।

शकुन्तला—(दारअसहिदा वो पादवन्दणं करेमि ।) दारकसहिता वां पादवन्दनं करोमि ।

शकुन्तला——बच्चे सहित मैं आप दोनों के चरणों की वन्दना करती हूँ।

मारीचः—वत्से !

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः ।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव ॥२८॥

अन्वयः—भर्ता आखण्डलसमः, सुतः जयन्तप्रतिमः, पौलोमीसदृशी भव, अन्या आशीः ते योग्या न ।

संस्कृत-व्याख्या—भर्ता = (तव) पतिः दुष्यन्तः, आखण्डलसमः = आखण्डलस्य इन्द्रस्य समः तुल्यः अस्ति, सुतः = तव पुत्रः सर्वदमनः, जयन्तप्रतिमः = इन्द्रपुत्रेण जयन्तेन समः तुल्यः वर्तते । पौलोमीसदृशी—पौलोम्या इन्द्रपत्न्या शच्या सदृशी तुल्या भाग्यशालिनी अविधवा इत्यर्थः, भव । अन्या आशीः—आशीर्वादः, ते = तव, योग्या = अनुरूपा, न = नास्ति ।

मारीच—पुत्री,
तेरा पति इन्द्र के सदृश है, तेरा पुत्र जयन्त (इन्द्र के पुत्र) के सदृश है, तू इन्द्राणी के समान होना । इसके अतिरिक्त कोई अन्य आशीर्वाद तेरे योग्य नहीं है ।

अलंकारः—इसमें उपमा अलंकार है । छन्दः—इसमें श्लोक नामक वृत्त है ।

अदितिः—(जादे ! भत्तुणो बहुमदा होहि । अअं च दीहाऊ वच्छओ उहअकुलणन्दणो होदु । उवविसह ।) जाते ! भर्तुर्बहुमता भव । अयं च दीर्घायुर्वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु । उपविशत ।

(सर्वे प्रजापतिमभित उपविशन्ति ।)

अदिति—पुत्री, तुम पति-द्वारा अत्यधिक सम्मानित होओ और यह दीर्घायु बालक दोनों कुलों को आनन्दित करने वाला होवे । तुम सब बैठ जाओ ।

(सब प्रजापति के समक्ष चारों ओर बैठ जाते हैं ।)

मारीचः—(एकैकं निर्दिशन्)

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान् ।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम् ॥२९॥

अन्वयः—साध्वी शकुन्तला, इदं सत् अपत्यम्, भवान् । दिष्टया श्रद्धा वित्तं विधिः च इति तत् त्रितयं समागतम् ।

संस्कृत-व्याख्या—साध्वी = पतिव्रता वा, शकुन्तला, इदं = पुरतः दृश्यमानम्, सत् = साधु, अपत्यम् = पुत्रः, भवान् = दुष्यन्तः । दिष्ट्या =

भाग्येन, श्रद्धा = शास्त्रार्थवती भक्तिः, वित्तम् = धनम्, विधिः = [illegible]यकर्मानुष्ठानम्, च इति तत् = प्रसिद्धम्, त्रितयम् = त्रयम्, समागतम् = एकत्र मिलितम्। मंगलमेतत्। यत् श्रद्धारूपा शकुन्तला, वित्तरूपः सर्वदमनः, विधिरूपो भवान् इति त्रयमद्य युक्तम्।

मारीच—(एक एक की ओर संकेत करते हुए)

यह पतिव्रता शकुन्तला (है), यह सद्गुणों से युक्त पुत्र (है), (यह) आप (हैं)। सौभाग्य से श्रद्धा, धन और विधि ये तीनों वस्तुयें यहाँ एकत्र हो गई हैं।

अलंकारः—इस श्लोक में श्रद्धा, धन एवं विधि के साथ क्रमशः शकुन्तला, पुत्र तथा राजा का अन्वय किये जाने से यथासंख्य अलंकार है। **छन्दः**—इसमें श्लोक नामक वृत्त है।

व्याकरणः— **त्रितयम्** = (तीनों)—त्रि + तयप्—यहाँ "सङ्ख्याया अवयवे तयप्" (अष्टा० ५।२।४२) से 'तयप्' प्रत्यय होता है। ***समास आदिः***— **अप्रतिरथः** = प्रतिकूलो रथः प्रतिरथः, उपचारात् प्रतिद्वन्द्वी। न प्रतिरथः यस्य सः अप्रतिरथः (बहुव्रीहि)। **जयन्तप्रतिमः** = जयन्तेन तुल्यः जयन्तप्रतिमः—नित्यसमास अथवा जयन्तस्य प्रतिमः सदृशः—(तत्पुरुष)। **उभयकुलनन्दनः** = नन्दयतीति नन्दनः, उभयकुलस्य नन्दनः इति (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**वासवनियोज्यः** = इन्द्र का सेवक। **नियोज्य**—सेवक। यह राजा की नम्रता एवं उदारता का सूचक है। **अप्रतिरथः** = नहीं है प्रतिद्वन्द्वी योद्धा जिसका ऐसा अर्थात् अद्वितीय वीर। **प्रतिरथ**—प्रतिद्वन्द्वी। **आखण्डलसमः** = तुम्हारा पति दुष्यन्त इन्द्र के समान सर्वगुणसम्पन्न है। **जयन्तप्रतिमः** = तुम्हारा पुत्र सर्वदमन इन्द्र के पुत्र जयन्त के सदृश वीर तथा पराक्रमी आदि है। **पौलोमीसदृशी** = तुम इन्द्राणी के समान सदैव सौभाग्यवती बनी रहो। जिस भाँति इन्द्राणी सदा सौभाग्यवती है उसी प्रकार तुम भी होओ। पौलोमी पुलोमन् नाम के दैत्य की पुत्री थी जिसको युद्ध में इन्द्र ने मार दिया था। "कृत्वा सम्बन्धकं चापि विश्वसेत् शत्रुणां नहि। पुलोमानं जघानासौ जामाता सन् शतक्रतुः॥ हरिवंशपुराण २०।१३३॥ **बहुमता** = अत्यधिक सम्मान से युक्त। **दिष्ट्या** = भाग्य से। **साध्वी** = पतिव्रता, सच्चरित्रा। **सत्** = अच्छे गुणों से युक्त। **श्रद्धा** = आस्तिकता, शास्त्रों आदि में दृढ़ आस्था अथवा विश्वास। **विधिः** = शास्त्रीय विधान के अनुसार यज्ञ-यागादि करना॥ इस स्थल पर महाकवि ने अति सुन्दर साम्य उपस्थित किया है—शकुन्तला श्रद्धा के समान है, पुत्र सर्वदमन धन के सदृश तथा राजा दुष्यन्त विधि के समान है। कर्मकाण्ड में श्रद्धा, वित्त और विधि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः कर्मकाण्ड में संलग्न कश्यप को शकुन्तला, सर्वदमन तथा राजा दुष्यन्त [illegible] श्रद्धा, वित्त और विधि का स्मरण हो आया होगा।

राजा—भगवन् ! प्रागभिप्रेतसिद्धिः पश्चाद् दर्शनम् । अतोऽपूर्वः खलु वाऽनुग्रहः । कुतः—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं
घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः ।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रम-
स्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः ॥३०॥

अन्वयः—पूर्वं कुसुमं उदेति ततः फलम् । प्राक् घनोदयः तदनन्तरं पयः । निमित्तनमित्तिकयोः अयं क्रमः । तव प्रसादस्य तु पुरः सम्पदः ।

संस्कृत-व्याख्या—पूर्वम् = प्रथमम् कुसुमम् = पुष्पम्, उदेति = आविर्भवति, ततः = तदनन्तरम्, फलम् = तत् कर्मफलं दृश्यते । प्राक् = पूर्वम्, घनोदयः = घनानां मेघानां उदयः आगमो भवति, तदनन्तरम् = तत्पश्चात्, पयः = जलं वर्षति । निमित्तनैमित्तिकयोः = निमित्तस्य कारणस्य नैमित्तिकस्य कार्यस्य च, अयम् = एषः, क्रमः = नियमः आनुपूर्वी वा भवति । प्रथमं कारणं पश्चात् कार्यं इत्येव कार्यकारणयोः क्रमः । तव = मारीचस्य, प्रसादस्य = अनुग्रहस्य, तु पुरः = पूर्वमेव, सम्पदः = सर्वविधश्रियो भवन्ति । मया भवत्प्रसादनिमित्तं पत्न्याः पुत्रस्य च प्राप्तिरूपं फलं पूर्वमेव उपलब्धमिति भावः ।

राजा—भगवन् ! अभीष्ट की सिद्धि तो पहले ही हो गई है और आपका दर्शन बाद में हुआ है । अतः आपकी कृपा अनोखी है । क्योंकि :—

पहले फूल निकलता है, तदनन्तर फल आता है । पहले मेघ उठते हैं और तदनन्तर वर्षा होती है । कारण और कार्य का यही क्रम है । किन्तु आपकी कृपा के आगे आगे सम्पत्ति चला करती है ।

अलंकारः—इस श्लोक में तृतीय चरण के प्रति प्रथम और द्वितीय चरण कारण हैं अतः काव्यलिंग अलंकार है । कार्य एवं कारण के पूर्वापर नियम का विरुद्ध वर्णन प्रस्तुत किये जाने से अतिशयोक्ति अलंकार है । शकुन्तला और पुत्र के स्थान पर संपत्ति शब्द का प्रयोग किये जाने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है ।
छन्दः—इसमें वंशस्थ नामक वृत्त है ।

व्याकरणः—**नैमित्तिक** = निमित्तेन संसृष्टं नैमित्तिकम्, निमित्त + ठक् (इक) । *समासः*—**निमित्तनैमित्तिकयोः** = निमित्तं च नैमित्तिकं च तयोः (द्वन्द्व) ।

टिप्पणियाँ—**अभिप्रेतसिद्धि** = अभीष्ट वस्तु (शकुन्तला) की प्राप्ति । **पयः** = जल । यहाँ वृष्टि से तात्पर्य है । **निमित्तनैमित्तिकयोः** = कारण और कार्य

का। निमित्त---कारण निमित्तिक कार्य इन दोनों का क्रम यह है कि पहले कारण होता है और तदनन्तर कार्य। किन्तु आपकी कृपा के परिणामस्वरूप यह नियम विपरीत (उलटा) ही हो गया है। कार्य (फल अर्थात् पुत्र तथा पत्नी की प्राप्ति) पहले हो गया है और कारण (आपका अनुग्रह) बाद में। **सम्पदः** = इच्छित वस्तुओं का समागम अथवा प्राप्ति यहाँ पर पूज्य व्यक्ति की प्रामाणिकता के निमित्त प्रिय वचनों का प्रयोग किया गया है। अतः आचार्य विश्वनाथ ने इस श्लोक को **प्रियोक्ति** नामक नाटकीय लक्षण का उदाहरण माना है। इसका लक्षण :---
"स्यात् प्रमाणयितुं पूज्यं प्रियोक्तिहर्षभाषणम् ॥" सा० दर्पण ६।१९४ ॥

मातलिः---एवं विधातारः प्रसीदन्ति ।

मातलि---भाग्यनिर्माता-जन इसी भाँति कृपा किया करते हैं।

राजा---भगवन् ! इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित् कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात् प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य । पश्चादङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वां तद्दुहितरमवगतोऽहम् । तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति ।

> यथा गजो नेति समक्षरूपे
> तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात् ।
> पदानि दृष्ट्वा तु भवेत् प्रतीति-
> स्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥३१॥

अन्वयः---यथा समक्षरूपे गजः न इति। तस्मिन् अपक्रामति संशयः स्यात्, पदानि दृष्ट्वा तु प्रतीतिः भवेत्, तथाविधः मे मनसः विकारः ।

संस्कृत-व्याख्या---यथा = येन प्रकारेण, समक्षरूपे = समक्षं अक्ष्णोः अभिमुखं रूपं स्वरूपं यस्य तस्मिन् गजे सति, गजो न इति = अयं हस्ती नास्ति इति भ्रान्तिरूपं ज्ञानं भवेत् । तस्मिन्---गजे अपक्रामति---दूरं गते सति, संशयः---अयं गजो न वा इति संदेहः स्यात्---भवेत् । पदानि---भूमौ चरणचिह्नानि, दृष्ट्वा तु---निरीक्ष्य तु, प्रतीतिः---"अयं गज एव आसीत्" इति निश्चयात्मिका बुद्धिः भवेत्, तथाविधः---तादृश एव, मे---मम दुष्यन्तस्य, मनसः---चेतसः, विकारः---चित्तभ्रमः आसीत् ।

राजा---भगवन् ! आपकी आज्ञाकारिणी इस (शकुन्तला) के साथ गान्धर्व-विवाह की विधि से विवाह करके कुछ समय पश्चात् जब इसके बन्धुबान्धवों

द्वारा इसे मेरे पास लाया गया तो स्मृति के मन्द पड़ जाने के कारण इसका परित्याग करके मैं आपके वंशज पूजनीय कण्व का अपराधी बना हूँ। बाद में अँगूठी के मिलने पर मैंने उनकी पुत्री को पहले ब्याही हुई जान लिया। यह सम्पूर्ण बात मुझे विचित्र-सी प्रतीत होती है।

जैसे आँखों के समक्ष होने पर यह भान हो कि यह हाथी नहीं है, जब वह चला जाय तो उसके बारे में सन्देह हो और (तदनन्तर) उसके पैर के चिह्नों को देखकर (उसके होने का) विश्वास हो जाये, उसी प्रकार का मेरे मन का विकार था।

अलंकार:—इसमें निदर्शना अलंकार है। **छन्द**:—उपजाति नामक वृत्त है।

व्याकरण:—**आज्ञाकरीम्** = (आज्ञां करोति इति) आज्ञा + कृ + ट (अ) + ङीप। यहाँ तच्छील अर्थ में "कृञो हेतुताच्छील्या. . .इत्यादि" (अष्टा० ३।२।२०) से 'ट' प्रत्यय होता है। **अपराद्धः** = अप + राध् + क्त। **समासः**— **समक्षरूपे** = समक्षं रूपं यस्य तस्मिन् (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ:—**विधातारः** = विधाता लोग अर्थात् मानवों के भाग्यों को नियन्त्रित करने वाले। यहाँ पर इस शब्द का प्रयोग मारीच ऋषि के लिये हुआ है। **उपयम्य** = विवाह करके। **कस्यचिद् कालस्य** = कुछ समय के पश्चात्। **अपराद्धः** = अपराधी हूँ। **युष्मत्सगोत्रस्य** = आपके ही गोत्र के। महाभारत १।६७ में कण्व को काश्यप कहा गया है। गोत्र का अर्थ होता है—वंश का प्रवर्तक (जिससे वंश चालू हुआ हो)। गोत्रेण सहितः सगोत्रः त्वं सगोत्रः यस्य युष्मत्सगोत्रः। अर्थात् आप जिसके वंश के प्रवर्त्तक हैं। **ऊढपूर्वाम्** = पहले ब्याही हुई को। **समक्षरूपे** = आँखों के सामने विद्यमान है रूप जिसका (ऐसे हाथी के)। **पदानि** = पैर के चिह्नों को। **अपक्रामति** = चले जाने पर। **प्रतीतिः** = विश्वास अथवा वास्तविक ज्ञान। **यथा गजो नेति. . .**इत्यादि श्लोक में प्रतीति की जिन तीन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है वे अवस्थायें राजा के मन के विकार की तीन अवस्थाओं के अनुरूप ही हैं। (१) हाथी के सामने होने पर भी "हाथी नहीं है" ऐसा मान लेना (भ्रान्ता प्रतीति)। इसी भाँति शकुन्तला राजा के सामने खड़ी थी फिर भी राजा उसे नहीं पहचान सका [चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणम्. . . इत्यादि (अंक ५)] (२) हाथी के चले जाने पर संशय उत्पन्न हो—हाथी था अथवा नहीं (संशय-प्रतीति)। इसी प्रकार शकुन्तला के चले जाने के पश्चात् राजा को संशय हुआ (देखिये ५।२९ और ५।३१)। (हाथी के) चरण-चिह्नों को देखकर उसके होने का विश्वास हो (निश्चयात्मिका प्रतीति)। इसी भाँति राजा ने अँगूठी को देखकर शकुन्तला को विवाहिता पत्नी के रूप में स्मरण किया तथा विश्वास किया (अङ्गुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन. . . इत्यादि।)

मारीचः—वत्स ! अलमात्मापराधशङ्कया । संमोहोऽपि त्वय्यनुपपन्नः । श्रूयताम् ।

मारीच—हे पुत्र ! तुम अपने अपराध की शंका न करो । चित्तविकार होना भी तुममें संभव नहीं है । सुनो ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

राजा—मैं सावधान हूँ ।

मारीचः—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात् प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति । स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः ।

मारीच—जैसे ही अप्सरस्तीर्थ घाट से अत्यधिक व्याकुल शकुन्तला को लेकर मेनका दाक्षायणी के समीप आयी, तभी मैंने ध्यान से यह जान लिया था कि दुर्वासा के शाप के कारण तुमने (अपनी) इस तपस्विनी धर्मपत्नी का परित्याग किया है, किसी अन्य कारण से नहीं । और यह त्याग अँगूठी के दर्शन से समाप्त हो जाने वाला था ।

राजा—(सोच्छ्वासम्) एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि ।

राजा—(गहरा श्वास लेकर) (यह मैं) निन्दा से मुक्त हो गया हूँ ।

शकुन्तला—(स्वगतम्) (दिट्ठिआ अकारणपच्चादेसी ण अज्जउत्तो । ण हु सत्तं अत्ताणं सुमरेमि । अहवा पत्तो मए स हि सावो विरहसुण्णहिअआए ण विदिदो । अदो सहीहिं संदिट्ठम्हि भत्तुणो अंगुलीअअं दंसइदव्वं त्ति ।) दिष्ट्याऽकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्रः । न खलु शप्तमात्मानं स्मरामि । अथवा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशून्यहृदयया न विदितः । अतः सखीभ्यां सन्दिष्टास्मि भर्तुरङ्गुलीयकं दर्शयितव्यमिति ।

शकुन्तला—(मन में) सौभाग्य से आर्यपुत्र ने विना कारण ही मेरा परित्याग नहीं किया था । अथवा मुझे यह शाप दिया गया था, ऐसा मुझे स्मरण नहीं है । अथवा मुझे यह शाप दिया गया था, ऐसा मुझ शून्य हृदय वाली को ज्ञात नहीं

हुआ। इसीलिये मेरी दोनों सखियों ने मुझसे कहा था कि (आवश्यकता पड़ने पर) पति को (यह) अँगूठी दिखला देना।

मारीचः—वत्से ! चरितार्थासि । तदिदानीं सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः । पश्य—

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे,
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव ।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥३२॥

अन्वयः—शापात् स्मृतिरोधरूक्षे भर्तरि प्रतिहता असि, अपेततमसि तवैव प्रभुता। मलोपहतप्रसादे दर्पणतले छाया न मूर्च्छति, शुद्धे तु सुलभावकाशा।

संस्कृत-व्याख्या—शापात् = दुर्वाससः शापाद् हेतोः, (त्वम्), स्मृतिरोधरूक्षे = स्मृतेःस्मरणशक्तेः रोधात् अवरोधात् रूक्षे स्नेहरहिते कर्कशे वा, भर्त्तरि = पत्यौ विषये प्रतिहता असि = कुण्ठितगतिरसि, अपेततमसि = अपेतं दूरीभूतं तमोऽज्ञानं स्मृतिलोपरूपं शापो वा यस्य तस्मिन्, भर्तरि = पत्यौ, तव एव = शकुन्तलाया एव, प्रभुता = आधिपत्यं भविष्यति । मलोपहतप्रसादे = मलेन धूल्यादिना उपहतः नष्टः प्रसादः स्वच्छता यस्य तस्मिन्, दर्पणतले = दर्पणस्य मुकुरस्य तले पृष्ठे, छाया = प्रतिबिम्बम् न मूर्च्छति = न प्रसरति, शुद्धे तु = निर्मले दर्पणे तु, सुलभावकाशा = सुलभः सुकरः अवकाशः स्थानं यस्यास्तथाविधा भवति।

मारीच—पुत्री ! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो गयी है। अब तुम अपने पति के प्रति क्रोध न करना। देखो—

शाप के कारण (तुम्हारे पति की) स्मरण-शक्ति के अवरुद्ध हो जाने से निष्ठुर पति के लिये तू कुण्ठितगति हो गई थी। किन्तु अब उनके अज्ञान के नष्ट हो जाने से उन पर तेरा ही प्रभुत्व रहेगा। मैल के कारण जिसकी निर्मलता नष्ट हो गई है ऐसे शीशे पर प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता है किन्तु निर्मल (शीशे का तला) हो तो प्रतिबिम्ब साफ दिखाई देता है।

अलंकारः—इसमें दृष्टान्त अलंकार है। **छन्द**—वसन्ततिलका वृत्त है।

समासः—**आत्मापराधशंकया** = आत्मनः अपराधस्य शंकया (तत्पुरुष)। **प्रत्यक्षवैक्लव्याम्** = प्रत्यक्षं वैक्लव्यं यस्यास्ताम् (बहुव्रीहि)। **अंगुलीयकदर्शनावसानः** = अंगुलीयकस्य दर्शनं अवसानं यस्य सः (बहुव्रीहि)। **चरितार्था** = चरितः प्राप्तः अर्थो मनोरथः यया सा (बहुव्रीहि)। **स्मृतिरोधरूक्षे** = स्मृतः

रोधात् रूक्षे (तत्पुरुष) । **मलोपहतप्रसादे** = मलेन उपहतः प्रसादः यस्य तस्मिन् (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ:--**अनुपपन्नः** = संभव नहीं है । उपपन्न--संभव, उचित । **अप्सरस्तीर्थावतरणात्** = अप्सरस्तीर्थ नामक घाट से । अवतरण और अवतार शब्दों का अर्थ घाट भी है । **प्रत्यक्षवैक्लव्याम्** = जिसकी विकलता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही थी । अभिप्राय यह है कि जिसके मुख पर दुःख के स्पष्ट लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे थे । **ध्यानात्** = ध्यान लगाकर । अभिज्ञान शाकुन्तल के सम्पूर्ण आख्यान में 'दुर्वासा का शाप' एक अति महत्वपूर्ण घटना कही जा सकती है । इस शाप के कारण राजा पूर्णतया निर्दोष सिद्ध होता है । शकुन्तला भी वास्तविकता को समझ कर उसको दोषी नहीं मानती । मारीच ऋषि ने इस घटना का प्रत्यक्ष ध्यान द्वारा कर लिया था । **अंगुलीयकदर्शनावसानः** = अँगूठी के देखने से अन्त है जिसका ऐसा शाप । **वचनीयात्** = निन्दा से । । **अकारणप्रत्यादेशी** = विना कारण ही परित्याग करने वाला । शकुन्तला को यह ज्ञातकर हर्ष होता है कि उसके पति राजा दुष्यन्त ने उसका परित्याग विना कारण के नहीं किया था । दुर्वासा के शाप के कारण राजा द्वारा उसका पहचानना न हो सका था । अतः उसका कारण शाप ही था । **चगरतार्थासि** = तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो गयी है । **प्रतिहता** = कुण्ठित गति वाली हो गई थी अर्थात् तुम्हारा परित्याग कर दिया गया था । **स्मृतिरोधरूक्षे** = स्मृति कीयरुकावट से कर्कश हो जाने पर । शाप के कारण स्मृति नष्ट हो गई थी । अतः दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति किया गया व्यवहार रूक्ष हो गया था । **अपेततमसि** = जिसका अज्ञान नष्ट हो गया है ऐसे दुष्यन्त के हो जाने पर । तमस्--अन्धकार, अज्ञान । **छाया** = प्रतिबिम्ब । **सुलभावकाशा** = छाया अथवा प्रतिबिम्ब को अब स्थान सरलतापूर्वक मिलेगा अर्थात् निर्मल शीशे में प्रतिबिम्ब साफ-साफ दिखलाई पड़ेगा ।

राजा--यथाह भगवान् ।

राजा--आप ठीक कहते हैं ।

मारीचः--वत्स ! कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः ।

मारीच--वत्स ! क्या आपने हमारे द्वारा विधिपूर्वक जातकर्म संस्कार किये गये हुए शकुन्तला से उत्पन्न अपने पुत्र का अभिनन्दन कर लिया है ?

राजा--भगवन् ! अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा । (इति बालं हस्तेन गृह्णाति ।)

राजा--भगवन् ! इसी पर तो मेरे कुल की प्रतिष्ठा निर्भर है । (ऐसा कहकर बच्चे का हाथ पकड़ता है ।)

मारीचः—तथाभाविनमेवं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान् । पश्य—

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः ।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ।।३३।।

अन्वयः—अप्रतिरथः अयं अनुद्घातस्तिमितगतिना रथेन तीर्णजलधिः सप्तद्वीपां वसुधां पुरा जयति । इह सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः, पुनः लोकस्य भरणात् भरतः इति आख्यां यास्यति ।

संस्कृत-व्याख्या—अप्रतिरथः=अविद्यमानः प्रतिरथः प्रतियोद्धा यस्य सः अयम्=तव पुत्रः, अनुद्घातस्तिमितगतिना=अनुद्घाता अस्खलिता स्तिमिता स्थिरा अविक्षुब्धा इति यावत् गतिः गमनं यस्य तेन, रथेन=स्यन्दनेन, तीर्णजलधिः=तीर्णा अतिक्रान्ता जलधयः समुद्राः येन स तथाविधः सन्, सप्तद्वीपाम्—सप्त सप्त संख्यकानि जम्बुप्लक्षादीनि द्वीपानि यस्यां सा सप्तद्वीपा तां सम्पूर्णाम्, वसुधाम्=पृथ्वीम्, पुरा जयति=जेष्यति (पुरायोगे भविष्यत्यर्थे लट् ।) । इह=अस्मिन् तपोवने, सत्त्वानाम्=जन्तूनां, प्रसभदमनात्=प्रसभं बलात् दमनात् शासनात्, सर्वदमनः=सर्वदमननामा अयम्, पुनः=भूयः, लोकस्य=संसारस्य भरणात्=पृथिव्याः पोषणात्, भरत इति आख्याम्=नाम, यास्यति=प्राप्स्यति ।

मारीच—आप इसको उसी प्रकार का होने वाला चक्रवर्ती सम्राट् समझें । देखिये —

अद्वितीय महारथी यह अस्खलित और शान्त गति वाले रथ के द्वारा समुद्रों को पार करके सात द्वीपों से युक्त पृथ्वी को जीतेगा । इस तपोवन में यह प्राणियों का दमन करने के कारण सर्वदमन नाम वाला है । भविष्य में (यह) समस्त लोक का पालन करने के कारण भरत नाम को प्राप्त करेगा ।

अलङ्कारः—इस श्लोक में भावी विजय का स्पष्ट उल्लेख किया गया है अतः यहाँ भाविक अलंकार है । इसके अतिरिक्त यहाँ काव्यलिंग अलंकार भी है ।
छन्दः—इसमें शिखरिणी वृत्त है ।

व्याकरणः—शाकुन्तलेयः=(शकुन्तला का पुत्र) शकुन्तलायाः अपत्यं पुमान् । शकुन्तला—ढक् (एय) । यहाँ पर 'स्त्रीभ्यो ढक्' (अष्टा० ४।१।१२०) से ढक् प्रत्यय होता है । **समासः**—वंशप्रतिष्ठा=वंशस्य प्रतिष्ठा (तत्पुरुष) ।
तीर्णजलधिः=तीर्णाः जलधयः येन सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ:—**कच्चित्** = (क्या) यह एक प्रश्नवाचक अव्यय है। **अनुष्ठितजातकर्मा** = किया गया है जातकर्म संस्कार जिसका ऐसा (पुत्र)। **तथाभाविनम्** = उसी प्रकार से होने वाले—अर्थात् यह बच्चा तुम्हारे वंश का प्रतिष्ठा-स्वरूप ही होगा। **रथेन** = रथ के द्वारा। यहाँ पर रथ शब्द से विमान का ही अर्थ समझना उचित है क्योंकि उसके द्वारा ही समुद्र एवं पर्वतों के पार जाया जा सकता है। महाकवि ने रघुवंश के ५।२७ वें श्लोक (वसिष्ठ-मन्त्रोक्षणजात् प्रभावाद् उदन्वदाकाशमहीधरेषु। मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य ॥) में रथ के द्वारा विमान का भाव ही स्पष्ट किया है। **अनुद्घातस्तिमितगतिना** = उद्घात (झटकों) से रहित (अतएव) स्थिर गति वाले (रथ के द्वारा)। **तीर्णजलधिः** = पार कर लिया है समुद्र जिसने (ऐसा)। झटकों से रहित स्थिर गतिवाले रथ के द्वारा समुद्र को पार किये जाने के वर्णन से राजा की अलौकिक शक्ति का भान होता है। **सप्तद्वीपां वसुधाम्** = सात द्वीपों वाली पृथ्वी को। पौराणिक आधार पर यह माना गया है कि पृथ्वी सात द्वीपों में बँटी हुई थी। प्रत्येक द्वीप समुद्र से घिरा हुआ था। इनमें जम्बुद्वीप सब के मध्य में था। इसके मध्य में मेरु अथवा सुमेरु पर्वत विद्यमान था। इन सप्त द्वीपों के नाम ये हैं:—१. जम्बु, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक, पुष्कर (जम्बुप्लक्षाह्वयौ द्वीपौ शाल्मलिश्चापरो द्विज। कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करश्चैव सप्तमः ॥ (विष्णुपुराण) इसी प्रकार कूर्मपुराण में भी—[जम्बु-द्वीपः प्रधानोऽयं प्लक्षः शाल्मलिरेव च। कुशः क्रौञ्चश्च शाकश्च पुष्करश्चैव सप्तमः ॥ एते सप्त महाद्वीपाः समुद्रैः सप्तभिर्वृताः ॥) इनमें से जम्बुद्वीप मनुष्यों का निवासस्थान है। कुछ ग्रन्थों में द्वीपों की संख्या नौ तथा कुछ में १८ भी बतलायी गयी है (अष्टादशद्वीपनिखातयूपः (रघुवंश ६।३८ ॥)। **पुरा जयति** = जीतेगा। 'पुरा' तथा 'यावत्' के साथ भविष्यत् काल के अर्थ में लट् लकार का प्रयोग किया जाता है (यावत्पुरानिपातयोर्लट् अष्टा० ३।३।४ ॥ से भविष्यत् अर्थ में लट्।) तथा ये शब्द निश्चय का भाव भी प्रकट करते हैं (निपातावेतौ निश्चयं द्योतयतः)। **प्रसभदमनात्** = बलपूर्वक दमन करने से। प्रसभेन अथवा प्रसभं दमनात्। **भरतः** = लोक का पालन-पोषण इत्यादि करने के कारण ही सर्वदमन को बाद में भरत कहा गया (भृ धातु से—भरति इति या बिभर्ति इति।)। इस भरत के नाम पर ही भारत अथवा भारतवर्ष नाम पड़ा है। यह कौरवों तथा पाण्डवों का दूरवर्ती पूर्वज था।

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन् वयमाशास्महे ।

राजा—आपके द्वारा इसका संस्कार किया गया है, अतः इसमें हम सभी बातों की आशा करते हैं।

अदितिः—[भअवं ! दुहिदुमणोरहसंपत्तीए कण्णो वि दाव सुदवित्थारो करीअदु । दुहिदुवच्छला मणआ इह एव्व उपचरन्ती

चिट्ठदि ।] भगवन् ! अस्या दुहितृमनोरथसम्पत्तेः कण्वोऽपि ताव-च्छ्रुतविस्तारः क्रियताम् । दुहितृवत्सला मेनकेहैवोपचरन्ती तिष्ठति ।

अदिति—भगवन् ! पुत्री की इस इच्छा-पूर्ति के विस्तृत समाचार से ऋषि कण्व को भी अवगत करा देना चाहिये । पुत्री से प्रेम करने वाली मेनका तो यहीं सेवा करती हुई रहती है ।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) (मणोरहो क्खु मे भणिदो भअअ-वदीए ।) मनोरथः खलु मे भणितो भगवत्या ।

शकुन्तला—(मन में) भगवती अदिति ने तो वस्तुतः मेरी ही अभिलाषा कह दी है ।

मारीचः—तपःप्रभावात् प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः ।

मारीच—तप के प्रभाव से पूजनीय (कण्व) को सभी बातें प्रत्यक्ष हैं ।

राजा—अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः ।

राजा—इसीलिये मुनि मुझ पर अतिकुपित नहीं हुए थे ।

मारीचः—तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः श्रावयितव्यः । कः कोऽत्र भोः ?

मारीच—फिर भी हमें उनको यह प्रिय बात सुनानी चाहिये । अरे यहाँ कौन है ?

(प्रविश्य)

शिष्यः—भगवन् ! अयमस्मि ।

(प्रवेश करके)

शिष्य—भगवन् ! यह मैं हूँ ।

मारीचः—गालव ! इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात् तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा—पुत्रवती शकुन्तला तच्छाप-निवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिग्रहीतेति ।

मारीच—गालव ! अभी आकाश-मार्ग से जाकर मेरे वचन से आदरणीय कण्व से यह प्रिय निवेदन करना कि पुत्रवती शकुन्तला को, उसके शाप की समाप्ति हो जाने पर, स्मरणयुक्त दुष्यन्त ने पुनः स्वीकार कर लिया है ।

शिष्यः—यदाज्ञापयति भगवान् ।

(इति निष्क्रान्तः)

शिष्य—भगवान् जैसी आज्ञा दें ।

(चला जाता है ।)

मारीचः—वत्स ! त्वमपि स्वापत्यदारसहितः सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य ते राजधानीं प्रतिष्ठस्व ।

मारीच—वत्स ! तुम अपने पुत्र और पत्नी सहित अपने मित्र इन्द्र के रथ पर बैठकर अपनी राजधानी को प्रस्थान करो ।

राजा—यदाज्ञापयति भगवान् ।

राजा—भगवान् जो आज्ञा दें ।

मारीचः—अपि च—

तव भवतु विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं प्रीणयस्व ।
युगशतपरिवर्तानेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥३४॥

अन्वयः—विडौजाः तव प्रजासु प्राज्यवृष्टिः भवतु । त्वम् अपि विततयज्ञः वज्रिणं प्रीणयस्व । एवम् उभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः अन्योन्यकृत्यैः युगशतपरिवर्तान् नयतम् ।

संस्कृत-व्याख्या—विडौजाः = विट् व्यापकं ओजः प्रतापो यस्य स विडौजाः इन्द्रः, तव = दुष्यन्तस्य, प्रजासु = प्रकृतिषु, प्राज्यवृष्टिः = प्राज्या प्रभूता वृष्टिः वर्षणं यस्य तादृशः भवतु । त्वमपि विततयज्ञः = वितता अजस्रं प्रक्रान्ता यज्ञाः इष्टयः येन तथाभूतः सन्, वज्रिणम् = इन्द्रम्, प्रीणयस्व = तर्पयस्व । एवम् = अनेन विधिना, उभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः = उभयोः लोकयोः देवमानवलोकयोः अनुग्रहेण = उपकारेण श्लाघनीयैः = प्रशस्यैः अन्योन्यकृत्यैः = अन्योन्यस्य परस्परस्य कृत्यैः = कर्मभिः, युगशतपरिवर्तान् = युगानां सत्यत्रेतादीनां शतपरिवर्त्तान् शतसंख्यकानि आवर्तनानि, नयतम् = अतिवाहयतम्, परस्परोपकारेण शतयुगं जीवतम् इत्यर्थः ।

मारीच—और भी—

इन्द्र तुम्हारी प्रजाओं के निमित्त प्रचुर वर्षा करें । तुम भी विस्तृत यज्ञों के

द्वारा वज्र धारण करने वाले इन्द्र को प्रसन्न करो। इस भाँति दोनों लोकों (स्वर्ग और मर्त्य लोकों) के उपकार से प्रशंसनीय पारस्परिक-कृत्यों के द्वारा तुम दोनों सैकड़ों युगों को व्यतीत करो।

अलंकार—यहाँ पर पारस्परिक आदान-प्रदान का भाव वर्णित होने के कारण परिवृत्ति नामक अलंकार है। इसका लक्षण है:—"परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत् ॥" सा० द० १०।८० ॥ **छन्दः**—इसमें मालिनीवृत्त है।

व्याकरण—उपचरन्ती = उप + चर् + शतृ (स्त्रीलिंग)। **श्रावयितव्यः** = श्रु + णिच् + तव्यत्। **समास आदि**—**श्रुतविस्तारः** = श्रुतः विस्तारः येन सः (बहुव्रीहि)। **दुहितृवत्सला** = दुहितरि वत्सला (तत्पुरुष)। **विडौजाः** = (इन्द्र)। इस शब्द का निर्माण दो प्रकार से किया जा सकता है:—(१) वेवेष्टि इति विट् (व्यापक), विट् ओजः यस्य सः (जिसका तेज सर्वव्यापक है।) अथवा (२) विडति भिनत्ति रिपून् इति विडम्, विडम् ओजः यस्य सः॥ **प्राज्यवृष्टिः** = प्राज्या वृष्टिः यस्य सः (बहुव्रीहि)। प्राज्य शब्द का निर्माण भी दो प्रकार से किया जा सकता है—(१) अञ्ज् धातु से—प्रकर्षेण अज्यते काम्यते इति। जिसको अधिक चाहा जाता है। अथवा (२) प्रकृष्टं आज्यं घृतं यस्मिन् (जिसमें घृत अथवा जल का आधिक्य है।)। **विततयज्ञाः** = वितताः यज्ञाः येन सः (बहुव्रीहि)। **युगशतपरिवर्तान्** = युगानां शतपरिवर्तान् (तत्पुरुष)। **उभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः** = उभयोः लोकयोः अनुग्रहेण श्लाघनीयैः (तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**आशास्महे** = (सभी आशीर्वादों के पूर्ण होने की) आशा करते हैं। **दुहितृमनोरथसम्पूर्तेः** = (कण्व की) पुत्री की मानसिक अभिलाषा की पूर्ति से। **श्रुतविस्तारः** = विस्तार के साथ उनको भी सूचना दे देनी चाहिये। **दुहितृवत्सला** = पुत्री के प्रति प्रेम करने वाली। **उपचरन्ती** = सेवा करती हुई। **प्रत्यक्षम्** = कण्व को सभी बातें प्रत्यक्ष (विदित) हैं। **श्रावयितव्यः** = सुनाना चाहिये अर्थात् बतला देना चाहिये। **विहायसा गत्वा** = आकाशमार्ग से जाकर। अर्थात् विमान द्वारा अथवा सिद्धि के द्वारा आकाश में उड़कर कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँचकर यह समाचार उन्हें सुनाना। **प्राज्यवृष्टिः** = पर्याप्त अथवा अधिक वृष्टि करने वाला। **विततयज्ञाः** = विस्तृत यज्ञों के द्वारा। **युगशतपरिवर्तान्** = सैकड़ों युग पर्यन्त अथवा सैकड़ों युगों के व्यतीत होने तक। युग चार होते हैं:—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग। मारीच के कथन का अभिप्राय यह है कि तुम तथा तुम्हारे वंश में आगे उत्पन्न होने वाले सभी जन सदा यज्ञ करते रहें ताकि दोनों लोकों का कल्याण सदैव होता रहे। **अन्योन्यकृत्यैः** = एक दूसरे के हितकर कार्यों के द्वारा। **उभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः** = दोनों लोकों के परस्पर उपकार के कारण प्रशंसा के योग्य। इसी भाव का स्पष्टीकरण गीता में भी किया गया है:— देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्पर भाव-

यन्त: श्रेय: परमवाप्स्यथ ।। गीता ३।११ ।। यज्ञ के द्वारा देवगण प्रसन्न हुआ करते हैं और परिणामस्वरूप समय पर वर्षा हुआ करती है। इसी प्रकार दण्डनीति में भी कहा गया है :—"राजा त्वर्थान् समादृत्य कुर्यादिन्द्रमहोत्सवम्। प्रीणितो मेघवाहस्तु महतीं वृष्टिमावहेत् ।।"

राजा—भगवन् ! यथाशक्ति श्रेयसे यतिष्ये ।

राजा—भगवन् ! मैं यथाशक्ति इस प्रकार के कल्याण के लिये प्रयत्न करूँगा ।

मारीच:—वत्स ! किं ते भूय: प्रियमुपकरोमि ?

मारीच—पुत्र, इससे अधिक और तेरा क्या प्रिय उपकार करूँ ?

राजा—अत: परमपि प्रियमस्ति ? यदीह भगवान् प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हीदमस्तु ।

(भरतवाक्यम्)

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिव:
सरस्वती श्रुतमहतां[१] महीयताम्[२] ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहित:
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभू: ।।३५।।

(इति निष्क्रान्ता: सर्वे ।)

इति सप्तमोऽङ्कः

समाप्तमिदमभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम् ।।

अन्वयः—पार्थिव: प्रकृतिहिताय प्रवर्त्तताम् श्रुतमहतां सरस्वती महीयताम्, परिगतशक्ति: आत्मभू: नीललोहित: ममापि पुनर्भवं क्षपयतु ।

संस्कृत-व्याख्या—पार्थिव: = राजा, प्रकृतिहिताय = प्रकृतीनां प्रजानां हिताय उपकाराय प्रवर्त्तताम् = प्रवृत्तो भवतु । श्रुतमहताम् = श्रुतेन शास्त्रश्रवणेन, महतां गरिष्ठानाम्, सरस्वती = वाणी, महीयताम् = पूजां लभताम् ।

पाठभेदः—१. श्रुतमहती—(श्रुत्या वेदैर्महती गौरवयुक्ता ।) वेदों के द्वारा गौरवयुक्त अर्थात् वेदों में जिसका महत्त्व वर्णित है ऐसी वाणी ।
२. महीयसाम्—(उत्कृष्टशक्तिमताम्) उत्कृष्ट शक्तिवालों की ।

परिगतशक्तिः = परितः समन्ताद् गता व्याप्ता शक्तिः सामर्थ्यं यस्य सः सर्वशक्तिमान् इत्यर्थः, आत्मभूः = आत्मना भवतीति आत्मभूः स्वयंभूः, नीललोहितः = नीलश्चासौ लोहितश्चेति नीललोहितः कण्ठ नीलो जटासु लोहितः शिवः, ममापि = कालिदासस्यापि, पुनर्भवम् = पुनर्जन्म, क्षपयतु = नाशयतु । तत्त्वज्ञानं प्रदाय मोक्षं प्रापयतु इत्यर्थः ।

राजा—क्या इससे भी अधिक कुछ प्रिय हो सकता है ? यदि आप (मेरा) और अधिक प्रिय करना चाहते हैं तो यह हो जाए—

(अन्तिम आशीर्वादात्मक वाक्य)

राजा प्रजा के हित के लिये प्रवृत्त हों । ज्ञान-वृद्ध जनोंकी वाणी पूजा को प्राप्त हो (अर्थात् उनकी वाणी का सत्कार हो ।) और सर्वशक्तिमान् स्वयंभ शिव मेरे भी पुनर्जन्म को नष्ट कर दें अथवा निवृत्त कर दें ।

(सब चले जाते हैं ।)

सप्तम अंक समाप्त

अभिज्ञान-शाकुन्तल नामक नाटक समाप्त ॥

छन्द—इसमें रुचिरा नामक वृत्त है ।

समासः—श्रुतमहताम्—श्रुतेन महताम् (तत्पुरुष) । **परिगतशक्तिः** = परिगता शक्तिः यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**भरतवाक्यम्** = भरत शब्द का अर्थ नट अथवा अभिनेता है । भरतानां वाक्यम्—अर्थात् सभी पात्रों (अभिनेताओं) द्वारा गाया जाने वाला वाक्य । नाटक के अन्त में नाटकीय पात्रों की ओर से जो आशीर्वादात्मक श्लोक प्रस्तुत किया जाता है उसे भरतवाक्य कहते हैं । इसमें पात्रों के माध्यम से प्रदर्शित कवि की अपनी शुभ कामनायें हुआ करती हैं । यह पद्य में होता है । इसका कथन नाटक के अभिनेताओं के प्रतिनिधि के रूप में किसी प्रधान पात्र द्वारा कराया जाता है अथवा कई अभिनेता मिलकर इसको बोलते हैं । यह भी हो सकता है कि भरतवाक्य में भरत शब्द का योग नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि की स्मृति के लिये रक्खा गया हो ॥ **प्रवर्तताम्** = प्रवृत्त हो जाँय, लग जाँय । **प्रकृतिहिताय** = प्रजा की भलाई के निमित्त । अर्थात् राजा लोग प्रजा का हित करने वाले हों । **सरस्वती** = वाणी । ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी । **श्रुतमहताम्** = ज्ञान के द्वारा महान् गौरवयुक्त विद्वज्जनों की अथवा वैदिक ज्ञान द्वारा जिन्होंने बड़प्पन (गौरव) को प्राप्त किया है ऐसे वैदिक विद्वानों की । **पाठभेद** = श्रुतिमहती—वेदों में जिसके महत्त्व का वर्णन किया गया है ऐसी संस्कृत-विद्या गौरव को प्राप्त हो । **महीयताम्** = ... को प्राप्त करे । गौरव या सत्कार को प्राप्त करे । वेदज्ञों को गौरव प्राप्त हो, उन्हें सम्मान और सत्कार मिले । **क्षपयतु** =

नष्ट करे। शिव जी तत्त्वज्ञान प्रदान कर मोक्ष (संसार के आवागमन के बन्धन से छुटकारा) प्राप्त करायें। महाकवि की, यह उक्ति अपने स्वयं के लिये है। **नीललोहितः** = यह शिव का एक नाम है। इस शब्द की व्याख्या कई प्रकार से की गई है :—"वामभागे नीलः दक्षिणभागे लोहितः"। "नीलः कण्ठे लोहितश्च केशषु (जटासु)" इति स्वामी ॥ **स्कन्दपुराण में**—"नीलं येन ममाङ्गं तु रक्तं लोहितं त्विषा। नीललोहित इत्येव ततोऽहं परिकीर्तितः ॥" "आत्मभागे नीलः इतरार्धे देवीभागे लोहितः" इत्यादि-इत्यादि ॥ महाकवि ने इस नाटक के प्रारम्भ तथा अन्त दोनों ही स्थलों पर शिव की स्तुति-प्रार्थना की है। इससे ज्ञात होता है कि महाकवि कालिदास शिव-भक्त थे। **पुनर्भवम्**—पुनर्जन्म को। संसार में पुनः (दुबारा) जन्म लेन को। **परिगतशक्तिः** = चारों ओर फली हुई (व्याप्त) है शक्ति जिसकी ऐसा (शिव)। यहाँ शक्ति शब्द से महाकवि का अभिप्राय शिव की प्रसिद्ध आठ (ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, माहेन्द्री, चामुण्डा, चण्डिका।) शक्तियों से अथवा ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्नरूपी तीनों शक्तियों से हो सकता है। अतः सर्वशक्तिमान् कहा जाना उचित ही है। **आत्मभूः**—स्वयं उत्पन्न होने वाला अर्थात् शिव। इस विशेषण का प्रयोग ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश तीनों के लिये किया जाता है। इनमें से प्रत्येक की सत्ता अपनी शक्ति पर ही आधारित है।

इत्युत्तरप्रदेशान्तर्गतमैनपुरीमण्डलान्तर्गतमहाबतपुरग्रामवास्तव्यस्य श्रीमतः
दयानन्दमहोदयस्य श्रीमत्या सुखदेव्याश्च पुत्रस्याचार्यसुरेन्द्रदेवशास्त्रिणः
कृतावभिज्ञानशाकुन्तलस्य 'आशुबोधिनी' व्याख्यायां
सप्तमोऽङ्कः समाप्तः ॥

परिशिष्ट १

नाटक सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के लक्षण

वीरशृङ्गारयोरेकः प्रधानं यत्र वर्ण्यते ।
प्रख्यातनायकोपेतं नाटकं तदुदाहृतम् ।।

अर्थात् जिसमें वीर अथवा शृङ्गार में से किसी एक रस की प्रधानता हो, अन्य रस गौणरूप से वर्णित हों और प्रसिद्ध नायक हो, उसे नाटक कहते हैं ।

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
पञ्चाधिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ।।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान् नायको मतः ।।
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ।। सा० द० ६।७–१० ।।

नाटक का कथानक रामायणादि इतिहास-प्रसिद्ध होता है । इसमें मुख, प्रतिमुख आदि पंचसन्धियां होती हैं । इसमें कम से कम पांच तथा अधिक से अधिक दस अङ्क होते हैं । पुराणादि प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान कोई राजर्षि अथवा दिव्य । दिव्यादिव्य पुरुष नाटक का नायक होता है । शृंगार अथवा वीर में से कोई एक रस उसमें प्रधान रस के रूप में रहता है । अन्य सभी रस अंगरूप (गौण रूप) में आते हैं तथा निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का आना अति सुन्दर होता है ।

देवतानामृषीणां च राज्ञां चोत्कृष्टमेधसाम् ।
पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद्भवेत् ।।
यस्मात् स्वभावं संत्यज्य सांगोपांगव्यतिक्रमैः ।
प्रयुज्यते ज्ञायते च तस्माद्वै नाटकं स्मृतम् ।। नाट्यशास्त्र-भरतमुनि–
१६।१४६–१४६ ।।

जिसमें देवताओं, ऋषियों, राजाओं अथवा उत्कृष्ट बुद्धिवाले व्यक्तियों के चरित्रों का अनुकरण [illegible] अवस्थाओं और गतियों को क्रम से व्यवस्थित कर

अभिनय द्वारा उपस्थित किया जाता है अर्थात् दर्शकों तक पहुँचाया जाता है, वह नाटक कहलाता है।

नायक—

नेता अथवा नायक नाटक का प्रधान पात्र होता है। नेता शब्द 'नी' 'धातु से बनता है जिसका अर्थ है' 'ले चलना'। जो कथा को फल की ओर ले चलता है वही नेता कहलाता है। यही फल का प्राप्तिकर्त्ता अथवा भोक्ता होता है।

> **नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।**
> **रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा॥**
> **बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।**
> **शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥ दशरूपक २।१–२॥**

नायक का विनम्र, मधुर, त्यागी, चतुर (दक्ष), प्रिय बोलने वाला (प्रियंवद), लोगों को प्रसन्न रखने वाला, पवित्र मनवाला, बातचीत करने में कुशल, कुलीन वंश में उत्पन्न (रूढवंश), मन आदि से स्थिर युवक होना आवश्यक है। साथ ही उसे बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला तथा मान से युक्त और शूरवीर, दृढ़, तेजस्वी तथा शास्त्ररीत्या अपने कार्यों का करने वाला और धार्मिक भी होना आवश्यक है।

ये सभी नायक के सामान्य गुण हैं। नायक लोक के लिये एक आदर्श हुआ करता है। अतः उसका उपर्युक्त सामान्यगुणविशिष्ट होना समुचित ही है।

नेता को नाट्यशास्त्र में चार प्रकार का माना गया है: (१) धीरललित। (२) धीरप्रशान्त। (३) धीरोदात्त। (४) धीरोद्धत।

> **महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।**
> **स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥ दशरूपक २।४-५॥**

धीरोदात्त कोटि का नायक महासत्वसम्पन्न होता है। उसका अन्तःकरण क्रोध, शोकादि विकारों से अभिभूत नहीं होता है। वह अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन (आत्म-प्रशंसा न करने वाला), स्थिरचित्त (अचंचल मन वाला), निगूढाहंकार (स्वाभिमानी होने पर भी उसका अभिमान विनम्रता

द्वारा दबा हुआ होता है), दृढ़व्रत (अर्थात् जिस बात का प्रण कर लेता है उसे अन्त तक निभाने वाला) होता है ।

अभिज्ञानशाकुन्तल का नायक दुष्यन्त इसी कोटि का नायक है ।

नायिका—

विशेष रूप से शृंगार-प्रधान नाटकों में नायिका का भी उतना ही महत्त्व होता है जितना नायका का । अभिज्ञान-शाकुन्तल शृंगार-प्रधान नाटक है । अत: यहाँ नायिका का लक्षण दे देना उचित ही है । लक्षण :—

अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणा स्त्रीति ।
नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता ।। सा० द० ३।५६ ।।

नायक के सामान्य गुणों से युक्त नायिका होती है । वह तीन प्रकार की होती हैं—स्वकीया, परकीया (अन्या), साधारण । स्वकीया अपनी स्त्री, परकीया पराई स्त्री अथवा कन्या तथा सामान्या किसी की स्त्री नहीं होती है ।

पूर्वरङ्ग—

नाटकीय कथावस्तु के प्रारम्भ होने से पूर्व रङ्गमंच के विघ्नों को दूर करने के निमित्त अभिनेताओं द्वारा जो मंगलाचरण आदि किया जाता है उसे पूर्वरङ्ग कहते हैं ।

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ।।सा० द० ६।२२।।

नान्दी—

नाटक के प्रारम्भ में देवता, ब्राह्मण अथवा राजाओं आदि की जो आशीर्वाद से युक्त स्तुति की जाती है, उसे नान्दी कहा जाता है ।

सूत्रधार—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ।।सा० द० ६।२४।।

नाट्य (अभिनय) के साधनों (उपकरणों) को सूत्र कहा जाता है और जो उनको धारण करने वाला अर्थात् संचालन करने वाला होता है उसे सूत्रधार कहा जाता है ।

नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो मतो बुधैः ॥

नेपथ्य—

अभिनेता लोग जिस स्थान पर उपयुक्त वेषभूषा धारण किया करते हैं, उसे नेपथ्य कहा जाता है ।

कुशीलवकुटुम्बस्य गृहं नेपथ्यमुच्यते ॥

प्रस्तावना— स्थापना

जब सूत्रधार नटी, विदूषक अथवा परिपार्श्विक के साथ अपने नाटकीय कथानक के निर्देश को बतलाने के निमित्त विचित्र वाक्यों के द्वारा वार्त्तालाप किया करता है तो उसे प्रस्तावना अथवा आमुख कहा जाता है ।

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिता संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा ॥ सा० दर्पण ॥

कंचुकी—

अन्तःपुर में जा सकने योग्य, वृद्ध एवं गुणवान् ब्राह्मण को, जो सभी कार्यों के करने में कुशल होता है, कंचुकी कहते हैं ।

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः ।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥ नाट्यशास्त्र ॥

विदूषक—

जो अपने कार्यों, शारीरिक चेष्टाओं, वेष और बोली आदि के द्वारा जनता को हँसाता है, कलह में प्रेम रखता है तथा अपने हास्य के कार्य को ठीक समझता है, उसे विदूषक कहते हैं । उसके नाम कुसुम, वसन्त आदि होते हैं ।

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः ॥ साहित्यदर्पण ॥

अङ्क—

जो भावों तथा रसों [illegible] अर्थों को प्रस्तुत करता है, जहाँ पर नाना प्रकार के विधान हुआ करते हैं, जहाँ पर एक अर्थ की समाप्ति तथा बीज का

उपसंहार हो जाता है, किन्तु बिन्दु का सम्बन्ध अंशरूप में बना रहता है, उसे अङ्क कहते हैं।

अङ्क इति रूढिशब्दो भावैं रसैश्च रोहयत्यर्थान् ।
नानाविधानयुक्तो यस्मात् तस्माद् भवेदङ्कः ॥
यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहारः ।
किंचिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदाऽवगन्तव्यः ॥

ना० शा० अ० २०।१४-१६॥

बीज—प्रारम्भ में जिसका सूक्ष्म रूप में कथन किया जाता है, किन्तु जैसे-जैसे व्यापक शृंखला आगे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे इसका भी विस्तार होता जाता है।

बिन्दु—इसके द्वारा विच्छिन्न कथावस्तु को आगे बढ़ाया जाता है अर्थात् जो बात कारण बनकर बीच की कथा को आगे बढ़ाती है और प्रधान कथा को भी बनाये रखती है उसे बिन्दु कहते हैं।

स्वगत—

अश्राव्यं खलु यद् वस्तु तदिह स्वगतं मतम् ॥ सा० द० ६।१३७॥

जो बात सुनाने योग्य नहीं हुआ करती है उसे स्वगत (मन में) कहते हैं। इसको 'आत्मगत' भी कहा जाता है।

प्रकाश—

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात् । सा० द० ६।१३८॥

जो बात सभी को सुनाने योग्य कही जाती है उसे 'प्रकाश' (स्पष्ट) कहते हैं।

अपवारित—

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्याऽपवारितम् ॥ दशरूपक १।६६॥

अपने मुख को दूसरी ओर करके जब कोई पात्र दूसरे व्यक्ति की गुप्त बात को कहता है तब उसे 'अपवारित' (एक ओर होकर) कहा जाता है।

जनान्तिक—

हाथ की ओट करके दो पात्रों द्वारा जो वार्त्तालाप किया जाता है उसे 'जनान्तिक' कहते हैं।

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात् तज्जनान्ते जनान्तिकम् ।।
।। सा० द० ६।१३९ ।।

जहाँ अन्य पात्रों की उपस्थिति में भी दो पात्र परस्पर इस प्रकार परस्पर मंत्रणा करें कि उसे अन्य पात्रों को सुनाना अभीष्ट न हो तथा अन्य पात्रों की ओर त्रिपताका (जब सम्पूर्ण अंगुलियाँ सीधी ऊपर की ओर खड़ी हों, केवल अनामिका अँगुली ही टेढ़ी कर ली जाए) वाले हाथ से संकेत किया जाए कि उसका वारण किया जा रहा है, उसे 'जनान्तिक' कहते हैं।

आकाशभाषित—

किं ब्रवीषीत्येवमादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम् ।। दशरूपक ।।

जब कोई पात्र "क्या कहते हो ?" इस प्रकार कहता हुआ किसी अन्य पात्र के न होते हुए भी बातचीत करता है तथा किसी दूसरे पात्र के कथन के बिना भी बात को सुनने का अभिनय करके बातचीत करता है, उसे आकाश-भाषित कहते हैं। इसी भाव के निमित्त "आकाशे" (आकाश में) शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।

विष्कम्भक—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ।।
मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात् स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ।।
।। सा० दर्पण ६।५५-५६ ।।

भूत अथवा भावी घटनाओं की सूचना के निमित्त विष्कम्भ अथवा विष्कम्भक का प्रयोग किया जाता है। इसके प्रयोग का उद्देश्य नाटक में संक्षेप की दृष्टि से किया जाया करता है। अङ्क के प्रारम्भ में इसका प्रयोग होता है। जिस विष्कम्भक में एक अथवा दो मध्यम कोटि के पात्रों का प्रयोग किया जाता है उसे 'शुद्ध विष्कम्भक' कहते हैं। यदि इसमें नीच तथा मध्यम दोनों ही प्रकार के पात्र आते हैं तो उसे 'मिश्र विष्कम्भक' कहा जाता है।

प्रवेशक—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ।। सा० द० ६।५७।।

प्रवेशक की भाषा प्राकृत होती है । इसमें नीच पात्रों का ही प्रयोग होता है । दो अङ्कों के बीच में इसकी स्थिति रहा करती है । इसकी दूसरी विशेषतायें विष्कम्भक के ही समान हैं ।

विष्कम्भक तथा प्रवेशक के साम्य एवं वैषम्य का तुलनात्मक विवरण निम्न भाँति है :—

शुद्ध एवं मिश्रविष्कम्भकों और प्रवेशक में अन्तर

	विष्कम्भक	प्रवेशक
(१)	यह भूत एवं भावी घटना का सूचक है	यह भी भूत एवं भावी घटना का सूचक है ।
(२)	इसमें एक अथवा दो मध्यम श्रेणी के पात्र प्रयुक्त होते हैं ।	इसमें सभी पात्र निम्न कोटि के ही प्रयुक्त होते हैं ।
(३)	इसमें संस्कृत अथवा शौरसेनी प्राकृत भाषा का प्रयोग किया जाता है ।	इसमें निम्न कोटि की प्राकृत भाषा का प्रयोग किया जाता है । संस्कृत भाषा का प्रयोग कभी नहीं किया जाता है ।
(४)	इसका प्रयोग प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में भी किया जा सकता है।	इसका प्रयोग प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में कभी भी नहीं किया जा सकता है ।
(५)	इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग दो अङ्कों के मध्य में भी होता है ।	इसका प्रयोग दो अङ्कों के मध्य में ही किया जा सकता है ।

	शुद्धविष्कम्भक	मिश्रविष्कम्भक	प्रवेशक
पात्र	मध्यम श्रेणी के एक अथवा दो पात्र	मध्यम तथा नीच श्रेणी के पात्र	नीच श्रेणी के पात्र
भाषा	संस्कृत	संस्कृत तथा प्राकृत	प्राकृत

———

परिशिष्ट २

छन्द-परिचय

संस्कृत साहित्य में काव्य शब्द से गद्य तथा पद्य दोनों का ही ग्रहण किया जाता है। गद्य का नियमन और अनुशासन जिस शास्त्र के द्वारा होता है उसे व्याकरण कहते हैं और पद्य का अनुशासन तथा नियमन जिस शास्त्र द्वारा किया जाता है उसे छन्दशास्त्र कहा जाता है।

पद्य का सम्बन्ध पद (चरण) से है। पद्य की रचना का एक माप होता है तथा उसी के अनुसार उसकी सृष्टि होती है। इसी माप या बन्धन को 'छन्द' कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि मात्रा, वर्ण, यति, गति, ह्रस्व, दीर्घ आदि का विचार कर जो रचना की जाती है उसे छन्द कहते हैं। छन्द का प्रचार अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है। संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद छन्दोबद्ध ही है। वेद के ६ अंगों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द) में छन्द भी एक अङ्ग है।

प्रत्येक छन्द में चार चरण अथवा पद होते हैं, इन्हें पाद भी कहा जाता है। छन्द के चतुर्थांश को पाद या चरण कहते हैं। छन्द दो प्रकार के होते हैं: (१) वर्णवृत्त अथवा वर्णिक छन्द और (२) मात्रिक छन्द। जिन छन्दों में वर्णों की गणना की जाती है उन्हें वर्णिक और जिनमें मात्राओं की गणना की जाती है वे मात्रिक छन्द कहलाते हैं। वर्णिक-छन्दों अथवा वर्णवृत्तों को 'वृत्त' कहते हैं, जैसे इन्द्रवज्रा आदि। मात्रिक छन्दों को 'जाति' कहते हैं, जैसे आर्या आदि।

वृत्त तीन प्रकार के होते हैं—(१) **समवृत्त**—जिनमें चारों पदों अथवा चरणों में वर्णों की संख्या समान होती है। जैसे—इन्द्रवज्रा आदि। अधिकतर वर्णिक छन्द इसी कोटि में आते हैं। (२) **अर्धसमवृत्त**—जिन छन्दों के प्रथम और तृतीय चरणों में तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में समानता होती है।

जैसे पुष्पिताग्रा, वियोगिनी आदि । (३) विषमवृत्त—इनमें चरणों में समानता होती ही नहीं है ।

मात्रायें—तीन प्रकार की होती हैं : (१) ह्रस्व, (२) दीर्घ और (३) प्लुत । ह्रस्व को लघु कहते हैं । छन्द-शास्त्र में इसका चिह्न एक खड़ी रेखा (।)है । इसको एक मात्रा गिना जाता है । दीर्घ—दीर्घ को गुरु भी कहते हैं । छन्द-शास्त्र में इसका चिह्न ऽ है । इसको दो मात्रा गिना जाता है । प्लुत का प्रयोग मुख्यतः संगीत में अथवा किसी को पुकारने में होता है । इसमें तीन अथवा तीन से अधिक मात्राओं की गणना की जाती है ।

अ, इ, उ, ऋ और लृ ये ह्रस्व स्वर हैं, इनमें एक मात्रा होती है । शेष स्वर दीर्घ हैं । इनमें २-२ मात्रायें होती हैं । परन्तु पद्य-रचना में कहीं-कहीं ह्रस्व वर्ण भी दीर्घ माने जाते हैं : (१) संयुक्ताक्षर वर्ण के पूर्व का वर्ण ह्रस्व होने पर भी दीर्घ माना जाता है—यथा, मध्य शब्द में यद्यपि 'म' ह्रस्व है किन्तु 'ध्य' संयुक्त वर्ण के पूर्व होने के कारण उसको दीर्घ माना जायगा । (२) विसर्गयुक्त वर्ण दीर्घ माना जाता है—यथा, दुःख में दुः । (३) अनुस्वारयुक्त वर्ण भी दीर्घ ही माने जाते हैं । यथा-हंस में हं । (४) हलन्त वर्ण के पहले का वर्ण भी गुरु या दीर्घ माना जाता है और हलन्त अक्षर की मात्रा नहीं मानी जाती है यथा—भगवन्, राजन् में न् की कोई मात्रा नहीं है, व, ज गुरु हैं । (५) यदि शब्द अथवा वाक्य का सर्वप्रथम अक्षर संयुक्त हो तथा उसमें दीर्घ मात्रा लगी हो तो वह गुरु माना जायगा और यदि दीर्घ मात्रा न लगी हो तो वह ह्रस्व ही माना जायगा, यथा—'श्रवण' में श्र लघु ही है तथा स्वार्थ में स्वा गुरु तथा र्थ लघु । (६) कभी-कभी (सदैव नहीं) चरण के अन्त का वर्ण लघु होने पर भी छन्द के नियम में गड़बड़ी न हो इसलिये गुरु मान लिया जाता है । कारण यह होता है कि उसके उच्चारण में गुरु वर्ण की ही तरह, लघु की अपेक्षा दूना समय लगता है ।

"सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत् ।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा ॥"

वर्णवृत्तों में वर्णों की गणना के लिये 'गण' का उपयोग किया जाता है । तीनों वर्णों के समुदाय को 'गण' कहते हैं । ये संख्या में आठ होते हैं । लघु गुरु वर्णों के क्रमानुसार उनके निम्न प्रकार है :—

SSS	मगण	म	तीनों गुरु वर्ण।
ISS	यगण	य	एक ह्रस्व तथा दो गुरु वर्ण।
SIS	रगण	र	एक गुरु फिर एक ह्रस्व फिर एक गुरु वर्ण।
IIS	सगण	स	दो ह्रस्व फिर एक गुरु वर्ण।
SSI	तगण	त	दो गुरु फिर एक ह्रस्व वर्ण।
ISI	जगण	ज	एक ह्रस्व फिर एक गुरु फिर एक ह्रस्व वर्ण।
SII	भगण	भ	एक गुरु फिर दो ह्रस्व वर्ण।
III	नगण	न	तीनों ह्रस्व वर्ण।

लक्षणों में जहाँ पर 'ल' और 'ग' अक्षर आते हैं वहाँ 'ल' से लघु और 'ग' से गुरु माना जायगा। यदि लौ या गौ हो तो दो लघु अथवा दो गुरु वर्ण माने जायेंगे।

प्रत्येक छन्द में मात्राओं या वर्णों की नियमित संख्या होने से ही काम नहीं चलता है। उसमें एक प्रकार का प्रवाह होना भी आवश्यक है जिससे पढ़ने में कहीं रुकावट-सी न जान पड़े। इस प्रवाह को ही गति कहते हैं।

इसी प्रकार बहुत से छन्दों में बहुधा चरण के किसी स्थल पर रुकावट, विराम या विश्राम की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिये नियमित वर्णों या मात्राओं पर बहुत थोड़ी देर के लिये रुकना पड़ता है। इस रुकने की क्रिया को यति, विराम या विश्राम कहते हैं। लक्षणों में इस 'यति' का निर्देश भी यथास्थान कर दिया जाता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल में जिन छन्दों का प्रयोग हुआ है, उनके लक्षणादि निम्नलिखित हैं :—

अनुष्टुप् (श्लोक)—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

अनुष्टुप् के प्रत्येक चरण में ८८ अक्षर होते हैं। इनमें पाँचवां अक्षर सदा लघु और छठवां अक्षर सदा गुरु होता है। सप्तम अक्षर प्रथम तथा तृतीय

चरण में गुरु और द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में लघु होता है। अन्य अक्षरों में गुरु या लघु का कोई नियम नहीं है। वे कुछ भी हो सकते हैं।

अपरवक्त्र—

अयुजि ननरला गुरुः समे
तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ ॥

अपरवक्त्र के प्रथम व तृतीय पादों में ११–११ वर्ण होते हैं—२ नगण, १ रगण, १ लघु, १ गुरु=११ वर्ण। द्वितीय तथा चतुर्थ पादों में १२-१२ वर्ण होते हैं। १ नगण, २ जगण, १ रगण=१२ वर्ण। यह अर्धसमवृत्त है।

आर्या—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥

यह एकमात्रिक छन्द है। इसके प्रथम चरण में १२, द्वितीय में १८, तृतीय में १२ और चतुर्थ चरण में १५ मात्रायें होती हैं।

इन्द्रवज्रा—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।

इसमें प्रत्येक पाद में ११–११ वर्ण होते हैं। २ तगण, १ जगण, २ गुरु अक्षर=११।

उद्गाथा या गीति—

यह आर्या छन्द का ही एक भेद है। इसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में ३०-३० मात्रायें होती हैं। पूरे श्लोक में ६० मात्रायें होती हैं। पूर्वार्द्ध में १२+१८=३० तथा उत्तरार्ध में भी १२+१८=३० मात्रायें होती हैं।

उपजाति—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौगः,
उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम ॥

उपजाति के प्रत्येक चरण में ११–११ वर्ण होते हैं। यह इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के मिश्रण से बनता है। किसी चरण में इन्द्रवज्रा छन्द होता है

और किसी चरण में उपेन्द्रवज्रा। इन्द्रवज्रा में ११ वर्ण होते हैं—२ तगण +१ जगण+२ गुरु=११। उपेन्द्रवज्रा में भी ११ वर्ण होते हैं—१ जगण +१ तगण+१ जगण+२ गुरु=११।

त्रिष्टुप्—

यह एक वैदिक छन्द है। इसके प्रत्येक पाद में ११ वर्ण होते हैं। इसका प्रयोग महाकवि ने अ० शा० के ४।८ में किया है। इसमें चौथे अथवा पाँचवें वर्ण पर यति होती है।

द्रुतविलम्बित—

द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ॥

इसके प्रत्येक चरण में १२–१२ वर्ण होते हैं। १ नगण, २ भगण, १ रगण =१२ वर्ण।

पथ्यावक्त्र—

युजोश्चतुर्थतो जेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्॥

यह अनुष्टुप् छन्द का ही एक भेद है। जब इसी छन्द के द्वितीय और चतुर्थ चरण में चतुर्थ अक्षर के बाद जगण आता है तो पथ्यावक्त्र छन्द होता है॥

पुष्पिताग्रा—

अयुजि नयुगरेफतो यकारो
युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा॥

यह एक अर्धसमवृत्त है। इसके प्रथम और तृतीय चरण में १२–१२ वर्ण होते हैं—२ नगण, १ रगण, १ यगण=१२ वर्ण। द्वितीय और चतुर्थ चरणों में १३–१३ वर्ण होते हैं। १ नगण, २ जगण, १ रगण, १ गुरु=१३ वर्ण।

प्रहर्षिणी—

त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्।

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १३–१३ वर्ण होते हैं। १ मगण, १ नगण, १ जगण, १ रगण, १ गुरु=१३ वर्ण। इसमें ३—१० पर यति होती है।

मन्दाक्रान्ता—

मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद् गुरू चेत्॥

इसके प्रत्येक चरण में १७–१७ वर्ण होते हैं। १ मगण, १ भगण, १ नगण, २ तगण, २ गुरु=१७ वर्ण। इसमें ४–६–७ पर यति होती है।

मालभारिणी—

विषमे ससजा गुरू समे चेत्
सभरा येन तु मालभारिणीयम् ।।

यह एक अर्धसमवृत्त है । इसके प्रथम और तृतीय चरणों में ११–११ वर्ण होते हैं । २ सगण, १ जगण, २ गुरु=११ वर्ण । द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में १२–१२ वर्ण होते हैं । १ सगण, १ भगण, १ रगण, १ यगण=१२ वर्ण । इसका दूसरा नाम औपच्छन्दसिक भी है ।

मालिनी—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।।

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १५–१५ वर्ण होते हैं । २ नगण, १ मगण, २ यगण=१५ वर्ण । इसमें ८–७ पर यति होती है ।

रथोद्धता—

रान्नराविह रथोद्धता लगौ ।।

इस छन्द के प्रत्येक चरण में ११–११ वर्ण होते हैं—१ रगण, १ नगण, १ रगण, १ लघु, १ गुरु=११ वर्ण ।

रुचिरा—

जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः ।।

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १३–१३ वर्ण होते हैं—१ जगण, १ भगण, १ सगण, १ जगण, १ गुरु=१३ वर्ण । इसमें ४–९ पर यति होती है । इसका दूसरा नाम प्रभावती है ।

वंशस्थ—

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।।

वंशस्थ के प्रत्येक चरण में १२–१२ वर्ण होते हैं—१ जगण, १ तगण, १ जगण, १ रगण=१२ वर्ण ।

वसन्ततिलका—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।।

वसन्ततिलका के प्रत्येक चरण में १४–१४ वर्ण होते हैं—१ तगण, १ भगण, २ जगण, २ गुरु=१४ वर्ण ।

वियोगिनी—

विषमे ससजा गुरुः समे
सभरा लोऽथ गुर्वियोगिनी ॥

इस छन्द में प्रथम एवं तृतीय चरणों में १०–१० वर्ण होते हैं—२ सगण, १ जगण, १ गुरु=१० वर्ण । द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में ११–११ वर्ण होते हैं—१ सगण, १ भगण, १ रगण, १ लघु, १ गुरु=११ वर्ण । यह अर्धसमवृत्त है । इसका दूसरा नाम सुन्दरी भी है ।

शार्दूलविक्रीडित—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द के प्रत्येक चरण में १९–१९ वर्ण होते हैं :—१ मगण, १ सगण, १ जगण, १ सगण, २ तगण, १ गुरु=१९ वर्ण । इस छन्द में १२–७ पर यति होती है ।

शालिनी—

मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः ॥

शालिनी छन्द के प्रत्येक चरण में ११–११ वर्ण होते हैं—१ मगण, २ तगण, २ गुरु=११ वर्ण । इसमें ४–७ पर यति होती है ।

शिखरिणी—

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी ॥

इसके प्रत्येक चरण में १७–१७ वर्ण होते हैं—१ यगण, १ मगण, १ नगण, १ सगण, १ भगण, १ लघु, १ गुरु=१७ वर्ण । इसमें ६–११ पर यति होती है ।

स्रग्धरा—

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ॥

स्रग्धरा के प्रत्येक चरण में २१ वर्ण होते हैं—१ मगण, १ रगण, १ भगण, १ नगण, ३ यगण=२१ वर्ण । इसमें ७–७–७ पर यति होती है ।

हरिणी—

नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता ॥

हरिणी छन्द के प्रत्येक चरण में १७ वर्ण होते हैं—१ नगण, १ सगण, १ मगण, १ रगण, १ सगण, १ लघु, १ गुरु=१७ वर्ण । इसमें ६–४–७ पर यति होती है ।

परिशिष्ट ३

अभिज्ञानशाकुन्तलान्तर्गत सुभाषित

(१) सुभाषित श्लोक

विषय — पृष्ठ संख्या

विषय — पृष्ठ संख्या

(२) सुभाषित श्लोक

१. अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम् ।।५।२४।।

२. आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ।। ७।१७।।

३. औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा, क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय, राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ।। ५।६।।

४. ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते ।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिद्यते हि जनः ।।६।३१।।

५. भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ।।५।१२।।

६. भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिं दिनं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ।। ५।४।।

७. मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः ।। २।५।।

८. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्, पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं, भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।। ५।२।।

९. शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः ।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद् वमन्ति ।।२।७।।

१०. शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ।। ४।१८।।

११. सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ।। ५।१७।।

१२. सहजं किल यद् विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ।।६।१।।

१३. सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः, संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।
किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता, तं चेत् सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ।।
७।४।।

१४. स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु,
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात—
मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ।।५।२२।।

———

परिशिष्ट ४

कालिदास के सम्बन्ध में कही गई सूक्तियाँ

१. उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।।

२. उपमा कालिदासस्य नोत्कृष्टेति मतं मम ।
अर्थान्तरस्य विन्यासे कालिदासो विशिष्यते ।।

३. काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।
तत्रापि चतुर्थोऽङ्कः तत्र श्लोकचतुष्टयम् ।।

४. कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम् ।
तत्राऽपि चतुर्थोऽङ्को यत्र याति शकुन्तला ।।

५. शाकुन्तलचतुर्थोऽङ्कः सर्वोत्कृष्ट इति प्रथा ।
न सर्वसंमता यस्मात् पञ्चमोऽस्ति ततोऽधिकः ।।

६. पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ।।

७. निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रसु मञ्जरीष्विव जायते ।।

बाण, हर्षचरित्र-भूमिका श्लोक १६।।

८. साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये ।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतलीलाकालिदासोक्ती ।।

[गोवर्धनाचार्य, आर्यासप्तशती-भूमिका श्लोक ३६ ।]

९. यस्याश्चोरश्चिकुरनिकुरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ।।

जयदेव, प्रसन्नराघव १।२२।।

१०. भासो रामिलसोमिलौ वररुचिः श्रीसाहसाङ्कः कविः
मेण्ठो भारविकालिदासतरलाः स्कन्धः सुबन्धुश्च यः ।
दण्डी बाणदिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः
सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽपि ते ।।
[राजशेखर, शार्ङ्गधरपद्धति, श्लोक सं० १८८]

११. एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ।। राजशेखर, सूक्तिमुक्तावलि ।।

१२. माघश्चोरो मयूरो मुररिपुरपरो भारविः सारविद्यः
श्रीहर्षः कालिदासः कविरथ भवभूत्याह्वयो भोजराजः ।
श्रीदण्डी दिण्डिमाख्यः श्रुतिमुकुटगुरुर्भल्लवो भट्टबाणः
ख्याताश्चान्ये सुबन्ध्वादय इह कृतिभिर्विश्वमाह्लादयन्ति ।।
[विश्वगुणादर्शचम्पू श्लोक ५४९]

१३. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कु-
वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ।।
[ज्योतिर्विदोभरण २२।१०।]

१४. येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म ।
स जयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ।।
[एहोल-शिलालेख (पुलकेशी द्वितीय) शक संवत् ५५६ (६३४ ई०)]

१५. श्रीकालिदासकविवर्यसरस्वतीयं
किं वर्णयाम्यतितरां रसवाहिनीति ।
यत् कालिका भगवती शुचिभाव योगाद्
यस्यामहो मुहुरनुग्रहमादधाति ।।
[बिठोवाअण्णा, सुश्लोकलाघव ४१७-१८]

१६. लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः ।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ।।
[दण्डी, अवन्तिसुन्दरीकथा-भूमिका, श्लोक सं० १५]

१७. कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद् विदुर्नान्ये तु मादृशाः ।। मल्लिनाथ ।।

१८. अनघा गुणसम्पूर्णा समुचितविच्छित्तिवृत्तिरीतिरसौ ।
प्रस्तुतरससन्दोहा सरस्वती जयति कालिदासस्य ।।

१९. वाल्मीकेरजनि प्रकाशितगुणा व्यासेन लीलावती
वैदर्भी कविता स्वयं वृतवती श्रीकालिदासं वरम् ।
याऽसूतामरसिंहमाघधनिकान् सेयं जरानीरसा
शून्यालंकरणा स्खलन्मधुपदा कं वा जनं नाश्रिता ।।

२०. कालिदासकविता नवं वयो माहिषं दधि सशर्करं पयः ।
शारदेन्दुरबला च कोमला स्वर्गसौख्यमुपभुञ्जते नराः ।।

२१. कवयः कालिदासाद्याः कवयो वयमप्यमी ।
पर्वते परमाणौ च पदार्थत्वं प्रतिष्ठितम् ।।

२२. कविरमरः कविरचलः कविरभिनन्दश्च कालिदासश्च ।
अन्ये कवयः कपयश्चापलमात्रं परं दधति ।।

२३. वयमपि कवयः कवयः कवयोऽपि च कालिदासाद्याः ।
दृषदो भवन्ति दृषदश्चिन्तामणयोऽपि हा दृषदः ।।

२४. वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते ।

२५. सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति ।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना ।।

२६. श्रीकालिदासस्य वचो विचार्य नैवान्यकाव्ये रमते मतिर्मे ।
किं पारिजातं परिहृत्य हन्त भृङ्गालिरानन्दति सिन्दुवारे ।।

२७. रसभारभरोद्भिन्नां भारतीममरादृते ।
श्रीमतः कालिदासस्य विज्ञातुं कः क्षमः पुमान् ।। स्थिरदेव ।।

२८. अपशब्दशतं माघे भारवौ च शतत्रयम् ।
कालिदासे न गण्यन्ते कविरेको धनञ्जयः ।।

२९. पुष्पेषु जाती नगरीषु काञ्ची नदीषु गङ्गा कविकालिदासः ।।

३०. अस्पृष्टदोषा नलिनीव हृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव प्रकामहृद्या, न कालिदासादपरस्य वाणी ।।

[श्रीकृष्ण]

३१. भासयत्यपि भासादौ कविवर्गे जगत्त्रयम् ।
के न यान्ति निबन्धारः कालिदासस्य दासताम् ॥

३२. अस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा एव वा महाकाव्य इति गण्यन्ते ॥ आनन्दवर्धनाचार्य ॥

३३. ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः,
शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य ।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्र-
सिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः ॥ सोड्ढल ॥

परिशिष्ट ५

श्लोकानुक्रमणिका

———

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ

(संशोधित और परिवर्धित तृतीय संस्करण १९६७)

सम्पादक

स्वर्गीय चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा

तथा

पं० तारणीश झा

[पृ० सं० १३९०] आकार डिमाई [मूल्य १५.००

संस्कृत-हिन्दी-जगत् में लगभग चालीस वर्षों से प्रस्तुत कोश ही एकमात्र सर्वाङ्गपूर्ण एवं प्रामाणिक चल रहा है। इसमें संस्कृत भाषा के विशाल शब्द-स[ंग्रह] को एक समन्वित रूप दिया गया है। इसकी निम्नलिखित विशेषतायें हैं:—

संस्कृत भाषा के संयमन का मूल आधार उसके धातु, प्रकृति और प्रत्यय का विज्ञान है। इस भाषा में ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसकी मूल प्रकृति का ज्ञान पाणिनीय व्याकरण के आधार पर प्राप्त न किया जा सके। इस कोश में व्युत्पत्ति द्वारा यही ज्ञान प्राप्त कराने का प्रयास किया गया है। सुविधा के लिए पाणिनि के सभी धातुओं के [सा]थ अर्थ एवं गण आदि निर्देशपूर्वक उनके लट्, लृट् और लुङ् लकार—प्रथम पु[रु]ष—एकवचन के रूप दे दिये गए हैं। धातु, प्रकृति, प्रत्यय और समास के स्पष्टीकरण से संस्कृत के शब्दार्थ-विज्ञान को समझने [में] [स]हायता मिलेगी।

अधिकतर शब्दार्थों का हृदयंगम कराने के लिए प्राचीन कवियों के पद्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किये गए हैं।

संस्कृत भाषा के अन्तर्गत जितनी अन्तःकथाएँ तथा उनसे सम्बन्धित पात्र हैं, उनका उल्लेख यथाक्रम किया गया है।

ग्रन्थ के अन्त में तीन उपयोगी परिशिष्ट हैं। प्रथम में शास्त्रीय न्याय और उक्तियाँ, द्वितीय में संस्कृत के कवियों और ग्रन्थकारों का परिचय तथा तृतीय में प्राचीन भौगोलिक स्थानों का परिचय है।

कोश में साठ हजार से अधिक शब्द है। शब्दों का चयन संस्कृत के प्रमुख ग्रन्थों, वाचस्पत्यम् कोष, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी (आप्टे) इंग्लिश डिक्शनरी (मोनियर विलियम्स) तथा अन्य कोशों से किया [गया है।]

प्रकाशक

रामनारायणलाल बेनीप्रसाद

[प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता]

इलाहाबाद-२